मध्यभारत का इतिहास

प्रथम खण्ड

(सन ३५० ई० तक)

लेखक

हरिहरनिवास द्विवेदी

विजयगोविन्द द्विवेदी

प्रस्तावना लेखक

श्री श्यामलाल पाण्डवीय

सूचना मंत्री, मध्यभारत

प्रकाशक
अनन्तमराल शास्त्री
संचालक, सूचना विभाग
मध्यभारत

प्रथम संस्करण
विजयादशमी, संवत् २०१३
१४ अक्टूबर १९५६

मुद्रक
बी० एस० होल्कर
अधीक्षक, लेखन-सामग्री तथा मुद्रण, मध्यभारत
गवर्नमेण्ट सेण्ट्रल प्रेस
ग्वालियर

भारत-वंदना

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

[विष्णुपुराण २।३।२४]

[स्वर्ग में विहार करते हुए देवताओं के अन्तस्तल की भावना गीतों में फूट पड़ती है और मन्दाकिनी-पुलिनों के प्रदेश को निरन्तर निनादित करनेवाली इस सतृष्ण स्वर-साधना का ध्रुवपद होता है, "धन्य तो वे हैं जिन्हें सौभाग्य से भारतभूमि पर जन्म मिलता है।" इस देश के निवासियों के जीवन का प्रत्येक पग स्वर्ग के ऐश्वर्य और निर्वाण-पद के पथ पर अग्रसर होता है। अतएव देवता अपने देवत्व का परित्याग कर बार-बार इस पावन भारतभूमि के नागरिक के रूप में अवतरित होते हैं।]

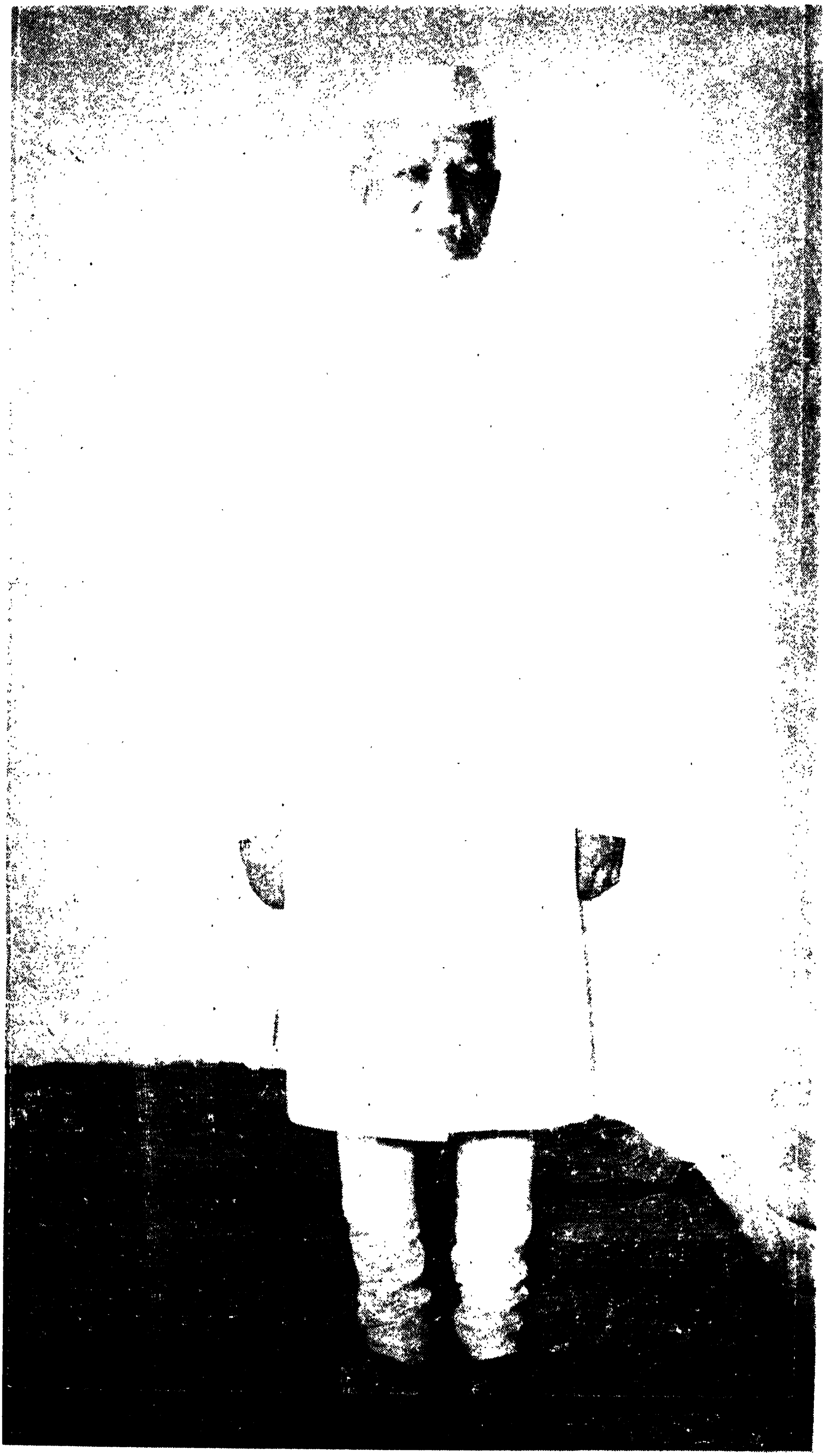
आदरणीय

श्री तख्तमल जैन

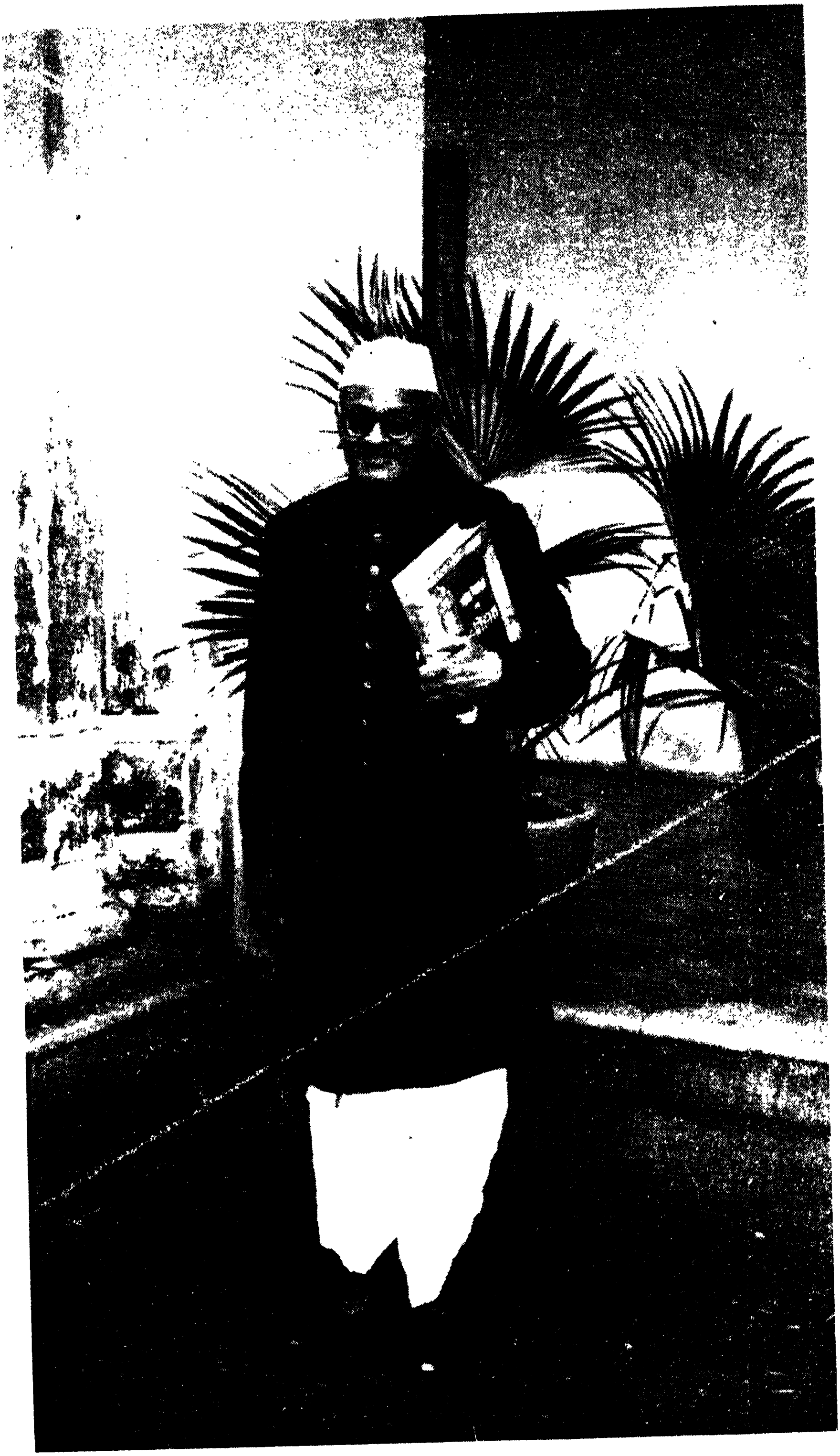
मुख्यमंत्री, मध्यभारत

को सादर

समर्पित



श्री तख्तमल जैन, मुख्य मंत्री, मध्यभारत



श्री श्यामलाल पाण्डवीय, सूचना मंत्री, मध्यभारत

प्रस्तावना

भारत की ऐतिहासिक परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। यद्यपि हमारे देश में लिखित रूप में राजनैतिक इतिहास सुरक्षित रखने की रीति नहीं रही है, फिर भी पुरातत्त्व-सम्बन्धी अन्वेषकों ने विविध वाङ्मयों तथा कला-सम्बन्धी अवशेषों के अध्ययन से प्राचीन इतिहास की रूपरेखा निर्मित करने का प्रयास किया है और उसके परिणामस्वरूप भारत का इतिहास लिखा जा सका है। इस विशाल देश का इतिहास लिखते समय स्थानीय सामग्री तथा घटनाओं का विस्तृत विवेचन न हो सके, यह संभावना अधिक है। इस कारण अलग-अलग प्रदेशों का विस्तृत इतिहास लिखा जाना अत्यधिक आवश्यक है।

यह सत्य है और इसे किसी इतिहास-लेखक को कभी भूलना न चाहिए कि भारत की जनता एक महान राष्ट्र क नागरिकों के रूप में गुथी हुई है और जो प्रादेशिक इतिहास इस एक राष्ट्र-देवता के प्रति श्रद्धा तथा कर्त्तव्यनिष्ठा की परिणति नहीं करता, वह न केवल अपने ध्येय से च्युत होता है वरन् राष्ट्रीय अपकार भी करता है। प्रदेशों के इतिहास लिखे जाएँ, यह आवश्यक है, साथ ही वे राष्ट्र के इतिहास के पूरक हों यह और भी अधिक आवश्यक है।

मेरे सामने जब श्री हरिहरनिवास द्विवेदी ने प्रागैतिहासिककाल से वर्त्तमान काल तक मध्यभारत का इतिहास लिखने की योजना रखी, तब मेरे समक्ष यही दृष्टिकोण था कि वह इतिहास इस प्रकार का हो जो इस प्रदेश के उन प्रयासों की गाथा हो जिनके द्वारा भारत की सामासिक संस्कृति के महासमुद्र के निर्माण में योगदान मिला है। लेकिन इतिहास का एक दूसरा दृष्टिकोण भी होता है। तथ्यों और घटनाओं को तोड़-मरोड़कर जो कुछ लिखा जाएगा वह इतिहास न होकर कवितामात्र रह जाएगी।

मुझे प्रसन्नता है कि श्री द्विवेदी ने मेरी इस भावना को समझा और मध्यभारत का यह बृहत् इतिहास चार खण्डों में लिख डाला। मैं इतिहासज्ञ नहीं हूँ और इस कारण उनकी ऐतिहासिक स्थापनाओं के सम्बन्ध में कोई अभिमत प्रकट करना उचित नहीं समझता। यह कार्य देश के इतिहास-

पण्डित करेंगे, परन्तु राष्ट्र और राज्य के प्रति जिस अपार श्रद्धा से उनने अपना यह महान ग्रंथ लिखा है, उसकी सराहना किये बिना भी मैं नहीं रह सकता। आज दक्षिण में द्रविड़ काजगम क आन्दोलनों को जब मैं देखता हूँ और द्राविड़ संस्कृति के विषय में इस ग्रन्थ की स्थापनाएँ पढ़ता हूँ, तब मुझे आश्चर्य होता है कि प्राचीन इतिहास के अज्ञान के कारण केवल समय के व्यवधान से एक ही शरीर के दो अंग किस प्रकार झगड़ बैठते हैं। आर्यों और द्राविड़ों की ऐतिहासिक परम्परा जिस रूप में इस ग्रन्थ में प्रस्तुत की गयी है वह अत्यन्त सुदृढ़ प्रमाणों के आधार पर है और उस पर देश के विद्वानों को विचार करने की बहुत अधिक आवश्यकता है।

नागों का इतिहास इस विस्तृत और सम्यक् रूप में सर्वप्रथम सामने आया है। पद्मावती तथा विदिशा के अवशेषों में इस युग का अत्यन्त गौरवशाली इतिहास छिपा हुआ है और उसका जिस प्रकार सम्यक् विवेचन हुआ है उसे देखते हुए इस योजना के प्रथम चरण को मैं सफल मानता हूँ।

मुझे खेद है कि इस महान प्रयत्न के द्वितीय और तृतीय खण्ड अभी प्रकाशित नहीं हो सके, परन्तु मुझे विश्वास है कि भविष्य में वे शीघ्र ही प्रकाशित हो सकेंगे।

मुझे श्री हरिहरनिवास द्विवेदी की विद्वत्ता और कार्यक्षमता में सदा विश्वास रहा है। मुझे प्रसन्नता है कि इस कार्य को मेरी रुचि के अनुरूप सफलतापूर्वक पूर्ण कर मेरे विश्वास की पुष्टि की है और राष्ट्र तथा राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन किया है। मैं उन्हें हार्दिक बधाई देता हूँ।

श्री द्विवेदीजी ने अपने निवेदन में धन्यवाद देने का कार्य मेरे हाथ से छीन लिया है। परन्तु मुझे उसकी कोई शिकायत नहीं है, प्रसन्नता यही है कि मेरे विभागों ने उनके इस कार्य में पर्याप्त सहायता की।

श्यामलाल पाण्डवीय

प्राक्कथन

अभी हमार यहाँ देश के—विशेषकर हिन्दी भाषी भूभाग के—अलग-अलग प्रदेशों के इतिहास लिखने की परिपाटी नहीं है। इसमें कई अड़चनें हैं। भाषा और संस्कृति के अनुसार इकाइयाँ कभी स्थिर नहीं रहीं। शासक और राजवंश अपने अधिकार-क्षेत्र को एक इकाई का रूप देते थे, और उनके उत्थान और पतन के अनुसार इकाइयाँ बढ़ती-घटती थीं। हमारे यहाँ गणतन्त्र की स्थापना हुई, पर अब भी भाषा और सांस्कृतिक व्यक्तित्व के अनुसार इकाइयों को स्थापित नहीं किया गया। वर्तमान मध्यभारत बुन्देलखण्ड और मालवा के काफी बड़े भाग को मिलाकर बनाया गया है। अब वह मध्यप्रदेश में विलीन हो रहा है, जिसमें भी भाषा और सांस्कृतिक इकाई का ध्यान नहीं रखा गया है। हिन्दी-क्षेत्र के लिए इसमें कोई दिक्कत न होती, यदि भाषा-संस्कृति-सम्बन्धी इकाइयों पर आधारित भूभागों को बनाकर उन्हें एक बड़े प्रदेश का रूप दिया जाता।

भाषा हिन्दी ही नहीं, हिन्दी-क्षेत्र की मालवी, बुन्देली आदि भाषाएँ भी उस भूभाग के लोगों के विशेष सांस्कृतिक व्यक्तित्व को प्रदर्शित करती है, इसे कहने की आवश्यकता नहीं है। चाहे जैसे भी हो, लोक-कला, लोक-साहित्य और भाषा की उपेक्षा नहीं की जा सकती। हमारी सरकारें भी इनके इस महत्त्व को समझने के लिए मजबूर हो रही हैं; पर उनके संरक्षण, संवर्धन, उपयोग की तरफ व्यक्तिगत रूप से ही कुछ अधिकारी या मन्त्री दिलचस्पी रखते हैं। लोक-भाषाएँ केवल प्रचार का ही नहीं, बल्कि कृषि, दस्तकारी, ग्रामोद्योग-सम्बन्धी ज्ञान को फैलाने में बड़ी सहायक हो सकती हैं। उनकी इस शक्ति का मुकाबिला हिन्दी भी नहीं कर सकती। यहाँ लोक-भाषाओं के ऊपर अनुकम्पा दिखलाने की बात नहीं है, बल्कि पानी में निहित बिजली की तरह उनमें निहित शक्ति का उपयोग करना है। इसे हम जितनी जल्दी समझें, उतना ही अच्छा है।

उपरोक्त कथन से मालूम होगा कि "मध्यभारत का इतिहास" के लेखकों को अपने काम में कितनी कठिनाई पड़ी होगी। शायद यह कहा जाए कि अपने भौगोलिक क्षेत्र से बाहर की बहुत-सी ऐतिहासिक सामग्री को यहाँ एकत्रित करना ठीक नहीं था। पर, जैसा कि ऊपर कहा गया है, भौगोलिक सीमाएँ बराबर बदलती रही हैं। अपनी सीमा के बाहर का इतिहास भी इस भूभाग के इतिहास को प्रभावित 'करता रहा है जिसके लिए कुछ लम्बी रस्सी रखन की आवश्यकता भी थी।

इस ग्रंथ में मध्यभारत का इतिहास प्रागैतिहासिक काल से आधुनिक काल तक दिया जाना है और इस प्रथम खण्ड में लेखकद्वय ई० सन ३५० ई० तक आए हैं। लेखकद्वय से यत्र-तत्र मतभेद होना स्वाभाविक है, पर उसके कारण ग्रंथ का मूल्य कम नहीं होता। उदाहरणार्थ, पुराण, महाभारत, रामायण और वेद-ब्राह्मण की परम्पराओं को मिलाकर इतिहास का रूप देने का प्रयत्न करना। इस परम्परा के समर्थक पार्जीटर और डॉ० जायसवाल जैसे धुरन्धर इतिहासकार रहे हैं। उन्होंने रास्ता खोल दिया, और अब 'दिङ्नागदन्तमुशलै विषमेऽपनीते· · ·कलभाः प्रयान्ति' और इससे कहीं-कहीं अनर्थ भी हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं। दूसरे विज्ञानों की तरह इतिहास-विज्ञान भी देश-देश का अलग नहीं हो सकता। उसके एक ही सिद्धान्त और एक ही तरह की कसौटियाँ हैं। लिखित या मौखिक परम्पराएँ उपेक्षणीय भी नहीं हैं। पर, उनका उपयोग करना हरेक के बस की बात नहीं हैं।

इस ग्रंथ के लिखने में बहुत अध्ययन और चिन्तन से काम लिया गया है, जिसका प्रमाण इसके प्रत्येक पृष्ठ पर मिलता है। उसी तरह विचारसरणी में जो अन्तर है, वह भी हर जगह मिलता है। मुझे यहाँ ग्रंथ के बारे में अपने मतभेद को प्रगट करने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि प्रशंसा करने के लिए इसमें बहुत-सी चीजें हैं। इसके पढ़ने मे इस भूमि और उसके लोगों को पहचानने में बड़ी सहायता होगी। यह भूभाग हाल तक सामन्तों के चंगुल में फँसे रहने के कारण बहुत पिछड़ा हुआ माना जाता रहा है। लेकिन, प्रकृति ने अपनी ओर से दिल खोलकर इसे समृद्ध किया है, जिसका उपयोग अब मनुष्य करने जा रहा है। दो दशाब्दियों में ही उसके आज के समाज में भारी विकास हो जाएगा, इसमें सन्देह नहीं है। भूतकाल में भी इस भूभाग का स्थान बहुत ऊँचा रहा है। यहाँ यदि अनेक वीर होते रहे हैं, तो कवियों के गुरु कालिदास के पैदा करने का गौरव इसी भूमि को जरूर है। किसी भी प्रदेश के इतिहास को गौरव देने के लिए एक कालिदास ही काफी है।

ग्रंथ के समाप्त होते-होते "मध्यभारत" भी समाप्त हो रहा है। आशा है पहले खण्ड के समान ग्रंथ के अन्य खण्डों में भी समस्त मध्यप्रदेश के इतिहास को भी ग्रंथकारद्वय लिखते चलेंगे।

मसूरी
२७ सितम्बर, १९५६

राहुल सांकृत्यायन

निवेदन

भारत क हृदयदेश में स्थित मध्यभारत के जनगण का अतीत अत्यन्त गौरवशाली रहा है। वर्त्तमान मध्यभारत का निर्माण कुछ राजनैतिक कारणों से हुआ है, परन्तु यह एक संयोग है कि वह उस मध्यदेश का बहुत बड़ा अंश है जो सदा से एक सांस्कृतिक तथा भौगोलिक इकाई के रूप में माना जाता रहा। इस प्रदेश का इतिहास किसी ओर से भी लिखा जाए वह मथुरा से विन्ध्याचल और विन्ध्यपाद (सतपुरा) तक तथा मेवाड़ से छत्तीसगढ़ तक के प्रदेश का इतिहास होगा। भौगोलिक रूप से भी यह प्रदेश एक इकाई रहा है। इस सांस्कृतिक और भौगोलिक इकाई का उच्छेदन सत्रहवीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ है। इस प्रकार मध्यभारत का सत्रहवीं शताब्दी के पर्व का इतिहास वर्त्तमान मध्यभारत, भूपाल, विन्ध्यप्रदेश की सीमाओं के प्रदेश तथा मध्यप्रदेश के अधिकांश भाग का इतिहास बन जाता है। अनेक युग तो ऐसे हैं जब समस्त देश का इतिहास ही इस महान परम्पराओं वाले मध्यदेश की घटनाओं तक सीमित रह जाता है।

ईसवी सत्रहवीं शताब्दी से इन प्रदेशों के राजनैतिक इतिहास की पृथक् धाराएँ दिखाई देती हैं, यद्यपि सांस्कृतिक बन्धन अक्षुण्ण रहते हैं क्योंकि जनसमूहों की प्रगति का मुख्य आधार भौगोलिक परिस्थितियाँ होती हैं।

मध्यभारत के इतिहास का यह प्रथम खण्ड उस कालसीमा की कहानी है जब भौगोलिक और सांस्कृतिक मध्यदेश की राजनैतिक एकता अत्यन्त सुदृढ़ रूप से स्थापित रही। इसके आगे के तीन खण्डों में गुप्तों के उदय से मध्यभारत के नवीन मध्यप्रदेश में विलीन होने तक का इतिहास सम्मिलित है।

इस पुस्तक का प्रथम खण्ड सन ३५० ईसवी पर समाप्त हुआ है। कौशाम्बी के युद्ध में भारत के प्रथम गणराज्य संघ की समाप्ति हुई थी। उसके पश्चात् इस देश को पूरे सोलह सौ वर्ष का विषम संघर्ष करना पड़ा तब कहीं २६ जनवरी सन १९५० को वह शुभ वेला आ सकी जब भारतवर्ष में पुनः एक बार सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य स्थापित हो सका। इतिहास की पुनरावृत्ति हुई, परन्तु बहुत समय बाद और बहुत कुछ खोकर। फिर भी भारत के नागरिक ने जो पाया है वह अप्रितम है। समष्टि की प्रगति को ध्यान में रखते हुए व्यक्ति को न इस देश में और न संसार के अन्य किसी देश में इतनी महत्ता कभी प्राप्त हुई जो आज भारत भूमि पर प्राप्त है। प्राचीन काल में जो कुछ था वह सर्वश्रेष्ठ था, इस मत को मैं मानव विकास की स्पष्ट परम्परा के विरुद्ध समझता हूँ। यह ध्रुव सत्य है कि मनुष्य ने विकास किया और आज जो गणराज्य हमें

प्राप्त हुआ है वह उस इतिहास के गणराज्य से कहीं अधिक व्यवस्थित तथा विकसित है। जो त्रुटियाँ हैं उन्हें आगे की जागरूक पीढ़ियाँ ठीक कर लेंगी।

इस पुस्तक की छोटी सी कहानी है। एक वर्ष पूर्व गत विजयादशमी को 'मध्यदेशीय भाषा' का निवेदन लिखते समय एक विचार मस्तिष्क में आया था और उसे प्रकट करते हुए मैंने लिखा था "श्री राहुल सांकृत्यायन का भी मैं बहुत आभारी हूँ। मेरे आग्रह को स्वीकार कर उनने इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखने की कृपा की और इसकी मूल स्थापना से सहमत होकर उसे बल प्रदान किया। मेरे 'ग्वालियरी' होने के नाते जिस कार्य को पूरा करने का संकेत उनके द्वारा किया गया है, उस दिशा में 'विक्रमस्मृति ग्रन्थ' के सम्पादन से लेकर 'ग्वालियर राज्य के अभिलेख', 'ग्वालियर राज्य की मूर्तिकला', 'मानसिंह और मानकुतूहल', 'भारत की मूर्तिकला' आदि में निभाने का प्रयास किया तो है परन्तु यह कार्य वास्तव में किसी विशाल संस्था का है, एक व्यक्ति का नहीं। वह संस्था कभी खड़ी हो सके इसका अभी तो स्वप्न देखता रहता हूँ। मेरे अनेक स्वप्न साकार हुए भी हैं, यह कब होगा इसका उत्तर समय और मध्यदेश के समर्थ मित्र दे सकेंगे। तभी मध्यदेश का चिरसंकल्पित राजनैतिक और सांस्कृतिक इतिहास भी लिखा जा सकेगा, जिसके साथ आज तक न्याय नहीं हो सका।"

यह स्वप्न भी साकार हुआ, परन्तु एक अद्भुत चुनौती के रूप में। मध्यभारत के सूचना मन्त्री मेरे मित्र श्री श्यामलाल पाण्डवीय ने अपनी सामर्थ्य का परिचय दिया और गत जुलाई मास में मध्यभारत का विस्तृत इतिहास लिखने का आदेश मुझे दिया। मैं सब कुछ छोड़कर इसे लिखने बैठ गया। मेरे अनुज श्री विजयगोविन्द द्विवेदी अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य और मध्यदेश के प्रति अपनी असीम श्रद्धा लेकर मेरे साथ हो लिये तथा दो मस्तिष्क और चार हाथों से साठ-सत्तर दिनों में जो कुछ हो सकता था उसका एक अंश मध्यभारत का इतिहास का प्रथम खण्ड प्रस्तुत है।

आज का मध्यभारत और भावी मध्यप्रदेश तथा उसके प्रति निष्ठा मेरे हृदय में सर्वोपरि है। इसी निष्ठा से प्रेरित होकर मैंने राज्य और राष्ट्र के इतिहास को देखा है और मुझे सदा यह उचित गर्व रहा है कि सौभाग्य से मेरा जन्म एक ऐसे प्रदेश में हुआ है, जिसने अपने राष्ट्र के चरणों में सर्वश्रेष्ठ श्रद्धांजलियां सहस्राब्धि संवत्सरों की काल-परम्परा में अर्पित की हैं। इतिहास के कठोर सत्यों के निरीक्षण से यह भावना बलवती ही हुई है और उन्हीं के आधार पर मैंने उसे इन पृष्ठों में स्थापित किया है।

मध्यभारत का यह इतिहास भारत राष्ट्र के इतिहास का पूरक मात्र है। इसका मुख्य उद्देश्य भारतीय संस्कृति के निर्माण की दिशा में इस प्रदेश के निवासियों द्वारा किये गये योगदान की कथा अंकित करना है।

भारत के राजनैतिक इतिहास में प्रत्येक जनपद का अपना निजी कार्य रहा है। इनमें संघर्ष भी हुए हैं और वैषम्य भी। परन्तु यह एक सुखद संयोग है कि ये सब धाराएँ अन्ततोगत्वा एक भारतीय संस्कृति के महासमुद्र के निर्माण की ओर अग्रसर हुई हैं, उनके विवादी स्वर कालक्रम में समाप्त होकर गुप्त युग के प्रारम्भ होने के पूर्व ही एक सुदृढ़ तथा सस्पष्ट

भारतीय संस्कृति का निर्माण हो चुका था। भारतीय इतिहास के अधिदेवता, उसके आराध्य तथा अखण्ड तत्त्व के चरणों में अर्पित की गयी उसके विभिन्न घटकों की श्रद्धांजलियों का रूप-निरूपण उपयोगी भी है और आवश्यक भी, जो आराध्य का विभाजन न होकर पुष्पांजलियों का निरूपण मात्र है। हिमालय से समुद्र पर्यन्त मातृभूमि के स्वरूपाराधन में मध्यदेश द्वारा किये गये प्रयास का विवेचन ही इस इतिहास का मूल उद्देश्य है।

इस पुस्तक के विषय में अपना निवेदन विस्तार से तो इसके अगले खण्डों के साथ लिखने का विचार है, परन्तु जब यह पहला खण्ड प्रकाशित हो रहा है तब अपने उन सहयोगियों का सादर स्मरण करना मैं अपना सुखद कर्त्तव्य समझता हूँ, जिनके सहयोग से यह कार्य पूरा हो सका। श्री तख्तमल जैन, मध्यभारत के मुख्य मंत्री तथा श्री श्यामलाल पाण्डवीय मेरे तथा उन सबके हार्दिक अभिनन्दन के अधिकारी हैं, जिन्हें यह प्रयास उपयोगी ज्ञात हो। उनकी प्रशस्त कल्पना का यह अनुवाद मात्र है। मध्यभारत का सूचना विभाग यदि अत्यन्त तत्पर सहयोग न देता तो भी इसका प्रकाशन सम्भव नहीं था। मेरे पुराने मित्र श्री अनन्तमराल शास्त्री, संचालक, सूचना विभाग तथा श्री रघुवीर सेवक दीक्षित, संपादक प्रकाशन तथा श्री गुरुप्रसाद दुबे इसकी प्रगति का मार्ग सदा प्रशस्त करते रहे। श्री शंकरलाल वर्मन ने इसके चित्रों और नक्शों को सजाया है। मध्यभारत संदेश के कलाकार श्री नारायण चिन्तामणि वाघ ने इसके सुन्दर मुखपृष्ठ का निर्माण किया है। इन सबका मैं हृदय से आभारी हूँ।

शासकीय मुद्रणालय के अधिकारियों, विशेषतः श्री शरणप्रसाद निगम का मैं बहुत आभारी हूँ, जिनने विशेष रुचि लेकर इसके मुद्रण को शीघ्र तथा अत्यन्त सुन्दर रूप में पूरा किया।

जिन विद्वानों की कृतियों से मैंने लाभ उठाया है, उनका यथा स्थान पाद-टिप्पणियों में उल्लेख कर दिया है। जिन विद्वानों के अभिमतों से मैं सहमत नहीं हो सका उनसे हार्दिक क्षमा प्रार्थी हूँ। मुझे अपने इतिहास-ज्ञान की अत्रुटता का आग्रह नहीं है। अधिकारी विद्वानों द्वारा इन निष्कर्षों का प्रत्याख्यान तथ्यों के आधार पर किये जाने पर मेरी और पाठक जगत की ज्ञानवृद्धि ही होगी। मैं इतना विश्वास दिला सकता हूँ कि उनके कुछ अभिमतों से असहमत होते हुए भी उनकी ज्ञान-साधना के प्रति अश्रद्धा प्रकट करने की मेरी इच्छा नहीं रही।

माननीय श्री श्यामलाल पाण्डवीय ने इसकी प्रस्तावना लिखने की कृपा की है: उनके प्रेमपूर्ण उद्गारों से इसमें किया गया श्रम सफल हुआ है। जिन विद्वानों ने इसके प्रकाशन के पूर्व इसे देखने और अपने प्रोत्साहक अभिमत देने की कृपा की है, उनका मैं हृदय से आभारी हूँ।

श्री राहुल सांकृत्यायन ने इस पुस्तक का प्राक्कथन लिखकर मेरे प्रति अपने स्नेह को प्रकट किया है। इस पुस्तक की अनेक स्थापनाओं से मतभेद होना स्वाभाविक है, फिर भी वे इसकी मुक्त हृदय से सराहना कर सके इसे मैं उनकी सदाशयता ही मानता हूँ।

इस पुस्तक के अधिकांश चित्र गूजरी महल संग्रहालय से प्राप्त हुए हैं। भारत के अन्य सग्रहालयों से भी मैंने चित्र प्राप्त किये हैं और कुछ चित्र जल्दी के कारण नागरी प्रचारिणी पत्रिका तथा पुरातत्व विभाग के विवरणों से लिये हैं। इन सबका में बहुत आभारी हूँ।

विजयादशमी,
संवत २०१३ वि०

हरिहरनिवास द्विवेदी



विषय-सूची

मध्यभारत का स्वरूप

(सांस्कृतिक, भौगोलिक एवं राजनैतिक)

भारत और मध्यभारत पृष्ठ

भारतीय संस्कृति–सामासिक अमृत––अमृत-स्रोतों की खोज–इतिहास का उद्देश्य––मध्यभारत के इतिहास का महत्त्व ३–६

मध्यदेश की परम्परा

वैदिक मध्यदेश––मनुस्मृति––बुद्ध की मध्यदेश की परिभाषा––फाहियान का मध्यदेश––उद्योतन सूरि की कुवलयमाला––राजशेखर का मध्यदेश––अलबेरूनी और मध्यदेश––सोमदेव और मेरुतुंग––कल्याणसिंह का अनंगरंग तथा अन्य ग्रन्थ––केशवदास––फकीरुउल्ला सैफखां का मध्यदेश–सुदेश––भावभट्ट––पद्मावती-पुरवाल ब्रह्मगुलाल––बनारसीदास जैन––बुन्देलों का क्षेत्र––मराठे और मध्यदेश––अंग्रेज और मध्यदेश––देशी-राज्य-लोक-परिषद् का मध्यभारत––मध्यभारत निर्माण ७–१६

मध्यभारत की भौगोलिक स्थिति

इतिहास का आधार भूगोल––भारत का भौगोलिक विभाजन––भौगोलिक मध्यभारत–मध्यदेश का समवर्ती––भौगोलिक तथा राजनैतिक सीमा––मध्यभारत की प्राकृतिक स्थिति––प्राणस्फुरित भौगोलिक मध्यभारत १७–२०

पर्वत, वन और नदियाँ

पर्वत––वन––जलप्रपात––नदियाँ––चम्बल नदी––बेतवा––सिन्ध––कालीसिंध––शिप्रा––पार्वती––नर्मदा २१–२४

पथपद्धति, महापथ और व्यापार-व्यवसाय

जनपद और महापथ––प्राचीन सड़कें––जलमार्ग––यातायात के साधन––मध्यभारत का एक महासार्थ––मध्यभारत के प्राचीन मार्ग––सार्थवाहों के आराध्य-यक्ष––महापथों की उपयोगिता––वर्तमान और भावी महापथ––व्यवसाय २५–३१

पृष्ठ

मध्यभारत के जनपद और नगर

जनपद और जानपदजन—अनूप देश—अवन्ति—दशार्ण—चेदि जनपद—वत्स—शूरसेन—पद्मावती—भादानक या भदावर—जैन अनुश्रुति के जनपद—उत्तरमध्यकालीन जनपद—वर्तमान जिले और परगने—नगर—वर्तमान नगर ३२–३७

मध्यभारत के जानपद जन

भारत का प्रतिरूप—मध्यभारत के निवासी—धर्म और सम्प्रदाय—भाषाएँ और बोलियाँ—सामासिक संस्कृतिसंगम का मूलमंत्र .. ३८–४३

मध्यभारत का इतिहास ४४

नर्मदा और चम्बल की प्राग्वैदिक सभ्यता

(ई० पू० ५००,००० से ई० पू० २५०० तक)

नर्मदा और चम्बल की प्राग्वैदिक सभ्यता

नाम और काल-विभाजन—नर्मदा और चम्बल की प्राचीन सभ्यताएँ .. ४७–४८

पूर्व पाषाण-युग

नाम और कालसीमा—पुरातत्त्व की प्राप्त सामग्री—पूर्व पाषाण संस्कृति ४९–५१

मध्य पाषाण-युग

नाम और कालसीमा—पुरातत्त्व की सामग्री—मध्य पाषाण-युग का मानव-नीग्रो—मध्य पाषाण-युग का सांस्कृतिक दाय ५२–५५

उत्तर पाषाण-युग

नाम और कालसीमा—पुरातत्त्व की प्राप्त सामग्री—उत्तर पाषाणयुगीन मानव-आग्नेय निषाद—भित्तिचित्र ५६–६१

चम्बल-घाटी के द्राविड

युग और कालसीमा—पुरातत्त्व की सामग्री—द्राविडों का अभ्युदय—नगर-निर्माण—व्यापार, समृद्धि और अन्य देशों से सम्बन्ध—सामाजिक जीवन—वर्णव्यवस्था—धर्मसाधना—उच्च नैतिकता—राज्यव्यवस्था—संस्कृति के निर्माता—आर्य आक्रमण—वृत्र और इन्द्र का युद्ध—कुलितर और दिवोदास के युद्ध—वर्चि—नमुचि—अश्न—कृष्ण—अन्य असुर—युद्धों के पश्चात्–समन्वय का प्रारंभ—द्राविडों का आर्यकरण या आर्यों का द्राविडीकरण—सामासिक संस्कृति और द्राविड—धर्म—पूजा और मूर्ति—एक ईश्वर और भक्ति—देवसमूह का समासीकरण—पार्वती-परमेश्वर—श्री-विष्णु—कान्हा—स्कन्द और गणेश—जान्तव

पृष्ठ

देवता--धर्मकथाएँ--धर्म का वैयक्तिक रूप--सामाजिक जीवन--लिपि--संगीत--मूर्तिकला और स्थापत्य--चित्रकला ६२-८४

वैदिक युग

(ई० पू० २५०० से ई० पू० ८०० लगभग)

सार्वदेशिक वैदिक संस्कृति

प्राग्वैदिक और वैदिक संस्कृतियों का समन्वय--कालसीमा--युग की विशेषता--मध्यभारत और वैदिक युग--ऐतिहासिक सामग्री--उत्खनन से प्राप्त अवशेष--वैदिक संहिताएँ--पुराण--काल-निर्णय--पीढ़ियों की गणना का आधार ८७-९२

परशुराम युग

वैदिक समाज-भार्गव--ऐक्ष्वाकु और हैहय--लोकजीवन के तत्त्व--परशुराम युग का इतिहास-क्रम ९३-९४

माहिष्मती-साम्राज्य का उदय

मानव कारूष--पुरूरवा और कारूष--कान्यकुब्ज और काशी--ययाति और वृषपर्वा--यादव हैहय--पड़ोसी राज्य--रेवा और रैवत--मान्धाता का आक्रमण--महिष्मन्त और माहिष्मती का साम्राज्य . . ९५-९८

भार्गवों की परम्परा

महर्षि भृगु--मार्कण्डेय और शुक्र ऋषि--च्यवन ऋषि--दधीचि और वत्स ऋषि--ऊर्व ऋषि--ऋचीक ऋषि--हैहय वैमनस्य का आरम्भ-ऋचीक और गाधि ९९-१०४

भार्गव-हैहय संघर्ष

कार्तवीर्य अर्जुन--जमदग्नि ऋषि--भार्गव राम--युद्धों के परिणाम--पश्चिमीतट और सिंहल तक १०५-१०९

वाल्मीकि युग

मध्यदेश के राम और वाल्मीकि--तालजंघ हैहय--अराजक वीतिहोत्र या वीतहव्य--हैहय और अयोध्या--विदर्भ--चेदि राज्य--नल और भीमरथ--निषध जनपद और नलपुर (नरवर)--अश्मक राज्य--मधु यादव--भोज--दाशरथि राम और मध्यदेश--भार्गव वाल्मीकि मुनि--वाल्मीकि आश्रम--आदिकवि और आचार्य वाल्मीकि--विविधायुध राक्षस तथा शैलायुध ऋक्ष और वानर--सुबाहु--कुश और कुशस्थली ११०-११६

पृष्ठ

वासुदेव कृष्ण युग

ज्ञानकाण्ड का उदय—नयी शक्तियों का उदय—चेदि का पौरव वंश—हस्तिनापुर का कौरव वंश—शूरसेन का यादव वंश—अन्धक—वृष्णि—कुकुर—वासुदेव कृष्ण—महाभारत और वासुदेव—मध्यदेश और महाभारत ११७–१२१

उपनिषद् युग

जनपदों का उदय-विलय—चेदि—शूरसेन—माहिष्मती—काशी—वत्स—अवन्ति—महाजनपद—उपनिषदों की रचना १२२–१२४

धर्मसाधना

प्राग्वैदिक पृष्ठभूमि—आर्यों के धर्म का रूप—देव-श्रेणी—यज्ञ-समारोह—यज्ञशाला दार्शनिक चिन्तन का स्थल—प्राग्वैदिक तथा आर्यधर्मसाधना का समन्वय—मन्दिरों की कल्पना—प्राग्वैदिक मूर्ति और यज्ञशाला का समन्वय—जीवन का धर्म—कर्मकाण्ड-साहित्य—कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया १२५–१२९

राजनैतिक व्यवस्था

प्रथमजतंत्र या गणतंत्र—आर्यों का राजन्यतंत्र—युद्ध-कला—शासन-व्यवस्था—विधि और न्यायदान १३०–१३५

सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था

परिवार—आश्रम-व्यवस्था—वर्णव्यवस्था—विवाह और स्त्री—व्यवसाय—अन्नपान—वस्त्र और अलंकरण—मनोरंजन—शिक्षा—आयुर्वेद का ज्ञान १३६–१४७

आर्थिक समृद्धि

पशुपालन—खेती—वाणिज्य—परिवहन और यातायात १४८–१५१

साहित्य और कला

साहित्य—ऋग्वेद—सामवेद—यजुर्वेद—अथर्ववेद—आख्यान-साहित्य—काव्य—भाषा—लिपि—संगीत—मूर्तिकला—चित्रकला—स्थापत्य १५२–१६०

जन-साम्राज्यों का युग

(ई० पू० लगभग ८०० से ई० पू० २०० तक)

युग की विशेषताएँ तथा ऐतिहासिक सामग्री

जन-साम्राज्यों का युग और मध्यभारत—नये युग का प्रारंभ—लोक-सत्ता का युग—लोक-संगठन का युग—इस युग की सर्वश्रेष्ठ देन—ऐतिहासिक सामग्री—ब्राह्मणग्रन्थ—बौद्ध ग्रन्थ—जैन ग्रन्थ—साहित्य—विदेशी यात्री—अशोक के शिलालेख—भवन तथा मूर्त्तियाँ .. १६३–१६८

पृष्ठ

महाजनपदों का उदय

सोलह महाजनपद—गणतन्त्र—मध्यभारत और महाजनपद—गान्धार पर ईरानी साम्राज्य की सीमा—गान्धार और कम्बोज—अश्मक और अवन्ति—मत्स्य-शूरसेन—कुरु-पांचाल—चेदि—वत्स—उदयन—वृज्जि-मल्ल—काशी—कोशल—अंग—मगध—उदायीभद्र तथा पाटलिपुत्र की स्थापना १६९–१७४

अवन्ति का साम्राज्य

पुलिक और प्रद्योत वंश—प्रद्योत का जन्म—चण्डप्रद्योत का परिवार तथा स्वभाव—वत्स का शतानीक और उदयन—चण्डप्रद्योत और मृगावती—उदयन और चण्डप्रद्योत—उदयन और वासवदत्ता—वत्स और अवन्ति की सीमाएँ—शूरसेन—मगध और अवन्ति-जीवक—गान्धार और मत्स्य—चण्डप्रद्योत के वाहन—चण्डप्रद्योत की राज्यसीमा—चण्डप्रद्योत का धर्म-कात्यायन—पालक—पालक और मगध—विशाखयूप और अजक—सम्राट नन्दिवर्धन—नन्दिवर्धन की कलिंग-विजय—नन्द संवत्—अवन्ति और मगध १७५–१८१

नागवंश का साम्राज्य

नाग कौन थे ?—वंशनाम—विदिशा के ज्येष्ठ नाग और पद्मावती के नवनाग—पद्मावती के नवनाग—प्रवरसेन वाकाटक की साक्षी—मूर्तियों की साक्षी—शिशुनाग मध्यदेश का था—शिशुनाग—काकवर्ण या कालाशोक—महानन्दी—नन्द—नवनन्द—नन्दों का प्रताप—नन्दों की दक्षिण-विजय—नन्दों का धन और सैन्यबल—व्यापार तथा विद्वान—नन्दवंश का उन्मूलन—मध्यभारत और नन्दवंश १८२–१९३

मौर्य साम्राज्य

सामाजिक क्रान्ति—चाणक्य—चन्द्रगुप्त की खोज—सिकन्दर का भारत-आक्रमण—चन्द्रगुप्त मौर्य का उदय—सेल्यूकस की पराजय—मध्य-भारत और चन्द्रगुप्त—मेगास्थनीज और चाणक्य—चन्द्रगुप्त की सेना—चन्द्रगुप्त का धर्म १९४–१९८

मेगास्थनीज का भारत

यूनानी इतिहासलेखक—समाज के अंग—दार्शनिक—कृषकवर्ग और धरती—गोप व शिकारी—कारीगर—सैनिक—निरीक्षक या गुप्तचर—मंत्री तथा सभासद—धर्म और आचार-विचार—आहार, वस्त्राभूषण और जीवनचर्या—ईमानदारी—विदेशियों की व्यवस्था—भारत का स्वतन्त्र नागरिक—व्यवसाय—ग्राम, नगर और पुर—शिक्षा—महापथ—राजवैभव—राजमहल—राजमृगया—

पृष्ठ

राजा और राजतन्त्र---राज्य-व्यवस्था---नगर-व्यवस्था---प्रान्तीय शासन---जानपदजन की साधना का फल १९९–२०८

बिन्दुसार अमित्रघात और अशोकवर्धन

बिन्दुसार---राज्यविस्तार---तक्षशिला में विद्रोह---बिन्दुसार के विदेशों से सम्बन्ध---दार्शनिक, अंजीर और मधु---चाणक्य की मृत्यु---सिंहासन के लिए संघर्ष---भाइयों से युद्ध---चण्डाशोक की कलिंगविजय---काश्मीरविजय---तक्षशिला २०९–२१३

अशोक का साम्राज्य

साम्राज्यसीमा---शासन-व्यवस्था---प्रान्तीय शासन---सुवर्णगिरि---अधिकारीवर्ग---अनुसमयान या तबादले---अशोक की सुशासन के लिए व्यग्रता---पारिवारिक जीवन २१४–२१८

चण्डाशोक से धर्माशोक

कलिंगविजय के पूर्व---नरक-गृह---चण्डाशोक से धर्माशोक---इस परिवर्तन का कारण---पराक्रम के तीन रूप---अशोक का धर्ममंगल---निषेधात्मक आदेश---मानव-धर्म---सब धर्मों की मंगल-कामना---खण्डन का निषेध---अन्य धर्मों को दान---धर्ममंगल का प्रचार---प्रचार के साधन---रथयात्रा और दिव्य रूपों के दर्शन---शुभ परिणाम २१९–२२५

बौद्ध अशोक

बौद्ध धर्म में दीक्षा---चलो, आगे बढ़ो, चलते जाओ---बौद्ध-संघ---धर्म-प्रचार का शासकीय तंत्र---सुख-हित सम्पादन---धार्मिक दान---स्तम्भ और स्तूप---धर्म-यात्रा का संकल्प---गौतम बुद्ध से सम्बन्धित स्थलों की यात्रा---बौद्ध धर्म की 'संगीति' अथवा महासभा---अशोक की तीसरी संगीति---बौद्ध संघ में फूट की रोक २२६–२३०

विदेशों में धर्मविजय

अशोक का महानतम कार्य---धर्म महामात्र और विदेशी राज्य---बौद्ध-भिक्षुओं द्वारा प्रचार---देश-विदेशों में भिक्षु---सिंहल का प्रतिनिधि-मण्डल---महेन्द्र और संघमित्रा---काश्मीर और गान्धार में मज्झान्तिक---अन्य प्रचारक २३१–२३४

अशोक की धार्मिक नीति

राजा और धर्म---अशोक की नयी नीति---इस नीति का परिणाम---नीतिपरिवर्तन---जैन धर्म को मान्यता---मौर्य साम्राज्य पर प्रभाव---शुभ परिणाम.. .. .. २३५–२३८

पृष्ठ

अशोक के अंतिम दिन और पिछले मौर्य

साम्राज्य शक्ति का विकेन्द्रीकरण—अशोक के अन्तिम दिन—सम्प्रति (चन्द्रगुप्त द्वितीय)—जैन धर्म का प्रचार—विगताशोक और चन्द्रगुप्त द्वितीय—अकाल और दक्षिण-प्रवास—मौर्य साम्राज्य की समाप्ति—यूनानियों का आक्रमण २३९–२४२

मौर्य साम्राज्य और मध्यभारत

ऐतिहासिक सामग्री—चाणक्य और मध्यभारत—विदिशा की देवी असंधिमित्रा—महेन्द्र, सुमन और भन्दु—उज्जयिनी और सिंहल—सम्राट अशोक की धर्मयात्रा—बौद्ध धर्म के केन्द्र विदिशा और उज्जयिनी—वेश्याटेकरी का स्तूप—विदिशा—सुवर्णगिरि—अवन्ति का कुमारामात्य—धार्मिक नीति की प्रतिक्रिया का क्षेत्र—नाग—सांस्कृतिक और साहित्यिक विकास—आर्थिक स्थिति २४३–२४८

धर्मसाधना

अध्यात्म की पृष्ठभूमि—दर्शनों का प्रादुर्भाव—विविध दर्शन—आजीवक—मक्खलि गोसाल—आजीवक मत का प्रसार—जैन धर्म—पार्श्वनाथ—वर्धमान महावीर—महावीर और जैन धर्म—जैन साहित्य—जैन दर्शन—जैन धर्म का रूप—जैन धर्म का प्रसार—बौद्ध धर्म—गौतम बुद्ध—महाभिनिष्क्रमण—तपस्या और बोध—धर्मचक्र प्रवर्तन—महापरिनिर्वाण—बौद्ध साहित्य का विकास—थेरवाद—महासंघिक—अशोककालीन संगीति—बौद्ध धर्म—बौद्ध दर्शन—बौद्ध संघ—बौद्ध धर्म और योनिवाद—अशोक का बौद्ध धर्म और चाणक्य का राजधर्म—वैष्णव उपासना—शैव उपासना—पाशुपत दर्शन—कुबेर—नागपूजा—सूर्य—अन्य देवता २४९–२७६

साहित्य, भाषा और लिपि

मध्यदेश का अंशदान—भास—मध्यदेश का भास—वात्स्य जीवक—व्याडि—वररुचि—वात्स्यायन चाणक्य—चाणक्य का जन्मस्थान बुन्देलखण्ड—चाणक्य के अनेक नाम—चाणक्य के कार्य—सांस्कृतिक चक्र की नाभि—पाणिनि—संस्कृत भाषा—शौरसेनी पालि—वेत्रवती की पुत्री—लिपि २७७–२८७

सामाजिक स्थिति

वर्ण-व्यवस्था—ब्राह्मण वर्ण—नियामक ग्रन्थों का निरूपण—व्यावहारिक ब्राह्मण वर्ण—जातक साहित्य और ब्राह्मण—चारुदत्त और ब्राह्मण—क्षत्रिय वर्ण का शास्त्रीय रूप—क्षत्रिय की श्रेष्ठता का प्रतिपादन—क्षत्रिय वर्ण का व्यावहारिक रूप—वैश्य—शूद्र और शास्त्रमर्यादा—

पृष्ठ

शूद्र की व्यावहारिक स्थिति—वर्ण-व्यवस्था के खुले द्वार—वर्ण बनाम श्रेणियाँ और जनपद—आश्रमधर्म—ब्रह्मचर्य और शिक्षा—गृहस्थ—वानप्रस्थ—संन्यास—आश्रम-व्यवस्था का विपर्यय—पारिवारिक जीवन तथा विवाह—विवाह-मोक्ष—समाज में स्त्री का स्थान—दास—आमोद-प्रमोद—वेशभूषा तथा अलंकार—धार्मिक विश्वास—जीवन्त समाज का रूप—मरणोत्तर संस्कार २८८–३०४

व्यवसाय तथा व्यापार

समृद्धि की परम्परा—आर्थिक संगठन—खेती—व्यवसायियों की श्रेणियाँ—वस्त्र व्यवसाय—व्यापारिक संगठन—व्यापार के नियम—सार्थ—व्यापार-पथ और यातायात—विदेशी व्यापार—संस्कृति के सन्देशवाहक—मुद्रा—प्रमाण और उन्मान ३०५–३१७

स्थापत्य तथा अन्य शिल्प

नगर निर्माण—नगर और भवन—बौद्ध स्थापत्य—स्तूप—स्तम्भ—चैत्य तथा गुहा-भवन—मूर्त्तियों के प्रकार—यक्षों और राजाओं की मूर्त्तियाँ—अशोककालीन मूर्त्तियाँ—मौर्यकालीन अन्य मूर्त्तियाँ—मनके, गुरिये और प्रसाधन सामग्री—मृण्मूर्त्तियाँ, मिट्टी के बरतन तथा मुद्राएँ—लोकाभिमुख कला ३१८–३३१

संगीत, नृत्य तथा चित्रकला

संगीत और नृत्य—संगीतशास्त्र—चित्रकला ३३२–३३५

राजनीति और शासनव्यवस्था

राजनीति की व्यापक धाराएँ—अर्थशास्त्रों का विकास—साम्राज्यतंत्र—सम्राट, राजा या स्वामी—मंत्रिपरिषद—जनपद—केन्द्रीय अधिकारी—जनों के समवाय या संगठन—पौर या नगरसभा—गणराज्य—न्यायालय की वरिष्ठता ३३६–३४४

शिक्षाव्यवस्था

पूर्वपरम्परा—विद्यारंभ—उपनयन—अन्तेवासी—आचार्य—अध्ययन-काल—अध्ययन के विषय—प्रत्यक्ष अध्यापन—शिक्षा-संस्थाएँ—औद्योगिक शिक्षण संस्थाएँ—वैदिक चरण—चरण का नाम—चरणों की संघीय व्यवस्था—छात्र और स्नातक—आश्रमों की परम्परा—शौनक का ऋषिकुल—अन्य आश्रम—तक्षशिला—काशी—बौद्ध विहार ३४५–३५७

विदेशों से सम्बन्ध

हखमानी साम्राज्य के पूर्व—हखमानी साम्राज्य—यूनानी साम्राज्य—पाश्चात्य देशों से सांस्कृतिक आदान-प्रदान—चीन और भारत .. ३५८–३६०

पृष्ठ

हिन्दू-संस्कृति-निर्माण युग
(ई० पू० २०० से ई० ३५० तक)

इस युग की विशेषताएँ

संघर्ष का युग——राष्ट्रीयता का उदय——राष्ट्रीय साहित्य की सृष्टि——इस युग के इतिहास की कठिनाइयाँ——इस युग का नामकरण .. ३६३–३६७

शुंग और यवन

बाख्त्री के यवन——बाख्त्री साम्राज्य का उदय——यवन इतिहास की समस्याएँ——कलिंग का चेदि वंश——खारवेल का धर्म——हाथीगुम्फा प्रशस्ति का रूप——खारवेल का परिवार——खारवेल का प्रारंभिक जीवन——निर्माण तथा प्रजा रंजन——खारवेल की विजय-यात्राएँ——वैदिश ज्येष्ठनाग तथा सातवाहन——पद्मावती जनपद के सिक्के——नाग नागपूजक नहीं थे——पुष्पमित्र और नाग——सातवाहन वंश——सिमुक——कृष्ण——शातकर्णि——अश्वमेध यज्ञ ३६८–३८४

विदिशा के शुंग

पुष्यमित्र का उदय——यवन आक्रमण——बृहद्रथ वध——तत्कालीन व्यवस्था——यवनों से संघर्ष——पुष्यमित्र और बौद्ध——खारवेल की पाटलिपुत्र यात्रा——प्रथम अश्वमेध यज्ञ——विदर्भ——दूसरा अश्वमेध यज्ञ——राज्य-व्यवस्था——सेनापति विरुद——क्या शुंग नाग थे?——युग-निर्माता पुष्यमित्र——अग्निमित्र——ज्येष्ठमित्र, वसुमित्र और ओद्रक——पुलिन्दक, घोषमित्र, वज्रमित्र और भागवत——देवभूति——शुंगभृत्य .. ३८५–३९९

विक्रमादित्य और शक

शक-पह्लव——मालव-शिवि-यौधेय——शिवि——मालव——यौधेय——उज्जयिनी का गन्धर्वसेन या गर्धभिल वंश——शकों की पराजय——विक्रम-दुहिता वसुन्धरा ४००–४०६

अनुश्रुति में विक्रमादित्य

अनुश्रुति का मूल्य——कालकाचार्य कथा——कथासरित्सागर——वेताल पंचविंशतिका——सिंहासनद्वात्रिंशिका——प्रबन्धचिन्तामणि——पुराण——अन्य स्फुट ग्रन्थ ४०७–४३१

विक्रम-संवत्

विक्रम-संवत् सम्बन्धी अद्‌भुत अनुमान——अभिलेख एवं मुद्राओं से प्राप्त निष्कर्ष——विक्रम के नवरत्न——विक्रमादित्य विरुद और विरुद-धारी——उपसंहार——परिशिष्ट क ४३२–४४६

पृष्ठ

सातवाहन और शक क्षत्रप

क्षहरात, कार्दमक और सातवाहन—क्षत्रप—मथुरा के क्षत्रप—क्षहरात कुल—नहपान और उषवदात (ऋषभदत्त)—मालवों का पराभव—क्षहरातों का अन्त—विन्ध्य का स्वामी गौतमीपुत्र शातकर्णि—उज्जयिनी के कार्दमक शकक्षत्रप—रुद्रदामन्—रुद्रदामन् के उत्तराधिकारी ४४७–४५८

नाग-कुषाण संघर्ष

कुषाणों का उदय—कनिष्क—कनिष्क की धार्मिक नीति—चौथी बौद्ध-संगीति—कनिष्क के अन्तिम दिन—व्यापारिक उन्नति—वासिष्क—हुविष्क—वासुदेव—पद्मावती का वनस्पर ४५९–४६७

नव नाग

पद्मावती के नाग—नव नागों के इतिहास की सामग्री—विन्ध्यशक्ति—नागों की शासन प्रणाली—नव नागों का अश्वमेध—नाग राजाओं की मूर्त्तियाँ—नव नागों का धर्म—नव नागों के प्रभावक्षेत्र का विस्तार—वाकाटक—पल्लव, गंग तथा अन्य राजवंश ४६८–४८८

महरौली स्तम्भ-लेख का पुनर्परीक्षण

भव नाग और चन्द्र—स्तम्भ-लेख का पाठ—दक्षिण जलनिधि और भव नाग—भव नाग और वाह्लीक विजय—बंग में सम्मिलित शत्रुओं का पराभव—भव नाग की विष्णु में मति—अधिराज भव नाग की महरौली प्रशस्ति ४८९–४९३

गुप्तों का विद्रोह और नवनागों का पराभव

गुप्तों का धारण अभिजन—नागभृत्य गुप्त—घटोत्कच और लिच्छवि—चन्द्रगुप्त और मगध—समुद्रगुप्त और गणराज्य—अनुश्रुति और गुप्त—गणशक्ति का तिरोभाव ४९४–५००

धर्मसाधना

विकास का युग—विष्णु के अवतार—उपासनाओं का समन्वय और हिन्दू धर्म का उदय—दर्शन—पतंजलि का योगदर्शन—वैष्णव उपासना—शैव उपासना—शैव उपासना और साहित्य—शैव उपासना और कला—शैव उपासना का प्रसार—शैव साधना और लकुलीश—बौद्ध धर्म का विकास—महायान का उदय—बौद्ध दर्शन का विकास—नागार्जुन और बौद्ध धर्म—सर्वास्तिवाद और चौथी संगीति—बौद्ध धर्म का प्रसार—जैन धर्म की दिगम्बर और श्वेताम्बर शाखाएँ—जैन धर्म का प्रसार—उज्जयिनी और जैन धर्म—जैन आगम और ब्राह्मण धर्म—जैन साहित्य का विकास—अन्य अप्रधान उपासनाएँ ५०१–५१४

पृष्ठ

साहित्य भाषा और लिपि

उत्थान की नयी लहर—उत्तर भारत और साहित्य—कुलपति शौनक का वैदिक चरण—राजसभाएँ और साहित्य—साहित्य की प्रवृत्तियाँ—भारत से महाभारत—महाभारत की मूल सामग्री—भृगु वंश और भारत—महाभारत और हिन्दू-संस्कृति-निर्माण युग—नीति और धर्मग्रन्थ महाभारत—वाल्मीकि रामायण—मनुस्मृति और मध्यदेश—विष्णुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति—पतंजलि—कातंत्र व्याकरणकार शर्ववर्मा—वररुचि—अमरसिंह—भरत का नाट्यशास्त्र—जयदेव—शूद्रक—शंकु—वेतालभट्ट—घटखर्पर—वराहमिहिर—क्षपणक—धन्वन्तरि—मध्यदेश का कालिदास—कालिदास और विदिशा के शुंग—कालिदास और विक्रमादित्य साहसांक—मेघदूत, नीचगिरि और विक्रमादित्य—मेघदूत और कालिदास का जीवनक्रम—कुमारसंभव और रघुवंश—कालिदास के शब्द, भाषा और शैली—कालिदास और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य—कुछ प्रतीप अनुमान—क्या कालिदास विलासी जीवन की उपज हैं?—विक्रमादित्य साहसांक और कालिदास—सम्राट कवि प्रवरसेन तथा सर्वसेन वाकाटक का कवित्व—हाल सातवाहन का गाथाकोष—गुणाढ्य—संस्कृत भाषा का विकास—प्राकृतों का रूप और विकास—पैशाची अपभ्रंश—शौरसेनी प्राकृत—महाराष्ट्री—मागधी और अर्धमागधी—अन्य प्राकृतें और अपभ्रंश—प्राकृतों का युग—नागरी लिपि ५१५–५६३

राजनैतिक स्थिति और न्यायव्यवस्था

संघबद्ध गणराज्य—पूर्वपरम्परा—समकालीन आक्रान्ता और आगामी सम्राट—गणमुख्य और गणसंघ—असाम्प्रदायिक राजधर्म—निर्विवाद संघशासन—गणराज्यों का अन्त—नाग और गरुड़ध्वज—न्यायदान—मामलों के पद—राजा का कर्त्तव्य—न्यायालय के सदस्य—अन्य अधिकारी—प्राड्विवाक—सभामण्डप—समय और छुट्टियाँ—निर्णय—अन्य न्यायालय और अपील—कार्यवाही लिखी जाती थी—वकील—न्यायालय की कार्यविधि—न्यायालय का सम्मान .. ५६४–५७६

सामाजिक और आर्थिक अवस्था

वर्णव्यवस्था—ब्राह्मण—क्षत्रिय—वैश्य—शूद्र—चाण्डाल और छुआछूत—आश्रमधर्म—पारिवारिक जीवन और विवाह—स्त्री और समाज—वेश्याएँ—दास—उत्सव और आमोद-प्रमोद—वेशभूषा और अलंकार—सामाजिक धर्म—नगर—आर्थिक समृद्धि ५७७–५८५

पृष्ठ

शिक्षाव्यवस्था

शिक्षण संस्थाएँ—अध्ययन के विषय—वेदपाठियों की परम्परा—नाट्य-शास्त्र और चित्रकला का अध्ययन—शूद्र और वेदाध्ययन—विद्यामन्दिर के मुक्त द्वार—आचार्य—आत्मनिर्भर समृद्ध आश्रम—ज्ञानज्योति का परिप्लाव ५८६–५९२

संगीत और नृत्य

संगीतसाधना—सामगान—लौकिक संगीत का रूप—गीतवस्तु—वाद्य—नृत्य—संगीत का शिक्षण—संगीत का समादर—संगीत की व्यापकता ५९३–५९८

स्थापत्य शिल्प तथा अन्य कलाएँ

स्थापत्य—उदयगिरि का गुहामण्डप—बौद्ध स्थापत्य—बाघ गुहा-मण्डप—बाघ गुहा का नाम—बाघ गहामूसह का निर्माणकाल—बाघ गुहा का मूर्त्तिशिल्प—बाघ गुहा के चित्र—बाघ गुहाचित्रों में प्रकृति—चित्रकला का शिक्षण—नागर शिल्प—चित्रकला और साहित्य—धमनार की गुहाएँ ५९९–६२१

मूर्त्तिकला

ध्वंसावशेषों की खोज—शुंगकालीन मूर्त्तिकला—विदिशा का विष्णु-मंदिर—स्तम्भशीर्ष—साँची—भारहुत—नागकालीन मूर्त्तिकला—विदिशा का शिव मन्दिर—पवाया का तोरण—मृण्मूर्त्तियाँ—राष्ट्र-शिल्पी का स्मारक ६२२–६३४

विदेशों से सम्बन्ध

मिस्र—रोमन साम्राज्य—चीन—अन्य देश—विदेशी सम्पर्क का प्रभाव ६३५–६३८

चित्र-सूची

मानचित्र	पृष्ठ के सामने
१. भारतवर्ष	१
२. मध्यभारत	६
रंगीन चित्र	
१. बोधिसत्त्व-बाघ	२
२. चामर ग्राहिणी-बाघ	५०४
एकरंगे चित्र	
१. श्री तख्तमल जैन, मुख्य मंत्री, मध्यभारत	६
२. श्री श्यामलाल पांडवीय, सूचना मंत्री, मध्यभारत	७
३. महामहिम और महावराह–राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, उदयगिरि में	१
४. भारत लक्ष्मी	१
५. हमारे गणेन्द्र गणों की भूमि पर–श्री जवाहरलाल नेहरू, माण्डव दुर्ग में स्थित प्राचीन स्मारकों को देखते हुए	८
६. मध्यभारत के पृथिवीपुत्र को माता पृथिवी का वरदान	९
७. महेश्वर के निकट नर्मदा की सहस्रधारा का नैसर्गिक दृश्य	१६
८. वन्य सरिता, शिवपुरी	
९. ग्वालियर के निकट मानव के वन-सहचर	१७
१०. पाताल पानी-प्रपात, इन्दौर	२४
११. मध्यभारत का प्राचीनतम पृथिवीपुत्र–सेहरिया	२५
१२. झाबुआ का एक भील युवक	३२
१३. मध्यभारत की बंजारा रमणियाँ	३३
१४. श्योपुर के पास रामेश्वर तीर्थ के मेले में सहरिया सेहिलाएँ	४१
१५. मध्यभारत का ई० तीसरी-चौथी शताब्दी का नागरिक (बाघ गुहा से)	
१६. मध्यभारत का ई० तीसरी-चौथी शताब्दी का नागरिक (बाघ गुहा से)	
१७. प्राचीन युग की परम्परा का अवशेष. मध्यभारतीय भील	४३

१८. चम्बल घाटी नागदा (मध्यभारत) में प्राप्त प्रागैतिहासिक युग के मानव के हथियार

१९. मध्यदेश के उत्तरी नगर कन्नौज में प्राप्त ई० पू० १००० के अवशेष

२०. नागदा (मध्यभारत) में प्राप्त ई० पू० १००० वर्ष से अधिक पुराने अवशेष ५६

२१. चम्बल घाटी नागदा (मध्यभारत) के प्राग्वैदिक निवासियों के चित्रित बर्तनों के टुकड़े

२२. प्रागैतिहासिक चितेरे की कला ५७

२३. इस भू-प्रदेश के मानव का प्राचीन साथी—मुहें-जो-डेरो का वृष .. ८०

२४. अहमदाबाद जिले में ढोला ताल्लुके के सारागवाला गाँव के निकट प्राप्त पकी हुई मिट्टी की मुहरें

२५. प्रागैतिहासिक चितेरे की कला ८१

२६. नये मध्यभारत के निर्माता १७६

२७-२८. कुबेर तथा कुबेरी, विदिशा १७७

२९. प्रद्योत नन्दिवर्धन—(अग्र तथा पृष्ठ भाग) १८४

३०. बौद्ध स्तूप की बाड, विदिशा

३१. बौद्ध स्तूप की बाड, विदिशा १८५

३२. उज्जयिनी के प्राचीन प्राकार

३३. गीत-नृत्य, विदिशा २७२

३४. हाथी और सवार, विदिशा

३५. विदिशा की बाड पर जन-जीवन २७३

३६. वेष-भूषा—सैनिक, साँची

३७. वेष-भूषा—यक्षिणी, बेसनगर २९६

३८. वेष-भूषा—तीन व्यापारी

३९. यक्षिणी, बेसनगर २९७

४०. विदिशा में प्राप्त अन्नकूप

४१. उज्जयिनी में प्राप्त अन्नकूप

४२. उज्जयिनी में प्राप्त पत्थर के बाँट ३१२

४३. सहगौरा का ताम्रपत्र

४४. खलिहान में मणिनी

४५. उज्जयिनी में प्राप्त मिट्टी की मुद्रा

४६. हल-बैल ३१३

४७. वैश्या टेकरी, उज्जयिनी

४८. धर्मयात्रा

४९. स्तम्भशीर्ष, विदिशा

५०. स्तम्भशीर्ष, विदिशा ३२०

५१. स्तम्भपूजा ३२०
५२. बौद्ध स्तूप की बाड, विदिशा
५३. स्तम्भशीर्ष, सारनाथ ३२०
५४. स्तम्भशीर्ष, साँची ३२१
५५. विदिशा में प्राप्त स्त्री-मूर्त्ति ३२८
५६. उदयन और वासवदत्ता
५७. याक्षी–(अग्र तथा पृष्ठ भाग) ३२९
५८. माणिभद्र यक्ष–(अग्र तथा पृष्ठ भाग) ३३६
५९. कल्पवृक्ष ३३७
६०. विदिशा का यज्ञकुण्ड
६१. विदिशा के यज्ञकुण्ड के पास प्राप्त मिट्टी की मुद्राएँ ३९२
६२. हेलियोदोर स्तम्भ ३९३
६३. शक राजा की मूर्त्ति ४६४
६४. सूर्य, पढ़ावली
६५. नन्दी, पद्मावती
६६. नन्दी (पृष्ठ भाग), पद्मावती ४६५
६७. फीरोजपुर (विदिशा) में प्राप्त नाग राजा की प्रतिमाएँ
६८. साँची के पास नाग राजा की मूर्त्ति
६९. साँची के पास प्राप्त नाग राजा की मूर्त्ति (पीछे से) ४८०
७०. साँची के पास पाषाणाश्व
७१. सिक्के–अधिराजश्री भव नाग, भव नाग, स्कन्द नाग, ज्येष्ठमित्र
७२. महेश्वर नाग की मुद्रा, (लाहौर में प्राप्त) ४८१
७३. नागों की रुद्रपूजा, मुहें-जो-डेरो
७४. भारशिव नाग
७५. नागछत्रयुक्त मृण्मूर्त्तियाँ, पद्मावती ४८८
७६. ताड़स्तम्भशीर्ष, पद्मावती
७७. नाग राजा की मूर्त्ति, पद्मावती ४८९
७८. पद्मावती में विष्णु मंदिर का सूर्यस्तम्भशीर्ष ४९६
७९. विष्णु, पद्मावती
८०. छत्रधारिणी, पद्मावती
८१. ताड़स्तम्भशीर्ष, विदिशा ४९७
८२. गीत-नृत्य दृश्य, विष्णुमंदिर, पद्मावती
८३. पद्मावती की वादिकाएँ और वाद्ययंत्र ५९२
८४. पद्मावती के गीत-नृत्य की नर्त्तकी
८५. वाद्य तथा वादिकाएँ ५९३

८६. विष्णुमूर्ति, पद्मावती
८७. विष्णुमंदिर, पद्मावती ६००
८८ से ९३. पद्मावती के नाग राजाओं के विष्णुमंदिर पर प्राप्त स्त्रियों के सिरों की मृण्मूर्त्तियाँ ६०१
९४. एकमुख शिव, खोह ६०२
९५. एकमुख शिव, वीणागुहा, उदयगिरि
९६. एकमुख शिव, विदिशा
९७. अष्टमुख शिव, मन्दसौर ६०३
९८. बाघ गुहा चित्र
९९. बुद्ध, बाघ
१००. नाग राजा और नाग रानी, बाघ ६०८
१०१. हाथी पर जलूस, बाघ ६०९
१०२. बुद्ध, बाघ ६१४
१०३. नृत्य दृश्य, बाघ ६१५
१०४. रंगमहल की भित्तियों पर प्राप्त विविध कलापूर्ण पट्टियाँ
१०५-१०६. रंगमहल की भित्तियों पर प्राप्त विविध कलापूर्ण चित्रकारी ६१६
१०७ से १०९. बुद्ध तथा बोधिसत्त्व, बाघ ६१७
११०. रंगमहल, भित्तिचित्र
१११. रंगमहल, भित्तिचित्र ६२४
११२. बोधिसत्त्व, बाघ
११३. बाघ गुहा का एक भावपूर्ण चित्र
११४. बोधिसत्त्व, बाघ ६२५
११५. बाघ की गुहा क्र. २ के अलिन्द में बुद्ध और बोधिसत्त्व प्रतिमाएँ
११६. गुहा क्र. २ का स्तूप और स्तूप-द्वार पर बोधिसत्त्व ६३२
११७. बाघ गुहा क्र. २
११८. बाघ गुहा क्र. २ के स्तूप-द्वार का अलिन्द
११९. बाघ गुहा क्र. ४ .. .. ६३३
१२०. तोरण-द्वार, सांची ६३४
१२१-१२२. सांची के पश्चिमी तोरण पर नगर का दृश्य
१२३. बुद्धचिह्न के लिए लड़ाई ६३५



महामहिम और महावराह

राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद उदयगिरि में



भारत लक्ष्मी

(लम्पकस में प्राप्त चाँदी की तश्तरी पर; पृष्ठ २९ तथा १६८)

मध्यभारत का स्वरूप

(सांस्कृतिक, भौगोलिक और राजनैतिक)

भारत और मध्यभारत

भारतीय संस्कृति––सामासिक अमृत

भारत के राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने एक स्थल पर कहा है, "कोई विदेशी जो भारत से बिलकुल अपरिचित हो, उसके एक छोर से दूसरे छोर तक सफर करे तो उसको इस देश में इतनी विभिन्नताएँ देखने में आएँगी कि वह कह उठेगा कि यह एक देश नहीं बल्कि कई देशों का एक समूह है, जो एक दूसरे से बहुत बातों में और विशेषकर के ऐसी बातों में जो आसानी से आँखों के सामने आती हैं, बिलकुल विभिन्न है। प्राकृतिक विभिन्नताएँ भी इतनी और इतने प्रकारों की और इतनी गहरी नजर आएँगी जो किसी भी एक महाद्वीप के अन्दर ही नजर आ सकती हैं। हिमालय की बर्फ से ढकी हुई पहाड़ियाँ एक छोर पर मिलेंगी और जैसे-जैसे वह दक्षिण की ओर बढ़ेगा, गंगा, यमुना, ब्रह्मपुत्र से प्लावित समतलों को छोड़कर फिर विन्ध्या, अरावली, सतपुड़ा, सह्याद्रि, नीलगिरि की श्रेणियों के बीच समतल हिस्से रंग-बिरंगे देखने में आएँगे। पश्चिम से पूर्व तक जाने में भी उसे इस प्रकार की विभिन्नताएँ देखने को मिलेंगी। हिमालय की सरदी के साथ-साथ जो साल में कभी भी मनुष्य को गरम कपड़ों से और आग से छुटकारा नहीं देती, समतल प्रान्तों की गरमियों की जलती हुई लू और कन्याकुमारी का वह सुखद मौसम, जिसमें न कभी सरदी होती है और न गरमी, देखने को मिलेगा। अगर आसाम की पहाड़ियों में वर्ष में तीन सौ इंच वर्षा मिलेगी तो जैसलमेर की तप्त भूमि भी मिलेगी, जहाँ साल में दो-चार इंच भी वर्षा नहीं होती। कोई ऐसा अन्न नहीं जो यहाँ उत्पन्न न किया जाता हो, कोई ऐसा फल नहीं जो यहाँ पैदा नहीं किया जा सके, कोई ऐसा खनिज पदार्थ नहीं जो यहाँ के भूगर्भ में न पाया जाता हो और न कोई ऐसा वृक्ष अथवा जानवर है जो यहाँ के फैले हुए जंगलों में न मिले। यदि इस सिद्धान्त को देखना हो कि आब-हवा का असर इन्सान के रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा और शरीर और मस्तिष्क पर पड़ता है तो उसका जीता-जागता सबूत भारत में बसनेवाले भिन्न-भिन्न प्रान्तों के लोग देते हैं। इसी तरह मुख्य-मुख्य भाषाएँ भी कई प्रचलित हैं और बोलियों की तो कोई गिनती ही नहीं।

"भिन्न-भिन्न धर्मों के माननेवाले भी जो सारी दुनिया के सभी देशों में बसे हुए हैं, यहाँ भी थोड़ी बहुत संख्या में पाये जाते हैं और जिस तरह यहाँ की बोलियों की गिनती नहीं उसी तरह यहाँ भिन्न-भिन्न धर्मों के संप्रदायों की भी गिनती आसान नहीं। इन विभिन्नताओं को देखकर अगर अपरिचित आदमी घबड़ाकर कह उठे कि—यह एक देश नहीं अनेक देशों का समूह है—तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं; क्योंकि ऊपर से देखनेवाले को, जो गहराई में नहीं जाता, विभिन्नता ही देखने में आएगी। पर विचार करके देखा जाए तो इन विभि-

न्नताओं की तह में एक ऐसी समता और एकता फैली हुई है जो अन्य विभिन्नताओं को ठीक उसी तरह पिरो लेती है और पिरोकर एक सुन्दर समूह बना देती है जैसे रेशमी धागा भिन्न-भिन्न प्रकार की और विभिन्न रंग की सुन्दर मणियों अथवा फूलों को पिरोकर एक सुन्दर हार तैयार कर देता है, जिसकी प्रत्येक मणि या फूल न तो अलग है और न हो सकता है और केवल अपनी ही सुन्दरता से लोगों को मोहता नहीं बल्कि दूसरों की सुन्दरता से वह स्वयं सुशोभित होता है और उसी तरह अपनी सुन्दरता से दूसरों को भी सुशोभित करता है। यह केवल एक काव्य की भावना नहीं है बल्कि एक ऐतिहासिक सत्य है, जो हमारे बरसों से अलग-अलग अस्तित्व रखते हुए अनेकानेक जलप्रपातों का और प्रवाहों का संगमस्थल बनकर एक प्रकाण्ड और प्रगाढ़ समुद्र के रूप में भारत में प्राप्त है, जिसे भारतीय संस्कृति के नाम से संबोधन कर सकते हैं। इन अलग-अलग नदियों के उद्गम भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, और रहे हैं। इनकी धाराएँ भी अलग-अलग बही हैं और प्रदेश के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के अन्न और फल-फूल पैदा करती रही हैं; पर सब में एक ही शुद्ध, सुन्दर, स्वस्थ, शीतल जल बहता रहा है, जो उद्गम और संगम में एक ही हो जाता है[1]।"

अमृत-स्रोतों की खोज—इतिहास का उद्देश्य

इसी निर्मल, शुद्ध और स्वस्थ अमृत की तलाश ही इतिहास का उद्देश्य है। युग-युगान्तर से किस प्रकार अनेक जातियों, धर्मों और विचारधाराओं ने भारत की वर्त्तमान संस्कृति का रूप निर्माण किया और किस प्रकार उज्ज्वल भविष्य की रूपरेखा का निर्माण हो सकता है इसका सूत्र हमें अपने इतिहास के पन्नों में ही मिलना है। इतिहास में व्यक्तियों का महत्त्व भी होता ही है, "इतिहास की किताबों में हम राष्ट्रों के जीवन में बीतनेवाले बड़े-बड़े जमानों का और उन महान पुरुषों और महिलाओं का हाल और उनके शानदार कारनामों की कहानियाँ पढ़ते ही रहते हैं। कभी-कभी हम सोचते-सोचते और सामने देखते-देखते यह खयाल करने लगते हैं कि मानो हम भी उसी पुराने जमाने में चले गये हैं और पुराने जमाने के उन वीरों और वीरांगनाओं के समान हम भी बहादुरी के काम कर रहे हैं[2]।" व्यक्तियों, जातियों और वर्गों के संघर्षों और कार्यों की जानकारी के साथ समन्वित रूप से इतिहास का प्रधान लक्ष्य दूसरा है। वर्त्तमान भारत के स्रष्टा तथा महानतर से महानतम भावी भारत के स्वप्नद्रष्टा श्री जवाहरलाल नेहरू ने उस उद्देश्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है, "इतिहास पढ़कर हमें यह सीखना चाहिए कि दुनिया ने कैसे आहिस्ता-आहिस्ता लेकिन निश्चित रूप से तरक्की की है।······बर्बरता से निकलकर सभ्यता की ओर मनुष्य की प्रगति का हाल इतिहास का विषय माना गया है[3]।"

भारतीय इतिहास के पृष्ठ उस अजर-अमर भारतीय संस्कृति की झाँकी देते हैं जो एक बहुत लंबे काल-मान को पार कर हमें उत्तराधिकार के रूप में मिली है और संसार के इति-

---

१. अखिल भारतीय सांस्कृतिक सम्मेलन, सन १९५१, दिल्ली का उद्घाटन भाषण।

२. श्री जवाहरलाल नेहरू : विश्व इतिहास की झलक, पृष्ठ ४।

३. वही, पृष्ठ ८।

हास में जिसका विशिष्ट स्थान है। श्री नेहरू ने इस संबंध में लिखा है, "मिस्र, नौसास, इराक और यूनान—ये सब खतम हो गये। इनकी सभ्यता की हस्ती भी बाबुल और निनीवे की तरह मिट गई। तो फिर इन पुरानी सभ्यताओं के साथी बाकी दो, चीन और भारत, का क्या हुआ? और देशों या मुल्कों की तरह इन दोनों देशों में भी साम्राज्य के बाद साम्राज्य कायम होते रहे। यहाँ भी भारी तादाद में हमले हुए, बरबादी और लूटमार हुई। बादशाहों के खानदान सैकड़ों बरसों तक राज करते रहे और फिर इनकी जगह पर दूसरे आ गये। भारत और चीन में ये सब बातें वैसे ही हुई जैसे दूसरे देशों में। लेकिन सिवाय चीन और भारत के, किसी भी दूसरे देश में सभ्यता का असली सिलसिला कायम नहीं रहा। सारे परिवर्तनों, लड़ाइयों और हमलों के बावजूद इन देशों में पुरानी सभ्यता की धारा अटूट बहती आई है। यह सच है कि ये दोनों अपने पुराने रुतबे से बहुत नीचे गिर गये हैं और इनकी प्राचीन संस्कृतियों के ऊपर ढेर की ढेर गर्द और कहीं-कहीं गंदगी, लंबे अर्से से जमा होती गई है। लेकिन ये संस्कृतियाँ अभीतक कायम हैं और आज भी वही भारतीय सभ्यता, भारतीय जिन्दगी का आधार है। अब दुनिया में नई हालतें पैदा हो गई हैं; भाप से चलनेवाले जहाजों, रेलों और बड़े-बड़े कारखानों ने दुनिया की सूरत ही बदल दी है। हो सकता है, बल्कि वास्तव में संभव है, कि वे भारत की भी कायापलट कर दें, जैसा कि वे कर भी रही हैं। लेकिन भारतीय संस्कृति और सभ्यता, जो इतिहास के उदयकाल से लेकर लंबे-लंबे युगों को पार करती हुई वर्त्तमान काल तक चली आई है, के इस लंबे विस्तार और सिलसिले का खयाल दिलचस्प और बहुत कुछ आश्चर्यजनक है। एक अर्थ में भारत के हम लोग इन हजारों वर्षों के उत्तराधिकारी हैं[1]।"

मध्यभारत के इतिहास का महत्त्व

इस विशाल देश के विभिन्न भूभागों ने इस महान सांस्कृतिक समुद्र के संयोजन में अपना अंशदान दिया है। देश के सामूहिक रूप के निर्माण में, समष्टि की साधना में व्यष्टि के, प्रत्येक भूभाग के, योगदान के इतिहास का विवेचन न केवल आत्मसंतोष देता है वरन् वह आत्मनिरीक्षण के लिए प्रेरित भी करता है और भावी कर्त्तव्यनिर्धारण की स्फूर्ति देता है, और यदि इसका सही उपयोग किया जाए तो हम उस 'गर्द और गन्दगी' को हटाने की शक्ति और प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं जिसका उल्लेख श्री नेहरू ने किया है।

इतिहास के आदिकाल से ही इस संस्कृति-संगम के निर्माण और विकास में मध्यदेश ने बहुत अधिक योग दिया है, वह भारत देश की एक इकाई के रूप में सदा अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा है। मध्यदेश से हमारा तात्पर्य किस भूभाग से है इसका विवेचन हम आगे करेंगे, परन्तु वह एक सांस्कृतिक इकाई रहा है, इस भूभाग के निवासियों ने इतिहास में अनेक समवेत और संयुक्त प्रयास किये हैं, उसके निवासियों के रहन-सहन, वेश-भूषा, भाषा और अन्य प्रवृत्तियों में बहुत अधिक समानता रही है, यह सुनिश्चित है।

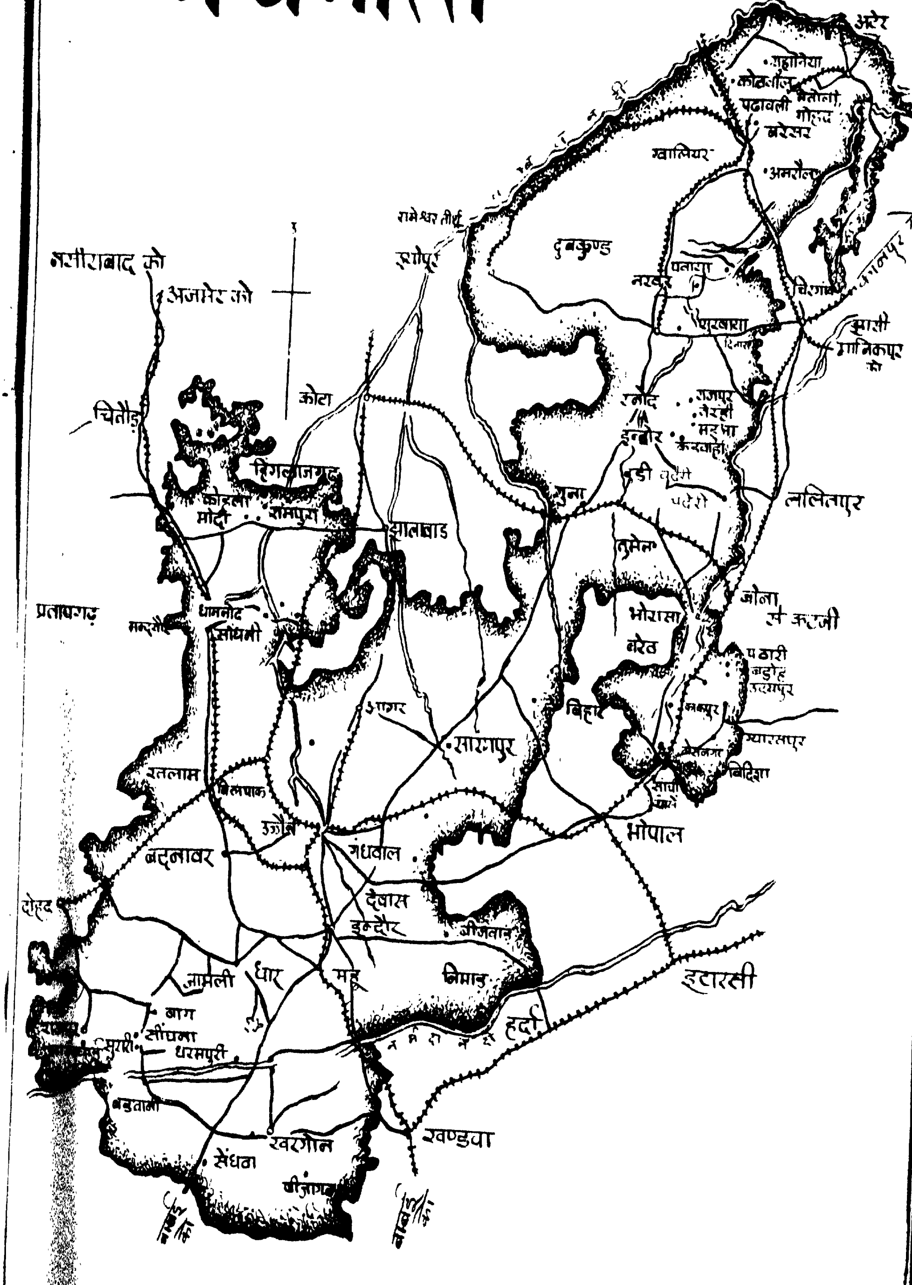
भारतीय संस्कृति के निर्माण में काल-पुरुष के पाद-निक्षेप की अजस्र परम्परा के साथ हम किस प्रकार चले हैं, कहाँ हमारे कारण उसे बल मिला, कहाँ हम उसकी प्रगति में बाधक

---

१. श्री जवाहरलाल नेहरू : विश्व इतिहास की झलक, पृष्ठ १५।

बने हैं यह सोचना-समझना अत्यंत आवश्यक है। देश की वर्त्तमान संस्कृति के रूप-निर्माण में, उसके उज्ज्वल, पावन और कल्याणकारी स्वरूप की संपुष्टि में आज के मध्यभारत की भूमि की हमसे पहले की पीढ़ियों ने जो कुछ किया उसके सम्यक ज्ञान से हमें अपने भावी प्रयास में गति मिलेगी और उनके द्वारा जो भूलें हुई हैं उन्हें जानने में भी हमारा मार्गदर्शन होगा। भारतीय इतिहास की पृष्ठभूमि में वर्त्तमान मध्यभारत अथवा पहले के मध्यदेश के इतिहास की इस रूपरेखा के प्रस्तुत करने के प्रयास के औचित्य के विषय में यही लिखना पर्याप्त है। भारत के इतिहास के अध्ययन से यदि हमारे पावन सांस्कृतिक समुद्र के पूरित होने की कहानी प्राप्त होती है, तो मध्यभारत के इतिहास के अध्ययन से उस सागर को परि-पुष्ट करनेवाली अनेक उज्ज्वल धाराओं के स्रोत और विकास की पुण्यगाथा सामने आती है। डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने भारतीय संस्कृति की जिस मणिमाला अथवा पुष्पावली से उपमा दी है, मध्यभारत का इतिहास उसकी दिव्य-ज्योति-संभूत सुमेरुमणि की सुप्रभा अथवा उसके एक पारिजात की सुरभि की कहानी है।

मध्यभारत



अटेर
पढ़ावली
ग्वालियर
अमरौल
रामेश्वर तीर्थ
नसीराबाद को
अजमेर को
श्योपुर
दुबकुण्ड
नरवर
कोटा
चितौड़
हिंगलाजगढ़
रामपुरा
झालावाड
गुना
ललितपुर
झांसी
प्रतापगढ़
धामनोद
भोरासा
बेरत
सारंगपुर
रतलाम
उज्जैन
बदनावर
गंधवाल
देवास
इन्दौर
दोहद
आमली
धार
महू
निमाड़
इटारसी
हर्दा
बाग
धरमपुरी
खरगौन
सेंधवा
खण्डवा
भोपाल
विदिशा
सांची

मध्यदेश की परम्परा

वैदिक मध्यदेश

वर्त्तमान मध्यभारत के निर्माण (२८ मई १९४८) के दिन से किसी नवीन परम्पराहीन इकाई का प्रादुर्भाव हुआ था, यह मान लेना उचित नहीं है। भारत के एक सांस्कृतिक घटक के रूप में उसका अस्तित्व अत्यंत प्राचीनकाल से रहा है। भारत की एक देश के रूप में कल्पना और फिर उसके विभिन्न घटकों का निरूपण अत्यंत प्राचीनकाल से प्रारंभ हो गया था। वैदिककाल में जब समस्त भारत में पहले की सभी संस्कृति-धाराओं का समन्वय हो चुका था, तब सब से पूर्व अथर्ववेद में 'रेवा (नर्मदा) के उत्तर के भूभाग' का उल्लेख एक इकाई के रूप में मिलता है। मध्यदेश नाम वास्तव में भारत के मध्यभाग में स्थित होनेवाले भूभाग का सूचक है। जिस समय वैदिकसंहिताएँ लिखी गई, उनके रचनाकारों की हलचलों की भूमि का 'मध्य' उत्तर-पश्चिम भारत में था। सब से पहले मध्य में स्थित प्रदेश का उल्लेख ऐतरेयब्राह्मण में मिलता है[1]। परन्तु इस मध्यदेश में अवन्ति अथवा भोजों का प्रदेश सम्मिलित नहीं माना गया।

मनुस्मृति

मध्यदेश का सर्वप्रथम स्पष्ट उल्लेख मनुस्मृति में मिलता है। उसमें ब्रह्मावर्त्त का वर्णन करते हुए लिखा है:—

> सरस्वतीदृष्यद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरं ।
> तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते ।।[2]

अर्थात् सरस्वती और दृषद्वती नाम की नदियों के बीच का प्रदेश ब्रह्मावर्त्त कहलाता था। इस ब्रह्मावर्त्त के पश्चात् है मध्यदेश—

> कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पाञ्चालाः शूरसेनकाः ।
> एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः ।।
> हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्ये यत्प्राग् विनशनादपि ।
> प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्त्तितः ।।

अर्थात् कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाञ्चाल और शूरसेन मिलकर ब्रह्मर्षि देश है, इसके उत्तर में हिमालय और दक्षिण में विन्ध्य पर्वत है, पश्चिम में उसकी सीमा विनशन तक है तथा पूर्व में प्रयाग तक। पश्चिम में विनशन वह स्थान कहलाता है जहाँ प्राचीनकाल में सरस्वती नदी

---

१. ऐतरेयब्राह्मण ३८।३। २. मनुस्मृति २, १७-२४।

मरुभूमि में लुप्त हो गई थी। यह उदयपुर के पश्चिम का मरुप्रदेश है। मनुस्मृति का इस मध्यदेश की परिभाषा को आगे माना गया। अनेक ग्रन्थों में इसे ज्यों का त्यों उद्धृत कर दिया गया। बृहत्संहिता, त्रिकांडशेष, अभिधान चिन्तामणि तथा अमरकोष में मध्यदेश की सीमाएँ यही दी गई हैं।

बुद्ध की मध्यदेश की परिभाषा

गौतम बुद्ध ने भी मध्यदेश की परिभाषा विनयपिटक में की है। परन्तु वह गौतम बुद्ध के समय बौद्धधर्म के प्रसारक्षेत्र के मध्य के भाग की निर्देशक है। किसी व्यक्ति को बौद्ध-धर्म में दीक्षित करते समय दस बौद्ध-भिक्षुओं का उपस्थित होना आवश्यक था। जिन प्रदेशों में बौद्धधर्म का प्रचार नहीं हुआ था वहाँ दस बौद्ध-भिक्षु मिलना कठिन हो जाता था। बौद्धप्रचारक महाकात्यायन को दक्षिण अवन्ति प्रदेश में यही कठिनाई उपस्थित हुई। गौतम बुद्ध से इस संबंध में व्यवस्था माँगी गई। व्यवस्था यह दी गई कि दस भिक्षुओं के उपस्थित होने का नियम केवल 'मध्यदेश' को ही लागू होगा, मध्यदेश के बाहर केवल चार भिक्षुओं का उपस्थित होना पर्याप्त होगा। इस मध्यदेश की सीमाएँ भी दी गई हैं, जो मनुस्मृति में दी गई सीमाओं की अपेक्षा पूर्व दिशा में बहुत दूर बिहार तक चली गई हैं।

फाहियान का मध्यदेश

प्रसिद्ध चीनी यात्री फाहियान ने ईसवी पाँचवीं शताब्दी के प्रारंभ में भारत-यात्रा की थी। उसने भी मध्यदेश का उल्लेख[1] किया है। वह लिखता है कि मथुरा के दक्षिण से मध्यदेश का प्रारंभ होता है। परन्तु फाहियान के वर्णन से मध्यदेश की दक्षिणी, पश्चिमी तथा पूर्वी सीमाएँ ज्ञात नहीं होतीं। उसने लिखा है, "यहाँ से (माताऊल अर्थात् मथुरा से) दक्षिण मध्यदेश कहलाता है। यहाँ शीत और उष्ण सम है। प्रजा प्रभूत और सुखी है। व्यवहार की लिखापढ़ी और पंचपंचायत कुछ नहीं है। लोग राजा की भूमि जोतते हैं और उपज का अंश देते हैं। जहाँ चाहें जायँ, जहाँ चाहें रहें। राजा न प्राण दंड देता है और न शारीरिक दंड देता है। अपराधी को अवस्थानुसार उत्तम साहस व मध्यम साहस का अर्थदंड दिया जाता है। बार-बार दस्युकर्म करने पर दक्षिण-करच्छेद किया जाता है। राजा के प्रति-हार और सहचर वेतनभोगी हैं। सारे देश में कोई अधिवासी न जीवहिंसा करता है, न मद्य पीता है और न लहसुन-प्याज खाता है; सिवाय चांडाल के। दस्यु को चांडाल कहते हैं। वे नगर के बाहर रहते हैं और नगर में जब पैठते हैं तो सूचना के लिए लकड़ी बजाते चलते हैं कि लोग जान जायँ और बचकर चलें, कहीं उनसे छू न जायँ। जनपद में सूअर और मुर्गी को नहीं पालते, न जीवित पशु बेचते हैं, न कहीं सूनागार और मद्य की दूकानें हैं। क्रय-विक्रय में कौड़ियों का व्यवहार करते हैं। केवल चांडाल मछली मारते, मृगया करते और माँस बेचते हैं।"

उद्योतन सूरि की कुवलयमाला

ई० सन ७७८ (वि० सं० ८३५) में जालौर में जैनाचार्य उद्योतन सूरि ने 'कुवलय-माला' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसमें १६ प्रदेशों के शरीर, वर्ण, वेश, प्रकृति आदि की

---

१. फाहियान: यात्रा-विवरण (जगन्मोहन वर्मा कृत अनुवाद), पृष्ठ ३१।



हमारे गणेन्द्र गणों की भूमि पर—श्री जवाहरलाल नेहरू माण्डव दुर्ग में स्थित प्राचीन स्मारकों को देखते हुए



मध्यभारत के पृथिवी-पुत्र को माता पृथिवी का वरदान

तत्कालीन विशेषताओं के साथ उनकी भाषागत विशेषताओं का वर्णन भी एक-एक पद्य में किया गया है। गौल्ल देश के पश्चात् मध्यदेश के विषय में लिखा है, "णय-णीति-संधि-विग्गह पडुए, बहु जंपिरे य पयतीरा 'तेरे मेरे आउ' त्ति जंपिरे मज्झदेसे य" (नयनीतिसंधिविग्रह-पटुकान बहुजल्पाकांश प्रकृत्या 'तेरे मेरे आऊ' इति जल्पतो मध्य-देश्यांश्च)।

राजशेखर का मध्यदेश

राजशेखर कान्यकुब्ज (कन्नौज) का राजकवि था। उसका काव्यकाल ईसवी सन ९०० के लगभग है। अपनी काव्यमीमांसा में उसने समकालीन भौगोलिक परिस्थितियों की विस्तृत जानकारी दी है। उसने मध्यदेश की वही परिभाषा बतलाई है जो मनुस्मृति में दी गई है, अर्थात् पूर्व में प्रयाग तक, पश्चिम में विनशन तक, उत्तर में हिमालय तक और दक्षिण में विन्ध्याचल तक। मध्यदेश का अभिमानी यह कवि मध्यदेश के कवियों को तत्कालीन सभी भाषाओं का पण्डित बतलाता है। उसने लिखा है कि "गौड़ (बंगाल) आदि संस्कृत में स्थित हैं, लाटदेशीयों की रुचि प्राकृत में परिचित है, मरुभूमि, टक्क (टांक, दक्षिण-पश्चिमी पंजाब) और भादानक के वासी अपभ्रंश प्रयोग करते हैं, अवन्ति (उज्जैन), पारियात्र (बेतवा और चंबल का निकास) और दशपुर (मन्दसौर) के निवासी भूतभाषा की सेवा करते हैं, जो कवि मध्यदेश (कन्नौज, अन्तर्वेद, पांचाल आदि) में रहता है, वह सर्वभाषाओं में स्थित है[1]।

अलबेरूनी और मध्यदेश

महमूद गजनवी के साथ प्रसिद्ध विद्वान अलबेरूनी भारत में आया था। उसने भी मध्यदेश का उल्लेख किया है[2]। वह लिखता है, "भारत का मध्य कन्नौज का इर्दगिर्द प्रदेश है, जिसे वे (हिन्दू) मध्यदेश अर्थात् राज्य का मध्यभाग कहते हैं। भूगोल विद्या की दृष्टि से यह मध्य या केन्द्र है; क्योंकि पर्वतों और समुद्र के ठीक मध्य में, शीत और उष्ण प्रान्तों के बीच में, और भारत के पूर्वीय और पश्चिमीय सीमान्तों के मध्य में स्थित है। परन्तु, यह राजनैतिक केन्द्र भी है; क्योंकि पूर्व समय में उनके बहुत प्रसिद्ध शूरवीर और राजागण यहाँ ही निवास करते थे।" अलबेरूनी ने यद्यपि स्पष्ट रूप में मध्यदेश की सीमाएँ नहीं दी हैं, तथापि उसके वर्णन से उनका अनुमान किया जा सकता है। मध्यदेश के पश्चात् पूर्व की ओर वह प्रयाग का प्रान्त बतलाता है।[3] कन्नौज से दक्षिण-पूर्व की ओर का वर्णन करते हुए वह लिखता है, "कन्नौज से दक्षिण-पूर्व की ओर, गंगा के पश्चिमी किनारे के साथ-साथ चलते हुए तुम जजाहूती राज्य में पहुँच जाते हो जो कि कन्नौज से ३० फर्सख है। इस नगर और कन्नौज के बीच भारत के दो परमप्रसिद्ध किले अर्थात् ग्वालियर और कालिंजर हैं।" आगे चलकर अलबेरूनी ने भेलसा का वर्णन किया है। वह लिखता है, "भेलसा हिन्दुओं का परमप्रसिद्ध स्थान है। इस स्थान का नाम और वहाँ की देवमूर्ति (भैल स्वामिन्) का नाम एक ही है।" आगे फिर मारवाड़ की राजधानी जन्तरौर (रणथंभोर)

---

१. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी : पुरानी हिन्दी, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् १९७८, पृष्ठ १० पर उद्धृत।

२. अलबेरूनी का भारत (संतराम कृत अनुवाद), दूसरा भाग, पृष्ठ १२५

३. वही, पृष्ठ १२७।

तथा उज्जैन और धार का उल्लेख है। अलबेरूनी का मध्यदेश का वर्णन अत्यंत विस्तृत तथा विशद् है।

सोमदेव और मेरुतुंग

विक्रमी बारहवीं शताब्दी में सोमदेव ने मध्यदेश में ही "कथासरित्सागर" लिखा था। उसमें विक्रमादित्य के सेनापति विक्रमशक्ति द्वारा की गई दिग्विजय में दक्षिणापथ, सौराष्ट्र, मध्यदेश, बंग और अंगसहित पूर्व देश के जीतने का उल्लेख है। उत्तर में केवल काश्मीर और कावेरीकाष्ठा का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार कथासरित्सागर में सोमदेव का आशय जिस मध्यदेश से था वह सौराष्ट्र के पूर्व में, बंग, अंग और पूर्वदेश के पश्चिम में, दक्षिणापथ के उत्तर में तथा काश्मीर के दक्षिण में था। सन १३०४ ई० में मेरुतुंगाचार्य ने 'प्रबन्धचिन्तामणि' लिखा। उसमें भारत के अनेक प्रादेशिक विभागों के नाम आए हैं। मध्यदेश का नाम उसमें प्रसंगवश दो बार आया है[1]। साथ ही गुर्जर, मालव, मरुदेश, महाराष्ट्र, बालाक, तिलंग आदि प्रदेशों का भी उल्लेख है; परन्तु इस ग्रन्थ से मध्यदेश की सीमाएँ ज्ञात नहीं होतीं। ज्ञात केवल यह होता है कि मध्यदेश के जादूगर उस समय गुर्जर राज की सभा में थे, और यहाँ के कुछ विश्रुत विद्वान भी।

कल्याणसिंह का अनंगरंग तथा अन्य ग्रन्थ

मध्यकाल में सैकड़ों ऐसे ग्रन्थ लिखे गये, जिनमें विविध प्रसंगों में देश की प्रादेशिक सीमाओं का उल्लेख किया गया है। देश के प्रत्येक भाग की बोलियाँ, रहन-सहन, रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार आदि पर भी इन पुस्तकों में प्रकाश डाला गया है। कामशास्त्र की पुस्तकों में प्रादेशिक विभागों की रमणियों का वर्णन किया गया है। ग्वालियर के राजा कल्याणसिंह तोमर (सन १४७९ ई०) ने अनंगरंग नामक कामशास्त्र का ग्रन्थ लिखा या लिखाया था उस में सब से प्रथम मध्यदेश की रमणियों का वर्णन किया गया है तथा उसके पश्चात् मालव, गुर्जर, लाट, कर्नाटक आदि की स्त्रियों का। उसने मध्यदेश की रमणियों को विचित्रवेशा, शुचि, कर्मदक्षा एवं सुशीलिनी आदि कहा है। इन समस्त प्रसंगों की सारिणी देना यहाँ न तो बहुत उपयोगी ही होगा, न उचित ही। आशय केवल यह है कि मध्य-देश की एक सांस्कृतिक इकाई के रूप में स्पष्ट कल्पना मध्यकाल में दिखाई देती है।

केशवदास

ईसवी सोलहवीं शताब्दी का मध्यदेश संबंधी अत्यंत महत्त्वपूर्ण उल्लेख महाकवि केशव-दास का है। केशवदास ने न केवल मध्यदेश का स्मरण किया है, वरन् भारतभूमि की सांस्कृतिक परम्परा में जो कुछ भी श्रेष्ठ है उसको इसी मध्यदेश में निहित माना है। बेतवा में उन्हें गंगा की पावनता दिखाई दी, यहाँ के नागरिकों की भाषा, धर्म, वेश-भूषा, सभी का उनके द्वारा अभिनन्दन हुआ। "कविप्रिया" (सन १६००-१६०१ ई०) में केशवदास ने लिखा :—

> **आछे-आछे असन, बसन, बसु, बासु, पसु,**
> **दान, सनमान, यान, बाहन बखानिये।**

१. प्रबन्धचिन्तामणि (हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत अनुवाद), पृष्ठ ४५ तथा ८७।

लोग, भोग, योग, भाग, बाग, राग, रूपयुत,
भूषननि भूषित सुभाषा मुख जानिये।
सातो पुरी, तीरथ, सरित सब गंगादिक,
केशोदास पूरण पुराण गुन गानिये।
गोपाचल ऐसे गढ़, राजा रामसिंह जू से,
देशनि की मणि, महि मध्यदेश मानिये॥

केशवदास ने मध्यदेश को "देशों की मणि" कहा है। उन्होंने इसके निवासियों के मुख में "सुभाषा" का वास बतलाया है। परन्तु उनके द्वारा मध्यदेश की सीमाएँ नहीं दी गईं, केवल यह संकेत किया गया कि उसके अन्तर्गत बुन्देला रामसिंह का राज्य है और गोपाचल जैसा गढ़ है। इस "सुभाषा" से उनका क्या आशय था और उत्तर में गोपाचल तक जाकर ही वे क्यों रुक गये, ये दोनों ही बातें महत्त्वपूर्ण हैं। परन्तु इनके विवेचन का यह स्थल नहीं है[1]।

फकीरुल्ला सैफखां का मध्यदेश—सुदेश

केशवदास ओरछे के थे, यद्यपि उनके पुरखे दिल्ली के तोमरों की राज-सभा में तथा फिर अलाउद्दीन खिलजी के आश्रय में भी कुछ समय तक रहे थे, फिर भी उनके निकट के पूर्वज ग्वालियर में आश्रय पा चुके थे, अतएव उनका मध्यदेश-स्तवन स्वाभाविक था। किन्तु इसकी लोकोत्तर सांस्कृतिक गरिमा से प्रेरित होकर इस मध्यदेश की परिभाषा तथा उसके महत्त्व का उसी रूप में उद्घाटन आलमगीर औरंगजेब के काश्मीर के सूबेदार फकीरुल्ला सैफखां ने सन १६६६ ईसवी में किया जब उसने मानसिंह तोमर लिखित "मानकुतूहल" का अनुवाद फारसी में किया। फकीरुल्ला लिखता है कि मानसिंह तोमर द्वारा प्रवर्त्तित ध्रुपद के पद देशी भाषा में लिखे जाते थे। यह इन पदों की देशी भाषा के क्षेत्र को सुदेश कहता है। इस सुदेश की सीमाओं का वर्णन करते हुए वह लिखता है, "सुदेश से मतलब है ग्वालियर से, जो आगरा के राज्य का केन्द्र है और जिसके उत्तर में मथुरा तक, पूर्व में उन्नाव तक, दक्षिण में ऊंज (ऊन) तथा पश्चिम में बारा तक है। भारतवर्ष में इस बीच की भाषा सब से अच्छी है। यह खण्ड भारत में उसी प्रकार है जिस प्रकार ईरान में शीराज[2]।"

फकीरुल्ला अपने कट्टर मालिक के समान ही हिन्दुओं का अत्यधिक विरोधी था और उन कटु उद्गारों को उसने मानकुतूहल के अनुवाद में भी यत्र-तत्र प्रकट किया है। वह इस्लाम, फारस और फारसी का हिमायती था। उसने मध्यदेश की तुलना की है हाफिज और शेखसादी की जन्मस्थली शीराज से!

भावभट्ट

बीकानेर के राजा अनूपसिंह (सन १६७४-१७०१) के आश्रित भावभट्ट ने "अनूप-संगीत रत्नाकर" नामक संगीत का एक ग्रंथ लिखा है, उसमें मध्यदेश के ध्रुपद का उल्लेख है। इससे मध्यदेश, मध्यदेश की भाषा, उसके संगीत तथा साहित्य की परम्परा पर विशेष

---

१. अधिक सूचनाओं के लिए देखिए हरिहरनिवास द्विवेदी कृत मध्यदेशीय भाषा।

२. हरिहरनिवास द्विवेदी : मानसिंह और मानकुतूहल. पृष्ठ ९१।

प्रकाश पड़ता है। यहाँ इतना लिखना ही पर्याप्त है कि ईसवी सत्रहवीं शताब्दी के संगीत ग्रंथों में मध्यदेश और उसकी सांस्कृतिक परम्पराएँ स्पष्ट रूप से मान्य थीं।

पद्मावती-पुरवाल ब्रह्मगुलाल

प्रसिद्ध पद्मावती (वर्त्तमान पवाया) से चलकर गंगा और यमुना के बीच किसी "टापू" या "टापो" (जिसकी स्थिति कुछ विद्वान आगरा जिले में फिरोजाबाद के पास बतलाते हैं) के पद्मावती-पुरवाल-वैश्य परिवार के वंश में ब्रह्मगुलाल नामक जैन मुनि हुए थे। इनने शाह सलीम के राज्य में सन १६२२ ई० (वि० सं० १६७१, ज्येष्ठ बदी ९, शुक्रवार) को "कृपन जगावन" नामक कथा लिखी। इस ग्रंथ में वे अपने निवास-स्थान टापू को मध्यदेश में स्थित बतलाते हैं और मध्यदेश की भाषा-वार्त्ता को "खरी" कहते हैं:—

मध्यदेश खरो चंद वारता समीप टापू सुबसार।
कीरतसिंह तहाँ धुर धरै, तेग त्याग को समसई करै।

कुछ समय पश्चात् ब्रह्मगुलाल ग्वालियर आए और सन् १६१८ ई० (वि० सं० १६६५, कार्त्तिक बदी ३) को "त्रेपन विधि" नाम ग्रंथ की रचना की। उसके अंत में वे लिखते हैं:—

ऐ त्रेपन विधि करहु क्रिया भवि पाप समूहन चूरे हो।
सोरह से पैंसठि समच्छर कातिग तीज अंधियारी हो।
भट्टारक जगभूषन चेला ब्रह्मगुलाल बिचारी हो॥
ब्रह्मगुलाल बिचारि बनाई गढ़ गोपाचल थाने।
छत्रपति चहु चक्र विराजै साहि सलेम मुग लानै[1]॥

बनारसीदास जैन

सन १६४३ ई० में मध्यदेश के एक निवासी बनारसीदास जैन ने अपना आत्म-चरित्र "अर्द्धकथानक" नाम से लिखा था। उसमें मध्यदेश का उल्लेख करते हुए उसने लिखा—

याही भरत सुखेत में मध्यदेश शुभ ठाउँ।
बसे नगर रोहितिगपुर, निकट बिठौलो गाउँ॥

बनारसीदास आगे आगरा, मेरठ आदि स्थानों में भी रहे, अतएव उनका मध्यदेश से आशय इन्हीं प्रदेशों से होगा।

बुन्देलों का क्षेत्र

बुन्देला महाराज छत्रसाल (सन १७३१ तक) के प्रताप का वर्णन करते हुए किसी अज्ञात कवि ने जो पद्य लिखा था, उसे आजतक लोग भूल नहीं सके हैं। उसने लिखा है:—

इत जमना उत नर्मदा,
इत चम्बल उत टोंस।
छत्रसाल सौं लरन की,
परी न काहू हौंस॥

---

१. अगरचन्द नाहटा : मध्यदेश के कवि—ब्रह्मगुलाल, मध्यभारत संदेश, ३१ दिसम्बर १९५५।

यह छत्रसाल के प्रभाव क्षेत्र का ही वर्णन नहीं है, इसमें उस सांस्कृतिक इकाई का भी उल्लेख निहित है जिसकी सीमाएँ मनुस्मृति से बुन्देलों के समय तक बहुत कुछ सुनिश्चित हो चुकी थीं। इस पद में वह सीमा कुछ संकुचित कर दी गई है; क्योंकि इसका मूल उद्देश्य छत्रसाल की तलवार की धाक की सीमाओं का उल्लेख करना मात्र था।

मराठे और मध्यदेश

बुन्देला महाराज छत्रसाल के समय मध्यदेश का स्पष्ट इकाई के रूप में अन्तिम दर्शन हुआ था। उस समय तक इस भूभाग पर पिछले मुगल-सम्राटों और बुन्देलों का राज्य था। मुगल-साम्राज्य से कभी बुन्देलों, मराठों और राजपूतों ने संयुक्त अथवा कभी पृथक्-पृथक् मोर्चा लिया था। ज्यों-ज्यों मुगल राज्य निर्बल होता गया, मध्यदेश में अनेक मराठा तथा राजपूत राज्य स्थापित होते गये। सिन्धिया, होलकर और पवार मराठाओं के अतिरिक्त अनेक राजपूत राज्य स्थापित हुए। बुन्देलों के भी अनेक राज्य बने थे। सम्भवतः इतने अधिक स्वतंत्र राज्य पहले कभी इस प्रदेश पर अवतरित नहीं हुए थे। मध्यदेश का अधिकांश भाग मराठों के अधीन हो गया था। इन विशृंखलताओं और छिन्नभिन्नताओं के बीच स्वस्थ सांस्कृतिक परम्पराओं का पूर्ण विकास सम्भव नहीं था। कई हजार वर्ष की सांस्कृतिक विकास की पुष्ट धारा इस युग के आते-आते क्षीण हो गई।

अंग्रेज और मध्यदेश

सन १८५७ ई० के स्वातंत्र्य-संग्राम की विफलता के पश्चात् यह दुर्दशा बढ़ती ही गई। अब मध्यदेश का कुछ अंश अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित हो गया और उसके कुछ भागों पर पहले के स्वतंत्र राज्य अंग्रेजों की सार्वभौम सत्ता के अधीन देशी राज्य बन गये। इनकी जो कुछ तेजस्विता थी वह भी समाप्त हो गई और उनमें से अधिकांश गृह-कलह और महलों की राजनीति में सीमित हो गये। जनता और शासक दो बिलकुल पृथक् वर्ग बन गये। माता पृथिवी और उसके जनपदजन आदान-प्रदान की वस्तु बना दिये गये, जिसके कारण जनता से उनका सम्बन्ध केवल कर वसूल करने का रह गया। शिक्षा और स्वतंत्र-चिंतन के मार्ग अवरुद्ध हो गये। उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में जो बहुमुखी पुनरुत्थान का नवोदय हुआ था उसकी किरणें इन 'देशी राज्यों' की दुहरी-तिहरी गुलामी की दीवारें पार कर लोकमानस तक बहुत क्षीण रूप में प्रवेश कर पाती थीं। भारत में जब अरविन्द घोष, विवेकानन्द, रामतीर्थ, पाल-बाल-लाल, महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अवनींद्रनाथ ठाकुर, जगदीशचंद्र बसु, रमन, जैसी अनेकानेक विभूतियों के जयनाद की तुमुल-ध्वनि हो रही थी तब हम उसकी दूरस्थ प्रतिध्वनि मात्र सुनते थे। यदि कुछ प्रतिभाशाली व्यक्ति यहाँ उत्पन्न भी होते थे तो उन्हें या तो देशी राज्यों के बर्बर हाथों में पिस जाना पड़ता था अथवा अपना कार्य-क्षेत्र कहीं बाहर ही खोजना पड़ता था। स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी जैसे न जाने कितने व्यक्ति इस अभिशप्त सीमा के बाहर ही साँस ले सके। केवल कुछ इने-गिने व्यक्ति ही यहाँ जन-चेतना फैलाने का कठिन कार्य कर रहे थे। रेजीडेण्टों और पोलिटिकल एजेण्टों

के अंकुश से प्रेरित इन देशी नरेशों की चिन्ता मुख्यतः यही रहती थी कि उनकी राज्य-सीमा में कहीं स्वतंत्र चिन्तन का कोई पौदा पनपने न पाए। फिर उनके भी अधीन छोटे-बड़े जागीरदार थे और उसके बाद जमींदार। इसका विस्तृत इतिहास तो यथास्थान आगे लिखा जाएगा, यहाँ इतना लिखना ही पर्याप्त है कि यहाँ दुहरी-तिहरी शृंखला ने अविद्या का प्रचार किया, गरीबी बढ़ाई और विचारों में एक अजीब जड़ता उत्पन्न करदी। देशी राज्य का नागरिक भारतवासी होते हुए भी भारत के किसी भी भाग में अपने पिछड़ेपन के कारण अलग से पहचाना जा सकता था। उसे भारत के अन्य भागों की इकहरी गुलामी का भी स्वत्व प्राप्त न था। देशी राज्यों में समाचार-पत्रों और पुस्तकों के प्रवेश पर भी कभी-कभी प्रतिबंध लगे रहते थे और स्थानीय स्वतंत्र पत्र अथवा मुद्रणालय तो कल्पनातीत ही थे। परिणाम यह हुआ कि हम यह भूल गये कि हम क्या थे, भारतीय संस्कृति के निर्माण में हमारा स्थान क्या था, इस वसुन्धरा ने कैसे-कैसे नर-रत्न उत्पन्न किये थे, भारतीय संस्कृति के निर्माण में हमने क्या किया था। वर्त्तमान की विपन्न अवस्था ने अतीत की गौरवशाली कहानी की स्मृति को समाप्त कर दिया, न केवल हमारे मस्तिष्क से, वरन् हमारे ही देश के इतिहासज्ञों की स्मृति से भी।

देशी-राज्य-लोक-परिषद् का मध्यभारत

राष्ट्रीय कांग्रेस ने इन छोटी-बड़ी इकाइयों (राज्यों) की समस्या को सीधा अपने हाथ में नहीं लिया। उसकी समस्या सुलझाने के लिए अखिल भारतीय देशी-राज्य-लोक-परिषद् की स्थापना की गई। उसे राष्ट्रीय नेताओं का समर्थन और सक्रिय सहयोग प्राप्त था। श्री जवाहरलाल नेहरू अनेकबार देशी राज्यों की इस लौह-दीवार को भेदकर उनके भीतर घुस पड़ते थे और नाभा अथवा काश्मीर जैसी घटनाएँ देश का ध्यान इस समस्या की ओर आकर्षित कर लेती थीं। मध्यभारत देशी-राज्य-लोक-परिषद् के कार्यक्षेत्र में वर्तमान मध्यभारत के अतिरिक्त भोपाल राज्य तथा बुन्देलखण्ड के देशी राज्य भी सम्मिलित थे और इन्हीं सीमाओं के एक विशाल मध्यभारत के निर्माण करने की उसकी योजना थी; किन्तु उस समय वह एक सुखद स्वप्न मात्र ही रही।

मध्यभारत निर्माण

सन् १९४७ में भारत स्वतन्त्र हुआ। भारतीय संस्कृति की धाराओं से परिपूरित सागर के मन्थन से अमृत भी निकला और विष भी। इस अभिनव समुद्र-मन्थन के विष का प्रभाव समस्त देश की धमनियों पर पड़ा। देश का विभाजन हुआ। दो राष्ट्र बन गये। कुछ व्यक्ति और परिवार जो हजारों वर्ष से हमारे अंग और पड़ौसी थे, वे निष्क्रांत हो गये और अनेक को निष्क्रांत होकर यहाँ आना पड़ा। भारत ने इस विष का प्रभाव सहा और वह नीलकंठ बन गया। इस समुद्र-मन्थन के अमृततत्त्व ने हमारे घावों पर मरहम लगाई। भारत को स्वतन्त्रता मिली। सम्राट् अशोक का भारत पुनः अशोक-स्तम्भ का चिह्न लेकर 'सत्यमेवजयते' का घोष कर उठा।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय भारत का मानचित्र बड़ा विचित्र था। कुछ भागों में राजनैतिक और सामाजिक सुविधाओं के अनुसार अंग्रेजों द्वारा गढ़े हुए प्रान्त थे और

उसके लगभग एक-तिहाई भाग पर लगभग छह सौ देशी राज्य विद्यमान थे। प्रारम्भ में ही भारत-राष्ट्र की कल्पना राज्यों के संघ के रूप में की गई थी। अंग्रेजी राज्य के प्रान्तों को इस संघ में सम्मिलित होनेवाले 'क' श्रेणी के राज्य मान लिया गया। ठीक स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद ही देशी राज्यों की वैधानिक स्थिति क्या थी, इसके विवेचन का यह स्थान नहीं, यहाँ यह लिख देना पर्याप्त है कि उनका अस्तित्व भावी भारततंत्र के लिए एक बहुत बड़ी चुनौती थी।

इस चुनौती को स्वीकार किया गया। संसार के इतिहास में जिस प्रकार की घटना कभी घटित न हुई थी वह भारत में हुई। लौह-पुरुष सरदार बल्लभभाई पटेल ने विश्व-इतिहास की सब से बड़ी रक्तहीन क्रान्ति की। इन देशी राज्यों की सीमाओं को तोड़-फोड़कर 'ख' श्रेणी के राज्य और कुछ 'ग' श्रेणी के राज्य बनाकर उन्हें 'सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतंत्रात्मक भारतीय गणराज्य' के अंग बना लिया गया।

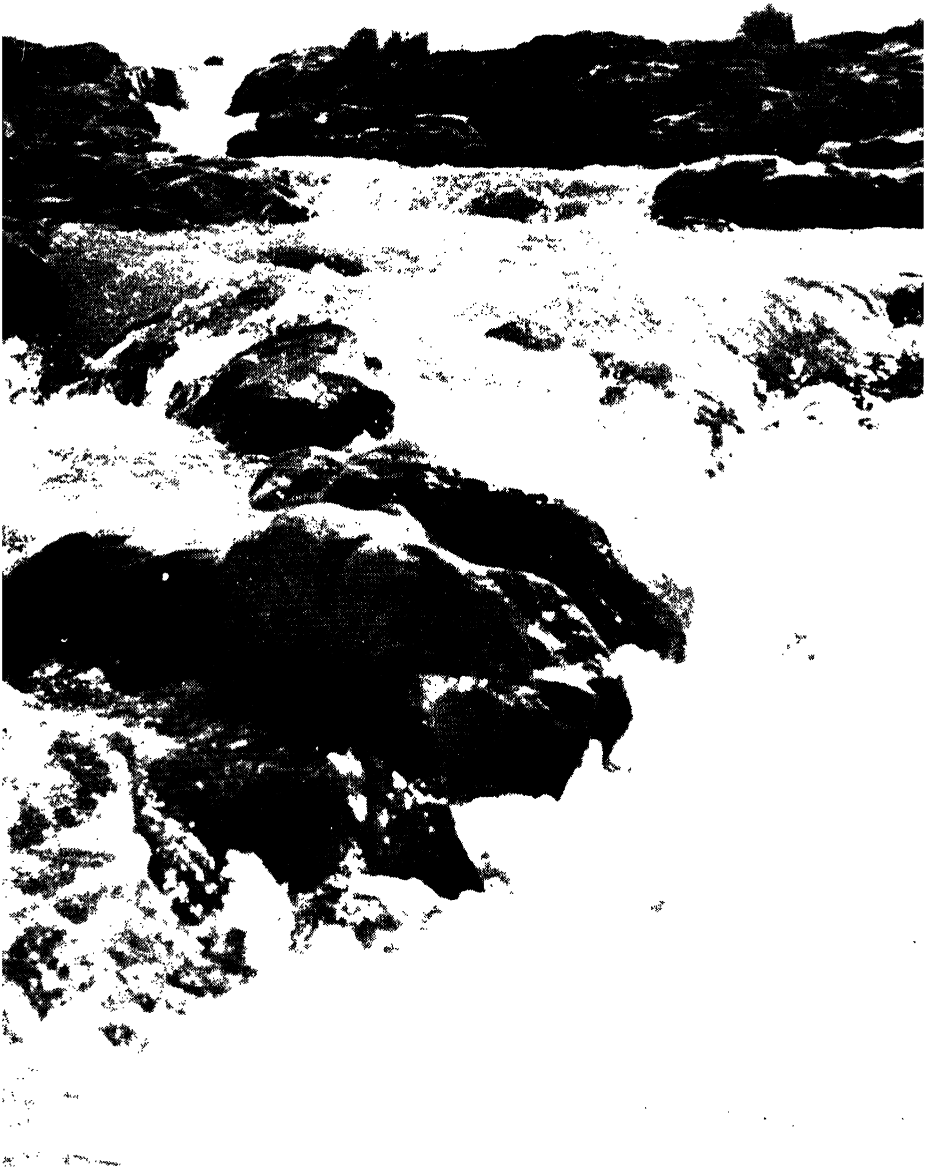
जब मध्यभारत के निर्माण की चर्चाएँ प्रारम्भ हुई तब पहला विकल्प मध्यभारत के उस रूप का आया था, जिसकी कल्पना मध्यभारत देशी-राज्य-लोक-परिषद् ने की थी, जिसमें वर्त्तमान मध्यभारत के साथ भोपाल तथा बुन्देलखण्ड के देशी राज्य सम्मिलित करने का प्रस्ताव था। अनेक चर्चाओं के पश्चात् मध्यभारत के वर्त्तमान रूप का निर्माण करने का निश्चय हुआ। २८ मई सन् १९४८ को बाईस देशी राज्यों की सीमाएँ एक राज्य में संघबद्ध कर "ग्वालियर, इन्दौर तथा मालवा संयुक्त राज्य (मध्यभारत)" का उद्घाटन श्री जवाहरलाल नेहरू द्वारा किया गया।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्त्तमान मध्यभारत की सीमाओं का निर्माण कुछ राजनैतिक परिस्थितियों के कारण हुआ है। जहाँ तक इसमें सम्मिलित किये जानेवाले देशी राज्यों की सीमाएँ थीं, उन क्षेत्रों को ही मिलाकर इस नवीन राज्य की सीमाओं का निर्धारण कर दिया गया था। इन सीमाओं में बिलकुल घिर जानेवाले कुछ ग्रामों और इलाकों की अदला-बदली अवश्य की गई थी, परन्तु उस समय भौगोलिक अथवा सांस्कृतिक इकाई के निर्माण करने का, प्राचीन परम्पराओं की खोजकर उनके अनुरूप इस राज्य की सीमा का निर्धारण करने और भौगोलिक सीमाओं पर विचार करने का न समय था, न सुविधा थी, और न वह उचित ही था। परन्तु इसके परिणामस्वरूप जो मान-चित्र बना वह कुछ विचित्र अवश्य था। उत्तर-पूर्व में भाण्डेर, करैरा और चन्देरी मध्यभारत में हैं और उनके अभिन्न अंश दतिया, झाँसी, ललितपुर, बीना, सागर तथा अन्य पूर्वी भाग अन्य राज्यों में हैं। पूर्व में भेलसा मध्यभारत में है तो भोपाल एक अलग राज्य है, पश्चिम में मन्दसौर यदि मध्यभारत में है तो कोटा, झालावाड़ आदि अन्य राज्य में हैं। सब से सुखद संयोग यह हुआ कि इस मध्यभारत राज्य में परम्परागत मध्यदेश का अधिकांश भाग सम्मिलित हो गया। इन राज्य सीमाओं के निर्धारण के समय सब से अधिक दुर्दशा बुन्देलखण्ड की हुई। वास्तविकता तो यह है कि पिछली दो-तीन शताब्दियों की छिन्नभिन्नकारी प्रवृत्तियों ने मध्यदेश के सांस्कृतिक और भौगोलिक रूप को अत्यन्त धुँधला कर दिया था। सन्तोष यही है कि मध्यदेश की आज की सीमाएँ केवल प्रशासनिक और राजनैतिक सुविधा की सीमाएँ हैं, जिन्हें बदलने का अधिकार

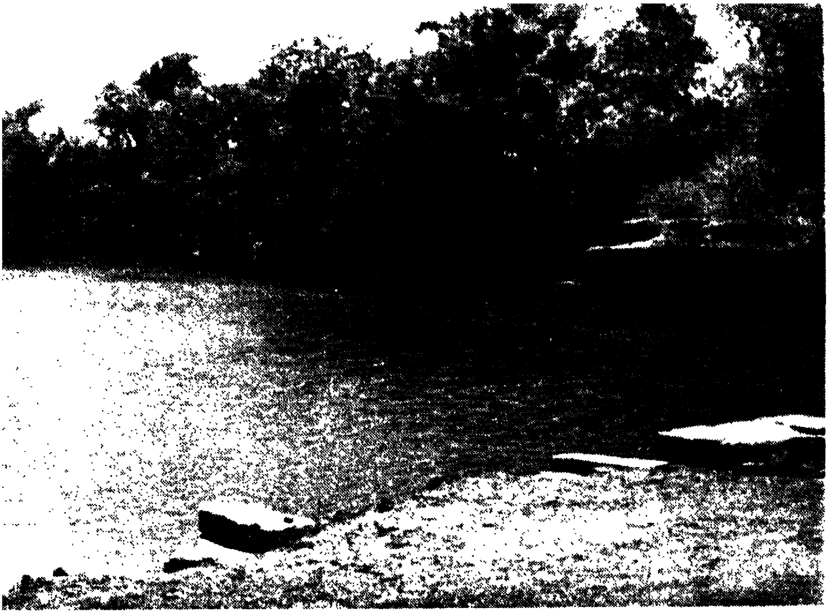
आज जनता के हाथ में है। वे बढ़ भी सकती हैं और बदल भी सकती हैं। महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि वर्त्तमान मध्यभारत अपनी पिछली कुछ शताब्दियों की दुरवस्था की 'गर्द और गन्दगी' झाड़कर दो सहस्राब्दी पूर्व इसी भूमि पर हुए 'मालवानां जयः—यौधेयानां जयः' का समवेत घोष कर उठा है। उसकी छाती पर से इतिहास के भ्रष्टतम अवशेष हटा दिये गये—राजा गये, सामन्त गये, जागीरदार गये, और जमींदार भी चले गये। मध्यभारत का नागरिक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य का, संसार के महानतम लोकतन्त्र का स्वाभिमानी नागरिक बनकर अपने देश की अपनी भूमि पर खड़ा है। माता पृथिवी का पृथिवी-पुत्र पुनः उसे अपनी कह और मान रहा है। इसके निर्माता स्वर्गीय सरदार वल्लभभाई पटेल ने इसके निर्माण के अवसर पर कहा था, "मध्यभारत संघ ने अनेक भारतीय देशभक्तों के चिर-अभिलषित स्वप्न को सत्य कर दिखाया है। मध्यभारत प्राचीनकाल से ही ऐतिहासिक, भौगोलिक, आर्थिक तथा सीमा की दृष्टि से एक इकाई रहा है।...सदियों के पश्चात् मध्यभारत अब मेरी आशा के अनुरूप अबाधित शान्ति तथा समृद्धि के द्वार पर उपस्थित हुआ है[1]।"

---

१. मध्यभारत-निर्माण के अवसर पर (२८ मई १९४८ ई०) भेजे गये सन्देश से।



महेश्वर के निकट नर्मदा की सहस्त्रधारा का नैसर्गिक दृश्य



वन्य सरिता, शिवपुरी

ग्वालियर के निकट मानव के वन-सहचर



मध्यभारत की भौगोलिक स्थिति

इतिहास का आधार भूगोल

मानव-विकास की गाथा इतिहास है; परन्तु उसका आधार है भूगोल। जिस प्रकार समस्त भारत के इतिहास को यहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों ने अत्यधिक प्रभावित किया है, उसी प्रकार मध्यभारत के इतिहास के घटनाचक्र को भी यहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों ने प्रभावित किया है। भूमि की मातृभूमि के रूप में कल्पना का यही रहस्य है। उसके स्तन्य के अनुरूप ही उसके पुत्रों की गतिविधियाँ होती हैं। अत्यन्त प्राचीनकाल से मातृभूमि के इस रूप को भारत ने समझा है। अथर्ववेद के पृथिवी-सूक्त[1] में मातृभूमि के प्रति भारतीय भावना का सुन्दर वर्णन किया गया है। उसमें भूमि के लिए लिखा है कि उसका हृदय परम व्योम में अमृत और सत्य से ढका हुआ है, वह उत्तम राष्ट्र के लिए तेज और बल देती है। भूमि राष्ट्र का शरीर है, जन उसका प्राण है और जन की संस्कृति उसका मन है। शरीर, प्राण और मन इन तीनों के सम्मिलन से ही राष्ट्र की आत्मा का निर्माण होता है। इस माता पृथिवी की गोद में पलकर ही पृथिवी-पुत्र मानव अपने वर्त्तमान और भविष्य का निर्माण कर इतिहास की सृष्टि करता है। भारत की भौगोलिक परिस्थितियों ने ही यहाँ के निवासियों को धन-धान्य से पूरित किया, उसे दार्शनिक चिन्तन, साहित्य-सर्जन, कला-कृतियों के निर्माण की इच्छा और शक्ति दी। इसके प्राकृतिक वैभव ने ही उसे कभी चैन नहीं लेने दिया और अनादिकाल से इसकी ओर आक्रान्ताओं की सतृष्ण आँखें लगी रहीं। भारत के चारों ओर अगम पर्वतों, समुद्रों और नदियों की दीवारें खड़ी हुई हैं, उनके कारण ही अनेक बार हमारा सम्बन्ध संसार के अन्य देशों से विच्छिन्न होता रहा। उत्तरी और दक्षिणी भारत में एक हलकी विभाजक रेखा का मूल कारण विन्ध्य मेखला, नर्मदा और ताप्ती के कछार रहे हैं।

भारत का भौगोलिक विभाजन

मध्यभारत की भौगोलिक स्थिति का दर्शन भारत की पृष्ठभूमि में करना आवश्यक है। भौगोलिक दृष्टि से भारत को तीन मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है। पहला भाग होगा हिमालय का पहाड़ी प्रदेश, जो लगभग १,५०० मील लम्बा और १५० से २०० मील तक चौड़ा है। भारत के उत्तर, उत्तर-पश्चिम और उत्तर-पूर्व में हिमालय

---

१. पृथिवीसूक्त का अत्यन्त मार्मिक विवेचन "पृथिवीपुत्र" के नाम से डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने नागरीप्रचारिणीपत्रिका, सं. २०००, पृ. ४९ पर किया है।

है। और उसकी नदियाँ कहीं-कहीं अगम और कहीं दुर्गम दीवार बनाए हुए हैं। हिमालय की तराई के इस प्रदेश को उत्तर का पहाड़ी प्रदेश कहा जा सकता है। दूसरा भाग है उत्तर का मैदान। इस मैदान को हिमालय से निकलनेवाली नदियाँ तथा उनकी सहायक नदियाँ सींचती हैं। इन नदियों का बहाव पूर्व और पश्चिम की ओर है। पूर्व की ओर की नदियाँ गंगा और ब्रह्मपुत्र में मिलती हैं, जो बंगाल की खाड़ी में गिरती हैं। पश्चिम की नदियाँ सिन्ध और उनकी सहायक नदियों में मिलती हैं। सिन्ध नदी का पानी अरबसागर में गिरता है। इसी भाग में विन्ध्यपर्वतमाला से निकलकर उत्तर की ओर गंगा और यमुना से मिलनेवाली नदियों का क्षेत्र भी आता है। देश का तीसरा भाग होगा विन्ध्यपर्वतमाला से नीचे के प्रदेश का समस्त भाग। पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में भारत विशाल समुद्रों से घिरा हुआ है।

देश के इस प्राकृतिक विभाजन के अतिरिक्त भी इन भागों को पुनः विभाजित किया जा सकता है। उत्तर के मैदान को चार भागों में बाँटा जा सकता है—गंगा और यमुना का मैदान, ब्रह्मपुत्र का मैदान, सिन्ध का मैदान तथा विन्ध्यपर्वत से निकलकर उत्तर की ओर गंगा और यमुना में मिलनेवाली उनकी सहायक नदियों—चम्बल, सिन्ध, बेतवा, धसान, केन, और सोन—का मैदान। इसी प्रकार देश के दक्षिणी भाग को भी पूर्वीघाट, पश्चिमीघाट, दक्षिण प्रदेश और विन्ध्य तथा सतपुड़ा के बीच का क्षेत्र, ऐसे चार भागों में बाँटा जा सकता है।

भौगोलिक मध्यभारत—मध्यदेश का समवर्त्ती

वर्त्तमान मध्यभारत की सीमाएँ कुछ राजनैतिक घटनाओं के परिणामस्वरूप बनी हैं, यह हम ऊपर दिखा चुके हैं। भौगोलिक मध्यभारत की सीमाएँ लगभग वे ही हैं, जिन्हें प्राचीन परम्परा ने मध्यदेश कहा है। इस मध्यदेश में उत्तर भारत का वह समस्त मैदान आता है, जो विन्ध्यपर्वतमाला से निकलनेवाली नदियों और उनकी सहायक नदियों का क्षेत्र कहा जाता है। देश के इस भाग में देश के दक्षिणी भाग का विन्ध्य-पर्वतमाला और सतपुड़ा पहाड़ के बीच का हिस्सा भी आता है।

कुछ विद्वानों के अनुसार भारत को भौगोलिक दृष्टि से चार भागों में बाँटा जा सकता है—उत्तर का पहाड़ी प्रदेश, उत्तर का मैदान, विन्ध्य-मेखला तथा दक्षिण का भाग। उत्तर का पहाड़ी प्रदेश वही क्षेत्र माना जाता है, जिस के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है। उत्तरी मैदान गंगा, ब्रह्मपुत्र और सिन्ध के मैदान को कहा जाता है। विन्ध्य-मेखला विन्ध्यपर्वतमाला से निकलनेवाली नदियों के क्षेत्र को कह सकते हैं। इन नदियों में मुख्य हैं—चम्बल, बेतवा, सिन्ध, पार्वती, बनास, केन और सोन। सतपुड़ा के नीचे के समस्त भाग को दक्षिण प्रदेश कहते हैं। विन्ध्यमेखला में वर्तमान मालवा, बुन्देलखण्ड तथा छत्तीसगढ़ का क्षेत्र आता है।

भौगोलिक तथा राजनैतिक सीमा

इस विवेचन के पश्चात् भौगोलिक मध्यदेश का सीमा-निर्धारण करना कठिन नहीं है। मोटे तौर पर इस मध्यदेश की सीमा उत्तर में यमुना नदी, दक्षिण में विन्ध्यपाद

(सतपुड़ा) और नर्मदा, पूर्व में प्रयाग के पास टोंस (तमसा) तथा सोन के दक्षिणी भाग तक और पश्चिम में चम्बल नदी के पश्चिम तक कहा जा सकता है। यही विन्ध्य-मेखला है, विन्ध्याचल से निकलनेवाली नदियों से सिंचित प्रदेश।

यद्यपि यहाँ हम राजनैतिक इकाई मध्यभारत का विवेचन कर रहे हैं, तथापि उसके ऐतिहासिक विकास के निरूपण में आवश्यक रूप से उस सभी भूभाग का घटना-चक्र समाविष्ट होना अनिवार्य है, जिसे भौगोलिक सीमाओं ने एक सांस्कृतिक इकाई के रूप में विकसित किया। वर्तमान मध्यभारत के उत्तर में उत्तर प्रदेश का आगरा, इटावा और राजस्थान का धौलपुर क्षेत्र है। इस ओर चम्बल नदी मध्यभारत राज्य की उत्तरी सीमा बनाती है। मध्यभारत के दक्षिण में बम्बई राज्य तथा मध्यप्रदेश के क्षेत्र हैं। इस राज्य के पश्चिम में है राजस्थान राज्य और पूर्व में मध्यप्रदेश का भाग तथा भोपाल राज्य है। वर्तमान मध्यभारत राज्य का क्षेत्रफल ४६,४७८ वर्गमील है।

मध्यभारत की प्राकृतिक स्थिति

प्राकृतिक दृष्टि से मध्यभारत को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—मैदान, पठार और पहाड़ी क्षेत्र। राज्य के उत्तरी तीन जिले—ग्वालियर, भिण्ड और मुरैना मैदानी क्षेत्र में, शिवपुरी, गुना, भेलसा, राजगढ़, शाजापुर, उज्जैन, देवास, इन्दौर, रतलाम और मन्दसौर जिले पठार क्षेत्र में तथा नीमाड़, धार और झाबुआ जिले पहाड़ी क्षेत्र में आते हैं। इन तीनों क्षेत्रों का क्षेत्रफल क्रमशः ८,१६१ वर्गमील, २७,४६६ वर्ग-मील और १०,८५१ वर्गमील है।

इस प्रदेश के उत्तरी मैदान और मालवे की उपजाऊ भूमि के ही कारण यहाँ निरन्तर हमले होते रहे हैं। मध्यदेश का उत्तरी भाग सघन वनों से आच्छादित रहने के कारण आक्रान्ताओं की गति को कुंठित करने में समर्थ रहा है। यही कारण है कि आगरा से दक्षिण की ओर चलने पर ग्वालियर और बुन्देलखण्ड के क्षेत्र में हमलावरों को भारी संघर्ष का सामना करना पड़ा। बुन्देलखण्ड और ग्वालियर का कुछ भाग अधिक उपजाऊ न होने के कारण यहाँ की जनता को जीवन-यापन के लिए कठिन परिश्रम करना पड़ता रहा है और अपने श्रम से जीवन व्यतीत करने के कारण उनमें स्वावलंबन और स्वाभिमान की भावना अधिक रही है। पहाड़ी क्षेत्र ने आदिवासियों को प्रश्रय दिया और अत्यन्त प्राचीन संस्कृतियों के अवशेषों को सुरक्षित रखा है।

राज्य के मैदान और पहाड़ी क्षेत्र में गर्मियों में अधिक गरमी तथा शीतकाल में अधिक सरदी पड़ती है। पठार के क्षेत्र में ग्रीष्मऋतु में अप्रेल, मई और जून में गरमी पड़ती है; परन्तु रात्रि अधिक गरम नहीं रहती। अधिक लम्बे क्षेत्र में फैले होने के कारण इस राज्य के विभिन्न भागों में वर्षा का औसत भी भिन्न रहता है। रतलाम और निमाड़ जिलों के अतिरिक्त राज्य के प्रत्येक जिले में वर्षा का औसत प्रायः ३० इंच से ऊपर ही रहता है। रतलाम और निमाड़ में यह औसत क्रमशः २५ से ४० और २६ से २७ इंच तक आँका गया है।

वर्षा की भाँति ही यहाँ मिट्टी भी विभिन्न प्रकार की पाई जाती है। राज्य के उत्तरी क्षेत्र में प्रायः उपजाऊ, पठार पर काली भूमि अत्यन्त उपजाऊ और पहाड़ी क्षेत्र में

पथरीली भूमि पाई जाती है। मध्यभारत के महत्त्व को बढ़ाने का श्रेय अधिकांश य
की मिट्टी को ही है। उत्तरी भाग में मार, पडुआ और दुमट भूमि पाई जाती है, जो श्र
चाहती है, तो दूसरी ओर मालवे की काली मिट्टी कपास और गेहूँ पैदा करने के लि
अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस भूमि के ही कारण मालवा भारत का अन्न-भण्डार कहा जा
है।

प्राणस्फुरित भौगोलिक मध्यभारत

मध्यभारत का स्वरूप भौगोलिक उपरोक्त स्थिति की पृष्ठभूमि में ध्यान करने प
वह योगमुद्रा में स्थित प्राणस्फुरित विन्ध्याचल के रूप में दिखाई देता है, जो विन्ध्यप
(सतपुड़ा) के आसन पर उत्तराभिमुख आसीन है, जिसकी निर्निमेष दृष्टि सदाशि
के हिमालय-विग्रह पर स्थिर है, जिसने अपने आराध्य से तद्रूपता प्राप्त की है एवं उ
की भाँति जिसकी सघन जटाटवियों से शिखरों के ललाटपट्ट को पावन करती पुण्योदक
धाराएँ युगयुगान्तर से प्रवाहित होकर गंगा-यमुना की धाराओं को पुष्ट करती रही
जिस भूतभावन के शिखरों, पठारों, वनों और नदी-पुलिनों में पला मानवसमूह आश्रम
ग्रामों और नगरों में अर्जित उदार संस्कृति के सुमनों की अंजलियाँ इस प्रदेशपुरुष क
इससे प्रवाहित पुण्य-सलिलाओं को और उनके द्वारा समस्त भारत को निरन्तर अर्पि
करता रहा है। मध्यभारत—विन्ध्यपाद, विन्ध्याचल और उससे निकलकर बहनेवाल
नदियों का प्रदेश है और इसका निवासी उसके अंक में पोषण प्राप्त करनेवाला सत
विकासोन्मुख उसका वरद पुत्र।

पर्वत, वन और नदियाँ

पर्वत

मध्यभारत का प्राचीन अनूप अथवा दक्षिण-अवन्ति जनपद, जहाँ आजकल नीमाड़ नामक जिला है, विन्ध्यपाद अथवा सतपुड़ा पर्वत का क्षेत्र है और उसके पश्चात् है मध्यभारत का प्रधान पर्वत विन्ध्याचल। विन्ध्याचल का माहात्म्य भारतवासियों के हृदय में सदा से बहुत अधिक रहा है। इस विशाल पर्वतशृंखला को एक पर्वतकुल माना जाता था, जिसके विभिन्न सदस्यों के नाम थे महेन्द्र[1], मलय, सह्य, शक्तिमान, ऋक्षवान, विन्ध्य और पारियात्र। ये विन्ध्याचल के विभिन्न भागों के ही नाम थे। विन्ध्याचल विहार से प्रारंभ होकर गुजरात तक लगभग ७०० मील लम्बा है। इस विन्ध्याचल की पर्वतमालाएँ भेलसा, चन्देरी, कोलारस, ग्वालियर, गुना, सरदारपुर, नीमच, आगर तथा शाजापुर तक फैली हुई हैं। मध्यभारत के पश्चिम में राजस्थान में अरावली पर्वत है, जिसकी शृंखलाएँ इसके पश्चिमी भाग को उत्तर से दक्षिण तक घेरे हुए हैं।

इन पर्वत-शृंखलाओं से इस प्रदेश के निवासियों को सदा से ही बहुमूल्य पदार्थ मिलते रहे हैं। अवन्ति-आकर से प्राप्त होनेवाले बहुमूल्य रत्नों का उल्लेख एक ग्रीक नाविक ने ईसवी प्रथम शताब्दी में 'प्रैरिप्लस ऑफ दी एरिथ्रियन सी' नामक पुस्तक में तथा टालेमी ने ईसवी दूसरी शताब्दी में किया है। सतपुड़ा वैदूर्यमणि का उत्पत्तिस्थान प्रसिद्ध रहा है[2]। भृगुकच्छ के पोतपत्तन से विदेशों में भेजने के लिए जो खनिज यहाँ से जाते थे, उनमें संगेशाह, अकीक तथा लोहितांक भी होते थे। आज भी इन गिरि-शृंखलाओं पर स्थित बामौर, कुलेथ, मोहना, रेंहट, अमोला, मोहार, सरदारपुर, मन्दसौर, श्योपुर तथा चन्देरी आदि स्थानों से भवन-निर्माण का सुन्दर सफेद पत्थर मिलता है। विजयपुर परगने के गोहरा नामक स्थान में संगमरमर के समान ही अत्यन्त बहुमूल्य पत्थर प्राप्त होता है। काँच और भवन-निर्माण में उपयोगी लालपत्थर शिवपुरी, गिर्द, भेलसा, गुना, मुरैना और मन्दसौर जिलों में पाया जाता है। चूना और स्लेट के पत्थर भी इन गिरि-मालाओं की खदानों में मिलते हैं। लाल रंग की गेरू मिट्टी, पीले रंग की पेवड़ी और हरे रंग की मिट्टी तथा खड़िया की अनेक खदानें इनमें प्राप्त होती हैं। नलपुर और विदिशा की तलवारें सदा प्रसिद्ध रही हैं। 'शाहनामे' में फिरदौसी, ईरान के सम्राटों के पास भारत की कटारें और तलवारें होने का उल्लेख करता है; ये विश्वविख्यात शस्त्र इन्हीं प्रदेशों की देन थे। उत्तरी और पश्चिमी मध्यभारत में

---

१. काव्यमीमांसा (राजशेखर कृत) गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज का संस्करण, पृष्ठ २८१ की अनुसूची।

२. डॉ० वासुदेवशरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ४५।

लोहे की खदानें सर्वत्र मिलती हैं। अभ्रक, तांबा और शीशे की खदानें भी प्राप्त होती हैं। धार और इन्दौर में चाँदी की खदानें प्राप्त हो जाती हैं। अनेक गुणकारी दिव्य-औषधियाँ भी इन पर्वतमालाओं पर प्राप्त होती हैं।

इन पर्वतों का सब से बड़ा वरदान वे नदियाँ हैं, जो इनसे निकलकर यमुना में मिल जाती हैं। इन नदियों से सिंचित प्रदेश ही मध्यदेश अथवा उसका ही एक रूप आज का मध्यभारत है। सतपुड़ा और विन्ध्य के बीच प्रवाहित होनेवाली नर्मदा, विन्ध्याचल के पावन-स्रोतों से प्रवाहित होनेवाली चम्बल, जो पश्चिम में अरावली गिरि-शृंखला से निकलनेवाली सहायक नदियों से पुष्ट होती है तथा पूर्व में विन्ध्य की ही अनेक कन्याओं, शिप्रा, पार्वती और सिन्धु के संगमों से पूरित होती है, अपनी अनक छोटी-बड़ी सहायक नदियों सहित वेत्रवती (बेतवा), पूर्व की तमसा (टौंस) और केन तथा इन सब को अपने प्रवाह में मिला लेनेवाली यमुना इस प्रदेश के सांस्कृतिक शरीर की धमनियाँ हैं। सोन का दक्षिणी भाग भी मध्यदेश की सीमा में है।

वन

इन पर्वतमालाओं पर तथा उनकी शृंखलाओं के सहारे इस प्रदेश का कुछ भाग अत्यन्त सघन वनों से पूरित है। प्राचीनकाल में सतपुड़ा और विन्ध्याचल पर तो गहन वन थे ही, चम्बल की घाटी तथा उत्तरी मध्यभारत के बहुत से भाग में सघन जंगल फैला हुआ था। इन वनों के अत्यन्त विस्तृत वर्णन हमें प्राचीन साहित्य में मिलते हैं। वाणभट्ट ने विन्ध्याटवी के वनों, उनके वृक्षों, पशु और पक्षियों का तथा इन गहन वनों में बसे हुए ग्रामों तथा ग्रामनिवासियों का अत्यन्त विशद और विस्तृत वर्णन हर्षचरित के सातवें और आठवें उच्छ्वासों में किया है। इन दुर्गम वनों और गिरि-शृंखलाओं का अत्यन्त सजीव वर्णन महाभारत के वनपर्व के नलोपाख्यान सम्बन्धी अध्यायों में किया गया है। यह वर्णन उस वन का है, जो उस समय बेतवा के पश्चिम की ओर था। इस वन के पशु, पक्षी, वृक्ष, झरने सब का ही अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया गया है। आज भी जब कोई यात्री शिवपुरी से पोहरी होता हुआ श्योपुर जाता है, अथवा पोहरी से मोहना की ओर जाता है, अथवा करेरा से शिवपुरी जाता है, अथवा इन्दौर से सेन्धवा जाता है, तो वे दृश्य सजीव होकर सामने आजाते हैं।

आज मध्यभारत के ४८,००० वर्गमील क्षेत्रफल में से ११,००० वर्गमील पर ये जंगल फैले हुए हैं, जिनका अधिकांश शिवपुरी, श्योपुर और निमाड़ जिलों में है। भिण्ड-मुरैना जिलों में तथा बड़वानी में वनों का अब नितान्त अभाव हो गया है, इसके कारण भूमिक्षरण की जो समस्या उपस्थित हो गई है, वह इन वनों के प्राकृतिक सौन्दर्य के अतिरिक्त उनकी मानव के अस्तित्व के लिए उपयोगिता की भी सूचक है। इनसे प्राप्त सामग्रियों से मानव ने अपने जीवन को सुखी बनाने का सदा से प्रयास किया है और आज भी वे उसे समृद्ध करते हैं। इन पर्वतों और वनों में निवास करनेवाले पशु-पक्षियों का उपयोग मानव ने अपने जीवन को सुखकर बनाने के लिए किया है। मृगया, वाहन और मनोरंजन तक में इनके उपयोग किये गये। भवन-निर्माण तथा अन्य सामान के लिए लकड़ी वनों से ही प्राप्त होती है।

जलप्रपात

झरने और जलप्रपात सदा से मानव को आकर्षित करते रहे हैं। इन पार्वत्यप्रदेशों और वनों में सैकड़ों जलप्रपात हैं। इनमें से अनेक तक तो अभीतक नगरनिवासियों की पहुँच भी नहीं हो सकी है। पोहरी से लगभग छह-सात मील दूर पवा नामक एक अद्भुत जलप्रपात है। अत्यन्त सघन वनों और विरल बस्तियों से इसके पास तक पहुँचा जा सकता है। यहाँ चम्बल की एक सहायक नदी कून्हो की एक शाखा शिलाखण्डों पर लगभग पचास गज की चौड़ाई में एकदम सौ-डेढ़ सौ गज नीचे गिरती है। उसके अजस्र प्रवाह की ध्वनि और नीचे की विशाल जलराशि एक अद्भुत दृश्य उपस्थित करती है। जल-प्रपात के पीछे शिलाओं में ऐसे मार्ग हैं कि कुछ साहस से ही एक ओर से दूसरी ओर जाया जा सकता है। नीचे की भूमि पर सिंह, जंगली सूअर और अनेक प्रकार के वन्यपशु कभी-कभी दिन में ही मिल जाते हैं और उनके ताजे पद-चिह्न तो सदा ही देखने को मिलते हैं। पहाड़ी चोटियों से और वृक्षों से लटकते हुए विशाल मधुछत्र मानव को वर्जित करते हैं कि वह अपने कोलाहल तथा अग्निआयोजन से विरत रहे। मध्यभारत के जलप्रपातों का यह राजा हजारों वर्षों की प्रकृति के इतिहास की कहानी और गर्वीले प्रखर सौन्दर्य का रूप लिए हुए अभीतक सूना पड़ा हुआ है। ग्वालियर-शिवपुरी सड़क पर भानगढ़ स्टेशन के पास उम्मेदगढ़ का जलप्रपात है। इन्दौर के आसपास के पातलपानी और झाड़ीढ़हे नामक प्रपातों को उनके सुगम होने के कारण अधिक पहचान लिया गया है। विन्ध्य और सतपुड़ा के झरनों और जलप्रपातों से आज के पठित मानव ने अभीतक सम्बन्ध स्थापित नहीं किया है। अरावली की शृंखलाओं के केदारनाथ आदि कुछ ऐसे प्रपातों को, जो बस्तियों के पास हैं, हम देख सके हैं। इन झरनों और जलप्रपातों से भविष्य में मानव बहुत अधिक लाभ उठा सकेगा।

नदियां

हमारी सभ्यता नदियों की सभ्यता है। इन्हीं नदियों के किनारे-किनारे हमारी सांस्कृतिक धाराएँ बही हैं। मध्यभारत की संस्कृति को हम अत्यन्त संक्षेप में चम्बल, बेतवा, केन और नर्मदा की संस्कृति कह सकते हैं। इनकी अनेक सहायक नदियों के किनारे हमारे प्राचीन सांस्कृतिक और राजनैतिक केन्द्र खड़े हुए थे।

मध्यदेश के महत्त्व को बढ़ाने में जिस प्रकार यहाँ की प्राकृतिक स्थिति और भूमि उत्तरदायी है, उसी प्रकार देश के इस भाग के महत्त्व को बनाए रखने में यहाँ के पहाड़ और नदियों ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। मध्यभारत राज्य की प्रमुख नदियों में चम्बल, बेतवा, सिन्ध, नर्मदा, पार्वती, धसान, नेवज, शिप्रा आदि मुख्य हैं।

चम्बल नदी

चम्बल मध्यभारत की मुख्य नदी है। यह इन्दौर जिले के महू नामक स्थान के निकट जनपाव की पहाड़ी से निकलकर उज्जैन, रतलाम जिलों में होती हुई राजस्थान में प्रवेश करती है तथा फिर आगे जाकर मुरैना जिले के श्योपुर के निकट मध्यभारत के मुरैना जिला तथा राजस्थान और उत्तरप्रदेश, तथा मध्यभारत का भिण्ड जिला और उत्तर-प्रदेश की सीमा बनाती हुई यमुना में मिलती है। यह नदी बडे वेग के साथ जल का अथाह

भण्डार बहाकर ले जाती है। अब इस नदी के जल का सदुपयोग करने के लिए 'चम्बल घाटी विकास योजना' को कार्यान्वित किया जा रहा है।

बेतवा

बेतवा नदी की गणना मध्यभारत की प्रसिद्ध नदियों में की जाती है। इस नदी का प्राचीन नाम वेत्रवती है। यह भोपाल के ताल से निकलकर भेलसा जिले में होती हुई गुना तथा शिवपुरी जिले की पूर्वी सीमा बनाकर मध्यप्रदेश तथा विन्ध्यप्रदेश पार करती हुई उत्तरप्रदेश के जालौन जिले में यमुना में मिल जाती है। बेतवा मध्यप्रदेश की संस्कृति की रीढ़ रही है और इसे 'मध्यदेश की गंगा' कहा गया है।

सिन्ध

सिन्ध नदी भी मध्यदेश की प्रसिद्ध नदी है। इसका उद्‌गमस्थान भेलसा जिले के निकट सिरोंज के पास नैनवाह ग्राम है। यह क्षेत्र वर्त्तमान समय में राजस्थान राज्य के अन्तर्गत है। गुना, शिवपुरी, ग्वालियर तथा दतिया जिलों में होती हुई यह नदी इटावा जिले में यमुना में मिल जाती है। पहूज, क्वारी, सोन, बेसली, महुअर, पार्वती आदि अनेक इसकी सहायक नदियाँ हैं।

कालीसिन्ध

कालीसिन्ध देवास जिले के बागली नामक स्थान के निकट से निकलकर शाजापुर, राजगढ़ जिलों में होती हुई राजस्थान में प्रवेश कर चम्बल में मिल जाती है। इस नदी की सहायक नदियों में लोदरी, नेवज आदि मुख्य हैं।

शिप्रा

भारत की पवित्र नदियों में शिप्रा नदी का विशेष स्थान है। यह नदी इन्दौर के निकट से निकलकर उज्जैन जिले में होती हुई रतलाम जिले में चम्बल नदी में मिल जाती है। इसके किनारे पर भारत का पवित्र तीर्थ प्रसिद्ध प्राचीन नगरी उज्जयिनी बसी हुई है। उज्जयिनी के अतिरिक्त अन्य छोटे-छोटे तीर्थ भी इसके किनारे बसे हुए हैं। इसकी सहायक नदियों में काँम और गंभीर मुख्य हैं।

पार्वती

यह नदी पश्चिमी पार्वती नदी के नाम से प्रसिद्ध है। यह नदी आष्टा के निकट विन्ध्य-पर्वतमाला से निकलकर भोपाल राज्य में बहती हुई मध्यभारत के शाजापुर और राजगढ़ जिलों और भोपाल राज्य के बीच सीमा बनाती हुई गुना जिले में बहकर राजस्थान में प्रवेश करती है तथा राजस्थान और मध्यभारत की सीमा पर चम्बल नदी में मिल जाती है।

नर्मदा

नर्मदा मध्यभारत की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नदी है। नर्मदा की गणना भारत की सात पवित्र नदियों में की जाती है। यह नदी अमरकंटक पर्वत से निकलकर विन्ध्याचल और सतपुड़ा पर्वतों और घने जंगलों के बीच बहती हुई मध्यभारत के निमाड़ तथा धार जिले में होती हुई झाबुआ जिले और बम्बई राज्य की सीमा बनाती है तथा पश्चिमी घाट पर समुद्र में मिलती है। इसकी अनेक सहायक नदियाँ हैं।



पाताल पानी प्रपात, इन्दौर



मध्यभारत का प्राचीनतम पृथिवी-पुत्र—सहरिया

पथपद्धति, महापथ और व्यापार-व्यवसाय

जनपथ और महापथ

इन पर्वतमालाओं की उपत्यकाओं में, नदियों के किनारे, पठारों और मैदानों में बसनेवाले जनपदों, नगरों और ग्रामों के निवासी-जन अनादिकाल से संचरणशील रहे हैं। उन्हें प्रगति के मार्ग पर अग्रसर करने में उनके द्वारा निर्मित पथों ने बहुत अधिक सुगमता उत्पन्न की है। चरवाहों और शिकारियों ने आसपास के प्रदेश में अपने मार्ग निकाले। व्यापार और धर्म तथा ज्ञानसाधना के लिए लोगों ने लम्बी यात्राएँ कीं। सैनिक, सेनापति और राजा अपने अभियानों द्वारा जनमार्गों को राजमार्गों का रूप देते रहे।

प्राचीन सड़कें

अत्यन्त प्राचीनकाल से ही भारतवासी सड़कें बनाने में कुशल थे। वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि जब भरत चित्रकूट में राम से मिलने के लिए चले, तो उनके साथ सड़क बनानेवाले भी अधिक संख्या में थे। सेना के आगे मार्गदर्शक चलते थे। सेना के साथ भूमि-प्रदेशज्ञ, नाप-जोख करनेवाले, थबई, बढ़ई, पेड़ लगानेवाले, कूपकार, सराय बनानेवाले और बांस की झोंपड़ी बनानेवाले चलते थे। ये कारीगर जमीन को समतल करते थे, रास्ता रोकनेवाले पेड़ काटते थे, पुरानी सड़कों की मरम्मत करते थे और नई सड़कें बनाते थे। पहाड़ियों की बगल से चलनेवाली सड़कों पर के पेड़ वे काट डालते थे और ऊजड़ प्रदेशों में पेड़ लगाते थे। कुल्हाड़ियों से झाड़-झंखाड़ साफ कर दिये जाते थे तथा सड़क पर आनेवाली चट्टानें तोड़ दी जाती थीं। साल के बड़े-बड़े वृक्ष गिराकर जमीन एक-सी करदी जाती थी। सड़क पर की नीची जमीन तथा अन्धे कुए मिट्टी से पाट दिये जाते थे, सड़क पर पड़नेवाली नदियों पर नाव के पुल बना दिये जाते थे। आगे मौर्यकाल में चन्द्रगुप्त मौर्य की राजसभा में सिल्यूकस की ओर से भेजे गये राजदूत मेगास्थनीज ने लिखा है कि भारतीय सड़कें बनाने में बड़े कुशल थे[1]।

जलमार्ग

इन सड़कों के अतिरिक्त नदियों में नावों द्वारा भी यातायात होता था। चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में लिखा है कि उसके पहले के आचार्यों ने स्थल-मार्गों की अपेक्षा नदियों और समुद्रों के मार्गों को अधिक अच्छा बतलाया है; क्योंकि उनमें कम व्यय पड़ता है। स्वयं कौटिल्य इस मत से सहमत नहीं थे, वे स्थल-मार्ग को श्रेष्ठ समझते थे। हमारा प्रदेश, मध्यभारत समुद्र से दूर है; परन्तु फिर भी यहाँ ऐसे साम्राज्य रह चुके हैं, जिनके पास समुद्री बेड़े थे।

---

१. डॉ० मोतीचन्द्र: सार्थवाह, पृष्ठ ५१।

अत्यन्त प्राचीनकाल में प्राग्वैदिकयुग में इन बेड़ों द्वारा पश्चिम के भृगुकच्छ, शूर्पारक तथा सौवीर आदि पोतपत्तनों (बन्दरगाहों) से इस प्रदेश के निवासियों का विदेशी व्यापार चलता था। वैदिककाल में भी माहिष्मती साम्राज्य के हैहयों के पास अपार पोतशक्ति थी। मध्यदेश के जहाजी बेड़े का सब से बाद का उल्लेख परमारवंशी भोजदेव का मिलता है, जिनके जलयानों ने कोंकण के समुद्री बेड़े को जीता था। नदियों में चलनेवाली नावों के उपयोग का उल्लेख भी अत्यन्त प्राचीनकाल से मिलता है। ईसवी पूर्व दूसरी और पहली शताब्दी में भरहुत और सांची पर अनेक प्रकारों की नौकाओं के अर्द्धचित्र मिले हैं। इन सब का उल्लेख आगे यथास्थान किया जायगा। मार्ग में जो नदियाँ पड़ती थीं, उनमें पार उतारने के लिए भी नावें काम में आती थीं।

यातायात के साधन

स्थल-मार्गों पर लोग पैदल, हाथी, घोड़ा, ऊँट आदि वाहन पशुओं पर तथा रथों और बैलगाड़ियों पर चलते थे, जिनके अर्द्धचित्र मौर्यकाल के विदिशा और सांची के स्तूपों पर मिले हैं। प्राचीनकाल में यात्रा करना बहुत सरल कार्य नहीं था। मार्ग में जंगली पशु और लुटेरों का डर रहता ही था, भोजन और जल का प्रबन्ध भी लोग स्वयं करके चलते थे। राजाओं और सेनाओं के अतिरिक्त अन्य लोग उन व्यापारियों की टोलियों के साथ चलना अधिक सुरक्षित समझते थे जो व्यापार के लिए देश के एक कोने से दूसरे कोने तक अपने माल के साथ चलती रहती थीं। प्राग्वैदिक पणि और आर्य विश् अत्यन्त प्राचीन-काल में अपने काफिले लेकर इन महापथों और जनपथों पर चलते रहे थे। इस काफिले को सार्थ कहते थे और उनके नेता को सार्थवाह।

मध्यभारत का एक महासार्थ

संयोग से महाभारत के वनपर्व (अध्याय ६४-६५) में वर्त्तमान मध्यभारत की सीमाओं के इसी प्रकार के एक बहुत बड़े सार्थ का वर्णन किया गया है। यह महासार्थ बड़ा लाभ कमाने के लिए चेदि जनपद जा रहा था। जब उसने वेत्रवती (बेतवा) पार की, तब उसे नल से बिछुड़ी हुई दमयन्ती मिली। विदर्भ की ओर जाने के अभिप्राय से वह इस महासार्थ के साथ हो गई। इस महासार्थ में हाथी, घोड़े, रथों की भीड़-भाड़ थी। उसके साथ "मनुष्यों का समुद्र" सा चलता था, जिसमें बैल, गधे, ऊँट आदि वाहन पशु थे। इसमें अधिकांश वणिक व्यापारी थे; परन्तु वेदपारग ब्राह्मण भी थे। उसमें बूढ़े, जवान और बच्चे सभी आयु के स्त्री-पुरुष थे। उनके पास धन, मणि-माणिक्य और रत्नों के ढेर-के-ढेर थे। इस महासार्थ के नेता शुचि नामक सार्थवाह का सब अनुशासन मानते थे।

इस प्रकार के सार्थ और महासार्थ देश के एक छोर से दूसरे छोर तक बड़े-बड़े नगरों तथा पोतपत्तनों तक चलते रहते थे और मार्ग के अनेक संकट और कष्ट उठाकर देश की समृद्धि बढ़ाते रहते थे।

मध्यभारत के प्राचीन मार्ग

वर्त्तमान मध्यभारत का क्षेत्र देश के मध्य में स्थित होने के कारण उत्तर से दक्षिण अथवा पूर्व से पश्चिम की ओर आने-जानेवाले व्यापारिक महापथ इसके नगरों से होकर

गुजरते थे। प्रागैदिक द्राविड़ों के नगरों के अवशेष सतजल के किनारे हरियूपा (हड़प्पा), सिन्ध के किनारे मुहेंजोडेरो, अहमदाबाद के पास लोथल ग्राम, नागदा के पास उज्जैन तथा कन्नौज के पास मिले हैं। सम्भव है आगे इस काल के अवशेष और भी मिलें। अहमदाबाद के पास लोथल के निकट जो नगर मिला है, वह उस काल का विशाल बन्दरगाह था। कन्नौज से जो माल उस काल में उस बन्दरगाह में जाता होगा, उसका मार्ग मध्यभारत की सीमाओं में से ही होगा। कान्यकुब्ज से यह महापथ पद्मावती (पवाया), नागह्रद (नागदा), उज्जयिनी, धार होता हुआ जाता होगा। वैदिक से लेकर मध्यकाल तक इन मार्गों का रूप स्पष्टतः सामने आजाता है। मथुरा, कान्तिपुरी (मुरैना जिले का कुतवार), पद्मावती और विदिशा कभी नागों की राजधानियां रही हैं। माहिष्मती में भी कभी नागों का राज्य था। इस प्रकार जो मार्ग मथुरा से चलता होगा, वह सिंहपानीय (सुहानियां), धारौन (पढ़ावली), कान्तिपुरी (कुतवार), गोपाद्रि (ग्वालियर), आसरौन (आंतरी के पास) होता हुआ पद्मावती पहुँचता होगा। पद्मावती (पवाया) के पास ही नलपुर (नरवर) है। इन दोनों नगरों के बीच सिन्ध पार कर यह मार्ग मधुवन के रणिपद्र (रन्नौद), तेरम्बि (तेरही), इंदार, कदम्बगुहा (कदवाहा), चन्देरी तथा काकपुर होता हुआ विदिशा पहुँचता होगा। इस रेखा पर ही उत्तरी मध्यभारत के प्राचीन तथा मध्यकालीन नगरों के अवशेष मिलते हैं। मुगलों के समय तक दिल्ली-आगरा से भेलसा तक का मार्ग यही रहा। आज लवण, पारा (पार्वती), मधुमती (महुआ) आदि सिन्ध की सहायक नदियों को बचाने के लिए रेलपथ, ग्वालियर से डबरा के पास सिन्ध पार कर दतिया-झांसी की ओर से भेलसा पहुँचता है, जो एक अन्य प्राचीन महापथ की रेखा है।

प्राचीनकाल में कौसाम्बी तथा कान्यकुब्ज से पद्मावती (पवाया) के लिए भी एक मार्ग आता था। एक मार्ग बेतवा के पश्चिमी तट पर से पठारी, बड़ोह, ग्यारसपुर होता हुआ विदिशा पहुँचता था।

इन महापथों के अतिरिक्त अन्य स्थल-मार्ग भी महत्वपूर्ण रहे हैं। इब्नबतूता जब इस प्रदेश में आया, तब वह मावरी, मरह तथा अलापुरा नामक स्थानों पर होता हुआ ग्वालियर पहुँचा था। मावरी कहाँ थी इसका अनुमान हम नहीं कर सके। मरह नटेश्वर हो सकता है, जो इसी मार्ग पर पड़ता है। ग्वालियर से इब्नबतूता अम्बारी[1] होता हुआ चन्देरी से उज्जैन गया। यह अम्बारी वर्तमान दिनारा ग्राम के पास आज इसी नाम का छोटा-सा ग्राम है, जहाँ मध्यकालीन अवशेष प्रचुर मात्रा में हैं। इस महापथ का इससे भी प्राचीन उल्लेख बौद्धग्रन्थों में मिलता है[2]। इसमें पतिट्ठान (पैठन हैदराबाद) से महिस्सति (माहिष्मती), उज्जैणी (उज्जयिनी), गौनद्ध, वेदसा (विदिशा) वनसह्वय होते हुए कौशाम्बी तक की एक यात्रा का वर्णन है। इससे ज्ञात होता है कि उज्जैन और विदिशा के बीच गौनद्ध (गौनर्द) था, जहाँ महाभाष्यकार पतंजलि का जन्म हुआ था। विदिशा से कौशाम्बी के बीच वनसह्वय से किस वन का तात्पर्य है, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु, यह वही मार्ग हो सकता है जिससे इब्नबतूता चन्देरी, अम्बारी होता हुआ

---

१. बनमाली द्विवेदी : इब्नबतूता की अम्बारी, विक्रमस्मृतिग्रंथ, पृष्ठ ६४१।
२. डिक्शनरी ऑफ पाली प्रोपर नेम्स बाबरी के अन्तर्गत।

ग्वालियर पहुँचा। अनुश्रुति यह है कि गौतमबुद्ध वेत्रवती के किनारे एरकच्छ (एरछ) तक आये थे। उनका मार्ग भी यही कौशाम्बी से विदिशा जानेवाला मार्ग होगा। इसी मार्ग पर दतिया के पास गुजर्रा नामक स्थान पर अशोक का शिलालेख मिला है, जो यहाँ के किसी महापथ के अस्तित्व की ओर संकेत करता है; क्योंकि अशोक के शिलालेख बहुत चलनेवाले महापथों पर ही लगाए जाते थे।

विदिशा आकर मिलनेवाले ये मार्ग आगे उज्जयिनी ले जाते थे। पद्मावती और विदिशा के समान उज्जयिनी भी अनेक महापथों का केन्द्र थी। आगरा-मथुरा से बयाना, कोटा, झालावाड़, आगर तथा नागदा से आता हुआ मार्ग उज्जैन पहुँचता था। दिल्ली से आज रींगस, फुलेरा, अजमेर, चित्तौर, मन्दसौर होता हुआ उज्जैन तक जो पश्चिमी रेल्वे का मार्ग है, वह भी प्राचीन मार्ग की रेखा पर ही है। चित्तौड़, दशपुर (मन्दसौर) और उज्जैन के बीच सम्बन्ध बहुत प्राचीन है। मारवाड़ का रेगिस्तान और कच्छ का रन पंजाब और गुजरात के बीच यातायात में बाधक रहे हैं, अतएव पंजाब और गुजरात के बीच यातायात भी उज्जैन होकर ही होता था।

उज्जयिनी से धार होते हुए माहिष्मती के लिए मार्ग था। माहिष्मती (महेश्वर) प्राचीनकाल में तो हैहय साम्राज्य का केन्द्र ही थी। दक्षिणापथ के महापथ का वह द्वार है। महाभारत के दिग्विजय पर्व में उल्लेख है कि जब सहदेव ने दक्षिणापथ की विजय के लिए प्रस्थान किया, तो वह मथुरा-उज्जयिनी पथ से माहिष्मती होते हुए प्रतिष्ठानपुर (पैठन) पहुँचा था। माहिष्मती से एक महापथ बम्बई के पास धारापुरी (वर्तमान एलीफेण्टा) तक जाता था।

सार्थवाहों के आराध्य—यक्ष

पद्मावती इन महापथों का विशाल केन्द्र थी। इसके समर्थन में श्री वासुदेवशरण ने एक प्रमाण दिया है[1]। उनका कथन है कि नाविकों की देवी मणिमेखला थी और स्थल में चलनेवाले सार्थवाहों के अधिष्ठाता देवता मणिभद्र यक्ष थे। उनका कथन है कि सारे उत्तरभारत में मणिभद्र की पूजा के मन्दिर थे। मथुरा में परखम स्थान में मिली हुई महाकाय यक्ष की मूर्ति मणिभद्र की ही है। लेकिन पवाया में (प्राचीन पद्मावती, ग्वालियर) में मणिभद्र की पूजा का बड़ा केन्द्र था। उत्तरभारत में दक्षिण को जानेवाले सार्थ इसकी मान्यता मानते थे। इस अनुमान का आधार महाभारत के वनपर्व का वह प्रसंग बतलाया गया है, जब दमयन्ती को मिलनेवाले सार्थ के सदस्यों ने मणिभद्र का स्मरण संकटनिवारण के हेतु किया था। परन्तु; उसी प्रसंग में आगे वास्तविक विपत्ति पड़ने पर मणिभद्र और कुबेर दोनों को स्मरण किया गया है। ज्ञात होता है कि इन सार्थवाहों में यक्षों के प्रति विशेष विश्वास था। महापथों के अन्य केन्द्र विदिशा में, पद्मावती के मणिभद्र के समान, कुबेर की प्रतिमा मिली है। विदिशा में कुबेर के मंदिर के होने का डॉ० मोतीचन्द्र का अनुमान[2] विदिशा के अवशेषों में कुबेर की प्रतिमा प्राप्त हो जाने से ठीक सिद्ध हो गया है। इस प्रतिमा के मंदिर में ही वह कल्पवृक्ष स्तंभ लगा होगा, जिसका शीर्ष बहुत पहले ही प्राप्त

---

१. डॉ० मोतीचन्द्र के सार्थवाह में डॉ० वासुदेवशरण की भूमिका, पृष्ठ ५।

२. डॉ० मोतीचन्द्र: कुबेर, भारती, ग्वालियर, अप्रैल १९५५, पृष्ठ ३०५।

हो चुका है। इन धनी सार्थवाहों ने इसका निर्माण कराया होगा, जो स्वदेश लौटने पर सवा पाव से सवा मन तक सोने का दान करते थे।

मध्यभारत के इन महापथों पर से मौर्य और गुप्तकाल में पूर्व दिशा की ओर आवागमन अधिक बढ़ गया होगा। उस समय राजनीति का केन्द्र पाटलिपुत्र था। मौर्यों और गुप्तों के समय में विदिशा और उज्जयिनी उनकी पश्चिमी राजधानियाँ थीं। कन्नौज के बैस, मौखरी और गुर्जर प्रतिहारों की पश्चिमी छावनी ग्वालियर में रहती थी। इन कालों में पाटलिपुत्र और कन्नौज से इस ओर यातायात विशेष रहा होगा।

महापथों की उपयोगिता

जनपथ और महापथ हमारे आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के साधन रहे हैं। उन पर से ही अनेक विजेताओं की सेनाएँ दौड़ी हैं। जिस प्रकार पंजाब और काबुल को विजित करने के पहले किसी आक्रान्ता को उत्तरभारत पर पैर रखने का साहस न होता था, उसी प्रकार मध्यदेश से लोहा लिए बिना उसके लिए दक्षिणापथ के मार्ग बन्द थे।

धार्मिक प्रचारकों के लिए भी मध्यदेश के इन महापथों को अपनाना आवश्यक होता था। भार्गव परशुराम इसी मार्ग से पश्चिमीघाट तक पहुँचे थे और वहाँ ब्राह्मणधर्म का प्रचार किया था। गौतम के जीवनकाल में ही दक्षिण अवन्ति जनपद में बौद्धधर्मप्रचारक इन्हीं महापथों पर होकर प्रचार के लिए गये थे। अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र को विदिशा, उज्जयिनी और माहिष्मती के मार्ग से ही लंका भेजा था। जैनधर्म तो इस प्रदेश में इन पथों के सहारे ही इतना फैला कि आगे इधर का ही होगया। मुसलमानप्रचारक सूफी संतों का दक्षिण की ओर जाने का भी प्रधान मार्ग यही था। उत्तरभारत की जितनी विचारधाराएँ दक्षिण की ओर गई अथवा दक्षिण से उत्तर की ओर आईं, उनका प्रवाह इन्हीं मध्यभारतीय महापथों के सहारे हुआ है।

इन महापथों द्वारा पश्चिम के बन्दरगाहों तक माल पहुँचाकर ये सार्थ और महासार्थ कभी देश को अत्यन्त समृद्ध कर रहे थे। विदिशा, पद्मावती, उज्जयिनी इसी व्यापार के कारण अत्यन्त समृद्ध हो रही थीं। भारत के इस व्यापार का प्रभाव रोमनिवासी तक अनुभव कर रहे थे, जहाँ की अपार स्वर्णराशि रोम की स्त्रियाँ भारत से वहाँ पहुँचनेवाली प्रसाधन सामग्री को क्रय करके इस देश में भेज देती थीं। इन महासार्थों के माल को जलयानों द्वारा अनेक देशों में ले जानेवाले भारतवासियों ने अपने सम्बन्ध विश्व के सभी प्राचीन देशों से कर लिये थे। इस देश के वैभव की ख्याति कितनी अधिक फैल गई थी, इसका प्रमाण लम्पकस में प्राप्त किसी ग्रीक कलाकार द्वारा चाँदी की तश्तरी पर बनाई गई 'भारतलक्ष्मी' की मूर्ति है, जो आजकल इस्तम्बूल के संग्रहालय में सुरक्षित है[1]। इसमें भारतमाता की मूर्ति के ऊपर की ओर एक तरफ शुक और दूसरी ओर चकोर बना है। इनके नीचे दो बघेरी नस्ल के कुत्ते हैं। मूर्ति के सामने दो व्यक्ति एक ओर पालतू सिंह और

१. डॉ० वासुदेवशरण : लम्पकस में प्राप्त भारतलक्ष्मी की मूर्ति, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, विक्रमांक, पृष्ठ ३९।

दूसरी ओर तेंदुआ पकड़े खड़े हुए हैं। इटली के पोम्पियायी नगर से भी हाथीदांत की एक भारतीय देवी की मूर्ति प्राप्त हुई है। यह नगर सन् ७९ ईसवी में ज्वालामुखी के विस्फोट से नष्ट होगया था, अतएव इसके पूर्व ही यह मूर्ति वहाँ पहुँची होगी।

वर्तमान और भावी महापथ

पिछली हजारों पीढ़ियों द्वारा बनाए गये इन महापथों और जनपथों की लकीरों पर, कुछ इधर-उधर करके आगे के मार्ग बनते रहे। इन मार्गों के बदलने का प्रभाव भी स्पष्ट दिखाई देता है। विदिशा (भेलसा) और ग्वालियर के बीच पड़नेवाले महापथ ने मुगलों के पश्चात् अपनी रेखा बदल दी, परिणाम यह हुआ कि आमरौल, पवाया (पद्मावती), नरवर, रन्नोद, तेरही, इँदार, कदवाहा, चन्देरी आदि नगर अपना गौरव खोकर छोटे-छोटे कस्बे, गांव अथवा खण्डहरमात्र रह गये हैं। वास्तव में ये जनपथ और महापथ ही समृद्धि और संस्कृति के जीवनदायी रक्त के प्रवाह की धमनियां हैं। आज इनके विकास और विस्तार की ओर ध्यान देना सर्वाधिक आवश्यक है। अनेक सहस्राब्दियों से सैनिकों, व्यापारियों, धर्मप्रचारकों, शिल्पियों तथा कलाकारों का देश के एक भाग से दूसरे भाग में जाने-आने का प्रधान साधन मध्यभारत के ये जनपथ तथा महापथ रहे हैं। इनके द्वारा ही यह प्रदेश भारत का प्रतिरूप बना है और उसका जो कुछ श्रेष्ठ रहा है तथा जो दुर्दिन और विपत्तियाँ उसने देखीं, वह उसका भागीदार रहा है तथा है।

वर्तमानकाल में स्वतन्त्र भारत की परिकल्पना यह है कि हमारे प्रत्येक ग्राम, स्वतन्त्र भारत के प्रत्येक नागरिक का आवास, जनपथ से सम्बद्ध हो, वायुयान से लेकर रेल, मोटर, बैलगाड़ी सभी तरह के वाहनों के यातायात की सुविधा उसे प्राप्त हो।

व्यवसाय

प्राचीनकाल में किस प्रकार के व्यवसाय इस प्रदेश में होते थे, इसका कुछ स्वरूप हम देख चुके हैं। उसने इस प्रदेश की धरती से जो कुछ उत्पन्न किया, उससे न केवल अपने अन्न, वस्त्र एवं आवास की समस्याओं को हल किया, वरन् व्यापार द्वारा अपने प्रदेश की समृद्धि भी बढ़ाई, यह भी हम देख चुके हैं। मध्यभारत के व्यवसायों में सदा से ही खेती मुख्य रही है। कपास, गेहूँ, चावल, गन्ना, पोस्त से लेकर कोदों, बाजरा, समा और शाक-भाजी तक हम इस भूमि में उत्पन्न करते रहे। आज भी इस राज्य की तीन चौथाई जनसंख्या खेती में ही लगी हुई है। इसके लिए अपने पशुधन के पालन का कार्य भी कृषकवर्ग करता है।

कृषि के लिए जल की अत्यधिक आवश्यकता होती है। वर्षा के जल पर ही सदा भरोसा नहीं किया जा सकता, इस कारण नदियों, कुओं, बावड़ियों और तालाबों का निर्माण किया जाता है। भारतवासी बड़े-बड़े बाँध बनाकर उनसे सिचाई करने की व्यवस्था अत्यन्त प्राचीनकाल से करते आरहे हैं। प्राग्वैदिककाल में ही बड़े-बड़े बाँध यहाँ थे। मौर्य सम्राटों के समय में बाँधों के निर्माण का उल्लेख मिलता है। तालाबों के निर्माण की कला में भी यहाँ के राजा बहुत उन्नति कर गये थे। इनके बहुत बड़े पैमाने पर सभी कालों में निर्माण हुए। परमार भोज, तोमर और बुन्देला राजाओं द्वारा निर्मित तालाब आज-तक बने हुए हैं अथवा ध्वस्त होकर अपने निर्माताओं की कहानी अपने अवशेषों के रूप में

कह रहे हैं। भोजपुर के पास भोज द्वारा निर्मित विशाल तालाब के अवशेष अब तक देखे जा सकते हैं। साधारण छोटी नदियों को दो पहाड़ियों के बीच घेरकर उसका विशाल तालाब बना देने की कला को बुन्देला राजाओं ने बहुत उन्नत किया था। वीरसिंहदेव बुन्देला ने दिनारा में जो तालाब बनाया है, वह इस कला का अद्‌भुत नमूना है। एक पर्वतशृंखला को केवल दो स्थानों पर बाँध देने से ही यह चार मील लम्बा तालाब बन गया। इसके शिलालेख से प्रकट होता है कि सन १५५८ ई० (वि० सं० १६१५) में वीरसिंहदेव ने अपने मित्र सलीम की यात्रा के स्मरणार्थ इसका निर्माण कराया[1]। कुओं और बावड़ियों का निर्माण तो यहाँ का प्रत्येक समर्थ नागरिक अपना कर्त्तव्य समझता रहा है। आज भी इस ओर ध्यान दिया जारहा है। मध्यभारत के निर्माण के समय इस राज्य में ९५२ मील लम्बी नहरें तथा १२६० तालाब थे, जिनसे २,७८,७१५ बीघा भूमि की सिंचाई होती थी[2]। उसके पश्चात् सिंचाई की अनेक योजनाएँ हाथ में ली गई हैं, इनमें भानपुरा के पास बननेवाला चम्बल बाँध प्रमुख है। बेतवा का माताटीला बाँध यद्यपि इस राज्य की सीमाओं के बाहर है; परन्तु उससे भी चौरासी का प्यासा इलाका तृप्त किया जा सकता है और कोदों-समा के उस प्रदेश को गेहूँ चावलों का प्रदेश बनाया जा सकता है।

खेती के पश्चात् इस प्रदेश का मुख्य व्यवसाय वस्त्रोत्पादन है। ईसवी नवमीं शताब्दी में सुलेमान नामक अरब व्यापारी ने मालवा में बने वस्त्रों के विषय में लिखा है कि यहाँ के निवासी एक ऐसा वस्त्र तैयार करते हैं जैसा संसार में और कहीं नहीं मिलता। उसकी बनाई हुई पोशाक, अंगूठी में से निकाली जा सकती है[3]। उज्जैन होकर भृगुकच्छ आदि पोतपत्तनों से सुन्दर मलयवस्त्र विदेशों को निर्यात होता रहा है। तन्तुवायों (बुनकरों) की अनेक श्रेणियों के प्राचीन उल्लेख मिले हैं[4]।

अन्य जीवनोपयोगी कलाओं का प्रचार भी बहुत अधिक रहा है। भवनों, मन्दिरों, प्रसाधन सामग्रियों और उनसे सम्बन्धित मूर्तियों तथा चित्रों के निर्माता शिल्पी भी यहाँ सदा से रहे हैं। हाथी-दाँत के कारीगरों (दन्तकारों) के लिए उज्जैन और विदिशा सदा से प्रसिद्ध रही है, यह साँची तथा भरहुत के अभिलेखों तथा उज्जैन और भेलसा के उत्खननों से मिली वस्तुओं से ज्ञात होता है। मिट्टी के भावपूर्ण खिलौने भी यहाँ बनते रहे हैं। सोने-चाँदी और जवाहिरात के आभूषण बनाना तो यहाँ सदा से एक विशेष वर्ग का व्यवसाय रहा है।

---

१. हरिहरनिवास द्विवेदी : ग्वालियर राज्य के अभिलेख, पृष्ठ ५१।
२. मध्यभारत सन १९४९-५०, एन इकॉनामिक रिव्यू, पृष्ठ ४।
३. इलियट और डासन : अर्ली अरब ज्यॉग्रेफर्स (कलकत्ता संस्करण), पृष्ठ ६।
४. हरिहरनिवास द्विवेदी : ग्वालियर राज्य के अभिलेख, पृष्ठ १ (अभिलेख सूची)।

मध्यभारत के जनपद और नगर

जनपद और जानपदजन

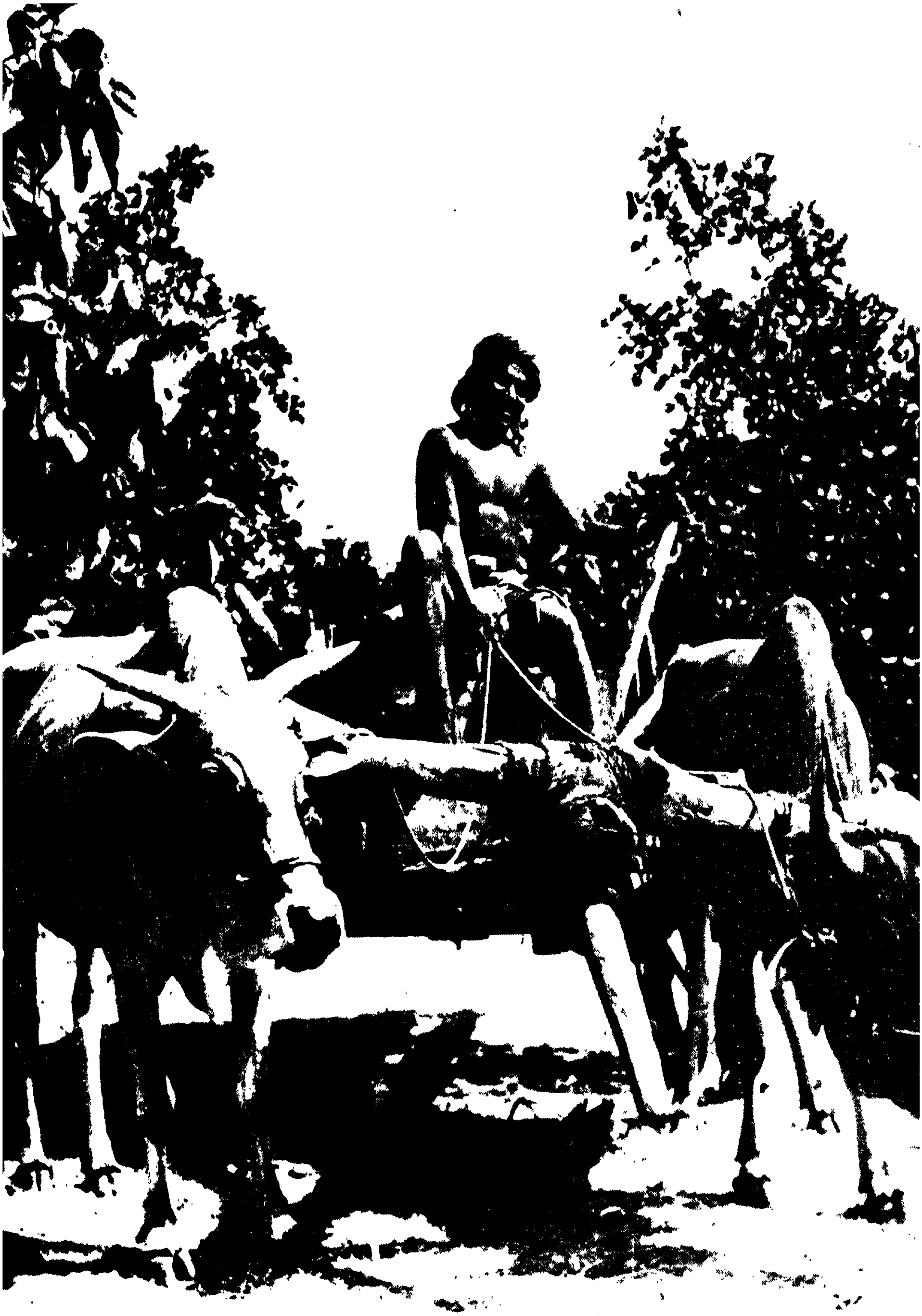
इन पर्वतमालाओं के सहारे, इन निर्मल जलप्रवाहिनी सरिताओं के तीरों पर इस माता पृथिवी के अंचल पर अजित, अहत और अक्षत रूप में पृथिवी पुत्र[1] जानपदजन ने अपना पैर जमाया। ये जन ही मिलकर मातृभूमि को शक्ति देते हैं और उसके रूप की समृद्धि करते हैं। इन जनपदों और उनमें निवास करनेवाले जानपदजनों का महत्व भारत के चिन्तकों ने सदा माना है। अशोक के एक शिलालेख में[2] ग्रामवासी जनसमूह के लिए 'जानपदजन' शब्द का प्रयोग हुआ है। इन जानपदजनों का समूह ग्राम है और ग्रामों के संगठनों को जनपद कहा गया है। भूमि, भूमि पर बसनेवाले जन और जन की संस्कृति जहाँ अपनी विशिष्टताएँ दिखाएँ, वह जनपद माना गया है। आगे जिन तँवरघारी, कछवाही, भितरवारी आदि अनेक बोलियों का उल्लेख किया गया है, वे इन्हीं जनपदों की देन हैं। भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से जनपदों का अस्तित्व मिलता है। ज्ञात यह होता है कि ये समय-समय पर एक ही स्थान पर बसजानेवाले समूहों के कारण निर्मित हुए थे। इनमें से किसी एक द्वारा अपनी शक्ति विस्तार कर लेने पर कुछ महाजनपद सामने आए, जिनसे राज्यों और साम्राज्यों का विकास हुआ।

जनपद तथा महाजनपदों की सीमाएँ भी बदलती रही हैं। कुछ प्रदेश कभी एक जनपद के अंग रहते थे और कभी दूसरे के। राजनीतिक स्थितियों अथवा कुछ जातियों अथवा वर्गों के इधर-उधर चलने रहने से इनके रूप बदले हैं। इस अर्थ में हम आज के मध्यभारत को भारत का एक महाजनपद मान सकते हैं और उसके अन्तर्गत आनेवाले छोटे-छोटे खण्डों को जनपद।

गोपथब्राह्मण में इन जनपदों का अत्यन्त प्राचीन उल्लेख मिलता है। पालि दीघनिकाय में भी इनकी तालिका दी गई है। महाभारत में भी इनकी सूची प्राप्त होती है। बौद्धकाल के पूर्व से ही सोलह महाजनपद प्रतिष्ठित हो चुके थे। इनके नाम अंग, मगध, काशी, कोशल, वृजि, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरु, पाँचाल, मत्स्य, शूरसेन, अश्मक, अवन्ति, गान्धार और कम्बोज थे। मध्यभारत एवं मध्यदेश में इन महाजनपदों में से कौशल, चेदि, मत्स्य, कुरु, वत्स्य, शूरसेन तथा अवंति का सीधा सम्बन्ध आता है। दक्षिण-अवंति को कभी अनूपदेश भी कहा गया है। दशार्ण, पद्मावती तथा भादानक नामक जनपदों का भी उल्लेख मिलता है। अत्यन्त प्राचीन काल से चेदि, वत्स एवं काशी से मिला विन्ध्य-मेखला में

१. अथर्ववेद : पृथिवीसूक्त ।१२।

२. अष्टम प्रधान शिलालेख।



झाबुआ का एक भील युवक



मध्यभारत की बनजारा रमणियां

स्थित कारूष नामक जनपद भी अस्तित्व में रहा है। इसके वीर लड़ाके और हाथी इतिहास में प्रसिद्ध रहे हैं और इसकी अभिन्नता बुन्देलखण्ड के पहाड़ी अंचल से स्थापित की जाती है। निषध नाम का एक जनपद हमारे प्रदेश के ब्राह्मणग्रन्थों के काल में चेदि से मिला हुआ विद्यमान था, जिसके कारण नल की नैपध उपाधि हुई थी। इस 'निषध' को विद्वानों ने विन्ध्यपाद सतपड़ा तथा विन्ध्य के बीच माना है। परन्तु वास्तव में यह वर्त्तमान नरवर के आसपास का प्रदेश था। काशी जनपद के हमारे प्रदेश से इतिहास में घनिष्ट संबंध रहे हैं। प्राचीन साहित्य में उल्लिखित जनपदों और महाजनपदों में से मध्यभारत से सम्बन्धित जनपदों का संक्षिप्त उल्लेख यहाँ कर देना उचित होगा।

अनूप-देश

मध्यभारत के दक्षिण में आज का निमाड़ जिला है। यह विन्ध्य-शृंखला और सतपुड़ा की घाटियों में स्थित है। इस प्रदेश को प्राचीनकाल में अनूप-देश कहते थे। नर्मदा घाटी की खुदाई में प्राग्वैदिककाल के अवशेष मिलने के कारण इस प्रदेश का ऐतिहासिक महत्त्व बहुत अधिक बन गया है। माहिष्मती (वर्त्तमान महेश्वर) इस प्रदेश का प्रधान नगर था। मध्यकाल में परमारों का प्रभाव इस प्रदेश तक फैला हुआ था। सतपुड़ा के उत्तर की ओर ऊन नामक स्थान पर अनेक परमार अवशेष मिले हैं। नेमावर प्राचीनकाल में प्रसिद्ध व्यापारिक तथा धार्मिक केन्द्र रहा है। सम्भावना यह है कि इस प्रदेश में मानव-सभ्यता का पूर्वतम विकास हुआ। जिस प्रदेश को विनयपिटक में दक्षिण अवंति कहा है, सम्भवतः वह यही प्रदेश था। बुद्ध के जीवनकाल में यहाँ बौद्धधर्म का कुछ अधिक प्रचार नहीं हो सका, परन्तु आगे यहाँ प्रसिद्ध बाघ गुफाएँ बनी थीं।

अवन्ति

अनूप के उत्तर में अवन्ति जनपद है। किसी समय अवन्ति और आकर दो जनपदों का अस्तित्व था। आगे चलकर इन दोनों का एक सम्मिलित महाजनपद बना, जिसका नाम आकरावन्ति अथवा विशाला उज्जयिनी के प्रभाव के कारण अवन्ति रह गया। राजनैतिक, व्यापारिक और सांस्कृतिक दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जनपद था। अत्यंत प्राचीनकाल से अनेक राजपथ इस प्रदेश से गुजरते थे। भड़ोंच के बन्दरगाह से उज्जैन के रत्नों और वस्त्रों का व्यापार विदेशों से होता था। इसमें उज्जयिनी जैसे इतिहास-प्रसिद्ध नगर का प्रादुर्भाव हुआ था और आगे चलकर धारा तथा माण्डव नगरियाँ अस्तित्व में आईं।

दशार्ण

अपनी तीखी धार की तलवारों के लिए प्रसिद्ध दशार्ण, बौद्धों का दसण्ण महाजनपद इतिहास में अत्यन्त प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण रहा है। धसान (दशार्ण) नदी से सिंचित होने के कारण इसे दशार्ण नाम मिला था। कौटिल्य ने दशार्ण के हाथियों का उल्लेख किया है। बेतवा और उसकी सहायक नदियों से सिंचित यह प्रदेश गौरवशाली बुन्देलखण्ड का दक्षिणी भाग था। इसका प्रधान नगर विदिशा अत्यन्त प्राचीनकाल से भारत की महानतम परम्पराओं का केन्द्र रहा है। इसकी सीमाओं में तुम्बवन और मधुवन थे, जो सिन्ध और बेतवा के बीच में स्थित थे। तुम्बवन के केन्द्र में इसी नाम की

नगरी थी, जिसके स्थान पर आज तुमेन का कस्बा बसा हुआ है। मधुवन का क्षेत्र उत्तर में नलपुर (वर्त्तमान नरवर) तक फैला हुआ था, जिसको सिन्धु नदी की सहायक मधुमती (वर्त्तमान महुअर) सींचती थी। इसी मधुमती नदी के किनारे मध्यकाल में मधुमतेग शैव साधुओं की प्रभावशाली शाखा का उदय हुआ था। आज इस नदी की घाटी में वर्त्तमान करैरा परगना बसा हुआ है।

विदिशा के दक्षिण की ओर आज के भोपाल राज्य का उत्तरी अंश भी दशार्ण में ही सम्मिलित था। साँची तो विदिशा नगरी का ही अंश है, जहाँ नगर से कुछ दूर बौद्धों ने अपना महानतम केन्द्र स्थापित किया।

चेदि जनपद

दशार्ण के पूर्व में अत्यन्त प्राचीन चेदि महाजनपद है। इसका केन्द्र कभी वर्त्तमान चन्देरी रहा है। इस नगर का प्राचीन नाम संभवत: चेदि था। ग्रीकों ने इसे सन्द्रबतीस कहा है। चेदि जनपद के मुख्य नगर आगे चलकर कर्णावती (वर्त्तमान केन) के किनारे स्थित शक्तिमती और त्रिपुरी (वर्त्तमान तेवर) हुए। मध्यकाल में चेदि के अधिकांश भाग पर चन्देलों ने अपना राज्य स्थापित किया। इस जनपद का अधिकांश भाग आज मध्यप्रदेश राज्य में सम्मिलित है।

वत्स

वत्स महाजनपद का उल्लेख अत्यन्त प्राचीनकाल से मिलता है। वत्स-नरेश उदयन के समय इसकी सीमा पूर्व में प्रयाग तक थी। पश्चिम-दक्षिण में इससे मिला हुआ अवन्ति के चण्डप्रद्योत का राज्य था, जिसमें संभवत: दशार्ण भी सम्मिलित था और जहाँ के हाथियों ने उनके विग्रह और मिलन में भाग लिया। आगे चलकर वत्स की सीमा कुछ संकुचित हो गई। पश्चिम में बेतवा, मध्य में केन तथा पूर्व में सोन तक इसका विस्तार रहा। मध्यकाल के बुन्देलखण्ड का यह क्षेत्र हृदय था और खजुराहो, महोबा तथा कालिंजर इसके प्रमुख नगर थे। उत्तर में ग्वालियर तक इसके क्षेत्र का विस्तार था। वत्स का बहुत-सा भाग आज के विन्ध्यप्रदेश में सम्मिलित है और उसका कुछ अंश वर्त्तमान मध्यभारत में।

शूरसेन

मथुरा के आसपास के क्षेत्र को शूरसेन के नाम से पुकारा जाता था। मध्यदेश में यह प्रदेश भी सम्मिलित किया जाता है तथा यह समूचे मध्यदेश के इतिहास से संबद्ध रहा है। कालान्तर में हुई राजनैतिक उथल-पुथल और बाहर से आनेवाली शक्तियों द्वारा थानेश्वर तथा कन्नौज पर अधिकार कर लेने के बाद भी चम्बल नदी के बीहड़ और वहाँ के अधिवासी उन्हें आगे बढ़ने से रोक दिया करते थे। परिणामस्वरूप चम्बल नदी के दक्षिणी भाग इससे अलग होते गये। आज इस जनपद का अधिकांश भाग उत्तरप्रदेश में सम्मिलित है।

पद्मावती

भविष्यपुराण के एक प्रसंग से ज्ञात होता है कि मध्यदेश में पद्मावती नाम का भी एक जनपद था। इसका केन्द्र इतिहास-प्रख्यात पद्मावती नगर (वर्त्तमान पवाया) होगा

और उसमें आज के ग्वालियर, मुरैना जिलों के कुछ भाग तथा शिवपुरी जिले का अधिकांश भाग सम्मिलित रहा होगा।

भादानक या भदावर

यहाँ मध्यभारत के एक जनपद भदावर पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। आगे बोलियों के सम्बन्ध में विचार करते समय यह लिखा गया है कि भदावर जनपद में आजकल भदावरी बोली बोली जाती है। यह जनपद अत्यन्त प्राचीन है। महाभारत (सभापर्व, अध्याय ३२) में भादानक जनपद का उल्लेख आया है। राजशेखर ने भाषाओं के सम्बन्ध में लिखा है कि भादानक के वासी अपभ्रंश का प्रयोग करते हैं। भादानक का क्रम राजशेखर में मरुभूमि एवं टक्क के पश्चात् तथा अवन्ति, पारियात्र और दशपुर के पहले रखा है। इनमें से मरुभूमि निश्चय ही मारवाड़ प्रदेश है। टक्क पंजाब में माना गया है तथा अवन्ति उज्जैन का प्रदेश है ही। पारियात्र विन्ध्याचल का वह भाग कहलाता था जहाँ से बेतवा और चम्बल निकली हैं अर्थात् भोपाल के आसपास का प्रदेश। अतएव भादानक इन प्रदेशों के बीच में ही कहीं होना चाहिए। अभीतक भादानक की स्थिति निश्चय करते समय विद्वानों का ध्यान मध्यभारत के भदावर की ओर नहीं गया। मूल अपभ्रंश अर्थात् शौरसेनी क्षेत्र में यह भदावर अत्यन्त निकट है। अतएव निश्चय ही राजशेखर का तात्पर्य भादानक से वर्तमान भदावर जनपद से था। ग्वालियर और गोहद के बीच 'भादावना' नामक स्थान आज भी गंगादशहरे पर हजारों यात्रियों को आकर्षित करता है। यह भादानक का ही रूप है। इस भादानक अथवा भदावर के लड़ाके मध्यकाल में तुर्क सुल्तानों और मुगलों के लिए सदा शूल की भाँति चुभते रहे और इटावा, अटेर, हथकान्त, भदाखुर (जिसे फारसी के इतिहास लेखक राहुर लिखते हैं) तथा लहार में अनेक भीषण युद्ध हुए हैं। महाभारत और राजशेखर का भादानक निश्चय ही यह भदावर जनपद है।

जैन अनुश्रुति के जनपद

अशोक मौर्य का पोता सम्प्रति जैनधर्मावलम्बी था, ऐसा जैन अनुश्रुति का कथन है। उसने मध्यदेश, गुजरात, दक्षिण और मैसूर में अपनी शक्ति बढ़ाई। अनुश्रुति यह है कि उसने २५½ राज्यों अथवा भुक्तियों को जैनसाधुओं के लिए सुगम्य बना दिया[1]। इन राज्यों अथवा भुक्तियों की तालिका देना यहाँ उपयोगी नहीं है। मध्यदेश से सम्बन्धित इस तालिका में कुरु, जंगल, बच्छ (वत्स), मच्छ (मत्स्य), वर्णा, दशण्णा (दशार्ण), चेदि तथा सूरसेन यहाँ उल्लेखनीय हैं, जिनकी राजधानी क्रमशः गयपुर (हस्तिनापुर), अहिछत्ता (अहिछत्र), कोसम्बी, रॉड, अच्छा, मत्तियावई, सुत्तिवई (शुक्तिमती) और महुरा (मथुरा) बतलाई गई हैं। इसमें दशार्ण की राजधानी मत्तियावई अथवा मत्यकावती कहाँ थी, यह ज्ञात नहीं हो सका। 'अच्छा' का नाम-धाम भी ज्ञात नहीं है। वैराड को जैपुर के समीप "वैराट" से अभिन्न माना गया है। परन्तु, सम्भावना यह है कि वत्स राज्य की राजधानी जिला शिवपुरी के अन्तर्गत पोहरी-मोहना सड़क स्थित वैराट नामक ग्राम हो, जहाँ कुछ अत्यन्त प्राचीन अवशेष विद्यमान हैं।

---

१. जगदीशचन्द्र जैन : लाइफ इन एन्शण्ट इंडिया ऐज डिपिक्टेड इन जैन कॅनन्स पृष्ठ २५०।

उत्तरमध्यकालीन जनपद

अभीतक जिन महाजनपदों का उल्लेख किया गया है, वे अत्यन्त प्राचीन काल में अवस्थित थे। जैसे-जैसे राज्यों की सीमाएँ बदलती हैं, ये जनपद भी अपने नाम और सीमाएँ बदलते रहते हैं। बोलियों और रहन-सहन में भी किंचित परिवर्तन आ जाता है। वर्त्तमान मध्यभारत के जिलों और परगनों के सीमा-निर्धारण के पूर्व इनका क्या रूप रहा होगा इसका कुछ आभास उन बोलियों के नामों से मिल जाता है, जिनका उल्लेख आगे किया गया है। राज्य के दक्षिण-पश्चिम में राजस्थान के निकट राज्य का जो भूभाग है, उनमें बंजारी, गूजरी, हाड़ौती, जैपुरी, खिर्चीवाड़ी, मालवी, मारवाड़ी, मेवाड़ी, मेवाती, उम्मटवाड़ी, सिपारी और सोंधी आदि बोलियों का उल्लेख है। इनमें से कुछ बोलियाँ तो उन लोगों की हैं, जो इधर प्रवास करके आए हैं। ये बोलियाँ उन जनपदों की द्योतक हैं जहाँ इनने अपनी विशिष्टताएँ अर्जित कीं। उत्तर मध्यभारत में बोली जानेवाली भदावरी, बुन्देलखण्डी, डाँगी, जटवारी, कछवाही, सिकरवारी, तंवरघारी, हाड़ौती, पंचमहली आदि बोलियाँ निश्चित ही जनपदीय परम्पराओं की द्योतक हैं। इन जनपदों का अभी तक कोई वैज्ञानिक अनुसन्धान नहीं हुआ है।

वर्त्तमान जिले और परगने

जिस प्रकार शासकीय और राजनैतिक परिस्थितियों ने वर्त्तमान मध्यभारत को जन्म दिया है, उसी भाँति आज के मध्यभारत को दो खण्डों, सोलह जिलों और उन्यासी परगनों में विभाजित किया है। वैज्ञानिक विकास के युग में जब यातायात के साधन सुगम होते जारहे हैं तथा मुद्रण की सुविधाएं बढ़ती जारही हैं, स्थानीय विशेषताओं का विकास रुक जाना अवश्यंभावी है। जिस युग में समस्त विश्व को एक सूत्र में पिरोने की भावना जाग्रत हो चुकी हो, उसमें अब स्थानीय विशेषताएं अधिक पल्लवित न हो सकेंगी।

नगर

जनपदों और जानपदजनों के पराक्रम और परिश्रम सिमट-सिमटकर बड़े-बड़े नगरों में एकत्रित होते रहे हैं। प्रारम्भ के आर्यों के पुरन्दर तो पुरों को उध्वस्त करने के ही अभ्यासी थे, परन्तु फिर उनने इन पुरों-नगरों पर भी अपना आधिपत्य कर लिया। मध्य-देश के इस भूभाग मध्यभारत में अत्यन्त प्राचीनकाल से ही संस्कृति का विकास प्रारम्भ हो गया था, अतएव यहाँ भारत के अत्यन्त प्राचीन नगर नाम और रूप के कुछ परिवर्तनों के साथ आजतक विद्यमान हैं। इन प्राचीन नगरों में माहिष्मती, उज्जयिनी, विदिशा, दशपुर, पद्मावती, कान्तिपुरी, नलपुर तथा गोपाचल प्रधान हैं। इनमें माहिष्मती वर्त्तमान माहेश्वर है, उज्जयिनी अपने अनेक नाम धारण किये आज भी गौरवशाली है, विदिशा ने अनेक नाम बदलकर अब भेलसा नाम ग्रहण कर लिया है, दशपुर ने दसौर के पश्चात् अब मन्दसौर नाम धारण कर लिया, पद्मावती उध्वस्त होकर छोटे से पवाया या पवाँय नाम के ग्राम के रूप में शेष है, कान्तिपुरी की गौरव-गाथा मुरैना के कुतवार ग्राम में सीमित हो गई, नलपुर ने नरवर का रूप धारण कर लिया और गोपाचल ग्वालियर के नाम से अपनी छाती उठाए खड़ा है।

मध्यकाल के प्रारम्भ में ही कुछ और नगर महत्त्व पाने लगे। निमाड़ जिले में नेमावर

नामक नगर का उल्लेख अलबेरूनी ने ईसवी ग्यारहवीं शताब्दी में किया था। यहाँ पर अवन्ति के परमारों द्वारा बनवाया हुआ सिद्धेश्वर महादेव का मन्दिर है, जिससे ज्ञात होता है कि कभी यहाँ शैवधर्म का प्रभाव रहा होगा। इसी काल का ऊन नामक स्थान है। यह भी अवन्ति के परमारों के समय में ही विकसित हुआ था। यहाँ शैव और जैन मन्दिर बने हुए हैं। परमारों ने अपने शैवधर्म के अतिरिक्त जैनधर्म को भी विकास का पूर्ण अवसर दिया था। रतलाम और झाबुआ मध्यकाल में महत्त्वपूर्ण रहे।

मन्दसौर जिले में खोड़ और धमनार नामक दो मध्यकालीन नगरों का उल्लेख मिलता है। धमनार संभवतः और कुछ पुराना है, क्योंकि वहाँ बौद्धधर्म के अवशेष मिले हैं। धमनार गाँव का नाम धर्मनाथ के मन्दिर पर से पड़ा ज्ञात होता है। धार जिले में मध्यकाल में धारा नगरी और माण्डव ने महत्त्व पाया था। परमार अपनी राजधानी उज्जैन से हटाकर धारा नगरी ले गये थे तथा पठान सुल्तानों ने माण्डव को राजधानी का गौरव दिया था।

भेलसा जिला प्राचीन स्थलों से परिपूरित है। ईसवी आठवीं शताब्दी में ही ग्यारसपुर एक महत्त्वपूर्ण नगर था। वहाँ पर हिन्दू, जैन और बौद्ध तीनों ही धर्मों के अवशेष मिलते हैं। इस जिले में मध्यकाल में वटनगर (आजकल का बड़ोह) भी महत्त्वपूर्ण नगर था। आजकल वह बहुत छोटा-सा गाँव रह गया है। यहाँ हिन्दू और जैनधर्मों के अवशेष मिलते हैं तथा यह भी उल्लेख मिलता है कि यहाँ कभी किसी राष्ट्रकूट राजा परबल (ई० ८६६ में) का राज्य था। भेलसा से कुछ ही दूर उदयपुर नामक ग्राम है। यहाँ परमार वंश के प्रतापी राजा उदयादित्य ने सन् १०८० ईसवी (वैशाख सुदी ७, संवत् ११३७) को उदयेश्वर महादेव के मन्दिर का निर्माण पूरा कर उस पर ध्वजारोहण किया था, जो मध्यकाल के हिन्दू मन्दिरों की मुकुटमणि है। इस मन्दिर के एक शिलालेख से यह भी ज्ञात होता है कि उदयपुर नामक नगर की स्थापना उदयादित्य ने ही की थी और वहाँ उदयसागर नामक झील बनवाई थी।

गुना और शिवपुरी जिलों में मध्यभारत में अनेक नगर प्रसिद्ध हुए। इनमें से अधिकांश अपना गौरव खो चुके हैं और छोटे-छोटे ग्राम या कस्बे बन गये हैं। तेरही, शिवपुरी, रन्नोद, कदवाहा तथा सुरवाया मध्यकाल के प्रारम्भ से ही बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रहे हैं। जैसा हम पहले लिख चुके हैं, चन्देरी संभवतः बहुत प्राचीन नगरी है, तथापि मध्यकाल में तो यह निश्चित ही बहुत महत्त्वपूर्ण नगर था। करैरा को करणदेव परमार ने सन् १२५० ई० के लगभग बसाया था।

ग्वालियर, मुरैना और भिण्ड जिलों में मध्यकाल में अनेक नगरों को महत्त्व मिला था। नरेश्वर, अटेर, नूराबाद, कुतैथ, पनिहार कभी बहुत महत्त्वपूर्ण रहे हैं।

वर्तमान नगर

परन्तु यह सब तो बीती कहानी है। इन प्राचीन और मध्यकालीन नगरों के अवशेषों में हमारे इतिहास के पुनर्निर्माण की सामग्री बिखरी और दबी पड़ी है। वर्त्तमान और भावी मध्यभारत का स्वरूप-निर्माण अब आज के नगरों, कस्बों और ग्रामों के निवासियों द्वारा होगा।

मध्यभारत के जानपद जन

भारत का प्रतिरूप

भारत के हृदयस्थल पर विद्यमान मध्यभारत, भारत का ही प्रतिरूप है। जातियों और वर्गों की विविधता, संसार के अधिकांश धर्मों और मत-मतान्तरों की विभिन्न धर्म-साधनाएँ, अनेक बोलियाँ, रंग-बिरंगी विविध वेश-भूषाएँ और आचार-विचार तथा उन सब के भीतर प्राप्त मौलिक एकता भारत के समान मध्यभारत में भी परिलक्षित है। भौगोलिक दृष्टि से भी यहाँ अनेक प्रकार के जल-वायु प्राप्त होते हैं। कहीं विशाल गिर-श्रृंखलाएँ हैं तो कहीं हरे-भरे मैदान, कहीं गम्भीर वन हैं तो कहीं सघन बस्तियाँ, कहीं जल की बहुतायत है तो कहीं इन्द्रदेव की कृपणता मूर्तिमान होती है; किसी भूभाग की धरती बिना अधिक मानव श्रम कराए बहुत अधिक धन-धान्य दे देती है तो कहीं दिन-रात के कड़े परिश्रम के पश्चात् जीवन-यापन के आवश्यक साधन भी नहीं मिलते तथा कहीं कपास और गेहूँ जैसी मूल्यवान फसलें उत्पन्न की जाती हैं तो कहीं कोदों और समा भी कठिनाई से हाथ आता है। मालवे में यदि मंजुल मालविकाएँ "पग-पग रोटी मग-मग नीर" के गीत गाती हैं तो चौरासी[1] की ललनाएँ प्रकृति की कृपणता को उलहना देती हुई गाती सुनाई देती हैं:—

चौरासी जनम जिन देय रसिया
जा चौरासी को रैबौ बुरौ है, कोदिन की रोटी चमर बथुआ।

कहीं भिण्ड और मुरैना जिलों जैसी घनी आबादी है जहाँ एक-एक खेत की मेंड़ के लिए हत्याएँ तक हो जाती हैं तो कहीं भूमि को जोतनेवाले कम हैं; कहीं बड़े-बड़े व्यवसाइयों की आसमान की छाती पर धुँआ छोड़ती हुई मिलों की चिमनियाँ, बड़े-बड़े प्रासाद और अट्टालिकाएँ हैं तो कहीं टूटी झोपड़ियों का दृश्य है; कहीं अत्यन्त उद्धत स्वभाव के स्वाभिमानी लोगों की बस्ती है तो कहीं अत्यन्त दब्बू प्रकृति के समूह दिखाई देते हैं; कहीं के जन-समूह का रंग अत्यन्त श्याम है तो कहीं अत्यन्त गौरवर्ण के लोग हैं; कहीं अत्यन्त सुडौल आकृति के व्यक्ति हैं तो कहीं अत्यन्त कुडौल; कुछ लोग नीचे से ऊपर तक वस्त्रों से ढके रहते हैं तो कुछ नाममात्र को शरीर ढकते हैं और यदि कोई व्यक्ति उत्तर में अटेर से दक्षिण में सेंधवा तक तथा पश्चिम में भानपुरा से पूर्व में भेलसा तक पग-यात्रा करे तब उसे मध्यभारत के इस जन-जनार्दन में भारत के ही विश्वरूप के संक्षिप्त दर्शन होंगे, विविधताओं के बीच एक मौलिक एकता को लिए हुए।

---

१. शिवपुरी जिले में परगना करैरा और पिछोर का जलहीन मैदान।

मध्यभारत के निवासी

नृवंशशास्त्र की दृष्टि से मध्यभारत का अभीतक कोई विस्तृत अध्ययन हुआ हो ऐसा हमें ज्ञात नहीं। भारत के आज के जन-समूह की रचना जिन विभिन्न नृवंशों के आगमन और समागम से हुई है वे इतिहास के अत्यन्त धूमिल अतीत से यहाँ आते रहे हैं। विद्वानों का मत है कि नीग्रो, औष्ट्रिक, द्राविड, आर्य, यूनानी, यूची, शक, आभीर, हूण, मंगोल और (इस्लाम के प्रचार के पूर्व) तुर्क यहाँ आए, बसे और भारतीय समाज में घुल-मिल गये। इनमें से कुछ नृवंश आगे चलकर इस्लाम धर्म में दीक्षित होकर आए और वे भी यहाँ बस गये। सब से पीछे यूरोप के अंग्रेज, फ्रांसीसी, स्पेनी, डच आदि आए। इनमें से कुछ को छोड़कर लगभग सभी के वंशज आज मध्यभारत में मिलते हैं। इतनी शताब्दियों के आपसी विवाह सम्बन्धों और मेल-जोल के बाद वे अपने पुरातन रूप और विशेषताओं को पूरी तरह ज्यों की त्यों नहीं रख पाए हैं। परन्तु इनमें से अनेक नृवंशों के वंशज नृवंशशास्त्र के ज्ञाताओं द्वारा स्पष्ट पहचाने जा सकते हैं। भारत विभाजन के पश्चात् सिंध और पंजाब से आए हुए जन-समूह ने मध्यभारत की जनता के बहुरंगी-पन में वृद्धि ही की है। जिस प्रकार ऐसी विविधताओं के होते हुए भारत में मौलिक एकता है, एक राष्ट्र की भावना है, एक देश की कल्पना है और एक भारतीय संस्कृति का गर्व है, उसी प्रकार मध्यभारत में भी इन विविधताओं के बीच हमें मौलिक एकता के दर्शन होते हैं। "समन्वय अर्थात् विविधताओं के भीतर से एकता को जन्म देने का भाव भारत का स्वभाव रहा है। राष्ट्रीयता की भावना ने यूरोप को खण्ड-खण्ड कर दिया, किन्तु भारत में वही भावना विभिन्न प्रान्तों को परस्पर समीप लाने का कारण हुई। आज के समान, प्राचीनकाल में भी भारत में विभिन्न जातियाँ विद्यमान थीं, जिनकी अलग-अलग भाषाएँ थीं, अलग-अलग संस्कृतियाँ और धर्म थे, अलग-अलग रस्म-रिवाज और अलग-अलग सोचने के ढंग थे। किन्तु इन सारी विभिन्नताओं को भारत ने एक ही खरल में घोंट दिया और एक ऐसा रस तैयार कर दिया जिसमें सभी औषधियों का स्वाद तो है, किन्तु वह सब से भिन्न भी[1] है।" जो बात भारत के लिए सही है वह ज्यों की त्यों मध्यभारत पर भी लागू है। अनादिकाल से हमने अनेक जातियों के लोगों और अनेक प्रकार के विचारों के बीच समन्वय स्थापित किया है।

धर्म और सम्प्रदाय

मध्यभारत की जनसंख्या लगभग अस्सी लाख (७९,५४,१५४) है। इनमें अधि-कांश हिन्दू धर्म को माननेवाले हैं। जैन (१,०२,०३४), बौद्ध (२१९) और सिक्ख (१२,५२१) धर्मावलम्बी ऐसे सम्प्रदायों को मानते हैं, जिनका जन्म भारत में ही हुआ और जो हिन्दू धर्म से ही इसकी शाखाओं के रूप में फूट पड़े। इस्लाम धर्म के अनुयायी मुसलमान संख्या में ४,९६,१५३ हैं, परन्तु वे धार्मिक रूप से ही इस्लाम के अनुयायी हैं, उनमें से बहुत बड़ा अंश उन व्यक्तियों का है, जिनके पूर्वज इस्लाम के भारत में आगमन के पूर्व यहाँ के मूल निवासी थे और ६०,९४७ ईसाइयों में भी ऐसे ही व्यक्तियों की संख्या यहाँ अधिक है। लगभग एक हजार व्यक्ति पारसी और यहूदी हैं। पारसी लोग कभी

---

१. श्री रामधारीसिंह "दिनकर": संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ २२।

पारस से भारत में आए थे, इस कारण उनका पारसी नाम पड़ा। उनके धर्म का नाम वास्तव में जरथुस्त्री है, क्योंकि वे जरथुस्त्र द्वारा प्रवर्तित धर्म को मानते हैं। इनका धर्म वस्तुत: जरथुस्त्र द्वारा अहिंसक बनाया गया और ईरान की आर्यपूर्व असुर या द्राविड सभ्यता के सामंजस्य में लाया गया वैदिक धर्म का रूपान्तर है। "आर्य जब भारत में आ रहे थे तब उनकी एक शाखा ईरान में रह गई थी। इस शाखा के लोग भी भारतीय आर्यों के समान प्रकृति के दिव्य-तत्त्वों (सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा, वायु, जल आदि) की पूजा करते थे। किन्तु उन्हें यह ज्ञान था कि इन सभी दृश्य-तत्त्वों के परे कोई एक सूत्र और सर्वोच्च अदृश्य तत्त्व (ईश्वर) है, जिसे वे अहुर (असुर) कहते थे। अवेस्ता इस जाति का प्राचीनतम ग्रंथ है, जिसकी भाषा ऋग्वेद की भाषा से मिलती-जुलती है। ऋग्वेद में जिन उच्च गुणों का नाम 'ऋत' कहा गया है, उन गुणों के लिए अवेस्ता में 'अशा' शब्द का प्रयोग है। ऋतसम्पन्न व्यक्ति ही भारत में 'ऋषि' कहलाता है। अवेस्ता में अशा गुण से संवेत व्यक्ति को 'रतु' कहते थे, जो बहुत कुछ ऋषि शब्द का ही पर्याय था[१]।" वैदिक धर्म के मूलरूप और विकास को समझने के लिए अवेस्ता की गाथाओं के अध्ययन की अपरिहार्य आवश्यकता है।

भारत में धर्म के क्षेत्र में सदा ही अत्यधिक स्वतन्त्रता बरती जाती रही है और इसी कारण वह मत-मतान्तरों का बहुत बड़ा समूह है। उनके "छह दरसन" और "छयानवे पाखण्ड" प्राचीन काल से प्रसिद्ध हैं। महात्मा कबीर ने अपने समय की धर्म-साधनाओं का उल्लेख करते हुए लिखा है :—

आलम दुनी सबै फिरि खोजी, हरि बिन सकल अयाना।
छह दरसन छयानवे पाखंड, आकुल किनहुँ न जाना॥[२]

ये छह दरसन वे षड्दर्शन नहीं हैं, जिनमें सिद्धान्तों का सूक्ष्म विवेचन किया गया, वरन् वे हैं, जिनका उल्लेख रामरहसदास ने किया:—

जोगी, जंगम, शेवड़ा, सन्यासी, दरवेश।
छठवाँ कहिये ब्राह्मणहि, छौ घर छौ उपदेश॥[३]

यहाँ जोगी से तात्पर्य, नाथ-पंथ से है, जंगम से शैव सम्प्रदाय, शेवड़ा से जैन धर्म, सन्यासी से बौद्ध धर्म, दरवेश से इस्लाम एवं ब्राह्मण से हिन्दू धर्म का तात्पर्य है।

छयानवे पाखण्डों का भी स्पष्टीकरण कबीर ने किया:—

दस संन्यासी बारह योगी, चौदह शेख बखान।
अठार ब्राह्मण अठारह जंगम, चुविश शेवड़ा जान॥[४]

भारत की धार्मिक स्वतन्त्रता देने की मौलिक प्रवृत्ति के कारण कबीर के पश्चात् यह संख्या बढ़ी ही है, कम नहीं हुई। वर्ष के बारह महीनों में हमें अनेक धर्मों और

१. रामधारीसिंह "दिनकर" : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ३२।
२. "कबीर ग्रंथावली" : पद ३४, पृष्ठ ९९।
३. "बीजक" (पृष्ठ ९१ पर उद्धृत)।
४. "बीजक" (पृष्ठ ९ पर उद्धृत)।





भारत का ईसवी तीसरी-चौथी शताब्दी का नागरिक
(बाघ गुहा से)

ऊपर—
के पास रामेश्वर तीर्थ के मेले में
सहरिया महिलाएँ

मध्यभारत की ईसवी तीसरी-चौथी
शताब्दी का निवासी
(बाघ गुहा से)



प्राचीन युग की परम्परा का अवशेष मध्यभारतीय भील



सम्प्रदायों के सतरंगी त्यौहार देखने को मिलते हैं। कहीं फूलडोल की रथ-यात्रा होती है, कहीं तीर्थंकरों के जुलूस निकलते हैं, कहीं रमजान में ताजियों की धूमधाम होती है, कहीं साधु-सन्तों की जमातें दिखाई देती हैं, कहीं कथा-मीलाद होती हैं और कहीं गाँव के बाहर ग्राम-देवता के विभिन्न रूपों और नामों से कुछ प्रस्तर-खण्डों पर श्रद्धा के फूल चढ़ाए जाते हैं!

इन विविधताओं के बीच भी एक मौलिक एकता है और है कालचक्र की निरन्तर चलनेवाली रथ-यात्रा के साथ निकट से निकटतर आने का प्रयास। आज धर्म-सम्प्रदाय व्यक्तिगत और वर्गगत साधनाओं के उपक्रममात्र हैं। २४ नवम्बर सन् १९४९ की शुभ बेला में जब मध्यभारत की अन्तरिम धारासभा ने भारतीय संविधान को अंगीकृत किया और २६ जनवरी १९५० को जब यह संविधान प्रभावशील हुआ, उस दिन से भारत के धार्मिक क्षेत्र में एक नवीन अध्याय प्रारम्भ हुआ। जिस धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर अनेक युद्ध लड़े गये थे, असंख्य नर-हत्याएँ हुई थीं, अवर्णनीय अत्याचार हुए थे और अत्यधिक कटुता उत्पन्न की गई थी, उनका राज्यतन्त्र में स्थान न रहा, उन्हें केवल व्यक्तिगत विश्वास का विषय बना दिया गया और संविधान ने उद्घोषणा की "राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान, अथवा इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा[1]"।

भाषाएँ और बोलियाँ

मध्यभारत हिन्दीभाषी राज्य है। कदाचित् ही कोई ऐसा नागरिक हो, जो हिन्दी बोल या समझ न सकता हो। जनगणना[2] में लोगों द्वारा लिखाई गई बोलियों पर एक दृष्टि डाली जाए तो हमारे वर्त्तमान समाज-संगठन के निर्माण में जिन अन्तर्धाराओं ने कार्य किया है उन पर बोधक प्रकाश पड़ता है। प्राग्वैदिककाल से आजतक जन-समूहों के सैनिक, व्यापारी अथवा किसी रूप में यहाँ प्रवाहित होते रहने का इतिहास इनके निरीक्षण से सामने आ जाता है। उक्त जन-गणना में (१) पश्चिमी हिन्दी, (२) पूर्वी हिन्दी, (३) उर्दू, (४) राजस्थानी, (५) भीली, (६) गुजराती, (७) सिंधी, (८) मराठी, (९) कोंकणी, (१०) बंगाली, (११) बिहारी, (१२) उड़िया, (१३) पंजाबी, (१४) पहाड़ी, (१५) नैपाली, (१६) कंजड़ो, (१७) काश्मीरी, (१८) तमिल, (१९) मलयालम, (२०) कन्नड़, (२१) तेलगू, (२२) गोंडी, (२३) बरगंडी, (२४) डूंगरी, (२५) पर्धी, (२६) बागरी, (२७) असमी, (२८) संस्कृत, (२९) गोआनी, (३०) मर्घी, (३१) कालबेली, (३२) पाली, (३३) कोर्कू, (३४) पश्तो, (३५) चीनी, (३६) फारसी, (३७) पुर्तगाली, (३८) अंग्रेजी, (३९) अरबी, (४०) बलुची, (४१) फ्रेञ्च, (४२) हिन्देशियाई, (४३) डच, (४४) जरमन, (४५) ग्रीक, (४६) बर्मी, (४७) जापानी, (४८) ज़ेक तथा (४९) स्पेनी को लोगों ने अपनी मातृभाषा लिखाया था।

---

१. भारत का संविधान : अनुच्छेद १५।

२. यहाँ तथा आगे सभी अंक सन् १९५१ की जनगणना से लिये गये हैं।

इनमें से भी **पश्चिमी हिन्दी** के ही ग्यारह उप-भेद--अन्तर्वेदी, भदावरी, ब्रज, बुन्देलखण्डी, डांगी, हिन्दी, हिन्दुस्तानी, जटवारी, कछवाही, सिकरवारी तथा तँवर-घारी--दिखाए गये हैं।

पूर्वी हिन्दी के दो उप-भेद अवधी तथा एक अनाम वर्ग लिखाए गये।

राजस्थानी के बनजारी, गूजरी, हाड़ौती, जैपुरी, खीचीवाड़ी, मालवी, मारवाड़ी-मेवाड़ी, मेवाती, उमटवाड़ी, निमाड़ी, राजस्थानी, सिपारी तथा सोंधी नामक चौदह उप-भेदों की गणना की गई है। **भीली** के भी भीली और भिलाली दो भेद लिखाए गये।

गुजराती के भी गुजराती और काठियावाड़ी दो उप-भेद पाए गये। **सिन्धी में** सिन्धी और कच्छी दो विभेद लोगों ने लिखाए। **बिहारी** के बिहारी और मैथिली दो विभेद माने गये। **पहाड़ी** के पहाड़ी, गढ़वाली, कुमाऊनी तीन उप-भेद लिखे गये हैं।

इस प्रकार लगभग ८० भाषाएँ और बोलियों को स्वयं यहाँ के नागरिकों ने अपनी मातृभाषाएँ लिखाया है। वास्तव में ये भाषाएँ और बोलियाँ विभिन्न जनपद अथवा उन नागरिकों के मूलस्थान की द्योतकमात्र हैं और ये हमारे वर्तमान समाज के ऐतिहासिक ताने-बाने पर प्रकाश डालती हैं। इन भाषाओं के नामों पर दृष्टि डालने मात्र से यह प्रकट होगा कि कुछ तो अकारण गढ़े गये उप-भेद हैं। जिन्हें मूल भाषाएँ माना है, उनमें से अनेक एक ही भाषा की विभिन्न बोलियाँ हैं, पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी, उर्दू आदि हिन्दी की ही बोलियाँ हैं। परन्तु यह सब भाषा विज्ञान का विषय है और यहाँ तो हमें केवल यह देखना है कि ये विभिन्नताएँ और ऊपर से दिखनेवाली असमानताएँ अस्तित्व में आई कैसे और वे कौन से संयोजक तत्त्व हैं जो हमें इनकी विद्यमानता में भी एकता के सूत्र में बाँधे हुए हैं। जायसी ने पक्षियों के विषय में उक्ति की है, "अपनी-अपनी बोली लेइँ दई को नाँउ"। इतनी विभिन्न मातृभाषाओं के लोग आज राज्यभाषा हिन्दी और हिन्द-राष्ट्र तथा मध्यभारत के नव-जागरण का गान गाते हैं। क्यों और कैसे, यह जानने का प्रयत्न मध्यभारत के इतिहास का उद्देश्य है।

सामासिक संस्कृतिसंगम का मूलमंत्र

अनेक नृवंशों की लीला-भूमि, अनेक धर्मों और सम्प्रदायों की धात्री तथा अनेक भाषाओं और बोलियों को प्रश्रय देनेवाली यह भारत-भूमि एक सामासिक भारतीय संस्कृति का निर्माण किस प्रकार कर सकी इसका मूलमंत्र हमें वैदिक भार्गवों की उदात्त लोककल्याणकारी भावनाओं में मिलता है। इसी भार्गवपरम्परा में मार्कण्डेय मुनि हुए थे।[1] उनकी आस्था का प्रतिपादन करनेवाला मार्कण्डेयपुराण अपने इन विविध वर्गों की मंगल-कामना करता हुआ कहता है, "सभी प्राणी आनन्द करें तथा जंगल में भी एक-दूसरे से प्रेम करें। सभी प्राणियों का कल्याण हो तथा सभी निर्भय रहें। किसी को किसी भी प्रकार की शारीरिक या मानसिक पीड़ा न हो। सभी जीवों की सभी जीवों से मित्रता बढ़े। द्विजातियों का मंगल हो तथा सभी आपस में प्रेम करें। चारों वर्णों के धन-धान्य की वृद्धि हो, कामों में सिद्धि हो। हम लोगों की मति ऐसी हो कि संसार में

---

१. भागवत १२।९।१।

जितने प्राणी हैं, वे सभी सुखी हों तथा जिस प्रकार मेरा और मेरे पुत्र का कल्याण हो, उसी प्रकार सारे संसार के कल्याण में मेरी बुद्धि लगी रहे। यह हमारे लिए अत्यन्त हितकारक है। यदि ऐसा सोचें तो भला कौन किसको हानि पहुँचा सकता है। यदि कोई मूर्ख किसी की बुराई कर भी दे तो उसी के अनुसार वह उसका फल भी पा लेता है। अतः हे सद्बुद्धिवाले सज्जन, आप ऐसा सोचें कि मुझ से किसी प्रकार का सांसारिक पाप न हो। जो मुझ से प्रेम करे उसका संसार में कल्याण हो तथा जो मुझ से द्वेष करे, उसका भी सर्वत्र मंगल हो[1]।"

सब की मंगल-कामना का और सब के कल्याण में बुद्धि लगाने का यह महान आदर्श आगे चलकर जैन और बौद्ध धर्मों के द्वारा प्रतिपादित अहिंसा में दिखाई दिया। जैन धर्म के अनेकान्तवाद और स्याद्वाद में यह पूर्णतः प्रस्फुटित हुआ। इनके अनुसार केवल रक्तपात करना, कटु वचन कहना, अथवा दूसरों का अनिष्ट सोचना ही हिंसा नहीं है, प्रत्युत जब हम यह आग्रह कर बैठते हैं कि जो कुछ हम कह रहे हैं वही सत्य है, तब भी हम हिंसा ही करते हैं। यही भावना हमें अशोक, गुप्त सम्राटों, हर्षवर्द्धन तथा परवर्त्ती राजपुरुषों में दिखाई दी। वे स्वयं एक धर्म के अनुयायी थे, परन्तु उनके समय में उनके द्वारा ही सभी धर्मों को प्रश्रय मिला और वे फले-फूले। हमारी यह सब की मंगल-कामना हमारा सब से बड़ा बल बना। इसी के सहारे हम ने इन विविधताओं के होते हुए भी अपनी सामासिक संस्कृति का निर्माण किया। आज भी भारत के पास विश्व को देने के लिए केवल यही समन्वय और सर्वमंगल-कामना का सन्देश है। श्री 'दिनकर' ने ठीक ही लिखा है "विश्व की भावी एकता की भूमिका भारत की सामासिक संस्कृति में है। जैसे भारत ने, किसी भी धर्म का दलन किये बिना अपने यहाँ धार्मिक एकता स्थापित की, जैसे भारत ने किसी भी जाति की विशेषता को नष्ट किये बिना सभी जातियों को एक सांस्कृतिक सूत्र में आबद्ध किया, जैसे भारत ने किसी की गरिमा घटाए बिना संस्कृत को अपनी राष्ट्रीय संस्कृति की भाषा बनाकर देश की भाषागत कठिनाइयों का समाधान किया, कुछ उसी प्रकार, हम संसार के सभी देशों, सभी जातियों एवं सभी विचारों के बीच एकता स्थापित कर सकते हैं। बड़े पैमाने पर जैसी समस्या आज विश्ववादियों के सामने खड़ी है, छोटे पैमाने पर कुछ वैसी ही समस्या थी, जिसका समाधान भारतवर्ष ने निकाला था[2]।"

---

१. मार्कण्डेयपुराण : ११७।१३-२०।

२. रामधारीसिंह "दिनकर" : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ १।

मध्यभारत का इतिहास

इन पर्वत-श्रेणियों, मैदानों, पठारों पर, इन विपुलोदका पुण्यसलिला नदियों के किनारे, नाना प्रकार के वृक्ष, लता, गुल्म तथा पशु-पक्षियों से पूरित वनों में, विविध जन-पदों में छोटे-छोटे ग्रामों और धवल-धौत हर्म्यों से सुशोभित पुरों और नगरों में इस प्रदेश की युगयुगान्तर से प्रवहमान मानव-पीढ़ियों ने जो पराक्रम किये, दर्शन और सम्प्रदायों के विवेचन तथा रूप-निरूपण किये, साहित्य के क्षेत्र में जो प्रगति की, स्थापत्य, तक्षण, चित्रकला और संगीत-नृत्य के विकास में जो योग दिया तथा मानव-जीवन को सुखद-सुखकर और सम्पन्न बनाने के लिए जो उपक्रम किये, साथ ही भारत की सामासिक संस्कृति के निर्माण में जो सहयोग दिये और ऐसा करने में उनसे जो भूलें हुईं उसका वर्णन ही मध्यभारत का यह इतिहास है। भारत संघ के एक नव-जागरित घटक की यह मूर्तकल्पना है, जिसकी सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परम्परा उतनी ही प्राचीन तथा उतनी ही गौरवशाली है जितनी भारत की, और जिसने भारत की समन्वित संस्कृति के अमृत के निर्माण में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंशदान दिया है।

नर्मदा और चम्बल की प्राग्वैदिक सभ्यता

(ई० पू० ५००,००० से ई० पू० २५०० तक)

नर्मदा और चम्बल की प्राग्वैदिक सभ्यता

नाम और काल-विभाजन

आज अपने देश और प्रदेश की जिस विविधतापूर्ण संस्कृति के विशाल प्रासाद की भव्यता का अनुराग हमारे स्नायुओं को स्फुरण देता है, उसकी नींव का सबसे पहला पत्थर वह पूर्व पाषाण-युग का मानव था, जिसकी केवल स्मृति-मात्र इस काल के अवशेषों में रह गयी है और उसके पश्चात् वैदिक आर्यों के आगमन तक विविध मानववंशों ने उस अट्टालिका का निर्माण किया, जिस पर आगे गौरवशाली वैदिक संस्कृति का इन्द्र-ध्वज सुशोभित हुआ। प्रस्तुत अध्याय में वैदिक आर्यों के आगमन से पहले हमारे प्रदेश का सर्वांगीण निर्माण करनेवाले इन नृवंशों की कहानी कही गयी है, जिसकी पूर्वतम सीमा हमारे प्रदेश में प्राप्त प्राचीनतम पत्थर के औजारों का लगभग ५ लाख ईसा पूर्व[1] का समय तथा उत्तर सीमा आर्यों के भारत-प्रवेश का लगभग २५०० ई० पूर्व का समय[2] है।

नर्मदा और चंबल की प्राचीन सभ्यताएँ

भारतीय इतिहास में इन युगों को पाषाण-युग और द्राविड-युग कहा गया है। पाषाण-युग के अन्तर्गत पूर्व पाषाण-युग के नृवंश, नीग्रो से मिलते-जुलते मध्य पाषाण-युग के नृवंश तथा उत्तर पाषाण-युग के निषाद (दक्षिण-पूर्व से आनेवाले आग्नेय) नृवंश के इतिहास का विवेचन किया गया है। इन पाषाण-युग के नृवंशों की संस्कृति के अवशेष मध्यभारत में विशेषतः नर्मदा-घाटी में प्राप्त हुए हैं, अतएव हमने इनकी सभ्यता को नर्मदा-घाटी की सभ्यता कहा है।

द्राविडों की अत्यन्त विकसित सभ्यता के अवशेष भारत के बहुत बड़े भू-भाग में मिले हैं। प्रारम्भ में इनके नगरों के अवशेष सिन्ध में मुहें-जो-डेरो तथा पंजाब में हड़प्पा पर मिले थे। इस कारण भारत के इतिहासों में इस काल को सिन्धु-घाटी की सभ्यता कहा गया है। जैसा आगे निर्देश किया गया है, अभी हाल की खुदाइयों ने यह सिद्ध कर दिया है कि यह संस्कृति चम्बल की घाटी में तथा पूर्व में गंगा के किनारे कन्नौज तक फैली हुई थी। इस कारण हमने इस काल के इतिहास को, मध्यभारत सापेक्ष "चम्बल-घाटी की सभ्यता" नाम दिया है।

जिस युग की कहानी इस अध्याय में कही गयी है, उसमें एक के बाद एक तीन नृवंश ऐसे थे, जो पत्थर के औजार प्रयुक्त करते थे और उनकी संस्कृति अपने से आगे आनेवाले

---

१. बी० बी० लाल : आर्कलॉजी इन इण्डिया, पृष्ठ १८।

२. हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि इण्डियन पीपल, खण्ड १, पृष्ठ २०४।

नृवंशों की सभ्यता को आधारभूमि देकर उसमें विलीन होती गयी। उनके विकास का एक क्रम रहा है और उसके अनुसार पत्थर के औजारों के प्रयोग के युग की संस्कृति का पूर्व पाषाण-युग, मध्य पाषाण-युग और उत्तर पाषाण-युग, ये तीन भाग करके वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् धातु के औजारों के, बड़े-बड़े नगरों के और अत्यन्त उन्नत संस्कृति के अवशेष मिलते हैं, जिनके निर्माताओं को द्राविड कहा जाता है। इस द्राविड संस्कृति ने हमारे प्रदेश में विकास के अत्यन्त उच्च शिखरों का स्पर्श किया और अपने पश्चात् के भारतवर्ष की अनेक गौरवशाली परम्पराओं और विशेषताओं का निर्माण किया। अवशेषों की दृष्टि से इस संस्कृति के काल को धातु-युग कहा जाता है।

पूर्व पाषाण-युग

नाम और कालसीमा

इस युग के प्राप्त अवशेष पाषाण के हैं, वे मध्य और उत्तर पाषाण-युग के औजार और शस्त्रास्त्रों की अपेक्षा निर्माण-कौशल की प्रारम्भिक अवस्था के द्योतक हैं और सबसे पहले के भी हैं। इन विशेषताओं का द्योतन करने के लिए इस युग को पूर्व पाषाण-युग कहा जाता है। इसका समय लगभग ५ लाख ई० पूर्व है।

पुरातत्व की प्राप्त सामग्री

इस पूर्व पाषाण-युग के मानव के औजार और हथियारों के अवशेष मध्यभारत के बाहर मद्रास, मैसूर, हैदराबाद, बम्बई, गुजरात, जयपुर, बूँदी, इन्दरगढ़, पश्चिमी पंजाब, काश्मीर, उड़ीसा तथा बिहार में मिलते हैं। मध्यभारत में इनके अवशेष इसी तारतम्य में नर्मदा-घाटी में तथा उसके उत्तर के भूभाग में प्रचुरता से प्राप्त होते हैं[1]। इन्हें इतिहास में नर्मदा-घाटी की संस्कृति के अवशेष कहा जाता है। नर्मदा के उत्तर में ये औजार हुशंगाबाद और नरसिंहपुर के बीच भुतरा[2] में, सागर, दमोह, रीवाँ तथा बुन्देलखण्ड के क्षेत्रों[3] में मिले हैं और ये बिल्लौर पत्थर, बलुआ पत्थर तथा सोपानाश्म (ट्रैप) तीनों प्रकार के पत्थरों के बने हुए इस प्रदेश में प्राप्त हुए हैं[4]।

---

१. आर० ब्रूस फूट : दि फूट कलेक्शन ऑफ इण्डियन प्रिहिस्टोरिक एण्ड हिस्टोरिक एण्टीक्विटीज, नोट्स ऑन देयर एजेज एण्ड डिस्ट्रीब्यूशन (मद्रास, १९१६) तथा कॅटलॉग रेसोने (मद्रास, १९१४); जे० कागिन ब्राउन : कॅटलॉग ऑफ प्रिहिस्टोरिक एण्टीक्विटीज इन दि इण्डियन म्यूजियम (शिमला, १९१७); जर्नल ऑफ रॉयल एशियॅटिक सोसाइटी, बंगाल, १० (१९४४) में पृष्ठ ८१-९८ पर एस० एन० चक्रवर्ती: एन आउट लाइन ऑफ स्टोन एज इन इण्डिया; एन्शण्ट इण्डिया, अंक ३ (जनवरी १९४७) में पृष्ठ ११-३७ पर बी० डी० कृष्णस्वामी : स्टोन एज इन इण्डिया; इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, २४ मार्च १९४८, अंक १, पृष्ठ १-१८ पर ए० घोष : प्रिहिस्टोरिक एक्स्प्लोरेशन्स इन इण्डिया।

२. डिटेरा और पेटरसन : स्टडीज इन दि आइस एज इन इण्डिया एण्ड एसोशिएटेड ह्यूमन कल्चर्स (वाशिंगटन, १९३९) पृष्ठ ३१३ तथा रिकॉर्ड्स ऑफ जिऑलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, १ (१८६८) पृष्ठ ६५।

३. जे० कॉगिन ब्राउन : कॅटलॉग ऑफ प्रिहिस्टोरिक एण्टीक्विटीज इन दि इण्डियन म्यूजियम ऑफ कलकत्ता।

४. एच० डी० संकलिया : हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि इण्डियन पीपल, खण्ड १, पृष्ठ १२८।

इन औजारों की गढ़न अपरिष्कृत शिल्प प्रदर्शित करती है, आकार पीछे के काल के मिले औजारों से बड़ा है और उपयोग की दृष्टि से फरसा, बाण के फल, भाला, कुदाली, फेंकने के बड़े गोल पत्थर, काटने के औजार, छुरियाँ, छीलने के औजार, पत्थर की मिगी के औजार, हथौड़े और सम्भवतः चकमक पत्थर के रूप में हैं[1]। इस समय हड्डी के औजारों का प्रयोग भी होता था अथवा इन पत्थर के औजारों में लकड़ी के बेंट लगाए जाते थे या नहीं, इस सम्बन्ध में दृढ़ आधार पर कुछ नहीं कहा जा सकता, कारण कि लाखों वर्ष पश्चात् इन विनाशशील वस्तुओं के अवशेष प्राप्त होना सम्भव नहीं है। इन अवशेषों में भुतरा से प्राप्त औजार अधिक महत्त्वपूर्ण हैं; क्योंकि उनके द्वारा इस युग का काल-निर्णय किया जासका है।

इस काल के घोड़ा, भैंस, सीधी खीसोंवाले हाथी और समुद्री घोड़ों के शिला-भूत अवशेष भी मिले हैं, जो सभी स्तनपायी हैं। अबतक की शोधों में इस काल के मानवों की अस्थियों के अथवा वनस्पतियों के अवशेष कहीं भी नहीं मिले हैं। केवल अतिरपक्कम में एक अस्थि-खण्ड मिला है, जिसे मनुष्य के पैर की अस्थि कहा जाता है, और वह भी सन्देहास्पद है[3]। इस कारण नृवंश-शास्त्र के अनुसार यह अनुमान करना शक्य नहीं है कि इस प्रदेश का इस युग का मानव संसार की वर्त्तमान जातियों में से किस की आकृति का था।

पूर्व पाषाण संस्कृति

इस काल के अवशेष बहुधा नदी-प्रवाह के पत्थरों में, उनके तीरों के कगारों में तथा कंदराओं के समीप मिले हैं, अतः अनुमान किया जाता है कि इस युग का मनुष्य नदी-तीरों पर अथवा झरनों का पानी समीप ही सुलभ होने की दशा में कन्दराओं में निवास करता था। औजारों की आकृति एवं उनके सम्भाव्य उपयोग से अनुमान यह किया गया है कि वह नदी-तीर पर आनेवाले जीवों की मृगया करके अथवा फल फूल प्राप्त करके निर्वाह करता था[4]। इस काल के मानव के अवशेष सिन्धु-गंगा के मैदानों में नहीं मिलते[5]। ज्ञात यह होता है कि उस सुदूर भूतकाल में कदाचित इस प्रदेश की धरातलीय स्थिति मानव-निवास के अनुकूल न रही होगी। पूर्व पाषाण-युग का यह मानव मैसूर[6] से काश्मीर[7] तक सम्पूर्ण भारत में फैला था; परन्तु इसके सामाजिक जीवन की कोई झाँकी प्राप्त नहीं होती। उसके कार्य-कलापों के सम्बन्ध में केवल

१. वी० रंगाचार्य : प्रि मुसलमान इण्डिया, खण्ड १, पृष्ठ ४८।
२. रिकॉर्डस ऑफ दि जिऑलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, १ (१८६८), पृष्ठ ६५ तथा एच० डी० संकलिया, पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ १२५।
३. आर० ब्रूस फूट : पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ ८।
४. बी० बी० लाल : पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ १८।
५. संकलिया : पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ १३१।
६. फूट : पूर्वनिर्देशित।
७. डीटेरा पेटर्सन : पूर्वनिर्देशित।

यही कहा जा सकता है कि वह पशु-पालन या खेती से खाद्य उत्पन्न नहीं करता था, उपर्युक्त प्रकार से भोजन प्राप्त करता था तथा उसके लिए पत्थर के औजारों का प्रयोग करता था, जो पीछे के काल के प्राप्त औजारों की तुलना में बड़े, भोंथरे और निर्माण में अकुशलता के द्योतक थे। कालक्रम की दृष्टि से इन औजारों का मध्य पाषाण-युग के औजारों से तारतम्य का सम्बन्ध भी स्थापित नहीं होता। डीटेरा का अपुष्ट मत है कि भारतवर्ष का यह आदि मानव दक्षिण भारत में उत्पन्न हुआ और मध्यदेश से होता हुआ प्रथम हिमानी-युग की समाप्ति पर पंजाब की ओर गया, जहाँ उसके जीवन से सम्बद्ध ये औजार सोन-घाटी में इसी युग के प्राप्त होते हैं। मध्यभारत बलुआ पत्थर का क्षेत्र होने पर भी यहाँ गुजरात एवं राजपूताने के बिल्लौर के तथा दक्षिण के सोपानाश्म (ट्रैप) के औजार भी मिलते हैं[1]। इससे प्रतीत होता है कि यह प्रदेश भारत के विभिन्न अंचलों में विकसित इस आदिम संस्कृति का संगम-स्थल रहा है। वर्त्तमान उपलब्धियों के आधार पर इस काल के सम्बन्ध में इससे अधिक कहना इतिहासबाह्य होगा कि इस काल का नृवंश सम्भवतः पृथ्वी की धरातल निर्माण की अस्थिर आरम्भिक अवस्था में उत्पन्न हुआ, किसी विनाशक भूस्तरीय परिवर्तन में अचानक समाप्त हो गया और निसर्ग की निष्ठुरता के विरुद्ध संघर्ष में अपने मूक बलिदान का, मानव के मृदु संसर्ग का वह अमूर्त्त आभास यहाँ के वातावरण में छोड़ गया, जिसने दीर्घ व्यवधान के पश्चात् चरणनिक्षेप करनेवाले नृवंशों को आजतक का अविश्रृंखल जीवनक्रम दिया।

---

१. बी० बी० लाल : पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ २२।

मध्य पाषाण-युग

नाम और कालसीमा

मध्ययुग से आज जो अर्थ लिया जाता है, उसमें निहित कल्पना का मध्य पाषाण-युग संज्ञा से सम्बन्ध नहीं है। पूर्व पाषाण-युग से तारतम्य का सम्बन्ध न होने के कारण यह उस काल की सांस्कृतिक प्रवृत्ति के ह्रास अथवा विकास का द्योतक भी नहीं है। यह एक स्वतन्त्र संस्कृति का काल है, जिसे अवशेषों के कालक्रम में मध्यवर्ती होने के कारण ही यह नाम प्राप्त हुआ है। पूर्व पाषाण-युग की अपेक्षा छोटे और सुघटित औजारों का प्रयोग, अवशेषों में मिट्टी के बर्त्तन न मिलना तथा उत्तर पाषाण-युग की ओर प्रवृत्ति, इस युग की विशेषताएँ हैं।

हमारे प्रदेश में इस प्रवृत्ति के अवशेष ऐसे भू-स्तरों में नहीं मिले हैं, जिनसे इनका काल निश्चित किया जा सके, इस कारण इस संस्कृति के काल की सीमारेखाएँ निश्चित नहीं की जा सकतीं। केवल यही कहा जा सकता है कि आगे निर्देशित उत्तर पाषाण-युग के मानव की खाद्य-उत्पादन की प्रवृत्ति की पूर्वतम कालसीमा ७००० ई० पू० मानी जाती है[1], अतः उसे प्रस्तुत काल की उत्तर सीमा माना जाना युक्तिसंगत है। पहले के आधार प्राप्त न होने से, आदि काल के मानव के सांस्कृतिक विकास का क्रम बहुत मन्द रहा होगा। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि उसे उस स्तर पर पहुँचने में, जब वह पशु-पालन या खेती द्वारा भोजन उत्पन्न करने लगा, हजारों वर्ष लगे होंगे, अतः मध्य पाषाण-युग की संस्कृति का प्रारम्भ उपर्युक्त ७००० ई० पू० से बहुत पहले हुआ होगा।

पुरातत्त्व की सामग्री

मध्य पाषाण-युग के ये छोटे पत्थर के औजार और हथियार वस्तुतः सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्राप्त हुए हैं[2]। तिनेवल्ली, हैदराबाद राज्य, गुजरात, काठियावाड़, छोटा नागपुर, कच्छ तथा पंजाब के साथ-साथ हमारे प्रदेश की नर्मदा-घाटी और विन्ध्याचल के क्षेत्रों में[3] कुछ स्थानों को छोड़कर ये बहुधा धरती के ऊपरी स्तर पर मिले हैं।

---

१. बी० बी० लाल : पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ १७।

२. मॅन, ३८ (फरवरी १९३८), संख्या १९, पृष्ठ २१-२४ पर डी० एच० गॉर्डन : दि मेसोलिथिक इण्डस्ट्रीज ऑफ इण्डिया; फूट : पूर्वनिर्देशित (१९१६), पृष्ठ ५०।

३. जर्नल ऑव दि रॉयल एन्थ्रॉपॉलॉजिकल इन्स्टीटयूट ऑफ दि ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयलॅण्ड, ६९ (१९३९), पृष्ठ २७० पर के० आर० यू० टाड: पॅलिओलिथिक इण्डस्ट्रीज ऑफ बॉम्बे; एच० डी० संकलिया : इन्वेस्टिगेशन्स इन टू प्रिहिस्टोरिक ऑर्कलॉजी इन गुजरात (बड़ौदा, १९४६); जर्नल ऑफ दी रॉयल एशियॅटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, लेटर्स, कलकत्ता, ७, पृष्ठ १२९ पर गार्डन; डीटेरा : पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ २७७।

पँचमढ़ी के महादेवपहाड़ में[1] की गयी खोजों के प्रारम्भ के कुछ इंचों तक मिट्टी के बर्त्तन मिले हैं और इस पर से इन्हें उत्तर पाषाण-युग से पूर्व का अनुमान किया गया है। यहाँ यह कह देना अप्रासंगिक नहीं है कि चट्टानी आवासों में प्राप्त शिलाचित्रों के आधार पर,[2] जिनमें ये अवशेष मिले हैं, इन्हें पीछे के काल का नहीं कहा जा सकता, कारण कि इन चित्रों का और उत्खनन में प्राप्त पत्थर के औजारों का, इसके अतिरिक्त कि वे पास-पास मिले हैं, काल का भी परस्पर सम्बन्ध सुस्थापित नहीं है। खुदाई के नीचे के स्तर पर मिट्टी के बर्त्तन न मिलने तथा धातु के अवशेषों की नितान्त अनुपस्थिति के आधार पर भी इन अवशेषों को पीछे के काल का न मानना युक्तिसंगत है। हुशंगाबाद, सिंघनपुर और कबरापहाड़ से प्राप्त अवशेषों को आकृति में मध्य पाषाणयुगीन होने पर भी इस काल का नहीं माना जाता[3] और नर्मदा-घाटी के अन्य अवशेष भी मध्यभारत में अन्यत्र प्राप्त अवशेषों की तुलना में पीछे के ही माने गये हैं[4]। परन्तु यह सब ऊहापोह आनुमानिक ही है, और पीछे के तो ये अवशेष धातु-युग के एवं ऐतिहासिक युग के भी प्राप्त होते हैं[5]। आकृति की दृष्टि से इस काल के औजार और शस्त्र चौकोर फल, पीछे की ओर से भोंथरे किये गये, अर्द्धचन्द्राकार फल, कुरेदने के औजार, शलाकाकार फल आदि के रूप में हैं और कदाचित उनका उपयोग उनमें मुठिया जोड़कर होता रहा होगा[6]। वे छोटे और सुगढ़ हैं। यद्यपि इस काल के इन औजारों और हथियारों के अतिरिक्त मध्यदेश के क्षेत्र की अन्य सूचनाएँ थोड़ी हैं; परन्तु अन्य क्षेत्रों के इनके समकालीन अवशेषों में मनुष्य के अस्थि-पंजर तथा कुछ अन्य जीवों के अस्थि-अवशेष भी प्राप्त हुए हैं[7]।

मध्य पाषाण-युग का मानव—नीग्रो

इस मध्य पाषाण-युग के मानवों के अस्थि-अवशेषों के परीक्षण से उनमें नीग्रो नृवंश के लक्षण मिले हैं, अतः यह अनुमान किया जाता है कि इस संस्कृति के निर्माता उत्तर-पूर्व अफ्रिका के निवासियों तथा प्राचीन मिस्रियों के सजातीय थे। ये छोटी पहाड़ियों पर निवास करते थे और इन्हीं के नीचे झीलों में एकत्र हुए जल को पीते थे। इनके भोजन का मूल साधन गाय, भैंस, घोड़ा, बैल, भेड़, बकरी, चूहे, मछली तथा मगर की

---

१. हण्टर : नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल, संख्या १, पृष्ठ ३१ तथा संख्या २, पृष्ठ १२७।

२. गार्डन : आर्ट एण्ड लेटर्स, १९३६, पृष्ठ २३।

३. वही।

४. डीटेरा और पेटर्सन : पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ ३२०।

५. आर० ई० एम० व्हीलर : एन्शण्ट इण्डिया, संख्या ४ (जुलाई १९४७, जनवरी १९४८), पृष्ठ १८०।

६. बी० बी० लाल : पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ २४-२५।

७. संकलिया : पूर्वनिर्देशित पृष्ठ ६४-१००; संकलिया तथा कर्वे : न्यू इण्डियन एण्टीक्विटीज, बम्बई, ८, १-६ और प्रिलिमिनरी रिपोर्ट ऑफ दि थर्ड गुजरात प्रिहिस्टोरिक एक्सपीडीशन, पूना, १९४५।

मृगया थी। वे वनफल भी खाते रहे हों, यह सम्भव है। शिकार आदि से भोजन प्राप्त करने के अतिरिक्त ये पशु-पालन या खेती द्वारा खाद्य के उत्पादन में अग्रसर हुए हों, यह संकेत इस काल के अवशेषों से प्राप्त नहीं होता। यह मांस आदि भोजन वे आग पर पकाते हों यह भी सूचित नहीं होता।

मानव अस्थि-अवशेष जिस स्थिति में मिले हैं, उससे यह प्रतीत होता है कि उनकी अन्त्येष्ठि की गयी है। उनके सिर के पास पत्थर के अनेक औजार, हथियार आदि वस्तुएँ रखी गयी हैं, जिनसे यह अनुमान होता है कि इस काल के मानव में मरणोत्तर जीवन की कल्पना उत्पन्न हो गयी थी। ऐसी दो समाधियों में तो मनुष्य की अस्थियों के साथ कुत्ते के पूरे पंजर भी मिले हैं, जो यह सूचित करते हैं कि मानव के इस निश्छल मित्र ने उस आदिकाल में ही उससे मरणान्त सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे। इस प्रसंग पर यह उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा कि ऋग्वेद के दसवें मण्डल में, जिसकी मंत्र-सामग्री को इतिहासकार इस ग्रंथ की रचना में सबसे पीछे के काल की मानते हैं[1] और जिसमें पद-पद पर मंत्रद्रष्टाओं का उनसे पहले के यहाँ के निवासियों से सम्पर्क परिलक्षित है, मध्य पाषाण-युग के इन मानवों की अन्त्येष्ठि से मिलती-जुलती प्रथा के उल्लेख मिलते हैं, जो यह संकेत करते हैं कि मानव शरीर की उत्तरक्रिया की विधि गुणग्राहक वैदिक आर्यों तक इन मध्य पाषाण-युग के लोगों से प्रारम्भ होकर पहुँची थी। मृत व्यक्ति की अन्त्येष्ठि से भोग्य सामग्री और उसके हथियारों[2] का सम्बन्ध कुछ मंत्रों में स्थापित किया गया है, यद्यपि वहाँ शव के हाथ से पुरोहित धनुष वापस ले लेता है[3] और जीवन-यापन के उस उपयोगी साधन को उसके साथ समाप्त नहीं कर देता।

आज इस युग के मानव के वंशज, जिन्हें आकृति, भाषा या रहन-सहन के आधार पर अलग से पहचाना जा सके, भारतवर्ष में प्राप्त नहीं होते; परन्तु बहुत पीछे के काल तक वे यहाँ रहे हैं, यह सिन्धु-घाटी के उत्खनन में प्राप्त नर्तकी की मूर्ति[4] से तथा अजण्टा एवं बाघ गुफाओं के भित्ति-चित्रों में अंकित इनकी आकृतियों से विदित होता है। इसके पश्चात् या तो वे यहाँ से खदेड़ दिये गये अथवा रक्त के अत्यधिक सम्मिश्रण से वर्तमान नृवंशों में ही विलीन हो गये। इनकी बोली, उसका मूल रूप कुछ भी रहा हो, आज मात्र अण्डमन द्वीपों में अवशिष्ट है।

मध्य पाषाण-युग का सांस्कृतिक दाय

इनका जीवन मानव जाति की अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था का होने से इस नीग्रो नृवंश ने हमारे प्रदेश की संस्कृति में अधिक योगदान न किया हो यह अनुमान किया जा सकता है, परन्तु वे बहुत प्राचीन काल से ही संगीत-नृत्य में प्रवीण थे। सम्भवतः वे प्रारम्भ में नंगे रहते थे, जैसा कि नर्तकी की उक्त मूर्ति से प्रकट है। परन्तु उनका

---

१. आल्डेनबर्ग : प्रोलेगोमेना, पृष्ठ २५२-३ तथा २६८-७० ।

२. ऋग्वेद १०।१५।४ ।

३. वही, १०।१८।९ ।

४. प्रि हिस्टोरिक सिविलिजेशन ऑफ दि इण्डस वेली, पृष्ठ २६ ।

सम्बन्ध आगे की पीढ़ियों से अत्यन्त घनिष्ट हो गया था और वे उनकी संस्कृति में घुल-मिल उठे थे, यह बाघ और अजण्टा के भित्ति-चित्रों से प्रकट है। उनका यह सम्बन्ध पीछे आनेवाले नृवंशों से अत्यन्त समाप का एवं चिरजीवी रहा है, तथा उपर्युक्त भित्ति-चित्रों की उपलब्धि के अनुसार बौद्ध साधकों को भी इनकी नृत्यकला, काले रंग को विस्मृत कर देनेवाली इस नृवंश की ललनाओं की भावभंगिमा इतना अदम्य आकर्षण रही कि निर्वाण प्राप्ति का वह अपरिहार्य रूप से पदनिक्षेपणीय सोपान बन गयी और इनकी नृत्यमुद्राएँ साधना-स्थलों के चित्रांकन का अभिप्राय बन गयीं। इनके पीछे आग्नेय और द्राविड आए, अतः इनका अंशदान पहचान में आने योग्य रूप में बच सकना सम्भव भी नहीं था। फिर भी परवर्ती नृवंशों के जीवन में होते हुए इनके सांस्कृतिक तत्त्वों के रूप में वटपूजा हमें प्राप्त हुई,[1] जो हिन्दुओं का विशाल अक्षय-वट बनी और बौद्धों का बोधि-वृक्ष। यहीं से कदाचित् पीपल, बिल्वपत्र, तुलसी आदि का देवत्व प्रारम्भ होता है। उर्वरता के लिए की जानेवाली पूजा भी इनसे मिली और प्रेत तथा उन्हें दण्ड देनेवाले राक्षस से रक्षित प्रेतमार्ग की कल्पना इनसे मिली हो, यह सम्भावना है[2]। इस प्रेतमार्ग की भावना की तुलना वैदिक आर्यों के यम के मार्ग के रक्षक (पथिरक्षी) प्राणों के प्यासे (असुतृपा) यमदूतों से की जा सकती है[3]। ऋग्वेद में इन यमदूतों को सारमेय (कुत्ता) कहा गया है[4]। वह इस काल की मानव समाधियों में प्राप्त कुत्ते की अस्थियों की मूल भावना का विकृत रूप हो, यह सम्भव है। भाषा के क्षेत्र में बुन्देलखण्डी शब्द "बांडी" (चम-गीदड़) की, जो बंगला में और उड़िया में बादुड़ तथा बादुड़ी है, अण्डमन द्वीपों के आदिवासियों की बोली के वोत्‌दा, व त्दा, वोत, वात से तुलना की जा सकती है।

---

१. भारत की जनगणना १९५१ का प्रतिवेदन, भाग १, पृष्ठ ४४३।

२. वही।

३. ऋग्वेद १०।१४।११-१२।

४. वही, १०।१४।१०।

उत्तर पाषाण-युग

नाम और काल-सीमा

मध्य पाषाण-युग से हमारे प्रदेश की संस्कृति उत्तर पाषाण-युग की विकसित अवस्था को किस अनुक्रम में प्राप्त हुई, सुस्थापित तथ्यों के अभाव में यह अभी रहस्य ही है। इस काल की विशेषता पूर्व एवं मध्य पाषाण-युग से भिन्न बहुधा हरे रंग के सोपानाश्म (ट्रैप) के बने (यद्यपि अन्य प्रकार के पत्थरों से बने औजार भी मिलते हैं) और सम्पूर्णतः अथवा धार पर तथा पीछे की ओर या केवल धार की ओर ओप किये हुए पत्थर के औजार तथा मिट्टी के बर्त्तनों का उपयोग है, जो सांस्कृतिक विकास में एक निश्चित स्थितिक्रम का द्योतक है।

ये अवशेष जहाँ भी मिले हैं, इनकी भू-स्तरीय स्थिति सर्वत्र अज्ञात अथवा अस्पष्ट है, अतः उसके आधार पर इनका काल-निर्धारण सम्भव नहीं है[1]।

पहले की संस्कृतियों की केवल खाद्य प्राप्त कर लेने की प्रवृत्ति के खाद्य उत्पन्न करने की इस काल की प्रवृत्ति में विकसित होने का काल पूर्वतम ७००० ई० पूर्व अनुमान किया गया है[2]। यद्यपि कुछ स्थानों पर खुदाई में अवशेषों के विशिष्ट भू-स्तरों में प्राप्त होने के आधार पर उनका काल ई० पू० प्रथम सहस्राब्दि से लेकर ३०० ई० पू० तक अनुमान किया जाता है[3]; परन्तु पीछे के काल में मिलनेवाले अवशेषों को प्रस्तुत काल की प्रवृत्तियों का पीछे के कालों की प्रवृत्तियों पर अधिरोहण मानते हुए, भारत में द्राविड संस्कृति के अभ्युदय के पहले अर्थात् लगभग ४ हजार वर्ष ई०पू० इस काल की पीछे की सीमा अनुमान की जा सकती है, जिसके पश्चात् तम्प, कुल्ली, नाल, क्वेटा, जोब, ऊमरी, चम्बल-घाटी, सिन्धु-घाटी, कन्नौज और गुजरात में द्राविडों की धातु-सभ्यता का उदय हुआ।

पुरातत्त्व की प्राप्त सामग्री

इस युग के अवशेषों की खोज में कुल्हाड़ी, बसूले, चिकनाने के पत्थर, ओप करने के पत्थर, पत्थर के हथौड़े, कुदाली, मूसल, हड्डी के सूजे, चूल्हे, मिट्टी के आदिकाल के बर्त्तन तथा कुछ अन्त्येष्ठियों के अवशेष मिले हैं[4]। हड्डी के सूजे की प्राप्ति इस सम्भावना

---

१. बी० बी० लाल : पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ २९।

२. वही : पृष्ठ १७।

३. एन्शण्ट इण्डिया, संख्या ४, पृष्ठ २०२।

४. डीटेरा : पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ २३३-३४।



चम्बल घाटी—नागदा (मध्यभारत)—में प्राप्त प्रागैतिहास युग के मानव के हथियार (पृष्ठ ५६)

★

मध्यदेश के उत्तरी नगर कन्नौज में प्राप्त ई० पू० १००० के अवशेष (पृष्ठ ६३)



नागदा (मध्यभारत) में प्राप्त १००० वर्ष से अधिक पुराने अवशेष (पृष्ठ ६३)

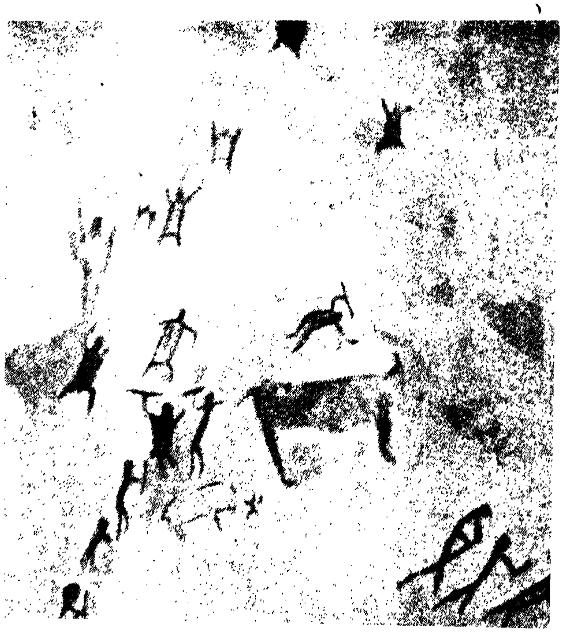




चम्बल घाटी–नागदा (मध्यभारत)–के प्राग्वैदिक निवासियों के
चित्रित बर्तनों के टुकड़े (पृष्ठ ८३)

★

प्रागैतिहासिक चितेरे की कला (पृष्ठ ६१)



की सूचना देती है कि हड्डी के अन्य औजार और हथियार भी बनाए जाते रहे होंगे। इस सम्बन्ध में इन्द्र द्वारा दधीचि की अस्थि के वज्र से वृत्र नाग का वध किये जाने का प्रसंग[1] तुलनात्मक दृष्टि से मनोरंजक है और यह संकेत करता है कि भारत की ओर अग्रसर हुए आर्य अपने जीवन में इस युग की संस्कृति लिये हुए थे।

उत्तर पाषाण-काल के इन विकसित औजारों की समुचित खोज अभी तक नहीं हुई है। मध्यदेश की सीमाओं में हमीरपुर, बाँदा, छतरपुर, पन्ना, गढ़ीमोरिला तथा बहुतेरई स्थानों पर तथा इन सीमाओं के बाहर गुजरात, काश्मीर, बिहार, बंगाल, असम, हैदराबाद राज्य, मैसूर तथा मद्रास में भी इनके अवशेष मिले हैं[2]।

इस काल के अवशेषों में असम,[3] छोटा नागपुर[4] तथा गोदावरी की तराई में[5] प्रस्तुत काल की ऐसी कुल्हाड़ियाँ भी प्राप्त होती हैं, जैसी बर्मा में भी प्राप्त हुई हैं। इस आधार पर इस काल में दक्षिण-पूर्व एशिया की उत्तर पाषाण-युगीन सभ्यता के भारत में प्रवेश का अनुमान किया जाता है। इसके अतिरिक्त हमारे प्रदेश के विविध क्षेत्रों के शैलावासों में भित्ति चित्र भी प्राप्त हुए हैं और सम्भव है कि वे प्रस्तुत कालसीमा के बहुत समय पश्चात् अंकित हुए हों; परन्तु वे संस्कृति के उत्तर पाषाण-युग के स्तर की सूचना देते हैं, अतः प्रासंगिकता के अनुरोध से उनका वर्णन इसी तारतम्य में किया गया है।

उत्तर पाषाण-युगीन मानव—आग्नेय निषाद

इस उत्तर पाषाण-युग की संस्कृति के निर्माता भारतवर्ष में आग्नेय दिशा से आए, यह अनुमान किया जाता है और वैदिक साहित्य में उल्लेखित जातियों में से आकृति आदि के आधार पर इनकी पहचान निषादों से की जा सकती है। अतएव इन्हें आग्नेय अथवा निषाद कहा जाता है।

जब आर्य भारतवर्ष में आए, उस समय काले रंग के और चपटी नाकवाले आग्नेय हमारे प्रदेश के साथ-साथ संपूर्ण देश में बस गये थे। वैदिक साहित्य में इन्हें निषाद, कृष्णत्वक और अनास कहा गया है। बौद्ध जातकों में इनकी भाषा को चांडाल भाषा कहा गया है तथा चांडाल भाषाभाषी गाँव के गाँव उल्लेखित हैं। कालक्रम में इनने द्राविड-वैदिक भाषा को

---

१. ऋग्वेद १।८४।१३।

२. एनुअल रिपोर्ट ऑफ आर्कलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, १९३०-३४ (१९३६); एनुअल रिपोर्ट ऑफ आर्कलॉजिकल डिपार्टमेण्ट, निजाम्स डोमिनिअन्स, १९३६-३७ (१९३९) आदि।

३. कॉगिन ब्राउन : पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ १३०; एच० सी० दासगुप्ता : जर्नल ऑफ एशिऐटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, ९ (१९१३), पृष्ठ २९१-९३।

४. वी० बाल : ऑन सम स्टोन इम्प्लिमेण्ट्स ऑफ बर्मीज टाइप फाउण्ड इन परगना दलभूम, डिस्ट्रिक्ट सिंघभूम, छोटा नागपुर डिवीजन, प्रोसीडिंग्स ऑफ दी साइंटिफिक सोसाइटी ऑफ बंगाल (१८७५), पृष्ठ ११८-२०।

५. एल० ए० कामियादे और एम० सी० बर्किट : फ्रेश लाइट ऑन दि स्टोन एजेज इन साउथ इण्डिया, एण्टीक्विटी, ४ (१९३०), पृष्ठ ३३८, फलक ६ बी।

अपनी भाषा से, और द्राविड-आर्य जीवन को अपनी संस्कृति से प्रभावित करते हुए उनकी भाषा और संस्कृति परिवर्तन-परिवर्द्धन के साथ ग्रहण की। द्राविडों तथा आर्यों के साथ इनका रक्त-सम्मिश्रण भी हुआ होगा, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इनकी उत्पत्ति ही इस रक्तमिश्रण के परिणामस्वरूप हुई। मनुस्मृति का यह कथन कि निषाद आर्य पुरुष और शूद्र स्त्री से उत्पन्न हैं[1], इनकी उत्पत्ति का निर्देशक न होकर परवर्ती रक्तमिश्रण की घटना का साक्ष्य है।

हमारे प्रदेश की इस काल की संस्कृति के ये निर्माता वर्तमान आदिवासियों में तथा अवर्ण जातियों में आज भी अवशिष्ट हैं, यद्यपि इनके रहन-सहन और भाषा में पूर्ववर्ती नीग्रो तथा परवर्ती द्राविड एवं आर्यसंपर्क के कारण पहचान कठिन बना देनेवाले परिवर्तन आ गये हैं। यहाँ की आदिम संस्कृति में इनने कितना अंशदान किया है, यह यहाँ के आदिवासियों की बोलियों में से तथा जनपदीय बोलियों में से भी द्राविड और द्राविड-आर्य भाषाओं से भिन्न आग्नेय संस्कृति के वाचक शब्दों का चयन करके भाषाविज्ञान के आधार पर जाना जा सकता है और यही उपाय द्राविडों के सांस्कृतिक ऋण की खोज के लिए भी उपयोगी है। इस प्रकार के अध्ययन की ओर हमारे प्रदेश के विद्वानों का ध्यान अभी नहीं गया है। इस प्रकार का अनुशीलन विदेशी विद्वानों ने तथा देश के अन्य भागों में कुछ भारतीय अन्वेषकों ने किया है और सांस्कृतिक इतिहास के बहुमूल्य तथ्य जुटाए हैं।

कहा जाता है कि ये निषाद अन्न उत्पन्न करने लगे थे, एक स्थान पर रुक कर रहते थे, अग्नि का उपयोग जानते थे और पशु पालते थे[2]। वे चाक पर मिट्टी के बर्तन बनाते थे, उनने गाड़ी के पहियों का आविष्कार कर लिया था, झोंपड़े बनाते थे तथा ग्रामों की सभ्यता का इनने विकास किया था। प्रकृतिगत विभिन्नता, स्थानभेद और जीवन-यापन के भेद के कारण इसी काल में भारतवर्ष में विशेष कार्य करनेवालों की श्रेणियों के रूप में जाति संस्था का उदय हुआ, जो आर्यों की वर्णव्यवस्था से बहुत पहले की आदिम सामाजिक संस्था है[3], जिसमें आज भी जाति के सदस्य ही सर्वोपरि सत्ता हैं। उनमें निर्भेद और समता की भावना है तथा श्रुति-स्मृति के विधानों का कोई हस्तक्षेप नहीं है।

हमने देखा है कि अन्त्येष्ठि का प्रारंभ मध्यपाषाण-काल में ही हो गया था। इस काल में खेती करने में उसके लिए उन्हें झोंपड़ियाँ बनाकर एक स्थान पर स्थिर होकर रहना पड़ा, अतः इनने उसमें आगे विकास किया। मृत देहों को गाड़कर अथवा उनके भस्मावशेषों को मिट्टी के बर्तनों में रखकर और मिट्टी में दबाकर, उनपर स्मृतिचिह्न के रूप में इनने पत्थर खड़े किये[4]। इन प्रवृत्तियों की तुलना आर्यों में प्रचलित दाह-संस्कार से[5], समाधि के ऊपर पत्थर रोपने से, मृत को मिट्टी में दबाने से, ऊपर की मिट्टी को स्तूपाकार

---

१. मनुस्मृति १०।८।

२. संकलिया : पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ १३६ तथा बी० बी० लाल : पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ ३१।

३. डॉ० राजबली पांडेय : भारतीय इतिहास की भूमिका।

४. भगवतशरण उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ १४-१५।

५. ऋग्वेद १०।१६।

करने से, अन्त्येष्ठि में संबंधित कुम्भ से और समाधि पर स्तम्भ खड़ा करने की प्रथा से[1] की जा सकती है।

अनुमान यह किया जाता है कि हमारे प्रदेश के इन आदिवासियों द्वारा अपने मृत पूर्वजों की समाधि पर स्थापित इन स्मृति-पाषाणों ने, जिन्हें श्रुति 'स्थूणा' कहती है, इन स्थूणों के प्रति इनके संस्थापकों के अनुराग एवं श्रद्धा ने तथा स्थूल शरीर की सीमाओं से मुक्त होने के पश्चात् कदाचित इन पूर्वजों के कल्पित अधिक सूक्ष्म एवं अतिमानवीय सामर्थ्य से सहायता मिलने की भावना ने आगे के काल में हल, खुनीता आदि अन्य तत्त्वों के साथ मिलकर शिवलिंग का रूप धारण किया और यह अनुमान भी सरलता से किया जा सकता है कि भस्मावशेष-युक्त इन समाधियों ने बौद्धस्तूपों की विशाल कल्पना को आधारभूमि प्रदान की। इन निषादों ने हमारे प्रदेश को उत्तर पाषाण-युग के विकसित औजार तथा मिट्टी के बर्त्तन दिये, यह हमने देखा है और लौटकर तरकस में आनेवाला बाण, बाँस की नली से फूंक की शक्ति से चलनेवाला अस्त्र, टोटम, कुदाली तथा सूर की खेती भी इनने दी थी[2]। गेहूँ द्रविडों ने इनसे प्राप्त करके हमें दिया और चावल[3], कदली, नारिकेल, ताम्बूल, वातिंगण, अलाबु, निम्बूक, जम्बू, कपास, कर्पट, शाल्मलि, कृकवाक, म्रोकर (अथर्ववेद) जिसका आदिवासियों की बोली का रूप मरक है और तमिल में मयिल, मातंग तथा माद (घोड़ा) शब्द तथा उनके भाव इनसे मिले[4]।

धान की खेती, गन्ने से शकर बनाना, पूजा की विधियों में और जीवन में पान, हल्दी और कदाचित सिन्दूर का प्रयोग[5], कौड़ियों (२०) में गिनना[6], कुछ आख्यान तथा कुछ धार्मिक एवं शृंगारिक विचार इनसे मिले हैं। कपड़ा बुनना और हाथी पालना भी संभवतः इन्हींने प्रारंभ किया था और नजर उतारना, आवेश दूर करनेवाला अथर्ववेद का 'ताबुव'[7]

---

१. वही, १०।१८। ४, ११, १२ तथा १३।
२. आज भी मध्यभारत के आदिवासी एक लकड़ी के डंडे के सिरे पर लोहे का फल जोड़कर उससे पहाड़ियों के ढालों पर गड्ढे खोदते हैं और एक एक गड्ढे में एक-एक दाना ज्वार आदि का बोते हैं। यह खेती वर्षा में की जाती है और 'सूर की खेती' कहलाती है।
३. एस० के० चटर्जी: टू न्यू इण्डो आर्यन एण्टिमॉलॉजीज।
४. पी० सी० बागची: प्रि-आर्यन एण्ड प्रि-द्राविडियन इन इंडिया; एस० के० चटर्जी: नॉन आर्यन एॅलिमेण्ट्स इन इण्डो आर्यन, जर्नल ऑफ ग्रेटर इंडिया सोसायटी, कलकत्ता ३, ४२ तथा जे० पृजिलस्की: जर्नल ऑफ दि रायल एशिएॅटिक सोसाइटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयर्लेण्ड, लन्दन, १९२९, पृष्ठ २७४-९।
५. निषाद मूलतः देवताओं पर रक्तलेपन करते और माँग में भी वही लगाते थे। द्राविडों के संपर्क में आने पर रक्त का स्थान नागसंभव, सिन्दूर ने लिया प्रतीत होता है।
६. जीन पृजिलस्की।
७. अथर्ववेद ५।१३ तथा पी० सी० बागची: दि आर्यन एण्ड दि द्राविडियन इन इंडिया, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९२९।

उच्चारण आदि विविध टोने, तिथियों में दिन-गणना, शुक्ल और कृष्ण पक्ष (राका और कुहू[१]), मातृका (पोलिनेशियन रूप मातरिकी) तारकपुंज का नाम, हमारी अनेक रीतियाँ, चलन तथा जन्मान्तर आदि के विश्वास भी इन आग्नेय निषादों की देन हैं।

पुराण एवं हिन्दू धर्म की अनेक कथाएँ, अण्ड से विश्व की उत्पत्ति[२], विष्णु का कूर्मावतार, मत्स्यगंधा की कल्पना तथा जल और पाताल के देवतागण, अनगढ़ पत्थर में देवत्व तथा उसके परिणामस्वरूप शिवलिंग से शालिग्राम तक के लोकदेव—हमें इनसे प्राप्त हुए। कुछ परीकथाएँ, नाग, कच्छप, गंगा का वाहन मकर, वानर एवं गणेश रूपधारी जान्तव देवता भी इस स्रोत से मिले हैं, यद्यपि इनका मूल द्राविड होने की संभावना भी प्रकट की गयी है। बाल, भिषज, (शिव-) लिंग, लकुट, लगुड तथा लांगुल शब्दों का मूल भी यही संस्कृति मानी जाती है। हमारी भाषा के उच्चारण, शब्दरचना और वाक्यविन्यास इनसे प्रभावित हुए हैं और स्थाननामों में भी इनकी भाषा के तत्त्व विद्यमान हैं। गंगा का नाम आग्नेय भाषा का है, जो इनकी भाषा में केवल नदी का वाचक था। यह बंगला में गंग, हिन्दचीन में खोंग और चीन में कंग के रूप में उपलब्ध होता है, जहाँ इसका अर्थ केवल नदी है। गंगा का प्रयोग एक नदी विशेष के लिए आगे के काल में किया गया। नदी-पूजा भी आग्नेय उद्गम की मानी जाती है।

भित्तिचित्र

मध्यदेश के क्षेत्रों में प्रागैतिहासिक शिलाचित्र भी मानिकपुर, बाँदा, हुशंगाबाद और पँचमढ़ी में प्राप्त हुए हैं। बाँदा जिले के ये अवशेष सरहाट, करिआकुंड, कर्पटिया तथा मालवा स्थानों में मिले हैं[३]। सरहाट में एक शिला पर तीन घोड़े, जिन्हें प्रत्येक को एक-एक आदमी डुरियाए है, लाल मिट्टी के रंग में अंकित हैं[४] और मालवा में एक बिना पहियों की गाड़ी, जिस पर एक व्यक्ति बैठा है तथा उसका एक अनुचर धनुष-बाण लिये और दूसरा दंड लिये चल रहा है, चित्रित की गयी है[५]। कुरिआकुंड में अनेक धनुर्धारी एक बारहसिंगा का पीछा करते हुए अंकित किये गये हैं। पँचमढ़ी के चारों ओर महादेव पहाड़ पर ऐसे अंकन प्रचुर संख्या में उपलब्ध हैं[६]। इस क्षेत्र में लगभग ५० चित्रांकित गह्वर प्राप्त होते हैं। पँचमढ़ी

---

१. मित्र : ए वेदिक नाइट ऑफ दि मून इन पोलिनेशिया, कलकत्ता ओरिएण्टल जर्नल, १९३४।

२. जीन पृजिलस्की।

३. सी० ए० सिल्वेराड : रॉक पेंटिंग इन बाँदा डिस्ट्रिक्ट, जर्नल ऑफ दि एशिऐटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, ३ (नयी सीरीज़) १९०७, पृष्ठ ५६७-७०।

४. वही, फलक संख्या १।

५. वही, फलक संख्या २।

६. गॉर्डन : इलेस्ट्रेटेड लन्दन न्यूज, २१ सितम्बर १९३५; इण्डियन आर्ट्स एण्ड लेटर्स, १०, संख्या १ (लंदन १९३६), पृष्ठ ३५-४१, साइन्स एण्ड कल्चर (कलकत्ता), ५, संख्या ६ (दिसम्बर १९३६), पृष्ठ ३२२-२७; वही, ५, संख्या १० (अप्रेल १९४०) पृष्ठ ५७८-८४; जी० आर० हण्टर: नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल (१९३५), पृष्ठ २८ और, (१९३६), पृष्ठ १२७।

के चारों ओर डोरोकी दीप, महादेव बाजार, जम्बूदीप, निंबुभोज, मारोदेव, बनियाबेरी, तामिया, सोनभद्रा तथा झलाई की चित्रित गुफाएँ हैं। हुशंगाबाद के समीप आदमगढ़ में भी इस समूह के चित्र मिले हैं[1]।

इन चित्रों के अभिप्राय : वनपशुओं का पीछा करना, छत्ते से शहद निकालना, धनुष-बाण से दो दलों का युद्ध, चरवाहे के साथ पशुओं का समूह, खिड़क, झोंपड़ियाँ, हाथी, चीता, बाघ, रीछ, वराह, हरिण, बारहसिंगा, मगर, बैल, घोड़ा, बकरी और कहीं-कहीं कुत्ते हैं। इनमें एक चित्र में एक बन्दर बाँसुरी बजा रहा है और एक छोटी खटिया पर लेटा एक व्यक्ति बाँसुरी के स्वरों के आरोह-अवरोह के साथ मानों उछल रहा है, ताल दे रहा है। स्वस्तिक पूजा के दो दृश्य हैं, जिनमें एक में एक गाय के गर्भिणी होने का भाव, मौलिक सूझ के साथ उसके पेट को खुला अंकित करके और वहाँ बछड़ा चित्रित करके प्रदर्शित किया गया है[2]। इन चित्रों का काल निश्चित न होने से ये इस युग के तो नहीं कहे जा सकते, परन्तु इनकी मुक्त कल्पना, जीवंत रेखाएँ, मौलिक अभिप्राय और इनमें जन-जीवन की अभिव्यक्ति के तथ्य यह प्रकट करते हैं कि ये किसी उन्नत चित्रकला की अपभ्रंश प्रवृत्ति के परिचायक नहीं हैं, प्रागैतिहासिक युग की सद्यःजात संस्कृति इनकी ओजस्वी रेखाओं में प्रतिबिम्बित है। इनकी परम्परा का अजण्टा के नागर शैली के चित्रों से भी संबंध नहीं है। ये चित्र इस प्रदेश के निषादों की चित्रकला का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनने कभी अपने उत्कर्षकाल में अपनी संस्कृति का अपने स्तर पर समुचित उन्नयन किया था।

---

१. एम० घोष : रॉक पेण्टिंग्ज एण्ड अदर पेण्टिंग्ज।

२. इन सब के चित्र गॉर्डन ने अपने लेखों में प्रकाशित कराए हैं, इनमें कुछ इस पुस्तक में दिये गये हैं।

चम्बल-घाटी के द्राविड

युग और कालसीमा

पूर्व पाषाण-युग, मध्य पाषाण-युग और उत्तर पाषाण-युग की नर्मदा की घाटियों में हुई मानव वंशों की हलचलों के पश्चात् हमारे प्रदेश में चम्बल-घाटी में उस 'असुर', अर्थात् ऋग्वेद की मान्यता के अनुसार 'दिव्य' संस्कृति का अभ्युदय हुआ, जिसने मानव सभ्यता के क्षेत्र में उच्चतम मान स्थापित किये, मनुष्य जीवन के लिए आवश्यक उपकरणों में अधिक सुकर धातु माध्यम का समावेश किया तथा भारतवर्ष के विस्तृत प्रदेशों में, बलूचिस्तान, सिन्धु-घाटी, कन्नौज और गुजरात में इतिहास के क्षितिज पर इस संस्कृति के पुरस्कर्त्ता दिखाई दिये। उनकी संस्कृति के अन्य तत्त्वों में पूर्व के कालों की जीवनकला से इसे पृथक् दिखानेवाला मोटा भेद धातु का उपयोग है, अतः इसे पुरातत्त्व की भाषा में धातुकाल कहा जाता है। इस धातु के साधन का उपयोग करनेवाले मानवों की अपेक्षा से सिन्धु-घाटी की सभ्यता के निर्माण में आर्यों का कर्त्तृत्व मानने की स्थापनाएँ[1] दृढ़ आधार पर स्थिर न होने के कारण और इतिहासज्ञों के बहुमत द्वारा युक्तियुक्त आधारों पर इसे असुरों या भारशिव[2] द्राविडों की संस्कृति मानने से यह सभ्यता भारशिव द्राविड संस्कृति कही गयी है। यहाँ इनके काल को मध्यभारत सापेक्ष चम्बल-घाटी की सभ्यता का युग कहा गया है। इसकी पूर्वतम कालसीमा बलूचिस्तान की ग्रामसभ्यता का आनुमानिक अभ्युदय-काल ४,००० ई० पू०[3] है और यहाँ हमारे विवेचन की उत्तर सीमा सिन्धुघाटी के संस्कृति के ह्रास का आनुमानिक समय २,५०० ई० पू०[4] है, जब संभवतः आर्यों के भीषण आक्रमणों ने इस संस्कृति को उध्वस्त कर दिया। यद्यपि इस द्राविड-संस्कृति के अवशेष, अनन्तर विकास और चरमोत्कर्ष पीछे भी दिखाई देते हैं; परन्तु वह इस काल की प्रवृत्ति की स्वतन्त्र परम्परा न होकर एक नवागंतुक योद्धा जाति की विशेषताओं के साथ इस संस्कृति के समन्वय की कहानी है।

---

१. दत्त : ऋग्वेदिक कल्चर ऑफ दि प्रिहिस्टोरिक इण्डस, भूमिका, पृष्ठ २५ तथा चौधरी : कलकत्ता रिव्यू, जून, १९४५।

२. बी० बी० लाल : पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ ३१।

३. इतिहास में भारशिव शब्द एक ताम्र-पत्र के अनुसार वाकाटकों के पूर्ववर्त्ती नागों के लिए प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि वे शिवलिंग को गले में धारण करते थे। आर्यों के पूर्वगामी ये द्राविड़ भी शिव के परमभक्त भारशिव थे, यह विवेचन आगे किया गया है।

४. बी० बी० लाल : पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ ३१।

पुरातत्त्व की सामग्री

कालक्रम की दृष्टि से द्राविड संस्कृति के अवशेष सबसे पुराने हमारे प्रदेश से बाहर शाहीतम्प[1], कुल्ली[2], नालघाटी[3], जोवघाटी[4] तथा सिन्ध में अमरी[5] में ग्राम संस्कृति के मिले हैं, जिनका काल ४००० ई० पू० के लगभग माना जाता है। उसके पीछे के अवशेष मोहें-जो-डेरो, हड़प्पा, गुजरात और कन्नौज के उत्खननों में प्राप्त हुए हैं, जिनका काल निर्धारण ई० पू० ३००० के लगभग किया जाता है।[6] मध्यभारत में अभी इस दिशा में कुछ अधिक कार्य नहीं हुआ, फिर भी अभी हाल ही में चम्बलघाटी[7] में नागदा के उत्खनन में और कुछ उज्जैन में प्राप्त सामग्री इस प्रदेश में इस सभ्यता के अस्तित्व का साक्ष्य देती है। इन सभी स्थानों पर प्राप्त हुए औजार और हथियार ताँबे और काँसे के हैं तथा आकृति में उत्तर पाषाणकाल की संस्कृति के अनन्तर हुए विशिष्ट विकास के द्योतक हैं। इन स्थानों के अतिरिक्त भी हमारे प्रदेश में और संपूर्ण भारत में एक भद्दी आकृति के धातु के हथियार प्राप्त होते हैं, जो सर्वत्र इससे पीछे के काल के हैं और उन्हें इस काल की संस्कृति की पीछे के काल की अपभ्रंश प्रवृत्ति का माना जाता है तथा इनका सम्बन्ध आर्यों के भारत में प्रसार से[8] एवं उसके परिणामस्वरूप पूर्ववर्त्ती संस्कृति को लगे आघात से जोड़ा जाता है। आर्यों के भारत में प्रवेश का काल आजकल मोटे रूप में २५०० ई० पूर्व माना जाता है[9] और वैदिक साहित्य में "अयस्" के रूप में धातु के जो उल्लेख मिलते हैं[10], वे इन्हीं अवरकालीन अवशेषों के हैं। ये अवशेष मध्यभारत तथा समीपवर्त्ती मध्यप्रदेश,

---

१. ऑरेल स्टीन: एन आॅर्कलॉजिकल टूर इन गेड्रोशिया, मेमोइर्स ऑफ दि आर्किअॉलॉजिकल सर्वे इन इंडिया, संख्या ४३ (दिल्ली, १९३१), पृष्ठ ८८-१०३।

२. वही, पृष्ठ ११८।

३. वही, पृष्ठ १३८।

४. ऑरेल स्टीन : एन ऑर्कलॉजिकल टूर इन वजीरिस्तान एण्ड नॉर्दर्न बलूचिस्तान, उक्त मेमोइर्स, संख्या ३७ (दिल्ली, १९२९), पृष्ठ ३१।

५. एन० जी० मजूमदार, एक्स्प्लोरेशन्स इन सिन्ध, उक्त मेमोइर्स, संख्या ४८ (दिल्ली, १९३४), पृष्ठ २४।

६. एम० एस० वात्स: एक्सकॅवेशन्स एट हड़प्पा (दिल्ली, १९४०); मार्शल: मुहें-जो-डेरो एण्ड दि इण्डस वेली सिविलिजेशन (लंदन, १९३१); ई० जे० एच० मैके : फर्दर एक्सकॅवेशन्स एट मुहें-जो-डेरो, ३ (दिल्ली, १९३८); सतीशचन्द्र काला : मुहें-जो-डेरो तथा सिन्धु सभ्यता तथा मध्यभारत सन्देश, २६ जून, १९५६।

७. भारती, ग्वालियर, जुलाई १९५६, पृष्ट ४५७।

८. जर्नल ऑफ दि इंडियन सोसायटी ऑफ ओरिएण्टल आर्ट, कलकत्ता, संख्या ४।

९. बी०जी० घोष: हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दी इंडियन पीपल, खण्ड १, पृष्ट २०४।

१०. ऋग्वेद ९।१।२ आदि ।

उत्तरप्रदेश[1] एवं राँची[2] के क्षेत्रों में मिले हैं। अनुमान किया जाता है कि इस प्रदेश के ताँबे के अवशेषों के लिए कच्चा ताँबा छोटा नागपुर और राजपूताने से प्राप्त होता रहा होगा और कच्चा लोहा सर्वत्र मिलता होगा, यह लोहे के आरम्भिक औजार सर्वत्र बहुलता से प्राप्त होने के आधार पर कहा जा सकता है[3]। इन अवशेषों के अतिरिक्त हमारे प्रदेश में आज भी प्राप्त गोंड़ी, कुई, कुरुखी और मल्तो बोलियाँ द्राविड परिवार की मानी जाती हैं[4] और संपूर्ण भारतवर्ष की ही भाँति हमारे प्रदेश की भाषा और बोलियों में तथा हमारे रहन-सहन, धर्म एवं रीति-रिवाजों में द्राविड-संस्कृति के अवशेष विद्यमान हैं[5]। भाषाविज्ञान की सहायता से इस काल के सांस्कृतिक इतिहास के संकेत इनमें से एवं दक्षिण की द्राविड भाषाओं में से प्राप्त होते हैं तथा वैदिक एवं पौराणिक साहित्य को, जिन पर आर्य विजेताओं की गहरी छाप है, विजितों के दृष्टिकोण से देखने पर वे भी प्रस्तुत युग की कहानी कहते हैं।

द्राविडों का अभ्युदय

जिस समय संपूर्ण भारत में छोटे-छोटे गाँवों के चारों ओर निषादों (उत्तर पाषाण-युगीन मानवों) के खेत लहलहा रहे थे, पालतू पशु गोचरों में पगुरा रहे थे, ये लम्बे सिर, मध्यम कद, गोरे, गेहुँए और साँवले रंगों के ऊँची नाकवाले द्राविड[6] अपने भूमध्यसागर के तटों के आदिनिवास से कुछ बैलों की पीठ पर, जिन्हें वे आगे पूजने लगे, सामान लादे हुए तथा कुछ समुद्र के किनारे-किनारे अपनी इस दीर्घकालीन यात्रा में द्रमिज, द्रमिल, तृम्मिल, तेरमिलाई, आरबितई आदि नाम ग्रहण करते हुए[7] पूर्व की ओर बढ़े। पूर्वी ईरान में उनने अपनी बस्तियाँ बसाईं[8] और फिर बलूचिस्तान के पहाड़ी क्षेत्र में लगभग ४ हजार ई० पू० ये अपने पूर्वोक्त क्षेत्रों में बसाए गाँवों में रहने लगे। यहाँ से इनने अपनी सभ्यता का अनन्तर विकास किया और अपनी उन्नत संस्कृति और भाषा लिए हुए ये अफगानिस्तान, सिन्ध, पंजाब, चम्बल की घाटी, गंगा का मैदान[9], गुजरात, पश्चिमी समुद्रतट तथा सीलोन तक में फैल गये[10]; अर्थात् क्रमशः इनकी समृद्ध संस्कृति भूमध्यसागर के तटों

---

१. एच० सी० दास गुप्ता : बिब्लिओग्रैफी ऑफ प्रिहिस्टोरिक इंडियन एंटीक्विटीज।
२. एस० सी० राय : जर्नल ऑफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, पटना, १, पृष्ठ २२९-३३ तथा २, पृष्ठ ६१-७७।
३. एच० सी० दास गुप्ता : पूर्वनिर्देशित।
४. सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृष्ठ ३९।
५. एस० के० चटर्जी : हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि इंडियन पीपल, खण्ड १, पृष्ठ १५५।
६. वही, पृष्ठ १४३।
७. वही, पृष्ठ १५६।
८. ईरान इन दी एन्शण्ट ईस्ट, १९४१, पृष्ठ १९०।
९. एस० के० चटर्जी : पूर्वनिर्देशित पृष्ठ १५५।
१०. जनरल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, मद्रास, १६, पृष्ठ १२।

से भारत के दक्षिण के छोरों तक फैल गयी। इस प्रसार-क्रम में ये मध्यभारत के प्रदेश में भी आए और इनने कच्छ से लेकर अवन्ति और कान्यकुब्ज तक इस उज्ज्वल संस्कृति का निर्माण किया, मंत्रद्रष्टा ऋषियों के आश्रम, अहियों और नागों के जनपद सम्पूर्ण मध्यदेश में फैल गये, जिनमें से कुछ का आगे के अध्याय में साक्षात्कार होगा और अनेक की गौरव-गाथाएँ भूस्तरों में अपनी कहानी कहने के लिए उत्खनन कार्य की प्रतीक्षा कर रही हैं।

नगर-निर्माण

जहाँ भी ये गये, इन्होंने सुन्दर, सुव्यवस्थित, सुनिर्मित और विशाल नगरों का निर्माण किया, जिनके चारों ओर परकोटे थे, जिनमें चौड़े-चौड़े सीधे मार्ग थे, चौराहे थे, बड़े-बड़े अन्न-भण्डार थे, सार्वजनिक स्नानागार थे, स्वच्छ व्यक्तिगत निवासस्थान थे और नगर की स्वच्छता के लिए नालियों की व्यवस्था थी, मात्र देवमंदिर और राजमहल नहीं थे[1]। इनने अपने नगरों की किलेबन्दी भी की थी। चम्बल-घाटी में नागदा के समीप हुए उत्खनन से इनका जो नगर प्राप्त हुआ है, उसमें ऐसी इमारत का ढाँचा मिला है, जो नगर की सुरक्षा की दीवार या किला-सा प्रतीत होता है। सिन्धुघाटी में प्राप्त इनके नगरों में भी ऐसी ही किलेबन्दी थी। आर्यों के साथ इनके निरन्तर होनेवाले संघर्ष की यह साक्षी है, जिसे आक्रान्ताओं ने 'पुर' कहा है। चम्बलघाटी में नागदा पर की गयी खुदाई में मिले चित्रित मिट्टी के बर्त्तन और दूर-दूर तक फैली इमारतों के भग्नावशेष इन नगरों की समृद्धता के द्योतक हैं[2]।

व्यापार, समृद्धि और अन्य देशों से सम्बन्ध

इन द्राविडों ने समृद्ध व्यापार स्थापित किया और उसका चरम उत्कर्ष हमारे देश में हुआ। जल और स्थल मार्गों पर इनके यातायात के साधन बैल, बैलों के रथ, नावें और जहाज आने-जाने लगे। विश्व के इतिहास के ऊषाकाल में चम्बल और सिन्धुघाटी के अपने समृद्ध नगरों से ये उर[3], मैसोपोटेमिया, सुमेर[4], तेलअस्मर, तेल अगरब, बेबिलोनिया, एलम, क्रीट और मिस्र के साथ स्थलपथों से और अपने पालोंवाले जहाजों से जलमार्ग से व्यापार करने लगे[5]। ये बड़े साहसी नाविक थे, इनकी संस्कृति में स्थलपथों की अपेक्षा जल-पथ अधिक अच्छे माने जाते थे[6] और इसी मान्यता के अनुसार इनके पोत लगभग आधे गोलार्द्ध के समुद्रों की दूरी पार किया करते थे। इनके एक विशाल बन्दरगाह के अवशेष अहमदाबाद जिले के ढोला तालुके के सरागवाला गाँव के

---

१. ए० डी० पुसालकर : हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि इंडियन पीपल, खण्ड १, पृष्ठ १७०।

२. भारती, ग्वालियर, जुलाई. १९५६, पृष्ठ ४५७।

३. कार्लेटन : बरीड एम्पायर, पृष्ठ १४५।

४. डॉ० फेर्वी : इण्डियन कल्चर, ३, पृष्ठ ६६३-७३ तथा करेण्ट साइन्स, बंगलोर, ६, पृष्ठ ४३५।

५. एस० के० चटर्जी : पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ १९२।

६. अर्थशास्त्र (शामशास्त्री का संस्करण), ७।१२।

पास लोथल में मिले हैं। इनकी सिन्धु-घाटी की, चम्बल-घाटी की और कन्नौज की बस्तियों से स्थलमार्ग द्वारा इनके माल का यातायात इस बन्दरगाह को होता होगा, जहाँ से वह अन्य देशों को जाता था। सुमेर के एक बर्त्तन पर वृष-पूजा अंकित मिली है और सूसा में प्राप्त कुछ मुद्राओं पर भारतीय बैल का अंकन प्राप्त हुआ है। कन्नौज और चम्बल-घाटी में निवास करनेवाले इन प्रागार्य भारतीयों के व्यापारी-वर्ग ने ही इन्हें वहाँ पहुँचाया होगा और इनके यातायात के साधन हैं वे नावें जिनका अंकन मोहें-जो-डेरो में प्राप्त ठीकरे तथा मुद्रा पर किया गया है।

सामाजिक जीवन

इनका सामाजिक जीवन परिष्कृत, स्वच्छ और सुरुचिपूर्ण था, सुन्दरता के प्रति वे जागरूक थे, प्रसाधन में निपुण थे और सुदूर सुमेर की ललनाएँ सिन्धुप्रदेश की द्राविड नागरियों के केशविन्यास का अनुकरण करके रूपगर्विता होती थीं[1]। वे अपने शरीर को आभूषणों से अलंकृत करते थे, सुन्दर वस्त्र धारण करते थे और इस दिशा में उनका जीवन हमारे आज के जीवन से अधिक भिन्न नहीं था[2]। हमारी ही भाँति वे अनेक पात्रों का व्यवहार करते थे, उन्हें कलापूर्ण रीति से रँगते थे, गेहूँ[3] के आटे से बने पदार्थों का भोजन में प्रयोग करते थे, चिकित्साशास्त्र का उन्हें ज्ञान था[4] और अनेक ललितकलाओं से वे अपना मनोविनोद करते थे, जिन पर आगे विचार करेंगे।

वर्णव्यवस्था

डॉ० राजबलि पाण्डेय के अनुसार, जिसका उल्लेख उत्तर पाषाण-युग की संस्कृति का वर्णन करते हुए किया गया है, जातिव्यवस्था का उदय निषादसभ्यता में हो गया था। परन्तु वह कृषिसापेक्ष्य था। श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार ने मिस्र के मेनीज (Manes), यहूदियों के मूसा (Moses), यूनान के माइनोस (Minos) के नामों को, जो अपने-अपने देश को समाजव्यवस्था के नियम देनेवाले थे, मनु नाम का अपभ्रंश होने की उद्भावना की है। यूनानी इतिहास के माइनोस की क्रीट, मिस्र, फारस और भारत की समाजव्यवस्था के नियमों का अध्ययन करने के निमित्त यात्राओं का उल्लेख है[5]। इधर वेडेल सुमेर की मुद्राओं में कुछ प्राग्वैदिक भारतीय नामों को पढ़ते हैं[6]। इससे यह अनुमान होता है कि जिस समाजव्यवस्था का मनुस्मृति में शुंगकालीन रूप दिखाई देता है, जिसके निरामय रूप का भगवद्गीता में प्रतिपादन किया गया है[7] और जो ऋग्वेद के प्रारम्भिक मण्डलों में दिखाई नहीं देती, उसकी कल्पना प्रागार्य भारत में हो गयी थी। उसका रूप सम्भवतः कार्य-विभाजन का और समाज को सुव्यवस्थित चलाने के लिए अपेक्षित सामंजस्यपूर्ण कर्त्तव्यनिर्वाह कर रहा होगा।

---

१ कार्लेटन: पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ १६१।

२. सतीशचन्द्र काला: मोंहजोदरों तथा सिन्धु सभ्यता।

३. वही, पृष्ठ ६४। ४. वही, पृष्ठ ८४-८५।

५. "मनु" और "इंद्र", द्विवेदी अभिनन्दनग्रंथ, पृष्ठ ३३०।

६. इण्डो सुमेरियन सील्स डिसाइफर्ड मेकर्स ऑफ सिविलिजेशन इन रेस एण्ड हिस्ट्री।

७. भगवद्गीता ४।१३ तथा १८।४२-४४।

धर्मसाधना

उनके इस भौतिक समृद्धि के जीवन में उनकी धर्मसाधना आत्मा की भाँति व्यक्ति-व्यक्ति में व्याप्त थी। उनका समाज विविध घटकों का बना था, जिसमें मध्य पाषाण-युग के नीग्रो नृवंश के लोग और उत्तर पाषाण-युग के आग्नेय निषाद भी थे। अत: उनके सांस्कृतिक अवशेषों में अनेक प्रकार की धर्मसाधना के चिह्न प्राप्त होते हैं। इस उपासना के वे अवशेष मिले हैं, जिन्हें पुरातत्त्व के समीक्षकों ने हवन की वेदी और यज्ञशाला कहा है[1], जो सम्भवत: ईरान और भारत में रहनेवाले इन प्रागार्य भारतीयों की अग्निसाधना की प्रतीक हैं। अग्नि का शोध आग्नेय पहले कर चुके थे, अत: अग्निपूजा आर्यों का आविष्कार या विशेषता नहीं कही जा सकती। अग्नि को देवत्व उत्तर पाषाण-युग के आग्नेय निषादों के पश्चात् अधिक चिन्तनशील द्राविडों ने दे दिया हो, यही अधिक संगत है और गृह्य कार्यों में, जिनकी परम्परा भारतीय उपज की है, अग्नि का महत्त्व भी यही प्रतिपादित करता है[2]। विरूपाक्ष पशुपति शिव की अनेक मुद्राएँ मिली हैं[3], जिनको प्रतीक मानकर इस काल में कदाचित प्राग्वैदिक भार्गव मार्कण्डेय ऋषि ने या शुक्र के किसी अन्य पूर्वज ने आराधना की थी[4]। एक पुरुष की मूर्त्ति भी मिली है, जिसके नयन ध्यानमुद्रा में अर्धोन्मीलित हैं[5]। नहीं कह सकते कि यह वृत्र है या इस व्यापक शिवोपासना के केन्द्रबिन्दु मार्कण्डेय हैं। इनके साथ-साथ अनेक शिवलिंग प्राप्त हुए हैं, जिन्हें द्राविडों ने आग्नेयों से ग्रहण करके उनमें अग्नि आदि सम्पूर्ण देवताओं का प्रतीकत्व समाविष्ट किया। अहमदाबाद के पास जो मिट्टी की मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं, उनपर शिवलिंग का प्रतीक बना हुआ है। नीग्रो एवं आग्नेयों का वर्णन करते हुए पहले जिस धर्म एवं समाजव्यवस्था के रूपों का उल्लेख किया है, उनका प्रतिनिधित्व करनेवाली उर्वरता की देवी, जान्तव देवता आदि के अवशेष भी मिले हैं। संख्या और व्यापकता की दृष्टि से इनमें शिवलिंगों की बहुलता है, जिनमें से अधिकांश के आकार पर से इन्हें शरीर पर शिवमूर्ति धारण करने की लंका के रावणों की[6] और नागों की भारशिवता[7] की पूर्वपरम्परा कहा गया है। अत: धर्म की दृष्टि से ये भारशिव थे, यह कहा जा सकता है। यह भी सम्भव है कि नैतिकता के देवता वरुण, उसकी नैतिक मर्यादा ऋत और सोम की भी ये आराधना करते रहे हों जो योरोप की ओर जानेवाले आर्यों को ज्ञात नहीं थे[8], जिनमें सोम विशेषत: ब्राह्मण का आराध्य रहा है और मुंजवंत पर्वत अथवा शर्यणावत आदि में जिसकी उत्पत्ति भी भारतीयता की सूचक है।

---

१. विश्वनाथ : रेशल सिन्थेसिस इन हिन्दू कल्चर, पृष्ठ २६।

२. बी० के० घोष : हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि इंडियन पीपल, खण्ड १, पृष्ठ ४०७।

३. वही, चित्रफलक ७।

४. भागवत १२।९।१।

५. सतीशचन्द्र काला : पूर्वनिर्देशित, चित्र क्र० १।

६. वही, पृष्ठ ११५।

७. जायसवाल : अन्धकारयुगीन भारत, पृष्ठ ११।

८. बी० के० घोष : पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ २१९।

उच्च नैतिकता

द्राविड जीवन के उच्च नैतिकस्तर का पता काश्यपवंश में उत्पन्न प्रह्लाद, शिबि और बलि के जीवनवृत्तों से लगता है[1]। इन असुर-प्रमुखों के लोकोत्तर चरित्र विश्व की परम्पराओं में अनुत्तरित ही रह गये। इनकी उदारता की स्मृति अपने लोकातिशायित्व के कारण दीर्घजीवी बनी जिस रूप में आज अवशिष्ट है, वह यही दिखाती है कि उसका जन्म दृढ़ आधारों पर विकसित हुए पुष्ट लोकचारित्र्य में से हुआ था, जिसका लोक में निरपेक्ष सम्मान था। इन व्यक्तियों की ऐतिहासिकता पर शंका की जा सकती है, परन्तु वैसा करने से वैदिकयुग के इतिहास का उसी अनुश्रुति पर आधारित सम्पूर्ण महल ही धँस जायगा। फिर शिबियों का तो शैव प्रदेश भी इतिहास में बहुत दिनों तक प्रसिद्ध रहा है[2]। और व्यक्तित्व पर शंका की जाने पर भी यह तथ्य बचता ही है कि असुरों में, प्राग्वैदिक भारतीयों में प्रह्लाद, शिबि और बलि जैसे व्यक्तित्व निर्मित होते थे, जिनकी दानशीलता वैदिक राजन्यों की पुरोहित के प्रति स्वार्थप्रेरित उदारता से भिन्न मनुष्य के उच्चतर नैतिकस्तर की करुणा से प्रेरित थी; देवताओं से अन्न, धन और राज्य-याचना की ऋग्वेद की धर्मभावना[3] से भिन्न धरातल पर स्थित जिनकी धार्मिकता मन के उदार भावों की तुष्टि की शिवतर कामना से प्रेरित थी, यह मान्यता भारत की अनुश्रुतियों में सदा मुखरित होती रही है। असुर संस्कृति के इन पारिजात सुमनों की अमर सुरभि से भारत की संस्कृति निरन्तर अनुप्राणित होती रही और उस सुगंध से उसका उदार साहित्य कालगति से निर्बाधित सदा महकता रहा।

राज्य-व्यवस्था

इनकी राजनैतिक व्यवस्था आज की दृष्टि से आश्चर्यजनक थी। वे अपने तंत्र को 'प्रथमज' तंत्र कहते रहे होंगे, जिसमें राजा या राजन्य की कल्पना नहीं होगी, समाज के बड़े-बूढ़े के नेतृत्व में सारा समाज समस्तर पर भ्रातृभाव से तंत्र का संचालन करता होगा और सम्भवतः यही तंत्र आगे चलकर गणराज्यों में विकसित हुआ। इन्द्र का प्रतिरोध करनेवाले वृत्र की 'प्रथमज' उपाधि और सिन्धुघाटी के अवशेषों में राजमहल का अभाव इस विचार की पुष्टि करता है।

संस्कृति के निर्माता

इस संस्कृति के निर्माता वही थे, जिन्हें वैदिक साहित्य ने असुर, अहि, नाग, वृत्र के सन्दर्भ में ब्राह्मण,[4] पणि, दस्यु, दास तथा इतिहासज्ञों ने द्राविड, ब्राहुई आदि कहा है और ये भी अपने को इन्हीं नामों से जानते रहे होंगे। इनका यह ब्राह्मण नाम पीछे के काल की मान्यता का सूचक न होकर प्रस्तुत काल की तत्त्वचिंतन, बौद्धिक विकास और

---

१. मत्स्यपुराण : ४७।४८-४९ तथा आदिपर्व ५९।१७-२०।

२. डॉ० वासुदेवशरण : पाणिनीकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ४१।

३. ए० डी० पुसालकर : हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि इण्डियन पीपल, खण्ड १, पृष्ठ ३४२-४३।

४. ऋग्वेद १।३२।३।

ऊर्ध्वगामी प्रवृत्ति का द्योतक रहा होगा, जिसकी चम्बल और सिन्धु संस्कृति में व्यापकता दिखाई देती है और पणि, अहि आदि सभी ब्राह्मणत्व का व्रत लेते रहे होंगे, पीछे के वैदिकयुग में भी विश्वामित्र और वीतहव्यों के ब्राह्मणत्व ग्रहण करने में जिसका उदाहरण प्राप्त होता है। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस ब्राह्मणत्व में अभी पौरोहित्य की कल्पना नहीं है। आगे उत्पन्न होनेवाला पौरोहित्य यद्यपि ब्राह्मणत्व पर आरोपित हुआ है, परन्तु हमारी चम्बल संस्कृति के ब्राह्मणत्व में वह सहजात नहीं है, उसकी आवश्यकता थी इस काल में नहीं थी। इन असुरों को वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर देवताओं से उच्चतर सांस्कृतिक स्तर पर अंकित किया गया है,[1] जिनके उन्नत साधन और शिल्प आर्यों की समझ में न आने के कारण माया कहलाए[2] तथा इन साधनों के कारण और संभवतः भारतभूमि पर पहले से ही वर्त्तमान होने के कारण असुरों को पौराणिक साहित्य में देवताओं का अग्रज कहा गया है[3]। संभावना यही अधिक है कि ब्राह्मण को भी इन्हीं कारणों से, इसी परम्परा में 'अग्रजन्मन्' विशेषण दिया गया हो। इस सन्दर्भ में आगे के अध्याय में जमदग्नि के उच्चतर साधनों से, जिन्हें माया कहा गया है, सम्राट् कार्तवीर्य अर्जुन का पराभव उल्लेखनीय है। इस संस्कृति के निर्माता आर्य नहीं थे, यह कहने में तात्पर्य यही है कि श्रादर के अनुसार इतिहासज्ञों द्वारा अपनी बहुमान्य स्थापना में जिन्हें दक्षिणी रूस का आदिवासी कहा गया है,[4] अपने आराध्य इन्द्र की उपाधि पुरन्दर[5] से सूचित उन नगरविध्वंसकों ने इसका निर्माण नहीं किया, जिसका साक्ष्य इस संस्कृति में १५०० ई० पू० से पहले के स्तरों में घोड़े के अवशेष न मिलना,[6] इन मूर्त्तिबहुल अवशेषों के विपरीत इन आर्यों का धर्म मूर्त्तिहीन होना और इनके आगमन का पूर्वतम काल २५०० ई० पू० इस संस्कृति के अवसान का काल होना,[7] लगभग इसी काल में ब्राह्मणत्व प्रधान युग की समाप्ति पर कलियुग के आगमन की एक कल्पना अनुश्रुति में होना[8] है, वरन् उन द्राविडों ने इसकी रचना की, जिनके प्रथमज अहि वृत्र को ब्राह्मण कहा गया, जिनके अपने आपको ब्राह्मण कहने के कारण आज तुर्क और ईरानियों द्वारा बलूचिस्तान के अंचल में बोली जानेवाली द्राविड अवशेषयुक्त भाषा ब्राहुई कहलाई, जिनके कारण सिन्ध में ब्राह्मणक जनपद पाणिनि के काल में विद्यमान था,[9] भविष्यपुराण के अनुसार चन्द्रभागा के तट पर श्रीकृष्ण के पुत्र साम्ब को सूर्यमन्दिर की प्रतिष्ठा के लिए ब्राह्मण

---

१. वही, ४।१८।७।

२. कीथ : रिलीजन एण्ड फिलॉसफी ऑफ वेद एण्ड उपनिषद्स, २, पृष्ठ ४५७।

३. इण्डियन कल्चर, कलकत्ता, ७, पृष्ठ ६१-६२।

४. बी० के० घोष : पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ २२०।

५. वही, पृष्ठ २१२।

६. मॅके : जर्नल ऑफ दि बॉम्बे हिस्टोरिकल सोसायटी, बम्बई, २, पृष्ठ १८७-९१।

७. बी० के० घोष : पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ २०४।

८. एस० डी० पुसालकर : पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ २७०।

९. डॉ० वासुदेवशरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ९५।

की आवश्यकता होने पर कदाचित जिनके वंशजों के रूप में शकद्वीप से जरशस्त के अनुयायी मग ब्राह्मण आए, जिनकी पहचान सर चार्ल्स इलियट क्रमशः जरथुस्त और ईरान के मागियों से करते हैं,[1] जिनके कारण ही ब्राह्मण पाणिनि आहिक (अहि + ठञ्) और पाणिनि (पणिन् के अपत्य[2]) कहलाए, जिनके कारण अशोकस्तम्भों की लिपि ब्राह्मी कहलाई, जिनके कारण पार्जिटर ने प्रागार्य ब्राह्मणत्व की कल्पना की[3] और जिस ब्राह्मणत्व के प्रागार्यत्व की सूचना द्राविड, कर्णाट, गुर्जर, महाराष्ट्र और तैलंग ब्राह्मणों का पंच-द्राविडत्व देता है।

इनमें ब्राहुई बोली के आज तुर्कों एवं ईरानियों द्वारा बोले जाने का तथ्य इस अनुमान का इसलिए विरोधी नहीं है कि भाषा उसके विशिष्ट क्षेत्र में आकर बसनेवाली जातियों पर उसी प्रकार संक्रमित होती है, जिस प्रकार वह उसके बोलनेवालों के साथ नये प्रदेशों में जाकर वहाँ के पूर्व वासियों द्वारा ग्रहण की जाती है, अतः उसी क्रम में तुर्क और ईरानी वहाँ बसकर उसे बोलने लगे होंगे। ब्राहुई भाषा के दक्षिण भारत से पीछे के काल में बलूचिस्तान में पहुँचने की ऊहाएँ नवीनतम अध्ययनों के फलस्वरूप उत्तरभारत की भाषाओं में प्रचुर द्राविड तत्त्व प्राप्त होने से व्यर्थ होगयी हैं। पार्जिटर की प्रागार्य ब्राह्मणत्व की स्थापना का प्रत्याख्यान, इस विद्वान की ब्राह्मणत्व के रूप के निर्धारण में कुछ अस्पष्टता के अतिरिक्त, आजतक दृढ़ ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर नहीं किया गया है। उपर्युक्त ब्राह्मणक जनपद यूनानियों द्वारा ब्राखमनोई, तथा अरब भूगोलकार अबूरिहा द्वारा बमनहवा नाम से पहचाना गया था और आज भी ब्राह्मणाबाद नाम से विद्यमान है,[4] पाणिनि द्वारा उसका उल्लेख, ई० पूर्व पाँचवीं शती से अनेक शताब्दी पहले से इस संस्कृति के निर्माता ब्राह्मणक जनपद के विद्यमान होने का संकेत देता है। अरबों और महमूद के आक्रमणों के समय भी उत्तर-पश्चिम भारत में ब्राह्मण राज्यों की बहुलता विचाराधीन काल में इन जनपदों की व्यापकता सूचित करती है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि श्री दीक्षित आदि विद्वानों का इन अवशेषों में वैदिक संस्कृति देखना निराधार नहीं है; क्योंकि वैदिक संस्कृति एक व्यापक कल्पना है, जिसमें नीग्रो से लेकर विश्वविजयी आर्यों तक की सभ्यता समाविष्ट हो जाती है। प्रस्तुत काल की संस्कृति में ऋग्वेद में प्राप्त असहिष्णुता के लिए अवश्य स्थान नहीं है, जो पणियों, व्रात्यों और कीकटों की गायें छीन लेना अपना स्वत्व मानती है और इनके प्रत्याक्रमणों को चोरी कहती है।

आर्य आक्रमण

उपर्युक्त विशाल द्राविड संस्कृति का समुद्र जब भूमध्यसागर से लंका के छोरों तक हिलोरें ले रहा था, दक्षिणी रूस के उन्नत प्रदेश से, संभवतः पीछे के साहित्य में जिसे

१. दिनकर: संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ३४।
२. डॉ० वासुदेवशरण: पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ १३।
३. जयचन्द्र विद्यालंकार: भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जिल्द १, पृष्ठ २५७।
४. डॉ० वासुदेवशरण: पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ ६५।

स्वर्ग कहा गया, इन्द्र अपनी असंख्य देवसेना लेकर इन अहियों, धनी पणियों, असुरों, नागों और दस्युओं पर आर्य राजन्यों का रूप धारण करके टूट पड़ा। इसका सबसे पहला प्रतिरोध वृत्र नाम के ब्राह्मण और अहियों के प्रथमज ने बलूचिस्तान के पहाड़ी क्षेत्र में वीरतापूर्वक और सम्भवतः सफलतापूर्वक किया, परन्तु भारतवर्ष के इतिहास में पीछे के काल में पश्चिमोत्तर सीमाओं पर होनेवाले युद्धों के परिणामों से भिन्न इस आक्रमण का भी परिणाम न हुआ। वृत्र प्रतिरोध करता, पराजित होता सिन्धु नद के प्रदेश में उतर आया और अन्ततोगत्वा मारा गया। इन्द्र की, किसी पहले आर्य वीर की इस प्रथम विजय के उपलक्ष्य में बलूचिस्तान का पहाड़ी प्रदेश इन्द्रवक्त्र[1] कहलाने लगा। इसके पश्चात् अनेक आक्रमण हुए, प्रतिरोध भी हुए और परिणाम एक ही हुआ। इन युद्धों और पराजयों का वर्णन ऋग्वेद के शब्दों में सुनना अधिक मनोरंजक होगा। इन सब युद्धों का यहाँ उल्लेख कर देने में सम्भव है काल का व्यतिक्रम हो, परन्तु एक तो इस पक्ष की क्रमबद्ध वंशावली न होने से इनका निश्चित कालक्रम निर्धारित करना शक्य नहीं है, दूसरे इन धर्मयुद्धों का श्रेय निस्पृह आक्रान्ताओं ने इन्द्र को दे डाला है (यहाँ सम्भावना यह भी है कि यह इन्द्र भी रावण और मनुओं के वंश की तरह कोई राजवंश हो) और तीसरे आगे के अध्याय में अश्वमेधों के दुंदुभिनाद में इनका वर्णन लयहीन होगा, अतः उनका यहीं समाहार कर दिया गया है। विस्तार और काल्पनिकता के समावेश से बचने के लिए पुराणों के कथनों को छोड़कर मात्र ऋग्वेद को आधार बनाया है, जिसमें ये उल्लेख मात्र प्रासंगिक हैं।

वृत्र और इन्द्र का युद्ध

वृत्र अहि[2], एकदेव, स्थिरमना[3], धनवान[4], सुवर्ण और मणियों से सम्पन्न था। उसके सुवर्ण और मोतियों से धनी अनुचरों से पृथ्वी आच्छादित थी[5]। उसके प्रदेश में ९९ नदियाँ बहती[6] थीं, जिनपर उसने बाँध बनाए थे[7] और अनेक नगर उसके प्रदेश में बसे हुए थे[8]। वह राजा नहीं, अहियों का प्रथमज[9] (जेठा बढ़ा) था और उसने अपने जीते-जी इन अनभिज्ञात नदियों के तट पर आक्रान्ताओं को फटकने नही दिया था। आर्यों का आक्रमण होने पर उसकी वीरप्रसू माता 'दनु' भी रणभूमि में उतरती थी। एक भीषण युद्ध में वृत्र के वज्रप्रहार ने इन्द्र को घोड़े की पूँछ की भाँति गति करके

१. वही, पृष्ठ ७९।
२. ऋग्वेद १।३२।३।
३. वही, १।३२।१२।
४. वही, १।३२।११।
५. वही १।३३।४,८, ११।
६. वही, १।३२।१४।
७. वही, १।८०।१० तथा दिनकर: संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ २७।
८. ऋग्वेद १।३३।१३।
९. वही, १।३२।३।

अपनी रक्षा करने को विवश किया था। यह अत्यन्त घोर संग्राम हुआ था। वृत्र को अपने अपार बल का गर्व था। वह शूर तो अप्रतिम था ही। युद्ध में उसके अंग क्षत-विक्षत होने पर भी उसने इन्द्र को युद्ध में ललकारा था। कदाचित् अपने अन्तिम संग्राम में इन्द्र से लड़ने के लिए वह नौकागम्य नदियों के बीच बढ़ा[१]। पहले वत्सला माता धराशायी हुई। उसके पश्चात् किसी नदीतट पर होनेवाले इस अविस्मरणीय युद्ध में किसी पूर्णमासी की चाँदनी में[२] वृत्र ने प्राण दिये। इन्द्र ने च्यवन ऋषि के पुत्र दधीच ऋषि की अस्थि से बने वज्र से उसे मार दिया[३]। इन ऋषि की यह अस्थि उनकी स्वाभाविक मृत्यु के पश्चात् नहीं प्राप्त की गयी थी, वह सम्भवतः उसी विधि से ली गयी थी जो जमाना बदल जाने के कारण शुनःशेप के प्रसंग में पूरी न हो सकी थी[४]। यह अस्थि प्राप्त करने की विधि विजेता के क्रूर विश्वासों के घोष में धार्मिकता बन गयी, किन्तु वृत्र के वध के कारण उसे ब्राह्मण वध का पातक लगा[५]। वृत्र का शव नदी के जल में गिरा। उसकी नगरियों को ध्वस्त कर दिया गया, सिंचाई के लिए बनवाए बाँध तोड़ दिये गये[६], उनका पानी हरहराता बह चला[७], स्त्रियाँ बन्दी बनाली गयी, उसके प्रदेश के पणियों की गायें छीन ली गयीं और सप्तसिन्धु के प्रदेश को इन्द्र के अनुचरों के लिए बेरोक कर दिया गया[८]। अत्यन्त प्राचीन युग के भारत के देशभक्तिपूर्ण उत्सर्ग की यह पहली घटना है। वृत्र को एकदेव कहा जाना ईश्वरवाद और एकेश्वरवाद का पूर्वतम उल्लेख है, जिसका कम से कम ऋग्वेद की धर्मसाधना में दर्शन नहीं होता। आर्यों की यह सबसे प्राचीन पराक्रम कथा है, जिसे ऋग्वेद ने बार-बार दुहराई है और जिससे नगरविध्वंसक राजन्य लड़ाकों ने आगे के युद्धों में निरन्तर प्रेरणा और स्फूर्ति प्राप्त की।

इस युद्ध के परिणामस्वरूप इन्द्र के देवत्व को सभवतः आघात लगा। ऋग्वेद के अनुसार वृत्र के अनुचर सम्पूर्ण पृथ्वी में छाए थे। इस पराजय के पश्चात् उनमें से कुछ फारस की ओर गये होंगे, वे पहले से वहाँ वर्त्तमान भी थे और उनने उसे राक्षस कहा होगा। अन्य संभाव्य कारणों के साथ-साथ इस घटना से भी अवेस्ता में इन्द्र नरक का पात्र राक्षस हो गया और भारत में भी उसे इसका समानार्थी ब्रह्महत्या का उस काल का घोरतम पातक लगाया गया, यद्यपि उस काल के इन्द्र के अनुयायियों ने उसके 'वृत्रघ्न' नाम को देवत्व प्रदान किया।

कुलितर और दिवोदास के युद्ध

इसके पश्चात् कुलितर के पुत्र शम्बर का उल्लेख मिलता है[९]। उसकी पाषाण निर्मित सौ[१०] अत्यन्त पुरातनकाल से बसी हुई नगरियाँ थीं[११] और ५० हजार सैनिक

१ वही, १।३३।११। २. वही, ४।१९।२-३।
३. वही, १।८४।१३। ४. वही, १।२४ तथा ऐतरेय ब्राह्मण ७।१२-१८।
५. वही, ४।१८।७ तथा भागवत ६।१४। ६. ऋग्वेद ४।१९।२-३।
७. वही, ४।१८।६। ८. वही, १।३३।११।
९. ऋग्वेद ४।३०।१४। १०. वही, ४।३०।२०।
११. वही, २।१४।६।

उसके प्रदेश की रक्षा करते थे[1]। अपने ऐतिहासिक जातीय वीर इन्द्र का स्मरण करके दिवोदास ने उसके प्रदेश पर आक्रमण किये[2]। शम्बर ने अपने सैनिकों के साथ ४० वर्ष तक इसका सामना किया। प्रबलतर सैनिक दबाव में वह पहाड़ों-पहाड़ों भटका[3], मोर्चे बदलता रहा और अन्त में अपने सम्पूर्ण सैनिकों सहित किसी पर्वत पर मारा गया[4]। आक्रान्ताओं ने उसकी ९९[5] या ९०[6] नगरियाँ नष्ट करदीं। शेष पर आधिपत्य कर लिया। शम्बर के प्रदेश का अपार धन राजन्य दिवोदास को प्राप्त हुआ[7]। इन दस्युओं की नगरियों का और इनके आत्मबलिदान के स्थल का नामोल्लेख नहीं मिला है।

वर्चि

वर्चि असुर किसी देश में विशाल जनबल के साथ रहता था। वह भी इस पश्चिमोत्तर दिशा से आनेवाले आक्रमणों को रोकने के लिए आगे बढ़ा। उसके साथ सम्भवतः उसका सम्पूर्ण समाज ही रणांगण में उतर पड़ा था। श्रुति कहती है कि युद्ध में उसके १०० हजार वीर खेत रहे[8]।

नमुचि

मेघ जैसे गम्भीर कंठस्वरवाला और अव्याहत गति नमुचि असुर भी कहीं इस प्रवाह के मार्ग में पड़ता था और उसपर बभ्रु ऋषि के पौरोहित्य में इन्द्र द्वारा आक्रमण किया गया। उसके प्रदेश की स्त्रियाँ भी सेना सजाकर युद्धभूमि में उतरी थीं। यह सेना पराजित हुई। नमुचि युद्धक्षेत्र में लड़ते-लड़ते मारा गया। नमुचि की दो स्त्रियाँ बन्दी हुईं, इन्द्र को अर्पित हुईं[9]।

अश्न

दस्यु अश्न के प्रदेश में अनेक प्राचीन नगर थे। उसका मुख्य नगर धातुनिर्मित-सा दृढ़ था। उसकी काले रंग की सेना नष्ट हो गयी और नगर ध्वस्त कर दिया गया[10]।

कृष्ण

कृष्ण असुर अंशुमती तट पर अपने विस्तृत दस हजार सेनाओं से सुरक्षित प्रदेश में निवास करता था। सूर्य के समान उसकी दीप्ति थी, वह द्रुतगामी था, गूढ़ स्थान पर

---

१. ऋग्वेद ४।१६।१३।
२. वही, १।१३०।७।
३. वही, ३।१२।११।
४. वही, ४।३०।१४।
५. वही, ४।२६।२।
६. वही, १।१३०।७।
७. वही, १।१३५।७।
८. वही, २।१४।६।
९. वही, ५।३०।८-१०।
१०. वही, २।२०।६-८।

रहता था, विस्तृत प्रदेश में विचरण करता था और यज्ञों का विरोधी था। उसपर भी किसी आर्य सैनिक नेता ने आक्रमण किया और उसका हनन किया[1]। हमारे प्रदेश की दृष्टि से यह युद्ध अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, कारण कि श्री वी० एस० आपटे ने अपने कोष में अंशुमती को यमुना माना है और यदि उनकी यह मान्यता सही हो तो यह युद्ध उसी के तट पर हुआ होगा। डॉ० सूर्यकांत अंशुमती की अभिन्नता सरस्वती से स्थापित करते हैं[2]। यदि यह दृष्टिकोण आपटे महोदय के सम्मुख रहा होगा, तो संभवतः सरस्वती के तट से यमुना के किनारे आए आर्य उसे उसी अनुक्रम में अंशुमती कहने लगे हों, यह संभव है, जिसमें वे फारस से रसा, सरस्वती और बाह्लीक नाम लाए थे[3]। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि यह कृष्ण वासुदेव कृष्ण से नितान्त भिन्न है, यद्यपि इसके लोकोत्तर चरित्र ने, उसके साथ संश्लिष्ट किंवदन्तियों ने और यमुनातट के उद्भव ने पीछे वासुदेव कृष्ण का चरित्र पल्लवित करनेवालों को इसके चरित्र को अंशतः वासुदेव पर आरोपित करने को विवश किया।

अन्य असुर

इसी क्रम में अर्बुद[4], करंज, पर्णय, वंगृद[5], वृभीक, पणियों का नेता बल, उरण, अश्व, विप्रु, रुधिक्रा[6], अशुप, पीयु[7], मृगय[8], शुष्ण[9], तुग्र और चुमुरि आदि[10] कदाचित् अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण कृष्णत्वचों पर आक्रमण किया गया और उन्हें मार डाला गया, बन्दी बना लिया गया या उनके प्रदेश से निकाल दिया गया, उनकी सम्पत्ति लूट ली गयी, गायें छीन ली गयीं और नगर विध्वस्त कर दिये गये।

युद्धों के पश्चात्—समन्वय का प्रारम्भ

यह युग व्यापक युद्धों का था, ऐसा प्रतीत होता है। आर्येतर जनसमूह अपने शत्रु के प्रति जागरूक थे। आर्यों को इनसे सदैव भय था, वे निरन्तर अपने देवताओं से यही प्रार्थना करते सुने जाते हैं कि लिंगपूजक उनके यज्ञों का विध्वंस न करें, उन्हें न मार डालें[11]; परन्तु द्राविड इस प्रवाह को रोक नहीं सके। इस कारण नहीं कि इनमें वीरता का अभाव था, लाखों की संख्या में वे युद्धभूमि में उतरे थे। भागने का नहीं, सर्वत्र उनके

---

१. ऋग्वेद ८।८५।१३-१८।
२. सम्मेलन पत्रिका ४७, भाग ४१, संख्या ३, पृष्ठ ७-७।
३. वैदिक इण्डेक्स में इन नामों के संबंध में देखिए।
४. ऋग्वेद १।५१।६।
५. वही, १।५३।८।
६. वही, २।१४।३-५।
७. वही, ३।१९।६-७।
८. वही, ४।१६।११।
९. वही, ४।३०।१३।
१०. वही, ६।२६।४-६।
११. वही, ७।२१।५।

मारे जाने का मंत्रों में उल्लेख है। प्रतीत यह होता है कि यह सम्पूर्ण समाज रचना और चिन्तन में लगा था, इनके पास द्रुतगामी घोड़े नहीं थे और इनका प्रथमज तंत्र व्यापक समृद्धि एवं सांस्कृतिक उत्कर्ष के लिए भले ही सर्वोत्तम था, युद्ध की दृष्टि से सत्ता एवं साधनों का केन्द्रीकरण ही उपयोगी होता है तथा आक्रान्ता राजतंत्र लेकर आए थे। आक्रान्ताओं के सम्बन्ध में क्रिस्टेन्सन[1] ने ठीक ही स्थापना की है कि इन हमला करनेवाले आर्यों में जो सीधे अपने आदि स्थल से न आकर ईरान की असुरों की संस्कृति-सरिता का आचमन करके भी आए थे, वे भी अपने सांस्कृतिक स्तर के कारण उस उच्च असुर संस्कृति में न खप सकनेवाले तत्त्व ही थे। अतः इन पराजयों का कारण इन आक्रान्ताओं की या उनके राजन्य सैनिकों की पीछे की रस्सियाँ कटी हुई होना, इनका शस्त्रजीवी होना, अपने स्रोत का साहसिक अंश होना, असुरों की माया की इन्हें सहायता मिल जाना,[2] इनका संख्या में अत्यधिक होना और इनकी दृष्टि में, वैदिक साहित्य में सर्वत्र परिलक्षित पणियों की गायों और धन का अदम्य लालच होना प्रतीत होता है। ये युद्ध बहुत लम्बे चले होंगे। मध्य एशिया के पठारों के स्वर्ग से इन्द्र ने बार-बार आक्रमण किये होंगे और वह केवल लूट का सामान लेकर लौट जाता रहा होगा और संभवतः ऐल वंश का उसका प्रशासक, शतक्रतु इन्द्र के सौ अश्वमेध यज्ञों के पश्चात् ही यहाँ नियुक्त हुआ होगा। इन्द्र ने पृथ्वी पर, मध्य एशिया के पठारों के नीचे, भारत पर राज्य किया, ऐसा संकेत श्रुति में नहीं मिलता। इन आक्रमणों के परिणामस्वरूप भारत की उस काल कीसुस्थापित संस्कृति अस्तव्यस्त हुई और उसके निर्माता भारतीयों को निरन्तर युद्ध के लिए सन्नद्ध रहना पड़ा। उनने युद्धकौशल के क्षेत्र में नये-नये आविष्कार किये, जिनके सम्बन्ध में आगे उल्लेख करेंगे, परन्तु कुछ समय के लिए सांस्कृतिक क्षेत्र में वह शिथिलता आई, जिसका साक्षात्कार हमारे प्रदेश में और सम्पूर्ण भारत में इससे पीछे के काल के धातु अवशेषों में देखे गये अवनत निर्माण-कौशल में होता है। स्थानीय निवासियों के प्रति कटुता यद्यपि बहुत काल तक वैदिक साहित्य में प्रकट होती है, परन्तु कालान्तर में राजनैतिक संघर्ष अपने अपरिहार्य दुष्परिणामों को लिए हुए भी संस्कृति निर्माण के लिए आवश्यक समन्वय के मार्ग पर अग्रसर हुआ और यद्यपि सिन्धु आदि नदियों के प्रदेश को दस्युओं से छीन कर आर्यों ने अपने अधिकार में कर लिया था[3], ये विजित भारत के मानचित्र से लुप्त नहीं हो गये, पराजित होकर भी प्रबल शक्तियों के रूप में विद्यमान रहे। ये बहुसंख्यक थे, नैतिकता में, विद्या-बुद्धि में, सम्पत्ति में और शस्त्र-बल में भी बढ़े-चढ़े थे। इनकी बहुसंख्या के संकेत आज भी प्राप्त होते हैं। भारत की जनगणना के आधार पर सर आथेंस्टेल ने जो तथ्य प्रस्तुत किये हैं, वे यही बात कहते हैं। उनके अनुसार आज के युग में भी ब्राह्मण सर्वाधिक संख्या में हैं[4]। यही मध्यभारत के एक घटक ग्वालियर

---

१. बी० के० घोष, पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ २२९।

२. इण्डियन कल्चर, ७, पृष्ठ ६१-६२ तथा ऋग्वेद ६।४७।१८।

३. ऋग्वेद ८।८५।१८।

४. हजारीप्रसाद द्विवेदी : मध्यकालीन धर्मसाधना, पृष्ठ २१९।

राज्य की जनगणना बताती रही है। इन पाँचहजार वर्ष में यह अनुपात घटा ही होगा। कितने द्राविड़ अन्य धंधों में जाकर न पहचाने जाने योग्य बन गये यह नहीं कहा जा सकता। अग्रवालों के गोत्र और उनकी उत्पत्ति की अनुश्रुति यह बताती है कि इनकी बहुत बड़ी संख्या अपने आपको वैश्य कहने लगी है। यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि यह प्रवाह उलटा भी चला होगा अर्थात् अन्य नृवंशों के लोग, आर्य आदि ब्राह्मण वर्ग की संख्या अधिक बढ़ा सके होंगे। इस प्रकार के उदाहरण थोड़े हैं। विश्वामित्र जैसी कृच्छ्रसाधना और दत्तक लिया जाना ही उसका मार्ग रहा है। परन्तु ये मार्ग इने-गिने लोगों को ही ब्राह्मणत्व प्रदान कर पाते थे। उनने संख्या में प्रभावशाली वृद्धि की हो यह दिखाई नहीं देता। इन द्राविड़ों में से अनेक राजन्यों के पुरोहित भी बन गये थे[1]। पौरोहित्य को जो शक्तियाँ वैदिकयुग की राजनीति में प्राप्त रहीं, उसका कारण कोरा धार्मिक नेतृत्व या राजन्यों की कृपा नहीं थी। उसका कारण अन्य वरिष्ठताओं के साथ-साथ वह अपार शस्त्र और जनबल था, जो अपना अपमान होने पर बड़े-बड़े साम्राज्यों को पलट देता था[2] और जिसके कारण वैदिकयुग का तंत्र राजाओं के नीचे भी लोकतंत्र बना रहा। वे पराजित हुए, बहुत काल तक अपनी प्रकृति के प्रतिकूल राजतंत्र न अपना सके, परन्तु वे शक्ति थे, बहुजन समाज थे, प्रबुद्ध थे, भारत को सांस्कृतिक सज्जा में वे निरंतर संलग्न रहे तथा भारत की भावी संस्कृति में इनने अपनी गहरी छाप छोड़ी। सैनिक विजेताओं पर विजितों की सांस्कृतिक विजय शीघ्र प्रारम्भ हो गयी, जिसका कुछ अनुमान आगामी पृष्ठों में हो सकता है।

द्राविडों का आर्यकरण या आर्यों का द्राविडीकरण

आर्य विजयवाहिनियों को रोकने के प्रयास में उत्सर्ग होनेवाले इन समस्त जनसमूहों की, वे आर्येतर थे, इसके अतिरिक्त पहचान आज कठिन है। इनमें अधिकांश का आर्यकरण हो गया और वे कालान्तर में आर्यों के पुरोहित भी हो गये। पाणिनि के पाणिनि और आहिक नामों में इनकी पहचान इस रूप में होती है। इनके अनेक जनपद हमारे प्रदेश में पहले से बसे हुए थे और आज के युग में भी गायों के धनी अहीर संभवतः इसी "अहि" मूल के हैं, जिन्हें द्राविड नृवंश का माना जाता है[3] और अब उन्हें बाहर से आया मानने की आवश्यकता नहीं है। वैश्य, जो आर्यों की प्रजा "विश" से बना है, उससे भिन्न "बणिक" और देहात का बनियाँ अपने पण्य (बेचने योग्य) सामान के साथ मूलतः यह धनी पणि हो यह सम्भव है। आगे हमारे प्रदेश के इतिहास में बहुशः पूजित फणिन् शेष नाग भी पणि का विकसित रूप प्रतीत होते हैं। मृतक पणि (बनियाँ) के संचित धन की रक्षा नाग करता है, लोककथा की यह कल्पना इसी ओर संकेत करती है।

---

१. दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ४४।

२. ऋग्वेद ८।४५-४६, वायुपुराण २।१४-२३; अर्थशास्त्र, (शामशास्त्री का संस्करण) १।६ तथा आदि पर्व ७०।१८-२०।

३. डॉ० सत्येन्द्र : विष्णु से कृष्ण, भारती, जून, १९५४, पृष्ठ २८।

सामासिक संस्कृति और द्राविड

आर्य आक्रमणों के प्रभावों का अनन्तर विवेचन आगे के अध्याय का विषय है। यहाँ हम अपने प्रदेश के संस्कृति-संगम को इन द्राविडों द्वारा प्राप्त महत्त्वपूर्ण अंशदान पर भाषाविज्ञान तथा पुरातत्त्व के आधार पर सिंहावलोकन करेंगे, जो हमारे वर्त्तमान सामाजिक जीवन में घुला-मिला है और उसमें से उभर-उभर कर इस का साक्ष्य प्रस्तुत करता है।

धर्म

पिछली सहस्राब्दियों में भारतवर्ष के जीवन पर धर्म आकाश की भाँति व्याप्त रहा है और हम देखते हैं कि हमारे प्रदेश में आज वैदिक या नैगम धर्म की अपेक्षा आगम या पुराणसम्मत धर्म की प्रधानता है। हमारी अनेक धार्मिक रीतियाँ, दर्शन और योग आदि साधनाएँ इस आगम धर्म के अन्तर्गत आती हैं। आगे हम स्पष्ट करेंगे कि इस आगम धर्म के मूल किस प्रकार द्राविड संस्कृति के हैं। इनसे वैदिक आस्था भी पर्याप्त प्रभावित हुई है, इस सीमा तक कि प्रत्येक प्रकार की साधना का मूल वेदों में खोजा जाता है,[1] मिल भी जाता है तथा जैसा पहले दिखाया जा चुका है, सोम, निसर्ग देवता से भिन्न वरुण एवं उसके ऋत पाश का नैतिक रूप भी वैदिक धर्म में द्राविडमूल का हो यह सम्भव है।

पूजा और मूर्त्ति

मूर्त्ति में प्रतिष्ठित देवता को मनुष्य को आनन्द देनेवाले समस्त उपभोग्यों का, पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयं का भी पूजा में अर्पण हमारी वर्त्तमान धर्मसाधना का प्रमुख रूप है। वैदिक यज्ञ में, जहाँ तक वह इस पूजा से प्रभावित नहीं हुआ है, इस रूप का सर्वथा अभाव है। पूजा शब्द स्वयं द्राविड उद्‌गम का है और मार्क कॉलिन्स के अनुसार द्राविड शब्द पू (पुष्प) में गे (जाना) धातु मिलने से बना है[2]। पूजा शब्द आर्यपरिवार की भारत से बाहर की भाषाओं में प्राप्त नहीं होता और उपर्युक्त प्रकार से द्राविड मूल के इस पुष्पकर्म का यज्ञ के पशुकर्म से भेद किया जा सकता है। इस शब्द की द्राविड धातु "पुसु" से एक अन्य व्युत्पत्ति के अनुसार यह लेपनकर्म ठहरता है[3], जिसका सम्बन्ध मूर्त्ति पर चन्दनलेपन से जोड़ा जाता है और मूर्त्ति के सम्बन्ध में हम पहले देख चुके हैं कि उसकी कल्पना और कौशल दोनों ही द्राविडों को ज्ञात थे।

एक ईश्वर और भक्ति

भक्ति की भावना भी मूलतः द्राविड है। आर्यों की यज्ञ पद्धति में सोम को छोड़कर अन्यत्र मात्र भावुकता उपलब्ध होती है, भक्ति नहीं, जिससे प्रेरित होकर मनुष्य अपने आराध्यदेवता को अपनी पूजा अर्पित करता है, स्वार्पण करता है। यह भारत की स्थानीय उपज है और पीछे के साहित्य में भी यह स्मृति बनी रही है कि इसकी उत्पत्ति

---

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : मध्यकालीन धर्मसाधना, पृष्ठ १४-१५।

२. द्राविडिक स्टडीज़, क्रमांक ३ (मद्रास विश्वविद्यालय), पृष्ठ ५९।

३. स्वीडन के विद्वान कार्पेण्टर का मत।

द्राविडमूल की है[१]। एक ईश्वर की भावना, जिसे अभौतिक अथवा धार्मिक विचार-जगत में आज सर्वोत्तम माना जाता है, आश्चर्यजनक रूप से ऋग्वेद की आर्यत्वप्रधान आस्था में नहीं मिलती[२]। जब ऋग्वेद ही का वृत्र के एकदेव होने का उल्लेख हम देख चुके हैं और आर्य-धर्मसाधना से अनेक बातों में साम्य रखते हुए भी असुर-संस्कृति क पालों में रचित "अवेस्ता" जिसका "अहुर" के रूप में निरूपण करता है[३]। ऋग्वेद के राजा अर्थ से भिन्न ईश्वर शब्द के प्राचीन प्रयोग शिव के लिए प्राप्त होते हैं और जहाँ कुछ और निर्देश न हो, इसका अर्थ यही देवता होता है, जिसकी द्राविडता आगे देखेंगे।

देवसमूह का समासीकरण

लगभग दो-ढाई हजार वर्ष से संपूर्ण भारतवर्ष में देवसमूह में हनुमान, गणेश, स्कन्द आदि के साथ शिव एवं उमा तथा अपने अवतारों सहित विष्णु एवं लक्ष्मी का स्थान सर्वोच्च हो गया है और वेदों के इन्द्र, वरुण, सोम, सूर्य आदि देवतागण का महत्त्व क्रमशः घटा है। सूर्य त्रिविक्रम वामन बन गये हैं, कोलाहल करनेवाला आँधी का देवता रुद्र संहारकारी रुद्र होकर नीलकण्ठ शिव में समा गया है, वैदिक अग्नि का तेज भी भव और शर्व नामों से[४] अपने अग्निसाधक आराधकों की पूर्व मान्यताओं को सार्थक करते हुए उन्हीं में लीन हो गया है, नगरोध्वंसक इन्द्र वहाँ पुरमथन बनकर घुसा है और इसी प्रकार के समन्वय से उमा-महेश्वर एवं श्री-विष्णु की अधिक व्यक्तित्वपूर्ण, अधिक व्यापक, अधिक विशाल कल्पनाओं से युक्त, अधिक कवित्वपूर्ण और अधिक आध्यात्मिक उपासना लोक में प्रतिष्ठित हुई है।

पार्वती-परमेश्वर

जगत के माता-पिता पार्वती और महेश्वर को लीजिए। वैदिक साहित्य के द्यौः पिता और पृथिवी माता अमूर्त प्राकृतिक तत्त्व हैं, निषादों (संथालों) के माता-पिता सूर्य (सिनबोंग) एवं चन्द्र (निंद्चन्दों) हैं, जबकि द्राविड अपने उदगम एजियन द्वीप-समूह एवं समुद्रतट के प्रदेशों से इन सबसे अधिक विशाल, आध्यात्मिक और व्यापक सिंहवाहिनी जगन्माता माया कुबेले तथा वृषवाहन जगत्पिता अत्थिस, हैपित और तेशुप लाए, जिनसे हमारे प्रदेश की उमा-महेश्वर की उपासना विकसित हुई मानी जाती है[५]। उमा के दुर्गा नाम में निशियनों की त्रक्कस की स्मृति सुरक्षित है[६]। आज की द्राविड

---

१. उत्पन्ना द्राविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता॥ भागवत माहात्म्य १।४८, पद्म-पुराण, उत्तरखण्ड से संग्रहीत।

२. डॉ० मंगलदेव शास्त्री : कल्पना मासिक, १९५६।

३. दिनकर : पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ ३३।

४. शतपथब्राह्मण १।७।३।८।

५. एस० के० चटर्जी : हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दी इंडियन पीपल, खण्ड १, पृष्ठ १५८।

६. एस० के० चटर्जी : द्राविडियन ओरिजिन्स ऑफ इंडियन सिविलिजेशन, मॉडर्न रिव्यू, दिसम्बर १९२४, पृष्ठ ६१९।

भाषाओं से भी यह मत पुष्ट होता है[1] । शिव और ऋग्वेद के रुद्र की अभिन्नता आज धार्मिक क्षेत्रों में मानी जाती है और इस अवास्तविक धारणा को प्रश्रय देती है कि कम से कम रुद्र नाम से शिव की आराधना वैदिक है, आर्य मूल की है । परन्तु, वैदिक पाठों और कर्मकाण्ड में रुद्र की जो स्थिति है, वह इसके विरुद्ध साक्ष्य उपस्थित करती है । यहाँ रुद्र भय का कारण है, आराधना का पात्र नहीं । ब्राह्मण ग्रंथों में, जो एक प्रकार से वेदों के भाष्य रूप हैं, इस भीषण देवता का सीधा नामोल्लेख न हो, यह पूरा ध्यान रखा गया है । उसका उल्लेख "यह देवता" अथवा "जिसके नाम में भूत या पशु शब्द है" यह कहकर अप्रत्यक्ष रीति से किया गया है । ऋग्वेद में आए रुद्र शब्द का[2] रुद्रिय उच्चारण करने का विधान[3] केवल इसलिए किया गया है कि यथावत नामोच्चारण से कहीं वह यज्ञशाला में न घुस आए[4] । यज्ञ-विधि के अनुसार सभी देवताओं की आहुतियाँ अग्नि में अर्पित की जाती हैं, जबकि रुद्र और उनके अनुचर रुद्रियों की बलि चतुष्पथों आदि पर डाली जाती रही है[5] । इस प्रकार वैदिक देवताओं में रुद्र वृषाकपि की ही भाँति, जिस पर आगे प्रकाश डालेंगे, बाहरी तत्त्व प्रतीत होता है, भय का कारण और दूर रहने के लिए प्रार्थित, यद्यपि वह निश्चय ही ऋग्वेद के प्रारम्भिक मण्डलों में प्राप्त होने से वैदिक-साहित्य में बहुत पूर्व की प्रविष्टि ज्ञात होता है[6] । यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि हनुमान और गणेश, आर्येतर देवता भी रुद्र कहलाते हैं और रुद्र नाम भी वैदिक रुद्र के द्राविड तत्त्व का संकेत करता है । द्राविडों के इस अग्निवर्ण लाल देवता को, जिसकी मौलिक अरुणता आग्नेय मूल की है, इसके रंग पर से आर्यों ने इसे पहले रुध्र (लाल) कहा हो यह सम्भव है, जो पहले से विद्यमान उनके आँधी के देवता रुद्र से फिर अभिन्न मान लिया गया हो, जिसका अर्थ भयानक न होकर रुद् धातु से चिल्लानेवाला होता है[7] । आर्यों के लिए तो द्राविडों का देवता होने से यह प्रत्यक्ष संहारकारी कालरूप रुद्र ही था, जिसे पौराणिक साहित्य में भी दैत्यों का आराध्य कहा गया है । ध्यानस्थ योगी, विरूपाक्ष, पशुपति और ऊर्ध्वलिंग शिव की कल्पना के सभी गहन और आध्यात्मिक रूप मोहें-जो-डेरो के निवासियों को, जिनके द्राविड होने की ही सम्भावना अधिक है, ज्ञात थे और ये पीछे के शैव विश्वासों से भिन्न नहीं हैं[8] ।

---

१. शिव = तमिल शिवण, चिवण = लाल (विषपान से नीलकण्ठ तथा स्वयं) लोहित । शम्भु = (तमिल) चेम्पु या शेम्बु = ताम्र अर्थात् लाल धातु ।
२. ऋग्वेद २।३।१।
३. ऐतरेयब्राह्मण ३।३।९-१० ।
४. वही, ३।३।१० ।
५. कीथ: रिलीजन एण्ड फिलॉसॉफी ऑफ दी वेद एण्ड उपनिषद्स, हारवर्ड ओरिएण्टल सीरीज, कैम्ब्रिज मैन्युस्क्रिप्ट्स्, खण्ड ३१, पृष्ठ १४५ ।
६. ओल्डेनबर्ग : प्रोलेगोमेना ।
७. पी० टी० श्रीनिवास ऐयंगर : लाइफ इन एन्शण्ट इंडिया इन दि एज ऑफ दि मंत्राज (मद्रास, १९१२), पृष्ठ १२५ तथा द्राविडिक स्टडीज, संख्या ३, पृष्ठ ६१-६२ ।
८. हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि इण्डियन पीपल, खंड १, चित्रफलक ७ ।

श्री-विष्णु

हमारा विष्णु अंशतः आर्य सूर्य का रूप है और अंशतः वह आकाश का नीलवर्ण द्राविड देवता (तमिल विण् = आकाश और विष्णु का प्राकृत रूप विहणु—वेण्हु[1]) है। उसकी अभिन्नता आगम में उसके सर्वोच्च देव होने से वैदिक विष्णु के साथ स्थापित नहीं की जा सकती, जिसके देव समाज में वह अधिकतम उपेन्द्र है और व्यक्तित्व एवं श्यामरंग का जहाँ प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। श्री अन्न, धन, रूप और सौख्य की देवी के रूप में और इस नाम में भी आर्य है; परन्तु विष्णु के साथ उसका पत्नीत्व एवं गज-लक्ष्मी रूप द्राविड मूल का है[2]।

कान्हा

कृष्ण (प्राकृत कान्ह, तमिल कण्णन्) ऋग्वेद में सूर्य के समान तेजस्वी इन्द्रविरोधी असुर है[3]। अंशतः वह यौवन का द्राविड देवता है[4]। द्राविडों की अथवा अहि (तमिल आयीर) या अहीर ग्वालों की स्मृति में संभवतः जातीय वीर के रूप में रहा ऋग्वेदीय असुर कृष्ण का व्यक्तित्व, उसकी इन्द्रविरोधी प्रवृत्तियाँ, गोपाल अहीरों में इसकी लोकप्रियता और उनके यौवन के देवता की श्रृंगारिक कल्पनाएँ कालक्रम में आर्यों के पूजित वीर महाभारत के मूल वासुदेव कृष्ण पर आरोपित हुई प्रतीत होती हैं, जिनके चरित्र में कुछ विद्वानों ने हरि विशेषणवाले इन्द्र की लीलाओं का आरोप देखा है[5] और जो पाणिनि से पहले ही[6] विष्णु का अवतार मान लिये गये थे तथा कालक्रम में इन विविध आरोपों के फलस्वरूप जिनकी कथा पल्लवित हुई, गोपियों से घिर गयी, श्रृंगारिक तत्वों का उपासकों की रुचि के अनुकूल उसमें प्राचुर्य हुआ, उसका द्राविड प्रभावयुक्त भारत के ठेठ पूर्व एवं दक्षिण प्रदेशों में विकास हुआ, जिसकी चरम परिणति अथवा विकृति पुष्टिमार्ग की उपासना में हुई, जहाँ वासुदेव कृष्ण की मूल तेजस्विता सामाजिक मर्यादाच्युति के वातावरण में स्वाभाविक एवं संगत न रहकर चमत्कारजन्य एवं असंगत प्रतीत होती है।

स्कन्द और गणेश

पुराणकथाओं के शिवपुत्र कुमार या स्कन्द का मूल भी शौर्य एवं यौवन के द्राविड देवता मुरुकण् में खोजा जाता है[7] और गजानन विघ्नकर्त्ता गणेश, जो बौद्धों की महायान शाखा में भी राक्षस के रूप में सुरक्षित हैं, पौराणिक हिन्दू धर्म में कदाचित अपनी द्राविड मान्यता के अनुसार विघ्नहरण वाणीकरण बन गये हैं और अपने गजमुख में भारतीय

१. पी० टी० श्रीनिवास ऐयंगर : पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ १२६।

२. द्राविडिक स्टडीज, संख्या ३, पृष्ठ ६२।

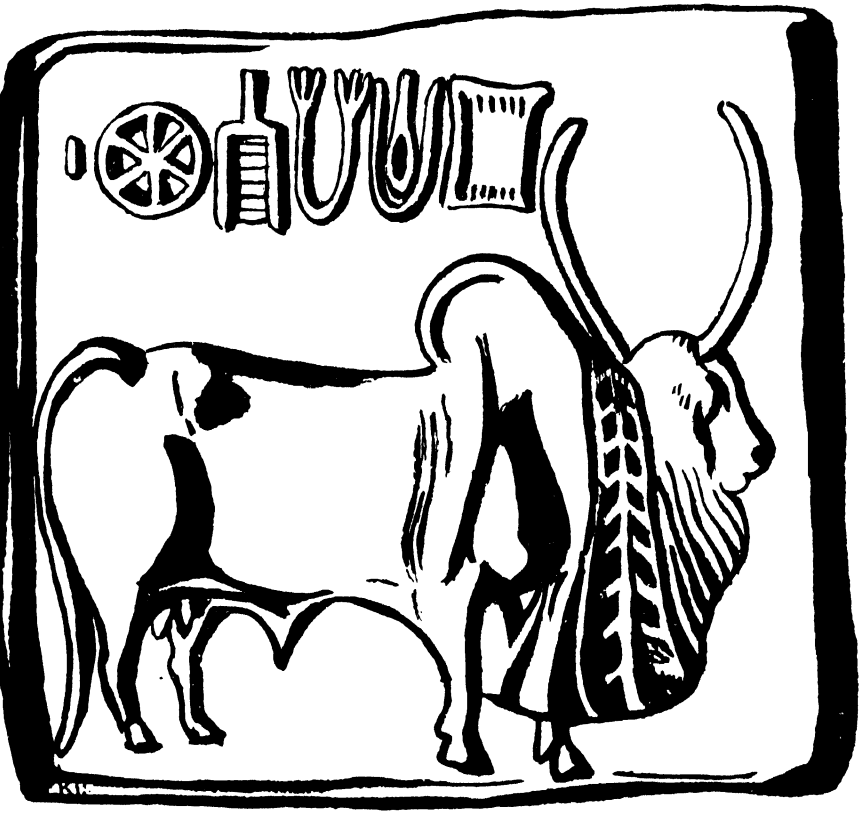
३. ऋग्वेद ८।२५।१२-१८।

४. पी० टी० श्रीनिवास ऐयंगर : पूर्वनिर्देशित।

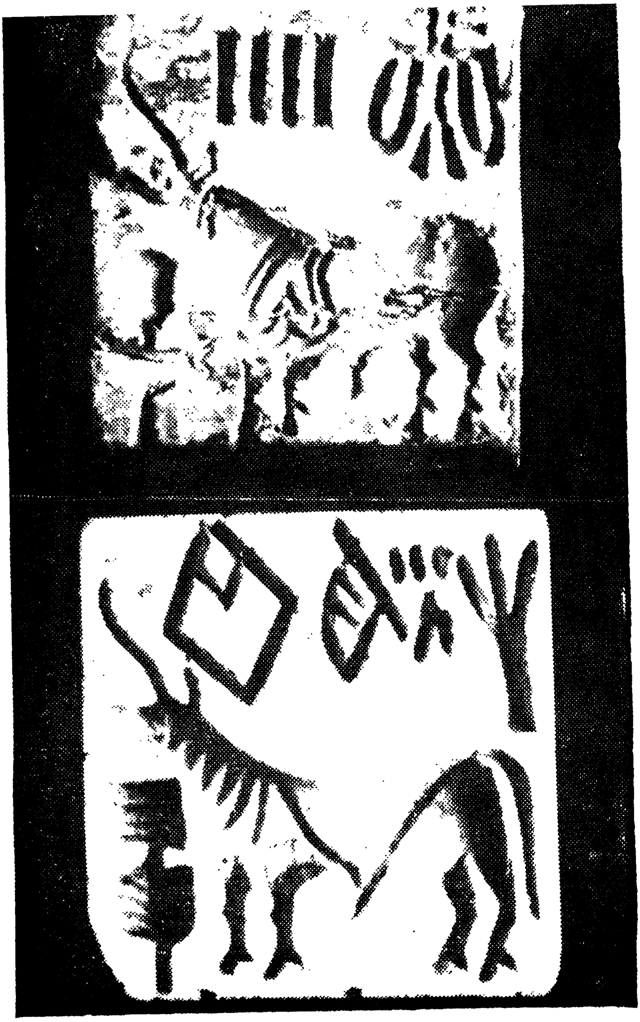
५. डॉ० सत्येन्द्र : भारती, जून १९५४, पृष्ठ २८-३४।

६. डॉ० वासुदेवशरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ३५१।

७. प्रि आर्यन तमिल कल्चर, मद्रास, १९३०।



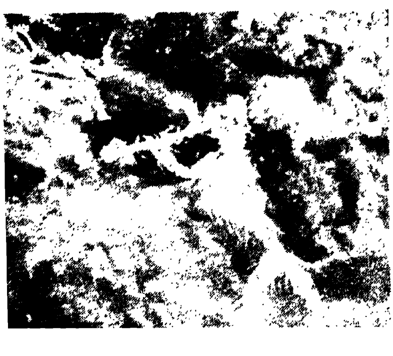
इस भू-प्रदेश के मानव का प्राचीन साथी-मुहेंजोडेरो का वृष
(पृष्ठ ८४)



अहमदाबाद जिले में ढोला तालुके के सरागवाला गाँव के निकट प्राप्त पकी हुई मिट्टी की मुहरें

★

प्रागैतिहासिक चितेरे की कला (पृष्ठ ६१)





उत्पत्ति का और लाल रंग में आग्नेय मूल का प्रमाण लिये हैं। यजुर्वेद में जो "गजानांत्वा गणपति हवामहे" आदि मंत्र हैं उसके आधार पर गणेश को वैदिक मानना व्यर्थ है, कारण कि इस मन्त्र में गणपति अश्वमेध के घोड़े को कहा गया है[1]।

जान्तव देवता

हिन्दू धर्मकथाओं के जान्तव देवताओं का आर्यों को सीमित ज्ञान प्रतीत होता है। वैदिक धर्म में पशुओं का उल्लेखमात्र उपमेय के रूप में लक्षित है। केवल दधिक्रावन अश्व और दिव्यश्येन या सुपर्ण वहाँ उपलब्ध होते हैं, जिनमें विष्णुवाहन गरुड़ का नाम तद्वाची तमिल "कजु" शब्द से ग्रहीत द्राविड़ मूल का माना जाता है।

रामायण कथा का हनुमान हमारे प्रदेश में और भारतवर्ष में व्यापक रूप से पूजित है और मूलतः प्रागार्य द्राविडो द्वारा आग्नेयों से ग्रहण करके संतानदाता एवं संकट-मोचन के रूप में पूजित "वृषाकपि" है, जिसके हनुमन्त नाम का तमिल के पुरुष वानरवाची "अण्मंति" शब्द से सादृश्य है और जिसे वैदिक एवं द्राविड संस्कृति के समन्वय की प्रवृत्ति में आर्यों द्वारा अत्यन्त अनिच्छापूर्वक देवत्व प्रदान किया गया है। ऋग्वेद में इन्द्र द्वारा वृषाकपि में अपने पुत्रत्व अर्थात् देवत्व की समयानुकूल स्थापना और इन्द्राणी द्वारा इसका परिदेवनापूर्ण विरोध मार्मिक हैं, कट्टर आर्यभावना की आन्तरिक पीड़ा का द्योतक है[2]।

बैल और गाय के पूज्यत्व में कुछ आर्यतत्त्व हो सकते हैं; परन्तु इनमें आज की सीमा तक पूज्यता एवं अवध्यता की भावना प्रागार्य या द्राविड है। पीछे के अथर्ववेद के काल में भी वैदिक धर्मावलम्बी आर्य यज्ञशाला के बाहर ही गोवध का निषेध कर सके थे[3]।

धर्मकथाएँ

धर्मकथाओं का जहाँ तक सम्बन्ध है, सर आर्थर इवान्स की खोजों के अनुसार यूनान के देवी-देवता, धर्मकथाएँ और वीरगाथाएँ अधिकांश में द्राविड हैं और वहाँ आर्य भाषा के प्रचार के साथ उनका केवल भाषान्तर हो गया है और हमारे प्रदेश के देवताओं, धर्म-कथाओं और पौराणिक वीरगाथाओं की स्थिति भी उससे अधिक भिन्न नहीं है। उनमें परिवर्तन है, परिवर्द्धन है तथा आग्नेय, द्राविड और आर्यों का साहित्य, अनुश्रुतियाँ, इतिहास, आख्यान, कला और विज्ञान तत्त्वदर्शी ब्राह्मणों द्वारा एक अविभाज्य हिन्दू समाज का समन्वयपूर्ण राष्ट्रीय साहित्य प्रस्तुत करने के लिए एक सूत्र में ग्रथित किये गये हैं। मार्क कालिस ने और कन्नड़ कोष में किटेल ने वे सैकड़ों तत्त्व निर्दशित किये हैं, जो आज की हमारी संस्कृति के अधिक और उत्तम अंश को द्राविड मूल का प्रदर्शित करते हैं। सिन्धु और चम्बलघाटियों में विभिन्न प्रकार के पशुओं और आकृतियों से युक्त जो अंकन मिले हैं, वे उनके निर्माताओं की उस तरल कल्पनाशक्ति का परिचय देते हैं, जिसके

---

१. दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ५७।

२. ऋग्वेद १०।८६।

३. वी० एम० आपटे : हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि इंडियन पीपल, खण्ड १, पृष्ठ ४६०।

आधार पर लोककथाओं के अलौकिक और कौतूहलवर्द्धक अभिप्रायों का जन्म होता है। इन्हीं लोककथाओं के आधार पर धर्मकथाएँ बनती हैं।

धर्म का वैयक्तिक रूप

चम्बल और सिन्धु-घाटी की इस प्राचीन सभ्यता के केन्द्रों के उत्खनन में अबतक किसी मन्दिर के अवशेष नहीं मिले हैं। ज्ञात यह होता है कि इस काल में धर्म को राज्य का या सामूहिक समाज का अंग नहीं बनाया गया था। प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने विश्वास के अनुसार देवता की आराधना के लिए स्वतन्त्र था। इन देवाकृतियों की जो मुद्राएँ अहमदाबाद, सिन्ध तथा पंजाब में मिली हैं उनपर भिन्न-भिन्न अभिप्राय बने हुए हैं। अनुमान यह है कि प्रत्येक पणि अपने अनुचरों को मार्ग में पहचान के लिए अथवा उसकी सुरक्षा के लिए अपने आराध्य के रूप से अंकित यह मुद्रा दे देता था, जो मार्ग के उसके नाकों पर उसकी पहचान भी करा देते थे तथा उसके देव के अनुग्रह को भी आकर्षित करते थे, जिससे कि उसकी यात्रा सकुशल पूरी हो। अन्य जो भी मूर्तियाँ या उपकरण मिले हैं, वे जीवन को आनन्दमय बनानेवाले उपकरण-मात्र हैं। धर्म को समाज या राज्य का अंग बनाने की परम्परा पीछे चली ज्ञात होती है, जिसके कारण भारत में ही नहीं, समस्त संसार में आगे अत्यधिक उत्पीड़न, रक्तपात और ध्वंसलीला हुई। यद्यपि इन पिछले अभियानों में मूल भावना तो राज्य और धनलिप्सा होती थी; परन्तु धर्म को राजनीति से बाँधकर इन क्रूर आक्रमणों का बहाना बना दिया जाता था और उसे बदनाम भी किया जाता था। यह स्मरणीय है कि आर्यों का आक्रमण भी धर्मप्रचार के लिए न होकर गायों और नगरों की प्राप्ति के लिए हुआ था। जिनसे वे ये नगर या गायें लूटते थे, वे यज्ञहीन थे, यह तो आनुषंगिक ही था, जिसका बहाना आगे के साहित्य में बहुत ऊँचे स्वर से लिया गया है। सिन्धु और चम्बल-घाटी के निवासियों की सहिष्णुता, उल्लासमय जीवनधर्म तथा धार्मिक विश्वासों की तरलता ने आक्रान्ताओं को विमोहित किया था और उनने उसे शनैः शनैः अपना लिया।

सामाजिक जीवन

आर्य धर्म में निषाद एवं द्राविड़ प्रभाव से हुआ परिवर्तन उसके विकास में प्राग्वैदिक भारतवासियों के योगदान का परिचायक है। हमारे प्रदेश के सामाजिक जीवन की स्थिति भी यही है। आर्य जौ और मांस खाते आए थे और आज हमारी थाली अनेक भोज्यों से पूर्ण पोषण देती है। आर्य ऊन के वस्त्र पहनते हुए भारत में आए और यहाँ उन्हें टखनों तक पहुँचनेवाली (आप्रपदीन) सूती धोती, उत्तरीय तथा उष्णीष प्राप्त हुए।

लिपि

अन्य अनेक सामाजिक संस्थाओं के साथ प्रागार्य द्राविड़ लेखनकला से परिचित थे और यह हमें द्राविड़ों से प्राप्त हुई है[1], जिसे आर्यों ने सम्भवतः महाभारत के काल में ब्राह्मी लिपि के पूर्वतन रूप में इनसे सीखा, जो सिन्धुघाटी की मुद्राओं पर

१. बिशप काल्डवेल : पूर्वनिर्देशित ।

प्राप्त लिपि की उत्तराधिकारिणी थी, जिसमें उपाख्यान में "गणेश" के रूप में उल्लेखित अनुमानतः किसी द्राविड ब्राह्मण द्वारा "जय" (महाभारत का मूल रूप) काव्य लिखा गया, व्यास द्वारा संग्रहीत वैदिक श्रुति साहित्य जिसमें पहली बार अभिलेखित हुआ[1] और हमारे प्रदेश में यह लिपि वर्त्तमान देवनागरी के रूप में इन द्राविड मूल के नागों के द्वारा ही कालान्तर में विकसित हुई।

संगीत

इन द्राविडों में कलाभिरुचि, सौन्दर्यानुभूति और उसे अभिव्यक्त करने के लिए कलाकुशलता विद्यमान थी। सिन्धुघाटी के उत्खनन में प्राप्त नर्तकी नृत्यकला के इनके ज्ञान की सूचना देती है[2], जिसके लिए वाद्य और गीत का ज्ञान अपरिहार्य है। बाघ गुहा में जिस कमनीय नृत्यमण्डली का अंकन है, उसकी मुखमुद्रा आर्य कदापि नहीं है। चम्बल-घाटी में प्राप्त नगरों के निवासियों के उत्कर्षकाल के हजारों वर्ष पश्चात् उनका यह प्रफुल्ल रूप बाघ गुहा की भित्तियों पर मिलता है,जो इनके संगीत-नृत्य के कौशल का परिचायक है।

मूर्त्तिकला और स्थापत्य

यहाँ यह तथ्य भी स्मरणीय है कि मूर्त्तिकला की प्रक्रिया तक्षण में प्रयुक्त तक्ष् धातु, मुहें-जो-डेरो के पीछे के काल में भी उपलब्ध तक्षशिला और उसके तक्षक नागों के नामों में इसी परम्परा में उपलब्ध होती है। यह सम्भावना है कि तक्षक नागों का मूर्त्ति-निर्माण एवं स्थापत्य जातीय कौशल हो, इन तक्षण निर्माणों को देखकर मन्त्रद्रष्टा इतने मुग्ध हुए हों कि अपने आपको कारु (मजूर) कहने में और अपनी मंत्र-रचना को तक्षण कार्य कहने में उन्हें हेटी का अनुभव न होकर गर्व हुआ हो। इनकी पाषाण तथा मिट्टी की मूर्त्तियाँ इनके इस कला में पूर्ण दक्ष होने का प्रमाण हैं।

भारत में बहुत दिन रहने के पश्चात् भी आर्य उत्तम भवनों के लिए मय दानवों और तक्षकों के आश्रित थे, जिन्हें सिंचाई के लिए नदियों के बाँध, नगर, प्राकार और दुर्ग-निर्माण का ज्ञान था[3]। द्राविडों की इस दिशा में अपने लिए असम्भव दक्षता देखकर ये भोले आर्य ईर्ष्यावश उसे "माया" कहते थे। मूर्त्तिकला के क्षेत्रों में भी, यद्यपि आर्यों की यज्ञशालाओं के तोरण[4] और कदाचित कपाट[5] द्वार-देवियों के भास्कर्य से अलंकृत होने लगे थे, भारतीय द्राविड उनसे बहुत अधिक बढ़े-चढ़े थे। भास्कर्य ही नहीं, वे समग्र मूर्त्तियाँ भी पूजा तथा सौन्दर्य-साधना के हेतु पूर्ण कुशलता से कोरते थे, पाषाण और मृण्मूर्त्तियाँ ही नहीं, वे धातुमूर्त्तियाँ भी ढालते थे, यह सिन्धुघाटी के अवशेषों से स्पष्ट है[6]।

---

१. अलबेरूनी का भारत, सन्तराम बी० ए० का अनुवाद, दूसरा भाग, पृष्ठ ३१ तथा ८९।

२. सतीशचन्द्र काला : मोहें-जो-दड़ो तथा सिन्धु सभ्यता, चित्रफलक २।

३. दिनकर : पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ ४।

४. ऋग्वेद ९।५।५।

५. वही, १०।११०।५।

६. सतीशचन्द्र काला : पूर्वनिर्देशित, चित्रफलक क्रमांक १, २, २३, २४ 'अ' 'ब' आदि।

चित्रकला

वृषभ एवं पशुपति आदि की मुद्राएँ जहाँ भास्कर्य की, मृण्मूर्त्तिनिर्माण की इनकी कुशलता का साक्ष्य देती हैं, वहाँ वे यह भी सूचित करती हैं कि इसकी पृष्ठभूमि के लिए आवश्यक चित्रांकन भी ये करते रहे होंगे, जिनके अवशेष मिट्टी के पात्रों पर की चित्रकारी के अतिरिक्त[1] प्राप्त नहीं हो सके हैं।

हमारे प्रदेश के जीवन के प्रत्येक पहलू का विश्लेषण करके, उसके इस काल के चम्बल-घाटी के निवासी तथा उनके सहजीवी सिन्धु-घाटी और यमुना के तीरों के निवासियों के तत्त्वों का वर्णन वस्तुतः हमारी अधिकांश वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था का वर्णन होगा। परन्तु यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि जिस जीवन में हम रहे हैं, वह एक यौगिक संस्कृति है। उसके निषाद, द्राविड और आर्य तत्त्व हमारे मिश्रित रक्त के अणुओं की ही भाँति अलग-अलग नहीं किये जा सकते। रस्सी के तन्तुओं के समान भी उनका स्वतन्त्र अस्तित्व अवशिष्ट नहीं है, वे तो मानो गलाकर विश्व में अप्रतिम उच्च मानोंवाली उदार संस्कृति के कीर्तिस्तम्भ के रूप में ढाल दिये गये हैं। यह स्पष्ट है कि आगे जो वैदिक संस्कृति विकसित हुई, वह मात्र आर्य संस्कृति नहीं थी। पामीर के आक्रामक आर्यों के अथवा पामीर से ईरान होते हुए आनेवाले आर्यों के आचार-विचार भारत के उनके पूर्व के निवासी, ९० नदियों के अधिपति, सैकड़ों नगरों के निर्माता (अभी तक के उत्खननों के अनुसार) कान्यकुब्ज से पंजाब, बलूचिस्तान और सिन्ध तक अपने राजमार्गों और नदियों से पोतों द्वारा पश्चिम के बन्दरगाहों तक अपने पण्य को विदेशों में भेजनेवाले चम्बल और सिन्धु-घाटी के निवासी प्रागार्य भारतीयों की अत्यन्त विकसित सभ्यता के समुद्र में डूब गये और उसके परिणामस्वरूप वैदिक और उत्तर संस्कृति का रूपनिर्माण हुआ। वैदिक संस्कृति नर्मदा, चम्बल, यमुना और सिन्धु की संस्कृति है, आर्यों की विजयवाहिनियाँ उसमें अपना दम्भ धो बैठीं और परिणामस्वरूप "आर्य" किसी नृवंश का द्योतक न होकर इस समन्वित सभ्यता को ग्रहण करनेवालों की श्रेष्ठता का सूचक बन गया।

---

१. वही, फलक ११ तथा भारती, जुलाई १९५६, पृष्ठ ४५७।

वैदिक युग

(ई० पू० २५०० से ई० पू० ८०० लगभग)

सार्वदेशिक वैदिक संस्कृति

प्राग्वैदिक और वैदिक संस्कृतियों का समन्वय

हमारे प्रदेश के रंगमंच पर जब इतिहास के प्रथम दृश्य की यवनिका उठती है, तब यमुना से नर्मदा तक के प्रदेश में नाग और असुरों के वृषपर्वा, शंबर और कुमुद के पूर्वज और वंशधरों के विशाल संस्कृतिसागर की उच्छल लहरें च्यवन, शुक्र, ऋचीक, जमदग्नि, परशुराम और अत्रियों की सशक्त आध्यात्मिक परम्पराओं के नियमन में गगनविहार करती दृष्टिगोचर होती हैं। उसमें प्राचीनत्व की गरिमा, प्राचुर्य एवं विकास की पराकाष्ठा, स्थैर्य के लिए अपेक्षित मंगलकारी सामाजिक मर्यादाएँ और दुर्दम्य सजीवता के साथ सहृदयता और सरसता चर्मण्वती, शुक्तिमती, तमसा, मधुमती, पारा और सिन्धु के तटों का सिंचन करती है, जिसका कुछ आभास पिछले अध्याय में मिल चुका है। इस पुण्यभूमि के प्रांगण में हम हिमालय के अंचलों से उतरकर मानववंशी एक्षाकुओं को पोषण प्राप्त करते देखते हैं और पलक मारते, भले ही इतिहास में उसे शताब्दियाँ लगी हों, चन्द्रवंशी राजन्यों की मेघमाला इस प्रदेश पर छा जाती दिखती है। पहले ये विजेताओं के रूप में आए, रंग और निष्ठाभेद के उद्घोष का अपने योद्धा सैनिकों में नई स्फूर्ति भरने के लिए नाद करते हुए यहाँ के नदीपुलिनों पर उतरे, फिर वे इसी महासमुद्र में विलीन हो गये। मानववंश का सूर्य विष्णु में समा गया और जिन अहियों (नागों) का वह दमन करता आ रहा था, पीछे वह उनकी गोद में सुख से सो गया, और चन्द्र अहियों द्वारा सेवित रुद्र की जटाओं का अलंकार बना। प्रस्तुत अध्याय में हमारे प्रदेश में वैदिक काल में हुए इस समन्वय की कहानी कही गयी है।

कालसीमा

वैदिक युग के अन्तर्गत मध्यदेश के उस युग के प्रमुख जन एवं जनपदों की कहानी और उनके सांस्कृतिक उतार-चढ़ाव का विवरण दिया गया है, जिसमें आर्यों का आगमन हुआ, वैदिक ऋचाओं की रचना हुई, वे विविध ऋषिवंशों के मंडलों में संग्रहीत हुईं; वेदव्यास ने महाभारत के युद्ध के पश्चात् उनका संहिताकरण[1] किया, संभवतः उन्हें लिपिबद्ध भी किया,[2] उनके अनुसार होनेवाले श्रौत यज्ञों के रहस्यविवेचन के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं श्रौत सूत्रों का निर्माण हुआ तथा श्रौत कर्मकाण्ड से अघाकर धर्मसाधकों

---

१. भागवत १।४।१९-२०।

२. अलबेरूनी का भारत, सीताराम बी० ए० का अनुवाद, दूसरा भाग, पृष्ठ ३१ तथा ८९।

ने आरण्यक एवं उपनिषदों की ज्ञानज्योति मानो इसी पूर्वस्थित सामग्री के स्नेह से दीपित की। इस प्रकार भारत के सांस्कृतिक इतिहास में यह एक विशिष्ट कालमान है, अतः इस प्रकरण में मध्यदेश से सम्बद्ध ऐतिहासिक मूल्य की इस युग की अनुश्रुतियों के आदिकाल से लेकर प्रद्योत सम्राटों के पूर्व तक के इतिहास का वर्णन किया गया है। इस युग का काल-विस्तार बहुत लंबा है, लगभग दो-ढाई हजार वर्ष का, अतः इसे वर्णन की सुविधा की दृष्टि से इस काल में होनेवाली महत्त्वपूर्ण घटनाओं के बिन्दु पर विभाजित कर दिया गया है। राम भार्गव (परशुराम) का अभ्युदय चन्द्रवंशी ऐल हैहयों के आगमन पर स्थानीय तत्त्वों की चरम प्रतिक्रिया का द्योतक है, भार्गव वाल्मीकि मुनि का काल इस प्रदेश के सांस्कृतिक पुनरुत्थान की एक उज्ज्वल सीमारेखा है, वासुदेव कृष्ण का जन्म विविध भावनाओं की समन्वय की ओर अभिमुख प्रवृत्ति का द्योतक है तथा आरण्यक एवं उपनिषदों की वाणी इस विकास-क्रम में एक नवीन भारत के आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक अभ्युदय का प्रतीक है, अतः इन विभागों को परशुराम युग, वाल्मीकि युग, वासुदेव कृष्ण युग और उपनिषद् युग कहा गया है।

युग की विशेषता

इस युग की विविध सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के विकास एवं ह्रास का विवेचन आगे करेंगे, यहाँ केवल यह संकेत कर देना उचित है कि यद्यपि अनेक अत्यन्त शक्तिशाली व्यक्तियों का, अश्वमेधियों और चक्रवर्तियों का उद्भव इस युग में हुआ; परन्तु साम्राज्यों का निर्माण नहीं हुआ। उनका चक्रवर्तित्व जय करने में, विजित से "बलि" ग्रहण करने में, विश्वजित यज्ञ की प्रणाली में जय की लूट या बलि को निःशेष दान कर देने में, परशुराम के उदाहरण में विजित प्रदेश को ही दान कर देने में और राजाओं के उदाहरण में उनकी संतति द्वारा विजित प्रदेश में अपने जनपद स्थापित करने में सार्थक होता है।

मध्यभारत और वैदिक युग

वैदिक काल के भारतीय इतिहास पर जब हम दृष्टिपात करते हैं, तब यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि सप्तसिन्धु के प्रदेश में चन्द्रवंशी राजन्य परिवारों के "दाशराज्ञ" युद्ध जैसी एकाध घटना को छोड़कर इस काल की महान घटनाएँ मध्यदेश के जनपदों में ही घटित हुई थीं, इस प्रदेश के जन और जनपदों की प्रभा समस्त भारत के इतिहास पर छा गयी थी। इस काल की परमप्रतापी विभूतियों को किसी प्रदेश की सीमा में बाँधना सरल नहीं है। वे सार्वदेशिक थे और उनकी गति अप्रतिहत थी। भार्गव भृगुकच्छ से चले, परशुराम ने मध्यदेश के हैहय साम्राज्य का उन्मूलन किया, अपने पिता जमदग्नि के संकेत पर हिमालय में उनने तपस्या की, पिता की हत्या से विक्षुब्ध होकर इक्कीस बार कुरुक्षेत्र के मैदान को नररक्त से पूरित किया और अपने पराक्रम से विजित समस्त साम्राज्य काश्यप को दान देकर दक्षिणापथ में पश्चिमी घाट की गिरिशृंखला पर तपस्या करने चले गये। फिर भी इनका सब से विषम संघर्ष मध्यदेश के हैहयों से हुआ था, जिनकी राज-धानी माहिष्मती (वर्तमान महेश्वर) थी। जिन महर्षि वाल्मीकि ने समाजसंस्थापक और लोककल्याणकारी विचारधारा को समस्त भारत में प्रवाहित किया, उनके आश्रम तमसा (वर्तमान टोंस) और चित्रकूट में थे। यहीं भारत के आदिकवि की वाणी प्रस्फुटित

हुई थी। महाभारत के सूत्रसंचालक वासुदेव कृष्ण शूरसेन जनपद में जन्मे थे और गुजरात में द्वारिका में उनने राज्य स्थापित किया और फिर उस समय की समस्त भारत की राजनीति का संचालन किया था। इस विस्तृत काल की ये तीनों विभूतियाँ यद्यपि सार्वदेशिक थीं, तथापि वे मध्यदेश से सम्बन्धित थीं, उनका कार्यक्षेत्र यही भूमि रही। इस काल का समस्त भारत का इतिहास बहुत बड़े अंश तक इस प्रदेश के जन और जनपदों की गौरवगाथा है, जो समस्त देश के इतिहास पर विस्तृत आकाश की भाँति छा गयी थी और जिसका निर्माण भार्गव, अत्रि, अहि, नाग, असुर, मानव और यादववंश की विविध शाखाओं ने किया था।

ऐतिहासिक सामग्री--उत्खनन से प्राप्त अवशेष

इस काल के इतिहास की रूपरेखा के निर्माण में गुजरात, सिन्धुघाटी, चम्बल की घाटी, उज्जैन, नागदा तथा कन्नौज के उत्खननों में प्राप्त अवशेष अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उनका वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। वे इस प्रदेश में प्रस्तुत युग में निवास करनेवाले फले-फूले समृद्ध जनपदों की कहानी कहते हैं। इन अवशेषों की मौन वाणी अनुश्रुतियों के नाग लोकों की, उनके सुसंस्थापित सरस जीवन की अभिव्यक्ति करती है। चम्बलघाटी के नागदा के उत्खनन उस सुदूर अतीत की कहानी कहते हैं, जब शूर्पारक बन्दरगाह पर जलयानों से उतरी व्यापारिक समृद्धि, जल और पाताल के देवता कहे जानेवाले इन नागों, अहियों या अहिरों या पणियों या बनियों की नावों अथवा वाहन पशुओं के काफिलों द्वारा इस समृद्ध नाग नगर में उतरती रही होगी, जिसकी स्मृति नागदा (नागह्रद या ह्रद) आज भी आने में अपने नाम में लिये हुए है। उज्जैन और कन्नौज भी इसी यशोगाथा की समस्वरता करते हैं और अभी न जाने कितने और इस काल के अवशेष उत्खनन की बाट में इस प्रदेश की यशःकथा का अभिलेखन करने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। ये प्राग्वैदिक और वैदिक काल के अवशेष एक परम्परा के द्योतक हैं। प्राग्वैदिक युग की द्राविड संस्कृति समाप्त नहीं हुई थी, वह आर्यों के साथ घुलमिलकर एक नवीन रूप में वैदिक संस्कृति के रूप में प्रस्फुटित हुई थी। प्राग्वैदिक सिन्धु और चम्बलघाटी के भारतीयों के पुर युद्धों में नष्ट होकर पुनः नये रूप में खड़े हुए और संघर्ष के पश्चात् जानपद जन पुनः देश की समृद्धि के निर्माण में लग गये।

वैदिक संहिताएँ

जहाँ तक वैदिक संहिताओं से ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त करने का प्रश्न है, वे महत्त्वपूर्ण हैं, परन्तु उनसे प्राप्त तथ्यों में तारतम्यपूर्ण विवरण प्राप्त नहीं होता। वैदिक ऋचाओं की रचना इतिहास लिखने के दृष्टिकोण से नहीं हुई थी। उनके ऐतिहासिक उल्लेख अकस्मात् आ गये हैं, जैसे पाणिनि के अष्टाध्यायी के सूत्रों में। इन ऋचाओं की रचना मुख्यतया यज्ञों में उच्चारण के लिए हुई थी,[१] और प्रसंगतः जिन तथ्यों का उल्लेख उनमें हो गया है, वे उत्खनन में प्राप्त मुद्राओं और शिलालेखों के स्तर का, सांस्कृतिक विकास का और व्यक्तियों के अस्तित्व का भी प्रमाण देते हैं, यद्यपि इनसे विविध वंशानुक्रमों के सूत्र नहीं जुड़ते।

---

१. हिलेब्रान्त : बेजनवर्गर्स बेरित्रेज, खण्ड ८, पृष्ठ १९५।

पुराण

इस काल के जन एवं जनपदों के क्रमबद्ध इतिहास का मुख्य स्रोत पुराण हैं, यद्यपि महाभारत और रामायण में भी प्रसंगवश इन परम्पराओं के उल्लेख हैं। पुराणों का रचनाकाल अनेक विद्वान गुप्तकाल अथवा उसके भी पश्चात् का मानते हैं। पुराणों के रचनाकाल के विवेचन में हम नहीं पड़ना चाहते। उनको वर्त्तमान रूप कभी भी दिया गया हो, परन्तु उनकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। पुराण एक विद्या का नाम है। याज्ञवल्क्य स्मृति[1] में चौदह विद्याओं को गिनाते हुए सर्वप्रथम स्थान पुराण को दिया गया है। इस पुराण-विद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ समय-समय पर विस्तृत या संक्षिप्त रूप में बनते रहे। पुराण विद्या का लक्षण पुराणों ने ही बतलाया है। यह सृष्टि किस प्रकार हुई, इसका लय कहाँ और कैसे होगा, सृष्टि के पदार्थों की उत्पत्ति का क्रम किस प्रकार है, मनुष्य जाति के प्रमुख ऋषि और राजा किस क्रम से अधिकारारूढ़ हुए, उनके चरित्र कैसे थे और इस सृष्टि और प्रलय के बीच में कितना समय लगता है; इन पाँच बातों का विवेचन जिस विद्या से प्राप्त हो, वही पुराण विद्या है।[2]

ऋषियों और राजाओं के वंशानुचरित इतिहास की सामग्री देते हैं। प्राचीनकाल में देवताओं, ऋषियों और राजाओं को वंशावलियाँ तथा महान व्यक्तियों की अनुश्रुतियाँ सुरक्षित रखना सूत का विशेष कर्त्तव्य रहा है[3] और सूतों के विवरण ही संभवतः मूल पुराण के आधार थे, जिसे सुनने के लिए नैमिषारण्य में ऋषिकुलपति भार्गव शौनक[4] आदि लालायित रहते थे[5] और जिससे वर्त्तमान पुराणों ने वंशावलियों के पाठ ग्रहण किये। आधुनिक इतिहासज्ञों में पार्जिटर ने सब से पहले पुराणों का ऐतिहासिक स्रोत के रूप में मूल्यांकन किया। इनके अनुसार मूल पुराणों की रचना उसी काल में हुई, जब वैदिक वाङ्मय ने अन्तिम रूप ग्रहण किया[6] और अब यह साधारणतया स्वीकार किया जाता है कि पुराणों में अत्यंत प्राचीन काल की वंशानुक्रम सम्बन्धी वास्तविक ऐतिहासिक परम्पराएँ सुरक्षित हैं। इनकी बहुत-सी सामग्री का समर्थन वेदों के समकालीन उल्लेखों से होता है। अतः जिन स्थानों पर ऐतिहासिक विवरण देने में उपर्युक्त कारणों से वेद मौन हैं, पुराणों का साक्ष्य वहाँ स्वीकार्य होना है। रामायण और महाभारत के मुख्य अंश की ऐतिहासिकता धार्मिक उपाख्यान के रूप में उसके विस्तार की बातों और अतिशयोक्तिपूर्ण विवरणों को छोड़ते हुए साधारणतया स्वीकार की जाती है।

यह तो रही वंशानुक्रम और घटनाओं की बात। इस काल की संस्कृति का प्रामाणिक चित्र इन पुराणों में प्राप्त होना सम्भव नहीं है। अधिक सम्भावना यही है कि पुराणों के

१. पुराण न्याय मीमांसा धर्म शास्त्रांग मिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥

२. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणिच।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम् ॥

३. वायुपुराण १।३१-३२। ४. भागवत ८।६।३। ५. वही, १।४।

६. पार्जिटर: एन्शण्ट इंडियन हिस्टॉरिकल ट्रेडिशन्स, पृष्ठ ३०, ५४।

पूर्वोल्लिखित अवरकालीन संस्करणों में संस्करणकाल की संस्कृति का आरोप इन जन और जनपदों पर कर दिया गया हो। अतः सांस्कृतिक इतिहास के लिए वैदिक साहित्य को ही आधार बनाया जाता है, जो अपने आज के उपलब्ध रूप में निश्चित रूप से विवेच्य काल के अन्त तक आ गया था।

काल-निर्णय

विचाराधीन काल की पीछे की सीमा सोलह महा-जनपदों का अभ्युदय है। अनुश्रुति के अनुसार जनमेजय के प्रपौत्र अधिसीमकृष्ण और महापद्मनन्द के राज्यारोहण के बीच, जिसका स्वीकृतकाल ३८२ ई० पू० है, विविध राजवंशों की हुई २६ पीढ़ियों के आधार पर प्रत्येक पीढ़ी को १८ वर्ष देते हुए पार्जिटर ने अधिसीमकृष्ण का काल लगभग ८५० ई० पू० ठहराया है और युधिष्ठिर और अधिसीमकृष्ण के बीच के राज्यकालों को १०० वर्ष देकर महाभारत युद्ध का लगभग ९५० ई० पू०।[1] पुराणों और महाभारत के कथन पार्जिटर की इस स्थापना का प्रत्याख्यान करते हैं। इनके अनुसार परीक्षित के जन्म और महापद्मनन्द के राज्यारोहण के बीच लगभग १०१५ वर्ष व्यतीत हुए।[2] इस गणना के विरोध में तर्क यह दिया जाता है कि अनुश्रुति में इन बीच की पीढ़ियों का राज्यकाल असाधारण रूप से अधिक बताया गया है। श्री जायसवाल इसका कारण कुछ पीढ़ियों का अनुल्लेख मानते हैं और इनके इस मत का इस बीच की आचार्यों की वंशावलियों से भी समर्थन होता है।[3] इस प्रकार महाभारत युद्ध का अर्थात् वासुदेव कृष्ण का काल लगभग ३८२+१०१५= १३९७ अर्थात् १४०० ई० पू० युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

इस काल के इतिहास का वर्णन यहाँ वैवस्वत मनु से प्रारम्भ किया गया है, जो महाभारत से ९५ पीढ़ी पूर्व हुए।[4] अतः उनका काल मोटे रूप में एक पीढ़ी १८ वर्ष की गिनते हुए १४००+९५×१८=३११० ई० पू० के समीप होता है। यह कालगणना ज्योतिष की कलियुग की कालगणना ३१०२ ई० पू० के समीप भी पहुँचती है। यही सम्भवतः वह समय है, जब मनु ने बाढ़ से मानव-जाति की रक्षा की। दूसरे देशों के इतिहासों में भी यह बाढ़ ई० पू० ३१०० में बताई गयी है।[5]

पीढ़ियों की गणना का आधार

पीढ़ियों की गणना में इक्ष्वाकुवंशी राजाओं की वंशावली सबसे अधिक क्रमबद्ध प्राप्त होती है, अतः कालनिर्णय में उसी को आधार माना गया है। इसके अनुसार मोटे रूप में करूष मनु की दूसरी पीढ़ी में होने से, उसका काल ३१००—१८=३०८२ ई० पू०, बीसवीं पीढ़ी के मान्धाता का काल २७६० ई० पू०, महिष्मन्त का, वह २३वीं पीढ़ी

---

१. वही, पृष्ठ १७९-८३।

२. पार्जिटर: पूर्वनिर्देशित पृष्ठ १७९ तथा डायनेस्टीज ऑफ दी कलि एज, पृष्ठ १३-२२, ५८, ६७-६९, ७४।

३. जर्नल ऑफ बिहार ओरिएण्टल रिसर्च सोसाइटी, ३, पृष्ठ २४६।

४. जयचन्द्र विद्यालंकार: भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जिल्द १, पृष्ठ २१८।

५. वूले: उर ऑफ दि चाल्डीज (पेलिकन), पृष्ठ २३-२४।

का समकालीन होने से २६८६ ई० पू०; भार्गव परशुराम और कार्त्तवीर्य अर्जुन आदि ३० वीं पीढ़ी के समकालीन होने से, उनका काल २५४२ ई० पू०; दाशरथि राम और वाल्मीकि का, उनके ६५वीं पीढ़ी पर होने से १९३० ई० पू० और वासुदेव कृष्ण का महाभारत का पूर्वोल्लिखित १४०० ई० पू०, ठहरता है। यदि महाभारत युद्ध के काल का पार्जिटर का निर्धारण ठीक माना जाए तो इस कालगणना को लगभग ४०० वर्ष पीछे लाना पड़ेगा।

परशुराम-युग

वैदिक समाज—भार्गव

प्राग्वैदिक समाज जब वैदिक समाज का रूप धारण करता जा रहा था, उस समय उसके विविध अंगों की एक अस्पष्ट झाँकी ही हमें मिलती है। इस समाज के तीन अंग दिखाई देते हैं। पहला वर्ग उन भार्गव ऋषियों का है, जिनकी विचारधारा की परम्परा ने वैदिक और उसके पश्चात् के भारतीय संस्कृति के स्वरूप पर अपनी गहरी छाप छोड़ी। जहाँ वे समाजसंगठन के सुदृढ़ नियमों की परिकल्पना कर रहे थे, विश्वनियन्ता, विश्व और मानव के सम्बन्धों का विवेचन कर रहे थे, वहीं वे देश की तथा जन-जीवन की समृद्धि और मंगल की सिद्धि में भी निरत थे और साथ ही समाजविरोधी तत्त्वों के शमन के लिए शक्तिसाधना भी कर रहे थे। समाज के प्रति उनकी जो पावन भावना थी, उसका हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। उनके द्वारा शक्तिशाली की अहिंसा का जो प्रतिपादन किया गया और अवसर आने पर, समाजविरोधी तत्त्वों के दलन के लिए निस्पृह शक्ति का जो प्रदर्शन किया गया, उसका विवेचन हम आगे करेंगे।

ऐक्ष्वाकु और हैहय

इस समाज का दूसरा अंग वह राजन्य वर्ग था, जिसने राज्य और साम्राज्य स्थापन का क्रम चलाया तथा जिसके परिणामस्वरूप इस काल में हमें हैहय महिष्मन्त के माहिष्मती के विशाल साम्राज्य के दर्शन हुए, जिसकी सीमाओं में प्राग्वैदिक भारतीयों के नगर और जनपद समेट लिये गये थे। इन नवीन राजाओं और सम्राटों की प्रवृत्ति जब कभी समाजसाधना की ओर से हटती हुई दिखाई देती थी, तब रुद्र के शक्तिशाली उपासक भार्गव अंकुश का काम करते थे, उस समय राम जैसा प्रतापी भार्गव अपने आश्रम को छोड़ परशु लेकर रणक्षेत्र में उतर पड़ता था और अपना प्रचण्ड पराक्रम दिखाकर तथा दुर्वृत्तियों का शमन कर विजित पृथिवी का दान कर फिर लोकरचना में लग जाता था। विचारों, शस्त्रों और लोक-साधक विज्ञानों के धनी इन भार्गवों का इस युग पर इतना अधिक प्रभाव था कि इस काल के इतिहास को हमने इस वंश के सब से अधिक तेजस्वी व्यक्ति के नाम पर "परशुराम-युग" कहा है।

लोकजीवन के तत्त्व

भार्गवों और मानव इक्ष्वाकु राजन्य वर्ग के अतिरिक्त अनुश्रुतियों में उस समय के समाज के भी दर्शन होते हैं। इस काल के अहि, नाग, पणि इत्यादि का उल्लेख मिलता है। ये उल्लेख प्रसंगवश उन स्थलों पर आए हैं, जहाँ शासनपीठों पर आरूढ़ राजवंशों के द्वारा उन्हें पराजित करने का विवरण दिया गया है। परन्तु इन उल्लेखों से अनेक

तथ्य सामने आते हैं। भारत के नागरिक के रूप में तथा कुछ प्रदेशों के शासक अथवा शासन-व्यवस्था के मुखिया के रूप में उनका अस्तित्व वैदिक संहिताओं के पहले से ही था, उनका जीवनस्तर अत्यन्त उच्च था, उनकी शक्ति प्रचण्ड थी और उनके जनपद मध्यदेश तथा उस समय के अधिकांश भारत में फैले हुए थे। इनके साथ-साथ व्यापारिक केन्द्रों तथा पुरों से सटे हुए निषादों के ग्राम भी उस समय थे। इन निषादों का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। वे इन नगरनिवासियों से भी, नागरिक-जीवन के लिए आवश्यक व्यवसाय करते हुए मिलते रहे होंगे और उनमें सम्मिलित रहे होंगे। गहन दुरूह वनों में पूर्ववर्णित नीग्रो नृवंश के व्यक्ति भी रहते होंगे, जिनने इस काल में भी वस्त्रों का उपयोग प्रारम्भ न किया था, अग्नि का उपयोग भी वे सीख नहीं पाए थे और वन्य पशुओं के अतिरिक्त कभी-कभी इक्के-दुक्के मनुष्यों को भी अपना ग्रास बना लेते थे तथा जिनके विकराल रूप और कृत्यों के कारण उन्हें राक्षस कहा गया। वे कभी-कभी ऋषियों के आश्रमों से मनुष्यों को उठा ले जाते थे, जिसका एक उदाहरण तो च्यवन की माता का ही है।

परशुराम-युग का इतिहास-क्रम

इस पृष्ठ-भूमि में राजन्य वर्ग की परम्परा में मध्यदेश के उत्तर-पूर्व के कोने में वर्त्तमान बघेलखण्ड में, हमें मानववंशी करूष के दर्शन होते हैं, जिनका आगे कारूष वंश चला। राजवंशों की परम्परा अधिक क्रमबद्ध रूप से प्राप्त होने के कारण हम पहले इनके पारस्परिक सम्बन्ध और राज्यस्थापनाओं का विवरण माहिष्मती के साम्राज्य के स्थापन तक देंगे। इसके पश्चात् माहिष्मती के हैहयों तक भार्गवों की परम्परा का विवेचन कर उस संघर्ष का इतिहास देंगे, जो हैहयों और भार्गवों में हुआ था, तथा जिसका प्रधान केन्द्र वर्त्तमान मध्यभारत की सीमाओं में आनेवाला भूभाग था।

माहिष्मती-साम्राज्य का उदय

मानव कारूष

पुराणों के अनुसार मनुओं की परम्परा में अंतिम मनु वैवस्वत हुए, जिनके समय में वह विश्वव्यापक बाढ़ आई, जिसमें वेलाओं पर चढ़ते समुद्र ने मही को सर्वत: व्यापित किया और मेघों की वर्षा से वह वर्धमान हुआ।[1] शतपथ ब्राह्मण और अन्य पुराणों में भी इस घटना के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[2] इनके इल, इक्ष्वाकु, नाभाग, धृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त, प्रांशु, नाभागोदिष्ट (या नाभानेदिष्ठ), करूष तथा पृषध्र नाम के दस पुत्र हुए।[3] इनमें से करूष नाम के पुत्र से युद्ध में निश्चलता के लिए प्रसिद्ध कारूष वंश चला।[4] इनने कारूष देश, हमारे प्रदेश के बघेलखण्ड के क्षेत्र में निवास किया। इस काल में यह प्रदेश सघन वनों से ढँका था, दुर्गम था और मौर्यकाल तक यहाँ के वनों में हाथी पाए जाते थे। वात्स्यायन चाणक्य ने इस प्रदेश के हाथियों को सर्वोत्तम बतलाया है।[5] मानव-वंश का कारूष पहला दल था, जिसके संपर्क में हमारा प्रदेश आया। ये कारूष आर्य थे अथवा मानववंश के द्राविड[6] यह शंका प्रकट की जाती है। परन्तु, इतिहासज्ञों का बहुमत इन्हें द्राविड मानने को तैयार नहीं है। अत: यह कहना चाहिए कि इस घटना के फल-स्वरूप एक नयी संस्कृति की धारा ने हमारे प्रदेश में प्रवेश किया। भार्गवों और नागों की समृद्ध द्राविड संस्कृति यहाँ पहले से वर्तमान थी और अब उसमें सरल उज्ज्वल आर्यसंस्कृति का संगम प्रारम्भ हुआ।

पुरूरवा और कारूष

वैवस्वत मनु की पुत्री इला का विवाह सोम के साथ हुआ, जिससे ऐल या चन्द्रवंश का आदिपुरुष पुरूरवा उत्पन्न हुआ। इसकी राजधानी वर्तमान इलाहाबाद के समीप यमुना तट पर प्रतिष्ठान थी। पुरूरवा ने सात द्वीपों (कदाचित उत्तर और पश्चिम भारत की सात मुख्य नदियों से द्वीपीकृत भूमि) पर राज्य स्थापित किया और सौ अश्वमेध यज्ञ किये।

---

१. भागवत ८।१३।

२. शतपथ ब्राह्मण १।८।१।१-६; महाभारत (पूना संस्करण) ३।१८५; मत्स्यपुराण १।११-३४, २।१-१९।

३. पार्जिटर : एन्शंट इंडियन ट्रेडिशन्स, पृष्ठ ८४।

४. भागवत ९।२।१३।

५. अर्थशास्त्र २।२।

६. जयचंद्र विद्यालंकार : पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ २४६।

इस पुरूरवा और उर्वशी अप्सरा की प्रेम-कथा ऋग्वेद और पीछे के साहित्य में प्रसिद्ध है।[1] पुरूरवा के अधीन ऐल साम्राज्य का विस्तार हुआ। इसकी राज्यसीमा हमारे प्रदेश में कारूष योद्धाओं के राज्य से आ मिली अर्थात् इस प्रदेश के पश्चिमी अंचल में, बुन्देलखण्ड में चन्द्रवंशी आर्यों ने इस काल में प्रवेश किया।

पुरूरवा की प्रेयसी यह उर्वशी कौन थी? आज के युग में दिव्य-योनियों की बात बुद्धिगम्य नहीं हो सकती। नाग या अहि पानी और पाताल के देवता माने जाते हैं। वे आर्यों को सदा जलतटों पर अपेक्षाकृत नीचे दक्षिण की ओर प्राप्त होते रहे थे, इनके पास नावें भी थीं, यह जाति सुन्दर और प्रसाधननिपुण रही होगी। "अप्सरा" का अर्थ भी "जल से निकली" है। अतः यदि पुरूरवा ने उर्वशी से कभी अनुराग और विवाह किया था, तो उसे अपहृत नाग या अहि कन्या होना चाहिए, अर्थात् द्राविड़ सुन्दरी। इन्द्र के साथ किंवदन्तियाँ जिन अप्सराओं का सम्बन्ध जोड़ती हैं, वे भी नाविक नागों या असुरों की युद्धों में अपहृत स्त्रियाँ हों यह अनुमानगम्य है, जिस प्रवृत्ति के प्रतिनिधि उल्लेख पहले वृत्र और नमुचि के सन्दर्भ में प्राप्त हो चुके हैं।[2]

यह पुरूरवा राजर्षि और मंत्रद्रष्टा था। इन्द्र से उसकी मित्रता थी। उसने ६० वर्ष तक राज्य किया था। विशाल साम्राज्य के अधीश्वर महाप्रतापी इस आर्य-सम्राट की मृत्यु के संबंध में पुराण कहते हैं कि नैमिषारण्य में ब्रह्मवादी ऋषि यज्ञ कर रहे थे। उनका यज्ञवाट भी हिरण्मय था। विक्रान्त पुरूरवा मृगयावश वहाँ आ निकला और इन ऋषियों का वैभव देखकर उसका लोभ जाग गया। उसने ऋषि-धन लेना चाहा। अनुश्रुति कहती है कि ऋषियों के प्रत्याक्रमण से इस अव्याहत-पराक्रम राजा ने उसी तपोवन में देह त्याग दी।[3] इस कथा के सत्य होने में संदेह नहीं,[4] कौटिल्य के अर्थशास्त्र[5] और महाभारत[6] से भी पुरूरवा के अंत की इस कथा का समर्थन होता है।

कान्यकुब्ज और काशी

पुरूरवा के पुत्र आयु और अमावसु हुए। आयु प्रतिष्ठान में राज्य करता रहा और इसने दानव राजा स्वर्भानु की कन्या प्रभा से विवाह किया। अमावसु ने कान्यकुब्ज राजवंश की नींव डाली। आयु के पश्चात् नहुष राजा हुआ। इसके ययाति और क्षत्रवृद्ध पुत्र हुए। क्षत्रवृद्ध ने काशी के राज्य का प्रारम्भ किया। इस वंश में आगे दो दिवोदास

---

१. ऋग्वेद १०।९५; कालिदास: विक्रमोर्वशीयम् तथा भागवत ९।१४।१६-४९ आदि।

२. ऋग्वेद १।३३।११ तथा ५।३०।८-१०।

३. वायुपुराण २।१४।२३।

४. भगवद्दत्त: भारतवर्ष का इतिहास, पृष्ठ ४३।

५. अर्थशास्त्र (शामशास्त्री का संस्करण) १।६।

६. आदिपर्व ७०।१८-२०।

हुए। इनमें से एक दिवोदास बड़ा शक्तिशाली हुआ। वैदिक साहित्य में इसका बहुत यशोगान किया गया है। उसका यदु और तुर्वसु के वंशजों से वैमनस्य था और उसने शम्बर नामक असुर की १०० नगरियों को जीता था, ९९ को नष्ट कर दिया था।[१] दूसरा दिवोदास सगर का समकालीन था, यह धन्वन्तरि का अवतार कहा जाता है और उसने सुश्रुत संहिता में पुरःसृत शल्यप्रधान चिकित्सा का प्रथम उपदेश किया, ऐसा परम्परा से ज्ञात होता है।[२]

ययाति और वृषपर्वा

आयु की तीसरी पीढ़ी में ययाति हुआ। यह महान सम्राट था। इसने भार्गव ऋषि शुक्र की, जिन्हें उशना, काव्य तथा कवि भी कहा गया है, कन्या देवयानी से विवाह किया। आगे हमें मध्यदेश में नर्मदा के तीरों पर नागों से साक्षात्कार होता है। अतः सम्भावना यह है कि असुर और नाग प्राग्वैदिक द्राविड परम्परा के रहे हों, जिनसे भृगुवंशियों के निकट के सम्बन्ध थे। इन सम्बन्धों पर हम आगे विचार करेंगे। ययाति ने फिर वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा से भी विवाह किया। इससे भी उक्त अनुमान पुष्ट होता है, कारण कि आर्येतर जनों के उल्लेख में नागों का उल्लेख करते समय ही पौराणिक ख्यातों के कर्त्ताओं की वाणी कुछ कोमल हुई है। अतः सम्भावना यही है कि ये प्रारम्भिक सम्बन्ध सांस्कृतिक दृष्टि से उच्चतर स्तर पर विद्यमान नागों के साथ ही हुए हों।

यादव हैहय

शुक्र ऋषि की पुत्री देवयानी से ययाति के यदु और तुर्वसु उत्पन्न हुए और शर्मिष्ठा से अनु, द्रुह्यु तथा पुरु।[३] पुरु ने प्रतिष्ठान का राज्य सँभाला। पौरव वंश उसके नाम से चला। यदु को चर्मण्वती (चम्बल), वेत्रवती (बेतवा) तथा शुक्तिमती (केन) की धाराओं से सिंचित प्रदेश अर्थात् मध्यदेश या वर्तमान मध्यभारत प्राप्त हुआ।[४] इसके वंशज यादव कहलाए। इस प्रदेश का बघेलखण्डवाला भाग तुर्वसु को दिया गया। पुरु के इन पाँच पुत्रों के अतिरिक्त कान्यकुब्ज और काशी में पौरव वंश राज्य कर ही रहा था। यदु के दो पुत्र प्रसिद्ध हैं, क्रोष्टु और सहस्रजित। क्रोष्टु की सन्तान यादव कहलाई और सहस्रजित की हैहय।

पड़ोसी राज्य

मानव वंश के इक्ष्वाकु के पुत्र दण्डक का राज्य मध्यदेश के दक्षिण में दण्डकारण्य पर था तथा मनु के पुत्र शर्याति का गुजरात पर। इस शर्याति की पुत्री सुकन्या ने भार्गव ऋषि च्यवन के साथ विवाह किया। शर्याति के पुत्र का नाम आनर्त था, जिसके नाम से गुजरात प्रदेश का नाम आनर्त पड़ा।

---

१. ऋग्वेद ९।६१।२ तथा १।५१।६९।

२. सुश्रुतसंहिता – सूत्रस्थान १।२।

३. भागवत ९।१८।१४, २७।

४. पार्जिटर : पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ २५९।

रेवा और रैवत

आनर्त के तीन पुत्र हुए रोचमान, रैव और रैवत। नर्मदा नदी का रेवा नाम तथा गिरनार का रैवत सम्भवतः इन रैव और रैवत के आधिपत्य के कारण पड़े।[1] इन शार्यातों ने थोड़े समय राज्य किया और पुण्यजन नामक राक्षसों ने इन्हें उखाड़ दिया। परन्तु, ये पुण्यजन राक्षस भी वहाँ अधिक समय तक न टिक सके। मध्यदेश के यादवों ने इनका उच्छेदन किया और आनर्त प्रदेश पर अधिकार कर लिया।[2]

मान्धाता का आक्रमण

अयोध्या के ऐक्ष्वाकुओं के वंश में मान्धाता चक्रवर्त्ती सम्राट हुआ।[3] ऐलवंश की राजकुमारी बिन्दुमती से उसके तीन पुत्र पुरुकुत्स, अम्बरीष और मुचकुन्द तथा कावेरी नाम की कन्या हुई, जो कान्यकुब्ज के राजा जह्नु को ब्याही गयी। जह्नु से कावेरी का विवाह मान्धाता द्वारा कान्यकुब्ज जीतने के पश्चात् हुआ होगा।

पुरुकुत्स ने अपने पिता मान्धाता की विजयों की परम्परा आगे बढ़ाई। उसकी दृष्टि दक्षिण मध्यभारत की ओर गयी। यहाँ के नाग राजाओं को मौनेय गन्धर्वों के विरुद्ध सहायता देकर उसने विजयी बनाया तथा नाग राजा की नर्मदा नामक कन्या से विवाह किया।[4] मुचकुन्द ने पारियात्र और ऋक्ष पर्वतों (विन्ध्याचल की दो श्रेणियों के नाम) के बीच के प्रदेश को जीतकर नर्मदा किनारे एक दुर्ग का निर्माण किया।

महिष्मन्त और माहिष्मती का साम्राज्य

हैहय राजा महिष्मंत ने मुचकुन्द को पराजित किया और उससे यह गढ़ छीन लिया। इस नगर और गढ़ का नाम महिष्मन्त ने माहिष्मती (वर्त्तमान महेश्वर)[5] रखा। महिष्मन्त के पुत्र भद्रसेन्य ने पौरव राज्यों को जीता और काशी पर अधिकार किया। काशी का राजा हर्यश्व प्रतिरोध करते हुए मारा गया। उसका पुत्र सुदेव भी पराजित हुआ। हैहय आधिपत्य के काल में काशी पर क्षेमक राक्षसों ने अधिकार किया; किन्तु दुर्दम हैहय ने उन्हें मार भगाया।

इस प्रकार काशी से गुजरात तक माहिष्मती का विशाल साम्राज्य स्थापित हुआ।

---

१. जयचंद्र विद्यालंकार : पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ १२६ तथा भागवत ९।३।

२. श्री ए० डी० पुसालकर : हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि इंडियन पीपल, खंड १, पृष्ठ २७४।

३. भागवत ९।६ तथा वायुपुराण ८८।६७।

४. भागवत ९।७ तथा १-३।

५. डॉ० हीरालाल : मध्यप्रदेश का इतिहास, पृष्ठ ४।

भार्गवों की परम्परा

महर्षि भृगु

मानवों और हैहयों के प्रसंग में भार्गव शुक्र और च्यवन के उल्लेख हुए हैं। इनके वंश के आदिपुरुष महर्षि भृगु थे। ये प्राचीनतम वंश प्रवर्त्तक प्राग्वैदिक महर्षियों में से हैं[1] और अनुश्रुतियों ने इन्हें ब्रह्मा का मानसपुत्र कहा है।[2] इनको अग्नि की ज्वालाओं के साथ उत्पन्न कहा गया है,[3] जिसका तात्पर्य यही है कि शंकर के प्रतीक अग्नि की उपासना के ये मूलप्रवर्त्तक थे, और पीछे के वैदिक साहित्य ने अग्निसाधना में इनके वंशजों को जो महत्त्व दिया है, वह भी यही संकेत करता है।[4] इन्हें धनुर्विद्या का भी आदिप्रवर्त्तक माना गया है, जिसके कारण आगे की परम्पराओं को देखते हुए इनके वंश को आग्नेय अस्त्रों में विशिष्टता प्राप्त थी, ऐसा इतिहासज्ञों का मत बना है। रथ आदि अन्य युद्ध के साधनों के निर्माण में इनके वंशज विख्यात हुए।[5] इतिहासज्ञों ने अनुमान किया है कि इनके वंशज सुस्थापित नाविक थे और इनका पश्चिमी समुद्रतट से विदेशों के साथ व्यापार चलता था।

मानव धर्मशास्त्र इन्हें मनु का शिष्य या मानव कहता है और इनके द्वारा मनु ने अपने मानवधर्म के प्रसार की कामना की थी। इनके वंशज अनुश्रुतियों में राज्यलिप्सा से दूर इस मानवधर्म की स्थापना में सर्वत्र प्रवृत्त दिखाई देते हैं और जहाँ भी भौतिक वैभव नैतिक सीमाओं का अतिक्रमण करता है, इनका सम्पूर्ण अध्यात्म, निःशेष वर्चस्व और अन्ततोगत्वा आग्नेय अस्त्रों की अमोघ शक्ति उसके निवारण के लिए अग्रसर होती है, साम्राज्य स्थापना के लिए नहीं।

भारतीय मान्यताओं के आदर्श मानव समाज के प्रथम व्यवस्थापक मनु माने जाते हैं।[6] महर्षि भृगु अपने इस आचार्य के योग्यतम मानसिक उत्तराधिकारी सिद्ध हुए। इनने अपने आचार्य से दाय के रूप में प्राप्त सांस्कृतिक उत्तरदायित्व का पूर्ण निर्वाह यह व्यवस्था

---

१. मनुस्मृति १।३५।
२. महाभारत, आदिपर्व २५।१७।
३. सहज्वालाभिरुत्पन्नो भृगुस्तस्माद्भृगुः स्मृतः।
४. म्यूर: जर्नल ऑफ दी रॉयल एशियॅटिक सोसाइटी, पृष्ठ ४१०-१६; ऋग्वेद ८।४३।१३; सामवेद १।१८।
५. ऋग्वेद १०।३९।१४।
६. इतिहास में मनु के स्थान के लिए देखिए प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार: 'मनु' तथा 'इन्द्र', द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ ३३०।

देकर किया कि किसी कुल में जन्म लेने के कारण जाति का भेद नहीं होगा,[१] अर्थात् सामाजिक सम्मान उत्तराधिकार में प्राप्त नहीं होगा और इनकी पीछे की पीढ़ियों के संपर्क ने गाधियों और वीतहव्यों को ब्राह्मणत्व देकर इस परम्परा को आगे चलाया। अपने पिता के आदेशानुसार भृगु ने चारों दिशाओं की यात्रा की थी और उस काल में हुए किसी व्यापक नरसंहार की और सम्पत्ति के अपहरण की उन्हें सूचना दी थी। ये संहारक एवं अपहर्त्ता यह कहते थे कि वे इन पीड़ितों को उनके कर्मों का दण्ड दे रहे हैं।[२] ये नरसंहार और अपहरण संभवत: वे ही हैं, जिन्हें पिछले अध्याय में इन्द्र द्वारा असुरसेना का संहार तथा पणियों के धन और गायों का जीत लेना कहा गया है। इनका भृगु नाम संस्कृत भाषा में शिव का समानार्थी रहा है, जो इनकी शैव आस्था का, अर्थात् जहाँ से अनुश्रुतियाँ प्रारम्भ होती हैं, इनके प्रथम शिवोपासक होने का संकेत करता है। भारत की सांस्कृतिक परम्पराओं में इन महर्षि के शीर्षस्थानीय मान एवं अंशदान का स्मारक भगवद्‌गीता की वह उक्ति है, जिसमें मनुष्य को ब्रह्म की वरेण्य सत्ता का कुछ अनुमान हो सके इस हेतु, वासुदेव कृष्ण ने शंकर, प्रणव एवं अक्षर गिरा के तारतम्य में "भृगुरहम्" कहा है।[३]

मार्कण्डेय और शुक्र ऋषि

प्राग्वैदिक भृगुवंशी ऋषियों में मार्कण्डेय का परम शिवभक्त के रूप में उल्लेख मिलता है[४] और इनके उदात्त व्यक्तित्व का अनुमान मार्कण्डेयपुराण में ग्रथित इनके उपदेशों की परम्परा से किया जा सकता है।[५] इनके आयुर्वेद के आचार्य होने का भी उल्लेख प्राप्त होता है। भार्गव शुक्र ऋषि, जैसा पहले उल्लेख हुआ है, असुरों के गुरु थे,[६] मंत्रद्रष्टा थे और इनके अन्य नाम कवि, काव्य और उशना भी प्रसिद्ध हैं। भगवद्‌गीता में इन्हीं उशना को 'कवीनामुशना कवि:' कहकर वासुदेव कृष्ण ने ब्रह्म की विभूतियों का सूचक कहा है।[७] इन्हें संजीवनीविद्या के ज्ञाता कहा गया है। इनने एक स्मृति (समाजव्यवस्थाशास्त्र) का भी निर्माण किया था, यह सूचना कटॅलॉगस् केटलॉगोरम में दी गयी है,[८] इनका अर्थशास्त्र चाणक्य के समय तक राजनीति में मार्गदर्शन करता था और इनके चिकित्साशास्त्र में प्रवीण होने का भी उल्लेख है।[९] स्थानीय निवासियों पर, जिन्हें असुर कहा गया है और ऐतिहासिक भाषा में जिन्हें द्राविड या नाग, अहि, पणि आदि के

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व ५।६९३०।

२. शतपथ ब्राह्मण ११।६।१।१।

३. भगवद्‌गीता १०।२५।

४. भागवत १२।९।१।

५. चरकसंहिता १।१; बॉवर मैन्युस्क्रिप्ट्स, खण्ड १, पृष्ठ १५५-५६।

६. ताण्ड्य ब्राह्मण ७।५।२०

७. भगवद्‌गीता १०।३७।

८. बॉवर मैन्युस्क्रिप्ट्स, खण्ड २, पृष्ठ १५७ पर पादटिप्पणी क्रमांक ३३२।

९. वही, पृष्ठ ६५।

रूप में पहचाना जा सकता है, जब आर्यों या देवताओं के आक्रमण हुए, इस मनस्वी ने इस प्रतिरोध में उनका मार्गदर्शन किया। अनुश्रुति में यह कहा गया है कि देवराज इन्द्र ने अपनी कन्या जयन्ति देकर इन्हें अपनी ओर फोड़ने का असफल प्रयत्न किया था।[1] अपनी राजनीतिज्ञता के लिए अपने काल में ये प्रसिद्ध रहे हैं और देवताओं के पुरोहित बृहस्पति से इनकी प्रतिस्पर्धा अनुश्रुतियों में विख्यात है। परन्तु, इनके ज्ञानमन्दिर के द्वार राजनैतिक विरोधों का तिरस्कार करके सबके लिए निर्बाध खुले थे। ये यद्यपि दैत्यों के गुरु थे और आर्यों के पुरोहित बृहस्पति इनके प्रतिद्वन्द्वी थे, परन्तु बृहस्पतिपुत्र कच ने इनका अन्तेवासी होकर ज्ञानार्जन किया था। स्थानीय निवासियों का कच पर सदा रोष रहता था और शुक्र ऋषि ने अनेक बार इस शत्रुपक्ष के ज्ञानार्थी की प्राणरक्षा अपना जीवन संकट में डालकर की थी। भारतीय संस्कृति के निर्माण में इनके उदार व्यक्तित्व के अंशदान की स्मृति सप्ताह के छठे दिन के शुक्रवार और भृगुवार नाम में सुरक्षित करके आगे की पीढ़ियों ने इस ऋषि के ऋण को स्वीकार किया।

च्यवन ऋषि

भार्गव च्यवन ऋषि का उल्लेख पहले हो चुका है। महाभारत के अनुसार महर्षि भृगु की पत्नी पुलोमा का, जब वे गर्भवती थीं, पुलोम राक्षस ने हरण किया और भय के कारण गर्भ से बालक च्यवन च्युत हुए। अतः इनका नाम च्यवन पड़ा। राक्षस माता और शिशु को छोड़कर चला गया। यही मन्त्रद्रष्टा ऋषि च्यवन हुए। आर्यों के आगमन के पश्चात् यज्ञों की परम्परा में नया मोड़ आया था, हिंसक यज्ञों की परम्परा प्रचलित हुई थी[2] और राजाओं के सम्पर्क से उसमें नीच-ऊँच का भेद भी प्रारम्भ हो गया था। जो विद्वान् उस समय चिकित्सा का कार्य करते थे, उन्हें अपने इस करुणाप्रेरित कार्य के सिलसिले में जनसाधारण के सम्पर्क में आने का दोष लगाकर यज्ञ में सम्मिलित हो सकने के स्तर से सम्भवतः नीचा मानने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई थी। तैत्तिरीयसंहिता,[3] शतपथ ब्राह्मण[4] और महाभारत[5] के अश्विनीकुमारों के यज्ञ में सम्मिलित होने की पात्रता से वंचित किये जाने के उल्लेख यही संकेत करते हैं। प्रतीक रूप में अश्विनीकुमार कहे गये किसी चिकित्सक विद्वान् ने राजकुमारी सुकन्या के साथ च्यवन ऋषि का विवाह होने के पश्चात् उनका कायाकल्प किया था।[6] अवसर आने पर अश्विनीकुमारों का फिर जब यज्ञ से बहिष्कार किया गया, तब च्यवन ऋषि ने इस अनौचित्य का विरोध किया और बल-प्रयोग भी किया। परिणामस्वरूप उस यज्ञ का विध्वंस हुआ और सम्भवतः इस घटना की स्मृति के कारण ही विश्वामित्र ऋषि ने भृगुवंशियों द्वारा मख का उच्छेदन किये

---

१. बौधायन—श्रौतसूत्र १८।४६।

२. चरकसंहिता, चिकित्सास्थान १९।६।

३. तैत्तिरीयसंहिता ४।१।५।१।

४. शतपथ ब्राह्मण ६।४।९।१।

५. वनपर्व १०।३१६।

६. ऋग्वेद १।११६।१० तथा ५।७४।५।

जाने का गान किया है।[1] जिस राजा द्वारा इस यज्ञ का समारम्भ किया गया था और प्रतीक रूप से जिसे आख्यानों में इन्द्र कहा गया है, उसे इनके सक्षम हस्तक्षेप के कारण अपने दुराग्रह से विरत होने को विवश होना पड़ा था। बाणभट्ट के हर्षचरित के अनुसार इनका आश्रम सोन नदी के समीप था।

दधीचि और वत्स ऋषि

च्यवन ऋषि के ऐक्ष्वाकु वंश की सुकन्या से दधीचि ऋषि ने जन्म लिया। इनने शोणनदी के तट पर निवास करनेवाली सरस्वती से विवाह किया। बाणभट्ट ने इस शोण की धारा को चन्द्रपर्वत का अमृत का झरना, विन्ध्याचल की चन्द्रकान्तमणियों का निचोड़ और दण्डकारण्य के कर्पूरवृक्षों का चुआ हुआ प्रवाह कहा है। यह शोण विन्ध्याचल से निकलकर गंगा में मिलनेवाली आज की सोन ही है। इन सरस्वती से दधीचि ऋषि के पुत्र सारस्वत ने जन्म लिया। सारस्वत के जन्म के थोड़े ही समय पश्चात् सरस्वती ने स्वर्गारोहण किया और सारस्वत का पालन दधीचि के भाई ब्राह्मण की पत्नी अक्षमाला ने किया। अक्षमाला के पुत्र मन्त्रद्रष्टा वत्स ऋषि हुए, जिनसे आगे वत्स गोत्र चला और इनके वंशज वात्स्यायन कहलाए। सारस्वत ने वंश नहीं चलाया और वे तपस्या करते हुए बाणभट्ट के कथनानुसार च्यवन लोक को गये और "दधीचि ऋषि की हड्डियों से अप्रतिद्वन्द्वी इन्द्र ने वृत्र आदि असुरों को नवगणनवति (८१०) बार मारा था।"[2]

ऊर्व ऋषि

धनुर्विद्या के प्रवर्त्तकों की इस परम्परा में च्यवन के पुत्र आप्नवान् का विवाह नहुष की कन्या रुचि से हुआ था।[3] इनके आग्नेय अस्त्रों में पारंगत भार्गव ऊर्व ऋषि हुए। पहले उल्लेखित हैहय महिष्मन्त का वंशज कृतवीर्य उन अनेक विद्यार्थियों में था, जो अपने काल के इस अप्रतिम धनुर्वेद के आचार्य ऊर्व के आश्रम में अध्ययन के लिए आते थे। इस महाबाहु ऋषि ने उसे मेधावी देखकर विद्याध्ययन कराने के पश्चात् धनुर्वेद सिखाया और वह आग्नेयास्त्र दिया, जिसके सामने देवता भी नहीं ठहर सकते थे। हरिवंशपुराण के अनुवादक मो० लेंगलो के मत में ये आग्नेय अस्त्र भार्गवों के विशिष्ट आविष्कार थे और केरे तथा मार्शमेन ने यह अनुमान किया है कि इनने बारूद का शोध कर लिया था।[4] हैहय कृतवीर्य ने यह अस्त्र ग्रहण करने के पश्चात् अपने आचार्य को विशाल धनराशि गुरुदक्षिणा में दी और इसके राज्यकाल में हैहय राज्य की शक्ति अत्यधिक बढ़ गयी।

---

१. ऋग्वेद ९।१०१।१३।

२. वही, १।८४।१३।

३. वायुपुराण ६५।९०-९१।

४. इलियट एण्ड डाउसन : स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री (कलकत्ता संस्करण), पृष्ठ १०६-७।

ऋचीक ऋषि

ऊर्व ऋषि के पुत्र और्व ऋचीक भी मन्त्रद्रष्टा ऋषि हुए। ये भी भृगुवंश की परम्परा के अनुसार अपने समय के धनुर्वेद के महान आचार्य थे। इनके समय तक पूर्वोल्लिखित माहिष्मतीसाम्राज्य का विस्तार अत्यधिक बढ़ चुका था। शार्यातों के नष्ट होने के पश्चात् आनर्त (गुजरात) पर इनका अधिकार हो गया था। इधर कृतवीर्य के शस्त्रबल से मध्यदेश के विस्तृत भूभाग पर भी इनका आधिपत्य स्थापित होगया था। इस विशाल साम्राज्य के उत्तराधिकारियों को अहंकार उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक था। भृगुवंशज ऋषि थोड़े कारण पर ही रुष्ट हो जानेवाले प्रसिद्ध रहे हैं। अत्रि ऋषि के वंशजों का इस काल में हैहयों से सम्पर्क हुआ। श्री करंदीकर के मतानुसार ये अत्रि भी जहाज बनाने में निपुण थे और हैहयों के पुरोहित हो गये।[1] इनके प्राप्त होने तक प्रतापी हैहयों ने प्रचण्ड भार्गवों को सहन किया होगा और अनुश्रुति के अनुसार सम्भवतः अत्रियों का आश्रय मिल जाने पर, इनने इन सहजकोपनों को छेड़ना प्रारम्भ किया। इनने भार्गवों से कृतवीर्य द्वारा गुरुदक्षिणा में दिया गया धन वापस माँगा, जिसे उनने देना अस्वीकार कर दिया। हैहयों ने उनका अपमान किया और उनके विरुद्ध बलप्रयोग किया। भार्गव न जाने अपनी कितनी प्राचीन निवासभूमि आनर्त प्रदेश छोड़कर ऋचीक ऋषि के अग्रणीत्व में कान्यकुब्ज की ओर चल दिये। सामरिक दृष्टि से भार्गव कम शक्तिशाली नहीं थे, उनका ज्याघोष मौन नहीं किया जा सकता था, वे धनुर्वेद के आदिप्रवर्त्तक थे और उनके आग्नेयास्त्र भी शीतल नहीं हो गये थे, परन्तु ये राजन्य नहीं थे, युद्ध इनका व्यवसाय नहीं था, आज की कल्पना में ये सदेह विश्वविद्यालय थे, अन्वेषण संस्था थे, लोकसंग्रह के सतत साधक थे और आए दिन की विग्रह की व्यस्तता उसमें बाधक होती थी, ब्राह्मणमनोवृत्ति के भी प्रतिकूल थी। इससे भिन्न हैहयों की शक्ति भी बहुत बढ़ गयी थी, उनका राज्य बहुत विस्तृत था, अतः सम्भवतः युद्ध की तैयारी के लिए अवकाश और कूटनीतिक संगठन की अपेक्षा से भी भार्गवों के लिए यह प्रवास आवश्यक हुआ।

हैहय वैमनस्य का आरम्भ—ऋचीक और गाधि

महान धनुर्धर ऋचीक के हृदय में हैहयों के प्रति स्वाभाविक रूप से अपार रोष उत्पन्न हो गया था। क्रोधाग्नि को सार्थक करने के लिए उचित अवसर और सम्भव हो, तो उचित पात्र प्राप्त करने की इच्छा से वे कान्यकुब्ज (कन्नौज) पहुँचे, जहाँ यादववंश के राजा गाधि राज्य कर रहे थे। हैहयों से प्रतिशोध लेने के लिए इनने यहाँ शस्त्रास्त्र का संग्रह और क्षेत्रीय शासकों से सम्पर्क प्रारम्भ किया। ऋषि ऋचीक ने गाधि से उस काल की प्रथा के अनुसार उनकी पुत्री सत्यवती की याचना की। गाधि प्रसिद्ध यदु का वंशज था और राजा था। उसने ब्राह्मण ऋचीक को "अपनी कन्या के असदृश वर मानकर" चन्द्रमा के समान शुभ्र आभावाले एक सहस्र श्यामकर्ण घोड़े शुल्क के रूप में माँगे। ऋचीक ने प्रतिबन्ध पूरा किया और सत्यवती से पाणिग्रहण किया। इस विवाह के फल-

---

१. नवाकाळ, १९३२-३३।

स्वरूप प्रसिद्ध मंत्रद्रष्टा ऋषि जमदग्नि ने जन्म लिया ।[1] राजा गाधि के भी ऋचीक के अनुग्रह से विश्वरथ या विश्वामित्र ने जन्म लिया । विश्वरथ को सम्भवतः इस सम्पर्क के कारण आगे चलकर ज्ञान उत्पन्न हो गया और ये ब्राह्मण हो गये, मंत्रद्रष्टा ऋषि हुए । ब्राह्मणसमाज में जिस गायत्री मंत्र[2] की आज बड़ी महिमा है और भगवद्गीता में भी वासुदेव ने "ऋचाओं में मैं गायत्री हूँ"[3] कहकर जिसका स्तवन किया है, उसके द्रष्टा ये विश्वामित्र ही हैं और ऋग्वेद में इनके और इनके वंशजों के अनेक सूक्त हैं । इस मंत्र-सामग्री से भी इनके और भार्गवों के स्नेहपूर्ण सम्बन्धों की सूचना मिलती है । इनने अपने राज्यकाल में उन्हें सैनिक सहायता देने के अतिरिक्त पीछे उनकी कीर्त्ति को भी अपनी अमरवाणी में ग्रथित किया ।[4] विश्वामित्र के वंशज ऋषि सम्पूर्ण भारत में फैल गये और अनेक राजवंशों के पुरोहित हुए । पीछे भरतवंशी राजाओं से इनके सम्बन्ध बिगड़ गये ।[5]

---

१. भागवत ९।१५।४-११ ।

२. ऋग्वेद ४।६२।१० ।

३. भगवद्गीता १०।३५ ।

४. ऋग्वेद ८।४५।२६ तथा ९।१०१।१०३ ।

५. वही, ३।५३ ।

भार्गव-हैहय संघर्ष

कार्तवीर्य अर्जुन

भृगुवंशी ब्राह्मण इधर कान्यकुब्ज में रह रहे थे, उधर माहिष्मती में कृतवीर्य का वंशज अर्जुन, जिसे कार्तवीर्य, सहस्रार्जुन या सहस्रबाहु भी कहा जाता है, सम्पूर्ण मध्यदेश में फैले विशाल हैहय साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। यह महान चक्रवर्ती सम्राट था और इसके हजार भुजाएँ कही जाती हैं, जो सम्भवतः उसकी अपार सैन्यशक्ति की द्योतक हैं। यह बड़ा प्रतापी था और इसकी कीर्ति ने दिशाओं की सीमाओं का उल्लंघन किया था। दत्तात्रेय ऋषि को इसने अपना पुरोहित बनाया और अपनी विजययात्राएँ प्रारम्भ कीं। इसने अनूप जनपद के कर्कोटक नागों को पराजित किया, लंका के तत्कालीन रावण (राजा) को हराया और शीघ्र ही नर्मदा से हिमालय तक उसका जयध्वज फहराने लगा। उसके काल में राज्य का अभूतपूर्व वैभव बढ़ा और कहा जाता है कि उसने समस्त पृथिवी को जीता और अनेक यज्ञ किये।[1] इन विजयों से उसे दम्भ हुआ प्रतीत होता है और जब वह मार्गवर्ती राजाओं को पराजित करते हिमालय पर पहुँचा, उसने वशिष्ठ के वंशज आपव ऋषि का आश्रम जला दिया।

जमदग्नि ऋषि

माहिष्मती में जब हैहय-सम्राट सहस्रार्जुन का वैभव और प्रताप प्रचंडता के शिखर पर था, कान्यकुब्ज में भार्गवों की परम्परा में उस समय जमदग्नि हुए। उनने अपने वंश की शस्त्रास्त्रविद्या में निपुणता प्राप्त की। ये मंत्रद्रष्टा हुए, आयुर्वेद का इनने अध्ययन किया[2] और मनुष्य के लिए उपकारी औषधियों का शोध किया।[3] इनकी दया का विस्तार मानवों तक सीमित नहीं था, इनका सदय हृदय पशुओं के लिए भी आर्द्र हुआ और इनने व्यवस्था दी–"मनुष्यों, निरपराध और पवित्र गाय का वध नहीं करना।"[4] इनका विवाह ऐक्ष्वाकुवंश की राजकुमारी रेणुका के साथ हुआ और इस प्रकार अयोध्या से भी इनका वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हुआ। रेणुका से इनके चार पुत्र उत्पन्न हुए, जिनमें सब से छोटे भार्गव राम हुए। एक बार कार्तवीर्य अर्जुन इनके आश्रम में सेना सहित आया। ऋषि ने आश्रम की सुरभी नाम की कामधेनु के

---

१. भागवत ९।२५।

२. चरकसंहिता, सूत्रस्थान १।८।

३. अथर्ववेद ७।१३७।

४. ऋग्वेद ८।९०।१५।

प्रताप से इसका राजोचित सत्कार किया। लालची राजा की, जो सम्भवतः सम्पूर्ण साधन और सम्पत्ति का अधिकारी शासन को ही मानता था, दृष्टि सुरभी पर गयी। उसने वह कामधेनु मांगी। ऋषि ने देना स्वीकार नहीं किया। राजा ने बल-प्रयोग किया, किन्तु सम्भवतः जमदग्नि के आग्नेयास्त्रों से और उसके लिए अपरिचित रणकौशल से उसे पराजित होना पड़ा। अनुश्रुति इसका वर्णन इस प्रकार करती है कि ऋषि ने अपनी माया के द्वारा अपने शरीर से यवन उत्पन्न किये और उनने कार्तवीर्य को मारकर भगा दिया। दूसरी बार सम्भवतः बहुत बड़ी सेना लेकर कार्तवीर्य पुनः आया, उसने जमदग्नि का आश्रम उजाड़ दिया और वह गाय छीन ले गया। यहां से भार्गव और हैहय युद्धों का आरम्भ हुआ।[1]

भार्गव राम

जमदग्नि ऋषि के चार पुत्रों में राम यद्यपि सब से छोटे थे, तथापि भृगवंशी ऋषियों में ये महानतम हुए। रुद्र की आराधना द्वारा प्रसन्न कर इनने परशु प्राप्त किया और उसके कारण ये परशुराम प्रसिद्ध हुए। इन्हें अनुश्रुतियों ने विष्णु का अवतार[2] और ऋग्वेद ने मंत्र ऋषि[3] कहा है। ये शस्त्रास्त्रों के प्रयोग में, विशेषतः धनुर्वेद में अद्वितीय थे। यह हमने देखा है कि इनके पूर्वज ऋचीक ऋषि निरन्तर विग्रह की सम्भावनाएँ टालने के लिए माहिष्मती साम्राज्य की सीमाएँ छोड़ आए थे। कान्यकुब्ज में आकर इनने इस प्रदेश के राजपरिवारों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये थे। अपने पूर्वजों की निवासभूमि रत्नाकर (अरब सागर) की समुद्रवेला इनके नेत्रों में झूलती थी। कृतवीर्य के वंशजों के दुर्व्यवहार की अग्नि किसी अनिवार्य अवसर पर उनके आग्नेय अस्त्रों को छू लेने की बाट में थी और सहस्रार्जुन द्वारा कामधेनु के अपहरण का प्रसंग आ पहुंचा। इनने माहिष्मती पर आक्रमण किया। कार्तवीर्य अर्जुन की दत्तात्रेय द्वारा प्रदान की गयी हजार बाहुएं इनने काट डाली अर्थात् उसकी योगशक्ति और सैनिकबल का विनाश किया तथा उसका वध किया। उसके पुत्र भयभीत होकर भाग गये। परन्तु इसके पश्चात्, पिता के आदेशानुसार राजवध के पाप से मुक्त होने के निमित्त भार्गव राम को तीर्थयात्रा पर जाना पड़ा। परशुराम की अनुपस्थिति में कार्तवीर्य के पुत्रों ने आश्रम पर आक्रमण कर दिया और ध्यानमग्न जमदग्नि का वध किया। इस घटना ने स्वाभाविक रूप से परशुराम के क्रोध की सीमाएँ तोड़ दीं। विनयच्युत हुए राजन्य वर्ग के ही विरुद्ध इन्होंने युद्ध घोषित किया और इक्कीस बार (सम्भवतः २१ युद्धों में) उनका संहार किया। बचे हुए राजन्यों ने वन-पर्वतों की शरण ली। इन युद्धों में पौरव रथवान, अयोध्या के सर्वकर्मा, मगध के बृहद्रथ, अंग के चित्ररथ, काशी के वत्स, कान्यकुब्ज के विश्वरथ और वैशाली तथा विदेह के राजा भार्गव राम की ओर से लड़े थे। यह पक्षग्रहण भार्गवों के वैवाहिक सम्बन्ध और हैहयों के इन राज्यों पर

1. भागवत ९।१५।२५-२६।
2. वही, ९।१५।१४; महाभारत १२।३३९।८४, १०३-४; सुखठणकर : एनल्स ऑफ दि भांडारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट (पूना), १८, पृष्ठ ४८।
3. ऋग्वेद ८।४५।४६।

हुए आक्रमणों की पृष्ठभूमि में स्वाभाविक दिखता है। परशुराम की इन प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप हैहयशक्ति उखड़ गयी। भार्गव राम के सामने एक बड़ा प्रश्न उपस्थित हुआ। व्यापक विजयों के पश्चात् राजा विश्वजित यज्ञ करके लूटी हुई सम्पूर्ण सम्पत्ति अपने पुरोहितों को दान कर देते थे और राम ने जीता था विशाल हैहय-साम्राज्य। सम्पत्ति का प्रश्न नहीं था। अनुश्रुति यह है कि परशुराम अपने विजित राज्यों में जल भी नहीं पीते थे। उन्होंने यह जीती हुई पृथिवी भी, जिसपर साम्राज्य प्रतिष्ठित हो सकता था, वंशानुगत राज्यकामनाहीन संस्कारों के कारण काश्यप को, जो इनके पुरोहित प्रतीत होते हैं, दान करदी। काश्यप ने काश्यपपुर, पालि के कस्सपपुर (वर्त्तमान मुल्तान) में अपनी राजधानी बनाई। उस प्रदेश में मध्यकाल तक ब्राह्मण राज्य रहा। सिकन्दर को भी सिन्ध के ब्राह्मणों से ही कड़ा मुकाबला करना पड़ा था। यहाँ यह ध्यान देनेयोग्य है कि जब आगे के काल में कौरव परीक्षित पर नागों ने आक्रमण किया, उस समय इन काश्यप के वंशज संभवतः नागों के भी पुरोहित थे। अनुश्रुति के कथनों में यह मान्यता सन्निहित है कि यदि वे चाहते तो नागों के हाथों परीक्षित का वध न हो पाता[1]।

युद्धों के परिणाम

भृगुवंशज ऋषि आर्यों के आगमन से पहले सोन, तमसा, वेत्रवती और नर्मदा के तीरों पर, आनर्त (गुजरात) में, सिन्धु में, गान्धार में और संभवतः पूर्वी फारस में विद्यमान थे, उनके आश्रम इस विस्तृत प्रदेश में फैले हुए थे तथा उनसे स्थानीय पुर और ग्रामों को बौद्धिक एवं नैतिक मार्गदर्शन प्राप्त हो रहा था। यह समाज राज्य नहीं कर रहा था, कारण कि राजतंत्र का संकेत इनके द्राविड समाज में और विशेषतः भार्गवों के सन्दर्भ में इस काल में प्राप्त नहीं होता। भार्गव राम ने भीषण युद्धों में प्राप्त हुई विजयों के पश्चात् भी उसकी स्थापना की कल्पना भी नहीं की। ये उच्च स्तर का साधनामय जीवन व्यतीत करते हुए तथा लोकरचना में सक्रिय सहयोग देते हुए समाज का निर्माण कर रहे थे।

इसी पृष्ठभूमि पर आर्यों के आक्रमण हुए और आक्रमणों के साथ होनेवाली घटनाएँ भी घटीं, जिनका आभास पिछले अध्याय में मिल चुका है। इन विजेताओं ने इन आश्रमों से सम्पर्क स्थापित किया; परन्तु एक विरोध पनपता रहा। नाग, अहि और पणियों का संहार, उत्पीडन और लूटा जाना, पुरुषमेध-पशुमेध आदि की नृशंस धर्मसाधना एवं नीच-ऊँच का भेद-भाव इन स्थानीय नेताओं के निःसंग हृदयों को भी कुरेदता ही रहा था और विजेताओं को, विजितों के प्रति उनके समान ही भार्गवों का व्यवहार एवं पक्षपात, जो स्वाभाविक था, क्षोभ का कारण बना और वे भीषण युद्ध हुए, जिनका विस्तार भारत-व्यापी हुआ।

---

१. भागवत ९।१५।२७-३०; १६।११-१९; ए० डी० पुसाळकर : हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दी इंडियन पीपल, खंड १, पृष्ठ २८० ८१; अश्वघोष : सौन्दरानंद ९।१७।

इन युद्धों के कारण, जिनका रंगमंच देश के सुदूर अंचल बने थे, हैहय शक्ति को लगे अल्पकालिक आघात से भिन्न, भृगुवंशज ऋषियों के सम्पूर्ण देश के आर्य राज्यों से सहयोग और विग्रह के निकट के सम्पर्क हुए तथा विश्वामित्र के ऋषिवंश का लगभग इस संघर्ष से आनुषंगिक उद्भव हुआ और इसके महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक परिणाम हुए। इस सम्पर्क की प्रवृत्ति में आगे विस्तार ही हुआ, जब गृत्समद और वीतहव्य के ऋषिवंश भार्गव प्रभाव के कारण इसी परम्परा में और जुड़े। इस प्रकार भार्गव परशुराम के युद्ध मध्यदेश और भारतवर्ष के इतिहास में युगान्तरकारी हुए, दो विरोधी प्रवृत्तियाँ एक शिविर में एकत्र हुईं और उनने आगे के वाल्मीकि युग में दोनों धाराओं के एक स्थान पर मिल सकनेवाले घटकों से उस समन्वित संस्कृति का निर्माण किया, जिसकी प्रतिच्छवि इस काल के साहित्य में प्राप्त होती है।

हैहय असंतोष के सम्बन्ध में श्री करंदीकर की इस ऊहा में सार नहीं है कि भार्गव विदेशों से व्यापार करते थे, अतः भारतवर्ष का धन विदेशों को जाता था और हैहय देशभक्त थे, इस धन को बाहर नहीं जाने देना चाहते थे।[1] इनने यह कल्पना १९३२-३३ में अंग्रेजी राज्य में बैठकर की है, जब विदेशों के साथ का व्यापार विदेशी अंग्रेज व्यापारियों के हाथ में था और उससे भारत का धन बाहर जा रहा था। स्वदेशी हाथों में विदेशी व्यापार आज की भाँति ही देश को समृद्धि से भरनेवाला होता है और यदि भार्गव उस काल में विदेशी व्यापार करते थे, तो उससे देश समृद्ध ही हुआ होगा, समृद्ध था और धनी पणियों और अहियों की समृद्धि का कुछ अनुमान ऋग्वेद की मंत्रसामग्री से हो सकता है।

इस पीढ़ियों के क्षोभ और असन्तोष ने भार्गवों को हैहयों के सीधे संघर्ष में इनकी निस्पृहता एवं ज्ञान परायणता के कारण ही नहीं आने दिया। सहस्रबाहु के उदाहरण में उत्तेजना की सीमा हो गयी, वह लूट पर उतारू होगया, जमदग्नि ऋषि का वध ही कर दिया गया, अतः भार्गव राम को विवश शस्त्रग्रहण करना पड़ा।

पश्चिमीतट और सिंहल तक

विजित पृथिवी कश्यप को दान में दे देने के पश्चात् परशुराम को अपने दान दिये हुए राज्य की सीमाओं में ठहरना अनुचित ज्ञात हुआ और वे दक्षिणापथ में पश्चिमी समुद्रतट की ओर चले गये।[2] उसे उन्होंने बसाया, शूर्पारक बन्दरगाह बनाया और भारतीय संस्कृति को समुद्र किनारे-किनारे सिंहल तक पहुँचाया, जहाँ की पग-पग भूमि पर इनके स्पर्श के अमिट संस्कार विद्यमान हैं। कोंकण प्रदेश को आज भी परशुराम क्षेत्र कहते हैं तथा इस महान भार्गव के शौर्य तथा ज्ञानगरिमा के प्रसाद से पावन हुए इस प्रदेश के चितपावन कोंकणस्थ ब्राह्मणों ने भारत के इतिहास में बहुत पीछे तक अपने इस आदिगुरु की परम्परा को जीवित रखा है।

१. नवाकाळ, १९३२-३३।

२. भागवत ९।१६; पुसाळकर: हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दी इण्डियन पीपल, खंड १, पृष्ठ २८० तथा जयचन्द्र विद्यालंकार: पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ १५४।

इस भार्गव-हैहय वैर की परिणति में ऋचीक से लेकर परशुराम तक भार्गवों ने तीन पीढ़ियों तक कान्यकुब्ज प्रदेश में निवास किया। यहाँ वे सामूहिक निष्क्रमण करके आए थे, अतः सम्भावना यही है कि कान्यकुब्ज राज्य का आश्रय और दोआब की भूमि की प्रचुरता प्राप्त करके इसमें से बहुत-सा भार्गव समाज पुनः अपने प्रदेश को नहीं लौटा और आज भी अपना प्रादेशिक नाम कान्यकुब्ज ग्रहण किये है।

भार्गवों और हैहयों के युद्ध राजनैतिक इतिहास में युगान्तरकारी माने जाते हैं। भारत की युगविभाजन की परम्परा परशुराम के साथ कृतयुग या सतयुग की समाप्ति मानती है। परशुराम का उपाख्यान भारतीय साहित्य के प्राचीनतम उपाख्यानों में से है।[1] इस युग का भारत का मुख्य घटनाचक्र हमारे प्रदेश को केन्द्र बनाकर उसकी आवश्यकताओं से घूमता है और हमने देखा है कि परशुराम और उनके पावन पूर्वजों की यह प्रदेश लीलाभूमि रहा है। भृगुवंशी अनेक मंत्रद्रष्टा ऋषि इस काल में हमारे प्रदेश में हुए और उन्होंने इसको केन्द्र बनाकर भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक समन्वयात्मक भारतीय संस्कृति की धारा प्रवाहित की।

परशुराम के पश्चात् त्रेता युग का प्रारम्भ माना जाता है।

१. डॉ० वासुदेवशरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ३३१।

वाल्मीकि युग

मध्यदेश के राम और वाल्मीकि

जिसे हमने वाल्मीकि युग कहा है, वह समन्वित वैदिक संस्कृति के प्रसार का युग है। इसी काल में अनेक ऋषिवंशों ने इस मध्यदेश में तथा समस्त भारत में विशाल श्रुति-साहित्य के अधिकांश का निर्माण किया, वैदिक धर्म अपने चरम उत्कर्ष के साथ प्रतिष्ठित हुआ और इसी काल में दाशरथि राम अपने वनवासकाल में इस विन्ध्य-पृष्ठ के ऋषि-मुनियों के सम्पर्क में आए, यहाँ के मूल भारतवासियों के बीच चौदह वर्ष तक रहे, उनके साथ ऐक्य स्थापित किया, अपने लोकोत्तर व्यक्तित्व से यहाँ के जनजीवन को प्रभावित किया और यहाँ की उच्च विचारधाराओं से स्वयं संस्कारित हुए और इस संस्कृतिसरिता का प्रवाह अपने प्रचण्ड पराक्रम से भारत के ओर-छोर तक उनने प्लावितकिया। उनको ये लीलाएँ हमारे प्रदेश के विविध यादव और हैहय राज्यों या जनपदों के अंचल में हुई। हम इनके इस उदार चरित्र को, जिसकी सांस्कृतिक गरिमा को आदिकवि वाल्मीकि ने अमर बना दिया, इस युग में विकसित इस प्रदेश के विविध जनपदों की छाया में देखेंगे। राम की पुण्यगाथा मध्यदेश और मध्यभारत का उस युग का इतिहास है। इस युग की सांस्कृतिक और साहित्यिक प्रतिभा के प्रतीक आदिकवि वाल्मीकि मध्यदेश के थे। इन दोनों युगपुरुषों की प्रभा समस्त भारत में फैली थी। भारत के इतिहास में यह मध्य-देश के वाल्मीकि और दाशरथि राम का युग था।

तालजंघ हैहय

परशुराम के पश्चात् हैहय पुनः उठ खड़े हुए। कार्तवीर्य अर्जुन के पुत्र जयध्वज का राज्य अवन्ति में था, शूरसेन का मथुरा के क्षेत्र में, जिसके नाम से यह प्रदेश शूरसेन कहलाया और सूर का सम्भवतः सुराष्ट्र में। जयध्वज के पुत्र तालजंघ के समय से हैहयों का अधिक उत्कर्ष हुआ। तालजंघ के कई पुत्र थे। इनमें मुख्य वीतिहोत्र था। पुराणों के अनुसार तालजंघ हैहय के वीतिहोत्र, शार्यात, भोज, अवन्ति और कुंडिकेर ये पाँच पुत्र थे[1] और वे सब भी तालजंघ कहलाते थे। इनमें से वीतिहोत्र और कुंडिकेर या तुंडिकेर विन्ध्याचल में वर्त्तमान बुन्देलखण्ड में फैली पर्वतमालाओं में रहे, भोज अरावली की पहाड़ियों में और अवन्ति वर्त्तमान मालवे में। इनने यादवों से विदिशा छीन ली तथा कान्यकुब्ज, काशी और कोशल पर भी आक्रमण किये। इन आक्रमणों से कान्यकुब्ज का गाधिवंश भी निष्प्रभ हो गया था।

---

१. मत्स्यपुराण ४३।४८-४९; वायुपुराण ९४।५१-५२, तथा प्रोसीडिंग्ज ऑफ दी ऑल इंडिया ओरिएण्टल कॉन्फरेन्स, पृष्ठ ४२०-३०।

अराजक वीतिहोत्र या वीतहव्य

वीतिहोत्र के वंशजों ने, जिन्हें वीतहव्य भी कहा जाता है, आगे बढ़कर काशी पर अधिकार कर लिया। इनके सम्बन्ध ऋग्वेद में भारद्वाजों से बताए गये हैं[1] और अथर्ववेद में जमदग्नि और असित से,[2] जहाँ यह भी कहा गया है कि इस वंश का राजा ब्राह्मण की गाय खा जाने के कारण नष्ट हो गया।[3] परन्तु कालव्यतिक्रम के कारण इस उल्लेख का यहाँ महत्त्व नहीं है। इनका राजतंत्र अराजक होने का उल्लेख मिलता है।[4] अनुश्रुति के अनुसार काशी के राजा ने वहाँ के अन्तिम वीतिहोत्र को पराजित किया। उसे एक भार्गव तपस्वी की शरण लेनी पड़ी और वह ब्राह्मण हो गया। इस वंश में मन्त्र-द्रष्टा अरुण ऋषि हुए, जिनका अग्निसूक्त प्राप्त होता है।[5]

हैहय और अयोध्या

तालजंघों के आक्रमणों से अयोध्या जर्जर हो गयी। वहाँ के राजा बाहु को सिंहासन छोड़कर भार्गव ऊर्व के वंशज अग्नि ऋषि के आश्रम की शरण लेना पड़ी। वहीं उनकी मृत्यु हुई और इसी आश्रम में उनके महाप्रतापी पुत्र सगर ने जन्म लिया। सगर के जातकर्म आदि संस्कार और्व ऋषि ने स्वयं किये। वहीं उसने शिक्षा-दीक्षा ग्रहण की। इन ऋषि से उसने अत्यन्त प्रचंड आग्नेयास्त्र और महारौद्रास्त्र प्राप्त किये।[6]

विदर्भ

सगर का समकालीन यादव राजा विदर्भ था। उसने सगर के दक्षिण अभियान में उससे संधि की, अपनी कन्या केशिनी उसे ब्याह दी और आजकल विदर्भ नाम से प्रसिद्ध भूभाग में अपना राज्य स्थापित किया।[7] विदर्भ के क्रथ या भीम, कैशिक और लोमपाद पुत्र हुए। भीम विदर्भ में राज्य करता रहा। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि इसने पर्वत और नारद मुनि से सोम की प्रतिनिधि ओषधि का ज्ञान प्राप्त किया।[8] इससे प्रतीत होता है कि यह राजा वैदिक धर्म का कट्टरता से पालन करता था और मुजवंत पर्वत पर उत्पन्न होनेवाले सोम की विदर्भ में अलभ्यता के कारण या कुछ विद्वानों के अनुसार इस काल तक यह वनस्पति दुर्लभ हो जाने के कारण उसे कर्मकाण्ड-प्रधान वैदिक धर्म के पालन के हेतु उस वनस्पति की प्रतिनिधि औषधि के उपदेश की आवश्यकता हुई।

१. ऋग्वेद ६।१५।२-३।
२. अथर्ववेद ६।१३७।१।
३. वही, ५।१८।१०-११ तथा ५।१९।१।
४. वही, ५।१८।१०।
५. ऋग्वेद १०।९१।
६. ब्रह्माण्डपुराण ३।४८।२० तथा ३।४९।७८-८७।
७. जयचंद्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा जिल्द १, पृष्ठ १३८।
८. ऐतरेय ब्राह्मण ७।२४।

चेदि राज्य

कैशिक ने सगर के पश्चात् उत्तर में बढ़कर चर्मण्वती (चंबल) और शुक्तिमती (केन नदी) के मध्य के प्रदेश (बुंदेलखण्ड) में राज्य[1] स्थापित किया, जो चेदि जनपद कहलाया। उधर पूर्वोल्लिखित काशी के राजा दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन अथवा उसके पुत्र वत्स ने कौशाम्बी (कोसल) के प्रदेश को जीत लिया और प्रसिद्ध वत्स राज्य की नींव डाली। उसके पुत्र अलर्क ने काशी को भी वन्य जातियों से जीत लिया। प्रसिद्ध ऋषि अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा, जो स्वयं भी मन्त्रद्रष्टा थीं, और विदर्भ के राजा की पुत्री थीं, इसपर बड़ी कृपा रखती थीं। कहते हैं कि इन्हीं के वरदान से इस वंश के वैभव का विस्तार हुआ। इस राजवंश में आगे कशु नाम का परमप्रतापी राजा हुआ, जिसने अपने पुरोहित को सेवाकार्य के लिए दस बन्दीकृत राजा, सौ ऊँट और एक हजार गायें दक्षिणा में दीं।[2]

नल और भीमरथ

ऋथ भीम के वंश में विदर्भ का प्रसिद्ध राजा भीमरथ हुआ, जिसकी लोकोत्तर सुन्दरी कन्या दमयन्ती से हमारे प्रदेश के नलपुर (वर्त्तमान नरवर) के पुण्यश्लोक राजा नल ने विवाह किया। नलपुर (नरवर) के आसपास का प्रदेश निषध कहलाता था। चौपड़ के खेल में हार जाने के कारण नल को जब राज्य छोड़ देना पड़ा था और मार्ग में वह दमयन्ती को अकेली छोड़कर चला गया था, तब दमयन्ती को चेदि के राजमहलों में आश्रय मिला था, जहाँ से वह अपने पिता के घर पहुँची थी, इससे प्रतीत होता है कि नल के निषधप्रदेश की सीमाएँ दक्षिण-पूर्व में चेदि से मिली थीं और चेदि के दक्षिण में विदर्भ था। निषध नल का उल्लेख महाभारत और पुराणों के अतिरिक्त शतपथ ब्राह्मण[3] में भी प्राप्त होता है। यह अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण का समकालीन था। इसे अपने विपत्ति के समय में इस प्रदेश के एक नाग राजा तक्षक की तथा ऋतुपर्ण की सहायता प्राप्त हुई थी और इसने अपना खोया राज्य प्राप्त किया था।

निषध जनपद और नलपुर (नरवर)

जनश्रुति यह है कि नलपुर (वर्त्तमान नरवर) इसी राजा नल ने बसाया था। कुछ विद्वान् नल के निषध प्रदेश का अस्तित्व विन्ध्य के दक्षिण में मानते हैं। परन्तु यह मत सही ज्ञात नहीं होता। महाभारत के वनपर्व में नलोपाख्यान से यह स्पष्ट हो जाता है कि नल का निषध देश विन्ध्याचल और अवन्ति के उत्तर की ओर था। जब नल ने दमयन्ती को छोड़कर जाने का मन में संकल्प कर लिया, तब उसने उचित समझा कि वह उसे उसके पिता के राज्य विदर्भ का मार्ग समझा दे। नल ने महापथों को सम-

---

१. एन० एल० दे: ज्यॉग्रॅफिकल डिक्शनरी ऑफ एन्शिएण्ट एण्ड मिडिवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४८; एस० एन० मजूमदार द्वारा सम्पादित कनिंघम्स एन्शण्ट ज्यॉग्रॅफी ऑफ इण्डिया, पृष्ठ ७२५।

२. ऋग्वेद ८।५।३७-३८।

३. शतपथ ब्राह्मण ३।३।२।१–२।

झाते हुए कहा "ये बहुत-से मार्ग हैं, जो दक्षिण दिशा की ओर जाते हैं। यह मार्ग ऋक्षवान पर्वत को लाँघकर अवन्ति देश को जाता है।"[1] विन्ध्याचल की एक शाखा को ही ऋक्षवान कहते थे, जिससे वेत्रवती (बेतवा) नदी निकली है। जब नल चला गया, तो भटकती हुई दमयन्ती को वेत्रवती को पार करते हुए व्यापारियों का एक बहुत बड़ा समूह–महासार्थ मिला था।[2] वेत्रवती पार कर ये लोग चेदि पहुँचे थे। अतएव इन सब घटनाओं का स्थल सिन्ध और वेत्रवती के बीच का क्षेत्र हो सकता है। सिन्ध के पास ही नलपुर (शिवपुरी जिले का प्रसिद्ध नरवर) है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि नरवर को नल द्वारा बसाए जाने की जनश्रुति सत्य है और यहीं उस का निषध जनपद था।

अश्मक राज्य

ऐक्ष्वाकु मित्रसह कल्माषपाद के नियोग से उत्पन्न पुत्र अश्मक ने, जो सगर की चौदहवीं पीढ़ी में हुआ, मध्यदेश के दक्षिण में पौडन्य या पोतन (वर्तमान पैठण) को राजधानी बनाकर अश्मक राज्य की नींव डाली।[3] इसका पौत्र मूलक हुआ। इसके सम्बन्ध में अनुश्रुति है कि परशुराम के किन्हीं वंशजों के भय से यह सदा स्त्रियों से घिरा रहता था। संभवतः वे स्त्रियों पर प्रहार नहीं करते होंगे और इसने मानो नारी-कवच धारण कर लिया था।[4]

मधु यादव

दक्षिण में विदर्भ में हैहयों का राज्य समृद्धि पर था और मध्यदेश के उत्तरी भाग में सात्वत यादवों के राज्य का विस्तार हो रहा था। यादवराजा मधु के शासन-काल में इनका राज्य गुजरात से यमुना तक एकच्छत्र था। इसकी राजधानी मधुपुरी (मथुरा) थी। इसके नाम से इसके वंशज माधव कहलाने लगे और वासुदेव कृष्ण को इसी के वंश में होने के कारण माधव कहा जाता है।

भोज

भीमरथ के पश्चात् भोज का विदर्भ में साक्षात्कार होता है। इसने अपनी सुन्दरी कन्या इन्दुमती का स्वयंवर किया। उसमें अनेक प्रदेशों के राजा एकत्रित हुए। इन्दुमती ने ऐक्ष्वाकु राजा अज के गले में वरमाला डाली। इन्दुमती के गर्भ से अयोध्या के प्रसिद्ध राजा दशरथ का जन्म हुआ।

दाशरथि राम और मध्यदेश

तालजंघ हैहयों के तारतम्य में हमने देखा है कि सगर का जन्म भार्गव ऋषि अग्नि के आश्रम में अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् हुआ था। अग्नि ऋषि ने इनका पालन-

---

१. महाभारत, वनपर्व ६१।२१।
२. महाभारत, वनपर्व ६४।११२।
३. महाभारत, आदिपर्व १६८।२५।
४. वायुपुराण ८८।१७९।

पोषण किया, अध्ययन कराया और अपने वंशानुगत आग्नेय अस्त्रों की शिक्षा दी। सगर बड़ा पराक्रमी हुआ। इसी वंश में आगे प्रसिद्ध शिवभक्त भगीरथ हुए, जिनके नाम से गंगा का नाम भागीरथी पड़ा और इसी वंश में आगे दिग्विजयी रघु और अज हुए। अज के पुत्र दशरथ हुए। इनकी कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा नाम की तीन रानियाँ थीं। दशरथ के इतिहास में प्रसिद्ध पुत्र, कौशल्या से राम, कैकेयी से भरत और सुमित्रा से लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न उत्पन्न हुए। राम और लक्ष्मण ने विश्वामित्र ऋषि के वंश में उत्पन्न इसी नाम के एक ऋषि से शस्त्रास्त्रों की शिक्षा प्राप्त की और उनने यज्ञ-कार्यों में विघ्न डालनेवाले राक्षसों का विनाश किया। विश्वामित्र के साथ ये राजकुमार मिथिला गये, जहाँ रामचन्द्र ने धनुष तोड़ने का प्रतिबंध पूरा करके सीता से विवाह किया। इसके पश्चात् महाराज दशरथ ने राम को राजसिंहासन देना चाहा, अभिषेक की तैयारियाँ हो चुकी थीं कि राम की विमाता कैकेयी ने किसी पूर्ववचन के पालन में राम के लिए चौदह वर्ष का वनवास राजा से माँग लिया और राम अपने पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए लक्ष्मण तथा सीता सहित मध्यदेश में आए। अनेक वर्षों तक इनने इस प्रदेश के अंचलों में फैले वाल्मीकि, अत्रि आदि के आश्रमों में निवास किया। वहाँ लंका के रावण (राजा) दशग्रीव से इनका विरोध उत्पन्न हुआ और वह सीता का हरण करके ले गया। रामचन्द्र ने वानर राजा सुग्रीव की सहायता से लंका पर विजय प्राप्त की और विभीषण को, जिससे इनकी संधि हो गयी थी, लंका का राजा बनाया। इनके वनवास के काल में अयोध्या का शासन इनकी ओर से भरत करते रहे और अवधि पूरी होने पर लंकाविजय के पश्चात् ये अयोध्या लौट गये। अयोध्या में राज्य करते हुए, लोकमत का सम्मान करने के लिए इनने गर्भवती निर्दोष सीता को निर्वासित किया और उनने वाल्मीकि मुनि के आश्रम में शरण प्राप्त की, जहाँ उनके लव और कुश नामक दो पुत्रों ने जन्म लिया।

भार्गव वाल्मीकि मुनि

इस काल की इस प्रदेश की मूर्द्धन्य महत्त्व की घटना आदिकवि भार्गव[1] वाल्मीकि मुनि का प्रादुर्भाव है। इनका आश्रम "जाह्नव्यास्त्वति दूरतः" (गंगा के समीप) अमरकण्टक से निकलनेवाली बुन्देलखण्ड की तमसा (टोंस) नदी के तट पर था।[2] यह स्थान अयोध्या से "गंगायास्तु परेपारे"[3] (गंगा से उस पार) था। सीता को वाल्मीकि के आश्रम में छोड़ने के लिए आते हुए लक्ष्मण को मार्ग में गोमती के तीर पर रात बिताना पड़ी थी।[4] इस समय तक राम ने अश्वमेध नहीं किया था और यह प्रदेश उनके लिए गंगा के उस पार ही नहीं "विषयान्ते",[5] अर्थात् उनकी राज्यसीमा से बाहर भी था। उस समय तमसा के तीर पर माधव लवण का राज्य था।

---

१. बुद्धचरित ११।१३।
२. वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड २।३।
३. वही, उत्तरकाण्ड ४५।१६।
४. वही, ४६।१९।
५. वही, ४७।१७।

वाल्मीकि आश्रम

आदिकवि के आश्रम को अपने तीर पर धारण करनेवाली "तमसा" अमरकण्टक से निकलनेवाली तमसा (टोंस) है। इसकी पुष्टि भवभूति के 'उत्तररामचरितम्' नाटक से भी होती है, जहाँ महाकवि ने वाल्मीकि के आश्रम से दण्डकवन का सामीप्य यह जताकर निर्देशित किया है कि इस आश्रम में रहनेवाली आत्रेयी लव और कुश की रामायणगान सम्बन्धी प्रगल्भता से खीझकर कुछ दिन को दण्डक वन की ओर चली गयी थीं। इस आश्रम की अभिन्नता वर्त्तमान मिरजापुर जिले की पश्चिमोत्तर सीमा पर गंगा किनारे स्थित सीतामढ़ी में स्थापित की जाती है।[1] यह स्थान तमसा और गंगा के वर्त्तमान संगमस्थल "सिरसा" से लगभग १२ मील पूर्व है और आज भी वाल्मीकि-आश्रम के नाम से प्रसिद्ध है। वर्त्तमान तमसा से इस स्थल के दूर पड़ जाने का कारण गंगा और तमसा का पथपरिवर्तन प्रतीत होता है। हर्षचरित में उल्लेख है कि बाणभट्ट के समय में इस प्रदेश में भार्गवों की बस्तियाँ फैली थीं और उनमें ही बाणभट्ट का जन्म हुआ था। इससे भी इस मत की पुष्टि होती है कि वाल्मीकि आश्रम टोंस के किनारे पर था। श्री जगन्नाथप्रसाद शुक्ल ने एक और वाल्मीकि आश्रम बिठूर के पास बताया है।[2] प्रतीत यह होता है कि इन कुलपति के अनेक आश्रम थे।

आदिकवि और आचार्य वाल्मीकि

इस आश्रम में कुलपति वाल्मीकि विविध ऋषिवंशों में उद्भूत अपने शिष्यमण्डल के साथ निवास करते थे और तत्त्वसाधना के साथ ही इन शिष्यों को विद्यादान भी करते थे। उनके आश्रम में राम के पुत्र लव और कुश ने जन्म लिया, तथा पोषण एवं शिक्षण प्राप्त किया। यहाँ, हमारे प्रदेश में इन आदिकवि की तपःपूत वाणी से राम की कथा प्रथम काव्य के रूप में प्रवाहित हुई, जिस की धारा ने युग-युग में संवर्द्धित होकर राष्ट्र की चेतना को सिंचित किया। कहा जाता है कि यह रामायण वाल्मीकि ने लव और कुश को पढ़ाई और उनने राम के अश्वमेध यज्ञ में इसका गान किया।

विविधायुध राक्षस तथा शैलायुध ऋक्ष और वानर

राम की कहानी हमारे प्रदेश के दक्षिण में ऋक्ष-वानर राज्यों के अस्तित्व का तथ्य निर्देशित करती है। ये आदिम वनवासी जातियाँ थीं, जो विभिन्न वनपशुओं में देवत्व का विश्वास करती थीं और उनके विशिष्ट चिह्न धारण करती थीं, ऐसा माना जाता है। ये जातियाँ इस समय में भी पाषाणकाल की संस्कृति में रह रही थीं, अर्थात् शिलाओं से युद्ध करती थीं। रामायणकाल में भी ये शिलाखण्ड ही उनके हथियार थे।

लंका के रावण (राजा) दशग्रीव को राक्षस कहा गया है। अनुश्रुति में चरित्रनायक के शत्रु को राक्षस चित्रित कर देने की परम्परा चली आई है। यह दशग्रीव पुलस्त्य ऋषि का वंशज था, जिन्हें ऋतुपर्ण के समकालीन वैशाली के राजा तृणबिन्दु की कन्या ब्याही गयी थी और जिनका पुत्र वैश्रवस ऐलविल मंत्रद्रष्टा ऋषि था। दशग्रीव स्वयं भी ऋचाओं

---

१. त्रिपथगा, जून १९५६, पृष्ठ १२१।

२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, २००७, अंक ४, पृष्ठ ३०९-१८।

का ज्ञाता और महान योद्धा था। इसका सांस्कृतिक स्तर अत्यन्त उच्च था। ऋक्ष-वानरों की तरह यह शैलायुध नहीं था। यह अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रों के प्रयोग में कुशल था। रामायण का सुन्दरकाण्ड इसके वैभव का आश्चर्यप्रद रूप में वर्णन करता है ।

सुबाहु

दाशरथि राम के अश्वमेधयज्ञ के सिलसिले में उनके छोटे भाई शत्रुघ्न ने मधुपुरी (मथुरा) के राजा लवण के राज्य पर आक्रमण किया। लवण मारा गया, मधुपुरी का नाम मथुरा रखा गया, दशग्रीव के समान ही विजेता राम का विपक्षी होने के कारण इस यादव राजा को अनुश्रुति में राक्षस कहा गया और शत्रुघ्न के पुत्र सुबाहु के अधिकार में मथुरा से गुजरात तक का समस्त प्रदेश आगया।[1]

कुश और कुशस्थली

राम का पुत्र कुश दक्षिण कोशल का राजा हुआ। उसकी राजधानी कुशस्थली कही गयी है। इतिहासज्ञ कुशस्थली का स्थाननिर्णय विन्ध्य गिरिमाला में करते हैं। कहा जाता है कि कुश को कुशस्थली छोड़कर अयोध्या जाना पड़ा था और इस तारतम्य में उसकी मुठभेड़ नाग राजा कुमुद से हो गयी थी। कुमुद पराजित हुआ और कुश ने उसकी बहिन कुमुद्वती से विवाह किया। उसीसे आगे अयोध्या का राजवंश चला।[3] कुमुद कहाँ राज्य करता था, यह ज्ञात नहीं है ।

इस युग में युगपुरुष दाशरथि राम का जन्म यद्यपि हमारे प्रदेश की उत्तर-पूर्व सीमाओं के पार हुआ था, तथापि उनके जीवन का सर्वोत्तम काल मध्यदेश में व्यतीत हुआ और उन्हें भारतीय परम्पराओं का मर्यादापुरुषोत्तम बना देने में इस निवासकाल का सर्वोपरि महत्त्व है। उनके अश्वमेधयज्ञ के कारण समस्त मध्यदेश उनके तथा उनके वंशजों के अधिकार में आगया। इस प्रदेश में ही राम का साक्षात्कार उस काल के सर्वश्रेष्ठ बुद्धितत्त्व, ज्ञान एवं साधना से हुआ और इसके परिणामस्वरूप राज्य और वैभव की दृष्टि से अनेक बड़े-बड़े सम्राटों की तुलना में छोटे दिखने पर भी ये अवतार मान लिये गये।

महर्षि वाल्मीकि और दाशरथि राम के पश्चात् भारतीय अनुश्रुति का त्रेतायुग समाप्त हुआ।

---

१. वाल्मीकि रामायण ७।६४–६८।

२. वही, ७।१०८।

३. रघुवंश १६,१७।

वासुदेव कृष्ण युग

ज्ञानकाण्ड का उदय

वाल्मीकियुग में लगभग सम्पूर्ण वेदसाहित्य की रचना हो चुकी थी। उसका इस काल में संहिताकरण प्रारम्भ हुआ और पूरा हुआ। प्रस्तुत काल में वैदिक यज्ञों तथा संहिताओं पर सिंहावलोकन एवं ऊहापोह हुए, ये ब्राह्मणग्रन्थों के रूप में प्राप्त होते हैं। कर्मकाण्ड के साथ-साथ वाल्मीकि और शौनक जैसे अरण्यवासी विचारकों द्वारा तत्त्वचिंतन भी इस काल में चला जिसका उपदेश श्रुतिसाहित्य में पारंगत ज्ञानार्थी दैनिक वेदपाठ के अन्त में आचार्य के चरणों में बैठकर प्राप्त करते थे। इस प्रकार कर्मकाण्ड में से ज्ञानकाण्ड का उदय हुआ, जिसका निदर्शन ब्राह्मणग्रन्थों के आरण्यक अंश करते हैं और प्रस्तुत युग के अंत में भगवद्गीता की रचना के रूप में इस ऊर्ध्व संचरण ने चरम कोटि का स्पर्श किया।

नयी शक्तियों का उदय

वासुदेव कृष्णयुग में, जिसे अनुश्रुति द्वापर युग कहती है, अयोध्या की शक्ति मंद होगयी और भारत की राजनीति में पौरव वंश का उत्कर्ष हुआ। पिछले युग के मध्यदेश के भू-भागों पर लगभग पूर्व के वंश ही राज्य करते रहे। परिवर्तन केवल एक ही हुआ। चेदि में यादवों के स्थान पर पौरवों का राज्य होगया। मध्यदेश की दृष्टि से ही नहीं, सम्पूर्ण भारत के इतिहास में इस युग की महत्त्व की घटना मथुरा के आसपास के प्रदेश में, जिसे इस काल में शूरसेन जनपद कहा जाता था, यादव वंश में वासुदेव कृष्ण का जन्म है। इनने अपने समय की भारत की राजनीति के सूत्रों का संचालन किया और इनके कारण इस काल में राजनैतिक और सांस्कृतिक दोनों ही क्षेत्रों में मध्यदेश को वैसा ही महत्त्व मिला, जैसा परशुरामयुग में प्राप्त था।

चेदि का पौरव वंश

दुष्यन्त के पुत्र भरत के समय में पौरव अपनी राजधानी प्रतिष्ठान से हस्तिनापुर ले गये। उसी के वंश में आगे संवरण हुआ। इसे पांचाल राजा सुदास ने हराकर भगा दिया। वशिष्ठ ऋषि की सहायता से इसने अपना राज्य पुनः प्राप्त किया।[1] इसका पुत्र कुरु हुआ और इसी के नाम से कुरुवंश, कुरुक्षेत्र और कुरुजांगल प्रसिद्ध हुए।[2] इसके पुत्रों में सबसे छोटा सुधन्वा था।[3] सुधन्वा की चौथी पीढ़ी में वसु नाम का राजा हुआ। इसने यादवों

---

१. महाभारत १।८९।३१-४३।

२. पार्जिटर : एन्शण्ट इंडियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन्स, पृष्ठ ७६, २८१।

३. वही, पृष्ठ १३३।

से चेदि प्रदेश जीत लिया और चैद्योपरिचर का विरुद धारण किया।[1] उसने शुक्तिमती (केन) नदी के किनारे शुक्तिमतीनगरी को, जो आधुनिक बाँदा के निकट कहीं थी,[2] अपनी राजधानी बनाया। वह बड़ा प्रतापी सम्राट था। उसे चक्रवर्ती कहा गया है और उसने मध्यदेश के कारूष (बघेलखंड) एवं कौशाम्बी (कोसम) पर तथा मगध और मत्स्य पर भी अपना आधिपत्य स्थापित किया। इसके पाँच पुत्र हुए। इनमें से एक बृहद्रथ मगध का राजा हुआ, जिसके बार्हद्रथ वंश ने बहुत काल तक राज्य किया और जिसमें आगे चलकर जरासंध हुआ, जिसे भारत में साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का आद्य प्रवर्त्तक कहा जाता है।[3] वसु का दूसरा पुत्र कुश कौशाम्बी का राजा हुआ, यदु कारूष का और प्रत्यग्रह चेदि का। इसी प्रत्यग्रह के वंश में आगे महाप्रतापी राजा शिशुपाल हुआ, जिसे कृष्ण ने पाण्डवों के राजसूय यज्ञ में मार डाला। वसु के सबसे छोटे पुत्र को मत्स्य का राज्य मिला।

हस्तिनापुर का कौरव वंश

मध्यदेश के इस काल के इतिहास का चित्र स्पष्ट उपस्थित हो, इसके लिए आवश्यक है कि हम हस्तिनापुर में राज्य कर रहे कौरववंश पर दृष्टिपात करलें, जिनका इतिहास इस प्रदेश के इस काल के इतिहास से गुँथा हुआ है। पौरव राजकुल की चौदहवीं पीढ़ी में प्रतीप हुआ। इसके देवापि, बाह्लीक और शान्तनु तीन पुत्र हुए। देवापि ऋषि होगया, बाह्लीक ने राजा शान्तनु के पक्ष में सिंहासन त्याग दिया और शान्तनु राज्य के उत्तराधिकारी हुए। शान्तनु के गंगा से देवव्रत भीष्म उत्पन्न हुए तथा धीवरपुत्री सत्यवती से चित्रांगद और विचित्रवीर्य, दो पुत्र हुए। विचित्रवीर्य की मृत्यु के पश्चात् इनकी रानियों से नियोग द्वारा पाण्डु और धृतराष्ट्र हुए। धृतराष्ट्र जन्मान्ध थे, अतः राज्य पाण्डु को मिला। धृतराष्ट्र के गान्धारी से दुर्योधन, दुःशासन आदि सौ पुत्र हुए। पाण्डु का कुन्तिभोज की राजकुमारी पृथा (कुंती) से तथा मद्र देश के राजा शल्य की बहिन माद्री से विवाह हुआ। पाण्डु ने अनेक युद्ध लड़े थे और सुह्म, मिथिला तथा काशी के साथ-साथ मध्यदेश का दशार्ण (भेलसा के आसपास का जनपद) भी जीता था।[4] कुन्ती के महान वीर कर्ण उत्पन्न हुआ तथा युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन ने जन्म लिया। माद्री के नकुल और सहदेव हुए। पाण्डु की मृत्यु के बाद राजकार्य धृतराष्ट्र ने सँभाला। इन राजकुमारों का शिक्षण द्रोणाचार्य की देखरेख में हुआ। पाण्डु के पुत्र पाण्डव और धृतराष्ट्र के कौरव कहलाए।

कौरव और पाण्डवों में बचपन ही से वैर उत्पन्न होगया था जिसके अनुक्रम में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के पश्चात् छलपूर्ण जुआ खेला गया। युधिष्ठिर हारे और पाण्डवों को बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास में रहना पड़ा। अज्ञातवास में वे मध्यदेश की सीमाओं पर मत्स्य जनपद में रहे। यहीं अभिमन्यु का विवाह यहाँ के राजा विराट की

---

१. वायुपुराण ९९।२०२०
२. जयचंद्र विद्यालंकार: भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जिल्द १, पृष्ठ १६१।
३. डॉ. वासुदेवशरण: पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ४३५।
४. महाभारत १।१०५।७-१२।

कन्या उत्तरा से हुआ। इस तेरह वर्ष की अवधि के पश्चात् राज्यप्राप्ति के लिए महाभारत की दुर्भाग्यपूर्ण घटना हुई, जिसमें सम्पूर्ण भारत की सेनाओं ने भाग लिया ।

शूरसेन का यादव वंश

पहले हमने देखा है कि भीम सात्वत ने शूरसेन में यादव राज्य स्थापित किया था। उसका विशाल राज्य उसके भजमान, देवावृध, अंधक और वृष्णि चार पुत्रों में विभाजित हुआ। इनमें भजमान ने इतिहास में महत्त्व प्राप्त नहीं किया।

देवावृध ने पर्णास नदी (अरावली पर्वत से निकलकर श्योपुर के पास रामेश्वर तीर्थ पर चम्बल में मिलनेवाली वर्त्तमान बनास) के आसपास के क्षेत्र पर राज्य किया। इसके राज्य का विस्तार वर्त्तमान श्योपुर (मुरैना) मे आत्र पर्वत के चारों ओर शाल्व प्रदेश की ओर था और इसके उत्तराधिकारी मार्तिकावत के भोज हुए।

अन्धक की राजधानी मथुरा थी। इसके चार पुत्र हुए। इनमें से इतिहास की दृष्टि से केवल कुकुर और भजमान महत्त्वपूर्ण हैं। कुकुर के वंशज मथुरा में राज्य करते रहे। इसी परम्परा में आगे कंस हुआ।

अंधक

भजमान के वंशज अंधक कहलाए और इनका राज्य मथुरा के ही समीप कहीं था। इस वंश में आगे हृदिक नाम का राजा हुआ, जो दुर्योधन की ओर से महाभारत में लड़ा था।

वृष्णि

वृष्णि के चार पुत्र थे, इनमें से दो का नाम अनमित्र था। इन पुत्रों से आगे उनके वंश चले। सबसे बड़े अनमित्र का पुत्र निघ्न हुआ। निघ्न के उत्तराधिकारी उसके पुत्र प्रसेन और सत्राजित हुए। ये वही सत्राजित हैं, जिनका सम्बन्ध स्यमंतकमणि की कथा से है और जिनकी पुत्री सत्यभामा कृष्ण को ब्याही गयी थी। इसी वंश के देवमीढ़ुष ने ऐक्ष्वाकु वंश की राजकुमारी अश्मकी से विवाह किया और इससे उसके शूर पुत्र हुआ। शूर ने भोजवंश की राजकुमारी मारिषा से विवाह किया और इससे दस सन्तानें हुईं। इनमें सबसे बड़े वसुदेव थे। इसके अतिरिक्त एक कन्या पृथा थी, जिसे कुन्तिभोज राजा ने दत्तक ले ली और इसी से वह कुन्ती भी कहलाई। यह पौरवराज पाण्डु को ब्याही गयी। दूसरी कन्या श्रुतदेवा ने कारूष प्रदेश के राजा वृद्धशर्मा से विवाह किया। तीसरी कन्या श्रुतश्रवा का विवाह चेदि के राजा दमघोष के साथ हुआ और इससे शिशुपाल ने जन्म लिया। वसुदेव ने कुकुरराजा देवक की देवकी आदि सात पुत्रियों से विवाह किया। इनके देवकी से बलराम और कृष्ण दो पुत्र तथा कन्या सुभद्रा उत्पन्न हुई। सुभद्रा का विवाह अर्जुन के साथ हुआ। सुभद्रा के पुत्र अभिमन्यु उत्पन्न हुआ। इसी अभिमन्यु का पुत्र परीक्षित हुआ, जिसने महाभारत के पश्चात् हस्तिनापुर पर राज्य किया। वृष्णि के सबसे छोटे पुत्र अनमित्र का पुत्र शिनि हुआ और उसके नाम से उसके वंशज शैन्य कहलाए। इसी वंश में सात्यकि और युयुधान हुए।

कुकुर

कुकुरशाखा में आहुक ने काशी की राजकुमारी से विवाह किया। इसके देवक, उग्रसेन आदि पुत्र हुए। देवक के चार पुत्र और देवकी आदि सात पुत्रियाँ हुईं। देवकी

वसुदेव को ब्याही गयीं और इनने कृष्ण को जन्म दिया। उग्रसेन के नौ पुत्र और पाँच पुत्रियाँ थीं। सबसे बड़ा पुत्र कंस था। इसका विवाह मगध के राजा जरासंध की पुत्री से हुआ। इसने अपने पिता को बन्दी बनाकर सिंहासन पर अधिकार कर लिया। वसुदेव इसके मंत्री थे। कंस ने, इस भविष्यवाणी पर कि देवकी का आठवाँ पुत्र उसका वध करेगा, विश्वास करके वसुदेव और देवकी के सात बच्चों को मार डाला। कृष्ण और बलराम का पालन गोकुल-वृन्दावन में हुआ। कृष्ण ने कंस को मार कर उग्रसेन को पुनः मथुरा के सिंहासन पर बिठाया।

वासुदेव कृष्ण

वासुदेव कृष्ण इस युग के और मध्यदेश के ही नहीं, भारतीय इतिहास के महान व्यक्ति हैं। इनका जन्म मथुरा के कारागार में हुआ और वहाँ से प्रहरियों और नागों की सहायता से ये जन्म लेते ही गोकुल ले जाए गये। यहाँ नन्द और यशोदा ने पुत्र के रूप में इनका पालन किया, जिनकी पुत्री योगमाया कृष्ण के स्थान पर कारागार में पहुँचा दी गयी थी और कंस द्वारा मार डाली गयी थी। बालक कृष्ण अत्यन्त प्रतिभाशाली थे। इनके बाल्यकाल में नन्द आदि गोपों को भेड़ियों के आतंक से गोकुल छोड़कर वृन्दावन जाकर बसना पड़ा। अपने बाल्यकाल में ही यहाँ इन्होंने कालिय नाग को परास्त किया और उसके कुटुम्बियों को यमुनातट छोड़ने को विवश किया। छोटी आयु में ही इन्होंने विचारशीलता एवं तात्त्विक ऊहापोह की चेतना प्रदर्शित की और गोपालन से आजीविका चलानेवाले वृष्णियों की इन्द्र के प्रति आस्था की निरर्थकता देखकर उनको प्रश्रय देनेवाले गोवर्द्धन की पूजा उनमें प्रचलित की। कृष्ण अत्यन्त बलशाली और मेधावी थे। इनके असाधारण कार्यों की कीर्ति कंस तक पहुँची और उसे इनसे ईर्ष्या हुई। उसने श्रीकृष्ण और उनके भाई बलराम को मारने का उपाय सोचा और इन्हें मथुरा आकर मल्लयुद्ध में सम्मिलित होने का निमंत्रण दिया। कृष्ण ने दीर्घकाय मल्लों का हनन करके अत्याचारी कंस का भी उसी स्थल पर वध किया और उग्रसेन को पुनः मथुरा के सिंहासन पर बिठाया। यहाँ से कृष्ण और बलराम अध्ययन के लिए अवंति के संदीपन मुनि के आश्रम में गये, किन्तु अपने जामाता कंस के वध से क्रुद्ध हुए मगध के राजा जरासंध के मथुरा पर आक्रमणों के कारण इन्हें शीघ्र ही लौटना पड़ा। यादवों ने कुछ काल तक वासुदेव कृष्ण के नेतृत्व में जरासंध का प्रतिरोध किया, किन्तु अन्त में सामूहिक निष्क्रमण करके वे समुद्रतट पर द्वारका में जा बसे।

महाभारत और वासुदेव

महाभारत की कथा में कृष्ण सबसे पहले द्रौपदी के स्वयंवर में पाण्डवों के परामर्शदाता एवं मित्र के रूप में प्रकट होते हैं। इनकी बहिन सुभद्रा का अर्जुन के साथ विवाह हुआ था। इनकी सहायता से भीम ने मगधराज जरासंध का वध किया। पाण्डवों के राजसूय यज्ञ में कृष्ण को सर्वोच्च सम्मान दिया गया था। चेदि का शिशुपाल, जो अपने समय का बहुत शक्तिशाली राजा था, इससे क्रुद्ध हुआ और उसने अनेक राजाओं के उस समाज में वासुदेव का अपमान किया। कृष्ण ने उसका वध कर दिया। दुर्योधन से जुए में हारने के कारण

पाण्डवों को बारह वर्ष वन में और एक वर्ष अज्ञातवास में रहना पड़ा था। इस अज्ञातवास के पश्चात् कृष्ण पाण्डवों के शान्तिदूत बनकर दुर्योधन के पास गये, परन्तु इनके सन्धिप्रयास विफल रहे और दुर्योधन पाण्डवों को उनका न्याय्य स्वत्व देने को तैयार न हुआ। फलतः महाभारत का भयानक युद्ध हुआ, इसमें वासुदेव कृष्ण की सेना दुर्योधन की ओर से लड़ी और ये स्वयं अर्जुन के सारथी के रूप में पाण्डवों के साथ रहे। पाण्डवों की इन्होंने सदा संकट की घड़ियों में सहायता की और अन्त में पाण्डव विजयी हुए, जिसका अधिकांश श्रेय कृष्ण की सहायता और सफल नेतृत्व को है।

कहते हैं, इस महाभारत युद्ध के समय वासुदेव कृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश किया। यह उस काल के मध्यदेश के सर्वमान्य गार्हपत्य धर्म का प्रतिनिधित्व करती है। इसमें भारतीय धर्मसाधना के वे तत्त्व निरूपित किये गये हैं, जो राजनीतिक उथल-पुथलों से असंपृक्त रहकर सनातनकाल से भारतीय जीवन के आधार रहे हैं और जो आज भी जीवनधर्म के रूप में अप्रतिम हैं।

युधिष्ठिर के हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर आसीन हो जाने के पश्चात् कृष्ण द्वारका चले गये। इनके जीवन के अन्तिम दिनों में यादवों में गृहकलह हुआ और उसमें लगभग सभी यादवपुरुष मारे गये। कृष्ण ने अर्जुन को इनकी स्त्रियों को हस्तिनापुर ले जाने का सन्देश भेजा, स्वयं वन में चले गये और वहाँ विश्व की इस विभूति ने किसी व्याध के एक बाण से शरीर त्याग दिया। वासुदेव कृष्ण के अप्रतिहत पराक्रम एवं राजनैतिक चातुर्य के आगे साम्राज्य ढहते दिखाई दिये, उनके काल की दुर्धर्ष अनाचारी शक्तियों का उच्छेदन हुआ, परन्तु उनने भार्गव परशुराम की ही पुण्यपरम्परा में अपने मस्तक का राजमुकुट से संसर्ग नहीं किया और उनके जीवन में परिलक्षित इस स्थूल तथ्य की प्रेरक अंतःसलिला ही, जिसने उन्हें युगपुरुष बनाया, उनके भगवद्गीता के संदेश में मुखर हुई।

अर्जुन द्वारका आए, यादव स्त्रियों और कृष्ण के पौत्र वज्र को अपने साथ ले गये तथा उसे मथुरा का राजा बनाया।

मध्यदेश और महाभारत

यह पहले बताया जा चुका है कि कृष्ण अर्जुन के सारथी के रूप में पाण्डवों के साथ रहे और उन्होंने संकटकाल में पाण्डवों की बड़ी सहायता की। महाभारत के युद्ध में वत्स, काशी, चेदि, कारूष, दशार्ण और मत्स्य, अर्थात् वर्त्तमान बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड की सीमाओं के जनपदों के राजा अपनी सेनाओं के साथ पाण्डवों की ओर से लड़े। माहिष्मती का नील, अवन्ति के बिन्द और अनुबिन्द, भोज, अंधक, वृष्णियों का कृतवर्मा, विदर्भ (जहाँ कदाचित् अब भी हैहय राज्य कर रहे थे) का राजा और निषध के राजा कौरवों की ओर से लड़े। कौरव इस युद्ध में पराजित हुए और मारे गये। घोर संहार के बाद पाण्डव विजयी हुए। कुछ समय पश्चात अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित को राज्य देकर वे हिमालय को चले गये।

इस प्रकार परीक्षित के राज्यारोहण के साथ भारतीय कालविभाजन की परम्परा का द्वापर युग समाप्त हुआ और कलियुग ने पदार्पण किया।

उपनिषद् युग

जनपदों का उदय-विलय

प्रस्तुत काल के शृंखलाबद्ध और विवरणयुक्त उल्लेख अनुश्रुति में प्राप्त नहीं होते। कालविभाजन की भारतीय परम्परा के अनुसार परीक्षित से पीछे के काल को कलियुग माना गया है और पुराणों के संकलनकर्त्ताओं ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि पुराणों की रचना कलियुग का प्रारम्भ होने से पहले ही हो चुकी है, अतः इस काल के वंशों का उल्लेख भविष्यवाणी के रूप में अत्यन्त संक्षेप में किया है, जिसमें बहुधा आगे होनेवाली विविध राजवंशों की पीढ़ियों की संख्या ही गिनादी गयी है। प्रस्तुत काल में, पिछले वासुदेव कृष्ण युग के अनेक राजवंश विस्मृति के गर्भ में विलीन हो जाते हैं, इस प्रदेश का चेदि का पौरव राजवंश पांचाल में जाकर राज्य स्थापित करता है, काशी का विस्तृत साम्राज्य स्थापित होता है और वत्स जनपद में भारत की केन्द्रीय संस्कृति का प्रवाह कौरवों के साथ आश्रय प्राप्त करता है।

चेदि

हमने देखा है कि पिछले काल में चेदि में अत्यन्त शक्तिशाली पौरव वसु के वंशज राज्य कर रहे थे। इसी वंश में आगे द्विमुख या दुर्मुख हुआ। इसने इस प्रदेश से प्रवासित होकर उत्तरपांचाल में जाकर अपना राज्य स्थापित किया[1]। पांचाल राज्य द्रुपद के काल में उत्तरी और दक्षिणी भागों में विभक्त हो चुका था। यह दुर्मुख बड़ा प्रतापशाली सार्वभौम सम्राट् हुआ। इसने दिग्विजय की थी और बृहदुक्थ से इसका अवभृथ स्थान हुआ था[2]। जैन अनुश्रुतियों ने भी सम्भवतः इसी विश्वजित यज्ञ करनेवाले को प्रत्येक-बुद्ध कहा है।

शूरसेन

शूरसेन प्रदेश में भारत युद्ध के समय यादव राज्य कर रहे थे और जैसा उल्लेख किया जा चुका है, अर्जुन ने द्वारका से वासुदेव कृष्ण के वंशज वज्र को लाकर यहाँ का राजा बनाया था। अनुश्रुतियों के अनुसार पीछे भी नन्दों के काल तक २३ पीढ़ी तक यहाँ यादव वंश का राज्य रहा। पुराणों में इनके नाम प्राप्त नहीं होते।[3]

---

१. लॉ : ट्राइब्स, पृष्ठ ३२।

२. ऐतरेय ब्राह्मण ८।२३।

३. भगवद्दत : भारतवर्ष का इतिहास, पृष्ठ २६९।

माहिष्मती

महाभारत के समय माहिष्मती में हैहय राज्य कर रहे थे और अनुश्रुति के अनुसार इस काल के पश्चात् यहाँ इस राजवंश की २८ पीढ़ियों ने राज्य किया।

काशी

महाभारत के पश्चात् काशी का राज्य अपनी सामरिक शक्ति और समृद्धि के लिए विख्यात हुआ और इसने मध्यदेश को भी प्रभावित किया। काशी नगरी के इस काल के वैभव और विस्तार के आगे मिथिला और इन्द्रप्रस्थ का पुरातन वैभव फीका पड़ गया[1]। यहाँ के राजा ब्रह्मदत्त ने, संभवतः जिसके वंशज भी आगे ब्रह्मदत्त कहलाए, कोशलराज दिधिति को परास्त किया और कोशल पर अधिकार कर लिया। पराजय के पश्चात् काशी में छद्मवेश में पकड़े गये दिधिति और उसकी रानी को ब्रह्मदत्त ने मरवा दिया; परन्तु उसके पुत्र दिघायु को अपना सेनापति बनाया तथा पीछे कोशल का राजा भी बना दिया, जहाँ वह काशी के समान ही शक्तिशाली हो गया[2]।

इन ब्रह्मदत्तों के काल में काशी का राज्य दक्षिण में अश्मक तक पहुंचा, जहाँ इनने प्रतिष्ठान (पैठण) को राज्य के इस अंचल की राजधानी बनाया[3]। यह अश्मक-राज्य पाणिनि के काल तक स्थिर रहा और यहाँ उस समय 'एकराज' शासन था[4]।

कोशल के राजा महाकौशल के राज्यकाल में विदेह, मगध और पांचाल में चल रहे वैराग्य के प्रवाह ने काशी को भी अभिग्रस्त किया और इस स्थिति का लाभ उठाकर महाकौशल ने काशी पर अधिकार कर लिया[5]। यहाँ यह स्मरणीय है कि काशी, कौशल और विदेह के इस काल में बड़े घनिष्ट सम्बन्ध थे, तीनों राज्यों के एक ही पुरोहित थे[6]।

वत्स

महाभारत के समय वत्स काशी के पौरव राजाओं के अधिकार में था[7]। उधर हस्तिनपुर में अधिसीम कृष्ण के पुत्र निचक्षु के राज्यकाल में यमुना की बाढ़ में हस्तिनापुर बह गया[8]। इस बाढ़ और अतिवृष्टि के पश्चात् टीड़ियों के आक्रमण ने फसल नष्ट करदी और दुर्भिक्ष उपस्थित कर दिया[9]। इसके फलस्वरूप अकाल के मारे

---

१. संभव, सुरुचि तथा विधुरपंडित जातक।
२. राजोवाद जातक।
३. अस्सक जातक।
४. डॉ० वासुदेवशरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ४३४।
५. महासीलव जातक।
६. शांखायन, श्रौतसूत्र १४।२९।५; बौधायन, श्रौतसूत्र २१।३, गोपथ ब्राह्मण १।२।९।
७. पार्जिटर : एन्शण्ट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन्स, पृष्ठ २६९-७०।
८. पार्जिटर : डायनेस्टीज ऑफ दि कलि एज, पृष्ठ ५।
९. छान्दोग्य उपनिषद् १।१०।

कुरुवंशियों को ससमाज वत्सभूमि की शरण लेनी पड़ी। कौशाम्बी को राजधानी बनाकर वे यहाँ बस गये। निचक्षु के वंश में आगे क्षेमक तक २३ राजा हुए और इन्हीं में शतानीक तथा उसका पुत्र उदयन हुआ, जिसके सम्बन्ध में आगे लिखा जाएगा।

अवन्ति

हम पहले देख चुके हैं कि वीतहव्यों का काशी पर राज्य था, जहाँ से वे हर्यश्व के वंशजों द्वारा उखाड़ दिये गये थे और वहाँ का अंतिम वीतहव्य भार्गव-सम्पर्क में आकर ब्राह्मण हो गया था। भारतयुद्ध के पश्चात् ये विंध्याचल की ओर गये[1], सम्भवतः विंद और अनुविंद के वंशजों को इनने परास्त किया और अवन्ति में अपना राज्य स्थापित किया। इनकी २० पीढ़ियाँ यहाँ राज्य करती रहीं[2]।

इसके पश्चात् अवन्ति में राज्यक्रान्ति हुई। संभवतः इसी घटना का उल्लेख अथर्ववेद में वीतहव्यों के ब्राह्मण विरोध से हुए नाश के रूप में किया गया है[3]। पुनिक नाम के एक व्यक्ति ने अन्तिम वीतहव्य को मार दिया और अपना राज्य स्थापित किया। इसी का पुत्र आगे चंडप्रद्योत हुआ[4]। इस प्रकार वीतहव्यों के 'अराजकतंत्र[5]' के स्थान पर अवन्ति का पाणिनि के काल में अवशिष्ट 'एकतंत्र' अस्तित्व में आया।

महाजनपद

उपर्युक्त विविध जनपदों के संघर्ष, उद्‌भव, विलय और विस्तार की कहानी हमें भारतीय इतिहास के महाजनपद युग में लाकर खड़ा कर देती है और प्रारम्भ में जहाँ हमने अपने प्रदेश में अनेक छोटे-छोटे जनपद देखे थे, वहाँ अब हमारा प्रदेश चेदि, वत्स, शूरसेन, मत्स्य और अवन्ति के महाजनपदों के रूप में प्रकट होता है, जिसके चारों ओर अंग, मगध, कौशल, वृजि, मल्ल, कुरु और पांचाल के महाजनपद उभर आते हैं।

उपनिषदों की रचना

राजतंत्रों और जनपदों के इस उदय, विलय एवं परिवर्तन एवं परिवर्द्धन के साथ बढ़ती हुई एक विशिष्ट प्रवृत्ति इस काल के धार्मिक क्षेत्र में दिखाई दी। पिछले वासुदेव कृष्ण युग में कर्मकाण्ड की पृष्ठभूमि में तात्त्विक ऊहापोह चल रहा था, जिसकी परिणति भगवद्‌गीता के कर्मयोग में और आरण्यकों के स्मार्त्तपथ पर चलते-चलते किये गये चिन्तन में दिखाई देती है। इस चिन्तनधारा ने अब श्रौत एवं स्मार्त्त दोनों तटों को छोड़कर मुक्त और व्यापक प्रवाह का रूप धारण किया तथा पिछली परम्परा में और इस नूतन प्रवृत्ति में उन अनेक उपनिषदों की रचना इस काल में हुई, जो स्वतंत्र ग्रन्थों के रूप में आज विद्यमान हैं।

---

१. कौषीतकि उपनिषद् ११।८।

२. जर्नल ऑफ बिहार ओरिएण्टल रिसर्च सोसाइटी, १९१५, पृष्ठ १०।

३. अथर्ववेद ५।१८।१०, ११ तथा ५।१९।१।

४. मत्स्यपुराण २७२।१।

५. अथर्ववेद ५।१८।३०।

धर्मसाधना

प्राग्वैदिक पृष्ठभूमि

जब ऋग्वेद की ऋचाओं का गान हमारे प्रदेश के अंतरिक्ष को गुंजित करता है, उस समय प्राग्वैदिक काल के इसके अंचल में 'देव एक:' एक देवता को पूजनेवाले अहि या नाग अपनी शिव या पशुपति की भक्ति आदि की परम्पराएँ लिये चल रहे थे। उनकी अग्निसाधना में पशु हिंसा नहीं होती थी[1] और उनके अतिरिक्त अन्य जातियाँ भी अपने आध्यात्मिक, मानसिक और सामाजिक स्तर पर अपने-अपने देवताओं की आराधना कर रही थीं। इन प्राग्वैदिक धर्मसाधनाओं के स्वरूप का हम पहले विवेचन कर चुके हैं। वैदिक काल में भी लोकधर्म के रूप में वे अपनी जड़ें जमाए रहीं।

इनकी ये आराधनाएँ और उनके प्रतीक लोक में निरन्तर प्रतिष्ठित रहे, समाप्त नहीं हो गये। पतंजलि जब यह कहते हैं कि सोने के लोभी, हिरण्यार्थी, मौर्यों ने मूर्ति-पूजा की प्रकल्पना की[2], तब उनका यह तात्पर्य नहीं हो सकता कि मूर्तिपूजा का प्रारम्भ उनने किया। वहाँ तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि मौर्यों ने उस मूर्तिपूजा की राजस्व की आय के स्रोत के रूप में प्रकल्पना की। यह मूर्तिपूजा यहाँ प्राग्वैदिक काल में विद्यमान थी, इन मूर्तियों पर स्थानीय निवासी हिरण्य, धन भी चढ़ाते थे। मौर्यों ने उस श्रद्धा के धन को लेना प्रारंभ किया, यही पतंजलि का आशय था।

आर्यों के धर्म का रूप

इस पृष्ठभूमि में आर्य अपने साथ विजय, अन्न और धन देनेवाले देवताओं की अनुकूलता के लिए ऋचाओं का, उनके सस्वर गान का और बलिदानयुक्त यजन का धर्म लेकर यहाँ आए। उनके इस धर्म का मूलरूप क्या था, यह कह सकना सरल नहीं है, कारण कि आज उपलब्ध वैदिक संहिताएँ अपने वर्तमान रूप में बहुत पीछे के काल की हैं, उनकी सामग्री को कालक्रम देना सरल नहीं है और यह साहित्य बहुधा भारत की सीमाओं में रचा गया है, इस कारण उसपर भारत की प्रागार्य परिस्थितियों का प्रचुर प्रभाव पड़ा है।

देव-श्रेणी

इनके इन्द्र, वरुण, सविता, अग्नि आदि अनेक देवता थे। इनकी गतिशीलता, भास्वरता और दानशीलता देखकर ऋषियों ने चेतनशक्तिमय देवत्व का उनमें दर्शन

---

१. चरकसंहिता, चिकित्सास्थान १९।३।

२. महाभाष्य ५।३।९९।

किया था[१]। वैदिक देवताओं में महत्त्व की दृष्टि से कोई बड़ा या छोटा नहीं है, सब समान हैं। वैदिक ऋषि जिस देवता की भी स्तुति करता है, वह उसे उस समय महत्त्व की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट प्रतिपादित करता है। अग्नि, इन्द्र और सोम का महत्त्व उनके स्तवन में गाए गये मंत्रों की संख्या की दृष्टि से सर्वाधिक ठहरता है। ये देवता प्रकृति के तत्त्वों की चेतनशक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं, परन्तु इन्द्र का स्तवन बहुधा जातीय वीर अथवा युद्ध के देवता के रूप में किया गया है। यास्क ने ऋग्वेद में ३३[२] और आगे फिर ३३३९[३] कहे गये देवताओं में मुख्य ३३ मानकर उनके पृथ्वी पर स्थित, अन्तरिक्ष में स्थित और आकाश में स्थित, ये तीन वर्ग किये हैं। अग्नि, सोम, पृथ्वी, नदी आदि पृथ्वी पर स्थित हैं, इन्द्र, वरुण, रुद्र और मरुत आदि अन्तरिक्ष में तथा द्यौ, सूर्य, ऊषा, विष्णु, अश्विन आदि आकाश में। इनके अतिरिक्त प्राकृतिक शक्तियों की श्रेणी में न आनेवाले अमूर्त श्रद्धा, मन्यु आदि में तथा गाय, वनस्पति आदि लौकिक पदार्थों में उनके अधिष्ठाता देवता का वैदिक निष्ठा में दर्शन किया गया है।

यज्ञ-समारोह

इन देवताओं की अनुकूलता के लिए तथा इनसे तादात्म्य स्थापित करने के लिए यज्ञ किये जाते थे। इन यज्ञों के अनेक रूप हैं। कुछ तो स्थानीय परम्पराओं के गृह्यकर्मों के रूप में होते थे, जिन्हें लोग घर में ही कर लेते थे और कुछ अश्वमेध जैसे बड़े श्रौत यज्ञ होते थे, जिन्हें राजा या धनीमानी 'मघवन्' ही कर सकते थे। ये यज्ञ विशाल यज्ञ-शालाओं में किये जाते थे, अनेक ऋत्विज, उद्गाता और अध्वर्यु इनमें सम्मिलित होते थे, गार्हस्पत्य, आवहनीय और दक्षिणाग्नि, तीनों अग्नियाँ इनमें स्थापित की जाती थीं। कई दिन, मास और वर्ष तक यजन चलता था, अग्नि में आहुतियाँ अर्पित की जाती थीं, ऋचाओं का पाठ किया जाता था, साम का गान होता था, अमर बनने की अभिलाषा से सोमपान किया जाता था[४] और यज्ञ के अन्त में यजमान बड़ी-बड़ी दक्षिणाएँ याजकों को देते थे[५]। इनमें सोम और बार्हस्पत्य जैसे यज्ञ भी थे, जिन्हें केवल ब्राह्मण करते थे। सोमयज्ञ में दक्षिणा प्राप्त नहीं होती थी।

यजनसाधना अधिक प्रचलित होने पर यज्ञ की विविध क्रियाओं में कुछ ब्राह्मण-वंश अग्रमान्यता प्राप्त करने लगे। यज्ञ की अग्नि का कार्य भार्गवों के जिम्मे था। वेद-मंत्रों में उन्हें अपनी पुष्ट बाहुओं से अरणिमंथन[६] द्वारा प्रथम यज्ञाग्नि प्रज्वलित करनेवाला[७],

---

१. निरुक्त, दैवतकाण्ड १।५।

२. ऋग्वेद १।१३९।११।

३. वही, ३।९।८।

४. अपाम सोमममृता अभूम।

५. ऋग्वेद ८।५।३७-३८ तथा ५।३०।१२-१५।

६. वही, १।१२७।७।

७. वही, ४।७।१।

श्रौत और स्मार्त्त अग्नियों की महिमा का विवेचन करनेवाला[1] तथा अग्नि को इनका अभिलापप्रद[2] कहा गया है।

यज्ञशाला दार्शनिक चिन्तन का स्थल

वेदों का यह यजनधर्म चेतनाहीन मंत्रपाठ और कोरा कर्मकाण्ड नहीं था। उसमें गहन दार्शनिक चिंतन का तथा कठोर तार्किक ऊहापोह का समावेश और उद्भव हो रहा था। यज्ञों के समय प्रयुक्त अनेक मंत्रों में उन शंकाओं और जिज्ञासाओं का स्वरूप मिलता है, जो इन मंत्रद्रष्टाओं के मस्तिष्कों में उठ रही थीं। कहीं भार्गव नेम इन्द्र के अस्तित्व को चुनौती दे रहा था;[3] कवप ऋषि उस काठ और वन की जिज्ञासा कर रहा था, जिससे यह विश्व बना;[4] विश्व के उद्भव और तपस् (ऊष्मा) से क्रमशः ऋत, सत्य, रात्रि तथा समुद्र की उत्पत्ति की[5]; असत् से सत् के उद्भव की[6]; हिरण्यगर्भ द्वारा विश्व के सृजन की तथा अण्ड से ब्रह्माण्ड की प्रसूति की ऊहाएँ हो रही थीं[7], पुरुष सूक्त के विराट् का निदर्शन हो रहा था[8], वह क्षेत्रविद् हो जाना चाहता था[9], ऋषि का ज्योतिर्मय ऊर्ध्वतरण के लिए छटपटा रहा था और कहीं उसका चेतन दुरारूह ऊँचाइयों पर ज्योति के अतल पारावार का अवगाहन कर रहा था[10]।

प्राग्वैदिक तथा आर्यधर्मसाधना का समन्वय

धीरे-धीरे इस यज्ञसाधना में प्रारम्भ का जयोन्माद नहीं रह गया था, वह और बहुत समय तक स्थानीय विचारधाराओं से प्रभावित हुए बिना न रह सकी। यज्ञशालाओं में ही होनेवाले जिस स्वतंत्र चिन्तन का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, वह सम्भवतः स्थानीय साधनाओं का ही प्रभाव है। प्राग्वैदिक वृषाकपि[11] को ऋग्वेद ने भी अपनाया तथा आर्य रुद्र केवल आँधी के देवता न रहगये। यह समन्वय उभयपक्षीय हो रहा था। उधर पशुपति भी अग्नि, पुरन्दर आदि विविध देवताओं के नाम और गुण ग्रहण कर रहे थे,[12] जिस क्रम में आगे चलकर शिव, स्कन्द और यक्षों की पूजा ने वैदिक धर्मों में मान्यता प्राप्त की[13] तथा इसका कारण यह था कि नेतृत्व दोनों धाराओं का एक हाथों

१. ऋग्वेद १।१२।७।
२. वही, ३।२।४।
३. वही, ८।८९।३।
४. वही, १०।३१।७।
५. वही, १०।१९०।
६. वही, १०।७२।२।
७. वही, १०।१२१ तथा १०।८२।७।
८. वही, १०।९०।
९. वही, १०।३२।७।
१०. वही, नवम मंडल।
११. वही, १०।८६।
१२. शतपथ ब्राह्मण १।७।३।८ तथा अष्टाध्यायी ४।१।४९।
१३. डॉ० वासुदेवशरण: पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ३५५-५६।

में ही, ब्राह्मणवर्ग के पास ही था। इस समन्वय की अथर्ववेद में आकर इयत्ता हुई, जिसके आधार पर वन्य जातियों के विश्वासों को भी वेदसम्मत कहा जा सकता है।

वैदिक साहित्य के इतिहास की दृष्टि से भी, वैदिक संहिताओं को वर्त्तमान रूप जिस काल में मिला, अर्थात् हमारे पिछले युगविभाजन के अनुसार वासुदेव कृष्ण के युग के अन्त में, इस धार्मिक समन्वय की दीप्तिमती झाँकी दिखाई देती है, जहाँ शासकों और उनके पुरोहितों का श्रौतधर्म अपने इन्द्र, स्वर्ग आदि के साथ पृष्ठभूमि में चला गया, भारत की धर्मपरम्पराओं में पच गया और गीता का लोकधर्म, जिसे कुरुगार्हपत रूप से पहचाना गया है[1], जिसे महर्षि भृगु की जीवनी में उल्लिखित मानवधर्म का पर्याय कहा जा सकता है, श्रौत परम्पराओं के सर्वोत्तम को अपने में समाविष्ट करके शाश्वत सत्य की भाँति उभर उठा। यहाँ यह ध्यान देनेयोग्य है कि जिस वेदविरोधी स्वर के उद्भव की कल्पना मध्यकाल में की जाती है[2], वैदिक धर्म के कठोर आग्रहों के विरुद्ध वह उसके प्रारम्भ से, परशुरामयुग से ही सुन पड़ता है[3], वैदिक संहिताओं के यज्ञ विध्वंसकों के उल्लेख इन विरोधों का प्रचुर साक्ष्य देते हैं और गीता के 'वेद-वादरता:' एवं वेदों को 'उदपान' छोटा जलाशय आदि कहने में भी वही स्वर मुखर होता है[4]। इस विरोध ने कटुता को जन्म दिया हो, कुछ प्रबुद्धवर्ग हार मानकर प्रारम्भ के काल में ही अलग पड़ गया हो, यह सहज सम्भव है और अनश्रुति के अनुसार सामिष यज्ञों की भावना के अतिरेक के रूप में भौतिकतावादी चार्वाक एवं प्रतिक्रिया में परम अहिंसावादी जैन मतों का प्रादुर्भाव आर्यों के आगमन के थोड़े ही काल पश्चात् होगया[5], परन्तु बहुधा कटुता की परिणति समन्वय में होती गयी, वेद लगभग सभी धर्मसाधनाओं के सम्मान के पात्र बन गये।

मंदिरों की कल्पना—प्राग्वैदिक मूर्त्ति और यज्ञशाला का समन्वय

हम पहले प्राग्वैदिक युग में यह देख चुके हैं कि उस समय के भारतीय का धर्म व्यक्तिपरक था, अब वैदिक श्रौतधर्म का उसके बाह्य रूप में समन्वय हुआ। तब मूर्त्तियाँ थीं, उनकी व्यक्तिगत आराधना थी; परन्तु भारत की सीमाओं के अवशेषों में उस काल के देवालय नहीं मिलते। इस काल के राजमहल भी प्राप्त नहीं होते। इस समन्वय के परिणामस्वरूप सम्भवत: यज्ञशालाओं के निर्माण में नये राजन्यों के राज-भवनों का अनुकरण किया गया, जिसके परिणामस्वरूप देवालय बने, जिनमें आगम-निगम के अनेक देवताओं ने अलंकरण के अभिप्रायों के रूप में स्थान प्राप्त किया, बीच में निर्माता का एक आराध्यदेव स्थापित हुआ और वैदिक काल के राजतंत्र के साथ उद्भूत पुरोहित की अनुकृति पुजारी उनमें प्रतिष्ठित हुआ। इस प्रकार वैदिक प्रभाव से

१. डॉ० वासुदेवशरण: पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ ११२-१३।
२. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी: मध्यकालीन धर्मसाधना, पृष्ठ १७-२०।
३. ऋग्वेद ८।९०।१५; तैत्तरीय संहिता ४।१।५।१ तथा शतपथ ब्राह्मण ६।४।९।१।
४. भगवद्गीता २।४२-४६।
५. मत्स्यपुराण २४।३७-४८ तथा वायुपुराण ९१।८७-९७।

स्थानीय धर्म के स्थूल रूप में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित हुआ और धर्मसाधना की दो धाराओं में एक स्पष्ट एकरूपता परिलक्षित हुई।

जीवन का धर्म—कर्मकाण्ड-साहित्य

इस समन्वय के प्रवाह के साथ-साथ वैदिक ब्राह्मण कर्त्तव्यकर्मों को करते हुए न केवल सौ वर्ष जीने की इच्छा[1] कर रहा था, वह निरन्तर यजनयाजन ही करता रहना चाहता था। उसने इसके निरूपण के लिए कर्मकाण्ड के विशाल साहित्य का निर्माण कर डाला, उससे नियंत्रित मनुष्य-जीवन का सर्वस्व ही यज्ञानुष्ठान बन गया, अतः नैसर्गिक क्रम में जनमानस को स्थूल कर्मकाण्ड से उपरति हुई और भौतिक प्राचुर्य की पृष्ठभूमि में, सम्भवतः सांस्कृतिक संकर में नवचेतना जाग्रत होने से उसे अपना यह प्रतिदिन का विश्वप्रपंच भी नीरस-सा, असत्-सा, धुँधला-सा दिखने लगा। अनेक वानप्रस्थ युग्म वन में बस गये, यज्ञानुष्ठान उनके साथ गया, पर इसकी गति वहाँ मन्द पड़ी, स्थूलता का तिरोभाव होने लगा और ज्ञानकाण्ड का उदय हुआ।

कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया

इस व्यापक आध्यात्मिक मंथन के परिणामस्वरूप स्वयं कर्मप्रधान वैदिक धर्म से भी ज्ञानप्रधान उपनिषदों का प्रादुर्भाव हुआ, स्थानीय भक्ति और योग की धाराएँ प्रवाहित होने लगीं[2] और कर्म से मुक्ति का मार्ग खोजा जाने लगा। उपनिषद् कर्म से मुक्ति का मार्ग, मन की निर्मलता को और मनःशुद्धि का मार्ग स्मार्त्त एवं श्रौत कर्म को बताने लगे। कर्मकाण्ड में फल की पूर्वकाल्पिक निष्ठा का इनने उच्छेदन किया और निष्काम कर्मयोग की, विद्या एवं अविद्या की, कर्म और ज्ञान की, मरण को पारकर अमरत्व प्राप्त करानेवाली साधना का मार्ग प्रशस्त किया।

इस व्यापक तत्त्वचिन्तन का यह नैसर्गिक क्रम था, परन्तु इसकी पृष्ठभूमि में एक प्रतिक्रिया भी कार्य कर रही थी। सारा जीवन और जीवन का प्रत्येक कर्म धर्ममय बनजाने के पश्चात् स्वाभाविक क्रम में ब्राह्मण की स्थिति दृढ़तर हुई थी। समाज में उसकी राजा से भी ऊपर सर्वोच्चता अनुभव की जाने लगी थी। सम्पूर्ण वैभव और दिग्विजयी शक्ति को प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी राजा ब्राह्मण के आगे निस्तेज था। वातावरण ऐसा था कि सहस्रबाहु वीतहव्य[3], परीक्षित और वैदेह[4] जैसे राजा भी ब्राह्मणों से विरोध हो जाने पर रह नहीं सके थे, अतः आरण्यक तत्त्वचिंतन के साथ-साथ, जिसमें निरग्नि या क्रियाहीन के लिए स्थान नहीं था, इस ब्राह्मणप्रभाव से मुक्त होने का प्रयास भी राजवंशों में चल रहा था; जिसका परिणाम कुछ वैदिक और कुछ प्राग्वैदिक तत्त्वों से निर्मित वे साधनाएँ थीं, जिनकी चरम परिणति शून्यवाद, दुःखवाद और व्यापक वैराग्यवृत्ति में, कर्त्तव्य के भी त्याग में दिखाई दी।

---

१. यजुर्वेद ४०।२।
२. डॉ० वासुदेवशरण : पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ ३५१।
३. अथर्ववेद ५।१८, १९।
४. अर्थशास्त्र (शामशास्त्री का संस्करण) १।६।

राजनैतिक व्यवस्था

प्रथमजतंत्र या गणतंत्र

आर्यों के हमारे प्रदेश में प्रवेश से पूर्व यहाँ जनतंत्र अथवा मुखिया 'प्रथमज' के अनुशासन का तंत्र प्रचलित था, यह हम देख चुके हैं। वृत्र पहला ज्ञात अहि था जिसने इन्द्र का प्रतिरोध किया और उसे वेदों में बारबार अहियों का प्रथमज[1] या पालि भाषा में उसका रूपान्तर करें, तो 'जेट्ठक'—जेठा कहा गया है। प्रतीत यह होता है कि आर्यों के आगमन के पश्चात् भी यह प्रथमज तंत्र देश के उन भागों में प्रचलित रहा, जहाँ आर्य अपना प्रभाव पूर्णतया जमा न पाए थे। जब आर्यों के आक्रमणों का क्रम समाप्त हुआ और वे भी स्थानीय समाज में घुलमिलकर बसने लगे, तो राजन्यतंत्र अथवा 'एकराज' विदर्भ, सुराष्ट्र, सौवीर और पंजाब से उठ गया[2] और वज्जि, मालव, क्षुद्रक आदि के गणतंत्र शासन में राजसंस्था के प्रति विरोध दिखाई दिया और पुनः 'प्रथमज'—मुखियातंत्र की ओर झुकाव हुआ।

आर्यों का राजन्यतंत्र

इस व्यवस्था की पृष्ठभूमि पर आर्यों के 'राजन्' अपना राजतंत्र लेकर आए। निश्चित ही यह राजतंत्र निरंकुश तंत्र नहीं था, परन्तु इसे गणतंत्र अथवा प्रथमजतंत्र की समता में नहीं लाया जा सकता, जिसमें सभी कुल समान रूप से महत्त्वपूर्ण होते हैं और सर्वानुमत प्रथमज या जेट्ठक के प्रथमजत्व, ज्येष्ठत्व अथवा मुखियापन में भ्रातृवर्ग बहुमत से नहीं, व्यवहार-बुद्धि से प्राप्त सर्वसम्मत निर्णयों द्वारा अपना तंत्र चलाते हैं। सम्भवतः अपनी इस पद्धति को इस महाप्राण संस्कृति ने समाजव्यवस्था के सम्पूर्ण क्षेत्रों में हुए विविध शक्तियों के उदय और अस्त से निरपेक्ष रहकर स्थानीय अवर्ण जातियों की आंतरिक व्यवस्था में जीवित रखा और शासन के क्षेत्र से यद्यपि वह हट गयी, मात्र श्रेणियों और निगमों के रूप में बच रही, परन्तु सहस्राब्दियों में आयाम्य उसका दीर्घ-जीवन उसके सक्षम तंत्र होने का प्रबल साक्ष्य है।

वैदिक आर्य, जब वे हमारे प्रदेश में हमें दिखे, राजा (राजन्) थे[3]। इनके पास हजारों गायें, घोड़े, रथ, निष्क (सोने के सिक्के या आभूषण), दास-दासियाँ होती थीं

---

१. ऋग्वेद १।३२।३, ४।

२. जयचंद्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जिल्द १, पृष्ठ २८८।

३. ऋग्वेद १।१२६।१ तथा ८।२१।१८।

और वे इन्हें दान कर देते थे[1], अश्वमेध यज्ञ करते थे, दिशाओं के छोरों को जीतते थे, बाहुबल से जीते हुए तीर्थों के जल से अवभृथ स्नान करते थे, सम्राट होते थे, 'विश्वस्य भुवनस्य' राजा कहलाते थे और इनका राज्य दस-दस पीढ़ियों तक चलता था[2]। संकेत यह भी प्राप्त होता है कि प्रारम्भ में 'राष्ट्र'[3] के 'विश'[4] (जनता) 'राजन्य' (राजवंश) में से राजा का वरण करते थे[5]। शासन चलाने के लिए इनकी 'सभा'[6] (सभा और सभा-भवन) होती थी, जिसमें 'सभेय' (सभ्य)[7] सम्मिलित होते थे और समिति[8] में सम्पूर्ण जनता सम्मिलित होकर महत्त्व के निर्णय करती थी। पुरोहित राज्य का प्रमुख स्तम्भ था[9] और इसका महत्त्व राजव्यवस्था में बढ़ता रहा, प्रस्तुत काल में सदा बना रहा[10]। वह शांति और युद्ध में राजा का सहायक था[11], उसके पास शस्त्र, बुद्धि और शास्त्र का भी बल था तथा उसने अपना ऐसा स्थान बना लिया था कि मनुष्यों का राजा राजा होता था, परन्तु ब्राह्मण का राजा था सोम[12]। वह राजा का सदा सहायक था; परन्तु धर्मच्युत राजा को निष्कासित करने में वह प्रजा का सहायक होता था[13]।

राज्यव्यवस्था के बदले राजा को बलि[14] (भेंट या कर) प्राप्त होती थी, जो पीछे आय का छठा भाग[15] निर्धारित हुई। पदाति और रथियों को साथ लेकर वह युद्ध करता था[16] और प्रदेश तथा सम्पत्ति जीतने के लिए दूसरे राज्यों पर आक्रमण करता था।[17]

पीछे शनैः-शनैः इसकी शक्ति बढ़ी, यह अपने-आप में वरुण, इन्द्र और असुरों की शक्ति का अनुभव करने लगा[18], उसका राजत्व परम्परागत हो गया[19], कभी जो निर्वाचन

---

१. ऋग्वेद १।१२६; २।४१।५; ५।६२।६ तथा ८।५।३८।
२. शतपथ ब्राह्मण १२।९।३।३ तथा ऐतरेय ब्राह्मण ८।१२।१७।
३. ऋग्वेद १०।१७३।१ तथा १०।१७४।५।
४. वही, ८।३५।१८ तथा अथर्ववेद १५।९।१-२।
५. ऋग्वेद १०।१२४।८।
६. वही, ६।२८।६ तथा ८।४।९।
७. वही, २।२४।१३।
८. वही, १।९८।८; ९।९२।६ तथा १०।१९१।२।
९. वही, ४।५०।७-९।
१०. गौतम ८।१; ११।१।
११. आश्वलायनगृह्यसूत्र ३।१२।
१२. शतपथ ब्राह्मण ५।३।३।१२।
१३. ताण्ड्य ब्राह्मण ६।६।५।
१४. ऋग्वेद ७।६।५ तथा १०।१७३।६।
१५. बौधायन, धर्मसूत्र ६।१०।१८३।
१६. ऋग्वेद २।१२।८।
१७. वही, १०।१४२।४।
१८. वही, ४।४२।
१९. शतपथ ब्राह्मण १२।९।३।३ तथा ऐतरेय ब्राह्मण ८।१२।१७।

होता रहा था[१], उसका रूप मात्र औपचारिक रह गया[२], यद्यपि एक जीवित राष्ट्र के लिए आवश्यक शासक और शासित के सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध रखना उसके लिए अपरिहार्य था[३]। आवश्यकता पड़ने पर ब्राह्मण और विश राजा को उखाड़ सकते थे[४] तथा राजा सभा और समिति की अनुकूलता का मुखापेक्षी था[५]। निष्पक्ष न्यायदान करते हुए, निर्विराम प्रजापालन करते हुए और सम्पूर्ण आपत्तियों से राज्य का संगोपन करते हुए[६] अपने राजपद की स्थिरता का वह अनुभव करता था[७] और उसके जीवनकाल में ही उसका पुत्र युवराज अभिषिक्त हो जाता था[८]।

युद्ध-कला

वैदिक युग के योद्धा दस-दस योजन चलनेवाले घोड़ों पर तथा रथों पर सवार होकर[९] दुंदुभियाँ बजाते हुए युद्ध-भूमि में उतरते थे[१०], घोड़ों पर काठी कसी जाती थी[११]। रथों का बड़ा महत्त्व था। कुछ रथ अपनी विशेषता के लिए प्रसिद्ध हो जाते थे। राजवंशों में पीढ़ियों तक उनका उपयोग होता था और वे एक राजवंश से दूसरे राजवंश को हस्तान्तरित होते थे। चेदि के वसु चैद्योपरिचर के पास ऐसा ही एक रथ था[१२]। ये रथ एक प्रकार से चलते-फिरते गढ़ थे[१३]।

रथियों और अश्वारोहियों के अतिरिक्त पदाति भी लड़ते थे तथा संभवतः भारतवर्ष की सीमाओं में आकर इन्द्र हाथी पर बैठकर भी लड़ने लगा होगा, जैसा भगवद्गीता में उसके ऐरावत के उल्लेख से प्रकट होता है[१४]। इन स्थल-युद्धों के अतिरिक्त भारतीय नावों का प्रयोग भी युद्धों में करते थे, जिसका उल्लेख इन्द्रवृत्र-युद्ध में पहले किया जा चुका है। विश्वामित्र द्वारा ऋग्वेद में की गयी नदी की स्तुति इसी नौ-युद्ध की पूर्व तैयारी का अस्पष्ट उल्लेख प्रतीत होता है। युद्धों में हजारों की संख्या में सेनाएँ लड़ती थीं[१५], और ये योद्धा अनेक

---

१. अथर्ववेद ३।४।
२. वही, १।९ तथा ४।२२।
३. वही, ३।४ तथा जायसवाल : हिन्दू पोलिटी, २, २७-२८।
४. तांड्य ब्राह्मण ६।६।५।
५. शतपथ ब्राह्मण ४।१।४।१-६।
६. शुक्लयजुर्वेद १०।२७।
७. अथर्ववेद ६।८७।८।
८. आश्वलायन श्रौतसूत्र ९।३।
९. ऋग्वेद ८।१।९।
१०. वही, ६।४७।२९-३०।
११. वही, ४।२।८।
१२. वायुपुराण ९३।१८-२७।
१३. ऋग्वेद १।११६।४।
१४. भगवद्गीता १०।२७।
१५. ऋग्वेद ४।२८।३।

प्रकार के शस्त्रास्त्र का प्रयोग करते थे। वज्र, छुरी[1] और तलवार[2] का उल्लेख ऋग्वेद करता है। तूणीर[3] में से पंख, ताँत एवं मृगश्रृंग से बने बाण[4] निकालकर धनुष पर चढ़ाए जाते थे, प्रत्यंचा कान तक खींची जाती थी, छोड़ने पर वह घोष करती थी[5] और छूटे हुए बाण शत्रुसेना का संहार करते थे। इन युद्धों में आग्नेय आदि विशिष्ट अस्त्रों का प्रयोग भी होता था, जिनका ज्ञान विशेष ऋषिकुलों तक सीमित था, यह इस काल के राजनैतिक इतिहास का वर्णन करते हुए कहा जा चुका है।

इस काल के ये युद्ध केवल यहाँ के मूलनिवासियों और आर्यों के बीच ही नहीं होते थे। भारत में इनके राज्य स्थापित हो जाने के पश्चात् आर्य-राज्य आपस में भी युद्ध करते थे। कभी-कभी महाभारत जैसे बड़े युद्ध भी होते थे, जिनमें अनेक जनपदों के राजा मिलकर युद्ध के पक्षों में संगठित होते थे। अनेक अक्षौहिणी सेनाएँ आपस में लड़कर इन युद्धों द्वारा विवादग्रस्त प्रश्नों का निपटारा करती थीं। विविध जनपदों के राजा सदा युद्ध के लिए तयार रहते थे और जानपदजन भी सामरिक दृष्टि से सशक्त थे, जिसके कारण इस युग में स्थायी साम्राज्यों की स्थापना सम्भव नहीं हुई। महत्त्वाकांक्षी राजाओं को अनेक अश्वमेध यज्ञ करना पड़ते थे और उसके पश्चात् भी उनकी संतति को अधिकार में मिला साम्राज्य स्थायी नहीं होता था। उनमें यदि सामरिक नेतृत्व की क्षमता होती थी तो वे पुनः अश्वमेध करते थे, अपने चारों ओर के जनपदों के राजाओं और पहले उल्लेखित प्रथमजों से अपनी अधीनता स्वीकार कराते थे तथा सम्राट बने रहते थे; अन्यथा इतिहास के पृष्ठों से लुप्त हो जाते थे।

जानपदजनों की सामरिक सक्षमता पुरोहित को राजतंत्र में और युद्ध में प्राप्त महत्त्व से भी सूचित होती है, जिसके कारण जानपदजन राज्य के साथ राज्य के स्थायित्व के लिए और रण में विजय के लिए सहकार करते थे। प्रस्तुत काल के अन्त तक राज्य की सैन्यशक्ति का और जानपदजन की सामरिक शक्ति का यह संतुलन निरन्तर स्थिर रहा, इस तथ्य के रहते हुए भी कि राजा निरंतर निरंकुश साम्राज्य स्थापित करने की ओर प्रवृत्त रहे। स्थानीय जनता की स्वातंत्र्यप्रियता एवं शस्त्र-बल ने उस प्रवृत्ति को स्थायी रूप से सफल नहीं होने दिया। जिन महाजनपदों का एक राजनैतिक तंत्र की अधीनता स्वीकार करनेवाले विस्तृत प्रदेश के रूप में इतिहास में उल्लेख प्राप्त होता है, वे भी प्रस्तुत काल के अन्त में दिखाई दिये, और यह नहीं कहा जा सकता कि उनका यह रूप किस सीमा तक स्थायी था।

शासन-व्यवस्था

वैदिक काल के प्रारम्भ में राज्य के संगठन की इकाई ग्राम था, जिसमें अनेक कुल होते थे और कुल का मुखिया कुलपा[6] कहलाता था। कुलपा ग्राम की सैनिक व्यवस्था

१. ऋग्वेद ५।५.२।२।
२. वही, ३।२।१०।
३. वही, ५।५२।२।
४. वही, ६।७५।१५।
५. वही, ६।७५।३।
६. वही, १०।१७९।२-३।

के प्रधान व्राजपति को या नागरिक व्यवस्था के प्रधान ग्रामणी को सहयोग देते थे। सब मे ऊँचा पद सेनानी का था। राजा के प्रमुख सहायक सेनानी और पुरोहित थे। पुरोहित के साथ राजा के यज्ञ आदि कराने के लिए बहुत-से याजक होते थे। इनके अतिरिक्त गुप्तचर, स्पश और संदेशवाहक होने के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं।

ग्राम के चारों ओर सुरक्षा के लिए ऊँची पत्थर की अनेक दीवारें बनाई जाती थीं, यद्यपि लोहे के पुर होने का भी उल्लेख है[1]।

इसके पश्चात् राज्य के कार्यों के साथ राजपुरुषों की संख्या बढ़ी। कर संग्रह करने-वाला भागदुघ, रथ हाँकनेवाला सूत, कोष का रक्षक संग्रहीतृ, जुए का अधीक्षक अक्षा-वाप, कंचुकी क्षत्रावाप, मृगया का व्यवस्थापक गोनिकर्तन, प्रधान न्यायाधीश या राज्य के एक भाग का शासक स्थपति तथा मार्गनिर्देशक पालागल राज्य के प्रमुख अधिकारी या रत्नी[2] हुए।

सूत्रकाल में आकर शासनव्यवस्था पूर्ण विकास पर पहुँची। राजा के कार्य प्रजा की रक्षा करना, वर्णाश्रम धर्म स्थिर रखना, अपराधियों को दण्ड देना, व्यवहार के प्रकरणों में न्याय करना आदि का विस्तार हुआ। इन कार्यों के लिए वह सदाचारी और सवर्ण अधिकारी नियुक्त करता था[3]।

शासनव्यवस्था का मुख्य अंग राजस्व था। अनेक पदार्थों पर भिन्न-भिन्न कर लगते थे। ब्राह्मण, स्त्रियाँ, तपस्वी, ब्रह्मचारी (विद्यार्थी) आदि करों से मुक्त थे[4]। राजा सदा युद्ध के लिए सन्नद्ध रहता था और आवश्यकता होने पर सेना के साथ रणांगण में जाता था।

ग्रामसंस्था अब भी शासन की मौलिक इकाई थी। सूत्र-काल में ब्राह्मण की महत्ता अत्यधिक बढ़ गयी थी। क्षत्रिय भी शासक जाति का था, अतः उसमें उच्चता का भाव था। वैश्य खेती करते थे और रथकार, तक्षण तथा कारीगरी (कर्मार) का काम शूद्र के पास रह गया था, ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं।

विधि और न्यायदान

धर्म (विधि)[5] के अनुसार न्यायदान राजा का कार्य था। राजा स्वयं दण्ड से परे था[6]। उसकी ओर से पहले उल्लेखित सभा भी न्यायदान करती थी। राजा न्यायदान के लिए अपना प्रतिनिधि 'अध्यक्ष' भी नियुक्त कर देता था[7]। श्रुति, स्मृति

---

१. ऋग्वेद २।२०।८।
२. शतपथ ब्राह्मण ५।३।१; तैत्तिरीयसंहिता १।८।९ तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण १।७।३।
३. आपस्तंब धर्मसूत्र २।१०।२६।४।
४. वशिष्ठ धर्मसूत्र १९।२३।
५. ऋग्वेद १।२२।१८ आदि।
६. शतपथ ब्राह्मण ३।७।४।६।
७. काठक संहिता २७।४।

और वेदविद् ब्राह्मणों का आचरण धर्म या विधि था और उसके आधार पर यह न्यायदान किया जाता था। इनमें मतभेद प्राप्त होने पर इनमें से किसी एक का आश्रय लिया जा सकता था[१]। कृषक, व्यापारी, गोपाल आदि अपने वर्ग के लिए अपने नियम बनाते थे और वे न्यायालय को मान्य होते थे[२]।

इस काल के साहित्य में चोरी, छल, मद्यपान, ब्राह्मणवध, व्यभिचार, अपहरण आदि अपराधों का उल्लेख प्राप्त होता है और इन पर मृत्युदण्ड देने की व्यवस्था है। दण्ड कठोर दिया जाता था और अपराध भी अधिक नहीं होते थे। न्यायदान में प्रत्यक्षदर्शी साक्ष्य को महत्त्व दिया जाता था और हाथ में तप्त परशु छूने पर न जलना भी निर्दोषिता का प्रमाण माना जाता था[३]। एक ही अपराध के लिए वर्ण के भेद से दण्ड दिये जाने के उल्लेख हैं। ब्राह्मण लगभग अदण्डच रहता था और वर्णों के नीचे के क्रम में दण्ड की कठोरता बढ़ती जाती थी[४]। इसके विपरीत ऐसे प्रशंसनीय उदाहरण भी प्राप्त होते हैं, जहाँ विद्वान् द्वारा अपराध किया जाने पर अधिक कठोर दण्ड दिये जाने की व्यवस्था थी[५]।

व्यवहार के प्रकरणों का निर्णय 'प्रश्नविवाक्' करता था, जिसके पास प्रश्नी (वादी) अपना वाद लेकर पहुँचता था और अभिप्रश्नी उसका प्रतिवाद करता था[६]। साक्षी सम्भवतः ज्ञातृ कहलाता था। भूमि व्यक्तिगत सम्पत्ति थी[७] और राजा भूमि की उपज में से केवल राजस्व (बलि) प्राप्त करता था, भूमि पर राज्य का स्वामित्व नहीं था[८]। सम्पत्ति उत्तराधिकारियों में बँट जाती थी, जिसकी सूचना मनु द्वारा अपने पुत्रों को उनका दाय वितरित करने के तैत्तिरीय संहिता के उल्लेख में प्राप्त होती है[९]। स्त्रियों को दाय प्राप्त नहीं होता था[१०]। धर्मसूत्रों में सदाय के सम्बंध में विस्तृत सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त ऋण भी लिये जाते थे[११]। भूमि के स्वामित्व, दाय और ऋण के वाद ही इन न्यायालयों में मुख्यतया आते थे और हमारे प्रदेश में इस सम्बन्ध में न्यायदान सम्भवतः मनु के धर्मशास्त्र की विधि के अनुसार किया जाता था।

---

१. गौतम धर्मसूत्र ११।१-४।
२. वही, ११।२०-२२।
३. छान्दोग्य उपनिषद् ६।१६।१-२।
४. आपस्तंब धर्मसूत्र २।१०।२७।९,१४,१५ आदि।
५. गौतम धर्मसूत्र १२।१७।
६. वाजसनेयि संहिता ३०।१०।
७. ऋग्वेद ८।३१।५।
८. ऐतरेय ब्राह्मण ८।२१।८।
९. तैत्तिरीय संहिता ३।१।९।४।
१०. शतपथ ब्राह्मण ४।४।२।१३।
११. ऋग्वेद १०।३४।१०।

सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था

परिवार

प्रस्तुत काल में भारत की सामाजिक व्यवस्था की मौलिक इकाई एक पूर्व-पुरुष से उत्पन्न स्नेह के बन्धनों में बँधे बालक-बालिकाओं, स्त्रियों और पुरुषों का, पिता[1] अथवा जेठे भाई के वत्सल शासन में चलनेवाला संयुक्त परिवार रहा है, जिसमें नियंत्रण और कर्त्तव्यपालन सभी पारस्परिक प्रेम से स्वयमेव परिचालित होते रहे हैं। यहाँ नववधू भी शासन करती हैं, मंगलकामना और स्नेह से प्रेरित वयोवृद्ध वयस्क युवकों के मस्तक सूँघते दिखते हैं, पिता का बचा हुआ भोजन प्राप्त करना जेठे पुत्र का सम्मान्य अधिकार दिखता है और परिवार में सम्मान की अर्हता का आधार आयु की ज्येष्ठता होती है। सब से बड़ी आयु का गृहपति, परिवार के सब से कम महत्त्व के दिखनेवाले सदस्य ने भी भोजन कर लिया, यह सूचना लेकर ही स्वयं भोजन करता है[2]।

हमारी पारिवारिक संस्था का सब से गौरवशाली तत्त्व अतिथिसत्कार की भावना है, जो ठेठ ऋचाकाल से, जब अग्नि को अतिथि कहा गया, प्रारम्भ हुई[3] और पाँच दैनिक यज्ञों में से एक के रूप में निरन्तर बनी रही। जिस तात्त्विक साम्यवाद की कल्पना आज की जाती है, उसे हमारे विशाल संयुक्त परिवारों के गृह्यधर्म के इतिहास में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

ये परिवार विभाजित भी होते थे, परन्तु अलग-अलग होकर भी पुनः उन नये परिवारों के गृहपति कुलवृद्धि की, पुत्रपौत्रीण होकर सम्मान प्राप्त करने की ही कामना करते थे[4]। स्नेह और साम्य की यह परम्परा अविच्छिन्न चलती रही, मात्र एक ही परिवर्तन पीछे के काल में दिखाई देता है, जब सूत्रकाल में आकर परिवार में स्त्री का महत्त्व कुछ घट जाता है और पितृमूलक परम्परा होने के कारण पुत्री का उत्पन्न होना अच्छा नहीं माना जाता। परन्तु यह भी उसका एक पार्श्व मात्र है, गृहस्वामिनी का अपने नाम से ही गार्हपत्य में महत्त्व सामंजस्यपूर्ण स्थिति की अवितथ सूचना देता है।

---

१. ऋग्वेद १।२४।१२, १८ तथा ५।२।७।

२. वही, १०।३५।

३. अथर्ववेद ९।६।

४. अष्टाध्यायी ५।२।१०।

आश्रम-व्यवस्था

भारतवर्ष के संस्कारवान समाज ने अपने जीवन को अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष, इन चार पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए चार भागों में बाँट लिया था, जिन्हें आश्रम कहा गया है। पूर्व वय में वह संयमपूर्वक आचार्य के पास रहकर विद्याध्ययन करता था, कला-कौशल्य प्राप्त करता था, चरित्र निर्माण करता था और भावी नागरिक जीवन के लिए तयार होता था। इस काल में वह ब्रह्मचारी कहलाता था और यह आश्रम ब्रह्मचर्य। आचार्य के पास विद्याध्ययन से सुसंस्कारित युवक विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था और समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए अपनी एवं परिवार की आवश्यकताओं की पूर्त्ति करता था। जीवन के उत्तरार्द्ध में अपनी पत्नी के साथ वह अरण्यवासी होता था और वहाँ आश्रमवासी मुनियों के सम्पर्क एवं साधना से तत्त्वबोध प्राप्त करता था। उत्तर वय में वानप्रस्थ जीवन से प्राप्त ज्ञान के साथ दीर्घ जीवन के अपने परिपक्व अनुभव लिए वह सन्यास ग्रहण करता था और परिव्राजक बनकर समाज में चलती-फिरती ज्ञान की प्याऊ के रूप में घूमता था। उससे गृहस्थ नागरिक मार्गदर्शन प्राप्त करते थे। इस व्यवस्था के अनुसार एक ही मनुष्य ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यासी होता था, प्रत्येक आश्रम का महत्त्व था और जीवन के अन्तिम भाग में नैतिक, धार्मिक अथवा आध्यात्मिक नेतृत्व करनेवाले साधु सक्रिय समाज में से ही प्राप्त होते थे।

वर्णव्यवस्था

हमारे प्रदेश में वर्णव्यवस्था के उद्भव का अपना इतिहास है। वैदिक युग से पहले उसका यदि अस्तित्व था भी, तो उसका रूप अत्यंत तरल रहा होगा। पीछे के काल के जड विभाजन से प्रतिकूल उसकी कल्पना एक आदर्श व्यवस्था के रूप में की गयी होगी। ऋग्वेद के काल में या उससे पूर्व ब्राह्मण वर्ण का आज की कल्पना का अस्तित्व नहीं दिखता। यहाँ वह कार्यसीमा न होकर एक ऊर्ध्वगामी वृत्ति है, विशेषाधिकार न होकर उन्नयन का सन्देश है, जिसकी परिधि में हमारे प्रदेश के कर्मठ ब्राह्मणत्व माननेवाले भार्गव वीतहव्यों को, गाधियों या कौशिकों आदि को दीक्षित करते दिखाई देते हैं।

ब्राह्मण ऋषि धर्मतत्त्वों का द्रष्टा होता था, शत्रुओं का उच्छेदन करनेवाले युद्ध करता था, रथ बनाता था[1], और एक ऋषिकन्या जौ भी भूनती थी[2]। ब्राह्मण का वर्ण के रूप में, सीमित कार्योंवाले ब्राह्मणत्व में विकास बहुत पीछे के काल का ही ठहरता है, यद्यपि ब्राह्मण शब्द का उल्लेख पुरुषसूक्त[3] में प्राप्त हो जाता है, जहाँ उसका अर्थ वर्ण की अपेक्षा ऋषिवंशों की राष्ट्ररचना में अर्पित ज्ञानपरायण वृत्ति ही अधिक है। जब वैदिक विजेताओं के बड़े-बड़े राज्य स्थापित हो गये, उनकी रक्षा के लिए सार्व-

---

१. ऋग्वेद १०।३९।१४।

२. वही, ९।११२।

३. वही, १०।९०।

कालिक राजन्य (क्षत्रिय) वर्ण बन गया, उसमें अपने राज्यवैभव के कारण वंश और वर्ग के गौरव का कृत्रिम अभिमान उत्पन्न हो गया, शासक के रूप में और राज्यसीमाओं के रक्षक के रूप में वह शासितों से अलग जा खड़ा हुआ, उसकी यह स्थिति वंशानुगत हो गयी और कुछ समाज कृषि आदि व्यवसायों में पूर्णतः लगकर वैश्य कहलाया, तब जीवन-अर्पण द्वारा राजनैतिक आधिपत्य स्थापित करने से तथा अधिकतम भौतिक सम्पत्ति अर्जित करने से निरपेक्ष मेधावी ब्राह्मण राजाओं के राजकाज में एवं क्षत्रिय-वैश्य को कर्मकाण्डप्रधान धर्मसाधना में एक अपरिहार्य आवश्यकता बन गया, राज-संपर्क के कारण उसकी स्थिति को अतिरिक्त महत्त्व मिल गया और उसके इस नवीन ब्राह्मणत्व या पौरोहित्य के फलस्वरूप उत्पन्न हुए दंभ ने वंशपरम्परा के लिए उसे ब्राह्मण बना दिया। वैदिक साहित्य की विशालता ने, यज्ञक्रियाओं के विस्तार और जटिलता ने, निरन्तर बढ़ते हुए वैदिक साहित्य को स्मृति में रखने की और उसमें विकास करने की बौद्धिक सक्षमता की आवश्यकता ने भी क्षत्रिय और वैश्य के वर्ण परंपरागत हो जाने के पश्चात् ब्राह्मण वर्ण को वंशानुगत बनाया। शूद्र स्वभावतः आर्य-आधिपत्य में आई निषाद आदि प्राग्द्राविड जातियाँ थीं।

संहिताकाल में इनमें ऊँच-नीच के भेद की कल्पना नहीं की जा सकती। पीछे के काल में ब्राह्मण का महत्त्व बुद्धितत्त्व की प्रधानता, भौतिक वैभव एवं बहुसंख्या के कारण निरन्तर बढ़ता गया। वह पुरोहित हो सकता था, राजा हो सकता था, राजा से भी ऊँचा था[1] और सूत्रकाल में आकर उसके सम्मान, उसके विशेषाधिकार तथा उसका महत्त्व दिखानेवाले संस्कार आदि के वैशिष्ट्य अपनी चरमसीमा पर पहुँच गये।

क्षत्रिय या प्रारम्भ का राजन्य बहुधा ब्राह्मण का सहयोग चाहता रहा, कभी प्रतिस्पर्धा करता रहा, कभी अपने राज्यवैभव में सन्तुष्ट रहा, परन्तु पीछे के काल में उसे ब्राह्मण की वह समानता प्राप्त न हो सकी, जिसका संहिताकाल में उसने उपभोग किया था। क्षत्रिय के पास राज्य था, सर्वोच्चता की इच्छा थी, परन्तु ब्राह्मण की बहुसंख्या, शस्त्रबल और नैतिक नेतृत्व से वह विवश था। क्षत्रिय के सभी क्षेत्रों में कृत्रिम उच्चता प्राप्त करने के प्रयास की प्रतिक्रिया में वर्णव्यवस्था में नीचऊँच की प्रवृत्ति बढ़ती गयी, उसमें जड़ता आती गयी। कालान्तर में वैश्य निरन्तर नीचे को उतरता गया। उसकी गणना अवश्य तीन वर्णों में रही; परन्तु अपने कृषि आदि कार्य के कारण उसे शूद्रों के सम्पर्क में अधिक आना पड़ता था, और क्षत्रिय की व्यवस्था में सम्पर्क भी श्रेणी घटाने का कारण बनता था, अतः उसकी स्थिति तीसरी होगयी, शूद्र के अधिक पास, जैसा गीता के "स्त्री, वैश्य और शूद्र"[2] को एक साथ गिनने से प्रकट होता है। शूद्रों की स्थिति भी पीछे के काल में स्थिर न रही, उनके नगर के भीतर रहनेयोग्य और बाहर रहनेयोग्य भेदों की कल्पना की जाने लगी[3]।

---

१. शतपथ ब्राह्मण १।२।३।३।

२. भगवद्गीता ९।३२।

३. अष्टाध्यायी २।४।१०।

इस जातिभेद ने धर्म (विधि) की कल्पना को भी प्रभावित किया, अलग-अलग जातियों के लिए कठोरता की दृष्टि से दण्ड में भेद हुआ, यद्यपि कभी-कभी अपराध पर, उसकी गम्भीरता के आधार पर, ब्राह्मण को अधिक कठोर दण्ड दिये जाने की व्यवस्था भी देख पड़ती है।

अलग-अलग वर्णों की उपनयन आदि संस्कारों की, ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य आदि आश्रमों की मर्यादाएँ अलग-अलग हुईं, भिन्न आयु, विशिष्ट रंग के यज्ञोपवीत, अलग-अलग दण्ड, अजिन, अनुलेपन तथा दीक्षा-मन्त्र निर्धारित हुए और यद्यपि इन निर्धारणों में एक नैसर्गिक विकासक्रम एवं विविध वर्णों के लिए इन संस्कारों की उपयोगिता का सूक्ष्म अध्ययन दिखाई देता है; परन्तु पीछे के काल में ये बाध्यताकारी हुए होंगे और इनसे नीच-ऊँच की भावना को प्रश्रय मिला।

विवाह और स्त्री

प्रस्तुत काल के प्रारम्भ में हमारे प्रदेश की स्त्री आज की कल्पना से परे थी। वह अपने पिता के घर में वयस्क हो जाती थी[1], इच्छानुसार बिना विवाह किये बड़ी आयु तक अध्यात्मचिंतन करती रहती थी[2] अथवा उत्सवों पर अपने भावी वर को आकर्षित करने के लिए आभूषण धारण करती थी[3]। उसके परिणय के इच्छुक उसकी अनुरक्ति का प्रयास करते थे[4], उसे उपहार भेजते थे[5], वे परस्पर स्नेहबंधन में बँध जाते थे[6], कन्या अनेक युवकों में से अपने अनुरूप युवक चुन लेती थी[7], प्रेमी उन मंत्रों का विनियोग करता था, जिनसे प्रेयसी के घर के लोग गहरी नींद में सो जाते थे[8] और उनका चिरप्रतीक्षित मिलन होता था। यहाँ अनुलोम-प्रतिलोम की बाधा नहीं थी, यह हम ययाति और देवयानी के उदाहरण में देख चुके हैं। आर्यों के भारत में प्रवेश करने के पश्चात् यहाँ की मर्यादाओं के अनुसार उन्हें एकमात्र अलंघ्य बाधा थी, तो बहन और भाई के विवाह में[9]। पिता की दृष्टि में कन्या के अनुरूप वर का कन्या द्वारा वरण करने में कठिनाई उपस्थित होती थी, जो वर द्वारा शुल्क देकर निवारित हो जाती थी[10] और यह शुल्क देने की शक्यता न होने पर भी विवाह रुकता नहीं था, कन्या अपने वांछित भावी जीवनसाथी के साथ चली जाती थी[11]। ऐसे अवसर भी आते थे, जब युवक और युवती अपने परिवार के अनजाने में ही निकट-सम्पर्क में आ

१. ऋग्वेद १।११७।७; १०।३९।३ तथा ४।३।
२. वही, १०।३९।३।
३. वही, ६।१२३।११ तथा ७।२।५।
४. वही, १।११५।२।
५. वही, १।११७।८।
६. वही, १।१६७।३ तथा ९।३२।५।
७. वही, १०।२७।१२।
८. वही, ७।५५।५, ८।
९. वही, १०।१०।
१०. वही, १।१०९।२।
११. वही, १।११२।१९।

जाते थे, कन्या के माता-पिता को कन्या के गर्भवती होने पर उनके सम्बन्धों का ज्ञान होता था और विवाह कर दिया जाता था[१]। विवाह के उपर्युक्त दोनों मार्ग आगे राक्षस और गांधर्व विवाह कहलाए।

साधारण अवस्थाओं में वर अपने समाज के साथ आज की भाँति कन्या के घर जाता था[२], कन्या का प्रसाधन और सोने के आभूषणों से अलंकरण किया जाता था[३], सौभाग्यवती स्त्रियाँ मंगलगान और नृत्य करती थीं, वरकांक्षिणी का हाथ अपने हाथ में लेकर वर अग्नि की परिक्रमा करता था और वह उसकी पाणिग्रहीता हो जाती थी[४]।

विवाह के पश्चात् अपने पति के परिवार पर अपना स्नेह-साम्राज्य स्थापित करने के लिए[५] वधू दीर्घदाम्पत्य जीवन की, पुत्रपौत्रादि प्राप्त करने की मंगलकामनाओं के बीच[६] अपने पति के साथ रथ में बैठकर चली जाती थी[७]। इस प्रकार के विवाह को आगे देवविवाह कहा गया।

पति के साथ स्त्री गार्हपत्यधर्म में हाथ बँटाती थी, उसके साथ रणाङ्गण में जाती थी[८], यज्ञों में सम्मिलित होती थी[९], मन्त्रद्रष्टा होती थी[१०] और वस्त्र बुनती थी[११]।

स्त्रियों का चरित्रस्तर उच्च था। समाज में अभिसारिकाएँ[१२] तथा गुप्तप्रसविनी स्त्रियाँ होने[१३] के भी उल्लेख हैं; परन्तु इन्हें समाज नीची दृष्टि से देखता था[१४]। राजन्यों (क्षत्रियों) में राज्य का उत्तराधिकारी प्राप्त करने के लिए नियोग से संतान उत्पन्न कराने की प्रथा थी[१५] और वे बहुविवाह भी करते थे[१६]; यद्यपि साधारणतया एक स्त्री से विवाह करना नियम था। विधवाविवाह प्रचलित था[१७], सतीप्रथा नहीं

१. ऋग्वेद १०।८५।२९।
२. वही, १०।१७।१।
३. वही, १०।८५।७, ३६, ३८।
४. वही, १०।१८।८।
५. वही, १०।८५।४६।
६. वही, ८।३१।५९ तथा १०।३४।१०।
७. वही, १०।८५।७, ८।
८. वही, १०।१०२।
९. वही, १।१३१।३।
१०. वही, १०।८५।
११. वही, ३।३।७।
१२. वही, १।३४।३।
१३. वही, २।२९।१।
१४. वही, ५।५।५।
१५. वही, १०।४०।२ तथा १०।१८।७, ८।
१६. वही, १।६२।११।
१७. वही, १।१२४।७।

थी और जिस मंत्र से सतीप्रथा का संकेत ढूँढ़ा जाता है[1], वह मन्त्र उस काल में प्रचलित रहे पिण्डदान जैसे किसी संस्कार का ही उल्लेख करता है, जिसमें पत्नी को मृत पति के पास लिटाकर उठा लिया जाता था।

पीछे की संहिताओं और ब्राह्मणग्रन्थों के काल में यह स्थिति न रही, उसमें परिवर्तन आए। यद्यपि गृहस्वामिनी के पद पर स्त्री इस काल में भी आरूढ़ रही, वह पति की पूरक और अर्धांगिनी कही गयी[2]; परन्तु विचारक लोग उसका उल्लेख द्यूत और मद्य के तारतम्य में करने लगे[3], उससे जवाब न देनेवाली होने की अपेक्षा की जाने लगी[4] और कन्या का जन्म दुःख का कारण माना जाने लगा[5]।

बहुत पीछे के सूत्रों के काल में विवाह के ब्राह्म, देव, गधर्व, राक्षस आदि भेद विवेचित हुए, अनुलोम विवाहों से भी नीचे समझे जानेवाले अंबष्ठों की उत्पत्ति होना माना जाने लगा, वस्त्र धारण करनेयोग्य लज्जाशीलता प्राप्त करने के पूर्व ही (नग्निका) कन्या के विवाह की व्यवस्था की जाने लगी तथा स्त्रियों के उपनयन का निषेध हुआ। परन्तु विवाह सदा धार्मिक बन्धन रहा, घर में पत्नी का सम्मानप्रद स्थान स्थिर रहा, सूत्रकाल में भी विधवा की दायादों में गणना होने की सूचना के अनुसार सतीप्रथा अप्रचलित तथ्य रहा। स्त्रियाँ गृह्ययज्ञों में पति का प्रतिनिधित्व करती रहीं और चेदि एवं अवन्ती के सदन एवं उद्यानकुंज, कौमुदी और नवान्नउत्सव महिलाओं के गीत, नृत्य एवं उल्लास से प्राणस्फुरित होते रहे।

व्यवसाय

प्रारम्भिक काल में व्यवसाय के अनुसार वर्ण नहीं बने थे, यह हमने वर्णव्यवस्था पर वचार करते हुए देखा है, फिर साधनों की सुलभता की दृष्टि से ये वंशपरंपरागत हुए होंगे और शिल्प, कौशल के व्यवसाय प्राग्वैदिक काल से ही विशेष प्रवीणता के एवं साधन-प्राप्ति के आधार पर वंशानुगत हो गये होंगे, यह अनुमान किया जा सकता है।

ऋषियों के आश्रम अत्यन्त प्राचीन काल से आत्मनिर्भर रहते थे और उनमें शिक्षा ग्रहण करने के लिए आनेवाले धनी अन्तेवासियों से विद्याध्ययन के अंत में कुलपतियों को गुरुदक्षिणा के रूप में भी आय होजाती थी। आर्यों के राज्य स्थापित होजाने पर पुरोहिती करनेवाले ब्राह्मणों को यज्ञ कराना अच्छी आमदनी देनेवाला व्यवसाय बन गया था। राजन्य का व्यवसाय युद्ध था, जिससे उसे पशु और सुवर्ण आदि प्राप्त होते रहते थे। पणि का व्यवसाय कृषि, गोपालन और जल एवं स्थल मार्गों से देश तथा विदेशों में व्यापार करना पहले था और आर्यों के साथ आई कुछ प्रजा—विश—उसमें स्थापित हुई होगी। यही पीछे वैश्य कहलाने लगे। संभवतः विदेशी व्यापार आर्यों के वैश्य ने नहीं अपनाया, वह

---

१. ऋग्वेद १०।१८।१०।
२. शतपथ ब्राह्मण ५।२।१।१०।
३. मैत्रेयाणी संहिता ३।६।३।
४. ऐतरेय ब्राह्मण ३।२४।७।
५. वही, ७।१५ तथा अथर्ववेद ६।२।३।

प्रागार्य पणि का ही धन्धा रहा और इसी परम्परा में विदेश-यात्रा पीछे के काल में विजेता की श्रेणी में खड़े होनेवाले सवर्णों के लिए वर्जित हो गयी।

इस काल में अपनी आवश्यकता की वस्तुओं का निर्माण मनुष्य स्वयं करता रहा होगा, यह अनुमान करने का आधार यह है कि भृगुवंशी, जो सुप्रथित मनीषी होने के साथ-साथ सम्पूर्ण युद्धविद्या में निपुण थे, धनुर्वेद के प्रवर्त्तक माने जाते थे, युद्ध के शास्त्र और कला में अपेक्षित रथनिर्माण में उनके कुशल होने का उल्लेख प्राप्त होता है[1]। फिर भी समाज की अपेक्षाओं की दृष्टि से रथकार[2], शिल्पी[3], स्वर्णकार[4], तन्तुवाय (बुनकर) मालाकार[5], वैद्य[6], ना[7], ऋण देनेवाले[8], भड़भूँजे[9], चर्मना[10], (चमड़ा पकानेवाले), विदूषक[11], व्याध[12] और दास भी थे, जिनमें उत्पादन करनेवाले संभवतः गृहउद्योग के रूप में कार्य करते रहे होंगे।

पीछे की संहिताओं के काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कार्य वंशानुगत हो गये। राज्यों के सुस्थापित होने पर और समाज में सम्पन्नता आने पर राजा और समाज की नवीन आवश्यकताओं ने उन अनेक व्यवसायों को जन्म दिया, जिनका संकेत पुरुषमेध के वर्णनों में प्राप्त होता है[13]।

अन्नपान

बहुत समय तक हमारे देश के आर्यों का मुख्य भोजन दूध, दही, शहद, घी, जौ, फल और शाक रहा है, यद्यपि स्थानीय निवासी गेहूँ भी खाते थे। मांस भी भोजन और विशेषतः श्राद्ध का अंग था और यज्ञ के अवसरों पर खाया जाता था। गोमांस हमारे प्रदेश में नहीं खाया जाता था, जैसा गाय के 'अघ्न्या' नाम से और पहले जिसका उल्लेख किया जा चुका है, जमदग्नि ऋषि की गोवध-निषेध की व्यवस्था से प्रकट है। ऋग्वेद में अग्नि को जो 'वशान्न[14]' और गाय को 'अतिथिनी गोः[15]' कहा गया है और जिससे क्रमशः यज्ञ में

---

१. ऋग्वेद १०।३९।१४।
२. वही, ७।३२।२०।
३. वही, १।१६१।१९; ३।६०।२ तथा १०।८६।५।
४. वही, ६।३।४।
५ वही, १०।१०६।१।
६. वही, ९।११२।१।
७. वही, ८।४।१६।
८. वही, १०।३४।१०।
९. वही, ९।११२।३।
१०. वही, ८।५।३८।
११. वही, १।१४१।७।
१२. वही, १।९२।१०।
१३. वाजसनेयि संहिता ३३ तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।४
१४. ऋग्वेद ८।४३।२।
१५. वही, १०।६८।३।

और अतिथि के लिए गोवध की सूचना ग्रहण की जाती है, इन शब्दों की यह व्याख्या ठीक भी मान ली जाए, तो भी वह केवल इसका सूचक है कि ऋग्वेद एक ग्रन्थ नहीं है, उसके संहिता रूप प्राप्त करने से पहले के विविध ऋषिकुलों में प्रचलित आराधनाओं का वह संग्रह है और ये विपरीत उल्लेख अंगिराओं के हैं, जो ऋग्वेद की राजन्य सापेक्ष आराधना के अग्रणी थे, और यदि इन प्रसंगों की उपर्युक्त व्याख्या सही है, तो उत्तर-पश्चिम भारत में वैसा प्रचलन होगा। चरकसंहिता से भी यज्ञ साधन में मांस का समावेश भारत में आर्यों के प्रवेश के काल का सूचित होता है[1]। संभवतः महाभारत में कर्ण ने पंचनद प्रदेश के लोगों के खानपान की जो गर्हणा की है, उसमें इस प्रवृत्ति के स्थाननिर्देश का तथा सर्वत्र इसे अच्छा न माने जाने का संकेत है[2]।

घी में बने अपूप, ओदन (भात), यवागु (लपसी), यावक (जौ की खीर), पिष्टक (नमकीन लपसी), संयाव (हलुवा), अपूप (मालपुआ), मन्थ (सत्तू), तिलोदन आदि भी खाये जाते थे और कुल्माष (कोहरी) गरीबी का खाद्य था[3]।

तक्र (मट्ठा) और रसाला (लस्सी) हमारे प्रिय पानक थे। सोमयज्ञों में सोम नामक वनस्पति के रस को दूध, दही, शहद और जौ का सत्तू मिलाकर याजक लोग पीते थे। परन्तु सोम शीघ्र ही दुष्प्राप्य और विस्मृत हो गया[4], अत उसके स्थान पर अन्य ओजस्वी वनस्पतियों का व्यवहार होने लगा था। यह सोम द्रुणयों (नगाड़े के आकार के पात्र) और द्रोणों (नाँद) में अद्रि (पत्थर) से पीसकर अवि (ऊन के वस्त्र) से छानकर दूध, दही, जौ का सत्तू आदि मिलाकर चमस या चमू में भरकर, जो हमारे प्रदेश में बुन्देलखण्डी बोली में आज भी चंमू कहलाता है, पिया जाता था। परन्तु इसे पीने के लिए उच्च बौद्धिक और आर्थिक स्तर अपेक्षित था[5]।

लोग मद्य भी पीते थे। अत्यन्त प्राचीन काल से इसके उल्लेख मिलते हैं[6], परन्तु यह निंद्य माना जाता था[7] और विशेष रूप से निम्न बौद्धिक स्तर के लोगों का पेय था।

वस्त्र और अलंकरण

ऋग्वेद के काल में हमारे प्रदेश का निवासी वासस् (धोती) और अधिवास (उत्तरीय) दो वस्त्र धारण करता था और पीछे के संहिताकाल में नीवि नाम का एक वस्त्र और पहनने लगा। ये वस्त्र ऊन के होते थे, जैसा ऊर्णसूत्र के इन संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों के उल्लेखों से सूचित होता है। मुनि मृगचर्म धारण करते थे[8] और 'दृप्ति' नाम के चोगे का

---

१. चरकसंहिता, चिकित्सा स्थान १९.३।

२. महाभारत ८।४०.२०।

३. डॉ० वासुदेवशरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १२१ आदि।

४. पंचविंश ब्राह्मण ९।५।३।

५. डॉ० वासुदेवशरण : पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ ३६२।

६. ऋग्वेद १।६७।७।

७. वही, ८।२।१२।

८. वही, १०।१३६।२।

भी उल्लेख प्राप्त होता है। स्त्री नर्तकियाँ 'पेशस्'[1] (तुलना कीजिए पिशवाज) नाम का कसीदेदार वस्त्र पहनती थीं और विवाह के समय वाधूय (बागा से तुलना कीजिए) नाम का वस्त्र पहना जाता था। लोग अच्छे वस्त्र पहनते थे, जैसा सुवासस और सुवसन से सूचित होता है। स्त्री और पुरुष के वस्त्रों में क्या अन्तर था, यह स्पष्ट सूचना प्राप्त नहीं होती।

ऋग्वेद में अनेक आभूषणों का उल्लेख प्राप्त होता है। पुरुष कानों में सोने[2] के कर्णाभरण[3] पहनते थे तथा युवतियाँ, विशेषतः दुलहनें सिर पर कुरीर तथा एक न्योचनी नामक आभूषण धारण करती थीं। खादि[4] नाम का कड़ा कलाई या पैर में पहना जाता था और निष्कों की एवं मणि की माला[5] तथा रुक्म[6] नामक आभूषण वक्ष पर धारण किये जाते थे। सौन्दर्यवृद्धि के लिए पुष्पहार[7] पहने जाते थे और कमल के फूलों की माला का उल्लेख भी प्राप्त होता है।

स्त्रियाँ ओपश बाँधकर केशविन्यास करती थीं। एक कुमारी के चार जूड़ों का उल्लेख है[8]। रुद्र और पूषा के वर्णन से अनुमान होता है कि पुरुष भी जटा बाँधते थे और वशिष्ठों का जटाजूट दाईं ओर बँधता था[9]। दाढ़ी और मूँछ का उल्लेख प्राप्त होता है और क्षौर की भी सूचना मिलती है[10]।

यज्ञ के समय पहनने के वस्त्रों में रेशमी तार्प्य (अधोवसन) उत्तरीय और उष्णीष (पगड़ी) का, जिसे स्त्री और पुरुष दोनों धारण करते थे, शतपथ ब्राह्मण उल्लेख करता है। जूते सूअर की खाल के बनते थे और 'दण्डोपानह'--लाठी लेकर और जूते पहनकर चलने का उल्लेख कौशीतकि ब्राह्मण में प्राप्त होता है। ये वस्त्र केशर से रँगे जाते थे[11] और उत्तरीय बायें कंधे पर से दाईं काँख के नीचे लपेटा जाता होगा।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में स्थागर नाम की एक वस्तु का उल्लेख है, जो संभवतः किसी सुगंधित माध्यम से बना आभूषण होगा। सेई के काँटों (शलाली) की कंघी और सुरमा लगाने की सलाई बनती थी। गले में शंख और मणि पहनी जाती थीं और विमुक्ता[12] (मोती) का भी उल्लेख प्राप्त होता है। आकाश नाम की आरसी का भी ब्राह्मण-

१. ऋग्वेद १।९२।५।
२. वही, १।१२२।१४।
३. वही, ८।७८।३।
४. वही, १।१६६।९।
५. वही, १।२२।१४।
६. वही, २।३४।२, ८।
७. वही, ४।३८।६।
८. वही, १०।११४।३।
९. वही, ७।३३।१।
१०. वही, १०।१४२।४।
११. शांखायन आरण्यक ११।४।
१२. षड्विंश ब्राह्मण ५।६।

ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है और प्रवर्त सम्भवतः कानों में पहनने की बाली थी। पंचविंश ब्राह्मण व्रात्यों द्वारा चाँदी के निष्कों की हमेल पहनने का उल्लेख करता है।

सूत्रकाल में अंतरीय आप्रपदीन पट के रूप में टखनों तक पहुँचता दिखाई देता है[1], लोग कौशेय (रेशमी)[2], औम (अलसी के रेशे के)[3], और और्ण (ऊन के)[4] वस्त्र पहनते हैं, कम्बल[5] ओढ़े जाते हैं, वस्त्रों को लोघ्र आदि से नारंगी, गुलाबी और पीले रँगे जाते हैं और लोग 'अहत' नयेनिकोर वस्त्र पहनकर प्रसन्न होते हैं। इस काल का मनुष्य तैलमर्दन, उद्वर्तन (उबटन), स्नान, अनुलेपन, गन्धोद्धूलन से निवृत्त होकर नेत्रों में अंजन लगाकर सुन्दर सुवासस् पहनता था, कुण्डल, केयूर और पुष्पहार धारण करता था और हमारे प्रदेश के नागों की आढ्यता को प्राप्त होकर पाणिनि के शब्दों में प्रवीण नागरक[6] या नागरिक बन जाता था।

मनोरंजन

संगीत पर विचार करते हुए जैसा बताया गया है कि उसके गीत, वाद्य और नृत्य तीनों अवयवों में हमारे प्रदेश ने इस काल में प्रवीणता प्राप्त की, रस लिया और हमारे यज्ञ, उत्सव, संस्कार, सदन, उद्यान एवं कुंजों में उससे हमारा मनोरंजन होता रहा। सीमंतोन्नयन पर गर्भवती गीत गाती थीं, विवाह में वर गाथा गाता था और लगभग सभी समारोहों के अन्त में वामदेव्यगान गाए जाते थे।

बाँस पर चढ़कर नाचनेवाले यजुर्वेद में उल्लिखित वंशनर्तिन् नट लोक का मनोरंजन करते थे और विदूषक अपनी विद्रूप चेष्टाओं से लोक को हास्यप्रफुल्ल करते थे[7]।

नाटक का भी लोक में प्रचार था। मैत्रायणीय उपनिषद् का नट के वेशपरिवर्तन करने और शरीर रँगने का उल्लेख तथा ऋग्वेद के कथनोपकथनयुक्त सूक्त नाट्याभिनय के व्यापक मनोरंजन होने की सूचना देते हैं।

अक्ष या पाँसे का खेल भी इस काल में मनोरंजन के रूप में प्रचलित था। अत्यन्त प्रारम्भिक काल से ही अक्षक्रीड़ा ऋणी होने का, परिवार एवं समाज से तिरस्कृत होने का कारण माना जाता था[8] और नल एवं युधिष्ठिर जैसे महान व्यक्तियों की इसमें हार कर आपत्तियाँ उठाने की कथाएँ इतिहास में प्रसिद्ध हो गयी थीं; परन्तु यह अपने दुर्दम्य आकर्षण के कारण लोकमानस पर छागया प्रतीत होता है, इस सीमा तक कि राजसूय एवं अग्न्याधेय का भी यह अंग बन गया।

---

१. अष्टाध्यायी ५।२।८।
२. वही, ६।३।४२।
३. वही, ६।३।१५०।
४. वही, ४।३।१५८।
५. वही, ५।२।४२।
६. वही, ४।२।१२८।
७. ऋग्वेद १।१४१।७।
८. वही, १०।३४।

घोड़े और रथों की अथर्ववेद के अनुसार अर्द्धवृत्ताकार मार्ग में की जानेवाली दौड़[1] हमारे प्रदेश का राष्ट्रीय मनोरंजन था। इसमें विजयी को पुरस्कार प्राप्त होता था और अपनी लोकप्रियता के कारण यह भी वाजपेय यज्ञ बन गया।

इसके अतिरिक्त मल्लविद्या[2] भी मनोरंजन का साधन थी, जिसके लिए हमारे प्रदेश के शूरसेन जनपद की सभी कालों में प्रसिद्धि रही।

शिक्षा

हमारे प्रदेश के इस काल के शिक्षणक्रम का संकेत प्रारम्भ से ही प्राप्त होने लगता है, जब ऋग्वेद का मण्डूकसूक्त श्रुति-प्रणाली से ज्ञान परम्परा के आचार्य से अन्तेवासी में संचरण का, उस काल की पाठशाला का, चित्र उभार देता है[3]। इसी संहिता में प्रसंगानुरूप उस अल्पकालिक ब्रह्मचर्य (विद्यार्थी जीवन) का भी उल्लेख प्राप्त होता है, जिस व्यवस्था के अन्तर्गत विद्यार्थी एक वर्ष तक आचार्य के पास रहकर उस विषय का अध्ययन करता था, जो उस काल में पूरा हो सके[4]। यह मण्डूकसूक्त मनुस्मृति[5] की उस व्यवस्था की प्राचीनता भी प्रतिपादित करता है, जिसके अनुसार विशेषतः छन्दों के अध्ययन या पारायण का सत्र वर्षा के आरम्भ में श्रावणी पूर्णिमा या भाद्रपद पूर्णिमा से प्रारम्भ होता था। ऋषियों के परिवार ही शिक्षण-संस्थाएँ थीं, जो आगे चरण कहलाए, जिनमें आचार्य अपने पुत्रों और अन्य ब्रह्मचारियों को विद्यादान करते थे, जिसका लक्ष्य विद्यार्थी का चरित्रनिर्माण और बुद्धि का विकास होता था[6]। हम अपने प्रदेश में भार्गव शुक्र, और्व, वाल्मीकि, शौनक एवं संदीपन मुनि के ऐसे विद्यादान के केन्द्रों का उल्लेख देख चुके हैं। इन आश्रमों में वेद, इतिहास, पुराण, ब्रह्मविद्या, एकायन, ज्योतिष, छन्द, व्याकरण, राशि (गणित), नृत्य तथा संगीत[7] के अतिरिक्त सगर और लवकुश जैसे दिग्विजयियों को आग्नेयास्त्र सदृश अमोघ युद्ध-साधनों की शिक्षा-दीक्षा दी जाती थी।

अध्ययनयोग्य आयु के माणव (बालक) तथा अन्तेवासियों[8] का उपनयन किया जाता था, जिसका अर्थ है आचार्य के समीप ले जाना और आचार्य इस उपनयन के पश्चात् ब्रह्मचारी को अन्तेवासी के रूप में स्वीकार करता था, उसे ब्रह्मचर्यकाल के कर्त्तव्य समझाता था और ब्रह्मचारी दण्ड, अजिन, यज्ञोपवीत आदि वेशभूषा धारण करके आचार्य के वैदिक चरण में प्रविष्ट होता था[9]।

---

१. ऋग्वेद १०।१५६।१।
२. वही, ८।२०।२०।
३. वही, ७।१०३।
४. वही, ७।१०३।१ तथा १०।१०९।५।
५. मनुस्मृति ४।९५।
६. ऋग्वेद ३।६२।१०।
७. छान्दोग्य ७।१।२।
८. अष्टाध्यायी ४।३।१०३।
९. शतपथ ब्राह्मण ११।३।३।१-७।

इन विद्यार्थियों में मुख्यतया ब्राह्मण तथा साधारणतया अन्य वर्णों के बालक भी होते थे और कुमारियाँ[1] भी इनमें ब्रह्मचारियों के साथ अध्ययन करती थीं। ये ब्रह्मचारी विभिन्न सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्तरों से आते थे और आचार्य के वैदिक चरणों में समान अनुशासन का पालन करते हुए समन्वययुक्त समाज का निर्माण करते थे।

इन आश्रमों से अनेक शास्त्रों के पारंगत भूयोविद्य विद्वान, विशिष्ट शास्त्रों के मर्मज्ञ आचार्य और तत्त्वज्ञानी मेवा द्वारा अथवा गुरुदक्षिणा द्वारा आचार्य को सन्तुष्ट करके सीधी आचार्य से दीपित ज्ञानशिखा लेकर उससे हमारे प्रदेश के घर-घर में चेतनादीप प्रज्वलित करते थे, विश्व को चमत्कृत कर देनेवाले इतिहास का निर्माण करते थे।

आयुर्वेद का ज्ञान

हमारा प्रदेश आयुर्वेद के ज्ञान में अग्रणी रहा है। भार्गव-परंपरा में अनेक आयुर्वेद के ज्ञाता हुए हैं, यह हमने पहले देखा है और काशी के दिवोदास शल्यचिकित्सा के प्रवर्त्तक माने गये हैं। प्राग्वैदिक अवशेषों में शिलाजीत, हरिताल आदि प्राप्त हुए हैं, जिनका उपयोग चिकित्सा में होता रहा होगा। ये अवशेष अपने भीतर उन वनस्पतियों के चिकित्साकार्य में प्रयुक्त होने की संभावना भी छिपाए हैं, जिनके अवशेष प्राप्त होना सम्भव नहीं थे और जिनका उपयोग इन रासायनिक द्रव्यों से पहले ही होने लगा होगा। वैदिक संहिताओं के चिकित्सासम्बन्धी उल्लेख आयुर्वेद के हमारे प्रदेश के इस काल के ज्ञान की सीमा का निर्देश नहीं करते, जहाँ विन्ध्यगिरिमालाओं के वनों की वनस्पतियाँ और खनिज चिकित्सा में प्रयुक्त होने लगे होंगे, प्रत्युत् वे केवल इस शास्त्र के अस्तित्व के आनुषंगिक उल्लेखों के रूप में साक्ष्यमात्र हैं। वैदिक साहित्य के इन उल्लेखों के अनुसार ऋग्वेद के काल से ही इस पद्धति में विकास दिखाई देता है और इस संहिता में यक्ष्म[2] तथा चिकित्साव्यवसायी[3] का उल्लेख प्राप्त होता है। औषधियों की रोगविनाशक शक्ति का वर्णन करनेवाला एक पूरा सूक्त ही ऋग्वेद में प्राप्त होता है[4]। अश्विनीकुमार यहाँ देवताओं और ऋषियों के चिकित्सक[5] हैं और वे च्यवनऋषि का कायाकल्प करते हैं[6], विश्पला के लोहे का पैर लगाते हैं तथा परावृज की आँखें ठीक करते हैं।

पीछे की संहिताओं में से अथर्ववेद में आयुर्वेदसम्बन्धी अधिक उल्लेख प्राप्त होते हैं[7], यद्यपि उसके वैज्ञानिक स्वरूप की निष्पत्ति वह आयुर्वेद का ग्रन्थ न होने से उसमें नहीं होती। आयुर्वेद के विकास में हमारे प्रदेश के निवासी की 'जीवेम शरद शतम्' इच्छा तथा स्वस्थ रहने में स्वच्छता और पवित्रता का स्वभाव अधिक सहायक रहा है।

---

१. तैत्तिरीय संहिता ६।१।६।५, मैत्रायणी संहिता ३।७।३ तथा अष्टाध्यायी ४।१।६३ और ६।२।८६।
२. ऋग्वेद १।१२२।९।
३. वही, ९।११२।
४. वही, १०।९७।
५. वही, ८।१८।८ आदि।
६. वही, १।११६।१०।
७. प्रियरत्न आर्य : अथर्ववेदीय चिकित्सा।

आर्थिक समृद्धि

पशुपालन

इस प्रदेश के निषाद आर्यों के आगमन से पहले खेतीबारी जमा चुके थे, पशु-पालन भी करते थे और जब आर्य हमारे प्रदेश में आए तब वे अमुख्यतया पशुपालक थे और गाय-बैल उनके बहुमूल्य धन थे, उन्हें वे दक्षिणा में देते थे, सिक्के के रूप में प्रयोग करते थे, उनके लिए युद्ध करते थे और उन्हें चराते हुए वे आनन्द का अनुभव करते थे। चरवाहे अपने साथ कुत्ते रखते थे[1], सायंकाल गायें रँभाती हुई घर आती थीं, उन्हें छाया में रखा जाता था, रात्रि के अन्त भाग में[2] तथा सम्भवतः तीन बार दोहन किया जाता था। अनेक ऋचाओं में गाय की अनेक चेष्टाओं की उत्प्रेक्षा से सूचित होता है कि वैदिक ऋषि की आँखों में गाय का वत्सल रूप उठते, बैठते, यज्ञ करते झूलता रहता था और वे अपने मंगल के लिए उनकी मंगल-कामना करते थे[3]। राजाओं के भी गोष्ठ होते थे, जिनमें हजारों गायें होती थीं, यह उनके विशाल दानों से सूचित होता है[4]। जैसा-जैसा समय व्यतीत हुआ, पशुधन का और मुख्यतया गाय का महत्त्व बढ़ता गया और सूत्रकाल में आकर उसका यह महत्त्व सार्वदेशिक हो गया, जैसा हमारे प्रदेश में सदा से था, तथा वह हमारे ग्राम-जीवनप्रधान देश की देवता बन गयी, जैसी आज भी है।

खेती

खेती भारत का निषादों के प्राग्वैदिक काल से ही राष्ट्रीय धन्धा था और प्रस्तुत काल में भी बना रहा। कीनास (किसान), जिन्हें आगे कृषीवल[5] कहा गया, शतपथ ब्राह्मण में कहे ६ से २४ तक बैल हल में वरत्रा के बन्धन से नह देते थे, प्रतोद से उन्हें हाँकते थे और हल की नोक से सीता बनती चलती थी[6]। अथर्ववेद खाद का भी उल्लेख करता है। खेत की जुताई बार-बार की जाती थी[7]। बोने के लिए खेत तयार होने पर[8]

१. ऋग्वेद १।६२।३।

२. वही, ५।७६।३।

३. वही, १०।१९।

४. वही, ८।४६।२९।

५. अष्टाध्यायी ५।२।११२।

६. ऋग्वेद ४।४७।४-८।

७. वही, १।६६।२।

८. अष्टाध्यायी ३।१।१२६।

उसमें जौ[1] बोया जाता था। पीछे के काल में व्रीहि, तिल और गेहूँ आदि भी बोने लगे थे। पर्जन्य से जलवृष्टि द्वारा इस फसल को सींचने की प्रार्थना की जाती थी[2] और आवश्यकता पड़ने पर कुल्या एवं खनित्रिमा आपः (नहर) से तथा[3] कुओं से सिंचाई भी की जाती थी[4]। फसल खड़ी होनेपर कदाचित् बालाएँ उसके पक्षी उड़ाती थीं[5]। फसल तयार होने पर दात्र (हँसिये) से उसे काटा जाता था[6], खल्य[7] (खलिहान) में लाकर उसकी उड़ान आदि (निष्पाव) की जाती थी[8] और उसके पश्चात् अन्न की राशियाँ लगा दी जाती थीं, जो नापने पर ४ हजार मन तक की होती थीं[9]। इसे पाय्य (बुन्देलखण्डी प्या) से नापा जाता था[10] और कुशूल (कुठीला) में रखा जाता था, जहाँ से आवश्यकता होने पर निकाल लिया जाता था[11]। खेती के प्रत्येक कार्य ने धार्मिक कृत्य का रूप ग्रहण कर लिया था और उसे समारोहपूर्वक किया जाता था।

वाणिज्य

प्रागार्यकाल से ही सुदूर विदेशों से व्यापारिक संबंधोवाला पणियों और नागों का यह प्रदेश शूर्पारक जैसा बन्दरगाह जिसे प्राप्त हो, प्रस्तुत काल में भी वाणिज्य की दृष्टि से उन्नत रहा हो यही स्वाभाविक है। वैदिक आर्य के पास पालोंवाले जहाज थे या नहीं, यह बिन्दु दूर देश में जाकर व्यापार करने के,[12] उस व्यापार से[13] एवं समुद्र-यात्रा से धन अर्जित करने के इच्छुक[14] व्यक्तियों के, सौ डाँड़ोंवाले जहाज के[15], पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों के[16] और नौशिल्प में भार्गवों के अनुश्रुति में अनुमानित प्रतिस्पर्द्धी अत्रि द्वारा पक्षोंवाली नौका समुद्र में देखने जाने के[17]

---

१. ऋग्वेद १।६६।२।
२. वही, ५।५७।७-८।
३. वही, ३।४५।३ तथा ७।४९।२।
४. वही, १०।१०१।६।
५. वही, १०।६८।१।
६. वही, ८।६७।१०।
७. अष्टाध्यायी ५।१।७।
८. वही, ३।३।२८।
९. वही, ५।१।५८ वार्तिक ६।
१०. वही, ३।१।१३९।
११. ऋग्वेद १०।६८।३।
१२. वही, १।५६।२।
१३. वही, ३।१८।२।
१४. वही, ४।५५।६।
१५. वही, १।११६।३।
१६. वही, १०।१३६।५।
१७. वही, १०।१४३।५।

उल्लेख के पश्चात्, जिसके पक्ष युक्तिसंगत रूप से पाल ही हो सकते हैं तथा शर्पारक बन्दरगाह के प्रस्तुत काल में अस्तित्व की सुस्थापित ऐतिहासिकता की पृष्ठभूमि में विवादास्पद नहीं रहता। ये ऋग्वेद के उल्लेख वास्तविकता से कम ही सूचना देते हैं, कारण कि ये केवल प्रासंगिक रूप से वहाँ आ गये हैं, उनमें व्यापार का वर्णन अभीष्ट नहीं है। ऋग्वेद का अधिकांश उन पणियों से बहुत कम सम्बद्ध है, जो भूमध्यसागर से सिंहल तक व्यापार करते थे और जिनसे राजन्य का अधिकतम बलिग्रहण के रूप में संबंध था। जिसने स्थल पर अपना राज्य स्थापित कर लिया था और जिसे वलि के रूप में व्यापार के लाभ का अंश मिल जाता था, उस राजन्य द्वारा यात्रा के संकट मोल लेने की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः उनके यज्ञों की आवश्यकता से संग्रहीत इस साहित्य के समुद्रयात्रा के ये उल्लेख व्यापक विदेशी व्यापार के सूचक माने जाना चाहिए। संभव है, इस व्यापार को आर्य-आक्रमण के समय कुछ आघात लगा हो, परन्तु उसने राज्य-व्यवस्था स्थिर होते ही शीघ्र ही उन्नति कर ली होगी। इस विदेशी व्यापार की विद्यमानता में समृद्ध आंतरिक वाणिज्य स्वाभाविक रूप से अनुमानगम्य है। हमारे प्रदेश के पणि सार्थवहों के विशाल सार्थ देश को सम्पत्ति से पूरित कर रहे थे।

वस्तुविनिमय की मुख्य पद्धति जनसाधारण में निमान (अदलाबदली) रही होगी, गाय का उपयोग भी विनिमय के माध्यम के रूप में हो रहा था,[1] परन्तु सम्भव यह है कि पणियों के विदेशी व्यापारियों और देश के व्यापारियों के साथ होनेवाले बड़े सौदों का मूल्य निष्कों के रूप में चुकाया जाता होगा। निष्क का गले के आभूषण के रूप में[2] उल्लेख मिलने के साथ-साथ सौ घोड़े और सौ निष्क दान किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है[3]। यहाँ सौ निष्क का अर्थ सौ मालाएँ नहीं, सौ निष्क ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है और एक-एक निष्क निश्चित मूल्य का प्रतिनिधित्व करता हो तथा मुद्रा के रूप में ऋग्वेद के काल में व्यवहृत होता हो, यह अनुमान होता है।

मान, उन्मान, पण्य द्रव्यों की विस्तृत सूचियाँ, सोना, चाँदी, ताँबा, काँसा आदि धातुओं के उल्लेख, धनी श्रेष्ठियों के उल्लेख और सोम से की गयी वाणिज्य में लाभ की प्रार्थना[4] प्रस्तुत काल में व्यापार की व्यापकता और उन्नति की सूचना देती है।

परिवहन और यातायात

इस काल में परिवहन और यातायात के साधनों के रूप में रथ, शकट, घोड़े तथा ऊँट का, जिनके उल्लेख पहले किये जा चुके हैं, उपयोग होता था। कच्चे मार्गों के अतिरिक्त आगे अच्छे राजमार्ग भी बनने लगे होंगे, यह विपथ[5] नाम की ऊबड़-खाबड़

१. ऋग्वेद ४।२४।१०।

२. वही, ५।१९।३।

३. वही, १।१८६।२।

४. हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र १।१५।१।

५. अथर्ववेद १५।२।१

मार्ग पर चलनेवाली गाड़ी के उल्लेख से अनुमान होता है तथा हाथी के उपयोग एवं पुलों के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं।

स्थलमार्गों और वाहनों के अतिरिक्त अत्यन्त प्राचीन काल से नदियों और समुद्रों में नावें और पोत भी चलते रहे होंगे, जिनका उल्लेख पहले हो चुका है। इन नावों और पोतों के द्वारा ही प्रस्तुत काल के विभिन्न जनपद और देशों के वे परस्पर सम्पर्क स्थापित होते होंगे, जो फारस, गांधार, सिन्ध, कच्छ और सोनभद्रा में इतिहास के विविध कालक्रमों में च्यावनों और वात्स्यायनों की उपस्थिति से तथा कन्नौज, नागदा, गुजरात, सिन्धु और फारस तक एक सांस्कृतिक धारा के प्रवाहित होने से सूचित होते हैं। पीछे के काल में प्राप्त होनेवाला समुद्री यातायात का अस्तित्व सौ-दोसौ साल की उपज नहीं था, उसके पीछे सहस्राब्दियों की परम्परा थी, भले ही अनैसर्गिक वर्णव्यवस्था उत्पन्न होने पर, पहले लिखे प्रकार से समुद्रयात्रा हतोत्साहित किये जाने के कारण उसमें ह्रास हुआ हो।

साहित्य और कला

साहित्य

इस काल का उपलब्ध साहित्य मुख्यतया वैदिक संहिताएँ हैं। इनके निर्माण का अपना इतिहास है। हमने अपने प्रदेश के जन और जनपदों पर विचार करते समय देखा है कि हमारे यहाँ वैदिक मन्त्रद्रष्टाओं में उशना, ऊर्व, दत्तात्रेय, जमदग्नि, विश्वामित्र, अगस्त्य, लोपामुद्रा आदि हुए। हमारे पड़ौस में ही वशिष्ठ थे। इन ऋषियों और इनके वंशों में हुए मंत्रद्रष्टाओं के विशाल समूह ने उन वैदिक संहिताओं के अधिकांश की रचना की, जो आज विश्व का प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य है और जिसमें हमारे प्रदेश के निवासियों की उदात्त प्रवृत्तियों के उद्‌भव एवं विकास की परंपराएँ सुरक्षित हैं। ये वैदिक संहिताएँ ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद हैं।

इनके अतिरिक्त ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, श्रौत एवं गृह्य सूत्र आदि विशाल वैदिक साहित्य है तथा शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस् और ज्योतिष की छः वेदांगों से संबद्ध रचनाएँ हैं। यह साहित्य हमारे प्रदेश के जनजीवन की धार्मिक एवं सामाजिक प्रवृत्तियों से तथा चिंतन की विकासपरम्परा से उत्पन्न हुआ, उन्हें पिछली सहस्राब्दियों में प्रभावित करता रहा और आज भी उसके संस्कार हमारे भीतर अवशिष्ट हैं। परन्तु इसमें से कितने अंश के कर्तृत्व का दावा हमारा प्रदेश कर सकता है, यह नहीं कहा जा सकता।

ऋग्वेद

वैदिक संहिताओं में सबसे प्राचीन ऋग्वेद है। ऋक् का अर्थ है स्तुतिपरक मंत्र और वेद का अर्थ है ज्ञान, अर्थात् ऋग्वेद में प्रधानतः देवताओं की स्तुतियाँ संग्रहीत हैं। पूर्वकाल में इसकी २१ शाखाएँ थीं और उनमें से केवल शाकल शाखा का पाठ आज बचा है। उसमें ११ वालखिल्य सूक्त और ३६ भाष्कल शाखा के खिलसूक्त भी सम्मिलित हैं। इन देवताओं की स्तुतियों की रचना उस लोकसाहित्य में से जो मंत्रद्रष्टाओं की स्मृति में पहले से विद्यमान था[1], वैदिक यज्ञों में पाठ के लिए हुई थी[2]। ऋग्वेद में दस मण्डल हैं। पहले मण्डल में एकाधिक ऋषिवंश के मंत्रद्रष्टाओं के सूक्त संग्रहीत हैं। दूसरे से सातवें मण्डल तक प्रत्येक में क्रमशः भार्गवों के दत्तक आए गृत्समद[3], विश्वामित्र,

---

१. ब्लूमफील्ड : ऋग्वेद रिपीटीशन्स।

२. ओल्डनबर्ग : प्रोलेगोमेना, पृष्ठ ३६७।

३. ऋग्वेद अनुक्रमणी।

वामदेव, अत्रि, भरद्वाज तथा वशिष्ठ ऋषि और उनकी वंशपरंपरा के द्वारा दृष्ट मंत्र संग्रहीत हैं, इस प्रकार लगभग आधा ऋग्वेद हमारे प्रदेश के ऋषियों की रचना है। इन मंडलों में प्रत्येक देवता के लिए अर्पित सूक्तों में प्रारंभ में जगती छंद के मंत्र और अन्त में गायत्री छंद के मंत्र रखे गये हैं। आठवें मण्डल में कण्वऋषि के वंशजों और अन्य ऋषियों के मंत्र हैं। आठवें मण्डल के पश्चात् वालखिल्य सूक्त हैं। नवें मण्डल में पिछले आठ मण्डलों में से छाँटकर पवमान सोमपरक सूक्त संग्रहीत हैं। दसवें मंडल में विभिन्न ऋषियों के सूक्त हैं और इस मण्डल में समाविष्ट पवमान सोमपरक मंत्र पिछले ९ मण्डलों में प्राप्त नहीं हैं। विशिष्ट ऋषिवंशों द्वारा रचित मण्डल अग्निपरक मंत्रों से प्रारम्भ होते हैं, फिर उनमें इन्द्र की स्तुति के मंत्र आते हैं और उसके पश्चात् अन्य देवताओं के।

इन सबको देखते हुए उस काल का अनुमान किया जा सकता है, जब एक-एक मन्त्रद्रष्टा ऋषिवंश का एकएक मण्डल ही वेद रहा होगा, जो स्वयं में पूर्ण था। एक काल में पहले सात मण्डल एकत्र करके बचे हुए विविध वंशों के ऋषियों के सूक्त आठवें मंडल में संग्रहीत हुए होंगे और अन्त में परिशिष्ट के रूप में बालखिल्य सूक्त रखे गये होंगे। नवाँ मंडल उद्गाताओं द्वारा सोमयज्ञों में गाने के लिए पिछले आठ मण्डलों में से पवमान सोमपरक मंत्र छाँटकर संग्रह किया गया और इस अनुमान के अनुसार[1] दसवाँ मण्डल, उसमें समाविष्ट पहले मण्डलों में अनुपलब्ध सोमसूक्तों के तथा भाषा के साक्ष्य पर स्पष्टतः सबसे पीछे का जोड़ा हुआ है। परन्तु यह स्थापित तथ्य है कि ऋग्वेद संहिता, जैसी वह आज उपलब्ध है, अन्य संहिताओं की रचना से पहले ही निर्मित हो चुकी थी।[2]

ऋग्वेद में देवताओं की स्तुतियाँ संग्रहीत हैं, यह कहा जा चुका है; परन्तु इनकी रचना एक जीवित जाति ने की है, अतः उनमें इसी तारतम्य में अनेक सूक्त ऐसे आ गये हैं, जिन्हें आज के युग में भी सर्वोत्कृष्ट साहित्य की तुलना में खड़ा किया जा सकता है। ऊषा सूक्त में निसर्ग के हृदयहारी लालित्य की मानव की सौन्दर्यानुभूति पर कोमल प्रतिक्रिया अप्रमित रूप में अभिव्यक्त हुई है।[3] इन्द्र की स्तुति में कहे मंत्र[4] वीररस से ओतप्रोत हैं, मुग्द्लानी की वीरगाथा कविरीति की सहायता के बिना भी रणोत्साहप्रद हैं[5]। पर्जन्य सूक्त में की गयी तूफान के लोकसंग्रहकारी रूप की कल्पना संसार के साहित्य में अद्वितीय है[6]। नाट्य तत्त्व अपने बीजरूप में पुरूरवा और उर्वशी के कथोपकथन में यहाँ प्राप्त होता है[7]। संभवतः कथोपकथनयुक्त इन मंत्रों का धार्मिक अवसरों पर कभी अभिनय होता रहा होगा।

---

१. ओल्डनबर्ग : पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ २५०।

२. वही, पृष्ट ३२८।

३. ऋग्वेद १।४८।

४. वही, १०।१०२।

५. वही, १०।११७।

६. वही, ५।८३।

७. वही, १०।९५।

ऋग्वेद में ऐसे मंत्र भी हैं, जो मर्म को स्पर्श करते हैं। मृतक को पृथिवी को सौंपते हुए अंत्येष्ठि के सूक्त में ऐसे भाव मुखर हुए हैं, मानो विवश मातापिता अपने बच्चे को किसी वत्सला स्त्री की गोद में सौंप रहे हैं।[1]

यहीं आए गोसूक्त को आज भी कोई भी गोपाल उन्मुक्त स्वर से गा सकता है[2] और वास्तोष्पति एवं इन्द्र का सूक्त संभवतः संसार की सबसे पहली लोरी है।[3]

सामवेद

साम का अर्थ स्वरसहित ऋचा है। सामवेद में १८१० गेय मंत्र संग्रहीत हैं, जिनमें ७५ के अतिरिक्त सभी ऋग्वेद के हैं।

यजुर्वेद

यजुर्वेद वस्तुतः अध्वर्यु याजकों का पथप्रदर्शक है। ऋग्वेद में अध्वर्यु को सुहस्त्य और मधुपाणि[4] कहा गया है, जबकि होता को सुवचा[5] और सुजिह्व[6]। इसके शुक्ल-यजुर्वेद की माध्यंदिन और काण्व शाखाओं के तथा कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय, काठक, मैत्रेयाणी एवं कपिष्ठल शाखाओं के पाठ आज उपलब्ध हैं। यजुर्वेद कालानुक्रम में ऋग्वेद से पीछे का माना जाता है[7] और इसकी भी अधिकांश मंत्रसामग्री ऋग्वेद की ही है।

अथर्ववेद

संहिताओं में अंतिम, सबसे पीछे का अथर्ववेद माना जाता है। इसके शौनकीय और पिप्पलाद दो पाठ आज प्राप्त होते हैं, जिनमें शौनकीय अधिक प्रचलित है। ऋग्वेद के पश्चात् अथर्ववेद का, उसमें उल्लेखनीय रूप से साधारण वर्ग की जनता के गृह्य धर्म का दिग्दर्शन प्राप्त होने से और स्थानीय निवासियों के अपने मूल विश्वासों एवं परम्पराओं के साथ वैदिक धर्म में दीक्षित होने की कहानी उसमें मिलने से, अत्यधिक महत्त्व है।[8] अथर्ववेद में आयुर्वेद के विशाल ज्ञान का प्रतिबिम्ब प्राप्त होता है[9] और राजधर्म,[10] समाजव्यवस्था[11], अध्यात्म[12] तथा काव्य के रस संप्रदाय का निदर्शन[13] उसमें

१. ऋग्वेद १०।१८।१०-१३।
२. वही, १०।१९।
३. वही, ७।५५।
४. वही, १०।४१।
५. वही, १०।११०।७।
६. वही, १।१३।८।
७. ओल्डनबर्ग: प्रोलेगोमेना, पृष्ठ ३१९।
८. ब्लूमफील्ड : ग्रफिइस, पृष्ठ ५०-१००
९. प्रियरत्न आर्ष : अथर्ववेदीय चिकित्सा।
१०. अथर्ववेद ३।४।२; ३।५२; ७।१३।१-२ आदि।
११. वही, ३।३०।
१२. वही, ३।९।२०; ९।१०।१८, २८ तथा १०।८।४४।
१३. वही, ३।२२।२ तथा १०।८।३२, ४४।

मिलता है। उसका पृथिवी सूक्त[1] आज भी भारतवर्ष को विश्वकल्याण से परिपूर्ण राष्ट्रीय भावना का प्रतिनिधित्व करता है।

आख्यान-साहित्य

इस विशाल वैदिक साहित्य के अतिरिक्त संभावना यह है कि ऋग्वेद में उल्लेखित विशिष्ट वीरों के उपाख्यानों का भी लोकसाहित्य के रूप में प्रणयन इस काल में हुआ हो, जिनसे भार्गव राम, ययाति, इन्द्र आदि की प्रशस्ति से युक्त ऋग्वेद के अंश ग्रहण किये गये और जिनसे इन उल्लेखों में सजीवता आई। इनका अस्तित्व पाणिनि के काल तक पूर्वाधिराम एवं अपराधिराम तथा पूर्वयायात एवं अपरयायात के रूप में विद्यमान था।[2] इस साहित्य का पीछे के काल में संभवतः पुराणों और महाभारत में संहिताकरण कर दिया गया। इसके अतिरिक्त उस विशाल पुराण लोकसाहित्य का भी अपने मूल रूप में इस काल में संग्रह हुआ जो कुलपति भार्गव शौनक को सूत ने ऋषि-समाज के बीच सुनाया।

काव्य

रामायण : हमने अपने प्रदेश के जन एवं जनपदों पर विचार करते हुए देखा है कि आदिकवि भार्गव वाल्मीकि ने हमारे प्रदेश में तमसा-तट पर रामायण की रचना की। यह आदिकाव्य आज अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं है। वाल्मीकि की रामायण भारत की राष्ट्रीय संपत्ति बन गयी और आदिकवि की पीछे की पीढ़ियों की और राष्ट्र की आवश्यकताओं के अनुरूप उसमें परिवर्तन और परिवर्द्धन होते चले गये, अतः उसके सम्बन्ध में इससे अधिक नहीं कहा जा सकता कि हमारे प्रदेश की वास्तविक काव्य की प्रेरणा विश्व में सर्वप्रथम, आज से साढ़े चार हजार वर्ष पूर्व हुई, वाल्मीकि की वाणी में उसने मानव-समाज का उन्नयन किया और उसके द्वारा हमारे प्रदेश की आदर्श एवं उदार भावनाओं को अभिव्यक्ति मिली।

जय : वासुदेवयुग के अन्त में दिव्य विभूति वेदव्यास का उद्भव हुआ। उनने वेदों के संहिताकरण के अतिरिक्त महाभारत-युद्ध की कथा के आधार पर जय-काव्य का निर्माण किया, जिसका वर्द्धित रूप आज महाभारत के रूप में वर्त्तमान है। उसकी भगवद्गीता का विश्व के दार्शनिक साहित्य में मूर्द्धन्य स्थान है।

इन्द्रजननीय : इसके अतिरिक्त एक इन्द्रजननीय काव्य का अस्तित्व पाणिनि के काल में प्राप्त होता है[3]। इसकी रचना भी आलोच्य काल की होना संभव है, जिसका संकेत ऋग्वेद में प्राप्त होता है[4]। इस काव्य के रचयिता का नाम विस्मृति के उदर में समा गया; किन्तु यह काव्य भी संभवतः इस काल के अन्य भारतीय साहित्य की भाँति विशाल पौराणिक साहित्य का अंग बन गया।

---

१. अथर्ववेद १२।१

२. डॉ० वासुदेवशरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ३३१

३. वही, पृष्ठ ३३०।

४. ऋग्वेद ४।१८।

भाषा

विद्वानों ने वैदिक भाषा का क्रमशः भारतीयकरण देखा है[1]। इस काल में स्पष्टतः कम से कम दो मुख्य भाषाओं का अस्तित्व सूचित होता है, एक तो आर्ष वैदिक भाषा का जो अपने मूल रूप के समीपतम ऋग्वेद के प्रारंभिक मंडलों में प्राप्त होती है[2] और दूसरा द्राविड़ भाषा का, जिसके हमारे प्रदेश में पड़े प्रभाव से आर्ष भाषा का र, ल में परिवर्तित हो रहा था[3], जिसके पास अपनी लिपि थी और जो उस भाषा का पूर्व रूप थी, जिसे आगे केशव तथा अन्य कवियों ने देव और नर भाषा के पार्थक्य में नाग भाषा कहा[4]।

हमारे प्रदेश में आर्ष भाषा और नाग भाषा के निकटसंपर्कों ने उस तीसरी भाषा को जन्म दिया, जिसमें पहले पूर्वाधिराम और उत्तराधिराम तथा पूर्वयायात और उत्तरयायात की रचना हुई होगी तथा पीछे जिसमें रामायण की रचना हुई और जो कालान्तर में पुनः ललित लौकिक संस्कृत और विविध प्राकृतों के रूप में विकसित हुई।

लिपि

ब्राह्मी लिपि के रूप में अशोक-स्तम्भों पर प्राप्त होनेवाली लिपि का प्रो० लैंग्डन द्वारा ऊहित संभाव्य पूर्वरूप[5], जिसे अलबेरूनी ने ५० वर्णोंवाली लिपि कहा है और जिसमें वेदव्यास द्वारा विवेच्य युग में संपूर्ण साहित्य लिपिबद्ध कराए जाने की अनुश्रुति उसने सुनी[6], प्राग्वैदिक द्राविड़ों का सिन्धुघाटी का प्रदेश आर्यों की विजयवाहिनियों का बहुत काल तक क्रीडास्थल रहने से हमारे प्रदेश में इस काल में सिन्धु और गुजरात के उत्खननों में प्राप्त मुद्राओं की लिपि से बना हो, जिसमें ४०० के लगभग संकेत विद्वानों ने गिने हैं, यह तथ्यों के अधिक समीप है, कारण कि यहाँ सोन, टोंस, बेतवा और चम्बल के तीरों पर इस काल का सांस्कृतिक नेतृत्व करनेवाले भार्गव परिवारों ने सैकड़ों पीढ़ियों तक निवास किया और यहीं नाग संस्कृति विन्ध्य की कठोर पर्वतमालाओं से पीठ अड़ाकर रह गयी, विजेताओं का सामना करती रही, यहीं अप्रतिहत गति चन्द्रवंशियों के इनसे विवशता के संपर्क हुए और इस प्रकार वैसे सांस्कृतिक आदानप्रदान की संभावनाएँ यहीं अधिक थीं, जिसमें प्राग्वैदिक युग की मुद्राओं की प्राचीन द्राविड़ या नाग लिपि से उस ससर्वांग लिपि का प्रारूप उभर सकता, जो आगे पुनः नागों के नागर हाथों से हमारे प्रदेश में पूर्णता को प्राप्त हुई तथा नागरी कहलाई[7]।

---

१. बी० के० घोष: लिंग्विस्टिक इण्ट्रोडक्शन टू संस्कृत, पृष्ठ ५७।

२. मॅकडॉनेल : वैदिक ग्रामर, ४८२ ई।

३. वेकर नेगल : अल्तिनदिश ग्रमेटिक, १।१९१ सी।

४. हरिहरनिवास द्विवेदी : मध्यदेशीय भाषा (ग्वालियरी), पृष्ठ ६४ तथा 'ग्वालियरी का व्याकरण', भारती, अगस्त १९५६, पृष्ट ५०६।

५. सतीशचन्द्र काला : पूर्वनिर्देशित, पृष्ट ९८।

६. अलबेरूनी का भारत, सीताराम बी० ए० का अनुवाद, दूसरा भाग, पृष्ठ ३१, ८९।

७. जायसवाल : अन्धकारयुगीन भारत, पृष्ठ १३०-३१।

संगीत

नादब्रह्म की आराधना हमारे प्रदेश में ब्रह्म की ही भाँति अनादि है। हमारे सरित-पुलिनों को अपने आनन्दविभोर संगीत से नीग्रो नृवंश एवं निषादों ने मुखरित किया, नागों ने आन्दोलित किया और पुरुकुत्स के काल में मौनेय गंधर्वों ने अपने लोक-विश्रुत अपौरुषेय संगीत से स्पन्दित किया तथा वैदिककाल में निसर्ग के लावण्य एवं औदार्य में से झाँकती अलौकिक शक्तियों की अनुकूलता की कामना से मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के सामगान ने अपनी स्वरतरंगिणी का इस स्वरसंघात में संगम किया। अपने पूर्वतम रूप में साम के स्वर किसी तन्मय ऋषि के मधुर कंठ से उन्मुक्त फूट पड़े होंगे। गायक एवं सहकर्मी ऋत्विज श्रोताओं की आनन्दानुभूति के कारण वे बारबार दुहराए गये होंगे और वैदिक यज्ञ सामूहिक कार्य होने से, इस संगीत ने शीघ्र ही पद्धतिबद्ध रूप ग्रहण कर लिया होगा। यह सामगान मुख्यतया सोमयज्ञ में होता था। जिस मंत्र पर जो साम गाया जाता था, वह मंत्र उसकी योनि कहलाता था, अर्थात् उद्गाता ऋत्विज मंत्र को संगीत का उद्गम मानते थे। सोमयज्ञों में जब यज्ञशालाएँ सोमध्वनि से पूरित होती थीं, सामगान की आह्लादपूर्ण ध्वनियाँ दूर देश से ही सुनाई देने लगती थीं[1]। इसके ग्रामगेयगान, आरण्यगान, ऊहगान और ऊह्यगान चार भाग हैं। सामवेद प्राचीन काल में किस प्रकार गाया जाता था, यह ज्ञात नहीं है। छान्दोग्य उपनिषद् से सामगान के हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधान पाँच अंश ज्ञात होते हैं। स्ट्रैंग्वे ने अपने 'म्यूजिक ऑव हिन्दुस्तान' में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित को क्रमशः आरोह, स्थायी और अवरोह का सूचक बताया है। साइमन ने इन भेदों से सामगान में प्रयुक्त स्वरों की संख्या आठ हजार ठहराई है। स्ट्रैंग्वे के अनुसार साम की गानलयों के नाम क्रुष्ट, प्रथमा, द्वितीया, चतुर्थी, मन्द्र और अतिस्वार्थ हैं। इनके अतिरिक्त विकार, विश्लेषण, विकर्षण, अभ्यास, विराम और स्तोभ पाँच सामविकार हैं, जिनका सामगान में प्रयोग होता था।

इस आर्ष-यज्ञों में प्रयुक्त संगीत के अतिरिक्त जिसका विवेच्यकाल का रूप आज उपलब्ध नहीं है, उर्वशी और मेनकाओं की स्थानीय गानपद्धति भी रही होगी, जो विजेताओं को उनके संकेत पर नाचने को विवश करती होगी। प्रस्तुत काल में हमारे प्रदेश के जन-जीवन को संगीतमय बनानेवाली वह लौकिक गीतप्रणाली भी रही है, जिसमें विवाह के समय वर गाथा गाता था, जिसे लव और कुश ने हमारे प्रदेश में सीखकर अयोध्या में वाल्मीकि की रामायण वीणा पर गाई थी, जिसमें आज के रागों की भाँति वाल्मीकि की कही जाति विद्यमान थीं और जिसके अनुसार कौषीतकि ब्राह्मण में उल्लेखित सीमंतोन्नयन के समय का गीत, नृत्य एवं वाद्ययुक्त सांग संगीत सम्पन्न होता था। वाद्यों में देवताओं की प्रसन्नता के लिए वेणु बजाई जाती थी[2], वीणा[3] झंकृत

१. ऋग्वेद ८।११२।२।
२. वही, १०.१३५।७।
३. वही, २।३४।१३।

होती थी, कर्करि निनादित होती थी तथा वेदकालीन युद्धों में दुंदुभि[1] गंभीर घोष से अंतरिक्ष को पूरित करती थी। संगीत के प्रमुख अंग नृत्य से भी इस काल के हमारे प्रदेश के निवासी परिचित थे, यह मंत्रद्रष्टाओं को ऊषा की किरणों में नर्तकी का आभास मिलने से सूचित है[2] और प्राग्वैदिक युग एवं अजंता के चित्रों के बीच के इस काल में भी नीग्रो नृवंश की नर्तकियाँ हमारे पुरों और ग्रामों का मनोरंजन करती रही हों, यह स्वाभाविक है।

मूर्तिकला

ठोस माध्यमों से अपनी सौन्दर्यानुभूति को मूर्त्त करने की कला इस काल के मध्य-देश के लिए नवीन नहीं थी, उसकी पूर्वपरंपरा विद्यमान थी, यह पहले प्रकट किया जा चुका है। प्रस्तुत काल भी उससे सूना नहीं है।

गुप्त काल में हमें अपने शैव और वैष्णव मंदिरों के द्वार की चौखटों पर जो मकर-वाहिनी गंगा और कूर्मवाहिनी यमुना की उभरी हुई मूर्त्तियाँ मिलती हैं, उनका स्रोत मूर्तिकला के विद्वान् बौद्ध तोरणों की इसी प्रकार की आकृतियों को यक्षिणी कहकर उनमें ढूँढते रहे हैं। परन्तु ऋग्वेद इन अमूर्त्तिपूजक विजेताओं पर विजित मूर्त्तिपूजकों की सांस्कृतिक विजय की दुंदुभि का घोष करते हुए इससे भिन्न साक्ष्य प्रस्तुत करता है। यहाँ हम विशाल (बृहती) सुनहरी (हिरण्ययीः) द्वारदेवियों (द्वारोदेवीः) को यज्ञ-शाला के द्वार की चौखट (आत) पर ऊर्ध्व प्रवर्तित[3] देखते हैं और एक स्थल पर पति के सम्मुख स्वयं को प्रकट करनेवाली अलंकृत स्त्री की आकृति की (संभवतः किवाड़ों पर उत्कीर्ण) सुनिर्मित द्वारों की अभिमानिनी देवियों से जमदग्नि पृथक् होने को, खुल जाने को कहते हैं[4]। ये दोनों उल्लेख ऋचाकाल में मूर्त्ति निर्माण का मूर्द्धाभिषक्त साक्ष्य उपस्थित करते हैं। इन्द्र के घोड़ों को दी गयी शालभंजिकाओं की उपमा[5] भी उपर्युक्त उपपत्ति की पुष्टि करती है[6]।

वैदिक धर्म में अनन्तर विकास होने पर अमूर्त्त देवताओं का स्थान मूर्त्तिमान शिव, विष्णु आदि द्वारा ग्रहण किये जाने पर यूप-स्तंभों, यज्ञशालाओं के खंभों, दीवारों और वेदिकाओं पर इनकी मूर्त्तियों के पूर्वरूप इस काल के अन्तिम भाग में बनने लगे होंगे और लोकधर्म के यक्ष, नाग, कूर्म, मकर, वृष आदि भी सुविधानुसार वाहन, अलंकरण और मुख्य देवता की भाँति अपने युग की प्रवृत्तियों के अनुरूप निर्मित आराधना-स्थलों में मूर्त्तिकला के अभिप्राय बने होंगे। प्रमुख व्यक्तियों की समाधियों पर ऋग्वेद के काल में बननेवाले मिट्टी के टीलों (स्तूपों) को, जिनमें अस्थि-अवशेषयुक्त कुंभ दबा दिये जाते थे और उनपर खड़े किये जानेवाले स्तंभों को[7] भी विविध मूर्त्तियों से अलंकृत

---

१. ऋग्वेद २।४३।३ तथा ६।४७।२९।

२. वही, १।९२।४। ३. वही, ९।५।५।

४. वही, १०।११०।५। ५. वही, ४।३२।२३।

६. विजयगोविन्द द्विवेदी : द्वारदेवियों की मूर्तिपरंपरा, भारती, ग्वालियर, जुलाई १९५६, पृष्ठ ४४०।

७. ऋग्वेद १०।१८।११-१३।

करना इस काल में प्रारम्भ हो गया होगा, जिनकी आगे की परम्परा में मौर्यकालीन जैन एवं बौद्ध स्तूपों का निर्माण हो सका।

पाणिनि जिन मूर्त्तियों को प्रतिकृति कहते हैं, जिनकी अर्चावान (पुजारी) पूजा करते थे, जिनसे उनकी आजीविका चलती थी, जो बिक्री के लिए भी बनती थीं और जिनसे मौर्य राजा स्वर्ण एकत्र करते थे[1], वे अकस्मात् उत्पन्न नहीं हो सकतीं, अर्थात इनके निर्माण की पूर्वपरम्परा विचाराधीन काल में चलती रही होगी और इसीका आगे का रूप शिशुनाग और मौर्यों के अवशेषों में प्राप्त होता है।

चित्रकला

उपर्युक्त द्वारदेवियाँ, संभवतः जैसी वे पीछे के काल में भी उपलब्ध होती हैं, भास्कर्य (अर्द्धचित्र) थीं, अतः इस कला की कल्पना के लिए आलोच्यकाल के हमारे प्रदेश के निवासी को चित्रकला का, उससे एक नवीन कला को जन्म देने के लिए आवश्यक विकसित कोटि का ज्ञान हो, यह आवश्यक है और इस पृष्टभूमि में उपर्युक्त हिरण्ययी द्वारदेवियों पर से हटी मंत्रद्रष्टा ऋषि की दृष्टि मनोवैज्ञानिक अनुक्रम में चित्र पर जाना चाहिए, जो संभवतः गयी भी है और हम जमदग्नि[2] को द्वारदेवियों के निदर्शन के तत्काल पश्चात् उससे आगे की ऋचा में ऊषा देवी और रात्रिदेवी के परम शोभायुक्त उज्ज्वल श्रीयुक्त रूप को निहारते तथा एक अन्य मंत्रद्रष्टा की आँखें[3] भी उसी अनुक्रम में बृहती मही (बृहत् महान) नक्तोषासा (रात्रि और ऊषा) पर जो 'सुशिल्पे' (सुरचित) भी हैं, रुकते देखते हैं। इनके रात और ऊषा का अंकन करने के प्रतीक क्या थे, यह आज के ज्ञान की सीमाओं में कहना शक्य नहीं है, परन्तु ये उल्लेख यह संभावना प्रकट करते हैं कि इस काल में यज्ञशालाएँ इनके चित्रांकन से अलंकृत होती थीं।

स्थापत्य

वैदिक काल का हमारे प्रदेश का मनुष्य अपने निवास के लिए बस्तियों का निर्माण करता था, जिनके चारों ओर रक्षा के लिए दीवारें खड़ी कर दी जाती थीं[4]। सौ द्वारों-वाली नगरी के उल्लेख प्राप्त होते हैं[5]। उसके आवास पत्थर, लकड़ी और ईंट के बने होते थे[6]। उसे मिट्टी के घर में रहना अच्छा नहीं लगता था[7]। उसकी आँखों में

---

१. डॉ० वासुदेवशरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ३५६-५७।

२. ऋग्वेद १०।११०।५।

३. वही, ९।५।५।

४. वही, १।४४।१० तथा १।११४।१।

५. वही, १०।९९।३।

६. वही, ६।४६।९।

७. वही, ७।८९।१।

हजार खंभों[1], हजार द्वारों[2] और कई मंजिलों के सौध[3] झूलते रहते थे। उसके घरों में आँगन और कोठे होते थे[4]।

पहले उल्लेखित इस प्रदेश के वैभवशाली चेदि के राजाओं के दानों की विशालता को देखते हुए इस युग में भव्य प्रासादों का निर्माण संभावना से परे नहीं है। पर प्रारंभ में दस्युओं की नगरियों पर इनकी दृष्टि जमी रहती थी और उनपर विजय प्राप्त करने के पश्चात् ये ही दस्यु इनके वास्तुकार, शिल्पी और तक्षण बने। इनने पाण्डवों के अद्भुत सभाभवन बनाए, विशाल यज्ञशालाएँ बनाईं, व्यक्तिगत सद्म बनाए, पीछे भी बनाते रहे और इन्हीं की शिष्यपरंपरा आज भी बना रही है। पीछे के काल में जब जीवन के प्रत्येक अंग का सूक्ष्म अध्ययन प्रारम्भ हुआ, तब हमारे प्रदेश का समुन्नत स्थापत्य भी शास्त्र का विषय बना और परिणामतः पाणिनि से पूर्व वास्तुविद्या एक पद्धतिपूर्ण विज्ञान था[5], यह उल्लेख प्राप्त होता है।

---

१. ऋग्वेद ५।६२।६ तथा २४१।५।

२. वही, ७।८८।६।

३. वही, १०।६६।५-७।

४. वही, ७।५५।

५. डॉ० वासुदेवशरण: पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ ३३०।

जन-साम्राज्यों का युग

(ई० पू० लगभग ८०० से ई० पू० २०० तक)

युग की विशेषताएँ तथा ऐतिहासिक सामग्री

जन-साम्राज्यों का युग और मध्यभारत

ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी तथा उसके पश्चात् ईसा पूर्व १८७ तक लगभग पाँच-छह शताब्दियों के काल का भारतवर्ष के इतिहास में अपना विशेष स्थान है। इस काल के इतिहास को हम मध्यदेश तथा उसके प्रभाव के विकास का इतिहास मानते हैं। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण भारतीय इतिहास में वर्त्तमान मध्यभारत के भूभाग के निवासियों का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है, यह इस युग के इतिहास द्वारा पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। इस युग में प्रद्योतों और नागों के साम्राज्य की स्थापना का इतिहास इस प्रदेश के निवासियों के पराक्रम की कहानी है। नन्दवंश का वैभव और उनका संगठित साम्राज्य वास्तव में इन मध्यभारतीय नागों की सेना और वैभव का अवशेष था जो नन्दों के द्वारा अपहृत कर लिया गया था। मौर्य इतिहास में भी इस प्रदेश का अत्यधिक महत्त्व रहा। इस युग की सांस्कृतिक धाराओं में विन्ध्याटवी के आश्रमवासियों तथा उज्जयिनी, विदिशा और पद्मावती के चिन्तकों, शिल्पियों, व्यापारियों और कलाकारों का बहुत बड़ा योग रहा है। अशोक के धर्मप्रचार में दूर देशों तक जानेवाले भिक्षुओं में बहुत बड़ी संख्या इस प्रदेश के निवासियों की थी। देश की व्यापारिक समृद्धि की जीवनशिरा मथुरा से माहिष्मती तक का महापथ रहा है। इस युग के इतिहास को, इस कारण, मध्यदेश प्रधान अथवा मध्यदेश को केन्द्र मानकर विकास करनेवाला भारत का इतिहास मान सकते हैं।

नये युग का प्रारम्भ

ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी तथा उसके पश्चात् अन्तिम मौर्य सम्राट बृहद्रथ के वध और शुंगवंश के राज्य की स्थापना तक भारत के इतिहास का एक विशिष्ट युग है। प्रागार्य और आर्यों के सम्मेलन से पिछले हजारों वर्ष मे समाजव्यवस्था, राजनैतिक तंत्र तथा दार्शनिक चिन्तन का जो ढाँचा बनकर खड़ा हुआ था, उसमें एक परिवर्तन आया। चातुर्वर्ण्य के आदर्श की कल्पना को आघात लगा। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के महत्त्व और प्रभुत्त्व पर भी आघात हुआ। इस युग का प्रारम्भ होते-होते हमें अनेक प्रकार के श्रमणों, आजीवकों और चिन्तकों के दर्शन होते हैं। अपने-अपने विश्वास के अनुसार वे आगे बढ़ते हुए दिखाई देते हैं। चिन्तन के क्षेत्र में ब्राह्मण के साथ क्षत्रिय कुमार भी आगे आए, जिनका शिष्यत्त्व उस समय के अत्यन्त प्रतिष्ठित ब्राह्मण भी करने लगे और पुष्यमित्र शुंग जैसे ब्राह्मणों ने सेनापति का कार्य सँभाला।

राज्यसत्ता भी क्षत्रियों का एकाधिकार नहीं रह गयी। जिन नागों को जनमेजय ने परास्त कर दिया था वे पुनः प्रबल हुए और "क्षत्रियों के अन्तक" भी समाज के उस अंग में से उद्भूत हुए, जिसे अभी तक केवल सेवा के लिए ही उपयुक्त समझा गया था। भारतीय समाज में पृथकता और विभेद की जो दीवारें शास्त्रों में खड़ी होना प्रारम्भ हो गयी थीं, उन पर इस युग में पहली अत्यन्त करारी चोट पड़ी।

भारत के पश्चिम और पूर्व में विदेशों में हमें इस युग के प्रारम्भ में ही बड़े-बड़े साम्राज्य बनते दिखाई देते हैं। उनके सम्पर्क में भी भारतवासी आ रहे थे और इस युग के सम्राटों की सेनाओं में हमें "यवनों" (यूनानियों) के एक बहुत बड़े अंश के दर्शन होते हैं।

भारत में भी बहुत बड़े-बड़े साम्राज्य इस युग में बनते दिखाई देते हैं। जनपद से महाजनपद और फिर साम्राज्य बने और बिगड़े। यद्यपि देश की अन्तर्धारा अक्षुण्ण रूप से बहती रही, उसके बहुसंख्यक कृषकवर्ग पर कोई चोट नहीं की गयी, ऊपर की सतह पर बड़े-बड़े परिवर्तन स्पष्ट दृष्टिगोचर हुए।

लोक-सत्ता का युग

इस युग की सबसे बड़ी विशेषता पूर्ण प्रस्थापित एवं शक्तिशाली जनसमाज है। हमें इस युग में साम्राज्य बनते दिखाई देते हैं, जनपद महाजनपदों का रूप लेकर साम्राज्यों को जन्म देते हैं, परन्तु ये साम्राज्य जनपदों की शक्ति और उनके जीवन में हस्तक्षेप नहीं करते। जब कभी ऐसा प्रयास हुआ है तो साम्राज्य भी उखड़ते दिखाई देते हैं। जनपदों और केन्द्र में जैसा सामंजस्य इस युग में रहा है वैसा फिर कभी भारतभूमि में देखने को नहीं मिला। इन जनपदों के बल को पहचानकर ही कौटिल्य ने तत्कालीन सम्राटों को उपदेश दिया था, "नया प्रदेश प्राप्त करने पर विजेता जनता के हितुओं और नेताओं का अनुवर्तन करे। जो लोक की इच्छा के विरुद्ध आचरण करता है वह नष्ट हो जाता है। विजेता को वही जीवन-चर्या, वही वेषभूषा, भाषा तथा आचार अपना लेना चाहिए जो जनता के हों। उन विश्वासों को अपना लेना चाहिए जो जनता अपने राष्ट्रीय, धार्मिक तथा सामाजिक उत्सवों और आमोद-प्रमोदों में प्रदर्शित करती है। विद्वान, वक्ता, दानी और वीर पुरुषों को भूमि ओर धन की भेंट देकर तथा करों की छूट देकर अनुग्रहीत करना चाहिए[1]।" कौटिल्य को तीक्ष्ण दृष्टि में जनपदों की अपरिमित शक्ति थी, अतएव उनसे टकराने की उसने सलाह नहीं दी। इस सीख को अशोक ने पूरी तरह समझा। वह जानपदजन को देवताओं, ब्राह्मणों और श्रमणों के समान श्रद्धाभाजन मानता था और सब के हित-सुख की उत्सुकता प्रकट करता था। इस युग के साम्राज्यों के वैभव के मेरुदण्ड थे लोकसंगठन और जनपद। समाज और समाज के नियन्ताओं के बीच इस युग में दरार नहीं पड़ सकी थी। इस युग का साहित्य, धर्म, भाषा, लिपि, कला सब पर लोकसत्ता की गहरी छाप है। पिछली हजारों वर्ष की साधना द्वारा भारत में जन का जो महत्त्व और ममत्व स्थापित हुआ था, इस युग में उसकी समग्र झाँकी सामने आई।

---

१ अर्थशास्त्र १३।५

इसी कारण हमने इस युग को 'जन-साम्राज्यों का युग' कहा है। साम्राज्य थे, परन्तु वे लोकाभिमुख थे, जनपदों के अस्तित्व को सादर स्वीकार करते हुए। कौटिल्य का 'एकराज' जनराज्य का विरोधी नहीं था। कौटिल्य भारतभूमि को शक्तिशाली बनाने के लिए एकराज चाहता था। जनपदों की प्रकृति वह नष्ट नहीं करना चाहता था, उसका रंजन ही इस युग के एकराज का प्रधान लक्ष्य था। आगे जो साम्राज्य आए वे इस 'लोक' को कुचलते हुए चले, जहाँ तक उनसे बन सका वहाँ तक। इस युग में लोक-प्रकृति का, जनसंगठनों के रूप का जो निर्माण हो चुका था, वह अजेय सिद्ध हुआ। साम्राज्य चले गये, परन्तु समाज संगठन का वह रूप आज भी कुछ फेरबदल के साथ हमें उपलब्ध होता है।

लोक-संगठन का युग

साम्राज्यों की केन्द्रीय सत्ता ने इस युग में देश को शक्तिशाली बनाया, जिसके कारण सिकंदर जैसे अदम्य आक्रांताओं के भी पैर डगमगा गये और वह व्यास नदी के परले किनारे से ही व.पस चला गया। परन्तु केन्द्रीय साम्राज्य की विशाल सेनाओं से भी अधिक शक्तिशाली और कल्याणकारी संगठन इस युग में सामाजिक, व्यापारिक और शिक्षा संबंधी क्षेत्रों में दिखाई दिये, जो विशुद्ध लोकसंगठन थे। जनपदों के ग्रामों के समूह, विविध शिल्पियों एवं व्यापारियों की श्रेणियाँ, ग्रामों-ग्रामों में फैली हुई 'चरण' नामक शिक्षा संस्थाएँ तथा नगरों के निगम या पूग इतने शक्तिशाली, सक्रिय और सजीव संगठन थे कि उनने देश को अद्भुत समृद्धि प्रदान कर दी। इस युग का वैभव, धर्म प्रचार, प्रशस्त कला आसमान से टपकी हुई नहीं थी, न वह धर्मप्रचारकों अथवा सम्राटों की कृति थी, वह इन लोकसंगठनों की उपज थी। देश-देशांतरों में बौद्ध प्रचारकों के दल के दल इस युग के व्यापारियों के सार्थों की छाया में आगे बढ़े थे, बड़े-बड़े स्तंभ और स्तूप उनके दानों से खड़े हुए थे, समाज को शिक्षित और परिष्कृत इन 'चरणों' में किया गया था और राष्ट्र की शक्ति जानपदीय संगठनों में निहित थी। भारत जैसे विशाल देश को समुन्नत करने में राज्य कभी भी बहुत अधिक नहीं कर सका, उसकी प्रबुद्ध जनता जब जागृत होती है तभी उसके सुदिन आते हैं, इसका सर्वांगपूर्ण उदाहरण यह युग है।

इस युग की सर्वश्रेष्ठ देन

इस सांस्कृतिक और सामाजिक मंथन का सर्वश्रेष्ठ फल हमें इस युग में अशोक के रूप में मिला। स्वेच्छाचारी और उद्धत सैनिक सम्राटों के बीच में इसकी धर्मविजय का घोष, अहिंसा और शान्ति का संदेश, साम्राज्य और लोकमत के सामंजस्य का प्रयास इस प्राचीन युग में एक अपूर्व घटना के रूप में उस युग के संसार की विचारधारा के ऊपर एक विशाल प्रकाशस्तम्भ के समान दिखाई देता है, जिसके द्वारा भारत के इस मंगलमंत्र की ज्योति समस्त एशिया, अफ्रीका तथा योरुप तक पहुँची। जानपदजन, वनों और पर्वतों के निवासी तथा पशु-पक्षियों तक इस महान हृदय की करुणा एवं वात्सल्य की छाया पहुँचती है। ब्राह्मण, आजीवक, बौद्ध तथा अन्य श्रमण सभी उसका उदार संरक्षण पाते हैं। वह युद्ध की विजय को व्यर्थ बतलाता है और एक ऐसी उन्नत विचारधारा प्रवाहित कर देता है जिसे आज दो सहस्राब्दियों के बीत जाने पर भी विश्व हृदयंगम नहीं कर सका है, न उसको व्यवहार में ला सका है। इतिहासज्ञ कहते हैं

कि अपनी इस नीति के कारण मौर्यों ने अपना साम्राज्य खोया। वह तो कभी न कभी मिटता ही, क्योंकि भारतभूमि पर साम्राज्य अधिक दिन तक टिकते नहीं हैं। सम्भव है सैन्यप्रधान शासन रहने पर मौर्यसाम्राज्य एक-दो शताब्दी और चल जाता; परन्तु उसने भारत को जो दिया वह अद्भुत है, संसार को उसकी देन भी अद्भुत है। भारत देश के निवासी कभी शस्त्रविजय के लिए दूसरे देशों पर नहीं टूट पड़े हैं, उन्हें आवश्यकता भी नहीं थी, क्योंकि उनका देश बहुत बड़ा तथा सम्पन्न रहा है, परन्तु उनकी धर्मविजय और शांति-संदेश की दुंदुभी अवश्य बजी है। अशोक ने इस युग में इस प्रतिष्ठा को बहुत आगे बढ़ाया। बौद्ध श्रमणों के हाथ से लेकर उसने उनके धर्मचक्र को उस समय की ज्ञात समस्त पृथिवी पर चला दिया। यह निश्चित कहा जा सकता है कि देश-देशान्तरों में बौद्ध धर्म का प्रचार उस धर्म के सिद्धान्तों को श्रेष्ठता के कारण उतना नहीं हुआ जितना अशोक के व्यक्तित्व, संगठनशक्ति तथा प्रचार की प्रशस्त कल्पना के कारण हुआ।

ऐतिहासिक सामग्री—ब्राह्मणग्रन्थ

इस युग की सबसे बड़ी विशेषता है ऐतिहासिक सामग्री की प्रचुरता। ब्राह्मण ने कभी इतिहास नहीं लिखा, वह केवल राष्ट्रपुरुष की आराधना और स्तवन करता हुआ शाश्वतसत्यों का निरूपण करता रहा है। इसी तारतम्य में राजाओं और राजवंशों के इतिहास का उल्लेख विद्वान सूतों द्वारा रचित पुराणों के विशाल राष्ट्रीय साहित्य में हो गया है। इन्हीं सूतों ने इस युग के राजवंशों की नामावलियाँ भी दे दी हैं। परन्तु पुराणों के रचयिताओं के मत में उनका युग परीक्षित के समय में ही समाप्त हो गया था। आगे के राजवंशों की नामावली, इसलिए, वे भविष्यवाणी के रूप में देने लगे थे। परन्तु केवल राजवंशों की नामावली अथवा उनके विवाह और युद्ध ही इतिहास नहीं हैं। विष्णुगुप्त चाणक्य ने अर्थशास्त्र में राजतन्त्र और समाज-व्यवस्था का जो सजीव चित्र हमें दिया, वह सामाजिक इतिहास की एक अत्यन्त समग्र और पूर्ण रूपरेखा प्रस्तुत करता है। उसमें जंगलों के निवासियों से लेकर राजप्रासाद के निवासियों तक का चित्र हमें मिलता है। अर्थशास्त्र का समाज एक युग की कृति नहीं है, उसका वह रूप अनेक सहस्राब्दियों के सतत विकास के परिणामस्वरूप बना था। स्वयं चाणक्य ने लिखा है कि उसके पूर्व अनेक आचार्य अर्थशास्त्र के विषय में लिख चुके हैं।

बौद्ध ग्रन्थ

इस युग के इतिहास के अध्ययन में बौद्ध ग्रंथ बहुत अधिक सहायक हैं। बुद्धवाणी के संग्रह तो हमें समकालीन ऐतिहासिक जानकारी देते ही हैं, उन पर समय-समय पर किये गये भाष्य, जातक कथाएँ आदि अनेक अनुश्रुतियों और ऐतिहासिक परम्पराओं को सुरक्षित रखे हुए हैं। बौद्धधर्म का सिंहल, चीन, तिब्बत आदि देशों में बहुत अधिक प्रचार हुआ था। इन देशों में अनेक बौद्ध ग्रंथ ऐसे प्राप्त हुए हैं, जो कभी-कभी कुछ साम्प्रदायिक आग्रह के बीच अत्यन्त उपयोगी सामग्री देते हैं। बौद्ध धर्म के अत्यन्त विस्तृत प्रचार के कारण बौद्ध ग्रंथों का प्रकाशन तथा उनकी खोज भी बहुत अधिक हुई है। आज हमें तिब्बत, सिंहल, चीन सभी देशों के बौद्ध ग्रंथ प्राप्त हैं।

जैन ग्रन्थ

जैन ग्रंथों के साथ यह बात नहीं है। उनका प्रकाशन अभी होता ही जा रहा है और जैन ज्ञानभण्डारों की संगोपन-प्रवृत्ति के कारण अभी बहुत कुछ जैन साहित्य हस्तलिखित ही पड़ा हुआ है। जो ग्रंथ अभी प्रकाशित हुए, उनमें से यद्यपि अनेक परवर्त्ती हैं, तथापि उनमें जो वर्णन दिये गये हैं वे इतिहासनिर्माण में बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं और इस युग की स्थिति पर प्रचुर बहुमूल्य प्रकाश डालते हैं। इस युग के अनेक प्रभावशाली सम्राट जैन थे। परन्तु इस धर्म को अशोक जैसा शक्तिशाली और विस्तृत दृष्टिकोण का सम्राट आश्रय के लिए नहीं मिला। अशोक के पौत्र सम्प्रति में न अशोक की महानता थी, न उसकी प्रशस्त कल्पना और शक्ति। जैन धर्म को भद्रबाहु जैसे कुछ तेजस्वी श्रमणों के सहारे ही आगे बढ़ना पड़ा था।

साहित्य

साम्प्रदायिक ग्रंथों के अतिरिक्त साहित्य, नाटक तथा आख्यानग्रंथों से भी इस युग के इतिहास की बहुमूल्य सामग्री प्राप्त होती है। भास का नाटकचक्र, विशाखदत्त का मुद्राराक्षस, गुणाढ्य की बृहत्कथा पर आधारित कथासरित्सागर आदि का उपयोग कुछ छानबीन के पश्चात् इस युग के इतिहास के निर्माण में किया जा सकता है।

विदेशी यात्री

इस युग का अत्यन्त सजीव वर्णन हमें कुछ यूनानी यात्रियों तथा राजदूतों द्वारा प्राप्त हुआ है। इनमें मेगास्थनीज का विवरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके द्वारा चन्द्रगुप्त-कालीन भारत का अत्यन्त सजीव चित्र हमें मिलता है। दुर्भाग्य से उसकी पुस्तक पूरी प्राप्त नहीं हुई है, परन्तु कुछ पिछले यूनानी तथा रोमन इतिहासलेखकों ने उसके अवतरण दिये हैं। एरियन, कर्टियस, प्लूटार्क, जस्टिन, एप्पियन, स्ट्राबो, एथिनियोइस तथा प्लिनी के ग्रन्थों में मेगास्थनीज की पुस्तक के प्रचुर उद्धरण प्राप्त होते हैं।

अशोक के शिलालेख

इस युग के इतिहास की अत्यन्त बहुमूल्य और अप्रतिम निर्माणसामग्री अशोक के शिलालेख हैं। उसमें अशोक की अपनी विचारधारा के साथ उस समय के धार्मिक विश्वास, जनपद, जातियों तथा राजनीति पर अत्यन्त प्रामाणिक प्रकाश पड़ता है। महापथों पर तथा नगरों में उत्कीर्ण उसके स्तम्भलेख एवं शिलालेख उसके समय के भारतवासी को उसके धर्मोपदेशों तथा विचारधारा को समझाने में सहायक थे और आज वे उस सम्राट को तथा उसके समाज को समझने में सहायक हो रहे हैं। इन शिलालेखों द्वारा अशोक के विस्तृत साम्राज्य का तो मानों हमें नक्शा ही खिंचा हुआ मिल जाता है।

भवन तथा मूर्त्तियाँ

भारत की धरती ने बहुत उलट-पुलट देखे हैं। प्रकृति और मानवकृत ध्वंस भी यहाँ बहुत हुए हैं। परन्तु इस युग ने काल के क्रूर प्रहारों को अधिक समय तक सह सकने-वाले माध्यम, प्रस्तर का उपयोग अधिक मात्रा में प्रारम्भ कर दिया था। नगरों, स्तूपों, चैत्यों तथा विहारों के तत्कालीन अवशेषों के साथ हमें अनेक मूर्त्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं।

उन पर उस समय के मानव के, उसकी पोशाक, वाहन, मनोरंजन के साधन तथा धार्मिक विश्वास अंकित मिलते हैं। प्राङ्मौर्य प्रतिमाएँ जहाँ उस काल के धार्मिक विश्वासों पर, बहुप्रचलित यक्षपूजा आदि पर प्रकाश डालती हैं, वहाँ उस युग के देवकुलों से प्राप्त मूर्त्तियाँ अनेक ऐतिहासिक पुरुषों को हमारे सामने सजीव खड़ा कर देती हैं। हमें स्तूपों की बाड़ों पर विस्तृत बुद्धजीवन भी अंकित मिलता है, तो प्रसेनजित, अजातशत्रु और अशोक भी अपने राजसी ठाटबाट के साथ उन पर चित्रित मिल जाते हैं, साथ ही, उस समय के नर-नारी भी अपने नानारूपों में सामने आते हैं। यदि कोई मिट्टी का ठीकरा उदयन और वासवदत्ता की रसकथा सुनाता है, तो सुदूर देशों में प्राप्त मूर्त्तियाँ "भारत लक्ष्मी" का भव्य रूप प्रस्तुत करती हैं। उस समय के चित्रों के अभाव को अर्द्ध-चित्र पूरा कर देते हैं। इस युग की मुद्राएँ और ताम्रलेख भी जो थोड़े-बहुत प्राप्त हुए हैं, इतिहासनिर्माण में योग देते हैं।

महाजनपदों का उदय

सोलह महाजनपद

हम पहले देख चुके हैं कि किस प्रकार भारत के विभिन्न क्षेत्रों में सोलह महाजनपदों का अविर्भाव हुआ था। जनों (कबीलों) के समूह जहाँ बस गये उनने अपनी कुछ विशेषताएँ अर्जित करना प्रारम्भ किया। ये जनपद एक ही राजतंत्र और समान सांस्कृतिक परम्पराओं के कारण एक इकाई के रूप में माने जाने लगे थे। हम पहले देख चुके हैं कि जहाँ जो राजा अपना राज्य स्थापित कर लेता था, उसकी राज्यसीमा उसके अथवा उसके वर्ग के नाम से नाम प्राप्त कर लेती थी। शूरसेन, अवन्ति, चेदि, वत्स, आदि जनपदों के नाम इसी प्रकार पड़े थे। व्यक्तियों या कुलों के कुछ समूहों से ग्राम और ग्रामों से जनपद बने थे। ईसा पूर्व छठवीं शताब्दी के पहले से ही कुछ जनपदों ने अपने आसपास के जनपदों को जीतकर अपने राज्यों में मिला लिया और महाजनपदों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। जब भारत में तीर्थंकर महावीर और तथागत गौतम बुद्ध का अवतरण हुआ उस समय ये सोलह महाजनपद अस्तित्व में आ चुके थे :—

(१) अंग, (२) मगध, (३) काशी, (४) कोशल, (५) वृज्जि, (६) मल्ल, (७) चेदि, (८) वत्स, (९) कुरु, (१०) पांचाल, (११) मत्स्य, (१२) शूरसेन, (१३) अश्मक, (१४) अवन्ति, (१५) गान्धार और (१६) कम्बोज।

जन और जनपदों से बने हुए ये महाजनपद भावी साम्राज्यों की स्थापना के बीज थे।

गणतन्त्र

इन सोलह महाजनपदों में वृज्जि और मल्ल गणतंत्र राज्य थे। इनके अतिरिक्त भी इस काल में कुछ छोटे-छोटे गणतंत्रों का उल्लेख मिलता है, जिनमें कपिलवस्तु के शाक्य, अल्लकाप्प के बुलि, किस्सपुत्र के कालाम, सुंसमारगिरि के भग्ग (भर्ग), रामग्राम के कोलिय प्रमुख हैं। ये सभी गणतंत्र आगे महाजनपदों के साम्राज्य बनने के प्रयासों के परिणामस्वरूप हुए संघर्ष की चक्की में पिसकर समाप्त होगये।

मध्यभारत और महाजनपद

इन महाजनपदों का इतिहास एक-दूसरे से इतना गुँथा हुआ है कि उसमें से किसी एक प्रदेश का इतिहास अलग निकालकर रख देना कठिन ही है। हमने जिसे मध्यदेश कहा है उसमें इन महाजनपदों में से अनेक की सीमाएँ आ जाती थीं। चेदि, वत्स, मत्स्य और शूरसेन का अधिकांश इस प्रदेश का अंग था। अवन्ति महाजनपद इस युग में प्रधानतः मध्यभारत

की वर्त्तमान सीमाओं को घेरे हुए था तथा पूर्व, पश्चिम और उत्तर में संभवतः उसके बाहर भी जाता था। इस युग का मध्यभारत का इतिहास वास्तव में अवन्ति महाजनपद और उसके साम्राज्य बन जाने का इतिहास है। उसके प्रसंग में अन्य महाजनपदों के इतिहास का संक्षिप्त विवरण देकर हम अवन्ति महाजनपद का इतिहास देंगे।

गान्धार पर ईरानी साम्राज्य की सीमा

ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी तक ईरान का विशाल हखमानी साम्राज्य स्थापित हो चुका था। इस साम्राज्य के कुरुष और दारा (प्रथम) पश्चिम में तो ग्रीकों के नगर-राज्यों का ध्वंस कर रहे थे और पूर्व में भारत में भी अपना राज्य फैलाने का आयोजन कर रहे थे। कुरुष ने सीरदरिया तक आक्रमण किया और दारा प्रथम के नेतृत्व में ईरानियों ने सिंध और गान्धार का कुछ भाग अपने अधिकार में कर लिया। कस्सपपुर (वर्त्तमान मुल्तान) पर दारा के सेनापति स्काइलास्क ने एक बड़ा जहाजी बेड़ा बनवाया। ईरानियों की यह सिंधविजय क्षणस्थायी रही, क्योंकि जब आगे सिकन्दर के आक्रमण हुए तब सिंध के गणतंत्रों तथा ब्राह्मणों ने उसका कड़ा प्रतिरोध किया था। ईरानियों की इन हलचलों के दो प्रभाव हुए। एक तो भारतवासियों का स्थलमार्ग से योरुप से व्यापार का मार्ग प्रशस्त हो गया और साथ ही कोशाम्बी या मथुरा से विदिशा-उज्जयिनी होकर जानेवाले महापथ का महत्त्व बढ़ गया। आर्यों के पश्चात् इस काल तक भारतवर्ष पर कोई आक्रमण नहीं हुआ था। ईरानियों के इस अभियान के मार्ग पर ही आगे यूनानी, शक, कुशाण, पल्लव, हूण, तुर्क और मुगलों के आक्रमण हुए। जब-जब हमारे देश ने अपनी इन सीमाओं के प्रति सतर्क दृष्टि नहीं रखी है, कोई न कोई इस देश की राजलक्ष्मी की ओर भूखे की तरह टूट पड़ा है। निरन्तर जागरूकता और सुदृढ़ संगठन ही देश की स्वतंत्रता की रक्षा कर सकते हैं। हखमानी सामाज्य की सेनाएँ सिंध से आगे नहीं बढ़ सकीं। उस समय यह भारत के एक कोने की घटना थी।

आगे हम जिन सोलह महाजनपदों का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं, उन्हें अनुश्रुतियों में दो-दो के जोड़ों के साथ गिनाया जाता है, उसी क्रम से हम भी उनका परिचय देंगे।

गान्धार और कम्बोज

गान्धार में उस समय पुक्कुसमति अथवा पुष्करमति का राज्य था, जिसने अवन्ति के चण्डप्रद्योत के प्रभाव को आगे बढ़ने से रोक दिया था। उस समय गान्धार की राजधानी तक्षशिला थी, जो विद्या और व्यापार का प्रधान केन्द्र थी। इससे मिला हुआ उत्तर-पश्चिम में वर्त्तमान पामीरों का पठार तथा वदख्शां प्रदेश कम्बोज कहलाता था।

अश्मक और अवन्ति

अश्मक दक्षिणापद में महाराष्ट्र का प्रदेश था। इस समय यहाँ किसका राज्य था, यह ज्ञात नहीं। बुद्ध के समय में वहाँ के युवराज का नाम सुजात था, यह ज्ञात होता है।

अश्मक के उत्तर में अवन्ति महाजनपद की सीमाएँ प्रारम्भ होती हैं। इस महाजनपद का इतिहास ही इस युग का मध्यदेश या मध्यभारत का इतिहास है। आगे हम अवन्ति के प्रद्योतवंश के साम्राज्य का इतिहास विस्तार से दे रहे हैं।

मत्स्य–शूरसेन

मत्स्य महाजनपद में वर्त्तमान जयपुर, अलवर और भरतपुर का प्रदेश था। मत्स्य की राजधानी विराट् नगर थी। मत्स्य से ही मिला शूरसेन महाजनपद था, जिसकी राजधानी मथुरा थी।

कुरु-पांचाल

कुरु महाजनपद की राजधानी इन्द्रप्रस्थ थी। पांचाल के दो भाग थे, उत्तरपांचाल तथा दक्षिणपांचाल। उत्तरपांचाल की राजधानी अहिच्छत्र थी और दक्षिणपांचाल की कांपिल्य।

चेदि

वत्स के दक्षिण और अवन्ति के पूर्व की ओर चेदि महाजनपद था। यह महाजनपद वर्त्तमान बुन्देलखंड के प्रदेश में था, जिसका कुछ भाग उत्तरी मध्यभारत में सम्मिलित था। यहाँ भग्ग अथवा भर्ग नामक वंश बसा हुआ था और उसका राज्य था। इन्हें वत्सराज उदयन के पुत्र बोधिकुमार ने हरा दिया। इधर चेदि के पश्चिम में अवन्ति का चण्डप्रद्योत प्रबल हो रहा था। चेदि का यह राजवंश अपने जनपद का चेदि या चेति नाम लेकर दक्षिण महाकोशल में जा बसा और वहाँ से उसने कलिंग पर अधिकार कर लिया। नंदों ने और फिर अशोक मौर्य ने इन्हें पराजित किया था। संभवतः फिर उसी वंश में आगे कलिंग-चक्रवर्ती खारवेल हुआ था।

वत्स

वत्स में इस काल के प्रारंभ में शतानीक का राज्य था। यह अत्यन्त पराक्रमी था। इसका विरुद 'परन्तप' था। इसने सुदूर अंग के राजा दधिवाहन को पराजित किया था। दधिवाहन की बहिन चन्दनबाला जैनधर्म में दीक्षित हुई। अनुश्रुति यह है कि जब शतानीक ने अंग की राजधानी चम्पा पर आक्रमण किया उस समय एक डाकू चन्दनबाला को ले भागा। बाद में यह महावीर द्वारा जैनधर्म में दीक्षित की गयी और जैनधर्म की प्रथम 'साध्वी' कहलाई। शतानीक की पत्नी मृगावती इसी चन्दनबाला की शिष्या बनी थी।

उदयन

इसी शतानीक का पुत्र उदयन था, जिसकी कथाएँ कालिदास के समय में भी उज्जयिनी के ग्रामवृद्ध सुनाया करते थे[1], तथा जिसके चरित्र के आधार पर भास[2], और श्रीहर्ष[3] ने नाटक लिखे और गुणाढ्य ने इसकी कथाओं को अपने कथाकोष में गुम्फित किया। उदयन के पुत्र बोधिकुमार ने भग्ग या भर्ग पर विजय प्राप्त की थी। वत्स के इस राजवंश का इतिहास आगे अवन्ति के विवरण के साथ दिया गया है।

१. पूर्वमेघ ३२ तथा ३५।
२. स्वप्नवासवदत्तम् तथा प्रतिज्ञायौगन्धरायण।
३. प्रियदर्शिका तथा रत्नावलि।

वृज्जि–मल्ल

वृज्जियों का संघ गणराज्य था, जिसके आठ या नौ गण सदस्य थे। इनमें लिच्छवि, विदेह, ज्ञात्रिक तथा वृज्जि मुख्य थे। इस वृज्जि संघ की राजधानी वैशाली थी। यह गणतंत्र संभवतः कुलतंत्र था, जिसमें प्रत्येक कुल का मुखिया राजा माना जाता था। कहते हैं कि लिच्छवियों के ७,७०७ राजा थे और उनका प्रत्येक का अलग उपराज, सेनापति और भाण्डागारिक (कोषाध्यक्ष) था। ये कुलों के प्रतिनिधि ही हो सकते हैं। गौतम बुद्ध को इनका संगठन बहुत पसंद था। वृज्जिगण के अनेक महत्त्वपूर्ण विवाह संबंध हुए थे। वैशाली ने मगध पर आक्रमण किया, परन्तु असफल रहा। परिणामस्वरूप उसे सन्धि करना पड़ी और वैशाली की एक राजकुमारी का विवाह मगध के बिम्बिसार के साथ हुआ। उनकी एक राजकन्या मृगावती वत्सराज शतानीक को ब्याही गयी थी, जिससे उदयन पैदा हुआ। इस मृगावती की बहन वर्द्धमान महावीर की माता अथवा बड़े भाई की पत्नी थीं। उदयन को इस कारण वैदेहीपुत्र भी कहा गया है। मल्ल जनपद वृज्जि जनपद के पश्चिम में तथा कोशल के पूर्व से लगा हुआ था। इनकी दो शाखाएँ थीं, जिनमें से एक की राजधानी पावा और दूसरे की कुशीनारा थी।

काशी–कोशल

काशी पर नागों का राज्य था, परन्तु इस युग के प्रारंभ में ही वे यहाँ से हटा दिये गये थे। गौतम बुद्ध के पूर्व कोशल का राजा महाकोशल था और उसके पश्चात् उसका पुत्र प्रसेनजित कोशल का राजा हुआ। इसने तक्षशिला में शिक्षा पाई थी। प्रसेनजित की एक बहन मगध के राजा श्रेणिक बिम्बिसार को ब्याही गयी थी और काशी का एक ग्राम बिम्बिसार को दहेज में दे दिया गया था।

वृज्जिसंघ के लिच्छवियों से प्रसेनजित ने उनकी एक राजकन्या अपने लिए माँगी। वे स्पष्ट मना नहीं कर सकते थे, अतः धोखे से एक दासीपुत्री अम्बपाली को प्रसेनजित को ब्याह दिया। इससे उसके विडूडभ नामक पुत्र हुआ। विडूडभ जब ननिहाल गया तो उसे अपनी माता के जन्म का हाल मालूम हुआ। प्रसेनजित को जब यह ज्ञात हुआ तो उसने विडूडभ को त्याग दिया। गौतम बुद्ध के समझाने-बुझाने पर प्रसेनजित ने विडूडभ को पुनः अंगीकार कर लिया।

प्रसेनजित गौतम बुद्ध से बहुत प्रभावित थे और बौद्ध अनुश्रुति में उनके और गौतम के बीच अनेक बार धार्मिक चर्चा होने का उल्लेख है। परन्तु कोशल की जनता और स्वयं उनका युवराज विडूडभ शाक्य मुनि की जाति लिच्छवियों से जले हुए थे। एक बार जब शाक्यों की सीमा में प्रसेनजित गौतम बुद्ध से मिलने गये, उनके मंत्री ने विडूडभ को कोशल का राजा घोषित कर दिया। इस प्रकार प्रवंचित हो प्रसेनजित अजातशत्रु से सहायता माँगने राजगृह गये, परन्तु राजगृह के नगरद्वार पर ही उनका शरीरान्त हो गया।

विडूडभ ने शाक्यों पर आक्रमण कर दिया। उन्हें हराकर उसने भीषण नरसंहार किया। वृद्ध, स्त्री, बालक सभी की हत्या करदी गयी और गौतम बुद्ध जैसा व्यक्ति उत्पन्न करनेवाली जाति नामशेष हो गयी। कपिलवस्तु से लौटते समय विडूडभ जब अचिरावती

नदी पार कर रहा था, उसमें सेना सहित डूब गया[1]। इस प्रकार कोशल राज्य का भी अन्त हुआ और वह मगध में मिला लिया गया।

कोशल महाजनपद की सीमाएँ संभवतः पूर्व में सदानीरा (गंडक) तक, पश्चिम में पांचाल तक और उत्तर में नेपाल की पहाड़ियों तक थीं। सरयू नदी उसके उत्तरी तथा दक्षिणी दो भाग बनाती थीं। उत्तर कोशल की राजधानी श्रावस्ती तथा दक्षिण की कुशावती थी।

अंग

अंग और मगध एक दूसरे के पड़ोसी थे। मगध की गृद्ध-दृष्टि अंग पर लगी रहती थी। अंग और मगध के बीच में चम्पा नामक नदी सीमारेखा थी। अंग की राजधानी मालिनी थी, जिसे पीछे चम्पा कहने लगे थे। अंग को पहले कोशल के शतानीक ने जीता था। यह ज्ञात होता है कि कालान्तर में वह स्वतंत्र हो गया। पुनः अंग राज्य को मगध के बिम्बिसार ने जीत लिया। इस कार्य में वर्त्तमान छत्तीसगढ़ के किसी नाग राज ने बिम्बिसार की सहायता की थी।

मगध

बिम्बिसार से शिशुनाक तक मगध का इतिहास अंग से लेकर अवन्ति महाजनपद को एक साम्राज्य में बाँधने के प्रयास में अनेक महाजनपदों तथा अवन्ति के साम्राज्य के साथ संघर्ष का इतिहास है। बिम्बिसार ने संभवतः अंग विजय के अतिरिक्त अन्य कोई युद्ध नहीं किया। उसके पुत्र अजातशत्रु ने प्रसेनजित से अनेक युद्ध किये, जिनमें वह जीता भी। अन्तिम युद्ध में अजातशत्रु प्रसेनजित द्वारा बन्दी बना लिया गया। उसके साथ अपनी राजकुमारी का विवाह कर प्रसेनजित ने उसे मुक्त कर दिया। प्रसेनजित के पुत्र विडूडभ की मृत्यु के पश्चात् कोशल मगध में मिला लिया गया। अब मगध के राज्य में अंग से कोशल तक का विशाल प्रदेश था। शाक्यगण पहले ही समाप्त हो चुके थे। वृज्जि संघ में फूट डालकर अजातशत्रु ने उसे भी जीत लिया। अजातशत्रु को जैन ग्रंथ जैन बतलाते हैं और बौद्ध ग्रंथ उसे बौद्ध कहते हैं। ज्ञात यह होता है कि प्रारम्भ में यह जैन मतावलम्बी और गौतम बुद्ध का विरोधी था। राजवैद्य जीवक ने उसे गौतम बुद्ध की ओर आकर्षित किया और जब वह बौद्ध-संघ में पहुँचा, वहाँ की अनुशासनबद्ध शान्ति से अत्यधिक प्रभावित हुआ। अजातशत्रु के बुद्ध से मिलने का दृश्य ई० पू० दूसरी शताब्दि में भरहुत के स्तुप की वेष्टिनी पर बना हुआ है। ज्ञात होता है कि जीवन के पिछले दिनों में वह बौद्ध हो गया था।

उदायीभद्र तथा पाटलिपुत्र की स्थापना

अजातशत्रु के पश्चात् उदायीभद्र मगध का राजा हुआ। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार उदायी ने अपने पिता की हत्या करके राज्य प्राप्त किया था; परन्तु जैन अनुश्रुति उसे पितृहन्ता नहीं बतलाती। उसके अनुसार जब उसके पिता की मृत्यु हुई उस समय वह चम्पा में शासक था तथा पिता की मृत्यु का समाचार सुनकर शोक से विह्वल हो गया था। सामन्तों ने

---

१. डॉ० मोतीचंद्र: सार्थवाह, पृष्ठ ४८।

उसे राज्यसिंहासन के लिए आमंत्रित किया। उदायीभद्र ने राजगृह से राजधानी हटा ली और शोण[1] तथा गंगा के संगम पर पाटलिपुत्र अथवा कुसुमपुर बसाकर उसे राजधानी बनाया। यह जैन धर्म का पक्का अनुयायी था और पाटलिपुत्र के मध्य में उसने जैन चैत्यगृह का निर्माण कराया था। जैन मत के अनुसार वह अष्टमी और चतुर्दशी का उपवास करता था। एक दिन जब वह इस प्रकार उपवास कर रहा था, किसी ने उसे कटार से मार डाला।

उदायीभद्र के समय में अवन्ति के सिंहासन पर पालक बैठा हुआ था। यह अपने पिता के समान ही महत्त्वाकांक्षी था। उसने कौशाम्बी को जीतकर मगध से युद्ध प्रारम्भ किया, परन्तु वह उदायीभद्र को जीत न सका। कहा यह जाता है कि उदायीभद्र का वध पालक ने ही कराया था[2]। उदायीभद्र के पश्चात् मगध साम्राज्य अवन्ति के अधीन हो गया[3]।

मगध पर उदायीभद्र के पश्चात् जिस दर्शक का राज्य पुराणों ने लिखा है वह अवन्ति का अजक है और नन्दिवर्धन भी प्रद्योत वंश का पुराणों में उल्लिखित अन्तिम राजा ज्ञात होता है।

---

१. अब शोण आठ मील पश्चिम की ओर हट गयी है।

२. हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दी इण्डियन पीपल, खंड २, पृष्ठ २१।

३. आगे पृष्ठ १८०–१८१।

अवन्ति का साम्राज्य

पुलिक और प्रद्योत वंश

हम पहले देख चुके हैं कि वीतहव्यों के राज्य को समाप्त कर उनके अमात्य पुलिक ने अवन्ति महाजनपद का राज्य अपने पुत्र प्रद्योत को दे दिया था। इस राज्य के गौरव की स्थापना करनेवाला प्रद्योत था, अतएव यह वंश प्रद्योत वंश कहलाया।

प्रद्योत का जन्म

पुराणों की ख्यातों के अनुसार प्रद्योत पुलिक का पुत्र था। परन्तु तिब्बत की बौद्ध अनुश्रुति में वह अनन्तनेमि का पुत्र कहा गया है और उसका जन्म उसी दिन माना गया है जिस दिन गौतम बुद्ध का जन्म हुआ था[1] तथा उसका नाम पज्जोत (प्रद्योत) इस कारण पड़ा, क्योंकि उसके जन्म लेते ही संसार में दीपक की ज्योति के समान प्रकाश हो गया था। इस अनुश्रुति का यह भी मत है कि प्रद्योत उसी समय राज्यसिंहासन पर बैठा था जब गौतम ने बुद्धत्व प्राप्त किया। कथासरित्सागर एक तीसरी ही कहानी कहता है। उसके अनुसार महेन्द्र वर्मा नामक उज्जयिनी का राजा था, उसका पुत्र जयसेन हुआ और जयसेनका महासेन, जिसने चण्डी की घोर आराधना करके अजेय खड्ग तथा 'चण्ड' नाम पाया और वह महाचण्ड कहलाने लगा था। बुद्धघोष ने प्रद्योत के जन्म के विषय में लिखा है कि वह किसी ऋषि के नियोग से उत्पन्न हुआ था। पुराणों के विषय में हम यह पहले लिख चुके हैं राजवंशों का उनका विवरण अधिक विश्वसनीय है, क्योंकि उसमें वे वंशावलियाँ दी गयी हैं जो इसी कार्य में दक्ष सूतों द्वारा रखी जाती थीं। अतएव उसका पुलिक का पुत्र होना ही इतिहास में सही माना गया है।

चण्डप्रद्योत का परिवार तथा स्वभाव

कथासरित्सागर के अनुसार प्रद्योत का विवाह अंगारक नामक दैत्य की पुत्री अंगारवती से हुआ था। इसके दो पुत्र गोपालक तथा पालक और एक कन्या वासवदत्ता थी। भास[2] के नाटकों में भी प्रद्योत के यही पुत्र-पुत्री बताए गये हैं। हर्षचरित में उसके एक पुत्र कुमारसेन का और उल्लेख है। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार गोपालक एक वैश्य की पुत्री से उत्पन्न हुआ था, जिसके रूप और गुण पर मुग्ध होकर प्रद्योत ने उससे विवाह कर लिया था।

पुराण तथा बौद्ध अनुश्रुतियाँ चण्डप्रद्योत को अत्यन्त उग्र तथा क्रूर स्वभाव का बतलाती हैं। पुराण उसे "नयवर्जित" कहता है और चीनी बौद्ध अनुश्रुतियाँ अवन्ति को

---

१. विमल चरण लॉ : उज्जयिनी इन एन्शण्ट इण्डिया, पृष्ठ १४।

२. स्वप्नवासवदत्तम्, प्रतिज्ञायौगन्धरायण तथा प्रियदर्शिका।

बोधिसत्त्व की भूमि इसीलिए मानने को तैयार नहीं; क्योंकि प्रद्योत किसी नियम को नहीं मानता था तथा कर्म-फल पर विश्वास नहीं करता था। ज्ञात होता है कि महान सेना-वाला यह महासेन सैनिक बहुत क्रोधी और उद्धत स्वभाव का था। जैन अनुश्रुतियाँ भी उसे लम्पट ही चित्रित करती हैं। कह नहीं सकते इस चित्रण में साम्प्रदायिक आग्रह कितना है और वास्तविकता कितनी है।

वत्स का शतानीक और उदयन

प्रद्योत के यौवनकाल में उसकी सीमा से लगे हुए वत्स महाजनपद में शतानीक राज्य कर रहा था, यह हम पहले लिख चुके हैं। यमुना के किनारे कौशाम्बी उसकी राजधानी थी। शतानीक का विवाह वृज्जि संघ के सदस्य लिच्छवियों के नायक चेटक की कन्या मृगावती[1] से हुआ था। जैन अनुश्रुति तथा बुद्धघोष की धम्मपद की टीका के अनुसार जब मृगावती गर्भवती थी उस समय उसे कोई पक्षी उठा ले गया। कथासरित्सागर[2] के अनुसार वह उदयाचल में जमदग्नि के वंशज किसी ऋषि के आश्रम में पहुँची, जहाँ उसके उदयन नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह बालक चौदह वर्ष तक आश्रम में रहा। आश्रम के पास ही कहीं नागों की बस्ती थी। उदयन की मैत्री नाग कुमार वसुनेमि से हो गयी। वह उसे अपने यहाँ ले गया। "वह नगरी अत्यन्त रमणीक थी, जहाँ नाना प्रकार के नाटक हो रहे थे, अप्सराएँ नृत्य-गायन कर रही थीं।" वहाँ उदयन ने वह वीणावादन सीखा, जिसकी ख्याति बहुत अधिक है। भारतीय ललित-कलाओं के विकास में भारत के इन आदिम निवासियों ने बहुत अधिक योग दिया है। चौदह वर्ष पश्चात् शतानीक को उसके पुत्र और पत्नी मिले।

चण्डप्रद्योत और मृगावती

जैन अनुश्रुति के अनुसार मृगावती के सौन्दर्य की ख्याति से आकर्षित होकर उज्जयिनी के चण्डप्रद्योत ने कौशाम्बी पर आक्रमण किया था। आक्रमण करने का कारण तो उस युग की राज्य सीमाएँ बढ़ाने की लिप्सा ही थी, यह अवश्य है कि जब चण्डप्रद्योत ने कौशाम्बी को घेर लिया तब मृगावती के सौन्दर्यजाल ने इस दुर्दमनीय सैनिक को मूर्ख बना दिया। इस समय शतानीक वृद्ध और बीमार थे तथा कौशाम्बी के घिरे रहने की दशा में ही उनका शरीरान्त हो गया। उदयन तथा उसकी माता ने नगर की रक्षा का भार सँभाला। मृगावती ने चण्डप्रद्योत के पास सन्देश भेजा "अब मेरा पति मर गया है, मैं आपके ही अधीन हूँ, आपके साथ युद्ध करने में कौन समर्थ है? किंतु अभी उदयन बालक है। मेरी इच्छा है कि कुमार के लिए आप एक अच्छा गढ़ बनवा दीजिए और उसके लिए सेना संगठित कर दीजिए। मैं आपके साथ उज्जयिनी चली जाऊँगी तब उसकी

---

१. आवश्यक सूत्र, पृष्ठ ६७६। भिक्षणी आवश्यक सूत्र के अनुसार चेटक के सात कन्याएँ थीं, जिनमें से एक जैन हो गयी तथा छह भिन्न-भिन्न देशों के राजाओं को ब्याही गयीं—(१) प्रभावती, वीतिभय के राजा उदयन को, (२) पद्मावती, चंपा के राजा दधिवाहन को, (३) मृगावती, कौशाम्बी के राजा शतानीक को, (४) शिवा, उज्जयिनी के राजा प्रद्योत को, (५) ज्येष्ठा, महावीर के बड़े भाई नन्दिवर्धन को और (६) चेल्लना, राजगृह के राजा श्रेणिक बिम्बिसार को।

२. कथामुख लम्बक २, तरंग १।



नये मध्यभारत के निर्माता

कुबेर, विदिशा (पृष्ठ २७५ तथा ३२३)





कुबेरी, विदिशा

रक्षा यहाँ कैसे होगी, अतः यह आवश्यक है।" इस अनुश्रुति के अनुसार चण्डप्रद्योत ने नया विशाल गढ़ बनवा दिया और कौशाम्बी का सैन्य संगठन भी कर दिया। यह सब हो जाने पर जब प्रद्योत ने मृगावती से प्रणय-याचना की तो उसने उत्तर भिजवा दिया कि यह सब तो समय टालने के लिए था। विवश चण्डप्रद्योत को संधि करनी पड़ी। उदयन का धूमधाम से राज्याभिषेक किया गया। इसी समय महावीर वर्द्धमान भी कौशाम्बी आ गये और मृगावती उनके साथ, जैन अनुश्रुति के अनुसार, चण्डप्रद्योत की आज्ञा लेकर, जैन संघ में दीक्षित हो गयी तथा चन्दनबाला की शिष्या हुई। चण्डप्रद्योत उज्जयिनी लौट आए। मृगावती जैन अनुश्रुति की २४ महासतियों में प्रख्यात हुई।

उदयन और चण्डप्रद्योत

चण्डप्रद्योत वत्स राज्य को अपने साम्राज्य में मिलाने में विफल हुआ, परन्तु वह उदयन के साथ अपनी कन्या वासवदत्ता का विवाह करना चाहता था और उदयन भी अवन्ति के राज्य से सम्बन्ध रखने के लिए इच्छुक था। परन्तु वैमनस्य तो था ही और यह भी आशंका थी कि कौन किसको हड़प जाए। वत्सराज और अवन्तिराज के बीच दशार्ण का वह जंगल था, जहाँ के हाथी बहुत प्रसिद्ध थे। उदयन को हाथियों की बहुत चाह थी। अतः वह इसी वन में मृगया के लिए आता था। अवन्ति राज्य और उसकी सुन्दरी वासवदत्ता की ओर भी उसकी दृष्टि थी ही। चण्डप्रद्योत भी सतर्क था। उसने अपनी राज्य-सीमा पर एक लकड़ी का हाथी बनवाकर छोड़ दिया, जिसमें सैनिक छिपा दिये गये थे। उदयन भ्रम में आ गया और उस हाथी का पीछा करता हुआ अवन्ति राज्य की सीमा में चला आया तथा बन्दी बनाकर उज्जयिनी लाया गया।

उदयन और वासवदत्ता

बन्दी उदयन का चण्डप्रद्योत ने सत्कार किया और उससे वासवदत्ता को वीणावादन की शिक्षा देने का आग्रह किया। चण्डप्रद्योत सम्भवतः उसे उज्जयिनी ही रखना चाहता था ताकि उसे दामाद और राज्य दोनों मिल सकें। बौद्ध अनुश्रुति में वासवदत्ता और उदयन के इस गुरु-शिष्य सम्बन्ध के विषय में अत्यन्त रोचक कथा दी गयी है। परन्तु वह केवल कहानी ज्ञात होती है[1]।

---

१. महावग्ग में लिखा है कि चण्डप्रद्योत ने उदयन को बन्दी कर दिया था और उसे इस शर्त्त पर छोड़ने का वचन दिया था कि वह उसे वीणा-वादन सिखा दे। उदयन ने उत्तर दिया कि वह उसीको यह कला सिखा सकता है, जो उसको अभिवादन करे। प्रद्योत को यह स्वीकार नहीं था। अतएव दूसरी युक्ति सोची गयी। उदयन से कहा गया कि एक कुबड़ी लड़की उसकी शिष्या बनेगी। यह अलौकिक कला उसके परिवार तक ही सीमित रहे इस कारण प्रद्योत ने उसे वासवदत्ता को सिखाना चाहा। वासवदत्ता से कहा गया कि एक कुष्ठी उसे वीण-वादन सिखाएगा। दोनों के बीच पर्दा डालकर यह अध्ययन-अध्यापन चलता रहा। एक दिन वासवदत्ता से भूल हुई। उदयन ने उसे मोटे होठवाली कुबड़ी कहकर डाँटा। कुत्सित कोढ़ी द्वारा यह अपमान न सह सकने पर वासवदत्ता ने उसे भला-बुरा कहा। बात खुल गयी। पर्दा हट गया और दोनों एक दूसरे के प्रति अत्यधिक आकर्षित हुए तथा चुपचाप उज्जयिनी से कौशाम्बी के लिए भाग गये।

कथासरित्सागर में लिखा है कि उदयन नित्य वासवदत्ता को गायन सिखाते और वहीं गन्धर्वशाला में पड़े रहते। गोद में वीणा, कण्ठ में गीत तथा सामने वासवदत्ता, उन्हें और चाहिए ही क्या था। वासवदत्ता भी उनकी सेवा-टहल लक्ष्मी के समान करती, परन्तु उन्हें छुड़ाने में असमर्थ थी।

इधर कौशाम्बी में उदयन को छुड़ाने के लिए व्यग्रता बढ़ रही थी। उसके मंत्री वसन्तक, रुमण्वान तथा यौगन्धरायण चण्डप्रद्योत की शक्ति से परिचित थे। अतएव उनने भी युक्ति से काम लिया। रुमण्वान कौशाम्बी का राजकाज देखता रहा और यौगन्धरायण तथा वसन्तक उज्जयिनी की ओर चल दिये। मार्ग में विन्ध्याटवी के पुलिन्दक नामक भील-सरदार से मैत्री की और उसके पास अपनी सेना छोड़ दी। वे उज्जयिनी पहुँचे और वहाँ आषाढ़क नामक हाथीवान को मिला लिया। एक रात उदयन और वासवदत्ता भद्रावती नामक हथिनी पर बैठकर वत्स की ओर भाग गये। सेना को स्वर्ण-मुद्राएँ बिखेर कर वसन्तक ने बहला दिया। युवराज पालक को हाथी पर बैठाकर उनके पीछे दौड़ाया गया, साथ में गोपालक भी गया। पालक और उदयन में युद्ध हुआ, परन्तु गोपालक ने बीच-बचाव कर दिया। कौशाम्बी पहुँचकर गोपालक ने उदयन और वासवदत्ता का विवाह कर दिया। चण्डप्रद्योत ने भी विवाह पर बहुमूल्य उपहार भेजे। इस प्रकार अवन्ति और वत्स विवाह-सम्बन्ध में बँधकर निकट आए। उदयन और वासवदत्ता के उज्जयिनी से भागने की यह कथा कौशाम्बी की खुदाई में मिले एक मिट्टी के ठीकरे पर बड़े सुन्दर रूप में अंकित की गयी है। इसमें उदयन और वासवदत्ता हथिनी पर भाग रहे हैं। पीछे वसन्तक बैठा है, जो स्वर्णमुद्राएँ बिखेर रहा है, जिन्हें पीछा करनेवाले सैनिक बीन रहे हैं। यह ठीकरा ई० पू० दूसरी शताब्दी का कहा जाता है।

वत्स और अवन्ति की सीमाएँ

ज्ञात यह होता है कि उत्तरी मध्यभारत में उस समय वन्य प्रदेश था और ग्वालियर, नरवर तथा भेलसा के मध्य चम्बल, सिन्ध और बेतवा के बीच जो विन्ध्यशृंखलाएँ हैं वे 'विन्ध्याटवी' कही जाती थीं। आगे दशार्ण प्रदेश आता था, जो दशार्ण नदी (वर्तमान धसान) से सिंचित था। कौशाम्बी से ग्वालियर होकर जो मार्ग उज्जयिनी को जाता था उसके उत्तर में पद्मावती (पवाया) के बाद विन्ध्याटवी प्रारम्भ होती थी, जिसके एक किनारे पर विदिशा थी तथा दक्षिण में सीहोर पर जाकर यह पहाड़ी क्षेत्र नीचा हो जाता है और दूसरी ओर देवास तक जाता है[१]। इस विन्ध्याटवी का उल्लेख हम पहले नल के सम्बन्ध में कर चुके हैं। यह पार्वत्य प्रदेश प्राचीन निषध, वत्स और अवन्ति महाजनपदों की अपरिभाषित सीमा थी[२]।

शूरसेन

चण्डप्रद्योत ने शूरसेन पर भी अपना प्रभाव स्थापित कर लिया था। उसका नाती अवन्तिपुत्र मथुरा में राज्य कर रहा था।

---

१. पीछे पृष्ठ ११२। २. हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दी इंडियन पीपल, खंड २, पृष्ठ १४।

मगध और अवन्ति—जीवक

चण्डप्रद्योत और मगध के श्रेणिक बिम्बिसार के सम्बन्ध अच्छे थे। जब चण्डप्रद्योत बीमार हुआ तो बिम्बिसार ने जीवक नामक अपने वैद्य को उसके इलाज के लिए भेजा था। जीवक अपने समय का अत्यन्त प्रख्यात वैद्य था। उसने तक्षशिला में सात वर्ष तक उस समय के महान वैद्य आत्रेय से वैद्यकशास्त्र की शिक्षा ली थी। जीवक जब उज्जयिनी आया तब चण्डप्रद्योत के चण्डप्रभाव से भयभीत हुआ। जिस औषधि से उनका रोग अच्छा हो सकता था उसमें घृत मिलाना आवश्यक था और उससे चण्डप्रद्योत को घृणा थी। जीवक ने औषधि खोजने के बहाने राज्य की सबसे द्रुतगामी सवारियों के उपयोग तथा कभी भी नगर के बाहर जाने की आज्ञा प्राप्त करली। उसने चण्डप्रद्योत को दवा पिलादी और स्वयं बहुत तेज चालवाली हथिनी पर बैठकर कौशाम्बी की ओर भागा। चण्डप्रद्योत को जब उस औषधि से वमन हुआ और ज्ञात हुआ कि उसमें घृत था, तब उसने जीवक का पता लगवाया और उसके न मिलने पर उसका पीछा करने के लिए अपना उप्पनिका नामक रथ भेजा। जीवक न लौटा, परन्तु इस बीच राजा स्वस्थ होगया और प्रसन्न होकर उसने जीवक के पास बहुत से वस्त्राभूषण तथा उपहार भेजे। इनमें शिवि जनपद के बने हुए "शिवेय्यक" नामक वस्त्र भी थे। जीवक ने इन्हें गौतम बुद्ध और उनके संघ के भिक्षुओं को पहनने को दिये थे।

गान्धार और मत्स्य

गान्धार में उस समय पुक्कुसमति अथवा पुष्करमति राजा राज्य कर रहा था। वह भी अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी और प्रतापी था। उसने बिम्बिसार से मैत्री करने का भी प्रयत्न किया और उसकी राजसभा में राजदूत और पत्र भेजे थे। मत्स्य को अपने वशवर्ती कर लेने के पश्चात् चण्डप्रद्योत ने इस पर भी आक्रमण किया, परन्तु वहाँ वह सफल न हो सका।

बिम्बिसार को मारकर जब उसका पुत्र अजातशत्रु सिंहासन पर बैठा तब चण्डप्रद्योत अपने मित्र के वध के कारण उसपर बहुत कुपित हुआ और सेना लेकर मगध पर आक्रमण करने के लिए चल पड़ा। अजातशत्रु ने अपनी राजधानी राजगृह की रक्षा का प्रबन्ध प्रारम्भ कर दिया। ज्ञात यह होता है कि मार्ग में ही कहीं चण्डप्रद्योत की मृत्यु हो गयी और यह अभियान पूर्ण न हो सका, क्योंकि इसके पश्चात चण्डप्रद्योत का कोई हाल अनुश्रुतियों में नहीं मिलता।

चण्डप्रद्योत के वाहन

पाली उदेनवत्थु में चण्डप्रद्योत के पांच द्रुतगामी वाहनों का उल्लेख है। इनके वर्णन से उस काल की सवारियों और उनकी गति पर प्रकाश पड़ता है। उप्पनिका रथ को उप्पनिका नामक सारथी चलाता था और वह एक दिन में साठ योजन जाकर लौट आता था, नलगिरि हाथी एक दिन में १०० योजन जाकर लौट आता था, मूड़केशी (मंजुकेशी) तथा तेलकर्णिका घोड़ियाँ १२० योजन जाकर लौट आती थीं।

चण्डप्रद्योत की राज्य सीमा

प्रद्योत के समय में अवन्ति की सीमा पश्चिम में कहाँ तक थी यह ज्ञात नहीं। परन्तु मत्स्य का राजा उसकी धाक मानता था, यह निश्चित है। उसने अपने अनेक पड़ौसी सामन्तों

को वशवर्ती किया था ऐसा पुराणों में उल्लेख है। उत्तर में शूरसेन (मथुरा) तक उसका राज्य था ही। वत्स, काशी और कोशल उसकी अधीनता स्वीकार करते होंगे, अन्यथा वह अपने अन्तिम दिनों में मगध पर आक्रमण करने की कल्पना नहीं कर सकता था।

चण्डप्रद्योत का धर्म—कात्यायन

चण्डप्रद्योत के स्वभाव की पुराण, जैन और बौद्ध अनुश्रुति सभी ने निन्दा की है। उसे धर्म और नीति से हीन बतलाया है। ज्ञात यह होता है कि यह उद्धत सैनिक धर्म और सम्प्रदाय की अधिक चिन्ता नहीं करता था। कौशाम्बी में वर्द्धमान महावीर से उसकी भेंट हुई, परन्तु वह जैन धर्म से प्रभावित न हुआ[1]। उसका मित्र बिम्बिसार गौतम का परम भक्त था, परन्तु ज्ञात होता है वह भी उसे बौद्ध नहीं बना सका। बौद्ध अनुश्रुतियों के अनुसार चण्डप्रद्योत ने अपने राजगुरु के पुत्र कात्यायन को गौतम बुद्ध को उज्जयिनी लाने के लिए भेजा था, परन्तु वे न आए और कौशाम्बी होते हुए वेत्रवती के किनारे एरछ से ही लौट गये। कात्यायन ने अवश्य बौद्ध धर्म की दीक्षा ले ली तथा गौतम बुद्ध का अत्यंत प्रिय शिष्य हुआ तथा कात्यायन से महाकात्यायन बन गया। इसके द्वारा सूरसेन एवं अवन्ति में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ।

पालक

चण्डप्रद्योत के पश्चात् अवन्ति का शासक सम्भवतः गोपालक हुआ। चण्ड-प्रद्योत के तीसरे पुत्र का वध वेताल नामक तालजंघ ने महाकाल के मन्दिर में कर दिया था। पालक ने गोपालक को राज्यच्युत कर स्वयं राज्य ग्रहण कर लिया। पालक भी अपने पिता के समान महत्त्वाकांक्षी सैनिक था। यद्यपि कौशाम्बी से अवन्ति के विवाह-सम्बन्ध स्थापित हो गये थे, तथापि इसके समय में पुनः कटुता उत्पन्न हो गयी थी। उदयन ने मगध की राजकुमारी पद्मावती से विवाह कर अवन्ति के शत्रु मगध से सम्बन्ध स्थापित किया था। अतः सम्भवतः पालक ने ही वत्स को अवन्ति में मिलाया।

पालक और मगध

अब अवन्ति और मगध की सीधी टक्करें होने लगीं। मगध में इस समय अजातशत्रु मारा जा चुका था और उदायीभद्र या उदयभद्र राज्य कर रहा था। अवन्ति से प्रतिरोध करने के आशय से ही उसने नयी राजधानी कुसुमपुर या पाटलिपुत्र बसाई थी। उदायीभद्र ने पालक को अनेक बार हराया। समर-भूमि में असफल होने पर पालक ने दूसरा मार्ग अपनाया। उसने उदायीभद्र की हत्या करादी। इस प्रकार पालक का प्रभाव मगध पर भी हो गया और समस्त उत्तर भारत पर अवन्ति का साम्राज्य स्थापित हो गया।

विशाखयूप और अजक

पालक अपने पिता से भी अधिक क्रूर स्वभाव का था। उसके विरुद्ध विप्लव हुआ

---

१. श्रीमती स्टेवेन्सन ने अपनी पुस्तक 'हार्ट ऑफ जैनिज्म' में एक श्वेताम्बर अनुश्रुति के अनुसार यह लिखा है कि तीर्थंकर महावीर उज्जयिनी आए थे और यहाँ तपस्या करके उनने 'मन:पर्याय ज्ञान' प्राप्त किया था।

और विशाखयूप को इस साम्राज्य का राजा बनाया गया। इसके पश्चात् अजक इस साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ।

सम्राट नन्दिवर्धन

पुराणों के अनुसार प्रद्योत वंश में अजक के पश्चात् नन्दिवर्धन हुआ, इसने भी २० वर्ष राज्य किया। मत्स्य पुराण में अजक और नन्दिवर्धन को पाटलिपुत्र का भी राजा लिखा है। ज्ञात यह होता है कि अजक अथवा नन्दिवर्धन ने पाटलिपुत्र को अपनी राजधानी बना लिया था, जिससे कि पूर्व में अंग तक फैले हुए विशाल साम्राज्य का प्रबन्ध अच्छी तरह हो सके। पटना में जो दो विशालकाय मूर्त्तियाँ मिली हैं उनमें से एक पर नन्दिवर्धन का नाम पढ़ा गया है[1]।

नन्दिवर्धन की कलिंग-विजय

कलिंग में इस समय कोई जैन धर्मावलम्बी राजा राज्य कर रहा था अथवा वहां जैन धर्म का पूर्ण प्रचार था। खारवेल सम्बन्धी हाथीगुंफा के शिलालेख से विदित होता है कि नन्दिवर्धन ने कलिंग-विजय की थी और वहाँ से 'कलिंग-जिन' नामक जैन मूर्त्ति पाटलिपुत्र ले आया था।[2] इस प्रकार नन्दिवर्धन अपने समय का सार्वभौम सम्राट था, जिसकी राज्य-सीमा में लगभग सभी उत्तर भारत, अवन्ति से कलिंग तक सम्मिलित हो गये थे।

नन्द संवत्

नन्दिवर्धन ने एक नन्द संवत् का प्रवर्त्तन भी किया था। खारवेल की हाथीगुंफा प्रशस्ति में नंद संवत् १०३ में खुदवाई गयी एक नहर का उल्लेख है। अल बेरूनी ने मथुरा में नन्द संवत् का चलन पाया था। चालुक्य विक्रमादित्य प्रथम ने ई० सन् १०७० के अपने एक शिलालेख में नन्द संवत् का उल्लेख किया है। अलबेरूनी ने लिखा है कि विक्रम संवत् में ४०० जोड़ देने से नन्द संवत् निकल आता है। इस प्रकार ईसा पूर्व (४००+५८) ४५८ में नन्दिवर्धन ने अपने नन्द संवत् का प्रारम्भ किया होगा।

नन्दिवर्धन के समय में शिशुनाग नामक प्रतापी व्यक्ति का उदय हुआ, जिसने पुराणों के अनुसार प्रद्योतों की शक्ति का उन्मूलन कर इस विशाल साम्राज्य की बागडोर सँभाली[3]।

अवन्ति और मगध

इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यद्यपि विद्वानों ने यह माना है कि पालक ने ही उदायीभद्र की हत्या कराई थी, शिशुनाग ने प्रद्योतों का उन्मूलन करके ही मगध का राज्य प्राप्त किया था तथा प्रद्योतों का राज्य मगध पर भी रहा था; परन्तु वे इस परिणाम पर नहीं पहुँचे हैं कि अवन्ति के प्रद्योतों का राज्य मगध पर हो गया था। उपर्युक्त तीन बातों को मान लेने पर तथा पाटलिपुत्र में नन्दिवर्धन की प्रतिमा प्राप्त होने के पश्चात् हम किसी अन्य परिणाम पर पहुँचने में असमर्थ हैं।

---

१. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी: शिशुनाग मूर्त्तियाँ, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् १९७७, भाग १, पृष्ठ ४०.

२. काशीप्रसाद जायसवाल: कलिंग चक्रवर्त्ती खारवेल का शिलालेख, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत १९८४, भाग ८, पृष्ठ ३०६।

३. हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दी इण्डियन पीपल, खण्ड २, पृष्ठ २९।

नागवंश का साम्राज्य

नाग कौन थे?

शिशु-नाग भारत के इतिहास का असमीक्षित, अनिर्णीत और लगभग उपेक्षित व्यक्तित्व रहा है, अतः इसके सन्दर्भ में यह विचार कर लेना प्रासंगिक है कि इतिहास इन नागों के सम्बन्ध में क्या सूचना देता है। वात्स्यायन विष्णुगुप्त, जिन्हें स्वयं को कोषकारों ने मल्लनाग कहा है[1] अर्थशास्त्र में इन्द्रियनिग्रह का उपदेश देते हुए कहते हैं कि काम, क्रोध, लोभ, मान, मद तथा हर्ष का परित्याग ही सफलता का मूल है। इसके विपरीत आचरण करने से विनाश निश्चय है, भले ही किसी के पास समस्त पृथिवी का साम्राज्य क्यों न हो। इस विनाश के अनेक उदाहरण देते हुए उनने लिखा है कि दाण्डक्य भोज अपने राज्य और सम्बन्धियों सहित इस कारण नष्ट हो गया कि उसने एक ब्राह्मण कुमारी की अवमानना की थी, इसी प्रकार वैदेह कराल नष्ट हुआ, इसी प्रकार ब्राह्मणों के विरुद्ध क्रोध करने से जनमेजय नष्ट हुआ तथा भृगुवंश के विरुद्ध क्रोध करने से तालजंघों का विनाश हुआ।[2]

हमने अनुश्रुति में जनमेजय के नागयज्ञ की कहानी पढ़ी है।[3] इसके यज्ञत्व के सम्बन्ध में श्री रायचौधुरी की स्थापना है कि यह कपोलकल्पित है और जनमेजय ने तक्षशिला-विजय किया था, इसे वे ऐतिहासिक घटना कहते हैं[4]। वस्तुतः युधिष्ठिर के प्रपौत्र जनमेजय से पहले नागों के कल्याण के लिए उससे अनेक पीढ़ियों पूर्व के एक दूसरे जनमेजय ने नागयज्ञ किया था[5]। उसकी स्मृति अनुश्रुति में विद्यमान थी और सम्भव यह भी है कि तक्षशिला में शिविर लगाकर जनमेजय ने नागों का जो सामूहिक संहार किया था उसे उसने व्यंग्य में पूर्व के नागयज्ञ की याद करके विपरीत प्रकार का नागयज्ञ कहा हो। यहाँ यह भी स्मरण रखने योग्य है कि यज्ञ की कपोलकल्पना में भी नागयज्ञ के संहार को रुकवानेवाला जरत्कारु ऋषि का पुत्र आस्तीक है, जिसकी माता मनसादेवी वासुकि नाग की कन्या थी। आस्तीक के हस्तक्षेप के अतिरिक्त दाक्ष्यों के प्रदेश के संभवतः उत्तर में स्थित प्राग्वैदिकयुग के इन्द्र राजवंश के तत्कालीन शासक का प्रश्रय लिया जाना भी

---

१. आगे साहित्य के प्रकरण में देखिए।

२. अर्थशास्त्र १।६।

३. महाभारत आदिपर्व, अध्याय ४४-४९ तथा हरिवंश भविष्यपर्व ५।९।

४. पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शण्ट इण्डिया, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ३०-३१।

५. पंचविंश ब्राह्मण २४।१५-३ तथा वैदिक इण्डेक्स, १-२७४।

नागराज तक्षक की प्राणरक्षा में सहायक हुआ, यह संकेत अनुश्रुति करती है। परीक्षित वध की पृष्ठभूमि पर दृष्टि डालें तो यह घटना जिन परिस्थितियों में हुई, उनका भी कुछ अनुमान होता है। महाराज परीक्षित के राजमुकुट में उनके पुण्यशासन के अंतिम भाग में कलि ने या पापभावना ने प्रवेश किया था यह अनुश्रुति है[१] और उनने अंगिरा के वंशज एक ऋषि का अपमान किया तथा ऋषि के पुत्र ने सम्भवतः इसका प्रतिशोध ब्राह्मणों के साथ सहानुभूति रखनेवाले नागप्रमुख तक्षक से हस्तिनापुर में ही परीक्षित का वध कराके लिया था[२]। इस अनुश्रुति में कल्पना यह है कि काश्यप नागों के हस्तिनापुर पर हुए अभियान को रोक सकते थे, जो उनने नहीं रोका[३] और यह भी अकारण नहीं है। हमने पहले देखा है कि इनके पूर्वज परशुराम के विश्वजित यज्ञ के पुरोहित थे, भार्गव ऋचीक के पुत्र जीवक को उनने आयुर्वेद पढ़ाया था, इसका उल्लेख आगे साहित्य के प्रकरण में करेंगे, गोत्रप्रवर्तक कश्यप ऋषि को भी भृगु ऋषि की भाँति एक दक्ष पुत्री दिति ब्याही गयी थी और इस प्रकार इनके भृगुवंशियों से निकट के संपर्क एवं सम्बन्ध थे। ऊपर लिखे घटनाक्रम से अनुमान होता है कि महान विजयों के पश्चात् परीक्षित द्वारा राजमद में ऋषिकुलों को पीड़ित किया गया और तक्षक के नेतृत्व में नागों द्वारा किया गया परीक्षित का वध उसका ऋषियों द्वारा प्रेरित प्रतिकार था। उसी की प्रतिक्रिया जनमेजय का तथाकथित नागयज्ञ था, जिसे और उसके पिता के उद्दण्ड कृत्य को कौटिल्य ने, इस घटना का समीपतम अलंकारहीन याथोतथ्य उल्लेख करनेवाला होने से, अधिक सही सूचनाओं के आधार पर, 'ब्राह्मण के प्रति क्रोध' कहा है और जनमेजय का नष्ट होना इतिहास के गर्भ में छिपा हुआ उन उल्लेखों में प्रकट होता है जिनके अनुसार उसका अश्वमेध यज्ञ असफल रहा[४], ब्राह्मण-कलह के कारण वह क्षय को प्राप्त हुआ[५] और उसके वंशजों को यमुना की बाढ़[६] एवं टीड़ियों के उपद्रव के कारण पड़े दुर्भिक्ष[७] के साथ-साथ पार्जिटर के मतानुसार पंजाब की ओर से पड़े नागों के दबाव के कारण[८] वत्सभूमि की शरण लेना पड़ी।

मल्लनाग कौटिल्य का यह उल्लेख नागों के वंश का अंतिम साक्षी नहीं है। तक्षशिला, तक्षक, नाग, अहि आदि के सम्बन्ध में कुछ अधिक निश्चयात्मक तथ्यों का परीक्षण उसके लिए अपरिहार्य है। आचार्य चाणक्य से पूर्व के तथ्य अष्टाध्यायीकार पाणिनि के नामों में और गोत्र में प्रकट होते हैं। डॉ० वासुदेवशरण ने बताया है[९] कि

१. भागवत १।१७।
२. भागवत १।१८ आदि।
३. महाभारत, आस्तीकपर्व, अध्याय ४६।
४. हरिवंश ३।२।५-६, २८-२९ तथा ३।५।११-१७।
५. वायुपुराण ९९।२५५।
६. पार्जिटर: डाइनेस्टीज ऑफ दी कलि एज, पृष्ठ ५।
७. छान्दोग्य उपनिषद् १।१०।१।
८. एन्शण्ट इंडियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन्स, पृष्ठ २८५।
९. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १३-१४।

अष्टाध्यायीकार के परम्परा से आह्निक, शालंकि, दाक्षीपुत्र और शालातुरीय नाम चले आते हैं। बौधायन श्रौतसूत्र के अनुसार पाणिनि वत्सभृगुओं के अन्तर्गत एक अवान्तर गोत्र का नाम था जिसके पाँच प्रवर थे—भार्गव, च्यावन, आप्नवान, और्व और जामदग्न्य। पाणिनि ने अष्टाध्यायी के एक सूत्र में[1] पणिन् के अपत्य अर्थ में 'पाणिन' शब्द सिद्ध किया है। कैयट के मत से 'पाणिन' के युवा अपत्य की संज्ञा पाणिनि होगी[2]। इसमें उस विभेद को स्थान नहीं है जिसमें देवपणियों[3] की एक श्रेणी की कल्पना की गयी है[4]। देवपणित्व प्रागार्य पणियों में से उन्हें प्राप्त हो गया होगा जिन्हें इन विजेताओं की मान्यता प्राप्त हुई। वस्तुतः समाज यह एक ही था, भले ही शान्ति में उसे यह देवत्व दिया जाता था, युद्ध में पराजित होने पर लूटा जाता था[5] तथा जिसमें सार्थवाह भी होते थे और अष्टाध्यायीकार जैसे विद्वान् भी। नाग का पर्याय फणिन् है। भाषा की जिस प्रकृति के अनुसार 'परश' का 'प' 'फरसा' में 'फ' बन जाता है, उसी के अनुसार यह फणिन् भी पणिन् का रूपान्तरमात्र है। परन्तु पणियों का ब्राह्मणत्व और फणियों की उनके साथ भाषा की प्रकृति के आधार पर अभिन्नता भी नागों के वंश को शंका से परे प्रकट नहीं करती।

पाणिनि के अन्य नामों में शालातुरीय को डॉ० वासुदेवशरण ने कुभा और सिन्धु के संगम पर स्थित शलातुर ग्राम इस ऋषि का जन्मस्थल होने का सूचक बताया है। दाक्षीपुत्र नाम की व्याख्या इस विद्वान ने कुछ विस्तृत की है। वे कहते हैं कि 'दक्षों' का सम्बन्ध निश्चित रूप से पश्चिमोत्तर भारत या उदीच्य देश से था। काशिका में प्राप्त उदाहरणों से ज्ञात होता है कि दक्ष लोगों का अपना एक संघ राज्य था, जिसकी अपनी बस्ती और अपने ही अंक और लक्षण (राज्यचिह्न) भी थे, जैसी कि उस समय के संघों की प्रथा थी[6]। आगे वही दाक्षि ग्राम[7], दाक्षिकट, दाक्षिपल्वल, दाक्षिह्रद, दाक्षिबदरी, दाक्षिपिंगल, दाक्षिपिशंग, दाक्षिशाल, दाक्षिरक्ष, दाक्षिशिल्पी, दाक्ष्यश्वत्थ, दाक्षिशाल्मलि, दाक्षिकंथा, दाक्षिकूट[8], दाक्षिकूल, दाक्षिकर्षू[9], तथा दाक्षिकर्षुक[10] के उदाहरण देते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि दाक्षि लोग प्राच्य देश से, भरत जनपद से

---

१. अष्टाध्यायी ६।४।१६५।
२. प्रदीप १।१।७३ वार्तिक ६।
३. यजुर्वेद २।१७।
४. जयचन्द्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जिल्द १, पृष्ठ १८४।
५. ऋग्वेद १।३३।११।
६. ४।३।११७।
७. अष्टाध्यायी ६।२।८४ दाक्ष्यादयो वसन्ति यस्मिन्ग्रामे सः।
८. वही, ६।२।८५।
९. वही, ६।२।१२९।
१०. महाभाष्य ४।२।१०४ वार्तिक ७।

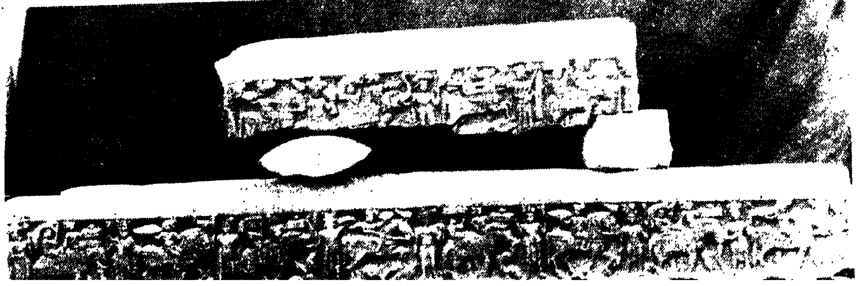
प्रद्योत नन्दिवर्धन—अग्र तथा पृष्ठभाग (पृष्ठ १८१)



बौद्ध-स्तूप की बाड़, विदिशा (पृष्ठ ३२८)

★

बौद्ध-स्तूप की बाड़, विदिशा में प्राप्त (पृष्ठ ३२७)



और उशीनर से और भी पश्चिम की ओर बसे थे। चिनाब और जेहलम से उत्तर-पश्चिम गंधार कहलाता था। वहीं कहीं दाक्षियों का स्थान होना चाहिए। और पूर्वी गंधार की राजधानी तक्षशिला थी[1], जो सन्देह से परे भाषा-विज्ञान के अनुसार दक्षशिला की उसी अनुक्रम में हुई सुबोध विकृति है जिसमें प्रागार्य 'द्रमिज' शब्द आज 'तमिल' बन गया है। दक्ष गोत्र[2] में उत्पन्न दाक्षायण व्याडि से हम साहित्य पर विचार करते हुए साक्षात्कार करेंगे। इन दक्षों या तक्षकों की पुत्री कुछ अनोखी पाणिनि के पिता को ही नहीं ब्याही गयी थी, प्राग्वैदिक भृगु की पत्नी 'ख्याति' भी दक्ष प्रजापति की पुत्री कही जाती है[3]। परन्तु दक्षकों की तक्षकों से अभिन्नता विकृति के आधार पर देखी है और यद्यपि आगे मुसलमानों के भारत पर आक्रमण के समय भी गांधार और सिन्धु-सौवीर में ब्राह्मण राज्य स्थापित थे, काश्मीर में ईसवी आठवीं शती में कर्कोटक नागवंश राज्य कर रहा था[4]। परन्तु राज्य जमते-उखड़ते रहते हैं, अतः नागों के ब्राह्मणत्व को इतने पर से ही सुस्थापित नहीं मान लेना चाहिए।

अष्टाध्यायी के रचयिता का शालंकि नाम हमें व्यक्तिवाचक प्रतीत होता है और उनका आह्निक नाम नागों के वंश की गुत्थी बहुत सीमा तक सुलझा देता है। प्राग्वैदिक काल में सिन्धु और चम्बल घाटी की दिव्यसंस्कृति के निर्माताओं पर विचार करते हुए पीछे हमने इस बिन्दु पर प्रकाश डाला है[5]। हमें पाणिनि का आह्निक नाम अहि + ठञ् से आह्निक बना प्रतीत होता है और वृत्र अहि को श्रुति[6] में ब्राह्मण कहे जाने से इस नाम की व्युत्पत्ति एवं अहि के असंदिग्ध पर्याय नागों के ब्राह्मणत्व को समर्थन प्राप्त होता है। वायुपुराण इन सब से एक पग और आगे बढ़ा है और उसने त्रिशिरा विश्वरूप को महर्षि भृगु की चौथी पीढ़ी की सन्तान कहा है[7]। यह त्रिशिरा वृत्र से अभिन्न है[8] और मन्त्र-द्रष्टा ऋषि है। कथासरित्सागर में सोमदेव बृहत्कथा के रचयिता गुणाढ्य का वंशपरिचय उन्हीं के मुख से दिलाते हैं[9]। गुणाढ्य कहते हैं कि उनकी माता श्रुतार्था का गान्धर्व-विवाह कीर्तिसेन नामक नाग से होगया था। गुणाढ्य गर्भ में आए। श्रुतार्था ने अपने

---

१. डॉ० वासुदेवशरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ५० तथा ८५।
२. वही, पृष्ठ १६।
३. जी० एन० मुखोपाध्याय : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन मेडिसिन, भाग २, पृष्ठ २५९।
४. स्कन्दकुमार अग्रवाल : भारतीय संस्कृति की समयसारिणी, भारती, ग्वालियर, अगस्त १९५६, पृष्ठ ५८१।
५. पीछे पृष्ठ ६८-७०।
६. ऋग्वेद ४।११।७।
७. वायुपुराण ६५।७२-९४।
८. वही ८४।१६; महाभारत, उद्योगपर्व ९।३, ४ तथा १०।१३।
९. कथासरित्सागर, कथापीठलंबक १, तरंग ६।

भाइयों की शंका का निवारण करने के लिए इस विवाह का भेद खोला और कहा कि कीर्तिसेन ने 'अपना नाम और कुल बताकर मेरे से गान्धर्व विवाह का प्रस्ताव किया, मैं भी सहमत होगयी और हमारा विवाह होगया, अतः मेरा यह गर्भ ब्राह्मण का है।' यहाँ कथासरित्सागर के कथाक्रम का ऐतिहासिक मूल्य आँकने की आवश्यकता नहीं है। उपर्युक्त उल्लेख यह सन्देह से परे बतलाता है कि सोमदेव के काल तक ये नाग ब्राह्मण के रूप में पहचाने जाते रहे हैं। इन सूचनाओं के प्रकाश में भार्गव पाणिनि को आह्निक, पतंजलि को शेषावतार, महाभाष्य को फणिभाष्य, वात्स्यायन चाणक्य को मल्लनाग, जनमेजय के नागयज्ञ को उसका ब्राह्मणों पर रोष कहा जाना अर्थपूर्ण हो जाता है, शुंगान्तर नवनागों के वाकाटवासी भार्गवों से वैवाहिक सम्बन्धों का अनुलोम-प्रतिलोम का प्रश्न तिरोहित हो जाता है[1] और सुस्थिर आधारों पर नागों के ब्राह्मण वंश का पता लग जाता है।

धर्मसाधना की परम्परा की कसौटी पर इस उपपत्ति को कसने से भी परिणाम समें भिन्न नहीं निकलता। महर्षि भृगु का नाम शिव का पर्यायवाची है यह हम पहले देख चुके हैं। च्यवनऋषि द्वारा मख के विध्वंस की कथा भगवान शंकर के चरित्र पर आरोपित हो गयी है, यह लोक विदित है। विष्णु के उपदेश से मार्कण्डेय ऋषि द्वारा शिवाराधना भी सुविज्ञात है। काश्यपसंहिताकार जीवक अपने आयुर्वेदज्ञान को शिव, कश्यप और यक्ष की आराधना का फल बतलाता है[2]। पाणिनि[3] और गुणाढ्य[4] के संबंध में भी अनुश्रुति यही है। ये नाग अपने आध्यात्मिक, बौद्धिक और ऐहिक वैभव को शिव का प्रसाद मानते रहे हैं। प्राग्वैदिक भारशिव नागों की धर्मसाधना के नन्दी और शिव की मूर्ति एवं मुद्राओं के उन अवशेषों का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं जिन पर अत्रुट रूप से शिव-आराधक नाग भी साथ ही अंकित हैं। इधर प्रस्तुतकाल के नाग और आगामीकाल के नवनागों की धर्म-साधना के प्रतीक उनके सिक्कों पर नन्दी, त्रिशूल और शिवविग्रह मिलते हैं। उनकी मूर्त्तियाँ नागछत्रों से युक्त हैं और वे अपने को भारशिव तथा शिव का नन्दी कहते हैं। वाकाटकों का ब्राह्मणत्व और नागों के उत्तराधिकार में उनका भारशिवत्व इतिहासज्ञों में सुविदित है। यह देखते हुए धर्मसाधना के आधार पर भी, नाग कौन थे, यह विषय संदिग्ध नहीं रह जाता।

वंशनाम

जिस शिशुनाग ने प्रद्योतवंशी नन्दिवर्धन को उखाड़कर अवन्ति और मगध का साम्राज्य प्राप्त किया वह किस वंश का था यह विचार कर लेना आवश्यक है। ज्ञात यह होता है कि 'शिशुनाग' व्यक्ति का नाम न होकर किसी वंश का नाम है। शिशनागों का प्रथमोल्लेख वाल्मीकि रामायण[5] में मिलता है, जहाँ यह कहा गया है कि ऋष्यमूक पर्वत की

---

१. जायसवाल : अंधकारयुगीन भारत, पृष्ठ १३६।
२. काश्यपसंहिता, निर्णयसागर का संस्करण, पृष्ठ १६१।
३. डॉ० वासुदेवशरण : पाणिनीकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १५–१६।
४. कथासरित्सागर, कथापीठ लंबक, तरंग ७।
५. रामायण ३।७३।२९-३२।

रक्षा शिशुनाग करते थे। यह ऋष्यमूक पर्वत वर्त्तमान पँचमढ़ी है, जो नर्मदा के दक्षिण में है[1]। विन्ध्याचल का जो भाग माहिष्मती और पँचमढ़ी के बीच में है वह ऋक्षवान पर्वत कहलाता था। इसके उत्तर में बेतवा और चम्बल के उद्गम के विन्ध्य के भाग को पारियात्र कहते थे। डॉ० सुविमलचन्द्र सरकार का अनुमान है कि रामायणकालीन वानर जाति (वनवासी जाति) के शिशुनाग और मगध के शिशुनाग राजा एक ही वंश के हैं तथा शिशुनाग उन वानरों में से थे जिनने सुग्रीव का साथ दिया था और जो अपने रण-कौशल के कारण विश्वस्त माने जाते थे।

इसके पश्चात् शिशु नागों का उल्लेख बिम्बिसार के समय का मिलता है। बिम्बिसार के समय में एक शिशुनाग वंश काशी पर राज्य कर रहा था। उसे प्रसेनजित के पिता महाकोशल ने हरा दिया था और अपनी पुत्री कोसलदेवी के दहेज में काशी के इस प्रदेश को मगध के बिम्बिसार को दे दिया था। एक और नागवंश इसी काल में चम्पा और राजगृह के दक्षिण पूर्व (वर्त्तमान छत्तीसगढ़) में सोन नदी के अंचल में राज्य कर रहा था। इसकी सहायता से बिम्बिसार ने अंग की राजधानी चम्पा की विजय की थी। इस समय भी पूर्व की भांति ही सतपुड़ा और विन्ध्याचल के अंचलों में नर्मदा, चम्बल, बेतवा, धसान, केन तथा शोण की घाटियों में चम्बल के दक्षिण से लेकर सतपुड़ा तक तथा पूर्व में शोण तक, अर्थात् समस्त मध्यदेश में नागों की बस्तियाँ फैली हुई थीं।

विदिशा के ज्येष्ठ नाग और पद्मावती के नवनाग

पुराणों में नागवंश की जो वंशावली दी गयी है, उसको दो भागों[2] में विभक्त किया गया है। एक वंश तो वह है जो शुंगों के पहले विदिशा में राज्य करता था और दूसरा वह है जो शुंगों के पश्चात् पद्मावती में राज्य करता था। शुंगों के पश्चात् जो नाग राजा हुए उन्हें नवनाग (नये नाग) कहा गया है और उनकी राजधानियाँ पद्मावती, कान्तिपुरी और मथुरा बतलायी गयी हैं।

इस युग में जिन राजवंशों ने उत्तर भारत में कोई बड़ा साम्राज्य स्थापित किया है वे अपनी एक राजधानी विदिशा अथवा उज्जयिनी में अवश्य रखते थे। ज्ञात यह होता है कि शिशुनाग ने भी मुख्य राजधानी गिरिव्रज (राजगृह) में बनाई और दूसरी राजधानी विदिशा में रखी। यही कारण है कि पुराणों में नन्दिवर्धन प्रद्योत के पश्चात् एक शैशु नागवंश मगध का बताया गया है और दूसरा मौर्यों के पश्चात् ज्येष्ठ नागवंश विदिशा का। सम्भव यह है कि मगध और विदिशा के नाग एक दूसरे से सम्बद्ध न हों; क्योंकि नागों का शासकीय संगठन किस प्रकार का था इसका अभी तक कोई विवरण नहीं मिला है।

पद्मावती के नवनाग

इन नागों के सिक्के अधिकांश में विदिशा, पद्मावती, कान्तिपुरी (कुतवार) और

---

१. रायकृष्णदास: ऋष्यमूक किष्किन्धा की भौगोलिक अवस्थिति, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५२, संवत् २००४, पृष्ठ १२९।

२. काशीप्रसाद जायसवाल : अन्धकारयुगीन भारत, पृष्ठ १५ और ६३।

मथुरा में मिले हैं। ये सिक्के भी स्पष्टतः दो वर्ग के हैं, एक तो उन नागों के जो ज्येष्ठ नागवंश के थे, दूसरे वे जो शुंगों के पश्चात् नवनाग अर्थात् 'नये नागों' के रूप में आए थे। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि मथुरा, कान्तिपुरी (कुतवार), पद्मावती और विदिशा उस महापथ पर अवस्थित थे जो इस काल में देशी और विदेशी व्यापार का प्रधान मार्ग था। अतएव इन नागों के सिक्के यदि इस राजमार्ग पर स्थित तत्कालीन सभी व्यापारिक नगरियों में मिलें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। फिर भी इन नये नागों के सिक्के विदिशा में कम मिले हैं, वे पद्मावती, कान्तिपुरी और मथुरा में ही अधिक प्राप्त हुए हैं। पहले नाग और नवनागों के सिक्कों में प्रधान अन्तर यह बतलाया जाता है कि आरंभिक सिक्कों में नाम के साथ 'दात' शब्द है, तथा नये नागों के सिक्कों में 'नाग' शब्द है[1]।

प्रवरसेन वाकाटक की साक्षी

वाकाटक सम्राट प्रवरसेन ने अपने पुत्र गौतमीपुत्र का विवाह भवनाग की कन्या के साथ किया था। इनके विषय में यह कहा गया है कि वे उस वंश के थे जिसके संस्थापक ने भागीरथी के अमल जल से अभिषेक किया था[2]। वीरसेन नाग ने कुशाणों को हराकर जिस नवनाग वंश की स्थापना की थी, वह गंगा की ओर नहीं था, उसकी सीमा मथुरा से पद्मावती तक रही थी। इसी ताम्रपत्र में लिखा है कि इस गंगा को उन नागों ने अपने पराक्रम से प्राप्त किया था। नागों ने गंगा को पराक्रम से कुशाणों के पश्चात् कभी प्राप्त नहीं किया। वाकाटकों के इस प्रशस्तिकार के मस्तिष्क में इन प्राङ्मौर्य नागों के उस पराक्रम की स्मृति होगी जो उनने प्रद्योत वंश को उखाड़कर मगध और काशी पर अधिकार करके किया था। श्री काशीप्रसाद जायसवाल का यह अनुमान कि इन नागों ने ये दस अश्वमेध यज्ञ काशी के दशाश्वमेध नामक पवित्र घाट पर किये थे, ठीक ज्ञात होता है और वह यही संकेत करता है कि नागों के ये दस अश्वमेध यज्ञ इन प्राङ्मौर्य नागों ने ही किये थे।

मूर्त्तियों की साक्षी

विदिशा, पद्मावती और मथुरा में कुछ ऐसी यक्ष मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जो अपनी गठन और शैली में निश्चय ही प्राङ्मौर्य काल की हैं। मथुरा के पास परखम में प्राप्त मूर्त्ति को यक्ष की मूर्त्ति कहा गया है। अभी हाल ही में विदिशा में कुबेर तथा कुबेर-पत्नी की मूर्त्तियाँ मिली हैं। इन सबकी तुलना यदि पद्मावती में प्राप्त माणिभद्र यक्ष की मूर्त्ति से की जाए तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे सब मूर्त्तियाँ समकालीन हैं। लिपिविज्ञान के शंकास्पद आधार पर पद्मावती के माणिभद्र यक्ष की मूर्ति को ईसा पूर्व द्वितीय[3] या प्रथम शताब्दी का कहा जाता है। वास्तव में लिपिविज्ञान की यह कसौटी

---

१. जायसवाल : अन्धकारयुगीन भारत, पृष्ठ ६३।

२. फ्लीट : गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स, पृष्ठ २३६ तथा २४५।

३. वि० स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ ३००।

निःसंशय नहीं है और उसके आधार पर उस प्राचीन युग की लिपि के समय के विषय में कोई बिलकुल सही निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं है। निश्चयात्मक रूप से यह कह सकना कठिन है कि ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में और ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में लिपि में कितना विशेष अन्तर आ गया होगा। किन्तु मूर्तियों की रचनाशैली अवश्य ही किसी निश्चित परिणाम पर पहुँचा देती है। शुंगों के और सातवाहनों के राज्य के पश्चात् ब्राह्मण धर्म ने एक निश्चित मोड़ लिया था। उस समय जनसाधारण इस सीमा तक यक्षपूजक नहीं दिखाई देता कि पद्मावती अथवा विदिशा में माणिभद्र अथवा कुबेर की विशाल मूर्तियाँ खड़ी करे, ये सब निर्माण शुंगों के पहले ही हुए होंगे। अतएव यह कहा जा सकता है कि माणिभद्र यक्ष की पद्मावती की यह प्रतिमा ज्येष्ठ नागों के समय की है न कि कुशाणों के बाद के नवनागों की। इस स्थापना की पुष्टि पद्मावती में प्राप्त नागों के सिक्कों से भी होती है। माणिभद्र की इस मूर्ति पर जो अभिलेख है उसमें लिखा है कि यह प्रतिमा स्वामी शिवनन्दी के राज्य के चौथे वर्ष में माणिभद्र के भक्तों की गोष्ठी ने स्थापित कराई। पद्मावती पर नागों के अब तक हजारों सिक्के मिले हैं, परन्तु शिवनन्दी का एक भी सिक्का नहीं मिला है। पद्मावती पर अब तक वीरसेन, भव, भीम, देव, बृहस्पति, प्रभाकर, स्कन्द, वसु, विभु, वृप, पुम, ख (?), व (?) तथा गणेन्द्र या गणपति नागों के सिक्के मिले हैं। यह शिवनन्दी निश्चय ही शुंगपूर्व-कालीन नागवंश का होना चाहिए, अन्यथा जब चौदह नागराजाओं ने अपने सिक्के चलाए तब शिवनन्दी के ही सिक्के न चलने यह सम्भव नहीं था।

शिशुनाग मध्यदेश का था

इस सब विवेचन का यह परिणाम निकलता है कि प्रद्योत वंशी नन्दिवर्धन के पश्चात् भारतवर्ष में मगध से लेकर काशी, कोशल, चेदि, शूरसेन, अवन्ति और अश्मक तक जो विशाल साम्राज्य स्थापित हुआ था वह विन्ध्याचल के अंचल में संगठित होनेवाले उन नागों का था, जिनने प्रवरसेन के ताम्रलेख के अनुसार अपने पराक्रम से गंगा को जीता, उसके पावन जल से अपना राज्याभिषेक किया, दस अश्वमेध करके अवभृथ स्नान किया और जिनके राजवंश का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ था कि उन्होंने शिवलिंग को अपने कंधों पर वहन करके शिव को भलीभाँति परितुष्ट किया था[1]। पद्मावती के नागों ने (जिनकी कन्या प्रवरसेन के पुत्र को ब्याही गयी थी) नागवंश का प्रारम्भ नहीं किया था, अतएव यह संकेत शिशुनाग के समय से प्रारम्भ किये गये नागराज्य की ओर ही है। पद्मावती के नाग राजा भव (जिसके सिक्के पद्मावती में मिले हैं) की कन्या प्रवरसेन के पुत्र को दी गयी थी। अतः शुंगपूर्व-कालीन तथा शुंगों के बाद के नाग एक ही वंशपरंपरा के थे। निष्कर्ष यह है कि प्रद्योतों के पश्चात् जिन परम शैव नागों का साम्राज्य प्रारम्भ हुआ था वे मध्यभारत और मध्यदेश के ही थे। भारतीय संस्कृति के उत्कर्ष में इन नागों ने कितना योगदान दिया था इसका विवेचन हम आगे के अध्यायों में करेंगे।

---

१. फ्लीट : गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स, पृष्ठ २४५ और २२६।

शिशुनाग

इस नागवंश के शिशुनाग ने प्रद्योत राजवंश को मगध से उखाड़कर गिरिव्रज में अपनी राजधानी स्थापित की और अपने पुत्र को काशी में जमा दिया। शिशुनाग ने अपना राज्य कोशल, वत्स, अवन्ति तक विस्तृत कर दिया था[1]। पुराणों के अनुसार शिशुनाग का राज्यकाल चालीस वर्ष तक रहा, किन्तु महावंश और दीपवंश के अनुसार इसने क्रमशः अठारह अथवा बीस वर्ष राज्य किया।

काकवर्ण या कालाशोक

शिशुनाग के पश्चात् उसका पुत्र काकवर्ण सम्राट् हुआ। काकवर्ण ने उत्तर-पश्चिम के यवन राज्य पर आक्रमण किया और उन्हें पराजित किया। अनुश्रुति यह है कि इस पराजय के पश्चात् यवन राजाओं ने धोखे से उसका वध कर डाला[2]। इस काकवर्ण को कालाशोक भी कहा गया है।

काकवर्ण के समय में वैशाली में बौद्धसंघ की दूसरी संगीति हुई थी। इन शैशुनागों का मध्यभारत से सम्बन्ध साँची से प्रकट होता है। साँची का एक प्राचीन नाम काकणाव या काकणाय मिलता है। आगे इसको ही काकनादबोट कहने लगे थे। सम्भव यह है कि इस काकवर्ण का इस नाम से सम्बन्ध हो और विदिशा में उसने कोई निर्माण कराए हों।

महानन्दी

पुराणों के अनुसार शैशुनाकवंश का अन्तिम राजा महानन्दी था। इसका अन्त अत्यन्त दुखपूर्ण हुआ। इसे नन्द नामक एक नापित ने मार डाला और मगध में एक नये राज्यवंश का प्रारम्भ किया।

नन्द

शैशुनाक महानन्दी की जिस नन्द ने हत्या की थी, उसका मूल स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं है। पुराणों में लिखा है कि नन्दवंश का संस्थापक मगध के राजा का शूद्र स्त्री से उत्पन्न पुत्र था तथा इन नन्दों का राज्य अधार्मिक था। जैन अनुश्रुति उसे एक नापित का पुत्र बतलाती है। यूनानी लेखक करटियस ने इसके विषय में लिखा है "उसका (अग्रमस अर्थात् अन्तिम नन्द का) पिता (प्रथम नंद) सचमुच नापित था। पहले किसी प्रकार मजदूरी करके अपना जीवनयापन करता था; किन्तु देखने में वह रूपवान् और सुन्दर था। वह मगध की रानी का विश्वासपात्र बन गया। रानी के प्रभाव से वह धीरे-धीरे राजा के भी समीप पहुँचने लगा और उसका अत्यन्त विश्वासभाजन हो गया। बाद को चलकर उसने धोखे से राजा का वध कर डाला। फिर कुमारों का संरक्षक होने के बहाने उसने राज्य की बागडोर अपने हाथ में करली। पुनः राजकुमारों का भी उसने वध कर दिया और उसी रानी से उसने अपना पुत्र उत्पन्न किया, जो आजकल राजा है"।

---

१. रामकृष्ण भाण्डारकर: इण्डियन कल्चर, भाग ६, पृष्ठ १६।

२. हर्षचरित, षष्ठोच्छ्वास तथा शंकर टीका।

नवनन्द

करटियस ने जिस 'अग्रमस' के विषय में लिखा है, वह इस नन्द का पुत्र था। पुराणों के अनुसार नन्द के आठ पुत्र थे। महाबोधिवंश के अनुसार इसके नौ पुत्र थे। हेमचन्द्र ने परिशिष्ट पर्व में उसके केवल सात ही पुत्र कहे हैं। ये नन्दपुत्र एक साथ अथवा एक के बाद एक सम्राट् हुए। इनमें उग्रसेन सबसे बड़ा तथा धननन्द सबसे छोटा था। उग्रसेन को उसके अपार सैन्य बल तथा धन के कारण महापद्मनन्द कहा गया है। पुराणों में इस वंश के संस्थापक को ही महापद्मनन्द लिखा है।

नन्दों का प्रताप

नन्दवंश का मूल कुछ भी रहा हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वे अत्यन्त प्रतापी तथा विजयी थे। उनके वंश को लेकर उनके विरोधी राजाओं ने उनके विरुद्ध षड्यंत्र करना प्रारम्भ किया। हेमचन्द्र[1] ने लिखा है कि नन्द के आश्रित सामन्तों और रक्षकों ने उसका उचित आदर करना ही छोड़ दिया था। नन्दों के पास अपार शक्ति थी, अतएव उनने तत्कालीन क्षत्रिय राजवंशों का विनाश करना प्रारम्भ कर दिया। कौशाम्बी, कौशल, पांचाल, काशी, हैहय, मैथिल, शूरसेन तथा अवन्ति के राजवंशों का विनाश इनके हाथों हुआ। इन राजवंशों की सूची देते हुए विष्णुपुराण में लिखा है कि इनका पूरा वर्णन सैकड़ों वर्षों में भी नहीं किया जा सकता। इस कारण पुराणों ने नन्दों को 'द्वितीय इव भार्गवः' (मत्स्य पुराण) कहा है, अर्थात्, वे परशुराम भार्गव के समान क्षत्रियों का संहार करनेवाले थे।

नन्दों की दक्षिण-विजय

दक्षिणापथ के अश्मक महाजनपद की विजय भी इन नव नन्दों ने की थी। गोदावरी के तट पर अब तक नान्दड़ या नौनन्द का देहरा नाम की बस्ती है। मध्यकालीन अभिलेखों में कुन्तलप्रदेश अर्थात् उत्तरी कर्नाटक पर भी नन्दों के राज्य होने की अनुश्रुति मिलती है[2]।

इस प्रकार 'सर्वक्षत्रांतक' अथवा सर्वक्षत्रियों के उत्पाटक, पुराणों के अनुसार एकराट व एकच्छत्र राजा महापद्मनन्द ने समस्त भारत पर विशाल साम्राज्य की स्थापना की। दिव्यावदान में उसे 'महामण्डलेश' कहा गया है।

नन्दों का धन और सैन्यबल

मुद्राराक्षस में इन्हें धन का लोभी कहा गया है। यह भी कहा जाता है कि इनके पास ९९ करोड़ स्वर्णमुद्राएँ थीं। तमिल ग्रंथों[3] ने नन्द के पाटलिपुत्र एवं गंगा की धारा में गड़े हुए धन का वर्णन किया है। युवान्-च्वाङ ने भी नन्दों के रत्नों के पाँच खजानों का वर्णन किया है। इनने गंगा की धारा में ८८ करोड़ मुद्राएँ गड़वादी थीं, जिससे कि

१. परिशिष्टपर्व, ६।२४४-५२।

२. जयचन्द्र विद्यालंकार: भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जिल्द २, पृष्ठ ६०६।

३ कृष्णास्वामी आयंगर: दक्षिण भारतीय इतिहास, पृष्ठ ८९।

इन्हें कोई चुरा न सके। यह निश्चित है कि इतने राजवंशों का उच्छेदन करने में उन्हें अपार धनराशि भी मिली होगी।

नन्दों के पास अपार सैन्यबल था। इसका वर्णन यूनानी लेखकों द्वारा लिखा हुआ प्राप्त हुआ है। करटियस तथा अन्य यूनानी लेखकों के अनुसार व्यास नदी पर आकर सिकन्दर ने पूर्वी भारत पर आक्रमण करने की इच्छा से इस ओर की जानकारी माँगी। उसे बताया गया कि सिन्धु नदी से १२ दिन की यात्रा के पश्चात् मरुभूमि आती है। इसके आगे गंगा नदी मिलती है। वहाँ 'प्रेसिआई' प्राच्य (अर्थात् मगध के पश्चिम के प्रदेश) और गंगर्डी (गंगा के मुहाने के प्रदेश) का राजा वसन्द्रमस (महानन्द) है। वह २० हजार घुड़सवार, २ लाख पैदल, २ हजार रथ तथा ३-४ या ६ हजार युद्ध के लिए सधे हुए डरावने हाथी युद्ध में उतार सकता है। सिकन्दर ने इस वृत्तान्त की सत्यता के विषय में पुरु (पोरस) से पूछा, तो उसने भी इसे ठीक बतलाया। यह सत्य है कि सिकन्दर की सेना ने व्यास के आगे बढ़ने की आज्ञा के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। उसके मूल में नन्दों के सैन्यबल की यह जानकारी ही थी।

व्यापार तथा विद्वान

नन्दों की राज्यव्यवस्था के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। पाणिनि की अष्टाध्यायी की काशिका[1] टीका से प्रकट होता है कि नन्दों ने तोल तथा मुद्रा का कोई नया मान भी प्रचलित किया था। इससे ज्ञात होता है कि व्यापार की वृद्धि की ओर इनने बहुत कुछ किया था। विद्या के भी ये संरक्षक थे। इनका मंत्री कल्पक बहुत बड़ा विद्वान था[2]। मंजुश्रीमूलकल्प ने नन्दों को विद्वानों का संरक्षक कहा है। उसमें लिखा है 'पुष्पपुर में शूरसेन के अनन्तर नन्द राजा होगा। वहाँ मगध की राजधानी में अनेक विचारशील (तार्किक) राजा की सभा में होंगे। राजा उनका धन से सम्मान करेगा। बौद्ध ब्राह्मण वररुचि उसका मंत्री होगा। राजा का परम मित्र पाणिनि नामक एक ब्राह्मण होगा।' तारानाथ के अनुसार पाणिनि नन्दों के मित्र थे और उनके संरक्षण में थे। कवि, दार्शनिक तथा वैयाकरण वररुचि, रसायनविद्या के आचार्य व्याडि और महामंत्री राक्षस जैसे व्यक्ति भी इनकी सभा में थे। राजशेखर[3] ने लिखा है कि पाटलिपुत्र में उपवर्ष, वर्ष, पाणिनि, पिंगल, व्याडि, वररुचि और पतंजलि की परीक्षा हुई थी और यहाँ से उत्तीर्ण होकर वे देश में सर्वत्र प्रसिद्ध हुए। शास्त्रज्ञों की यह परीक्षा का क्रम संभव है, नन्दों के पहले से प्रारम्भ हुआ और फिर आगे चलता ही रहा। राजशेखर ने इस सूची में पश्चात्वर्ती पतंजलि का नाम भी परम्परा के क्रम में लिख दिया है।

नन्दवंश का उन्मूलन

यह सब कुछ होते हुए भी नन्दवंश का शासन प्रजापीड़क था। प्रजा पर उनने भारी कर लगा रखे थे। महावंश के अनुसार उनके द्वारा चमड़ा, गोंद और पत्थरों

---

१. नन्दोपक्रमाणि मानानि।

२. परिशिष्टपर्व ७।७०-१३८।

३. काव्यमीमांसा, अध्याय १०।

पर भी राजकर लगा दिया गया था। यद्यपि नन्दवंशी ब्राह्मण धर्म के ही अनुयायी थे और महावंश के अनुसार उनके लिए उनने भुक्तिशाला भी खोल दी थी; परन्तु उनके शूद्र होने के कारण तथा क्षत्रियों के उच्छेदन के कारण देश का बहुत प्रभावशाली अंश इनके विरुद्ध प्रजा को भड़का रहा था। नन्द ने अपने मंत्री शकटार को सपरिवार अन्धकूप में डाल दिया। उसके बच्चे एक-एक करके उसके सामने मरे। परन्तु नन्द ने पुनः उसे मंत्रिपद दे दिया। वह प्रतिशोध की आग मे भड़क रहा था। उसने चाणक्य को नन्द के विरुद्ध भड़काया। इस विष्णुगुप्त चाणक्य ने चन्द्रगुप्त के माध्यम से इस विशाल साम्राज्य का किस प्रकार उन्मूलन किया, यह आगे के परिच्छेद का विषय है।

मध्यभारत और नन्दवंश

नन्दों का साम्राज्य देश के बहुत बड़े भाग पर फैला हुआ था। उनके राज्य का कोई वर्णन भी प्राप्त नहीं होता। अतएव किसी प्रदेशविशेष में क्या हो रहा था, यह लिखना कठिन है। परन्तु कुछ बातें स्पष्ट हैं। एक तो नन्दों के राज्य में व्यापार की उन्नति हुई थी, उसके कारण पद्मावती[1], विदिशा, उज्जयिनी तथा माहिष्मती का महत्त्व बढ़ा था। ये नगर दक्षिणभारत तथा विदेशों से व्यापार के महापथ पर स्थित थे। सेनाएँ और युद्ध राजाओं के बीच होते रहे; परन्तु व्यापारियों के सार्थ और महासार्थ चलते ही रहे, कृषकों का कार्य चलता ही रहा तथा शिल्पियों की भी गति अबाध रही होगी। दूसरी बात जो स्पष्ट होती है, वह यह है कि नन्दों के आश्रय में जो महान विद्वान तथा शास्त्रज्ञ थे, उनमें से अनेक उज्जयिनी और विदिशा के थे।

नन्दों की विजय, वाहिनियाँ अनेक क्षत्रियों का उन्मूलन करती हुई माहिष्मती से दक्षिणापथ में अश्मक तक पहुँची होंगी और इस साम्राज्य की सीमाओं को सुरक्षित रखने के लिए उन्हें उज्जयिनी या माहिष्मती को केन्द्र बनाना पड़ा होगा, यह भी अनुमान किया जा सकता है।

---

१. पद्मावती का निर्माण पद्मवंश के किसी राजा द्वारा होने का उल्लेख मिलता है (त्रिपुरी, पृष्ठ ४९)। सम्भव है यह उल्लेख महापद्मनन्द के लिए ही हो। उस दशा में महापद्मनन्द ने पद्मावती का निर्माण कराया होगा।

मौर्य-साम्राज्य

सामाजिक क्रान्ति

ईसा पूर्व छठवीं से चौथी शताब्दी तक भारत की समाजव्यवस्था में एक बहुत जोर का धक्का लगा था। अनेक सहस्राब्दियों में जो चातुर्वर्ण्य की कल्पना स्पष्ट हो चली थी, उसपर बहुत कठोर आघात हुआ। इस युग के प्रारम्भ होते ही हम क्षत्रियकुमारों को धर्मप्रवर्त्तक के रूप में देखते हैं और फिर शूद्रों को सम्राट बनते हुए देखते हैं। भारतवर्ष ने आज अपनी अनेक सहस्राब्दियों की परम्परा के पश्चात् मानवता के महत्त्व का, प्रत्येक व्यक्ति की पूर्ण प्रतिष्ठा का आदर्श स्थापित किया है। वर्ण, जाति या कुल अब मानव के मूल अधिकारों में कोई कमी नहीं ला सकते, न वृद्धि कर सकते हैं। मानव कभी भी तथा कहीं भी इतना प्रतिष्ठित नहीं रहा, जितना वह आज के भारत में है। आज भी अनेक अत्यन्त सुसंस्कृत देशों में मानव को यह महत्त्व नहीं मिल पाया है। यह इसकी शताब्दियों की साधना का चरम फल है। परन्तु उस युग में यह जो कुछ हुआ, वह अधिकांश समाज को सह्य नहीं था। ब्राह्मणों का महत्त्व उस समय भी बहुत अधिक था। वर्द्धमान महावीर तथा गौतमबुद्ध ने मानव के समभाव का सूत्रपात किया अवश्य था और गिरे हुए समझे जानेवाले मानव को प्रश्रय भी दिया था, जन्म के दोष के कारण जिन्हें भी नीचा समझा गया, उन्हें इनके संघों में शरण मिली, समाज का तिरस्कृत अंश भी इनमें मिला, परन्तु इनमें जो अत्यन्त प्रतिभाशाली व्यक्ति थे, वे ब्राह्मण या क्षत्रिय ही थे। वृज्जियों, विदेहों, मल्लों और शाक्यों में कुलाभिमान कुछ कम नहीं था। ये सब अपने पूर्वसंस्कार लेकर ही प्रव्रज्या ग्रहण करते थे। अतएव उस युग में जब उनकी दृष्टि में यह असंस्कारी नंद साम्राज्य स्थापित हुआ, तो उन्हें उसके विरुद्ध लोकमानस को उत्तेजित करने के लिए भूमिका मिल गयी। मूल वस्तु थी नन्दों का लोकपीड़न। उसके साथ इस प्रचार ने उनके विरुद्ध विप्लव का वातावरण खड़ा कर दिया।

चाणक्य

इस क्रान्ति-यज्ञ का मूल होता वात्स्यायन विष्णुगुप्त चाणक्य बना। अत्यन्त कुरूप परन्तु अद्वितीय विद्वान, कूटनीतिज्ञ और सहजकोपन भार्गवों की परम्परा का तक्षशिला का यह स्नातक नन्द से रूठ गया और महावंश के अनुसार 'प्रचण्ड क्रोधावेश से धननन्द का विनाश किया और मोरियों के वंशानुगत चन्द्रगुप्त को सम्पूर्ण जम्बूद्वीप का राजा बनाया'[1]। यह विरोध क्यों हुआ तथा फिर किस प्रकार चाणक्य ने देशव्यापी

---

१. महावंश ५।१४।१७१।

प्रयास किया, तथा चन्द्रगुप्त जैसे प्रतापी व्यक्ति को खोज निकाला, इस सबका विस्तृत विवरण देना यहाँ अभीष्ट नहीं। महावंश की टीका, मुद्राराक्षस तथा कथासरित्सागर में इसके विषय में बहुत विस्तार से लिखा गया है। यहाँ संक्षेप में केवल यही लिखना पर्याप्त होगा कि अपने कुरूप के कारण चाणक्य नन्द की भुक्तिशाला में उसके द्वारा अपमानित हुआ और वहीं उसने प्रतिज्ञा की "राजा उद्धत होगये हैं, चारों समुद्रों से घिरी हुई यह पृथिवी नन्द का नाश देखले।" चाणक्य उसके पश्चात् विन्ध्याटवी में चला आया और यहाँ उसने नन्दसाम्राज्य के प्रतिरोध के लिए धन एकत्रित करना प्रारम्भ कर दिया। यह विन्ध्याटवी वही है जिसका हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। यहाँ उसने ८० करोड़ कार्षापण इकट्ठे किये। यह धन निश्चय ही पद्मावती, विदिशा, उज्जयिनी तथा माहिष्मती से एकत्रित हुआ होगा। यही उस समय के विन्ध्याटवी के समृद्ध और व्यापारिक नगर थे।

चन्द्रगुप्त की खोज

चाणक्य ने धन एकत्रित कर लिया, संभवतः उपयुक्त वातावरण भी तयार कर लिया। परन्तु वह ब्राह्मण न राजा बनना चाहता था, न योद्धा। अतएव उसने उपयुक्त पात्र की खोज प्रारम्भ की। मौर्य नगर के मोरियों के गणतंत्र का साम्राज्य-विकास की कशमकश में कभी सामूहिक विनाश हुआ था। एक गर्भवती रानी किसी प्रकार कुसुमपुर भागकर पहुँची। उसीके गर्भ से चन्द्रगुप्त उत्पन्न हुआ। वह एक शिकारी के पास रहने लगा। वहाँ चाणक्य ने इसे देखा और उसे उपयुक्त समझकर अपने साथ ले लिया। उसे सब युद्ध-कौशल तथा राजनीति सिखाकर उसने एक विशाल सेना एकत्रित करके दे दी। प्रारम्भिक प्रयास असफल हुए। नन्द ने चन्द्रगुप्त के मृत्युदण्ड की घोषणा करदी[1]। वह पश्चिम की ओर भाग गया। इसी बीच भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर एक ऐसी घटना घटित हुई, जिसने इनका मार्ग प्रशस्त कर दिया।

सिकन्दर का भारत-आक्रमण

ईसा पूर्व सन् ३२७ में मेसीडोनिया के युवक विजेता सिकन्दर ने यूनान से हिन्दूकुश तक के प्रदेश जीतते हुए भारत पर आक्रमण किया। तक्षशिला के अम्भी ने उसका प्रतिरोध नहीं किया और उसे पुरु से टकरा दिया। जब सिकन्दर के दूत केकयराज पुरु के पास अधीनता स्वीकार करने का प्रस्ताव लेकर पहुँचे, तो पुरु ने संदेशा भेज दिया कि वह सिकन्दर का स्वागत करेगा अवश्य; पर वह स्वागत युद्धभूमि पर होगा। वितस्ता के किनारे भयंकर युद्ध हुआ और पुरु हार गया। वह पकड़ा गया और जब सिकन्दर के सामने लाया गया और उससे पूछा गया कि उसके साथ कैसा व्यवहार किया जाए, तो उसने इतिहासप्रसिद्ध उत्तर दिया था "जैसा एक राजा दूसरे राजा के साथ करता है"। जब सिकन्दर की सेना व्यास के किनारे तक आई, तब नन्दों की सेना के भय से अथवा कुछ यूनानी इतिहासकारों के अनुसार[2], बहुत समय तक घर से बाहर रहने

---

१. जयचन्द्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जिल्द २, पृष्ठ ६२८।

२. यद्यपि एक यूनानी इतिहासलेखक यह मानता है कि इस वापसी के मूल में नन्दों की शक्ति का भय था।

के कारण, वापस लौट गयी। लौटते समय क्या हुआ, इसका विस्तृत वर्णन यहाँ देना अभीष्ट नहीं, केवल हम यहाँ मालव और क्षुद्रकगणों से सिकन्दर के साथ भीषण संघर्ष का उल्लेख कर देना चाहते हैं। उस समय सिन्धु नदी के किनारे पंजाब के दक्षिण में मालव, शिवि, क्षुद्रक आदि अत्यन्त प्रबल गणतंत्र बसे हुए थे। मालवों के साथ युद्ध में सिकन्दर को घातक घाव लगा, जो यद्यपि उस समय घातक न हुआ; परन्तु कालान्तर में वही उसकी मृत्यु का कारण बना। सिकन्दर की सेना ने मालवों का भीषण नरसंहार किया और स्त्री और बच्चों तक को न छोड़ा। ज्ञात होता है कि ऐसी ही घटनाओं के कारण मालव तथा अन्य यौधेयगण वहाँ से कालान्तर में अधिक सुरक्षित भाग उत्तरी मध्यभारत के चम्बल की घाटियों में जयपुर, श्योपुर (वर्त्तमान मुरैना जिला) तथा मन्दसौर तक चले आए। यहाँ इनके दर्शन हमें आगे के इतिहास में होंगे। और आगे चलने पर सिकन्दर को अम्बष्ठ, क्षत्रृ और वसति तथा शौद्र के गणराज्य मिले; परन्तु उनसे युद्ध नहीं हुआ। उसके पश्चात् मुचिकर्ण का गणराज्य था। वे लड़े और हार गये। सिकन्दर का अन्तिम मुकाबला ब्राह्मणक जनपद से हुआ। इस छोटे से राज्य की प्रजा ने सिकन्दर को बहुत कष्ट दिया। जिन राजाओं ने पहले सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली थी, उनकी वे निन्दा करते थे और स्वतंत्र जातियों को भड़काते थे, इस प्रकार अनेक राज्यों और जनपदों को मिलाकर उसके विरुद्ध इनने विद्रोह करा दिया। सिकन्दर ने इन्हें बहुत बुरी तरह से कुचल डाला। ब्राह्मणों के अनेक मुखियों की लाशें खुले रास्तों पर टाँग दी गयीं। हैदराबाद के उत्तर में इनका ब्राह्मणाबाद महमूद के समय तक जमा रहा और उसका भी उनने डटकर प्रतिरोध किया था।

चन्द्रगुप्त मौर्य का उदय

सिकन्दर के इस आक्रमण का प्रभाव भारत पर अधिक नहीं पड़ा, परन्तु उत्तर-पश्चिम की इस उथल-पुथल का लाभ चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने उठाया। चन्द्रगुप्त सिकन्दर से मिला था; परन्तु अपने स्वाभिमानी स्वभाव के कारण मरते-मरते बचा। सिकन्दर ने उसकी बातचीत से क्रुद्ध होकर उसे मृत्युदण्ड दे दिया था; परन्तु वह उसके हाथ न आया। सिकन्दर के लौटने पर उसने उसके प्रदेश में वाहीकों का विद्रोह करा दिया और स्वयं उस विद्रोह का नेतृत्व किया। यूनानी लेखक जस्टिन ने लिखा है 'सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् भारत ने दासता का जुआ उतार फेंका और यूनानी शासकों को मार डाला। इस स्वतंत्रता-संग्राम का नेता 'सेण्ड्राकोट्टस' (चन्द्रगुप्त) था'। एक-एक करके सभी यूनानी क्षत्रप मार दिये गये या समाप्त कर दिये गये। उत्तर-पश्चिम भारत में विशाल सेना संगठित कर चन्द्रगुप्त ने ई० पू० ३२४ के लगभग अपना राज्याभिषेक कराया और मगध पर आक्रमण कर दिया। नन्दवंश समाप्त कर दिया गया और चन्द्रगुप्त ने इस विशाल साम्राज्य को सँभाला।

सेल्यूकस की पराजय

जब चन्द्रगुप्त साम्राज्य-स्थापना कर रहा था, उसी समय यूनानी राजा सेल्यूकस ने फिर भारतीय प्रदेशों की ओर दृष्टि डाली। लगभग ३०५ ई० पू० सेल्यूकस ने सिन्धु नदी पार की। चन्द्रगुप्त ने उससे मोर्चा लिया। सेल्यूकस हार गया। सेल्यूकस को

चन्द्रगुप्त से संधि करना पड़ी। वर्तमान हिरात, कन्दहार और काबुल के प्रदेश यूनानियों ने चन्द्रगुप्त को दिये और चन्द्रगुप्त ने ५०० हाथी सेल्यूकस को दिये। कहा यह भी जाता है कि चन्द्रगुप्त ने सेल्यूकस की राजकुमारी से भी विवाह किया; परन्तु कुछ इतिहासज्ञ इस विवाह की घटना को पुष्ट नहीं मानते। सेल्यूकस और चन्द्रगुप्त के आगे सम्बन्ध अच्छे अवश्य बने रहे। उसका राजदूत मेगास्थनीज पाटलिपुत्र में रहा।

मध्यभारत और चन्द्रगुप्त

चन्द्रगुप्त की राज्यसीमाओं के विषय में बहुत मतभेद है। सौराष्ट्र निश्चित ही उसके साम्राज्य की सीमा में था; क्योंकि रुद्रदामन प्रथम का जूनागढ़ का शिलालेख प्रकट करता है कि चन्द्रगुप्त ने अपने प्रतिनिधि शासक वैश्य पुष्पगुप्त को यह आज्ञा दी थी कि वह गिरनार नदी को बाँधकर उसे झील के रूप में परिवर्तित करादे। अशोक के समय में सौराष्ट्र का प्रतिनिधिशासक यवन तुषाश्प था। संभव है कि सिन्धु और पंजाब में यूनानियों के विरुद्ध सैन्यसंगठन करते समय ही चन्द्रगुप्त ने सौराष्ट्र जीत लिया हो। संभावना यह है कि यमुना के दक्षिण का भाग, मध्यदेश, चन्द्रगुप्त के शासनकाल में उसके अधीन नहीं था; क्योंकि बुद्धघोष[1] के अनुसार अवन्ति को बिन्दुसार के राज्यकाल में अशोक ने जीतकर उसे अपने पिता के राज्य में मिलाया था। दक्षिणापथ पर चन्द्रगुप्त मौर्य का अधिकार हो, यह भी कम संभव है। ज्ञात यह होता है कि उस समय उत्तरी मध्यभारत तथा अवन्ति और विन्ध्यमेखला पर नाग तथा अन्य स्थानीय शासक फैले हुए थे।

मेगास्थनीज और चाणक्य

चन्द्रगुप्त की राज्यव्यवस्था तथा उसके समय के लोकजीवन का आँखों देखा चित्र यूनानी राजदूत मेगास्थनीज ने दिया है; परन्तु उसकी पुस्तक दुर्भाग्य से पूरी नहीं प्राप्त है। अगले लेखकों ने उसके जो उद्धरण दिये हैं, वे ही हमें प्राप्त हो सके हैं और उनसे तत्कालीन समाज पर प्रकाश पड़ता है। चाणक्य ने अपना अर्थशास्त्र संभवतः चन्द्रगुप्त के राज्य के अंतिम दिनों में तथा बिन्दुसार के राज्य के प्रारम्भिक काल में लिखा होगा और हम उसे प्राङ्मौर्य तथा मौर्यकाल के शासनतंत्र की विशद व्याख्या मान सकते हैं। इन सब पर हम यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

चन्द्रगुप्त की सेना

चन्द्रगुप्त की विशाल सेना और उसके संगठन का वर्णन मेगास्थनीज ने किया है। उसके अनुसार चन्द्रगुप्त के पास छह लाख का सैन्यबल था। पाँच-पाँच सदस्यों की छह समितियाँ इस सेना का नियन्त्रण करती थीं। एक समिति पोतों के सेनापति को सहायता देती थी, दूसरी पदाति सेना को देखती थी, तीसरी अश्वारोहियों को, चौथी युद्ध के रथों को, पांचवीं युद्ध के हाथियों को और छठी का कार्य यातायात तथा रसद का प्रबन्ध करना था; चन्द्रगुप्त के समय जो स्थिति थी, उसके लिए विशाल सेना की आवश्यकता भी थी। युद्धजीवियों का एक वर्ग स्थापित हो ही गया था।

---

१. समन्तपासादिका, १, पृष्ठ ४५।

चन्द्रगुप्त का धर्म

चन्द्रगुप्त के समय तक जैन और बौद्ध दोनों सम्प्रदाय प्रभावशाली हो चले थे और उनका पर्याप्त विस्तार भी हो चला था। परन्तु चन्द्रगुप्त ने इन दोनों में से किसी श्रमणधर्म को ग्रहण कर लिया हो, ऐसा ज्ञात नहीं होता। निश्चय ही चन्द्रगुप्त पर चाणक्य का बहुत अधिक प्रभाव था। विष्णुगुप्त चाणक्य वात्सायनगोत्रीय भार्गव था तथा अर्थशास्त्र में उसने आजीवकों तथा श्रमणों को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा है। बौद्ध अनुश्रुतियों में इसके बौद्ध धर्म ग्रहण करने का कहीं उल्लेख नहीं है। जैन अनुश्रुतियाँ अवश्य यह उल्लेख करती हैं कि चन्द्रगुप्त नामक मुकुटधरराजा ने जिनधर्म की दीक्षा ग्रहण की थी। इस विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। विन्सेण्ट स्मिथ इन जैन अनुश्रुतियों पर विश्वास करते हैं।

पुण्यश्रावक कथा में उल्लेख है 'चन्द्रगुप्त ने बहुत काल तक राज्य करके अपने पुत्र बिन्दुसार को राज्य देकर चाणक्य के साथ जिनदीक्षा ग्रहण की'। परन्तु चाणक्य बिन्दुसार के समय भी मंत्रिपद पर आसीन थे और अपनी उत्तर वय में भी न्याय-दर्शन का, जो शैव दर्शन है, भाष्य कर रहे थे। लेखक तारानाथ ने भद्रबाहुचरित्र में जिन चन्द्रगुप्त के भद्रबाहु के साथ श्रमणबेलगोला जाना लिखा है, वह संभवतः सम्प्रति है, जो अशोक के पश्चात् गद्दी पर बैठा। अनेक इतिहासज्ञों ने चन्द्रगुप्त मौर्य को शैव लिखा है। विष्णुगुप्त चाणक्य के शिष्य, सिन्ध के युद्धानुरागी गणों के संगठनकर्त्ता तथा एक नवीन साम्राज्य की स्थापना का आयोजन करनेवाले इस महान सेनानी को श्रमण धर्म आकर्षित कर सके हों, यह संभावना कम है। उस समय के युद्धानुरागी अधिकांश में शैव ही थे। अतः सम्भव है, चन्द्रगुप्त भी शैव हो।

मेगास्थनीज का भारत

यूनानी इतिहासलेखक

यह पहले लिखा जा चुका है कि मेगास्थनीज चन्द्रगुप्त की राजसभा में यूनानी राजा सेल्यूकस का राजदूत बनकर भारत में आया था। उसने अपने समय के भारत का आँखोंदेखा वर्णन लिखा है। मेगास्थनीज का वर्णन आज पूरा उपलब्ध नहीं, केवल उसके अंशमात्र प्राप्त हैं, जो पिछले यूनानी लेखकों ने अपने ग्रन्थों में उद्धृत किये हैं। मेगास्थनीज का वर्णन वास्तव में चन्द्रगुप्त के समय का सही वर्णन है। एरियन, करटियस, स्त्राबो आदि यूनानी लेखकों द्वारा इस वर्णन में बहुत अधिक पूर्णता ला दी गयी है।

समाज के अंग

मेगास्थनीज के अनुसार भारतीय समाज उस समय सात जातियों में बँटा हुआ था। ज्ञात होता है कि चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था उस समय तक तरल ही थी, अतः अपने व्यवसायों के अनुसार विभिन्न कार्य करनेवाले समाज के वर्गों का मेगास्थनीज ने वर्णन किया है। मेगास्थनीज के अनुसार ये सात जातियाँ थीं—(१) दार्शनिक, (२) कृषक, (३) गोप व शिकारी, (४) मजदूर, (५) सैनिक, (६) निरीक्षक और (७) मंत्री तथा सभासद।

दार्शनिक

दार्शनिकवर्ग के विषय में मेगास्थनीज लिखता है कि यह जाति संख्या में कम थी; परन्तु प्रभावशाली थी। धार्मिक कृत्य इन्हीं के द्वारा कराए जाते थे। प्रत्येक नये वर्ष के प्रारम्भ में राजा एक बड़ी सभा बुलाता था, जिसमें ये दार्शनिक आमंत्रित किये जाते थे। परिणाम यह होता था कि सभी दार्शनिक राजसभा में इकट्ठे हो जाते थे। यदि कोई दार्शनिक उपयोगी पुस्तक लिखता था अथवा कृषि या पशुओं के अथवा व्यवसाय के उपयोगी शास्त्र की रचना करता था, तो उसका सार्वजनिक रूप से सम्मान किया जाता था। पाटलिपुत्र की इस शास्त्रकारों के सम्मान की परम्परा का उल्लेख राजशेखर ने भी किया है। काव्यमीमांसा में वह लिखता है "यह सुना जाता है कि पाटलिपुत्र में शास्त्रकारों की परीक्षा हुई थी।" यदि कोई दार्शनिक तीन बार गलत बातें बतलाता था, तो उसे जीवनभर मौन रहना पड़ता था। यदि उसके विचार सही निकलते थे, तो वह समस्त राजकरों से मुक्त कर दिया जाता था। ये दार्शनिक यूनानी लेखकों के अनुसार नंगे रहा करते थे। संभवतः कौपीनधारी तपस्वियों को इन यूनानी लेखकों ने नंगा लिखा है। जाड़े में ये धूप में खुले स्थानों में रहते थे और गर्मियों में पेड़ों की छाया के

नीचे रहते थे। एक यूनानी लेखक ने लिखा है कि ये वृक्ष इतने बड़े होते थे कि दस हजार आदमी उनके नीचे बैठ जाएँ। संभवतः यह उस समय के विशाल वटवृक्षों का उल्लेख है। इन दार्शनिकों के भोजन के विषय में भी इन यूनानी लेखकों ने लिखा है। उनके अनुसार ये मौसमी फल और वृक्षों की छाल खाकर रहते थे। धार्मिक विवेचन का स्वत्व इन्हीं दार्शनिकों को था और अन्य जातिवाले उसमें हस्तक्षेप नहीं करते थे।

कृषकवर्ग और धरती

मेगास्थनीज ने लिखा है कि दूसरी जाति में किसान लोग हैं। इनकी संख्या सबसे अधिक है। ये युद्ध करने तथा अन्य राजकीय सेवाओं से मुक्त रहते हैं। इस कारण वे अपना सारा समय खेती में लगाते हैं। वे राजा को भूमिकर देते हैं। किसान लोग अपनी स्त्रियों और बच्चों के साथ देहात में रहते हैं और नगरों में जाने से बिल्कुल बचते हैं। भूमि का अधिक भाग सींचा जाता है, अतएव उसमें वर्ष के भीतर ही दो फसलें पैदा होती हैं। मेगास्थनीज के अनुसार भारत की भूमि बहुत उपजाऊ थी। वह लिखता है कि भूमि पशुओं के निर्वाहयोग्य तथा अन्य खाद्य पदार्थ भी प्रदान करती है। इस कारण भारतवर्ष में अकाल कभी नहीं पड़ता और खाने की वस्तुओं की महँगाई भी कभी नहीं होती। चूँकि यहाँ वर्ष में दो बार वर्षा होती है, एक जाड़े में जब गेहूँ बोया जाता है और दूसरी गर्मी में, जब तिल और ज्वार बोई जाती है, अतः भारतवर्ष के निवासी दो फसलें काटते हैं और इनमें से यदि एक बिगड़ भी जाती है, तो उन्हें दूसरी फसल का विश्वास रहता है। इस कृषकसमाज को युद्ध के समय भी कष्ट नहीं दिया जाता। मेगास्थनीज ने लिखा है, भूमि पर काम करते हुए किसी किसान के पास आकर शत्रु-सेनाएँ उसको हानि नहीं करतीं; क्योंकि इस वर्ग के लोग सर्वसाधारण के लिए हितकारी माने जाने के कारण सब हानियों से बचाए जाते हैं। इस विषय में उसने और भी लिखा है। भारतवासियों में बहुतसी ऐसी रीतियाँ हैं, जो उनके बीच अकाल की संभावना को रोकने में सहायता देती हैं। दूसरी जातियों में युद्ध के समय भूमि को नष्ट करने और इस प्रकार उसको परती-ऊसर कर देने की रीति है। पर इसके विरुद्ध भारत-वासियों में, जो कृषकसमाज को पवित्र और अवध्य मानते हैं, भूमि जोतनेवाले, यद्यपि उनके पड़ोस में युद्ध हो रहा हो, तो भी किसी भय की आशंका से विचलित नहीं होते। दोनों पक्षों के लड़नेवाले युद्ध के समय एक दूसरे का संहार करते हैं; परन्तु जो खेती में लगे हैं, उनको पूरी तरह निर्विघ्न रहने देते हैं। इसके अतिरिक्त न तो वे शत्रु के देश का अग्नि से सत्यानाश करते हैं और न उसके पेड़ काटते हैं।

गोप व शिकारी

मेगास्थनीज ने तीसरी जाति में अहीर, गड़रिये तथा सब प्रकार के चरवाहों को गिना है। वह लिखता है कि ये लोग न तो नगरों में बसते हैं, न ग्रामों में; बल्कि डेरों में रहते हैं। पशुओं को बेचना और उधार देना इनका काम था। शिकार तथा पशुओं को जाल आदि में फँसाकर वे देश को हानिकर पक्षियों व पशुओं से रहित करते थे। इसीलिए वे भारत को उन विपत्तियों से, जो यहाँ बड़ी मात्रा में हैं, अर्थात् जंगली जन्तु और बोए हुए बीजों को खा जानेवाले पक्षियों से मुक्त करते हैं।

कारीगर

मेगास्थनीज ने चौथी जाति कारीगर बतलाई है। इनमें से कुछ कवच बनानेवाले हैं और कुछ उन विविध औजारों को बनाते हैं, जिनका किसान तथा अन्य व्यवसायी लोग उपयोग करते हैं। इनमें से कुछ कारीगर राजा को राजस्व देते थे और कुछ राज्य की निर्धारित सेवा किया करते थे। राजा के लिए शस्त्रास्त्र और पोत बनानेवाले व्यक्तियों को राज्य की ओर से सामग्री और मजदूरी मिला करती थी।

सैनिक

पाँचवीं जाति मेगास्थनीज ने सैनिकों की बतलाई है। यह अच्छी तरह संगठित और युद्ध के लिए सुसज्जित रहती थी। संख्या में कृषकों के वाद इनका दूसरा स्थान था। जब ये युद्ध पर नहीं रहते थे, तब अपना समय आलस्य और आमोद-प्रमोद में बिताते थे। सारी सेना, योद्धा, युद्ध के घोड़े और हाथी इन सबका खर्च राजकीय कोष से मिलता था। इस युद्धजीवी वर्ग के विषय में एरियन लिखता है 'दूसरे ही इनके हथियार बनाते थे और दूसरे ही इनको घोड़े दिया करते थे। शिविरों में इनके घोड़ों की देखभाल, शस्त्रों की सफाई, रथों को सज्जित करने और सारथी का काम करने के लिए भी दूसरे ही हुआ करते थे। जब तक उन्हें युद्ध करना पड़ता था, वे युद्ध करते रहते थे और उसका अन्त हो जाने पर वे आमोद-प्रमोद करते थे। राज्य से उनको इतना ज्यादा वेतन मिलता था कि वे अपने अलावा दूसरों का भी सरलता से पालन कर लेते थे।'

निरीक्षक या गुप्तचर

मेगास्थनीज के अनुसार गुप्तचरों की संख्या भी बहुत अधिक थी और उनकी एक अलग जाति अथवा वर्ग ही था। इनका काम यह था कि जो कुछ देश में होता था, उसकी सूचना वे राजा अथवा स्थानीय शासक को देते थे।

मंत्री तथा सभासद

मेगास्थनीज ने सातवीं जाति सभासदों और शासनकर्त्ताओं की बतलाई है। वह लिखता है 'ये लोग राज्यकार्य की देखभाल करते हैं। संख्या की दृष्टि से यह जाति सबसे छोटी है; पर अपने ऊँचे चरित्र और बुद्धि के कारण सबसे अधिक प्रतिष्ठित है। इस वर्ग से राजा के मंत्रिगण, राज्य के कोषाध्यक्ष और न्यायकर्त्ता लिए जाते हैं। सेना के नायक तथा मुख्य शासक प्रायः इसी श्रेणी से होते हैं।'

यह स्पष्ट है कि यूनानी लेखकों का यह विभाजन जाति का न होकर समाज के विभिन्न अंगों का उनके कार्यों के अनुसार हुआ प्रतीत होता है।

धर्म और आचार-विचार

यूनानी लेखकों ने इस काल में डायनीसस (शिव) और हिराकलिस (कृष्ण) की पूजा को सबसे अधिक लोकप्रिय बताया है। मेगास्थनीज ने अपने समय में ब्राह्मण और श्रमण दोनों धर्मों का उल्लेख किया है। ब्राह्मणों के विषय में वह लिखता है कि ब्राचमनीज (ब्राह्मण) लोग दर्शन के ज्ञाता होते हैं। कुछ अन्य तपस्वियों के विषय में वह

लिखता है 'वे अपनी बुद्धि के लिए प्रसिद्ध हैं। जब वे जीवन से उकता जाते हैं, तो जलती हुई चिता पर चढ़कर स्वयं मृत्यु को आमंत्रित करते हैं। एक अन्य सम्प्रदाय और भी अधिक कठोर है। इसके अनुयायी जंगलों में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं'।

यज्ञों और श्राद्धों का भी वर्णन मेगास्थनीज ने किया है। मेगास्थनीज ने लिखा है कि अपनी जाति के अलावा किसी व्यक्ति को किसी दूसरी जाति के साथ विवाह करने की या अपने पेशे के अलावा और कोई काम करने की आज्ञा न थी। परन्तु दार्शनिकों पर ये प्रतिबन्ध नहीं थे। एरियन भी लिखता है कि देश का आचार अन्तर्जातीय विवाह करने की आज्ञा नहीं देता। उदाहरण के लिए कृषक व्यवसायीवर्ग से शादी नहीं कर सकता, न व्यवसायी कृषकपत्नी रख सकता है। विवाह के सम्बन्ध में एरियन ने लिखा है कि भारतीय लोग बिना दहेज लिये-दिये विवाह करते हैं। विवाहयोग्य होने पर उनके पिताओं द्वारा लड़कियाँ जनता के समक्ष लाई जाती थीं और कुश्ती, दौड़ अथवा अन्य किसी पराक्रम के कार्य में विजयी होनेवाले को वरण कर लेती थीं। राजघराने की स्त्रियाँ आवश्यकता पड़ने पर शासन का भार भी ग्रहण कर लेती थीं। मेगास्थनीज के अनुसार पाण्ड्य प्रदेश में तो स्त्रियाँ ही शासनकार्य करती थीं। एरियन ने लिखा है कि भारतवासी मृतकों के लिए कोई समाधि स्थापित नहीं करते थे; क्योंकि वे मृतक के गुणों की प्रशंसा में रची हुई स्तुतियों को उसकी स्मृति बनाए रखने के लिए पर्याप्त समझते हैं। मेगास्थनीज लिखता है कि भारतीयों की समाधि बहुत साधारण हुआ करती थी।

आहार, वस्त्राभूषण और जीवनचर्या

इन यूनानी लेखकों ने भारतवासियों के आहार, वस्त्राभूषण और जीवनचर्या के विषय में भी अनेक सूचनाएँ दी हैं। एरियन ने लिखा है कि पर्वतीय लोगों के अलावा शेष भारतीय निरामिष आहारी हैं। मेगास्थनीज लिखता है, भारतवासी सदैव अकेले भोजन करते हैं। वे कोई ऐसा नियत समय नहीं रखते, जब इकट्ठे होकर भोजन करें। जिस समय जिसकी इच्छा होती है, वह उसी समय भोजन कर लेता है। जब वे खाने बैठते हैं, तो प्रत्येक व्यक्ति के सामने तिपाई की शक्ल की मेज (पटा) रखी जाती है, उसके ऊपर सोने का थाल होता है, जिसमें सबसे पहले चावल डाले जाते हैं। वे इस तरह उबले हुए होते हैं—जैसे जौ उबले हुए हों। इसके बाद बहुतसे पक्वान्न रखे जाते हैं, जो भारतीय सामग्री के अनुसार तैयार किये जाते हैं। मेगास्थनीज को भारतीयों का अकेला भोजन करना पसन्द नहीं आया था। वह लिखता है कि यदि इसके विपरीत रिवाज होता, तो यह सामाजिक और शिष्ट जीवन के लिए हितकर होता।

भारतवासियों के वस्त्रों के विषय में मेगास्थनीज लिखता है कि अपनी साधारण विनम्रता के विपरीत भारतवासी आभूषणादि के बहुत शौकीन होते हैं। उनकी पोशाक पर सोने और कीमती पत्थरों का काम रहता है और वे बारीक सूत के बने सुन्दर मलमल के फूलदार कपड़े पहनते हैं। वे अपने सौन्दर्य का बड़ा ध्यान रखते हैं और अपने स्वरूप को सँवारने में कोई उपाय उठा नहीं रखते। वे सुगंधित द्रव्यों का व्यवहार करते हैं और चमकीले रंगों से रँगे हुए कपड़े पहनते हैं। एरियन के अनुसार भारतीय घुटनों तक

सूत का वस्त्र पहना करते थे। बदन पर भी उनके वस्त्र होता था, जिसका कुछ भाग कंधों पर रहता था और कुछ हिस्सा सिर पर बँधा होता था। वे कानों में हाथीदाँत की बालियाँ पहनते हैं; किन्तु ऐसा वे ही करते हैं, जो उनमें धनवान होते हैं। यूनानी उस समय रुई की खेती से अनभिज्ञ थे। अतएव उन्हें भारतवर्ष की "पेड़ों से उगनेवाली ऊन" से बनी हुई सुन्दर मलमल को देखकर बहुत आश्चर्य हुआ था। एक यूनानी लेखक के अनुसार भारतीय सफेद चमड़े के कामदार जूते पहनते थे। इन जूतों के तले उसने विचित्र तथा इतने मोटे लिखे हैं कि उनसे पहननेवाला लम्बा मालूम होता था। एरियन लिखता है कि आमतौर से सवारी के लिए ऊँट, घोड़े आदि जानवर काम में लाए जाते थे, लेकिन धनिक लोग हाथी की सवारी करते थे।

मेगास्थनीज लिखता है कि भारतवासी यज्ञों के अलावा शराब नहीं पीते थे। उनका पेय जौ के स्थान पर चावल से बनाया हुआ पेय है। वह लिखता है कि भारतीय लोग किफायत से रहते हैं। वे अनियंत्रित भीड़ को नापसन्द करते हैं; इसीलिए सर्वदा व्यवस्था बनाए रहते हैं। वे चाल-चलन में सीधे और मितव्ययी होने के कारण बड़े सुख से रहते हैं। उनके व्यायाम करने की सर्वप्रिय रीति मालिश है।

ईमानदारी

मेगास्थनीज भारतवासियों की ईमानदारी से बहुत प्रभावित हुआ था। वह लिखता है कि उनके कानून और व्यवहार की सरलता इससे अच्छी तरह प्रमाणित होती है कि वे न्यायालय में बहुत कम जाते हैं। उनमें गिरवी और धरोहर के धन्धे नहीं चलते, न मुहर या गवाह की जरूरत पड़ती है। एक-दूसरे के पास धरोहर रखकर आपस में विश्वास रखते हैं। अपनी सम्पत्ति को वे प्रायः बिना ताला-कुंजी के अरक्षित अवस्था में छोड़ देते हैं। ये बातें सूचित करती हैं कि वे बड़े उदार और उत्कृष्ट हैं। वह आगे लिखता है कि भारतवासी ईमानदारी और सदाचार दोनों की ही समान रूप से प्रतिष्ठा करते हैं। वृद्धों तक को वे तभी महत्त्व देते हैं, जब वे उत्कृष्ट सदाचारी हों। मेगास्थनीज ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त के शिविर के चार लाख व्यक्तियों में चोरी की घटनाएँ बहुत कम सुनी गयी हैं।

विदेशियों की व्यवस्था

ये यूनानी लेखक भारत में विदेशी यात्री के रूप में आए थे। भारतवासी विदेशियों के साथ कैसा व्यवहार करते हैं यह इनने बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखा था। उस समय भारत में अत्यधिक विदेशी व्यापार के सिलसिले में आया करते थे। इस विषय में मेगास्थनीज ने लिखा "भारतवासियों में विदेशियों तक के लिए कर्मचारी नियुक्त होते हैं, जिनका काम यह देखने का रहता है कि किसी विदेशी को हानि न पहुँचने पाए। यदि उन (विदेशियों) में से कोई रोगग्रस्त हो जाता है तो वे उसकी चिकित्सा के निमित्त वैद्य भेजते हैं तथा दूसरे प्रकार से भी उसकी रक्षा करते हैं। यदि वह मर जाता है, तो उसे गाड़ देते हैं और जो सम्पत्ति वह छोड़ता है उसे उसके सम्बन्धियों तक पहुँचा देते हैं। न्यायाधीश लोग भी उन मामलों का जो विदेशियों से सम्बन्ध

रखते हैं बड़े ध्यानपूर्वक फैसला करते हैं और उन लोगों पर बड़ी कड़ाई करते हैं, जो उनके साथ बुरा व्यवहार करते हैं"।

भारत का स्वतन्त्र नागरिक

मेगास्थनीज ने लिखा है कि "भारतवर्ष के विषय में यह ध्यान देने योग्य बात है कि समस्त भारतवासी स्वतंत्र हैं, उनमें से एक भी दास नहीं है। लैकिमिडोनियन्स और भारतवासी यहाँ तक तो एक दूसरे से मिलते हैं। परन्तु लैकिमोडिनियन लोग 'हेलाट' लोगों को दास की तरह से रखते हैं। ये 'हेलाट' नीचे दर्जे का परिश्रम करते हैं। परन्तु भारतीय लोग विदेशियों तक को दास नहीं बनाते, अपने देशवासियों की तो बात ही क्या है"। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि उस समय भारत में दास होते तो थे, परन्तु उनके साथ बहुत अच्छा व्यवहार होता था जो, इन यूनानियों को अपने देश के स्वतंत्र नागरिकों के समान ही ज्ञात हुआ था।

व्यवसाय

भारत की समृद्धि से मेगास्थनीज बहुत अधिक प्रभावित हुआ था। कृषि के सम्बन्ध में हम ऊपर लिख चुके हैं। अन्य व्यवसायियों के विषय में वह लिखता है कि वे कला-कौशल में बड़े निपुण हैं जैसी कि ऐसे मनुष्यों से आशा की जाती है, जो भारत जैसे देश की स्वच्छ वायु में साँस लेते हैं और अत्यन्त उत्तम जल पीते हैं। वह लिखता है कि अधिक सुसभ्य भारतीय समाजों में भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यवसायों में जीवन बिताया जाता है। कई भूमि जोतते हैं, कई सिपाही हैं, कई व्यापारी।

यहाँ की खदानों की समृद्धि के विषय में मेगास्थनीज लिखता है, "भूमि अपने ऊपर तो हर प्रकार के फल उपजाती ही है, पर उसके गर्भ में भी सब प्रकार की धातुओं की अगणित खदानें हैं। उनमें सोना और चाँदी बहुत होता है, ताँबा और लोहा भी कम नहीं है, जस्ता और दूसरी धातुएँ भी होती हैं। इनका व्यवहार कई आवश्यक वस्तुओं, आभूषणों तथा युद्ध के शस्त्रास्त्र बनाने में होता है"। एरियन ने भारतवासियों के विदेशी व्यवसाय पर भी प्रकाश डाला है, वह लिखता है, "वे भारतीय व्यापारी जो अपना सामान हमारे यहाँ (यूनान) बेचने को लाते हैं, समुद्री आभरण और मुक्ता खरीदकर अन्य विदेशी बाजारों में बेचने के लिए ले जाते हैं"।

ग्राम, नगर और पुर

इन यूनानी लेखकों से हमें उस काल के ग्रामों, पुरों और नगरों का बहुत सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है। एरियन ने लिखा है कि भारत के नगरों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उनकी संख्या इतनी अधिक है कि उनकी सही-सही गिनती बतलाना कठिन है। मेगास्थनीज लिखता है कि अकेले पोरस के राज्य में ही कुल मिलाकर दो हजार नगर थे। स्त्राबो के अनुसार झेलम और व्यास के बीच में लगभग पाँच हजार नगर थे, जिन्हें जीतकर सिकन्दर ने पोरस को सौंप दिये थे। मेगास्थनीज के अनुसार आन्ध्र प्रदेश में तीस और पाण्डयों के प्रदेश में तीन सौ नगर थे।

इन नगरों के निर्माण के सम्बन्ध में एरियन ने लिखा है कि "जो नगर नदियों के तट या समुद्रों के किनारे पर स्थित हैं वे ईंटों के, पर साथ ही लकड़ी के बने हुए हैं; क्योंकि वे थोड़े ही काल तक चलने के लिए बनाए जाते हैं। यहाँ वर्षा बहुत जोर से पड़ती है और नदियाँ अपने किनारों के ऊपर चढ़कर मैदानों में बाढ़ ले आती हैं। पर ऐसे नगर जो खुली जगह पर तथा ऊँचे-ऊँचे टीलों पर बसे हैं, ईंट और गारे से बने हुए हैं।" बड़े नगरों का निर्माण किस प्रकार किया जाता था इसका एक उदाहरण पाटलिपुत्र का वह वर्णन है जो मेगा-स्थनीज के अनुसार एरियन ने किया है। वह लिखता है, "भारत में सबसे बड़ा नगर वह है जो 'प्रेसिआई' राज्य में पालीबोथा (पाटलिपुत्र) कहलाता है। यह गंगा और एरन्नाबोअस (सोन) नदियों के संगम पर स्थित है। गंगा सब नदियों से बड़ी है, परन्तु सम्भवतः एरन्नाबोअस भारत में तीसरे नम्बर की नदी है। भारत में यद्यपि इसका नम्बर तीसरा है, पर अन्यत्र की बड़ी से बड़ी नदी से भी यह बड़ी है। मेगास्थनीज हमें सूचित करता है कि इस नगर की बस्ती लम्बाई में ८० स्टेडिया और चौड़ाई में १५ स्टेडिया तक फैली हुई है। इस नगर की खाई—जिसने इसे चारों ओर से घेर रखा है—गहराई में ४५ फुट और चौड़ाई में ६०० फुट है। शहर के चारों ओर जो दीवार बनी हुई है, वह ५७० बुर्जों से सुशोभित है तथा उसमें ६४ फाटक बने हुए हैं"।

शिक्षा

यूनानी इतिहासकारों ने चन्द्रगुप्त के समय की शिक्षापद्धति पर भी प्रकाश डाला है। उच्च शिक्षा के लिए नगरों से दूर वनों में आश्रम बने हुए थे जहाँ शिक्षार्थी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के पहले दार्शनिकों के पास रहकर अध्ययन किया करते थे। पुरुष विद्यार्थियों की तरह स्त्रियाँ भी दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया करती थीं और ब्रह्मचारिणी का जीवन व्यतीत करती थीं। मेगास्थनीज के अनुसार लगभग ३७ वर्ष की आयु तक विद्याध्ययन करने के पश्चात विद्यार्थी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे।

महापथ

सेनाओं, व्यापारियों तथा यात्रियों के आवागमन के लिए बड़े-बड़े महापथ बने हुए थे। इराटोस्थनीज के अनुसार सिन्ध से पाटलिपुत्र तक एक महापथ था, जिसकी लम्बाई दस हजार स्टेडिया थी। स्त्राबो ने लिखा है कि इराटोस्थनीज के इस कथन का मेगास्थनीज ने भी समर्थन किया है। सिन्ध से आगे यह सड़क ईरान तक चली गयी थी। इन सड़कों के विषय में मेगास्थनीज लिखता है, "सार्वजनिक मार्गों के निर्माण के लिए अधिकारी नियुक्त रहते थे। इनका काम मार्ग बनवाना था। हर दस स्टेडिया पर विभिन्न रास्तों और दूरी को प्रदर्शित करने के लिए खम्भे स्थापित कराए जाते थे। इन महापथों की सुरक्षा का भार राज्य के जिम्मे था"।

राजवैभव

ये यूनानी यात्री राजसभा में रहते थे और उसके वैभव से अत्यधिक प्रभावित हुए थे। कर्टियस लिखता है कि "राजा सोने की पालकी में निकलता था, जिसपर मोतियों की झालरें लटकती थीं। वह अत्यन्त श्रेष्ठ मलमल के वस्त्र पहनता था, जिसपर सोने की जरी

का काम होता था। उसकी पालकी के पीछे सैनिक और अंगरक्षक चलते थे, जो अपने हाथों में हरे वृक्षों को लेकर चलते थ, जिनपर सजीव चिड़ियाँ बैठी रहती थीं। धार्मिक उत्सवों पर राजाओं की सवारी और भी ठाठ से निकलती थी। इसमें सोने और चाँदी से लदे हुए अनेक हाथी होते थे। चार-चार घोड़े जुते हुए रथ चलते थे। भृत्य लोग सोने के और ताँबे के रत्नों से भरे हुए पात्र लेकर चलते थे। साथ में भैंसे, चीते और पालतू सिंह चलते थे तथा अनेक प्रकार के पक्षी साथ रहते थे। अनेक तोते इस प्रकार सिखाए जाते थे कि वे राजा की सवारी के चारों ओर मँडराते थे। वर्ष में एक बार राजा का समारोह-पूर्वक स्नान होता था और उस समय मृग, पालतू चीते, शेर, शिकारी कुत्ते, बन्दर तथा हंस, कपोत आदि पक्षी भेट किये जाते थे। राजा जब भी बाहर निकलता था चौबीस हाथी उसकी सुरक्षा के लिए उसके साथ रहते थे"।

राजमहल

चन्द्रगुप्त के राजमहल[1] के सम्बन्ध में यूनानी लेखकों ने लिखा है कि उसके खम्भे सोने से मढ़े हुए थे, जिनके चारों ओर सोने की बनी हुई लताएँ लपटी हुई थीं, जिनपर चाँदी के पक्षी बैठाए गये थे। यह महल एक विस्तृत उद्यान में स्थित था, जिसमें सदाबहार वृक्ष लगे थे तथा अनेक कुंज बने हुए थे। उस उद्यान में बहुतसे तालाब बने थे, जिनमें बड़ी-बड़ी विचित्र और विशालकाय मछलियाँ तथा अनेक नौकाएँ पड़ी रहती थीं। वे लिखते हैं कि इनकी तुलना में सूसा तथा इकबटना के राजप्रासाद तुच्छ थे।

राजमृगया

मेगास्थनीज ने चन्द्रगुप्त के आखेट का भी बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। वह लिखता है कि सम्राट् जब शिकार के लिए निकलते हैं तो स्त्रियों की भीड़ उन्हें घेरे रहती है। उस घेरे के बाहर बरछेवाले रखे जाते हैं और घेरे के रस्सों के भीतर कोई स्त्री या पुरुष नहीं जा सकता। ढोल और झाँझ लेकर आदमी इस दल के आगे-आगे चलते हैं। राजा घेरों के भीतर शिकार खेलता था और मचान से तीर चलाता था। उसकी बगल में दो या तीन स्त्रियाँ हथियारबन्द खड़ी रहती थीं। यदि वह खुले मैदान में शिकार करता था तो वह हाथी की पीठ पर से तीर चलाता था। स्त्रियों में से कुछ तो रथ के भीतर रहती थीं और कुछ घोड़ों पर तथा कुछ हाथियों पर। वे हर प्रकार के शस्त्रों से सजी रहती थीं, मानो वे किसी लड़ाई पर जा रही हों।

राजा और राजतंत्र

मेगास्थनीज ने राजा और राजतंत्र का भी विस्तृत वर्णन किया है। वह लिखता है, "राजा दिन में नहीं सोता, वह सारे दिन राजसभा में रहता है, जहाँ वह मामलों को सुनता है तथा अन्य राजकीय कार्य करता है और जब उसके शरीर की मालिश करने का समय आता है तब भी यह कार्य बन्द नहीं होता। जब राजा के बाल सँवारे जारहे होते हैं उस समय भी वह अपना कार्य रोकता नहीं है। उस समय वह राजदूतों से बातें करता है"।

---

१. मौर्यों के राजप्रसाद का नाम 'सुगांगेय' था।

राज्य-व्यवस्था

राज्यव्यवस्था के सम्बन्ध में वह लिखता है कि राज्य अनेक प्रान्तों में बँटा हुआ था, जहाँ पर अमात्य, अर्थात् प्रान्तीय शासक राजकाज चलाते थे। इन प्रान्तों के अमात्य बहुधा राजपरिवार के व्यक्ति होते थे। साम्राज्य के केन्द्रीय और पूर्वी भाग के प्रदेशों पर राजा का सीधा शासन था। राजा की सहायता के लिए एक मंत्रिपरिषद् रहती थी, जो शासनकार्य में उसे परामर्श देती थी। राज्य की ओर से अनेक भेदिये नियुक्त किये जाते थे, जो राजा को सेना तथा राज्य के सम्बन्ध में प्रमुख घटनाओं की सूचना देते थे।

नगर-व्यवस्था

मेगास्थनीज ने पाटलिपुत्र के आन्तरिक शासन के विषय में भी प्रकाश डाला है। इस कार्य के लिए एक 'पौरसभा' या 'नगरसभा' थी, जिसके छह विभाग थे। प्रत्येक विभाग एक-एक उप-समिति के अधीन था। प्रत्येक उप-समिति के पाँच-पाँच सदस्य थे। इन सदस्यों को मेगास्थनीज अस्टिनोमोई कहता है। वह लिखता है,"जो अधिकारी नगर का शासन देखते थे वे पाँच-पाँच व्यक्तियों की छह समितियों में विभक्त थे। पहली समिति के सदस्य औद्योगिक शिल्प से सम्बन्धित सब काम देखते हैं। दूसरी समिति के सदस्य विदेशियों की देखरेख का कार्य करते हैं। उनके आवास की व्यवस्था करना तथा उनके ऊपर निगरानी रखना इस समिति का काम है। यह निगरानी उन भृत्यों द्वारा की जाती है जो इन विदेशियों की सहायता के लिए रखे जाते हैं। जब ये विदेशी इस देश को छोड़ते हैं तो यह समिति उन्हें सीमा पार तक पहुँचा देती है और यदि उनकी मृत्यु होजाती है तो उनके सम्बन्धियों तक उनकी सम्पत्ति पहुँचा दी जाती है और यदि वे बीमार हो जाते हैं तो उनके उपचार की व्यवस्था यह समिति करती है और उनके मर जाने पर उनका अन्तिम संस्कार करती है। तीसरी समिति का काम जन्म और मृत्यु का लेखाजोखा रखना है। यह न केवल कर-निर्धारण के लिए किया जाता है, वरन् यह जानने के लिए भी कि कोई छोटा हो या बड़ा, उसके जन्म अथवा मृत्यु से शासन अनभिज्ञ न रहे। चौथी समिति उद्योग तथा व्यापार की निगरानी रखती है। इस समिति के सदस्य तोल तथा नाप का निर्धारण करते हैं और यह देखते हैं कि प्रत्येक वस्तु समय पर सबकी जानकारी में बेची जाए। किसी को भी एक प्रकार के अतिरिक्त दूसरे प्रकार की जिन्स बेचने का अधिकार नहीं है, जब तक कि वह दूना कर अदा न करे। पाँचवीं समिति वस्तुओं के निर्माण की निगरानी करती है। वह यह भी देखती है कि नयी वस्तु और पुरानी वस्तु अलग-अलग बेची जाए तथा उन दोनों को मिलाया न जाए। छठवीं समिति विक्रय-कर वसूल करती है जो बिकी हुई वस्तुओं के मूल्य का दसवाँ अंश होता है। इस कर की अदायगी में यदि धोखाधड़ी की जाती है तो उसके लिए मृत्यु-दण्ड निर्धारित है"।

आगे मेगास्थनीज लिखता है, "ये वे कार्य हैं, जो ये समितियाँ पृथक्-पृथक् रूप से करती हैं। परन्तु अपने सामूहिक रूप में उनको अपने विशेष कार्यों को तो करना ही पड़ता है, साथ में सार्वजनिक हित के कार्यों पर भी ध्यान देना होता है, जैसे सार्वजनिक भवनों को सुरक्षित रखना, उनकी मरम्मत कराना, कीमतों को नियंत्रित करना, बाजार, पोतपत्तन (बन्दरगाह) तथा मन्दिरों की निगरानी रखना"।

प्रान्तीय शासन

मेगास्थनीज ने चन्द्रगुप्त की प्रान्तीय शासनव्यवस्था पर भी प्रकाश डाला है। प्रान्तीयशासन के अधिकारियों को वह अग्रोनोमोई लिखता है। इन अधिकारियों के जिम्मे नदियों की देखरेख, भूमि-मापन तथा नहरों में से उनकी शाखाओं द्वारा सिचाई को नियंत्रित करने का काम था। मेगास्थनीज उन अधिकारियों का भी उल्लेख करता है, जो खेती, जंगल, इमारती लकड़ी, धातु की भट्टियां, खदानों तथा सड़कों की देखरेख करते थे।

जानपदजन की साधना का फल

चन्द्रगुप्त के समय के भारत की यह विदेशियों की दृष्टि से देखी गयी एक झाँकी है। निश्चय ही यह चित्र पूरा नहीं है। जिन वस्तुओं ने इन विदेशियों को आकर्षित किया उसका वर्णन इनने कर दिया। विष्णुगुप्त कौटिल्य तथा तत्कालीन भारतीय साहित्य की पृष्ठ-भूमि में रखकर यदि इन वर्णनों को देखा जाए तो तत्कालीन समाज का अत्यन्त भव्य और समग्र रूप हमारे सामने आता है। निश्चय ही यह चन्द्रगुप्त की ही कृति नहीं थी, इसके पीछे भारतवर्ष की जनता का हजारों वर्ष के समाजसंगठन का प्रयास था और भारत-वसुन्धरा की अन्न, वस्त्र तथा मेगास्थनीज के शब्दों में, पवित्र वायु और स्वच्छ जल का प्रभाव था, जिसके कारण ईसवी सातवीं-आठवीं शताब्दी का एक अरब यात्री भी बगदाद के खलीफा द्वारा भारत के विषय में पूछे जाने पर कह उठा था "भारत की नदियाँ मोती की हैं, पहाड़ सोने के और पेड़ इत्र के"। भारत का यह रूप यहाँ के जानपदजन, पौरजन, व्यापारी, युद्धजीवी और दार्शनिकों के सामूहिक प्रयास से बना था।

बिन्दुसार अमित्रघात और अशोकवर्धन

बिन्दुसार

लगभग ईसा पूर्व सन ३०० में चन्द्रगुप्तमौर्य के पश्चात् बिन्दुसार सम्राट हुआ। इसका विरुद अमित्रघात, अर्थात् शत्रुओं का दमन करनेवाला था। तिब्बती इतिहासज्ञ तारानाथ ने ईसवी सोलहवीं शताब्दी में लिखे गये अपने इतिहास में लिखा है कि बिन्दुसार ने अपने मंत्री चाणक्य की सहायता से सोलह राज्यों पर विजय प्राप्त की और इन सोलह राजाओं तथा उनके मंत्रियों को मारकर अपने राज्य को एक समुद्र से दूसरे समुद्र तक विस्तृत किया।

राज्यविस्तार

सम्राट अशोक की राज्यसीमाएँ उनके शिलालेखों के स्थानों से निश्चित रूप से ज्ञात हैं। अशोक ने केवल कलिंग विजय की थी। अतएव कलिंग के अतिरिक्त अशोक के साम्राज्य के सभी प्रदेश या तो चन्द्रगुप्त मौर्य ने जीते होंगे या फिर बिन्दुसार ने। चन्द्रगुप्त के जीवनकाल में जो घटनाएँ हुई, जिनके कारण वह एक दरिद्र क्षत्रिय की स्थिति से उठकर सौराष्ट्र, सिन्ध तथा पंजाब से यूनानियों का मूलोच्छेदन कर सका, नन्दों को पराजित कर सका, सेल्यूकस को विमुख कर सका एवं उत्तरभारत के अधिकांश भाग को जीत सका, वे उसके जीवनकाल के लिए पर्याप्त थीं। तारानाथ के १६ राजाओं के जीतने के उल्लेख के अतिरिक्त और भी बहुत प्राचीन उल्लेख बुद्धघोष का है। समन्तपासादिका में उसने लिखा है कि अपने युवराजकाल में अशोक ने अवन्ति को जीतकर बिन्दुसार के साम्राज्य में सम्मिलित किया था। अतः यह कहा जा सकता है कि बिन्दुसार के समय से पहले अवन्ति महाजनपद तथा दक्षिण के अनेक राज्य मौर्यसाम्राज्य की सीमा में सम्मिलित नहीं थे। अवन्ति और माहिष्मती को जीत लेने के पश्चात् ही बिन्दुसार की सेनाएँ दक्षिण में जा सकी थीं, जहाँ से वे महाराष्ट्र होती हुई आन्ध्र की ओर गयी थीं। तमिल के पहली-दूसरी शताब्दी के ऐतिहासिक काव्यों में वर्णन है कि बम्बमोरिया, अर्थात् नवोत्थित मौर्यों की सेनाएँ कोंकण से कर्नाटकतट के साथ-साथ उसके दक्षिणी अंश, तुलुप्रदेश होते हुए दक्खिन-पूरब चोलदेश आईं तथा उनका एक शाखा ने पालनी पहाड़ियाँ लाँघकर मदुरा के दक्खिन-पश्चिम पाण्ड्य देश के पोदृयील पर्वत को लेलिया। वे अनेक पहाड़ों में से रास्ते काटते और पहाड़ों के ढेलों पर अपने रथ दौड़ाते हुए आए थे[1]। चन्द्रगुप्त और

---

१. कृष्णस्वामी आयंगर : दि बिगनिंग्स ऑफ साउथ इण्डियन हिस्ट्री।

बिन्दुसार की राजसीमा में काश्मीर भी नहीं था। आगे वह अशोक ने अपने साम्राज्य में सम्मिलित किया था।

तक्षशिला में विद्रोह

बिन्दुसार के राज्य में तक्षशिला में दो बार विद्रोह हुआ। पहली बार इस विद्रोह के शमन को बिन्दुसार ने अशोक को भेजा। जब अशोक तक्षशिला पहुँचा तो तक्षशिला के पौरजन ने नगर को सजाया और पूर्णघट लेकर साढ़ेतीन योजन आगे उसकी सेवा में आगये और कहा, "हम न तो कुमार के विरुद्ध हैं और न राजा बिन्दुसार के; परन्तु दुष्ट अमात्य हमारा परिभव करते हैं"। इसके पश्चात् उसे वे बड़े सत्कार के साथ नगर में ले गये। तक्षशिला में आगे फिर एक बार विद्रोह हुआ था। उसे दबाने के लिए दूसरे राजकुमार सुसीम को भेजा गया; परन्तु वह विद्रोह शमन न कर सका। पुनः कुमार अशोक को तक्षशिला जाने को कहा गया; परन्तु इसी बीच बिन्दुसार की मृत्यु होगयी।

बिन्दुसार के विदेशों से सम्बन्ध

बिन्दुसार अपने प्रतापी पिता से कम नहीं था। उसने पिता के साम्राज्य को दूना कर लिया और कलिंग के अतिरिक्त उस समस्त मौर्यसाम्राज्य को अपने अधिकार में कर लिया जो अशोक के अधीन था। उसका कुमार अशोक उसे इसके लिए परम सहायक मिल गया था। बिन्दुसार के विदेशीराष्ट्रों से सम्बन्ध भी अच्छे बने रहे। उसके समय में पश्चिमी-एशिया में सेल्यूकस के पश्चात् एण्टियोकस सोटर राज्य कर रहा था। उसने मेगास्थनीज के स्थान पर डायमेकस को अपना राजदूत बनाकर पाटलिपुत्र भेजा। मिश्र में उस समय फिलाडेल्फस टालेमी राज्य कर रहा था। उसने भी डायोनिसियस नामक राजदूत पाटलिपुत्र भेजा था। डायोनिसियस ने मेगास्थनीज की तरह भारत का हाल लिखा था; परन्तु वह अप्राप्य होगया है।

दार्शनिक, अंजीर और मधु

प्राचीन यूनानी लेखकों ने बिन्दुसार के विषय में अनेक बातें लिखी हैं। वे उसे एमित्रेचेटस (अमित्रघात) लिखते हैं। उसके विषय में एक मनोरंजक कथा इन यूनानी-लेखकों ने लिखी है। एकबार बिन्दुसार ने एण्टियोकस को लिखा कि वह उसके लिए एक दार्शनिक, कुछ अंजीर तथा कुछ अंगूरी मधु (शराब) खरीद कर भेज दे। अंजीर और मधु तो भेज दिये गये; परन्तु एण्टियोकस ने लिख भेजा कि उसके देश के कानून के अनुसार दार्शनिक बेचे नहीं जा सकते।

चाणक्य की मृत्यु

तारानाथ के अनुसार चाणक्य का देहान्त बिन्दुसार के राज्यकाल में हुआ। बौद्ध-ग्रन्थ दिव्यावदान के अनुसार बिन्दुसार का मंत्री—अग्रअमात्य राधगुप्त था। यह चाणक्य की मृत्यु के उपरान्त ही मंत्री बना होगा।

सिंहासन के लिए संघर्ष

सम्राट बिन्दुसार ने अनेक विवाह किये थे। उनका एक विवाह चम्पा नगर की एक अतीव सुन्दर ब्राह्मणकन्या से भी हुआ था। इस ब्राह्मणकन्या से अशोक का जन्म हुआ

था। वह दु:स्पर्शगात्र था, अर्थात् उसे स्पर्श करने से सुख नहीं मिलता था। अतएव उसको पिता का प्रेम प्राप्त नहीं था। परन्तु अपने प्रबल प्रताप और प्रचण्ड पराक्रम का परिचय वह बिन्दुसार के शासनकाल में ही दे चुका था। तक्षशिला का विद्रोह वह दबा चुका था और अवन्ति को जीतकर दक्षिणापथ की विजय का द्वार उन्मुक्त कर चुका था। दक्षिण-विजय के दो ही मार्ग थे, एक तो कलिंग में होकर और दूसरा कौशाम्बी या मथुरा से पद्मावती, विदिशा, उज्जयिनी तथा माहिष्मती होकर। कलिंग का मार्ग अवरुद्ध था, क्योंकि वह राज्य नन्दों के समय में ही स्वतन्त्र होचुका था और अपना प्रबल सैन्यसंगठन किये था। अतएव दक्षिणापथ की विजय का श्रेय अशोकवर्धन के अवन्ति के ग्यारह वर्ष के शासन को ही हो सकता है। इस प्रबल पराक्रम के कारण वह चण्डाशोक कहलाने लगा था। बिन्दुसार के अन्य रानियों से १०० या ९९ पुत्र कहे जाते हैं। इनमें सुसीम सबसे बड़ा था।

भाइयों से युद्ध

बिन्दुसार की मृत्यु ईसा पूर्व सन् २७३ में हुई, परन्तु अशोक का राज्याभिषेक चार वर्ष पश्चात् ईसा पूर्व सन् २६९ में हुआ और अभिषेक के वर्ष से ही उसका चलाया हुआ मौर्यसंवत् प्रारम्भ होता है। इन चार वर्षों में क्या हुआ, इसकी कुछ झलक बौद्धग्रन्थ महावंश और दिव्यावदान में मिलती है। उनके अनुसार अशोकवर्धन को राज्य पाने के लिए अपने भाइयों से संघर्ष करना पड़ा। महावंश लिखता है, "बिन्दुसार के सोलह रानियाँ थीं और एकसौ पुत्र थे। इन पुत्रों में सुमन सबसे बड़ा और तिष्य सबसे छोटा था। अशोक ने विमाताओं से उत्पन्न सब भाइयों को मारकर अपना राज्य प्राप्त किया[1]"। दिव्यावदान में भी अशोक और उसके भाई सुसीम का सिंहासन के लिए हुए युद्ध का वर्णन किया गया है। ज्ञात यह होता है कि जब अशोक उज्जयिनी में कुमारामात्य था तब बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् सुसीम राजा बन गया और उसके साथ अशोक का युद्ध हुआ। यह स्पष्ट है कि अशोक के सब भाई उसके द्वारा समाप्त नहीं किये गये थे; क्योंकि आगे अपने शिलालेखों में अशोक ने अपने कुछ भाइयों और बहनों का उल्लेख किया है।

चण्डाशोक की कलिंगविजय

अशोक के राज्यकाल की ज्ञात राजनीतिक घटनाओं में उसकी कलिंगविजय प्रधान है। अपने अभिषेक के नवें वर्ष तथा बिन्दुसार की मृत्यु के तेरहवें वर्ष अशोक ने कलिंग पर आक्रमण किया। नन्दों से स्वतन्त्र होकर कलिंग अत्यन्त शक्तिशाली बन गया था। मेगास्थनीज के अनुसार कलिंग के राजा के पास ६० हजार पैदल, १,००० घुड़सवार और ७०० हाथी थे। अशोक ने भी बड़ी तैयारी के साथ कलिंग पर आक्रमण किया और कलिंग की भीषण पराजय हुई। यह युद्ध अत्यन्त भयंकर हुआ था। इसका वर्णन स्वयं अशोक ने एक शिलालेख में किया है। उसने लिखा है, "राज्याभिषेक के आठ वर्ष बाद देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने कलिंगदेश को विजय किया। यहाँ डेढ़ लाख मनुष्य कैद किये गये, एक लाख मनुष्य मारे गये और इसके कई गुने (महामारी आदि से) मरे। ....कलिंगों को जीतनेवाले देवताओं के प्रिय को बड़ा पछतावा होता है; क्योंकि जहाँ

१. महावंश ५।१४ तथा १८।२०।

लोगों का वध, मरण या देशनिकाला हो, उस देश को मैं जीत कर भी नहीं जीता हुआ मानता हूँ।.......वहाँ सर्वत्र ब्राह्मण, श्रमण तथा दूसरे धर्मवाले और गृहस्थ रहते हैं। जिनमें सबसे पहले भरण-पोषण विहित है, जिनमें माता-पिता की शुश्रषा, गुरू की शुश्रूषा, मित्र, परिचित, सहायक, सम्बन्धी तथा नौकर-चाकरों का उचित आदर और उनकी ओर से दृढ़ भक्ति का विधान है, ऐसे लोगों का वहाँ घात या वध, सुख से रहते हुओं का देश निकाला होता है। जिन सुव्यवस्थित लोगों का स्नेह नहीं घटा है, उनके मित्रों, परिचितों, सहायकों तथा कुटुम्बियों को दुःख होता है[1]"।

इससे ज्ञात होता है कि कलिंग में भीषण नरसंहार हुआ था और न केवल सैनिक मारे गये थे, वरन् प्रजा का भी उत्पीड़न हुआ था।

काश्मीरविजय

कल्हण की राजतरंगिणी[2] से ज्ञात होता है कि अशोक ने काश्मीर को भी जीता था। कल्हण लिखता है, "इसके बाद अशोक नामक नृपति ने वसुन्धरा पर शासन किया। यह राजा बहुत ही शान्त और सत्यसन्ध था, 'जिन' के धर्म का अनुसरण करनेवाला था। इसने जेहलम नदी के तटों को स्तूपमंडलों द्वारा आच्छादित कर दिया और धर्मार्थ अनेक विहारों का निर्माण किया। इसने 'श्रीनगर' नामक नगरी को बसाया, जिसमें कि ९६ लाख लक्ष्मी से युक्त घर विद्यमान थे। श्रीविजयेश के टूटे-फूटे किले को हटाकर उसके स्थान पर इस राजा ने सब दोषों से रहित विशुद्ध पत्थरों का एक विशाल किला बनवाया और समीप ही एक बहुत बड़ा महल बनवाया, जिसका नाम अशोकेश्वर रक्खा गया"।

कल्हण ने अशोक के पहले जिन राजाओं का वर्णन किया है वे मौर्य वंश के नहीं हैं। उनके पश्चात् ही अशोक सम्बन्धी यह विवरण है। राजतरंगिणी में अशोक के पहले बिन्दुसार अथवा चन्द्रगुप्त को काश्मीर का राजा नहीं लिखा है, परन्तु अशोक के बाद उसके पुत्र जालौक[3] के राज्य का वर्णन किया है। ज्ञात यह होता है कि काश्मीर की विजय करने के पश्चात् जालौक को काश्मीर का कुमारामात्य (प्रान्तीय शासक) बना दिया, जो अशोक की मृत्यु के पश्चात स्वतन्त्र राजा बन गया।

तक्षशिला

जैसा पहले कहा जा चुका है, बिन्दुसार के समय में ही तक्षशिला में वहाँ के अमात्य के अत्याचारों से पीड़ित होकर विद्रोह हुआ था। मौर्यों के इस सुदूर प्रदेश के स्थानीय शासक तथा वहाँ के पौरजन की बनती नहीं थी। तक्षशिला में पुनः विद्रोह हुआ। सम्राट अशोक स्वयं इस विद्रोह का दमन करने के लिए जाना चाहते थे, परन्तु अमात्यों ने उन्हें रोक दिया और अशोक के पुत्र कुणाल को तक्षशिला के विद्रोह को दबाने के लिए भेजा। तक्षशिला के पौरजनों ने पुनः कुणाल का उसी प्रकार स्वागत किया जैसे पहले अशोक

---

१. अशोक की धर्मलिपियाँ, पृष्ठ १६१।

२. प्रथम तरंग, १०१ से १०६ श्लोक तक।

३. राजतरंगिणी, प्रथम तरंग, १२७ से ११५ श्लोक तक।

का किया था, और स्थानीय अमात्यों के दुर्व्यवहार की शिकायत की। कुणाल तक्षशिला में बहुत लोकप्रिय हुआ और दिव्यावदान के शब्दों में वह 'वहाँ के पौरजनपदों का बहुत अनुरक्त हो गया'।

कुणाल के तक्षशिलाशासन के समय में एक अत्यन्त दुःखद घटना हुई। कुणाल अत्यन्त सुन्दर था, उसकी आँखें हिमालय के कुणाल पक्षी के समान सुन्दर थीं, इसी कारण उसका नाम कुणाल रखा गया था। अशोक ने वृद्धावस्था में तिष्यरक्षिता नाम की स्त्री से विवाह किया। तिष्यरक्षिता युवक कुणाल पर अनुरक्त होगयी। परन्तु कुणाल ने अपनी विमाता के विपथ प्रस्ताव को अस्वीकृत किया। तिष्यरक्षिता उससे क्रुद्ध होगयी। जब कुणाल तक्षशिला में था तब अशोक बीमार हुए। तिष्यरक्षिता ने उनकी बहुत अधिक सेवा की और कुणाल से अपने वैर का बदला निकाल लेने का अवसर प्राप्त कर लिया। उसने एक कपटलेख तयार किया और उसपर अशोक की मुद्रा अंकित कर दी। इस कपटलेख में तक्षशिला के पौरजनों को यह आदेश था कि वे कुणाल की आँखें निकाल लें। पौरजन कुणाल से बहुत स्नेह करते थे। परन्तु जब उनने यह आज्ञा कुणाल को दिखलाई तो उसने स्वयं राजाज्ञा का पालन किया और अपनी आँखें निकलवा दीं। कुणाल अपनी पत्नी कंचनमाला के साथ पाटलिपुत्र लौट आया। जब अशोक को इस घटना का पता लगा तो उसने तिष्यरक्षिता को जीवित जलवा दिया तथा उन अधिकारियों को जो इस षडयंत्र में थे मृत्युदण्ड दिया या निर्वासित कर दिया। तक्षशिला में जिस स्थान पर कुणाल ने अपनी आँखें निकलवाई थीं वहाँ एक विशाल स्तूप बनवाया गया, जो युवान्-च्वाङ की यात्रा के समय तक मौजूद था।

अशोक का साम्राज्य

साम्राज्यसीमा

अशोक के पूर्व के मौर्यसम्राटों अथवा दूसरे वंश के साम्राज्यों की सीमा निश्चय-पूर्वक निर्धारित करना कठिन है, परन्तु अशोक ने अपने अभिलेखों द्वारा अपने विस्तृत साम्राज्य की सीमाओं का बहुत कुछ सुनिश्चित रूप प्रस्तुत कर दिया है। इन अभिलेखों में स्थानीय अधिकारियों तथा जनता को आदेश दिये गये हैं, अतएव जहाँ-जहाँ वे मिले हैं वहाँ तक अशोक की साम्राज्यसीमा होने का अनुमान किया जाता है। उसके चौदह प्रधान शिलालेखों की दो प्रतियाँ उत्तर-पश्चिम सीमान्त में शाहबाजगढ़ी (तहसील युसुफजाई, जिला पेशावर) तथा मनसेहरा (जिला हजारा) में मिली हैं। एक उत्तर में कालसी (जिला देहरादून) में मिली है, चौथी काठियावाड़ में गिरनार पर मिली है, पाँचवीं बम्बई राज्य के ठाना जिले में सोपारा में मिली है, छठी पुरी जिले में धौली में मिली है, सातवीं उड़ीसा के गंजाम जिले में जौगड़ा नामक स्थान पर मिली है, आठवीं आन्ध्र के कुर्नूल जिले में यरागुड़ी में मिली है, एक तक्षशिला में प्राप्त हुई है तथा एक पूर्वी अफगानिस्तान में जलालाबाद में मिली है।

लघुशिलालेखों की तीन प्रतियाँ उत्तरी मैसूर के सिद्धपुर, जतिंग, रामेश्वर और ब्रह्मगिरि नामक स्थानों पर मिली हैं। देश के भीतरी भाग में लघु शिलालेख रूपनाथ (जबलपुर) पर, वैराट (राजस्थान), में दो, एक भीम की डूंगरी के नीचे और दूसरा बीजक पहाड़ पर, सहसराम (शाहाबाद-बिहार), मक्सी (रायचूर), गाभीमठ एवं पालकी बिन्दु (दक्षिण हैदराबाद), येरागुड़ी (मद्रास का कर्नूल जिला) और गुजर्रा (दतिया) पर मिले हैं।

अशोक के स्तम्भलेख एक तो उन स्थानों पर मिले हैं जो बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित हैं तथा कुछ उन स्थानों पर जहाँ अशोक ने अपनी धर्मयात्रा की थी। ये स्तम्भलेख लौड़िया, अरराज, रामपुरवा, नन्दनगढ़ तथा निगलीवा पर प्राप्त हुए हैं। कुछ स्तम्भ अम्बाला और मेरठ जिले में, इलाहाबाद (जिस पर कौशाम्बी का नाम है) तथा सारनाथ और साँची में मिले हैं।

इन शिलालेखों के विस्तार से ही अशोक के साम्राज्य का अनुमान किया जा सकता है, और इन शिलालेखों के अन्तर्साक्ष्य से भी उसके साम्राज्य की सीमा का पता लगता है। अशोक ने अपने शिलालेखों में जिन पड़ोसी राज्यों का उल्लेख किया है उनमें दक्षिण में चोल, पाण्ड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र तथा ताम्रपर्णी को गिनाया है। इससे यह ज्ञात होता है कि दक्षिण भारत में अशोक के साम्राज्य की सीमा कावेरी नदी तक थी। उत्तर-पश्चिम

में पड़ोसी राज्यों में अन्तिओक का उल्लेख है। अन्तिओक की राज्यसीमा पश्चिम में हिरात तक थी, अतएव अनुमान यह होता है कि सेल्यूकस ने जो प्रदेश चन्द्रगुप्त को दिये थे वे अशोक के राज्य की सीमा में थे। इस प्रकार अशोक का साम्राज्य पूर्वी अफगानिस्तान से बंगाल की खाड़ी तक और काश्मीर से कावेरी नदी तक फैला हुआ था। यह स्मरणीय है कि अशोक के राज्य में राजतरंगिणी के अनुसार काश्मीर भी सम्मिलित था।

शासन-व्यवस्था

पाटलिपुत्र में स्वयं सम्राट समस्त साम्राज्य तथा भारत के पूर्वी भाग का शासनतंत्र देखते थे। यहाँ उनकी सहायता के लिए एक उपराज रहता था। सम्भवतः उसका भाई तिस्स उपराज था। सम्राट का प्रधान मंत्री अथवा अग्रामात्य भी शासन में सहायता करता था। राधगुप्त के अग्रामात्य होने का उल्लेख मिलता है। अनेक अमात्यों और महामात्यों तथा मंत्रिपरिषद की सहायता से सम्राट शासनतंत्र का संचालन करता था।

प्रान्तीय शासन

पाटलिपुत्र के अतिरिक्त चार ऐसी प्रान्तीय उपराजधानियों का उल्लेख अशोक के शिलालेखों में मिलता है जहाँ युवराज शासन-भार सँभाले हुए थे। तक्षशिला, उज्जयिनी, सुवर्णगिरि और तोषाली चार राजधानियाँ ऐसी थीं जहाँ कुमारामात्य नियुक्त थे। तक्षशिला में युवराज कुणाल शासन करते थे। पहले तक्षशिला के पौरजन दोबार विद्रोह कर चुके थे, परन्तु कुणाल वहाँ अत्यन्त लोकप्रिय हो गये थे। कुणाल द्वारा खोतान में बौद्ध धर्म का प्रचार किया जाना बौद्ध अनुश्रुति बतलाती है। वे यही कुणाल ज्ञात होते हैं, जिन्हें फाहियान ने 'धर्मवर्द्धन'[1] के नाम से सम्बोधित किया है।

तुषाली नवविजित कलिंग की उपराजधानी थी। यहाँ भी किसी राजकुमार को कुमारामात्य बनाया गया था। पराजित हो जाने के पश्चात् भी कलिंग में असन्तोष और विद्रोह की भावना का पूर्ण शमन न हो सका। उसके विक्षोभ को कम करने के आशय से ही अशोक ने लिखा था कि जो नरहत्या तथा निष्कासन कलिंगविजय के समय हुए थे उनका हजारवाँ भाग भी उसके लिए दुखदायी होता[2]। अपने कलिंग के शिलालेख में अपने अमात्यों को आदेश देते हुए अशोक ने लिखा है कि वे इस प्रदेश के निवासियों में सम्राट के प्रति विश्वास उत्पन्न करें और यह भावना जाग्रत करें कि राजा उनके पिता के समान है, वह उन्हें उतना ही प्रेम करता है जितना स्वयं को करता है[3]।

सुवर्णगिरि

यहाँ भी एक कुमारामात्य थे, ऐसा प्रथम लघु शिलालेख से प्रकट होता है। यह सुवर्णगिरि इतिहासज्ञों ने दक्षिण भारत में हैदराबाद के पास रायचूर जिले में स्थित कनकगिरि को माना है। हमारे मत में यह अनुमान निराधार है। अपने तेरहवें प्रधान शिलालेख[4]

---

१. जगन्मोहन वर्मा : फाहियान, पृष्ठ १९।

२. अशोक की धर्मलिपियाँ, पृष्ठ १६१ (तेरहवाँ प्रधान शिलालेख)।

३. प्रथम कलिंग लेख।

४. अशोक की धर्मलिपियाँ, पृष्ठ १६२।

में जिन भोजों, पैठनिकों, अन्ध्र, पुलिन्द आदि का उल्लेख किया गया है, वे उसकी साम्राज्य की सीमाओं में ही थे, यह पाँचवें प्रधान शिलालेख से और भी स्पष्ट हो जाता है। ये जनपद केन्द्रीय शासन की आधीनता स्वीकार करते थे, परन्तु आन्तरिक प्रशासन में बहुत कुछ स्वतन्त्र ज्ञात होते हैं। इनके राज्यों में धर्मप्रचार के लिए धर्ममहामात्र नियुक्त किये गये थे[1] और उन्हें सफलता मिलने पर उसने सन्तोष के साथ लिखा, "यहाँ विष, वृजि, यवन, कम्बोज, नाभितियों, भोजों, पैठनिकों, अन्ध्र, पुलिन्द आदि सबके देशों में देवताओं के प्रिय का धर्मानुशासन माना जाता है[2]"। पैठनिक, अन्ध्र और पुलिन्दों के देश में विन्ध्याचल के दक्षिण का वह सभी भाग आ जाता है जहाँ तक अशोक के साम्राज्य की सीमा थी। ऐसी दशा में वर्त्तमान रायचूर जिले में जहाँ कनकगिरि स्थित है वहाँ कुमारामात्य की उपराजधानी की कल्पना सुसंगत प्रतीत नहीं होती। दक्षिणापथ के इन राजाओं से राजनैतिक सम्बन्ध उज्जयिनी तथा कलिंग में तुषाली से नियंत्रित होते होंगे। ये प्रदेश पाटलिपुत्र के सीधे अधिकार में न होकर विजित[3] देश थे।

अतएव सुवर्णगिरि का सम्भाव्य स्थान उत्तर भारत में होना चाहिए। मथुरा, विदिशा और उज्जयिनी अशोक के समय में उसके धर्मप्रचार के तथा राजनीति के प्रधान केन्द्र थे। आगे कौशाम्बी में भी विशाल बौद्धसंघ था ही। तुषाली का कुमारामात्य और पाटलिपुत्र का तंत्र सोन के पूर्वी भाग का शासनतंत्र चला सकते होंगे। अरावली के पश्चिम मरुभूमि और गुजरात के लिए गिरिनगर—गिरनार—में एक स्थानीय शासक था। ऐसी दशा में अरावली के पश्चिम और सोन के पूर्व, एवं मथुरा के दक्षिण तथा विदिशा के उत्तर के प्रदेश के नियंत्रण के लिए किसी उपराजधानी का होना संभाव्य है। इस प्रदेश की अधिक खोज-बीन अभी नहीं हुई है। इसी कारण हाल ही में दतिया के पास गुजर्रा ग्राम में अशोक का शिलालेख प्राप्त हो सका है। इस प्रदेश में उस समय आटव्य और बनवासी रहते थे, जिनकी स्वातंत्र्य भावना समाप्त न की जा सकी थी। हमारा अनुमान है कि यह सुवर्णगिरि तथा इसिला, जिसका उल्लेख प्रथम लघुशिलालेख में है, इसी प्रदेश में होना चाहिए। सम्भावना यह है कि सुवर्णगिरि वर्त्तमान सोनागिर (दतिया के पास) हो। इस विषय में दृढ़तापूर्वक कुछ कह सकने के लिए अभी हमारे पास आधार नहीं है, यहाँ यह लिखना पर्याप्त होगा कि आगे जहाँ नाग पुनः प्रबल हुए थे वह क्षेत्र मथुरा से दक्षिण में था, जिसमें कान्तिपुरी (वर्त्तमान मुरैना का कुतवार) और पद्मावती (पवाया) उनके प्रधान केन्द्र थे। उनके लिए ही सुवर्णगिरि के कुमारामात्य तथा उच्चाधिकारियों के प्रतिवेदन करने पर इसिला के अधिकारियों को अशोक ने २५६ भिक्षुओं के व्यूथ द्वारा समारोहपूर्वक यह सन्देश भिजवाया था कि "ढाई वर्ष से अधिक समय से स्वयं सम्राट बौद्ध-उपासक बन गये हैं और एक वर्ष से वे संघ में सम्मिलित हो गये हैं और इस बीच भारत की जनता जो देवताओं (बौद्ध देवताओं) को नहीं मानती थी, उन्हें मानने लगी है। अतएव छोटे तथा बड़े सभी

१. अशोक की धर्मलिपियाँ, पृष्ठ ५१।

२. वही, पृष्ठ १६२।

३. वही, पृष्ठ ५२।

इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रयास करें" और "यह उद्देश्य संपन्न होगा, कम-से-कम आधा तो सम्पन्न होगा ही"। शब्द अस्पष्ट हैं, फिर भी बहुत सार्थक हैं और इस प्रदेश की राजनैतिक तथा धार्मिक स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं।

इन चार उपराजधानियों के अतिरिक्त भी अन्य क्षेत्रीय शासक "राष्ट्रीय" थे। सौराष्ट्र में गिरिनार पर चन्द्रगुप्त के समय में पुष्यगुप्त नामक स्थानीय शासक था और अशोक के समय में तुषास्प राष्ट्रीय अथवा स्थानीय शासक था, यह रुद्रदामन के जूनागढ़ शिलालेख से ज्ञात होता है।

अधिकारीवर्ग

अशोक के शिलालेखों से उसके शासनतंत्र का पूर्ण रूप ज्ञात नहीं होता, हो भी नहीं सकता; क्योंकि उनका उद्देश्य दूसरा था। उसमें प्रसगवश जो उल्लेख आए हैं उनके आधार पर ही कुछ जाना जा सकता है। इन स्थानीय शासकों की सहायता के लिए भी परिषदें थीं, ऐसा प्रकट होता है। प्रादेशिक रज्जुक तथा युक्त नामक अधिकारियों का भी उल्लेख मिलता है[1]। इनका काम जीते हुए प्रदेश में जाकर कर वसूल करना आदि था। अशोक ने इन्हें धर्मानुशासन के कामों के लिए दौरा करने का भी आदेश दे दिया था। उनके अतिरिक्त धर्ममहामात्र अशोक ने अपने समय में ही नये नियुक्त किये थे, जिनका कार्य साम्राज्य में तथा उसके बाहर धर्मप्रचार करना आदि था। एक स्त्री अध्यक्षक महामात्र के पद का भी उल्लेख मिलता है जो 'पाटलिपुत्र में तथा बाहर के सब नगरों में मेरे तथा मेरे भाई-बहनों के महलों तथा दूसरे सम्बन्धियों के लिए' नियुक्त थे[2]।

व्रजभूमि नामक एक पदाधिकारी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। सड़कों की देखभाल, उन पर वृक्ष लगवाना, मार्गों पर जल की व्यवस्था, उद्यानादि का प्रबन्ध उसके जिम्मे था।

अनुसमयान या तबादले

तक्षशिला में दोबार विद्रोह हुआ था और दोनों बार पौरजनों ने स्थानीय अमात्यों के दुर्व्यवहार की शिकायत की थी। संभवतः इसी कारण तुषाली और अन्य प्रादेशिक अधिकारियों को प्रजा के प्रति सद्व्यवहार करने तथा न्याय करने का आदेश अशोक को देना पड़ा था। उसने लिखा है कि यदि किसी व्यक्ति को बिना किसी कारण के बन्दी किया जाता है या उसे क्लेश दिया जाता है तो दूसरे व्यक्ति भी दुखी होते हैं, अतः राजा के दिये हुए आदेशों को जागरूकता से पालन करना आवश्यक है। उसने यह भी व्यवस्था की थी कि वह प्रति पाँचवें वर्ष उसकी नीति में दक्ष तथा सम्मत स्वभाव के अधिकारी भेजा करेगा, जो उसके अभिप्राय को समझकर उसे क्रियान्वित करेंगे। उज्जयिनी तथा तक्षशिला के लिए यह आदेश दिया गया था कि वहाँ के अधिकारी कुमारामात्यों द्वारा पाँच वर्ष के स्थान पर प्रति तीसरे वर्ष बदले जाएँ[3]।

---

१. अशोक की धर्मलिपियाँ, पृष्ठ २२ (तीसरा प्रधान शिलालेख)।

२. वही, पृष्ठ ५२।

३. कलिंग लेख, दूसरा।

अशोक की सुशासन के लिए व्यग्रता

अशोक की सबके हित-सुख का ध्यान रखने की भावना में और अपनी प्रजा को सुशासन देने की इच्छा में बौद्ध धर्म के सम्पर्क ने तथा अहिंसा ने तीव्रता उत्पन्न करदी थी। उसके कुमारामात्यों और अन्याधिकारियों को दिये गये आदेश उसकी तीव्र और निरन्तर प्रयासशील भावना को प्रकट करते हैं। वह शासन में, जहाँ तक सम्भव हो, क्रूरता हटा देना चाहता था। जिन नवविजित प्रदेशों अथवा अटवियों में उसके अनुशासन के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण का भाव नहीं था वहाँ भी वह यथासम्भव क्षमा से काम लेता रहना चाहता था। चन्द्रगुप्त मौर्य शासनकार्य में अत्यधिक व्यस्त रहता था, यह हमें मेगास्थनीज ने बताया है। अशोक ने इस विषय में अपने एक शिलालेख में अपनी व्यस्त जीवनचर्या पर प्रकाश डाला है। प्रजा का कार्य किसी भी स्थिति में बन्द नहीं होना चाहिए और उनका प्रतिवेदन सदा राजा के पास पहुँचते रहना चाहिए। इस सम्बन्ध में उसने व्यवस्था की, "सब समय में—चाहे मैं खाता होऊँ, चाहे महल में होऊँ, चाहे निज महल में, चाहे टहलने में, चाहे लम्बी यात्रा में, चाहे बगीचे में, सर्वत्र प्रतिवेदक प्रजा के कार्य की मुझे सूचना दें। मैं सब जगह प्रजा का कार्य करूँगा ; क्योंकि उद्योग करने में और राजकार्य चलाने में मुझे सन्तोष नहीं होता[1]"।

पारिवारिक जीवन

अशोक के पारिवारिक जीवन के विषय में अधिक जानकारी नहीं है। बौद्ध अनुश्रुतियों तथा शिलालेखों में उसके कुछ उल्लेख मात्र मिलते हैं। विदिशा की वैश्य पुत्री देवी असंधिमित्रा तथा उससे उत्पन्न महेन्द्र तथा संघमित्रा का उल्लेख बौद्ध अनुश्रुतियों में मिलता है। कुमार तीवर की माता कारुवाकी का उल्लेख स्वयं अशोक ने अपने शिलालेख में किया है। तीवर संभवतः उसके जीवनकाल में ही मर गया था। अशोक के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि उसकी अनेक रानियाँ थीं और वे सभी पाटलिपुत्र में ही नहीं रहती थीं, उनके अन्तःपुर उपराजधानियों में भी थे। उसके कुछ भाइयों के अस्तित्व का प्रमाण भी शिलालेखों में मिलता है। अशोक के पुत्रों में महेन्द्र के अतिरिक्त हमें कुणाल तथा जालौक के नाम अन्य स्रोतों से ज्ञात होते हैं। कुणाल तक्षशिला में कुमारामात्य था तथा जालौक, राजतरंगिणी के अनुसार, काश्मीर पर शासन कर रहा था।

---

१. अशोक की धर्मलिपियाँ, पृष्ठ ६९-७० (छठा प्रधान शिलालेख)।

चण्डाशोक से धर्माशोक

कलिंगविजय के पूर्व

अपने युवराजकाल से ही अशोक ने अपने पराक्रम की धाक बैठा दी थी। उसने अपने पिता के लिए अवन्ति प्रदेश जीता और फिर दक्षिणापथ की विजय करके सोलह राजाओं को उसके अधीन कर दिया। चण्डप्रद्योत के चण्ड पराक्रम की गाथा उसे अवन्ति में ज्ञात थी, अतएव उसका नाम चण्डाशोक हुआ। तत्कालीन एकच्छत्र राजाओं के समान वह क्रूर और अत्याचारी भी था। पाटलिपुर और उज्जयिनी[1]. के उसके नरक-गृहों का उल्लेख बौद्ध ग्रन्थों में किया गया है। ये नरक-गृह वे भयंकर कारागार थे जिनमें अपराधी को बिना उसके अपराध पर विचार किये भेजकर समाप्त कर दिया जाता था।

नरक-गृह

युआन्-च्वाङ नामक चीनी यात्री ने इस नरक-गृह का वर्णन किया है। वह लिखता है कि "जब अशोक गद्दी पर बैठा तब वह बहुत ही क्रूर था। क्रूरतापूर्वक मनुष्यों के मारने के लिए ही उसने एक नरक का निर्माण कराया था। इसके चारों तरफ ऊँची दीवारें और विशाल दुर्ग बनवाए गये थे। इसके अन्दर मनुष्यों को कष्ट देने के लिए नानाविध साधन तयार किये गये थे। पिघली हुई धातुओं से परिपूर्ण भट्टियाँ बनी हुई थीं, अनेक तेज हथियार मौजूद थे। तात्पर्य यह कि प्राणियों के क्लेश के लिए सब तरह के सामान मौजूद थे। इस प्रकार नरक-गृह को तैयार कर अशोक ने एक क्रूर व्यक्ति को चुना और उसे इसका अध्यक्ष नियत किया[2]"। महावंश और दिव्यावदान में भी इसकी पुष्टि की गयी है।

इन क्रूरता की कहानियों को इतिहासज्ञ ठीक नहीं मानते। उनका तर्क यह है कि बौद्ध धर्म का महत्त्व दिखाने के लिए बौद्ध होने के पूर्व अशोक को क्रूर बताया गया है। परन्तु इसमें कुछ सत्य अवश्य होना चाहिए; क्योंकि अशोक ने अपने शिलालेखों में मृत्यु-दण्ड-प्राप्त व्यक्तियों को न्यायदान की व्यवस्था की थी। आठवें प्रधान शिलालेख में अशोक ने धर्ममहामात्र के कर्त्तव्यों में एक कर्त्तव्य यह निर्धारित किया है" वे (धर्ममहामात्र) कैद करने और प्राणदण्ड देने को नियंत्रित करने, बाधा को दूर क ने और छुड़ाने के लिए नियुक्त हैं"। यहाँ प्राण-दण्ड "सताकर मारने" के लिए प्रयुक्त है[3]।

---

१. बील : बुधिस्ट रिकॉर्डस् ऑफ दि वैस्टर्न वर्ल्ड, भाग १, पृष्ठ ८६-८८ तथा भाग २, पृष्ठ २७१।

२. वही।

३. अशोक की धर्मलिपियाँ, पृष्ठ ५२ (टिप्पणी)।

कलिंगविजय के पूर्व भी वह काश्मीरविजय कर चुका था, यह पहले लिखा जा चुका है। उस समय का सबसे अधिक शक्तिशाली और संगठित राज्य कलिंग भी अब उसके अधीन था। शिशुनाग, नन्द और चन्द्रगुप्त मौर्य को अपार लक्ष्मी तथा सुसंगठित सेना उसके अधीन थी। ग्यारह वर्ष उज्जयिनी के कुमारामात्य के रूप में, चार वर्ष अभिषेक होने के पूर्व तथा आठ वर्ष कलिंगविजय तक इस प्रकार तेईस वर्ष वह राज्य-संचालन से सम्बद्ध रह चुका था।

चण्डाशोक से धर्माशोक

कलिंगविजय में भीषण नरसंहार हुआ था। उसका अशोक के हृदय पर जो प्रभाव पड़ा था उसका वर्णन स्वयं अशोक ने अपने शिलालेख में किया है, जिसमें उसने लिखा है "जितने मनुष्य कलिंग-विजय के समय आहत हुए, मारे गये अथवा बाहर निकाले गये उनका सौवाँ अथवा हजारवाँ भाग भी यदि आहत होता, मारा जाता या निकाला जाता तो आज देवताओं के प्रिय को भारी दुःख देनेवाला होता[1]।" अतएव उसने निश्चय किया कि "जो धर्म की विजय है वही देवताओं के प्रिय की मुख्य विजय है।" और अपने उत्तराधिकारियों के लिए भी यह वसीयत करदी "इसीलिए मैंने यह धर्मलिपि लिखवाई कि जिसमें मेरे पुत्र और पौत्र शस्त्रों द्वारा प्राप्त की गयी नयी विजय को प्राप्त करने योग्य न समझें, शान्ति और लघुदण्डता में रुचि रखें और धर्म की विजय को ही विजय समझें; क्योंकि वह इस लोक और परलोक दोनों में लाभदायक होती है"।

इस परिवर्तन का कारण

कलिंगविजय के पाँचवें वर्ष अशोक ने अपने लघुशिलालेखों में लिखवाया, "देवताओं के प्रिय यह आदेश देते हैं कि ढाई वर्ष हुए कि मैं उपासक हुआ; पर मैंने अधिक पराक्रम (उद्योग) नहीं किया। किन्तु वर्ष से अधिक हुआ जब मैं संघ में आया हूँ तब से मैंने अच्छा पराक्रम किया है"। अतएव, कलिंगविजय के ढाई वर्ष पश्चात् अशोक बौध धर्म का उपासक बन गया था और चौथे वर्ष वह संघ को शरण में चला गया था। कलिंग-विजय के ढाई वर्ष के भीतर उस भीषण दृश्य ने परिणाम दिखाया जो अशोक ने कलिंगविजय के समय देखा था। इन तिथियों के अतिरिक्त अशोक ने अपने शिलालेखों में अपने धर्मपरिवर्तन अथवा दीक्षा देनेवाले किसी व्यक्ति के विषय में कुछ नहीं लिखा। परन्तु यह निश्चय है कि वह बौद्ध धर्म का अनुयायी इसी बीच हो गया था। बौद्ध अनुश्रुतियों में इस घटना का विशद वर्णन किया गया है। अशोक चण्डाशोक से धर्माशोक बना। धर्मप्रचार के लिए उसने 'पराक्रम' भी किये।

पराक्रम के तीन रूप

अशोक के धार्मिक क्षेत्र में किये गये उद्योगों का निरीक्षण करने पर उसके स्पष्टतः तीन रूप दिखाई देते हैं। पहला प्रयास तो वह धर्म-प्रचार है जो उसने अपने विस्तृत साम्राज्य में धर्म के सिद्धान्त फैलाने में किया। उसका दूसरा प्रयास बौद्ध धर्म के साम्प्रदायिक

---

१. अशोक की धर्मलिपियाँ, पृष्ठ १६१ (तेरहवाँ प्रधान शिलालेख)।

संगठन से सम्बन्ध रखता है। उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर संघ और भिक्षुओं को संगठित किया। उसका तीसरा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है विदेशी राज्यों में धर्म का प्रचार। इन तीनों कार्यों के स्पष्टतः तीन रूप हैं। जन-साधारण में जिस धर्म का प्रचार किया गया वह पारिभाषिक और संकुचित सम्प्रदाय नहीं है। बौद्ध धर्म के जीवन को श्रेष्ठ बनानेवाले सिद्धान्त (जो सभी धर्मों में समान रूप से मान्य थे) वह जन-साधारण में लोकप्रिय बनाना चाहता था और इस प्रकार परोक्ष रूप से वह बौद्ध धर्म के प्रति आस्था बढ़ाना चाहता था। जोर-जबरदस्ती से बौद्ध धर्म को जनता पर लादने का उसने प्रयास नहीं किया और न यह संभव ही था। ब्राह्मणों, जैनों और अन्य सम्प्रदायों के अनुयायियों की शक्ति से वह अपरिचित नहीं था। अशोक ने बौद्ध संघ के संगठन के सम्बन्ध में प्रयास किये वे इस कारण महत्त्वपूर्ण थे कि उनके परिणामस्वरूप ही अनेक भिक्षुओं की टोलियाँ विदेशों में प्रचार के लिए निकलीं और वह विश्व-इतिहास की एक घटना बन गयी।

अशोक का धर्म मंगल

अशोक अपनी प्रजा से किस धर्म के पालन की अपेक्षा करता था यह भी उसने अपने शिलालेखों में स्पष्ट कर दिया है। वास्तव में ये नियम सभी सम्प्रदायों के ऐसे तत्त्व थे जो जनता के व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन को उन्नत करनेवाले थे। उसने लिखा है कि "जिसका जैसा विश्वास हो और जिसका जो धर्म हो उस पर तो वह आचरण करे ही; परन्तु साथ ही वह बड़ा फल देनेवाले 'धर्ममंगल' का अवश्य पालन करे। इस धर्ममंगल की परिभाषा अशोक ने की है। इसके तत्त्व हैं, 'दास और नौकरों से उचित व्यवहार, गुरुजनों की पूजा, प्राणों (इन्द्रिय) का संयम तथा श्रमणों और ब्राह्मणों को 'दान' एक दूसरे अभिलेख में अपने इस धर्म के और तत्त्वों को बतलाते हुए अशोक ने लिखा है, 'पिता और माता की आज्ञा माननी चाहिए, समस्त जीवधारियों पर अनुग्रह करना चाहिए और केवल सत्य बोलना चाहिए। विद्यार्थियों को अपने गुरू की भक्ति करनी चाहिए तथा सम्बन्धियों के प्रति समुचित आदर-भावना दिखाना चाहिए[१]'।

निषेधात्मक आदेश

निषेधात्मक रूप में अशोक के धर्ममंगल का तत्त्व भी उसके अभिलेखों में मिलता है। वह लिखता है कि जीवों की हिंसा नहीं करनी चाहिए, न यज्ञ या पूजा के लिए और न साधारणतः। इसके लिए उसने विशेष आदेश भी निकाले थे और कुछ जीवधारियों की हिंसा बिल्कुल बन्द करदी थी तथा कुछ विशेष दिनों पर किसी भी जीव की हत्या नहीं की जासकती थी। आत्म-निरीक्षण पर बल देते हुए इस धर्ममंगल में निर्दयता, कठोरता, क्रोध, मान, द्वेष आदि का वर्जन किया गया था।

मानव-धर्म

वास्तव में ये ऐसे सिद्धान्त हैं कि जो किसी भी धर्म के आवश्यक अंग माने जाएँगे। अशोक ने अपने इस धर्ममंगल में एक ऐसी जीवनचर्या का निरूपण किया था जो उसके

---

१. अशोक की धर्मलिपियाँ (नवाँ शिलालेख), पृष्ठ ९७।

२. वही (दूसरा तथा ग्यारहवाँ शिलालेख), पृष्ठ ८।

विशाल साम्राज्य के सभी अंगों को ग्राह्य हो और बौद्ध धर्म के मूल-भूत सिद्धान्तों का भी जिसमें समावेश हो। यह अहिंसा भी बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव के बहुत पूर्व भारतमें प्रतिपालित की जा चुकी थी, ब्राह्मणों द्वारा भी और पार्श्वनाथ के भी पहले अनेक तीर्थंकरों द्वारा भी। अशोक ने एक दूरदर्शी प्रशासक के अनुसार अपना राजधर्म इस प्रकार का निरूपित किया था जो उस समय के लोकधर्म अर्थात् ब्राह्मण, जैन तथा अन्य धर्मों के अनुयायियों की भावना से टकराता नहीं था। उसने अपने इस 'धर्ममंगल' को अहिंसा, शान्ति, सद्भावना और सदाचार का व्यापक धर्म बना दिया। स्वयं गौतम बुद्ध के ब्राह्मण और जैन विरोध का इसमें कहीं अंशमात्र भी नहीं था। अशोक सब धर्मों और सम्प्रदायों को इन मूलभूत सिद्धान्तों को पालते हुए फलते-फूलते देखना चाहता था[1]। अपनी धर्म-यात्रा के लाभों का उल्लेख करते हुए उसने लिखा है, "इनसे श्रमणों और ब्राह्मणों का दर्शन, उन्हें दान, वृद्धों का दर्शन, जानपद-जन का दर्शन, धर्म का उपदेश और धर्मविषय की जिज्ञासा मिलती है[2]"। अपने अभिषिक्त होने के बारहवें वर्ष अपने राज्य के अधिकारियों को धर्मानुशासन के लिए दौरा करने का आदेश देते हुए उन्हें इस मन्त्र को प्रचार करने के लिए कहा था, "ब्राह्मणों और श्रमणों की सेवा करना अच्छा है[3]"। इन अवतरणों से स्पष्ट है कि अपने साम्राज्यों की सीमा में अशोक ने कुछ सिद्धान्तों तथा जीवन के आदर्शों का प्रचार किया था, वह किसी धर्म विशेष का प्रचार अथवा अन्य सम्प्रदायों का दमन नहीं था। अपने इस सार्वजनीन धर्म को ही उसने 'धर्ममंगल' कहा है।

सब धर्मों की मंगल-कामना

अशोक के समय में अनेक धर्म प्रचलित थे। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में लिखे गये बौद्ध ग्रंथ 'निद्देश' में इनकी विस्तृत नामावली और उनके विश्वास दिये गये हैं। उसमें लिखा है, "आजीवकों के अनुयायियों का देवता आजीवक है, निर्ग्रन्थों का देवता निर्ग्रन्थ है, जटिलों का जटिल है, परिव्राजकों का परिव्राजक है, अवरुद्धकों का अवरुद्धक है; जो लोग हस्ति, अश्व, गौ, कुत्ता, कौआ, वासुदेव, बलदेव, पुण्यभद्द, मनिभद्द, अग्गि, नाग, सुपण्ण, यक्ख, असुर, गन्धब्ब, महराज, चण्ड, सूर्य, इन्द, ब्रह्मा, देव, और दिशा की उपासना में लगे हैं उनके देवता क्रमशः हस्ति, अश्व, गौ, कुत्ता, कौआ, वासुदेव आदि हैं[4]"। इन सब धर्मों के लिए अशोक के हृदय में आदर था। अपने एक शिलालेख में वह लिखता है, "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा चाहता है कि सब धर्मवाले सर्वत्र बसें। वे सब ही संयम और भाव शुद्ध चाहते हैं। मनुष्य के ऊँच-नीच विचार और ऊँच-नीच (अनु) राग होते हैं। वे (अपने-अपने धर्म का) पूरी तरह (पालन करेंगे) अथवा (उसका) कोई अंश (पालन) करेंगे। जिसके (यहाँ करने को) बहुत दान नहीं है उसमें भी संयम,

---

१. अशोक की धर्मलिपियाँ, पृष्ठ ८३ (आठवाँ प्रधान शिलालेख)।

२. वही।

३. वही, पृष्ठ २२ (तीसरा प्रधान लेख)।

४. भण्डारकर : वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माईनर रिलीजस सिस्टम्स, पृष्ठ ३।

भावशुद्धि, कृतज्ञता और दृढ़ भक्ति तो अवश्य ही नित्य है अर्थात् विद्यमान है[1] "। इन सभी धर्मों की उन्नति के लिए धर्ममहामात्र नियुक्त किये गये थे। धर्मामात्यों के कर्त्तव्यों के विषय में वह लिखता है कि यह धर्मामात्य बहुविध कार्यों के लिए नियुक्त किये गये थे। वे बैरागियों तथा गृहस्थों तथा राज्य के सभी भागों पर सम्राट की कृपा के फलों को पहुँचाते थे। उनका कार्य धर्म की प्रगति को देखना भी था। वे यह भी देखते थे कि ब्राह्मण तथा जैन धर्म प्रगति करते रहें। "इस प्रकार वे जैन तथा अन्य विविध सम्प्रदायों के लिए भी नियुक्त है"।

खण्डन का निषेध

अशोक ने यह और भी स्पष्ट कर दिया है कि उसके द्वारा जो धर्म-प्रचार के प्रयास किये गये वे किसी सम्प्रदाय-विशेष को आगे बढ़ाने के लिए अथवा अन्य सम्प्रदायों को दबाने के लिए नहीं थे। इसका राजधर्म उसकी प्रजा के, जिसे वह पुत्रवत् मानता था, सभी धर्मों और विश्वासों की मंगल-कामना लिए हुए था, उसका विरोध केवल अतिचार और हिंसा-वृत्ति से था। वह दूसरे धर्मों तथा सम्प्रदायों की निन्दा के भी विरुद्ध था। अपने इन सिद्धान्तों के सम्बन्ध में उसने लिखा है, "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा सब धर्मवालों का चाहे वे त्यागी (परिव्राजक) हों, चाहे गृहस्थ, दान और अनेक प्रकार की पूजा से सत्कार करता है। दान या पूजा को देवताओं का प्रिय उतना नहीं मानता जितना कि सब धर्म-वालों की सारवृद्धि (सत्व की बढ़ती) हो। सारवद्धि कई प्रकार की होती है, इसका मूल्य वाणी का संयम है (क्योंकि) जिसमें अपने धर्मवालों का (अति) आदर और दूसरे धर्मवालों की निन्दा न हो और बिना प्रयोजन उनकी (हलकाई) न की जाए (या उनकी ओर ओछापन न दिखाया जाए)। अवसर-अवसर पर भिन्न-भिन्न रीति से दूसरे धर्मवाले (भी) आदर के योग्य हैं। जो ऐसा करता है (अर्थात् अपने से भिन्न धर्मवालों का आदर करता है) वह अपने धर्म की बहुत (निश्चय) उन्नति करता है और (साथ ही) दूसरे धर्म-वालों का भी उपकार करता है। जो इसके विपरीत करता है वह अपने धर्म को क्षीण और परधर्म का अपकार करता है। जो कोई अपने धर्मवालों का आदर और दूसरे धर्मवालों का अनादर करता है वह अपने धर्म की भक्ति से ही करता है, जिसमें अपने धर्म का प्रकाश हो; किन्तु वैसा करने से वह अपने धर्म को अत्यन्त हानि पहुँचाता है। इसलिए आपस का मेलजोल ही अच्छा है कि (लोग) एक दूसरे के धर्म को सुनें और उसकी सुश्रूषा करें[2]।" अपने राज्याभिषेक के छब्बीसवें वर्ष में भी अशोक ने लिखा था, "मैं सभी सम्प्रदायों की ओर ध्यान देता हूँ; क्योंकि ये सभी मेरी श्रद्धा के किसी न किसी रूप में भाजन हैं। मेरी सम्मति में अपने निज के धर्म में अटल विश्वास मुख्य वस्तु है[3]"।

अन्य धर्मों को दान

अशोक ने भारत-सम्राट के अनुरूप ही अपने धर्म-प्रचार को अत्यन्त व्यापक रूप दिया

१. सप्त स्तम्भ लेख, सातवाँ लेख।
२. अशोक की धर्मलिपियाँ, पृष्ठ १२९ (बारहवाँ प्रधान शिलालेख)।
३. स्तम्भ लेख (छठा)।

था। अन्य धर्मों के प्रति यह सहानुभूति केवल मौखिक ही नहीं थी। ऊपर के उद्धरणों से प्रकट है कि वह सभी धर्मावलम्बियों की उन्नति चाहता था, उनके उपदेश सुनता था तथा उनके प्रति अत्यन्त सहिष्णु था। इन धर्मों को उसके द्वारा दान भी दिये जाते थे, यह भी उक्त उद्धरणों से प्रकट होता है। परन्तु उसके ऐसे अभिलेख भी प्राप्त हुए हैं जिनसे यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि उसन अन्य सम्प्रदायों के आवास के लिए गुहाएँ बनवाकर दी थीं। गया के पास ही बराबर नामक पहाड़ी पर बनी गुहाओं में अशोक के तीन लेख मिले हैं। दो लेख अशोक के अभिषेक के बारहवें वर्ष के हैं, जिनमें यह उल्लेख है कि उसने ये गुहाएँ आजीवकों को दी थीं। वहीं के एक तीसरे लेख से ज्ञात होता है कि अपने राज्य के उन्नीसवें वर्ष उसने एक और गुहा इन आजीवकों को दी थी।

बौद्ध धर्म में ब्राह्मणों के साथ-साथ आजीवकों के प्रति भी बहुत असहिष्णुता दिखाई गयी है, परन्तु अशोक ने जिस धर्म को छानबीनकर अपना राज्य-धर्म बनाया था वह अत्यन्त उदार एवं मानवकल्याण तथा जीवकल्याण का धर्म था। उसने अपने साम्राज्य में बौद्ध-संघों के बाहर सर्वसाधारण में किसी परिभाषित, संकुचित और खंडन-मंडन में निरत सम्प्रदाय या धर्म का प्रचार नहीं किया। साम्राज्य सँभालने में वह सम्राट ही रहा, भिक्षु नहीं बना। सम्राट की दृष्टि में उसकी समस्त प्रजा उसके पुत्रों के समान थी, उसके विश्वास कुछ भी हों, सब धर्म उसके आदर और सम्मान के पात्र थे, यदि वे अतिचार और जीव-हिंसा न करें तथा समाज-विरोधी कार्य न करें। यदि वह राजसिंहासन पर बैठे रहने के समय 'भिक्षु' बन जाता और राजदण्ड का उपभोग भी अपने निजी विश्वास के धर्म के प्रचार में करता तब उसका धर्म-प्रचार भारत तक ही सीमित रह जाता, उस युग के नागरिक उसकी शक्तियों को साम्राज्य स्थिर करते रहने में ही लगाए रहते।

धर्ममंगल का प्रचार

एक बार इस महान व्यक्ति के हृदय में जिस बात की सच्चाई घर कर गयी, उसका प्रचार उसने अदम्य शक्ति और अपार साधनों से किया। इस धर्ममंगल का प्रचार जनसाधारण में पूर्णतया हो इसके लिए उसने बहुत प्रयास किये। अभी तक सेना, व्यवहार, हिसाब आदि के लिए महामात्य रखे जाते थे। अशोक ने धर्ममहामात्र का नया पद स्थापित किया। प्रान्तों के छोटे-बड़े अधिकारियों को यह आदेश दिया गया कि प्रति पाँचवें वर्ष जैसे वे अन्य कार्यों के लिए दौरा करते हैं, इस धर्मानुशासन के लिए भी दौरा करें [१]।

जनसाधारण में इस 'धर्ममंगल' के प्रचार के लिए अशोक ने अपने धर्म्मादेशों को स्तम्भों और शिलाओं पर उत्कीर्ण कराया। इन अभिलेखों को विशेष अवसरों पर जनता को पढ़कर सुनाया जाता था और उनकी प्रतिलिपियाँ भी बाँटी जाती थीं। वह लिखता है, "मैं चाहता हूँ कि मेरे विचारों को मेरी निर्धारित रीति से कार्यान्वित किया जाए"। इसके लिए उसने आदेश दिया, "प्रत्येक ऋतु के आरम्भ में उनको पढ़ा जाए। बीच-बीच में भी पढ़ा जाए, और यदि एक व्यक्ति भी उपस्थित हो तो उसे ही सुनाया जाए [२]"।

---

१. अशोक की धर्मलिपियाँ, पृष्ठ २२ (तीसरा प्रधान शिलालेख)।

२. कलिंग शिलालेख।

प्रचार के साधन

इन साधनों के अतिरिक्त भी अशोक ने अपने इस धर्ममंगल के प्रचार और प्रसार के लिए कुछ लोकप्रिय साधनों को भी अपनाया था। उसके द्वितीय प्रधान शिलालेख में लिखा है, "बहुत काल बीत गया, सैकड़ों वर्ष बीत गये; पर प्राणों का नाश, जीवों की हिंसा और सम्बन्धियों, श्रमणों तथा ब्राह्मणों का अनादर बढ़ता गया। सो आज देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्माचरण से भेरीनाद तथा धर्म का घोष हुआ। तथा प्रजा को विमानों के दर्शन, हाथियों के दर्शन, अग्निस्कन्ध और दूसरे दिव्य रूपों के दर्शन कराए गये[1] "।

रथयात्रा और दिव्य रूपों के दर्शन

अशोक ने विमानों में मूर्त्तियाँ (रूप) रखकर हाथियों आदि के साथ जिस यात्रा का प्रचार के लिए सूत्रपात किया था वह समस्त देश में बहुत लोकप्रिय हुई। ईसवी चौथी शताब्दी में जब चीनी यात्री फाहियान भारत में आया उस समय भी पाटलिपुत्र में यह रथयात्रा निकलती थी। अपने यात्रा-वर्णन में फाहियान लिखता है, "दूसरे मास की आठवीं तिथि को यात्रा निकलती है। चार पहिये के रथ बनते हैं, यह यूथ पर ठाटी जाती है, जिसमें धुरी और हंस लगे रहते हैं। यह बीस हाथ ऊँचा और स्तूप के आकार का बनता है। ऊपर से सफेद चमकीला ऊनी कपड़ा ढँका जाता है। भाँति-भाँति की रँगाई होती है। देवताओं की सोने-चाँदी की मूर्त्तियाँ भव्य बनती हैं। रेशम की ध्वजा और चाँदनी लगती है। चारों कोने कलगियाँ लगती हैं। बीच में बुद्धदेव की मूर्त्ति होती है और पास में बोद्धिसत्त्व खड़ा किया जाता है। बीस रथ होते हैं, एक से एक भड़कीले और सब के रंग न्यारे। नियत दिन आसपास के यति और गृही इकट्ठे होते हैं। गाने-बजानेवाले साथ लेते हैं। फूल और गंध से पूजा करते हैं। फिर ब्राह्मण आते हैं और बुद्धदेव को नगर में पधारने के लिए निमंत्रित करते हैं। पारी-पारी नगर में प्रवेश करते हैं। इसमें दो रात बीत जाती हैं। सारी रातें दिया जलता है। गाना-बजाना होता है। पूजा होती है। जनपद-जनपद में ऐसा होता है[2] "।

शुभ परिणाम

अशोक को अपने इन प्रयासों का सुफल भी देखने को मिला। उसे सन्तोष हुआ कि उसकी प्रजा धर्माचरण में बढ़ी है। उसने लिखा, "जैसा सैकड़ों वर्षों मे कभी न हुआ था वैसा देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्मानुशासन से आजकल प्राणियों का न मारा जाना, जीवों की अहिंसा, सम्बन्धियों, ब्राह्मणों तथा श्रमणों का आदर, माता-पिता तथा वृद्धजनों की सेवा बढ़ी है[3] "।

१. अशोक की धर्मलिपियाँ, पृष्ठ ३४ (चौथा प्रधान शिलालेख)।
२. जगन्मोहन वर्मा: फाहियान, पृष्ठ ६०-६१।
३. अशोक की धर्मलिपियाँ, पृष्ठ ३४ (चौथा प्रधान शिलालेख)।

बौद्ध अशोक

बौद्ध धर्म में दीक्षा

अशोक के शिलालेखों के आधार पर हम यह पहले लिख चुके हैं कि अशोक ने अपने राज्याभिषेक के लगभग दस वर्ष पश्चात् बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। बौद्ध अनुश्रुतियों ग अशोक के बौद्ध धर्म ग्रहण करने का विस्तार से वर्णन किया गया है। दीपवंश और महावंश के अनुसार जब अशोक अपने बड़े भाई को मारकर गद्दी पर बैठा तब उसके भाई की पत्नी के गर्भ था। पति के पराभव के समय वह नगर से भाग गयी और दूर एक चाण्डाल-ग्राम में पहुँची। इस ग्राम के मुखिया ने उसपर दया कर उसे आश्रय दिया और वहाँ उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम निग्रोध रखा गया। यह निग्रोध सात वर्ष की आयु में बौद्ध-भिक्षु बन गया। इसी निग्रोध के सम्पर्क में आने पर अशोक ने बौद्ध धर्म को अपनाया। दिव्यावदान के अनुसार किसी बौद्ध-श्रमण ने अशोक को दीक्षित किया था। दिव्यावदान में जो कथा दी गयी है उसे सत्य मान सकना कठिन है। ज्ञात यह होता है कि महावंश और दीपवंश का कथन इस विषय में प्रामाणिक है। यदि अशोक ने अपने भाई सुसीम (अथवा महावंश के सुमन) को मारने के पश्चात् ही अपना राज्याभिषेक किया तो कलिंग विजय तक निग्रोध सात वर्ष का हो गया होगा। उसकी पारिवारिक परिस्थितियों ने तथा कलिंग विजय में हुए भीषण नरसंहार ने उसको बौद्ध धर्म की ओर आकर्षित किया ज्ञात होता है।

चलो, आगे बढ़ो, चलते जाओ

बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने के पश्चात् अशोक ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति को इस धर्म के प्रचार में लगा दिया। वह इस दिशा में आलस्य और प्रमाद नहीं सह सकता था। उसने अपना तथा अपने समस्त तंत्र का मूल आदेश "चलो, आगे बढ़ो, चलते जाओ[1]" बनाया। इसके लिए सबसे पहले स्वयं ही आदर्श उपस्थित किया। राज्याभिषेक के तेरहवें वर्ष में उसने अपनी बिहार-यात्रा, शिकार तथा मन-बहलाव की यात्रा बन्द करदी और उनके स्थान पर धर्म-यात्राएँ प्रारम्भ करदीं[2]। "जब कि उसके रसोईघर के लिए प्रतिदिन हजारों जीव मारे जाते थे वे कम कर दिये गये[3]"। समाज अर्थात् वे उत्सव, जिनमें खाने के लिए हिंसा की जाती थी, बन्द कर दिये गये[4]।

---

१. कलिंग शिलालेख (दूसरा)।
२. प्रधान शिलालेख (आठवाँ)।
३. प्रधान शिलालेख (पहला)।
४. वही।

बौद्ध-संघ

अपनी चर्या में परिवर्तन करने के पश्चात् अशोक ने बाहर ध्यान दिया। बौद्ध-संघों की ओर उसका ध्यान सर्वप्रथम जाना आवश्यक था। बौद्ध धर्म के किस रूप को वह ठीक समझता था तथा संघों के भिक्षुओं से पालन करने की अपेक्षा करता था इसका उल्लेख उसने भाब्रू के शिलालेख में कर दिया है, "हे भदन्तगण, आपको मालूम है कि बुद्ध, धर्म और संघ में हमारी कितनी भक्ति और गौरव है। हे भदन्तगण, जो कुछ भगवान बुद्ध ने कहा है, सो सब अच्छा कहा है। पर भदन्तगण, मैं अपनी ओर से कुछ ऐसे ग्रंथों के नाम गिनाता हूँ जिन्हें मैं अवश्य पढ़नेयोग्य समझता हूँ[1]।" जिन ग्रंथों का अशोक ने आगे नाम लिखा है उनसे यह प्रकट होता है कि अशोक को बौद्ध धर्म का कौन-सा अंश पसन्द था। इन ग्रंथों का विवेचन करते हुए डॉ० रामकृष्ण भाण्डारकर ने लिखा है कि इन ग्रंथों में बौद्ध धर्म की बाह्य धर्मविधियों का निरूपण न होकर धर्म के आधार-भूत तत्त्वों का विवेचन है[2]। उन ग्रंथों के विषय में उसने लिखा, "मैं चाहता हूँ कि इन धर्म-ग्रंथों को अनेक भिक्षु और भिक्षुणियाँ बार-बार सुनें और याद रखा जाए और इसी प्रकार उपासक और उपासिकाएँ उन्हें सुनें और धारण करें[3]"।

धर्म-प्रचार का शासकीय तंत्र

बौद्ध धर्म के प्रसार को गति मिल सके इसके हेतु 'धर्ममहामात्र' नियुक्त किये गये। राज्य के युक्तों (छोटे कर्मचारी), रज्जुकों (बड़े अधिकारी) तथा प्रादेशिकों (प्रान्तों के अधिकारियों) को यह आदेश दिया गया कि वे धर्मानुशासन का दौरा करें। बौद्धपरिषदों को यह अधिकार दिया गया कि वे अधीनस्थ अधिकारियों को धर्मानुशासन के उद्देश्य और अर्थ के अनुसार जाँच-पड़ताल करने के लिए आज्ञाएँ दें[4]।

सुख-हित सम्पादन

बौद्ध धर्म का मूलसिद्धान्त मनुष्यमात्र के सुख और हित का सम्पादन है। इसके पालन में अशोक ने मानव और पशु-पक्षी सभी के कल्याण और सुख को देखा। इस आशय से 'जीते हुए सब स्थानों में' तथा सीमान्त प्रदेशों में दो प्रकार की चिकित्साओं का प्रबन्ध किया, एक मनुष्यों की चिकित्सा और दूसरी पशुओं की चिकित्सा। मनुष्यों और पशुओं की उपयोगी औषधियाँ जहाँ-जहाँ नहीं हैं लाई गयीं तथा लगाई गयीं। इसी प्रकार मनुष्यों और पशुओं के लिए जहाँ-जहाँ फल और मूल नहीं हैं वहाँ वे लाए गये, और मार्गों में कुए खुदवाए गये तथा पेड़ लगवाए गये। धर्म के नाम पर अथवा आमोद-प्रमोद, के नाम पर जीव-हत्या बन्द करदी गयी[5]।

---

१. भाब्रू शिलालेख।

२. अशोक, पृष्ठ ८६ से ८८ तक।

३. भाब्रू शिलालेख।

४. प्रधान शिलालेख (तीसरा)।

५. प्रधान शिलालेख (दूसरा)।

धार्मिक दान

अशोक ने धर्म के लिए दान करने पर बहुत जोर दिया। वह स्वयं दान देता था और उसकी रानियाँ और कुमार भी दान देते थे। उसके द्वारा और उसकी रानियों के द्वारा तथा उसके पुत्रों के द्वारा जो दान दिये जाते थे, उनकी व्यवस्था करना भी धर्ममहामात्रों और अधिकारियों का कर्त्तव्य था। उसने अपने एक धर्मादेश में लिखा है, "ये (धर्ममहामात्र) तथा अन्य दूसरे कर्मचारी मेरे तथा मेरी रानियों के दानोत्सर्ग के सम्बन्ध में नियुक्त हैं और पाटलिपुत्र में तथा अन्य प्रान्तों में वे मेरे सब अन्तःपुरवालों को बतलाते हैं कि कौन-कौन से अवसरों पर कौन-कौन सा दान करना चाहिए। वे मेरे तथा मेरे पुत्रों एवं अन्य राजकुमारों के दानोत्सर्ग कार्य की देखभाल करने के लिए नियुक्त हैं जिसमें कि धर्म की उन्नति और धर्म का आचारण हो[1]"। रानियों के ये दान किस प्रकार के होते थे इसका उल्लेख भी अशोक के एक स्तम्भ-लेख में किया गया है। अपनी दूसरी रानी तीवर की माता कारुवाकी के दान की व्यवस्था के सम्बन्ध में उसने महामात्रों को आदेश देते हुए लिखा है, "दूसरी रानी ने जो कुछ दान किया हो, चाहे वह आम्रवाटिका हो या उद्यान या दानगृह अथवा और कोई चीज हो, वह सब उस रानी का दान गिना जाना चाहिए"।

ये दान केवल राजपरिवार तक ही सीमित नहीं थे, ज्ञात यह होता है कि राज्य की ओर से जनता को न केवल ये दान देने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था, वरन कोई धार्मिक-कर भी लगाया गया था। लुम्बिनी ग्राम को इस धार्मिक-कर से मुक्त कर दिया गया था, ऐसा रुम्मनदेयी के स्तम्भ-लेख से प्रकट होता है। यह धार्मिक-कर क्या था तथा कितना था यह स्पष्ट नहीं होता।

स्तम्भ और स्तूप

इन विविध प्रकार के दानों से अपार धनराशि एकत्रित होती थी। इसका उपयोग बौद्धसंघों के दैनिक व्ययों के अतिरिक्त स्तूपों के निर्माण में किया गया। कहते हैं कि अशोक के समय में चौरासी हजार स्तूप बनवाए गये थे। जो स्तूप पहले से बने हुए थे, उनका जीर्णोद्धार भी कराया गया। जब फाहियान अपनी यात्रा के लिए निकला तो उसे मध्य एशिया में खुतन से लेकर समस्त भारतवर्ष में संघाराम और स्तूप मिले थे। ये स्तूप किस प्रकार के थे इसका वर्णन भी फाहियान ने किया है। खुतन के स्तूप का वर्णन करते हुए वह लिखता है, "यह अस्सी वर्ष में बना है और पूरे तीन राजाओं के शासन-काल तक बनता रहा है। लगभग २५० हाथ ऊँचा होगा। इस पर सुन्दर खुदाई का काम और पच्चीकारी है। ऊपर सोने-चाँदी के पत्र चढ़े हैं और भाँति-भाँति के रत्न जड़े हैं। स्तूप के पीछे बुद्धदेव का मन्दिर है। यह अत्यन्त रमणीय है। इसकी धरन, स्तम्भ, द्वार, किवाड़, जंगले आदि सभी पर सोने का पत्र चढ़ा है। इसके अतिरिक्त भिक्षुओं के रहने की कक्षा भी अति रमणीय, भव्य और सुसज्जित बनी है। शोभा वाणी से वर्णन नहीं की जा सकती[2]"।

---

१. सप्तम स्तम्भ-लेख।

२. जगन्मोहन वर्मा : फाहियान, पृष्ठ ९।

धर्म-यात्रा का संकल्प

इन आदेशों और व्यवस्थाओं के करने के पश्चात् उसने समस्त बौद्ध-तीर्थों की यात्रा करने का संकल्प किया। इसके लिए उसने किसी उपयुक्त मार्गदर्शक की खोज की। दिव्यावदान के अनुसार अमात्यों ने उपगुप्त नामक भिक्षु का नाम सुझाया। यह उपगुप्त मथुरा के पास नतभक्तिकारण्य में उरमुण्ड पर्वत पर रहता था तथा इसके साथ अठारह हजार भिक्षु और रहते थे। अशोक ने स्वयं उसके पास जाने की तयारी की, परन्तु जब उपगुप्त ने सुना तो उसने स्वयं ही पाटलिपुत्र आने का सन्देश भिजवा दिया। राजा ने उपगुप्त के पाटलिपुत्र आने का विशेष प्रबन्ध किया। मथुरा से पाटलिपुत्र आने के लिए नावों का प्रबन्ध किया गया। उपगुप्त अपने अठारह हजार साथियों सहित इन नौकाओं द्वारा पाटलिपुत्र पहुँचा। दिव्यावदान का यह उल्लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यातायात के लिए इन नदियों का उपयोग अत्यन्त प्राचीनकाल से होता रहा है।

गौतम बुद्ध से सम्बन्धित स्थलों की यात्रा

दिव्यावदान के अनुसार उपगुप्त अशोक को पहले लुम्बिनी उद्यान ले गया, जहाँ गौतम बुद्ध का जन्म हुआ था। दिव्यावदान के इस कथन की पुष्टि यहाँ प्राप्त एक स्तम्भ-लेख से होती है। इस स्तम्भ पर अंकित है, "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा अशोक ने राज्याभिषेक के बीस वर्ष बाद स्वयं आकर इस स्थान की पूजा की। यहाँ शाक्यमुनि बुद्ध का जन्म हुआ था। इसलिए यहाँ पत्थर की बनी एक दीवार स्थापित की गयी और पत्थर का एक स्तम्भ खड़ा किया गया। यहाँ भगवान का जन्म हुआ था, इसलिए लुम्बिनी ग्राम का धार्मिक-कर उठा दिया गया और भूमि-कर के रूप में केवल आठवाँ भाग लेना निश्चित किया गया"। लुम्बिनी में दान-पुण्य के पश्चात् उपगुप्त अशोक को कपिलवस्तु ले गया। वहाँ पहुँचकर उसने अशोक को बतलाया, "महाराज ! इस स्थान पर बोधिसत्त्व ने राजा शुद्धोधन के घर में अपना बाल्यकाल व्यतीत किया था"। कपिलवस्तु से यह यात्रीदल बुद्धगया के निकट बोधिवृक्ष पहुँचा, जहाँ गौतम बुद्ध ने तपस्या की थी। यहाँ अशोक ने एक चैत्य बनवाया और एक लाख स्वर्ण-मुद्राएँ दान कीं। फिर यह यात्रीदल सारनाथ पहुँचा, जहाँ गौतम बुद्ध ने धर्मचक्र प्रवर्तन किया था। सारनाथ के पश्चात् ये लोग कुशीनगर पहुँचे जहाँ गौतम ने महापरिनिर्वाण प्राप्त किया था। अशोक ने, दिव्यावदान के अनुसार, श्रावस्ती की भी यात्रा की, जहाँ जेतवन में गौतम बुद्ध बहुत समय तक ठहरे थे। इस प्रकार बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित सभी स्थानों की यात्रा की गयी।

अशोक ने उपगुप्त के साथ बुद्ध के शिष्यों की स्मृति में बने हुए स्तूपों के स्थलों की भी यात्रा की। सारिपुत्र मौद्गलायन, महाकश्यप, वत्कुल तथा बुद्ध के अनन्य शिष्य आनन्द के स्तूपों की यात्रा की गयी। दिव्यावदान में इस यात्रा के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख है। आनन्द के स्तूप पर अशोक ने साठ लाख सुवर्ण-मुद्राएँ दान में दीं, परन्तु वत्कुल के स्तूप पर केवल एक कौड़ी चढ़ाई; क्योंकि वत्कुल ने प्राणियों के हितार्थ कोई प्रयत्न नहीं किया था।

बौद्ध धर्म की 'संगीति' अथवा महासभा

बौद्ध धर्म अत्यन्त तीव्र गति से विस्तृत हुआ। गौतम बुद्ध के समय में उसका बहुत अधिक विस्तार हो गया था। उसमें एक ओर तो बौद्ध-संघ के अधिकाधिक उपासक और भिक्षु सम्मिलित करने की प्रवृत्ति थी, साथ ही जैन धर्म जैसे कठोर संयम और निग्रह नहीं थे। परिणाम यह होता था कि संघों में 'पापभिक्षुओं' की संख्या बहुत अधिक हो जाती थी। गौतम बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् ही महाकश्यप ने पहली महासभा बुलाई थी, जिसे 'थेरीय संगीति' कहा जाता है। इसमें दस हजार 'पापभिक्षु' बहिष्कृत किये गये थे। बौद्ध-संघों में बुद्ध-वाणी का अपनी सुविधानुसार अर्थ निकाला जाने लगा। बौद्ध-भिक्षुओं के अनेक मत हो गये। अतएव गौतम बुद्ध के निर्वाण के ११० वर्ष पश्चात् वैशाली में दूसरी महासभा बुलाई गयी, और उसमें भी अनेक 'पापभिक्षुओं' को बहिष्कृत किया गया।

अशोक की तीसरी संगीति

अशोक के समय तक बौद्ध-भिक्षुओं का यह मतभेद और अधिक बढ़ गया था, वह १८ विभागों में बँट चुका था। अशोक इन विभेदों को बौद्ध धर्म के लिए घातक समझता था। अतः उसने पाटलिपुत्र के 'अशोकाराम' में बौद्ध धर्म की तीसरी 'संगीति' बुलाई। इसका अध्यक्ष उपगुप्त था। उपगुप्त को ही दीपवंश और महावंश में 'मोद्गलिपुत्र तिष्य' कहा गया है।

महावंश में इस तृतीय संगीति का वर्णन अत्यन्त विशद रूप से किया गया है। सम्राट अशोक ने सब बौद्ध-भिक्षुओं को एकत्रित करने के लिए दो यक्षों को नियत किया। ये यक्ष सब जगह गये और भिक्षुओं को एकत्रित कर लाए। सात दिन के बाद सब भिक्षु इकट्ठे हो गये। सातवें दिन अशोक अपने बनवाए हुए अशोकाराम में गया और वहाँ सब भिक्षुओं को एकत्रित कर तिष्य के साथ सभामण्डप के मध्य में बैठ गया। भिक्षुओं की परीक्षा की गयी और साठ हजार मिथ्यादृष्टिवाले पापभिक्षुओं को संघ से निकाल दिया गया और संघ शुद्ध किया गया।

बौद्ध-संघ में फूट की रोक

यह संगीति या महासभा अशोक के राज्याभिषेक के तीसवें वर्ष में हुई थी। परन्तु ज्ञात होता है कि बौद्ध-संघ में विभेदकारी प्रवृत्तियाँ साठ हजार पापभिक्षु निष्कासित किये जाने पर भी पूर्णतः शान्त नहीं हुईं। अभीतक की खोज के अनुसार ज्ञात होता है कि अशोक के समय में पाटलिपुत्र के अतिरिक्त धर्म के तीन प्रधान कन्द्र थे—साँची, कौशाम्बी तथा सारनाथ। इन तीनों स्थानों के बौद्ध-विहारों के भिक्षुओं के नाम अशोक ने यह चेतावनी वहाँ स्तम्भों पर खुदवा दी थी, "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी अशोक कहते हैं कि पाटलिपुत्र में तथा प्रान्तों में कोई संघ में फूट न डाले। चाहे भिक्षु हो या भिक्षुणी, जो कोई भी संघ में फूट डालेगा वह सफेद कपड़े पहनाकर (विहार के) बाहर कर दिया जाएगा। इसी प्रकार हमारी आज्ञा भिक्षु-संघ और भिक्षुणी-संघ को बतादी जाए"।

विदेशों में धर्मविजय

अशोक का महानतम कार्य

भारत तथा संसार के इतिहास में अशोक का जो महानतम कार्य है वह उसकी विदेशों में भी धर्मविजय करने की प्रशस्त कल्पना है, जिसे उसने उसी पराक्रम से किया जिस पराक्रम और तेजस्विता से उसने शस्त्रविजय की थी। विस्तार और विकास की जो दुर्दम शक्ति संदिग्ध शस्त्रविजय में लगती वह उसके हृदय-परिवर्तन के बाद धर्मविजय में लगी।

धर्ममहामात्र और विदेशी राज्य

विदेशों की इस धर्मविजय को सब से पहले अशोक ने शासकीय संगठन के द्वारा ही प्रारम्भ की थी। जिन धर्ममहामात्रों की नियुक्ति की गयी थी उनका काम पड़ोसी राज्यों में धर्म-प्रचार करना भी था। इनके द्वारा जिस धर्म का प्रचार किया गया था वह वही मानव धर्म या धर्ममंगल है, जिसका हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। जिन विदेशी राज्यों में इन धर्म-महामात्रों द्वारा धर्म-प्रचार किया गया है उनकी सूची अशोक ने अपने धर्मलेखों में दी है। ये दो प्रकार के हैं– एक तो भारत के भीतर के वे प्रदेश जो अशोक के राज्य में नहीं थे, दूसरे वे जो भारत के बाहर थे। वे हैं–(१) चोड (कोरोमंडल-चोलमंडल तक, जिसकी राजधानी त्रिचिनापल्ली के पास उड़ैयर थी), (२) पांड्य (द्राविड–तमिल–देश का सब से दक्षिणी भाग), (३) सत्यपुत्र (सम्भवतः यह कांजीवरम् के आसपास का प्रदेश था), (४) केरल पुत्र (मलाबार समुद्रतट का प्रदेश) और (५) ताम्रपर्णी (सिंहल)।

भारत के बाहर विदेशों में इस धर्मविजय का विस्तार बतलाते हुए अशोक ने लिखा है, "देवताओं के प्रिय ने अपने काल में तथा सैकड़ों योजन दूर अषों (पश्चिमी एशिया) में जहाँ अन्तिओक नामक राजा राज्य करता है और उस अन्तिओक के आगे तरुमय, अन्तिकिनि, मक और अलिकसुन्दर नाम के चार राजा राज्य करते हैं वहाँ धर्मविजय प्राप्त की है[१]"। उस समय अन्तिओक (एण्टिओकस-द्वितीय-थीओस, ई० पू० २६१–२४६) सीरिया में राज्य कर रहा था। उसका राज्य मौर्य-साम्राज्य की उत्तर-पश्चिम सीमा से पश्चिमी एशिया तक था। तरुमत (प्तोलमाय-द्वितीय-फिलाडेल्फस, ई० पू० २८५–२४७) मिस्र के पश्चिमी भाग में उत्तरी अफ्रीका में राज्य कर रहा था तथा अन्तकिन (एण्टीगोनस गोनाटस, ई० पू० २७६–२३९) यूनान में मेसीडोनिया में राज्य कर रहा था।

---

१. अशोक की धर्मलिपियाँ, पृष्ठ १६१ (तेरहवाँ प्रधान शिलालेख)।

खोतन (सरहिन्द) में संभवतः अशोकपुत्र कुणाल ने बौद्ध धर्म का प्रचार किया। वह तक्षशिला का कमारामात्य शासक था। वहाँ बहुत समय पश्चात् तक बौद्ध धर्म पनपता रहा और चौथी शताब्दी में जब फाहियान वहाँ गया तब उसे 'कई अयुत'[1] श्रमण' मिले थे।

बौद्ध-भिक्षुओं द्वारा प्रचार

अशोक द्वारा आयोजित पाटलिपुत्र की तीसरी संगीति ने बौद्ध-संघ में एक नवीन तेजस्विता उत्पन्न कर दी। गौतम बुद्ध का भिक्षुओं के लिए निर्देशित प्रधान उद्देश्य धर्म-प्रचार करना था। सारनाथ में धर्मचक्रप्रवर्त्तन करते हुए उनने भिक्षुओं को उपदेश दिया था, 'हे भिक्षुओ ! अब तुम लोग जाओ और बहुजनहिताय, संसार की दया के निमित्त, देवताओं और मनुष्यों की भलाई, कल्याण और कुशल के लिए भ्रमण करो। तुम में कोई दो एक ही मार्ग से न जाओ'। धर्म-प्रचार के इस महामंत्र को अशोकाराम की तृतीय संगीति ने पुनः ग्रहण किया। उस संगीति में मौद्गलिपुत्र तिष्य ने एक हजार विद्वान और अनुभवी भिक्षुओं को चुन लिया और नौ मास तक उनसे विचार-विमर्ष चलता रहा। मौदगलिपुत्र तिष्य रचित 'कथावत्थु' नामक ग्रंथ प्रामाणिक मान लिया गया और संघ को एक सूत्र में बाँधकर बुद्ध के धर्मप्रवर्त्तन के महामंत्र पर कार्य करने का निश्चय किया गया।

देश-विदेशों में भिक्षु

मौद्गलिपुत्र तिष्य ने संगीत को पूरा करके अनागत (भविष्य) को देखते हुए बौद्ध धर्म को प्रतिष्ठापित करने का विचार किया और उन भिक्षुओं को अनेक प्रदेशों में भेज दिया। मज्झान्तिक को काश्मीर और गांधार भेजा गया, महादेव को महिष्मण्डल में, रक्खित को वनवासी प्रदेश की ओर, धम्मरक्खित (यवन भिक्षु) को महाराष्ट्र की ओर, महारक्खित को यवनलोक (यूनानी देशों में), मज्झिम को हिमालय के प्रदेशों में, सोण को सुवर्णभूमि में तथा महेन्द्र को सिंहल में धर्मस्थापना के लिए भेजा गया।

सिंहल का प्रतिनिधि-मण्डल

सिंहल के बौद्ध ग्रंथ महावंश के अनुसार जिस समय भारत में अशोक राज्य कर रहा था उस समय सिंहल में विजयवंश के तिस्स नामक राजा का राज्य था। यह अशोक का मित्र था। जिस दिन उसका अभिषेक हुआ उसी दिन सिंहल के समुद्र-तट पर अनर्घ रत्नों से लदी हुई भग्न नौकाएँ आ लगीं। तिस्स ने उन रत्नों को अपने राजदूतों के साथ भेंट के रूप में अशोक के पास भेज दिया। इस राजदूत-मण्डल का मुखिया तिस्स का भानजा महारिट्ठ था। यह राजदूत-मण्डल ताम्रलिप्ति (मिदनापुर जिले का वर्त्तमान तामलूक) नामक पोतपत्तन होता हुआ पाटलिपुत्र पहुँचा। यहाँ अशोक ने उसका सत्कार किया और अभिषेक का बहुत-सा राजसी सामान देकर उनसे तिस्स का पुनः अभिषेक करने को कहा तथा अपने बौद्ध धर्म अंगीकार कर लेने का सन्देश भी भेजा।

महेन्द्र और संघमित्रा

तीसरी संगीति के पश्चात् जो बौद्धधर्मप्रचारक विविध दिशाओं में भेज दिये गये थे उनमें अशोक का पुत्र महेन्द्र भी था। उसे सिंहल भेजा गया। विदिशा, उज्जयिनी और

---

१. जगन्मोहन वर्मा : फाहियान, पष्ठ ६ ।

माहिष्मती के मार्ग से, तमिल देश में होता हुआ, महेन्द्र सिंहल पहुँचा। उसने वहाँ, महावंश के अनुसार, तिस्स को उसके चालीस हजार अनुगामियों सहित बौद्ध बनाया। तिस्स की राजकुमारी अतुला भी बौद्ध भिक्षुणी बनना चाहती थी। परन्तु महेन्द्र उसे दीक्षित नहीं कर सकता था; क्योंकि भिक्षुणी को भिक्षुणी ही दीक्षित कर सकती है। राजा तिस्स ने फिर अशोक के पास राजदूत भेजे और महेन्द्र की बहन संघमित्रा तथा बोधिवृक्ष की एक शाखा सिंहल भेजने की प्रार्थना की। अशोक ने स्वयं अपने हाथ से बोधिवृक्ष की एक शाखा काटकर संघमित्रा के साथ सिंहल भेजी। यह यात्रा गंगा के मार्ग से पाटलिपुत्र से ताम्रलिप्ति तक तथा ताम्रलिप्ति से समुद्र द्वारा सिंहल तक हुई। संघमित्रा ने यह बोधिवृक्ष अनुराधपुरा में लगा दिया और वह आज तक विद्यमान है। महेन्द्र की समाधि भी आज तक सिंहल में बनी हुई है। जहाँ महेन्द्र पहली बार सिंहल में उतरा था उसके निकट के पर्वत का नाम आज भी महिन्तल है। महेन्द्र द्वारा प्रस्थापित इस शाखा से बढ़ा हुआ विशाल बोधिवृक्ष, अनुराधपुरा का विहार तथा स्तूप महेन्द्र और संघमित्रा के इस प्राचीन धर्म-प्रवर्त्तन की आज भी साक्षी दे रहे हैं।

काश्मीर और गांधार में मज्झान्तिक

महावंश के अनुसार मज्झान्तिक थेर जब काश्मीर पहुँचा तब वहाँ एक नाग का राज्य था। महावंश में मज्झान्तिक के जिन अलौकिक कृत्यों का वर्णन किया गया है, उन पर विश्वास करना तो कठिन है, परन्तु यही माना जा सकता है कि उस नागराज को उसके साथियों सहित मज्झान्तिक द्वारा बौद्ध धर्म में दीक्षित किया गया। हिमवन्त देश के गन्धर्व, यक्ष तथा कुम्भण्डकों ने भी बौद्ध धर्म स्वीकार किया। महावंश में लिखा है कि तब से लेकर महावंश के रचनाकाल तक काश्मीर और गान्धार के मनुष्य बौद्ध धर्म के तीनों रत्नों (बुद्ध, संघ और धम्म) के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखते हैं तथा पीतवस्त्र धारण करते हैं।

अन्य प्रचारक

इसी प्रकार थेर महादेव द्वारा महिष्मण्डल में चालीस हजार मनुष्यों को, आचार्य रक्खित द्वारा बनवासी देश में साठ हजार मनुष्यों को, यवन जाति के थेर धर्म-रक्षित द्वारा अपरान्तक देश में सत्ताईस सहस्र मनुष्यों को, थेर महाधर्मरक्षक द्वारा महाराष्ट्र में चौरासी हजार मनुष्यों को, महारक्षित द्वारा यवनदेश में सत्तर लाख प्राणियों को, आचार्य मज्झिम द्वारा हिमवन्त में पाँच व्यक्तियों को तथा आचार्य उत्तर तथा थेर सोण द्वारा सुवर्णभूमि में एक हजार पाँच सौ व्यक्तियों को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया गया।

महावंश के इस विवरण से यह निष्कर्ष तो निकाला ही जा सकता है कि उसके रचनाकाल के समय अशोक की इस तीसरी संगीति के परिणामस्वरूप सभी दिशाओं में किये गये बौद्ध धर्म के प्रसार की अनुश्रुति विद्यमान थी।

अशोक और मौद्गलिपुत्र तिष्य द्वारा संगठित इस धर्म-प्रचार द्वारा एशिया के एक बहुत बड़े भूभाग पर बौद्ध धर्म और अशोक के मानव-धर्म का प्रचार हुआ। इसके कारण भारत और उसके मनीषियों द्वारा निर्धारित जीवन के आदर्श और अहिंसा का उस समय के समस्त ज्ञात पृथिवी-मण्डल पर विस्तार हुआ। यही कारण है कि एच० जी० वैल्स ने अशोक के विषय

में लिखा है, "इतिहास के पृष्ठों में संसार के जिन लाखों सम्राटों, राजराजेश्वरों, महाराजाधिराजों, श्रीमानों आदि के नाम भरे हुए हैं उनमें अकेले अशोक का नाम ही सितारे की तरह चमकता है। बोल्गा नदी से जापान तक आज भी उसका नाम आदर के साथ लिया जाता है। चीन, तिब्बत और भारत ने भी, यद्यपि उसने उसके सिद्धान्त को छोड़ दिया है, उसकी महानता की परम्परा को कायम रखा। आज अशोक का नाम श्रद्धा के साथ याद करनेवालों की संख्या उनसे कहीं ज्यादा है जिन्होंने कान्स्टेण्टाइन या शार्लमेन के नाम सुने हों"।

अशोक की धार्मिक नीति

राजा और धर्म

भारत में अशोक के पूर्व धर्म को सदा व्यक्तिगत अथवा वर्गगत साधना और विश्वास का विषय माना जाता था। राज्य का कार्य समाज के लौकिक योगक्षेम की चिन्ता करना हता था। उसके लिए समाज ने उसे विभिन्न प्रकार के कर देने की व्यवस्था की थी। अशोक को कई हजा‹ वर्षों की विकसित समाज और राज्यव्यवस्था मिली थी। उसमें अनेक प्रकार की साधनाएँ प्रचलित थीं। अत्यन्त सूक्ष्म दार्शनिक चिन्तन से लेकर पेड़, पशु और पक्षी तक की पूजा-अर्चना इस भारतीय समाज में चल रही थी। बड़े शक्तिशाली और उग्र राजा और सम्राट अशोक के पूर्व हो गये थे, परन्तु वे सेना और राज्यव्यवस्था तक ही अपने आपको सीमित रखते थे, वे धर्माचार्य नहीं बने और यदि कभी गौतम और महावीर की तरह बने भी तो उनने पहले राज्यसिंहासन त्याग दिया था। चण्डप्रद्योत, चन्द्रगुप्त मौर्य और बिन्दुसार का व्यक्तिगत धर्म क्या था, यह जानना आज सरल नहीं है। उसका कारण यही है कि उनका धर्म व्यक्तिगत साधना का विषय था। वे सब धर्मों और सम्प्रदायों को माननेवालों के राजा थे।

अशोक की नयी नीति

अशोक ने इस नीति को बदल दिया। वह स्वयं बौद्ध धर्म का अनुयायी बना और उसने बौद्ध धर्म को अपने राज्य का धर्म भी बना लिया। राजा ने धर्माचार्य का बाना भी पहना। बहुत काल पहले भी राज्य ने जो नहीं किया था वह भी हुआ[1], अर्थात्, राज्य के अधिकारी के रूप में धर्ममहामात्र नियुक्त किये गये[2], राज्य के अधिकारी युक्त, राजुक और प्रादेशिकों को शासन सम्बन्धी कामों के लिए दौरा करने के साथ-साथ धर्मप्रसार के लिए भी दौरा करने के आदेश दिये गये[3], देवताओं और देवमन्दिरों की व्यवस्था जो सदा से जनता के हाथ में रही थी उसे राज्य ने अपने हाथ में ले लिया तथा राज्य की ओर से प्रजा को विमानों और दिव्यरूपों के दर्शन कराए गये[4], इसिला के उच्चाधिकारियों को २५६ भिक्षुओं के समूह द्वारा समारोहपूर्वक यह सूचना दी गयी कि 'ढाई वर्ष से अधिक समय पूर्व सम्राट बौद्ध उपासक हो गये हैं तथा पिछले एक वर्ष से वे संघ में सम्मिलित हो गये हैं' और यह घोषणा की

---

१ अशोक की धर्मलिपियाँ, पृष्ठ ३४ (चतुर्थ प्रधान शिलालेख)।

२ वही, पृष्ठ ५० (पंचम प्रधान शिलालेख)।

३ वही, पृष्ठ २२ (तीसरा प्रधान शिलालेख)।

४ वही, पृष्ठ ३४ (चतुर्थ शिलालेख)।

गयी कि सब छोटे-बड़े इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रयास करें तथा रूपनाथ (जबलपुर) के अधिकारियों के लिए तो यह भी आदेश दिया गया कि 'इस घोषणा की प्रतियाँ प्रस्तर स्तम्भों पर, जहाँ पर भी वे उपलब्ध हों खुदवा दी जाएँ तथा उसे उनके समस्त अधिकार-क्षेत्र में भेज दी जाएँ[1]'। चम्बल के पश्चिमी किनारे के लोगों को (वैराट) शिलालेख पर आदेश लिखकर यह भी सूचित किया गया कि सम्राट ने बौद्धसंघ को अभिवादनपूर्वक यह सूचना दी है कि बुद्ध, धर्म और संघ के प्रति सम्राट को असीम श्रद्धा और विश्वास है[2]। यह सब अशोक के राज्याभिषेक के तेरहवें वर्ष तक हुआ।

इन प्रारम्भिक अभिलेखों में स्पष्टतः बौद्ध-सम्राट बोल रहा है, उनमें किसी प्रशस्त मानव धर्म की कल्पना या व्याख्या नहीं है और न बौद्धेतर अन्य धर्मों और सम्प्रदायों का उल्लेख है। ये विज्ञप्तियाँ बड़े जोश-खरोश के साथ दो सौ छप्पन भिक्षुओं द्वारा उन प्रदेशों में घोषित और उत्कीर्ण करायी गयी थीं जहाँ ब्राह्मण, जैन तथा अन्य सम्प्रदायों का जोर था। रूपनाथ, वैराट, गुजर्रा सभी मध्यदेश में हैं। ब्रह्मगिरि के अभिलेख में जो नीचे का भाग है, जिसमें राजधर्म की व्याख्या है, वह निश्चय ही आगे की कृति है। सम्भवतः यह समझा गया होगा कि स्वयं सम्राट् के बौद्ध-संघ की शरण में जाने के समाचार के प्रचारमात्र से इन प्रदेशों के निवासी उसका अनुकरण करेंगे।

इस नीति का परिणाम

अशोक की इस धार्मिक नीति का प्रभाव उसकी प्रजा पर और उसके राज्य पर तथा भारत की आगे की समाज-व्यवस्था पर किस प्रकार का पड़ा, यह प्रश्न विचारणीय है। अशोक की यह धार्मिक नीति भारत की सीमाओं में सफल नहीं हुई। उसे अपनी धार्मिक नीति को परिवर्तित करना पड़ा। अशोक के समय में जनसाधारण में अनेक धर्म और विचारधाराएँ प्रचलित थीं। अशोक ने अपने राज्यारोहण के तेरहवें वर्ष तक बौद्ध धर्म के प्रचार के सम्बन्ध में जो कुछ किया या कहा उसकी प्रतिक्रिया अनुकूल नहीं हुई, ऐसा उसके शिलालेखों से ही प्रकट होता है। इस प्रक्रिया को पहचानने में अशोक को अधिक समय नहीं लगा। उसने देखा कि इससे उसका नवविजित राज्य कलिंग सन्तुष्ट नहीं है, अवन्ति के आटव्य उसके विरुद्ध हो रहे हैं, और उसके साम्राज्य में अत्यन्त शक्तिशाली रूप में फैले हुए ब्राह्मण भी उसके विरोधी हैं।

नीतिपरिवर्तन

अतएव अशोक की धार्मिक नीति में आगे स्पष्ट परिवर्तन दिखाई दिया। राज्यारोहण के चौदहवें-पन्द्रहवें वर्ष में लिखाए गये चौदह प्रधान शिलालेखों तथा दो कलिंग-लेखों में बौद्ध धर्म के प्रचार की वह उग्रता दिखाई नहीं देती, जो प्रारम्भ में दिखाई दी थी। अब बुद्ध और संघ का नाम नहीं लिया जाता। धर्म भी अब अहिंसा, सदाचार, सत्य आदि उन व्यापक सिद्धान्तों तक सीमित रह गया है जो सभी धर्मों द्वारा सामान्य रूप से मान्य थे। बौद्धेतर सम्प्रदायों के प्रति इनमें अधिक सहानुभूति दिखाई गयी तथा अपने पुत्र-पौत्रों को

१. लघु शिलालेख, एक तथा दो।

२. भाब्रू तथा बैराट का द्वितीय शिलालेख।

भी इन बातों के मानने के लिए अनेक बार सम्बोधित किया गया। अब ब्राह्मणों तथा अन्य पारिव्राजक सम्प्रदायों को (केवल उनके व्यापक नाम से) सम्बोधित किया जाने लगा। बारहवें प्रधान शिलालेख के पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अब सम्राट को यह भी चिन्ता होने लगी है कि उसके द्वारा प्रोत्साहित बौद्ध-संघ दूसरे धर्मों पर हावी न हो और खण्डन के द्वारा उनके क्रोध को उत्तेजित न करे। उस शिलालेख के ये कथन कि वाणी-संयम रखा जाए तथा दूसरों के धर्म का आदर किया जाए और ऐसा न करने से अपने धर्म को अत्यन्त हानि पहुँचती है, आदि अकारण नहीं लिखे गये थे। कलिंग के दोनों शिलालेख भी यही कहानी कहते हैं। यह क्रमिक परिवर्तन अकारण ही नहीं हुआ होगा। इन शिलालेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने सम्राट् के एक धर्म विशेष को राज्यधर्म बना लेने की प्रतिक्रिया अच्छी नहीं हुई। अशोक की बुद्धिमानी और उसकी महत्ता इसी में है कि उसने अपनी प्रजा के व्यापक असन्तोष को समझा और अपनी नीति को, राज्यधर्म के निरूपण को, तथा अपने अधिकारियों को दिये गये धर्मप्रचार सम्बन्धी आदेशों को उसने दूसरी ही परिभाषा दे दी।

जैन धर्म को मान्यता

अशोक की धार्मिक नीति में तीसरा मोड़ दिखाई दिया उसके राज्यारोहण के सत्ताईसवें तथा अट्ठाईसवें वर्ष में प्रचलित किये गये आदेशों में। इसके पूर्व ब्राह्मण तथा अन्य परिव्राजक सम्प्रदायों का ही नाम अभिलेखों में आया है। ज्ञात होता है कि इस बीच उसके पौत्र सम्प्रति ने उज्जयिनी के कुमारामात्य के रूप में जैन सम्प्रदाय को भी पूर्णतः संगठित कर लिया था। सम्राट् को इस नयी शक्ति के अस्तित्व का भी आभास हुआ। अपने राज्यारोहण के सत्ताईसवें वर्ष में लिखाए गये सप्तम स्तम्भलेख में उसने सबसे पहले जैन धर्म का उल्लेख किया और यह घोषित किया कि धर्ममहामात्रों का कर्त्तव्य बौद्ध-संघ, ब्राह्मण तथा इनके साथ ही जैनों के हित-सुख को देखना भी है। यह ध्यान देने योग्य है कि इस स्तम्भलेख में जैन धर्म का उल्लेख पास ही पास दो बार किया गया है। संभव है अपने पितामह के एक धर्म के पोषक हो जाने के परिणामस्वरूप ही सम्प्रति ने पश्चिम की समस्त राज्यशक्ति को जैन धर्म के उत्कर्ष में यह सोचकर लगा दिया हो कि उसके अनुयायियों के समर्थन से आगे साम्राज्यप्राप्ति में सरलता होगी।

इन स्तम्भलेखों के पश्चात् राज्यारोहण के उन्तीस से अड़तीसवें वर्ष तक जो लघु-स्तम्भलेख खुदवाए गये थे वे उसकी धार्मिक नीति की बढ़ती हुई विफलता के द्योतक हैं। ब्राह्मण, जैन तथा अन्य सम्प्रदायों के रोष का शमन न हो सका और इधर बौद्ध-संघ में आन्तरिक विद्वेष तथा अनाचार प्रारम्भ हो गये। उन्हें रोकने के लिए अशोक को धर्माचार्य बनकर कड़े आदेश जारी करने पड़े। अपने राज्यारोहण के तीसवें वर्ष में उसने बौद्ध धर्म की वह तीसरी महासभा बुलवाई जिसमें साठ हजार पापभिक्षुओं को बौद्धसंघ में से निकाल दिया गया।

मौर्य-साम्राज्य पर प्रभाव

हमें इस स्थापना में अधिक तथ्य ज्ञात नहीं होता कि अशोक द्वारा बौद्ध धर्म को राज्य-धर्म बना लेने के कारण भारत का क्षात्रतेज मंद पड़ गया था। भारत का सैन्यबल वैसा ही

तेजस्वी रहा था। पुष्यमित्र शुंग ने जब सेना के सामने ही बृहद्रथ मौर्य का बध किया तब किसी सैनिक ने उसका विरोध नहीं किया। सेना की श्रद्धा अवश्य ही पिछले मौर्यों से हटने लगी थी। अशोक की महानता उसके वंशजों में नहीं थी, अतएव उनके द्वारा 'धर्मविजय' का भी मजाक ही उड़ाया गया। शालिशूक की धर्मविजय कुछ ऐसी ही थी। अगले मौर्य सम्राटों को अवश्य उसके बुरे प्रभाव भुगतना पड़े, भारत के युद्धकौशल पर कोई आँच नहीं आ सकी। शुंग, सातवाहन, खारवेल आदि की सेनाएँ अत्यन्त प्रबल और शक्तिशाली थीं तथा उनने देश को विदेशियों के आक्रमण से अनेक बार मुक्त किया।

शुभ परिणाम

इस विष के साथ अमृत की भी निष्पत्ति हुई। उसका एक शुभ परिणाम उस मानव-धर्म या धर्ममंगल की परिभाषा के रूप में उत्पन्न हुआ जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। दूसरा शुभ परिणाम बौद्ध-संघ की तीसरी महासभा से निकला जिसमें, राज्य के द्वारा नहीं, संघ के माध्यम से बौद्ध धर्म का अन्य देशों में प्रचार करने का संकल्प किया गया और उसकी योजना बनायी गयी। यदि अशोक ने बौद्ध धर्म ग्रहण न किया होता तो सम्भव है उसकी अपार और अदम्य शक्ति ने भारत के साम्राज्य को ठेठ लघु-एशिया अथवा रोम तक पहुँचा दिया होता, परन्तु वह साम्राज्य भी संसार के अनेक साम्राज्यों के समान क्षणस्थायी होता। अशोक ने विदेशों में जो धर्मविजय की थी वह आज तक जीवित है, न जाने कितने विदेशी भारत को अपनी धर्मभूमि और पुण्यभूमि मानकर शताब्दियों से इस देश की रज को अपने मस्तक से लगाते रहे हैं।

अशोक के अन्तिम दिन और पिछले मौर्य

साम्राज्य शक्ति का विकेन्द्रीकरण

इस युग का समाजसंगठन साम्राज्य की स्थापना के बहुत अनुकूल नहीं था। जो साम्राज्य स्थापित भी होते थे वे स्थानीय राजाओं और गणों को केवल वशवर्ती बनाते थे, उनको समाप्त तो यदा-कदा ही कर सकते थे। यह दशा ईसवी आठवीं-नवमीं शताब्दी तक विद्यमान थी, ऐसा अरब-इतिहास के लेखों के कथन से ज्ञात होता है[1]। परन्तु अशोक के समय में विकेन्द्रीकरण का पहला कदम संभवत: उसके प्रान्तीय अधिकारियों की ओर से ही उठाया गया। ज्ञात होता है कि अपने शासन के पिछले वर्षों में वह अपने धर्मप्रचार में इतना व्यस्त हो गया था कि प्रान्तों के अधिकारियों के हाथों में उसे अधिक शक्ति दे देना पड़ी थी। अपने राज्यकाल के छब्बीसवें वर्ष में लिखाए गये चौथे स्तम्भ-लेख में अशोक ने अपने प्रान्तीय अधिकारी, राजूकों के विषय में लिखा है, "मेरे राजूक नामक अधिकारी लाखों मनुष्यों के ऊपर नियुक्त हैं। उन राजूकों को, जो युद्ध और दण्ड के विभागों पर नियुक्त हैं, मैंने पूर्णतया स्वतन्त्र कर दिया है। यह किस लिए? जिससे कि राजूक बिना बाधा के और बिना किसी भय के अपने कार्य कर सकें, जनपद सभा के लिए अनुकूल और सन्तोषजनक हो सकें तथा उनको 'अनुग्रह' दे सकें। जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने लड़के को निपुण दाई के हाथ में सौंपकर निश्चिन्त हो जाता है उसी प्रकार मैंने अपनी प्रजा राजूकों के साथ में सौंप दी है, जिससे कि वे जनपद सभा के संतोष और भले के अनुसार काम कर सकें।" इस शिलालेख में यह भी प्रकट किया गया है कि ये राजूक राज की आज्ञा का उल्लंघन भी करने लगे थे, विशेषत: उसके अपराधियों को सुविधाएँ देने सम्बन्धी आदेशों का। अतएव अशोक ने इस शिलालेख के अन्त में लिखा है 'यद्यपि मैं अपनी अवस्था से च्युत हो गया हूँ, फिर भी मेरी प्रार्थना है कि जिन अपराधियों को मृत्यु-दण्ड दिया गया है उन्हें तीन दिन का अवकाश दिया जाए तथा उन्हें धार्मिक कृत्य करने की अनुमति दी जाए', आदि।

अशोक के अन्तिम दिन

अशोक का पुत्र कुणाल अन्धा कर दिया गया था। कुणाल का पुत्र सम्प्रति अशोक के पिछले दिनों में कुमारामात्य अथवा उपराज के रूप में पाटलिपुत्र में राज्यभार सँभाले हुआ था। मंत्रिपरिषद् तथा शासनव्यवस्था उसके हाथ में चली गयी थी। दिव्यावदान

---

१. इलियट और डासन: अर्ली अरब ज्योंग्राफर्स (कलकत्ता संस्करण), पृष्ठ ९।

के अनुसार अन्तिम दिनों में सम्प्रति अपने महान पितामह की इच्छाओं में बाधक हो गया था। अशोक बौद्ध संघ को बेहद दान-पुण्य कर रहे थे। सम्प्रति ने, अमात्यों के समझाने पर, भाण्डागारिक को राजकोष से दान देने से मना कर दिया। अशोक प्रति-दिन स्वर्णपात्र में भिक्षुओं को भोजन भेजा करता था, वह बन्द होगया। चाँदी, लोहे अथवा मिट्टी के पात्र में भी भोजन भेजने की अनुमति नहीं मिली। अन्त में उसके पास आधा आँवला मात्र बचा था, उसे ही उसने कुर्कुटाराम के भिक्षुओं के पास इस सन्देश के साथ भेज दिया, "जो सम्पूर्ण जम्बूद्वीप का स्वामी था, आज वह केवल आधे आँवले का स्वामी रह गया है। मंत्रियों ने उसके अधिकार को छीन लिया है[1]"।

दिव्यावदान की इस अनश्रुति में कहाँ तक सत्य है यह जानने का हमारे पास साधन नहीं, परन्तु इतिहास यह अवश्य कहता है कि सम्प्रति बौद्धधर्म का पोषक न होकर जैनधर्म का प्रबल समर्थक था। इस प्रकार दिव्यावदान के शब्दों में 'त्यागशूर', 'मौर्यकुंजर' अशोक ५२ वर्ष (४१ वर्ष सम्राट् के रूप में और ११ वर्ष उज्जयिनी के शासक के रूप में) राज्य करने के उपरान्त, उस समय की समस्त ज्ञात पृथ्वी पर अपने धर्ममंगल का प्रसार कर, ई० पू० २३२ में सम्प्रति के अभिभावकत्त्व में अपने अन्धे पुत्र कुणाल के लिए अपना विशाल साम्राज्य छोड़कर संसार से चला गया।

सम्प्रति (चन्द्रगुप्त द्वितीय)

अशोक के पश्चात् उसके पुत्र कुणाल ने राज्य प्राप्त किया। विष्णुपुराण में उसका नाम सुयश दिया है, जो कुणाल ही का दूसरा नाम ज्ञात होता है। कुणाल अपने पिता के राज्यकाल में ही अन्धा कर दिया गया था। अतएव राजकाज उसके पुत्र सम्प्रति के हाथ में था। कुणाल के आठ वर्ष के राज्य के पश्चात् ई० पू० २२४ में कुणाल का बड़ा लड़का दशरथ साम्राज्य का अधिकारी बना। इसका एक विरुद बन्धुपालित है। ज्ञात यह होता है कि इसके समय में भी वास्तविक शासन उसके छोटे भाई सम्प्रति के हाथ में ही रहा और दशरथ इस प्रकार बन्धुपालित कहा गया। दशरथ ने गया के पास नागार्जुन पहाड़ी की गुहाओं को आजीवकों को दान में दिया, ऐसा उन पर प्राप्त शिलालेखों से ज्ञात होता है। दशरथ के पश्चात् सम्प्रति मौर्यसाम्राज्य का अधिपति हुआ।

जैन धर्म का प्रचार

सम्प्रति ने उज्जयिनी में जैन आचार्य सुहस्ती से जैनधर्म की दीक्षा ले ली थी। सम्प्रति द्वारा जैनधर्म के प्रचार का वर्णन जैन अनुश्रुतियों में मिलता है। जैन धर्म में सम्प्रति का वही स्थान है जो बौद्ध धर्म में अशोक का। इसके धार्मिक प्रचार का केन्द्र पश्चिमी भारत था। सम्प्रति ने मध्यदेश, गुजरात, दक्षिणापथ तथा मैसूर में जैन धर्म का प्रचार किया। सम्प्रति ने २५।। राज्यों (भुक्तियों) को जैन साधुओं के लिए सुगम्य बना दिया था। उसने अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए आन्ध्र, द्राविड, महाराष्ट्र, कुडुक्क (कुर्ग) तथा सुराष्ट्र में साधुओं के वेश में अपने सैनिक भी भेजे थे।

---

१. दिव्यावदान ४३१-४३२।

हेमचंद्र सूरि लिखित 'परिशिष्ट पर्व' में सम्प्रति के विषय में लिखा है कि उसे एक बार यह विचार आया कि जैन धर्म का प्रचार बाहर यवनदेशों में भी किया जाए। उसने अनेक जैन साधु इस कार्य के लिए भेजे और उसे सफलता भी मिली। सम्प्रति ने जैन धर्म के प्रचार में अशोक के बौद्ध धर्म के प्रचार का अनुकरण किया। उसने अनेक जैन विहार बनवाए और गरीबों को मुफ्त भोजन बाँटने के लिए दानशालाएँ खुलवाईं।

विगताशोक और चन्द्रगुप्त द्वितीय

तारानाथ ने कुणाल के पुत्र का नाम विगताशोक लिखा है। ज्ञात होता है कि जैन धर्मप्रचारक ने अपने बौद्ध धर्मप्रचारक पितामह के कार्य के साथ उसके नाम को भी अपने विरुद के रूप में अपनाया था। सम्प्रति का ही नाम विगताशोक था।

त्रिलोकप्रज्ञप्ति के लेखक दिगम्बर जैनाचार्य यतिवृषभ ने लिखा है कि मुकुटधर राजाओं में सबसे अन्तिम राजा चन्द्रगुप्त ने जैन धर्म की दीक्षा ली, उसके बाद किसी मुकुटधर राजा ने जिनधर्म की दीक्षा ग्रहण न की। इस बात के बहुत पुष्ट प्रमाण हैं कि 'चन्द्रगुप्त' ने जैन धर्म स्वीकार किया था। यह चन्द्रगुप्त कौन था इस विषय पर पुण्यश्रावक कथा से प्रकाश पड़ता है। इसमें चाणक्य और चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा राज्य स्थापित करने तथा उनके पश्चात् इस वंश में बिन्दुसार तथा अशोक नामक राजाओं के होने का उल्लेख है। अशोक का पुत्र कुणाल बतलाया गया है। इस कुणाल के चन्द्रगुप्त नामक राजा हुआ, ऐसा स्पष्ट उल्लेख उसमें किया गया है। इस चन्द्रगुप्त के विषय में उसमें लिखा है, "एक दिन नगर के बाहरी उद्यान में कोई अवधिज्ञानी मुनि पधारे। वनपाल ने मुनि के आने का समाचार राजा को दिया। राजा चन्द्रगुप्त मुनि की वन्दना करने के लिए उद्यान में आया और श्रीमुनि को नमस्कार कर उनके पास बैठ गया"। राजावलि कथा में भी अशोक के पौत्र का नाम चन्द्रगुप्त ही दिया गया है और उसके द्वारा ही जैन धर्म का प्रचार करने का उल्लेख है। ज्ञात यह होता है कि सम्प्रति को ही जैन अनुश्रुतियों ने चन्द्रगुप्त लिखा है, जो धर्मप्रचार में अशोक के समान होने के कारण विगताशोक कहलाया और सैनिक प्रताप के कारण वह चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के नाम से सम्बोधित किया गया।

अकाल और दक्षिण-प्रवास

जैन अनुश्रुति के अनुसार सम्प्रति के राज्यकाल में देश में भीषण दुर्भिक्ष पड़ा था। उस समय वह उज्जयिनी में था। यहाँ पर उसकी प्रसिद्ध जैनाचार्य भद्रबाहु से भेंट हुई और वह उनके साथ दक्षिण में श्रमणबेलगोला (मैसूर) में जाकर तपस्वी का जीवन बिताने लगा। श्रमणबेलगोला में 'चन्द्रगिरि पर्वत' तथा वहाँ के मठ का नाम 'चन्द्रगुप्त वस्ति' इस अनुश्रुति का पोषण करते हैं। इसके अतिरिक्त चन्द्रगिरि पर्वत पर ईसवी सातवीं शताब्दी तक के ऐसे शिलालेख भी मिले हैं जिनमें भद्रबाहु के साथ चन्द्रगुप्त के वहाँ आने का उल्लेख है[1]।

---

१. राईस : मैसोर एण्ड कुर्ग फ्रोम इन्सक्रिप्शन्स।

मौर्य-साम्राज्य की समाप्ति

सम्प्रति के पश्चात् शालिशुक का शासन हुआ। कहा यह जाता है कि यह अपने पिता के बड़े भाई को मारकर गद्दी पर बैठा। संभवतः सम्प्रति के पश्चात् उसका कोई बड़ा भाई गद्दी पर बैठा था, जिसे शालिशुक ने समाप्त कर दिया। शालिशुक का एक वर्ष का राज्यकाल मौर्य-साम्राज्य के पतन का प्रारम्भ था। इसके ही समय में या इसके ही पूर्व मौर्य-साम्राज्य का उत्तर-पश्चिमी अंश साम्राज्य से अलग हो गया था। जालौक ने काश्मीर में स्वतन्त्र राज्य बना लिया और एक ओर तो यवनों को हराया और दूसरी ओर कान्यकुब्ज तक का प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया। सम्प्रति के एक और पुत्र वीरसेन ने गांधार में स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली। शालिशुक को पुराणों ने कर्मसूत, दुष्टात्मा, प्रियविग्रह, स्वराष्ट्रमर्दक (अपने राष्ट्र का पीड़क) तथा 'धर्मवादी अधार्मिक' लिखा है[1]। धर्मवादी अधार्मिक से पुराण का आशय यह है कि वह था तो अधार्मिक परन्तु धर्म की डींग हाँकनेवाला था। ज्ञात यह होता है कि अपने पूर्वज अशोक महान तथा अपने पिता सम्प्रति का अनुकरण करने का प्रयास इस शालिशुक ने किया और पुराण ने लिखा कि इस दुरात्मा ने "धर्म की विजय स्थापित करने का यत्न किया।"

यूनानियों का आक्रमण

शालिशुक के पश्चात् देववर्मा, शतधनुष और बृहद्रथ नाम के राजा हुए। मौर्य-साम्राज्य के बचे-खुचे अंश को यूनानियों के नवीन आक्रमण ने धराशायी कर दिया। गार्ग्य-संहिता के अनुसार इन ग्रीकों ने साकेत, पांचाल और मथुरा को जीत लिया तथा मगध-साम्राज्य की राजधानी पुष्पपुर अर्थात् पाटलिपुत्र पर भी अधिकार कर लिया और सारे 'विषय' व्याकुल हो गये। इस समय मौर्य-साम्राज्य की सेना का सेनापति पुष्यमित्र शुंग था। जब यवन राजा दिमेत्र (डेमेट्रियस) ने भारत पर आक्रमण किया उस समय मौर्य-वंश का अन्तिम राजा बृहद्रथ पाटलिपुत्र में निष्क्रिय पड़ा हुआ था। दिमेत्र ने वीरसेन से गांधार जीत लिया। आगे मद्रदेश, सौवीर और माध्यमिका पर आक्रमण किया, मथुरा जीत ली और फिर पाटलिपुत्र पर भी आक्रमण कर दिया। यह सब होता रहा, परन्तु बृहद्रथ अपने पूर्वजों की परम्पराओं को भूलकर महलों में निष्क्रिय पड़ा हुआ था। उसके सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने राष्ट्र की रक्षा के लिए यूनानियों से लोहा लिया और उस बढ़ते हुए संकट को रोका। विजयी सेनापति जब पाटलिपुत्र लौटा तो उसने राजधर्म से वंचित राजा को समाप्त करने का संकल्प किया। दुर्बलबुद्धि मौर्य राजा को उसने विजयी सेना का निरीक्षण कराया। जब वह समस्त सेना देख चुका तो उस सेना के सामने ही पुष्यमित्र ने बृहद्रथ का वध कर दिया।[2] बृहद्रथ के वध के साथ ही लगभग ई० पूर्व १८७ में चन्द्रगुप्त और चाणक्य द्वारा स्थापित मौर्य-साम्राज्य समाप्त हो गया।

---

१. हर्षचरित, षष्ठ उच्छ्वास।

२. युगपुराण, गार्गीसंहिता।

मौर्य-साम्राज्य और मध्यभारत

ऐतिहासिक सामग्री

मौर्यों के विशाल साम्राज्य की सीमाओं के किसी विशेष भाग में क्या हो रहा था इसका परिचय प्राप्त कर सकना तथा मध्यभारत की वर्त्तमान सीमाओं में स्थित प्रदेशों और उसके नगरों तथा जनपदों में क्या-क्या हलचलें चल रही थीं तथा यहाँ की जनता किस प्रकार का जीवन व्यतीत कर रही थी, इसका क्रमबद्ध और पूर्ण विवरण दे सकना सम्भव नहीं है। समस्त मौर्य-साम्राज्य के इतिहास से सम्बन्धित सामग्री और इस प्रदेश में प्राप्त तत्कालीन अवशेषों के आधार पर इस प्रदेश के इतिहास की कुछ अस्पष्ट और धुँधली झाँकी मात्र प्रस्तुत की जा सकती है। मेगास्थनीज ने इस प्रदेश के सम्बन्ध में विशेषतः कुछ लिखा हो, ऐसा ज्ञात नहीं होता; परन्तु उसने भारतीय समाज का, उसकी समृद्धि का तथा उसके आचार-व्यवहार का जो रूप प्रस्तुत किया है, वह मध्यभारत के जनजीवन से भी सम्बद्ध होना चाहिए। चाणक्य के अर्थशास्त्र में इस प्रदेश के सम्बन्ध में यत्र-तत्र कुछ जानकारी अवश्य दी गयी है। बौद्ध और जैन अनुश्रुतियों में इस प्रदेश के सम्बन्ध में कुछ विस्तृत उल्लेख मिलते हैं। विदिशा और उज्जयिनी इन धर्मों के प्रचार के तत्कालीन प्रधान केन्द्र थे। इन अनुश्रुतियों में जो विवरण मिलता है उसकी पुष्टि स्थानीय अवशेषों तथा जनश्रुति से भी होती है। मौर्यकालीन इतिहास के शाश्वत प्रकाशस्तम्भ अशोक के अभिलेख भी इस प्रदेश के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। इस प्रकार मौर्यों के पहले के साम्राज्यों की अपेक्षा मध्यदेश का इतिहास मौर्यों के समय में कुछ अधिक स्पष्ट रूप से सामने आता है।

चाणक्य और मध्यभारत

जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है, संभावना यह है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में इस प्रदेश पर मौर्यों का अधिकार नहीं था। नन्दों के विरुद्ध चन्द्रगुप्त मौर्य की शक्ति का संगठन करनेवाला विष्णुगुप्त चाणक्य अवश्य इसी प्रदेश का था। उसका जन्म पन्ना और नागोद के बीच स्थित (वर्त्तमान) नचना में हुआ था, जो उस समय चणक नामक नगर था। पाटलिपुत्र से नंद द्वारा अपमानित होकर भी चाणक्य विन्ध्याटवी में ही पहुँचा था और वहाँ पर ही उसने नन्दों के विरुद्ध पहला संगठन किया था।

विदिशा की देवी असंधिमित्रा

बिन्दुसार के समय में हमें इस प्रदेश की राजनैतिक हलचलें अधिक स्पष्ट रूप से ज्ञात होती हैं। बिन्दुसार के लिए उसके राज्यकाल में युवराज अशोक ने अवन्ति महाजनपद जीत-

कर उसे मौर्य-साम्राज्य में मिला लिया था, ऐसा बुद्धघोष ने समन्तपासादिका में उल्लेख किया है। बिन्दुसार के राज्यकाल में अशोक ११ वर्ष तक अवन्ति के कुमारामात्य रहे थे। इस समय का उनका विवरण दीपवंश, महावंश तथा समन्तपासादिका में मिलता है। इन बौद्ध अनुश्रुतियों के अनुसार कुमार अशोक ने उज्जयिनी को अपनी प्रान्तीय राजधानी बनाया था। उज्जयिनी जाते समय वे मार्ग में विदिशा ठहरे; यहाँ विदिशा के एक सेट्ठी की कन्या असंधिमित्रा से उनका साक्षात्कार हुआ। अशोक ने उसके साथ विवाह कर लिया और उसे उज्जयिनी ले गये। बुद्ध की मृत्यु के २४० वर्ष पश्चात् अशोक और असंधिमित्रा से एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम महेन्द्र रखा गया। दो वर्ष पश्चात् संघमित्रा नामक बालिका उत्पन्न हुई। बिन्दुसार की मृत्यु के समय जब अशोक पाटलिपुत्र आए तो असंधिमित्रा विदिशा चली गयी। महेन्द्र और संघमित्रा अशोक के साथ चले गये। संघमित्रा का विवाह अग्निब्रह्मा नामक ब्राह्मण से किया गया। इसके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम सुमन रखा गया।

महेन्द्र, सुमन और भन्दु

इधर अशोक ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। उसकी रानी असंधिमित्रा ने भी बौद्ध धर्म स्वीकार किया तथा बौद्ध संघ के लिए एक अत्युत्तम विहार बनवाया। यह विहार संभवतः साँची का विहार ही था। बौद्ध धर्म की तीसरी संगीति के पश्चात् मौद्गलिपुत्र तिष्य ने नाना देशों में धर्मप्रचार के लिए जो थेरों (बौद्ध भिक्षुओं) के प्रतिनिधि मण्डल भेजे थे उनमें महेन्द्र को सिंहल जानेवाले मण्डल का मुखिया बनाया गया था। महेन्द्र के साथ उसकी बहिन संघमित्रा का पुत्र सुमन भी था। महेन्द्र ने सिंहल जाने के पूर्व अपनी माता से मिलने की अनुमति सम्राट से ली। उस समय असंधिमित्रा वेदिसगिरि में रहती थी। उसने महेन्द्र को अपने द्वारा निर्मित विहार में ठहराया। यहाँ पर भी महेन्द्र निरन्तर धर्म का प्रचार करता रहा और उसने अपने माता के भतीजे के पुत्र भन्दु को भी बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। जब महेन्द्र सिंहल की ओर गया तो यह भन्दु भी उसके साथ हो लिया।

उज्जयिनी और सिंहल

दीपवंश[1] और महावंश[2] की एक कथा मध्यदेश और सिंहल का बड़े मनोरंजक ढंग से सम्बन्ध जोड़ती है। सिंहल (सीलोन) का नाम सिंह के वंशज विजय द्वारा बसाए जाने के कारण सिंहल पड़ा है। उसके पहले उसका नाम ताम्रपर्णी था। इस कथा के अनुसार कलिंग के एक राजा की कन्या बंग के राजा को ब्याही थी। वह रूपवती थी, परन्तु निर्लज्ज और निडर भी। वह एक सार्थ के साथ घर से भागी और लाट (गुजरात) देश पहुँच गयी। जंगल में एक सिंह (संभवतः इस नाम के दस्यु) ने उस सार्थ को नष्ट कर दिया। सब लोग भाग गये। वह कलिंग कुमारी सिंह के साथ हो ली। उसके सिंहबाहु तथा सिंहवल्ली पुत्र और पुत्री हुए। सिंहबाहु और सिंहवल्ली कलिंग चले गये। सिंह ने बंग में उपद्रव प्रारम्भ किये। राजा की आज्ञा से सिंहबाहु ने सिंह को मार डाला। वह बंग का राजा चुना गया। सिंहबाहु बंग छोड़कर लाट लौट आया। उसने सिंहपुर बसाया और

१. दीपवंश ९।

२. महावंश ६।

उसे राजधानी बनाकर राज्य करने लगा। उसका पुत्र विजय अत्यन्त उच्छृंखल था। उसके साथियों सहित उसे देशनिकाला दे दिया गया। वे सुप्पारक पहुँचे। वहाँ पहले तो लोगों ने उनका स्वागत किया, परन्तु उनके व्यवहार को देख वहाँ से भी उन्हें निकाला गया। वहाँ से वे ताम्रपर्णी पहुँचे। विजय ने सिंहल के यक्ष राजा की कन्या कुवेणी से विवाह किया, पर फिर उसे छोड़ दिया। पुनः उसने मदुरा के पाण्ड्य राजा की कन्या से विवाह किया और 'ताम्रवन्नी' नगर बसाकर अड़तीस वर्ष धर्म से राज्य किया। अब इस द्वीप का नाम सिंहकुल के राज्य के कारण 'सिंहल' हो गया। उसके साथियों ने अनुराधपुर, उपतिस्सगाम, विजितगाम, उरुवेला तथा उज्जेनी आदि नगरियाँ बसायीं।

यह कहानी कौन-कौनसी जनश्रुतियों के आधार पर गढ़ी गयी है, यह कहना सरल नहीं है[1]। परन्तु कल्पना के ताने-वाने में इसमें कुछ ऐतिहासिक तथ्य अवश्य उलझे हुए हैं। यहाँ हमारा संबंध उज्जैनी नाम से है, जो विजय के साथियों ने सिंहल में बसाई एक नगरी को दिया। यह नाम रखने में क्या उनके हृदय में अपने मूल नगर का मोह कार्य नहीं कर रहा था, जहाँ से वे विजय के साथ गये थे? उज्जयिनी में जन्म लेनेवाले महेन्द्र और संघमित्रा को सिंहल में अपनी जन्म-नगरी के नागरिकों के आह्वान ने ही खींचा होगा। अनेक शताब्दियों पूर्व उसके पूर्वगामी जो भाषा सिहल ले गये थे, उसमें उसने उज्जयिनी और विदिशा में पल्लवित पालि को भी मिला दिया।

सम्राट् अशोक की धर्मयात्रा

सम्राट् बनने के पश्चात् अशोक भी विदिशा और उज्जयिनी में आए थे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। दिव्यावदान के अनुसार अशोक ने बुद्ध के सारिपुत्र, मौद्गलायन, महाकश्यप आदि शिष्यों के स्तूपों के स्थानों की भी धर्मयात्रा की थी। साँची के बड़े स्तूप में सारिपुत्र और मौद्गलायन के अवशेष मिले हैं। ज्ञात होता है कि महाकात्यायन ने गौतम-बुद्ध के जीवनकाल में ही विदिशा को बौद्धधर्म के प्रचार का प्रधान केन्द्र बना लिया था। अतएव संभावना यह है कि उस धर्मयात्रा में अशोक इस प्रदेश में भी आए थे।

बौद्ध धर्म के केन्द्र विदिशा और उज्जयिनी

उज्जयिनी में अशोक के पूर्व ही बौद्ध धर्म की हलचलें प्रारम्भ हो गयी थीं। महाकात्यायन ने गौतमबुद्ध के जीवनकाल में तथा उनके पश्चात् भी विदिशा और उज्जयिनी को बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रधान केन्द्र बनाया था। उज्जयिनी की दो थेरी (बौद्ध भिक्षुणियाँ) इसिदासी अथवा ऋषिदासी और अभयमाता गणिका पद्मावती प्रसिद्ध हैं। इसिदासी एक सम्पन्न सेट्ठ के घर में उत्पन्न हुई थी। उसके पहले पति ने उसे त्याग दिया, दूसरे तथा तीसरे ने भी उसे छोड़ दिया और वह थेरी होकर बौद्ध संघ में सम्मिलित हो गयी। थेरीगाथा में इसिदासी की सुन्दर पालि कविताएँ भी संग्रहीत हैं। उज्जयिनी की प्रसिद्ध वारवनिता पद्मावती, मगध-सम्राट् बिम्बिसार को आकर्षित करने में सफल हुई थी, जिससे उसने अभय नामक पुत्र उत्पन्न किया।

---

१. जयचन्द्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जिल्द १, पृष्ठ ४२०।

अभय और पद्मावती दोनों बौद्ध संघ में सम्मिलित हो गये। पद्मावती की सखी भी बौद्ध थेरी बनी। इन दोनों की रचनाएँ भी थेरीगाथा में दी हुई हैं। उज्जैन में वेश्याटेकरी के उत्खनन से एक अत्यन्त विशाल स्तूप का पता लगा है। इस स्तूप के निर्माता के सम्बन्ध में दो सम्भावनाएँ दिखाई देती हैं। सम्भव यह है कि यह स्तूप वेश्या पद्मावती ने बनवाया हो। परन्तु पद्मावती बौद्ध होने के पश्चात् उज्जयिनी छोड़कर राजगृह चली गयी थी। अतएव वेश्याटेकरी के सम्बन्ध में प्रचलित जनश्रुति ही अधिक विश्वसनीय ठहरती है, जिसक अनुसार यहाँ पर सम्राट अशोक ने अपनी वैश्यपुत्री रानी के लिए निर्माण कराये थे।

वेश्याटेकरी का स्तूप

वेश्याटेकरी के उत्खनन से जो स्तूप उपलब्ध हुआ है वह अशोक द्वारा निर्मित सभी स्तूपों से बड़ा है। उसका व्यास धरातल पर ३५० फुट और ऊपर १०० फुट है। वह २२।।" × १८।।" × ३।।" परिमाण की ईंटों का बना हुआ है। ये ईंटें ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी की मानी गयी हैं। इस स्तूप के उत्खनन में उस काल की मुद्राएँ भी मिली हैं। इसकी ईंटें अधपकी थीं तथा अवन्तिप्रदेश के चलन के अनुसार ऊपर की सजावट का हिस्सा लकड़ी का था, अतएव वह नष्ट हो गया है। इसके अतिरिक्त भी उज्जयिनी में अनेक स्तूप मिले हैं।

विदिशा

विदिशा में अशोककालीन निर्माण प्रचुर मात्रा में मिले हैं। प्राचीन काल में विदिशा का विस्तार बहुत अधिक था। अशोक के समय के बौद्धावशेष साँची के अतिरिक्त सुनारी, सतधारा, भोजपुर और अँधेर में मिले हैं। वे सब इस विदिशा नगरी की सीमाओं में ही थे। ये उन चौरासी हजार स्तूपों में से थे जिनका निर्माण अशोक द्वारा कराया जाना कहा जाता है। उदयगिरि के आसपास जो स्तूपों के अवशेष मिले हैं, वे भी मौर्यकालीन हैं। साँची का बौद्ध संघ अशोक के समय के प्रधान बौद्ध केन्द्रों में था। इस प्रकार अशोक की राजनैतिक और धार्मिक प्रवृत्तियों का विदिशा और उज्जयिनी प्रधान क्षेत्र रही हैं। विदिशा में मौर्यकालीन नहरें भी मिली हैं, उनका उल्लेख आगे किया गया है।

सुवर्णगिरि

विदिशा और मथुरा के बीच में मध्यभारत का जो प्रदेश है उसमें अशोक के समय में क्या व्यवस्था थी इसका हमें निश्चित रूप से कोई आधार नहीं मिला है। यह पहले लिखा जा चुका है कि संभावना यही अधिक है कि जिस सुवर्णगिरि का अशोक ने अपने प्रथम लघु शिलालेख में उल्लेख किया है वह इसी प्रदेश में स्थित सुवर्णगिरि (सोनागिर) था। कौशाम्बी से विदिशा जाते समय सम्राट् अशोक ने उस स्थान पर डेरा डाला होगा जहाँ अभी हाल में अशोक का नया शिलालेख दतिया और उन्नाव के बीच गुजर्रा नामक ग्राम में मिला है।

अवन्ति का कुमारामात्य

अशोक के साम्राज्यकाल में अवन्ति और सुवर्णगिरि में कुमारामात्य कौन था, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिला है। सम्भावना यह है कि अशोक के अन्तिम दिनों में पाटलिपुत्र

पहुँचने के पूर्व सम्प्रति ही उज्जैन में कुमारामात्य था। उज्जैन के कुमारामात्य का पद इसलिए महत्त्वपूर्ण था कि दक्षिणापथ को वशवर्नी रखने के लिए यहाँ सेना का बहुत बड़ा भाग रखना आवश्यक होता होगा। उसी सैन्यबल के सहारे बिन्दुसार के पश्चात् अशोक मगध के राजसिंहासन पर अपना आधिपत्य कर सका और उसी के बल पर सम्प्रति इतना शक्तिशाली हो गया कि अशोक के पिछले दिनों में वह उसके स्पष्ट आदेशों की अवहेलना कर सकता था। सम्प्रति ने उज्जयिनी में ही जैन धर्म की दीक्षा ग्रहण की थी और यहाँ रहकर ही उसने २५।। भुक्तिओं को जैन साधुओं के लिए सुगम बनाया होगा। अशोक ने उज्जयिनी में रहकर सोलह राजाओं को मौर्य-साम्राज्य के वशवर्ती किया था और जब अशोक बौद्ध धर्म के प्रचार को विश्वव्यापी बना रहा था, उसी समय उसका उज्जैन का कुमारामात्य सम्प्रति पश्चिम और दक्षिण में जैन धर्म का प्रचार कर रहा था।

यह पहले लिखा जा चुका है कि अशोक ने अवन्ति को जीता था। उन भीषण नरक-गृहों का भी उल्लेख पहले हो चुका है जो इतने बड़े साम्राज्य में केवल दो स्थानों पर थे, पाटलिपुत्र में और उज्जयिनी में। ज्ञात यह होता है कि विन्ध्याटवी के इस प्रदेश के निवासी साम्राज्य के जूए को स्वेच्छापूर्वक अपने कंधे पर रखे रहना नहीं चाहते थे। इन आटव्यों को वशवर्ती करने में जो क्रूरताएँ अशोक को करनी पड़ी थीं, वे उसे सम्राट बनने पर भी स्मरण रहीं। उसके तेरहवें प्रधान शिलालेख में इन आटव्यों का स्मरण किया गया है। आटव्य उन व्यक्तियों का नाम था, जो विन्ध्याटवी के निवासी थे।

धार्मिक नीति की प्रतिक्रिया का क्षेत्र

अशोक की धार्मिक नीति की प्रतिक्रिया सबसे पहले अवन्ति और कलिंग में हुई थी। यहाँ के निवासियों को सम्राट द्वारा एक धर्मविशेष को प्रश्रय देने के विरुद्ध शिकायत थी, उसे उसने यह लिखकर दूर किया कि 'सब व्यक्ति मेरे बच्चों के समान हैं' और अपने प्रान्तीय अधिकारियों को यह आदेश दिया कि वे अनुचित क्रूरताओं को बन्द करदें; अन्यथा उससे प्रजा में असन्तोष बढ़ेगा। प्रत्येक प्रान्त में प्रति पाँचवें वर्ष सम्राट की नीति से परिचित अधिकारी भेजने की व्यवस्था की गयी, परन्तु अवन्ति में उनका तबादला प्रति तीसरे वर्ष करने की व्यवस्था की गयी थी।

नाग

शिशुनाग के साम्राज्यकाल में जिन नागों का अस्तित्व इस प्रदेश में था उनका प्रभाव समाप्त नहीं हुआ था। साम्राज्यों के समाप्त होते ही वे समस्त मध्यदेश में अत्यन्त प्रबल शक्ति बनकर उभर पड़े थे। मौर्यों के समय में ज्ञात यह होता है कि नागों के ये राज्य केवल केन्द्रीय साम्राज्य को सार्वभौम मानकर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाए हुए थे। विदिशा में ज्येष्ठ नागों की सत्ता का उदय अशोक के समय में ही होगया ज्ञात होता है।

सांस्कृतिक और साहित्यिक विकास

मौर्यसाम्राज्य के सांस्कृतिक और साहित्यिक विकास में इस प्रदेश का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान था। उसका विस्तृत विवेचन हम आगे कर रहे हैं। यहाँ के विद्वान और कारीगर दोनों ने ही इस युग के सांस्कृतिक इतिहास पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है।

आर्थिक स्थिति

मौर्यकाल में मध्यदेश की व्यापारिक स्थिति अधिक समृद्ध ही हुई थी, ऐसा ज्ञात होता है। विष्णुगुप्त चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में इसकी ओर इंगित किया है। उसने लिखा है, "पुराने आचार्यों के अनुसार स्थलमार्गों में हैमवतपथ (उत्तर दिशा में हिमालय की ओर जानेवाला मार्ग) दक्षिणापथ (दक्षिण की ओर जानेवाला मार्ग) से अच्छा है, क्योंकि उसके द्वारा ही हाथी, घोड़े, हाथीदाँत, चमड़ा, चाँदी, सोना आदि बहुमूल्य पदार्थों का व्यापार होता है।" परन्तु कौटिल्य की यह सम्मति नहीं थी। वह दक्षिणापथ को ही उत्तम समझता है; क्योंकि कम्बल, चमड़ा, घोड़ा तथा व्यापारिक द्रव्यों को छोड़कर शंख, वज्र, मणि, मुक्ता, सोना आदि दक्षिणापथ से ही आता था। उसके अनुसार "दक्षिणापथ में भी वह व्यापारीय मार्ग अच्छा है, जो खानों में से गुजरता है, जिसपर आना-जाना बहुत रहता है और जिसपर खर्च कम पड़ता है[1]"। इस उद्धरण से स्पष्ट है कि उत्तर-पश्चिम के स्थलमार्ग से मौर्यकाल में व्यापार कम हो गया था और पाटलिपुत्र, कौशाम्बी, पद्मावती, विदिशा, उज्जयिनी तथा माहिष्मती होते हुए जो मार्ग दक्षिणापथ जाता था उसपर व्यापार बहुत बढ़ गया था तथा इस पथ पर खर्च भी कम पड़ता था। कौशाम्बी और माहिष्मती के सूती कपड़े, विन्ध्यपर्वत का बिल्लौर तथा राभाराष्ट्र (बरार) और मध्यमराष्ट्र एवं अश्मक (विन्ध्य का दक्षिणी प्रदेश) के हीरों का तो चाणक्य ने स्पष्ट उल्लेख किया है।

मौर्यों के पश्चात् तथा गुप्त-साम्राज्य की स्थापना के पूर्व तक भारत का इतिहास बहुत कुछ इस प्रदेश का ही इतिहास बन जाता है।

---

१. अर्थशास्त्र ७।१२।

धर्मसाधना

अध्यात्म की पृष्ठभूमि

भारतवर्ष की उपजाऊ भूमि, मैदान में बस जानेवालों के लिए उत्तर-पश्चिम के ऊँचे मार्ग की दुरारूहता, जनसाधारण के लिए सागर की भयावह उत्ताल तरंगे[1], अपने में केन्द्रित होने की वृत्ति और नये आनेवालों का अविकसित सांस्कृतिक स्तर भारतवासियों को प्राचीनताप्रिय बनाए रहा है। भारतवासियों ने विदेशी आक्रमणों का प्रतिरोध किया है, परन्तु कालान्तर में नवागन्तुक प्रवृत्तियों को लोकनिष्ठ बनाकर उन्हें आत्मसात भी कर लिया है। इसी क्रम में भारत ने आर्यों के बलिदानप्रधान धर्म को ग्रहण कर लिया था, यह हमने पिछले अध्याय में देखा है कि इसका सम्पूर्ण सूत्र-संचालन भी कालान्तर में कुछ अपवादों को छोड़कर स्थानीय हाथों में आगया था और आज दृष्टिपरिधि से ऊपर उठकर हम देखते हैं कि एक विशाल क्षेत्र में सोन एवं नर्मदा की घाटी से लेकर फारस और सुमेर की बस्तियों तक फले प्रदेश में, जिसके समुद्र के मार्ग से सम्पर्क तब तक विच्छिन्न नहीं हुए थे, कौटिल्य के पूर्वाचार्य, सम्भवतः शुक्र, उन्हें श्रेयस्कर मानते थे[2], उसकी चुभनवाली नोकें तोड़ी जा रही थीं और भारत में स्थानीय नैसर्गिक विकासक्रम में उसे भारतीय मनोवृत्ति में समावेशयोग्य रूप दिया जा रहा था। गोपवनादि में जिस "गर्गभार्गविका"[3] संबंध का निर्देश प्रस्तुत काल में पाणिनि करते हैं, वह उनसे बहुत पहले से इस विस्तृत महाद्वीप के ओर-छोर मिला रहा था यह सांस्कृतिक इतिहास का अध्ययन करनेवाले के लिए वेडेल द्वारा सुमेर की मुद्राएँ पढ़े जाने के पश्चात् पहेली नहीं रह जाती। सुमेर की मुद्राओं में यहाँ प्राप्त होनेवाले मुद्गल एमद्गल, गाधि गुधिया, गालव गाल्ह, इन्द्र इन्दुरू, गर्ग गुर्ग, भृगु वृगु और भार्गव वर्गव के रूप में प्राप्त होते हैं।[4] अनुमानतः यही वर्गव भविष्य, साम्ब, वराह आदि पुराणों में उल्लिखित 'मग' हैं जो शकस्तान (फारस) के जलवायु में कालान्तर में मागी हो गये। आज जब गया के मंदिर पर, मथुरा के उत्खननों में और बृहत्संहिता के लेखों में उसी परम्परा के दर्शन होते हैं तब बीच की संयोजक स्मृति के अभाव में वह अचानक हुई निविष्टि प्रतीत होती है। सुमेर की मुद्राओं पर उल्लिखित गुर्ग

---

१. अर्थशास्त्र (शामशास्त्री का संस्करण) ७।१२।

२. वही।

३. अष्टाध्यायी २।४।६७।

४. एल० ए० वॅड्डेल : इण्डो-सुमेरियन सील्स डिसाइफर्ड, मेकर्स ऑफ सिविलजशन इन रेस एण्ड हिस्ट्री।

संभव है ऋग्वेद (१०।४८।८) में इन्द्र द्वारा उल्लेखित गुंगु हों। ये गर्गभार्गविका प्राग्वैदिक द्वंद्व समास विस्तृत प्रदेश में वैदिक धर्म का विकास कर रहे थे, आंगिरसों के अंगार ठण्डे पड़ रहे थे, ऋग्वेद की धर्मसाधना का अग्रणी अंगिराओं का वंश घोर आंगिरस के रूप में अहिंसक यज्ञसाधना का पुरस्कर्त्ता बना था[1], यद्यपि फारस के लोगों ने थोड़ी अधिक जल्दी करके उन्हें इनके लँगोटिया यार इंद्र के साथ अंगिरामन्यु राक्षस बना डाला था[2]। बलिदानों का वेग मन्द हो रहा था, यद्यपि राजपद से संबद्ध यज्ञों में उनका अस्तित्व अवशिष्ट था। वैदिक यज्ञ अहिंसक बन रहे थे, सोम यज्ञों का महत्त्व बढ़ रहा था, फारस की अग्निसाधना में हिंसा के तत्त्वों का एक हजार ई० पू० ही पूर्ण बहिष्कार हो चुका था और ईसा पूर्व चौदहवीं शताब्दी की धर्मसाधना का प्रतिनिधित्व करनेवाली भगवद्गीता की असंदिग्ध निष्ठा को देखते हुए यह दृढ़ ऐतिहासिक आधारों पर कहा जा सकता है कि उत्तर-कालीन अहिंसक आगमों से बहुत पहले अहिंसा जीवन के सर्वमान्य सिद्धांत के रूप में भारत के शिष्ट जनसमुदाय में प्रतिष्ठित हो चुकी थी[3]। इधर भारत में इस विस्तृत प्रवृत्ति से भिन्न लक्षित होनेवाली स्थानीय विकासधारा, इस प्रदेश में हुए पहले की संस्कृति के मूर्धन्य उत्कर्ष की पृष्ठभूमि पर प्रवाहित हो रही थी और उसमें स्थानीय देवताओं एवं धार्मिक विश्वासों के प्रवेश के साथ-साथ अग्निसाधना में मनुष्य के उच्च मानसिक स्तर से उत्पन्न होनेवाली ज्ञानपिपासा को तृप्त करनेवाले तत्त्वज्ञान का उद्‌भव हो रहा था।

दर्शनों का प्रादुर्भाव

पहले हमने देखा है कि मन्त्रद्रष्टा ऋषि सृष्टि और उसकी रचना के कर्त्ता एवं कारण को जान लेना चाहते थे, वे अग्निसाधना करते हुए उसके पीछे छिपे सूक्ष्म तत्त्व की खोज में थे और इन खोजों का परिणाम आरण्यकों और उपनिषदों का तत्त्वज्ञान था। इससे भिन्न राजमहलों में भी त्याग और भोग में सामंजस्य खोजते हुए तत्त्वबोध की लोकोत्तर धारा प्रवाहित थी। इस अन्वेषण में सभी विचारक एक निष्कर्ष पर नहीं पहुँचे पहुँचना सम्भव भी नहीं था। उनके चिंतन की विधि एकसी नहीं थी, आधार अलग-अलग थे, अतः विविध विचार परंपराएँ प्रकट हुईं, जिन्हें संस्कृत में मति और प्राकृत में दिट्ठि कहा गया। यही मति या दिट्ठियाँ एक निश्चित रूप ग्रहण करने के पश्चात् दर्शन कहलाए। यह बौद्धिक मंथन का युग था; और इसने वेदों को प्रमाण माननेवाले आस्तिक, उनका आधार लेकर न चलनेवाले नास्तिक और संभवतः अपने तात्विक ऊहापोह में किसी निर्णय पर न पहुँचनेवाले दैष्टिक दर्शनों का प्रादुर्भाव किया[4]। प्रस्तुत काल से पहले कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, भूतवाद, योनिवाद, पुरुषवाद[5] आदि अनेक दार्शनिक मतों का उद्‌भव हो चुका था।

---

१. छान्दोग्य उपनिषद्।

२. डॉ० देवसहाय त्रिवेद : प्राङ्मौर्य बिहार, पृष्ठ १३९।

३. १०।५; १३।७; १६।२ तथा १७।१४ आदि।

४. अष्टाध्यायी ४।४।६०।

५. श्वेताश्वतर उपनिषद् १।२।

विविध दर्शन

काल को सृष्टि का कारण माननेवाले कालवादी थे[1]। इनके विश्वासों के प्रभाव से नक्षत्र और ऋतुओं में देवत्त्व की स्थापना हुई, उनकी पूजा होने लगी। स्वभाव को सृष्टि का कारण माननेवाले स्वभाववादी या शाश्वतवादी थे। सब कुछ सदा से आज जैसा ही बिना कर्त्ता, कारण और ईश्वर के होता आया है, यह माननेवाले नियतिवादी थे[2]। बिना किसी हेतु के आकस्मिक संयोग से यह जगत् बन गया है, इस यदृच्छावाद को माननेवाले अहेतुवादी थे[3]। भूतवाद लोकायतों का दर्शन था, जिनके अनुसार पृथ्वी, जल, तेज और वायु, इन चार भूतों से सृष्टि की रचना हुई। इनके आचार्य चार्वाक कहलाते थे[4]। इसकी परंपरा अत्यंत प्राचीन थी। इसके आद्य पुरस्कर्ता बृहस्पति कहे जाते हैं[5]। इस दर्शन को आर्यों की भौतिक साधना का घनीभूत रूप कहा जा सकता है, जो योरुप की ओर जानेवाले आर्यों के जीवनदर्शन में, भारतीय दर्शन से योरुप का संपर्क पीछे का और उधार का होने के कारण, प्रमुख रूप से दिखाई देता है। इस दर्शन के विद्वानों के तर्क तगड़े होते थे और किसी समय उनका बड़ा प्रभाव था। नियतिवाद या दिष्टिवाद के प्रसिद्ध आचार्य आजीवक मक्खलि गोसाल हुए, इन पर आगे विचार करेंगे[6]। कुल में जन्म लेने से ही मानवजीवन की पर्याप्त व्याख्या हो जाती है, इस सिद्धान्त को माननेवाले योनिवादी कहलाते थे[7]। ये सब वेदबाह्य या नास्तिक दर्शन थे। पुरुष या ईश्वर को सृष्टि का कारण माननेवाले विचारक पुरुषवादी थे और इन्हींको जातकों में इस्सरकारणवादी कहा गया है[8]। इनके दर्शन और सम्प्रदाय दोनों अत्यन्त पल्लवित और विस्तृत थे। पुरुषसूक्त में इसी बात का विवेचन है। "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वा मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय ॥" इस कथन की शक्ति से इस दर्शन के आत्म-विश्वास और उच्च स्थान का पता चलता है। क्षर-अक्षर, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ तथा अजा-अज का ऊहापोह इस पुरुषवाद का विषय है, जिसे उत्तरमीमांसा या वेदान्त कहा गया है। पूर्वकाल के प्राणवाद, ज्योतिवाद, व्योमवाद आदि अनेक दर्शन इस पुरुषवाद में समाविष्ट हो गये[9]।

अनेक नास्तिक-मतों का केवल ऐतिहासिक महत्त्व आज रह गया है। लोकायतों का भूतवाद यद्यपि व्यवहार में लक्षित होता हो, परन्तु मान्य दर्शन के रूप में उसका अस्तित्व

---

१. महापरियाय जातक (जातक २५०, पृष्ठ २६०-६१)।
२. महाभारत, शान्तिपर्व २१५।१५-१६।
३. वही, २६८।२१-२२।
४. वही, १७२।१३-१८।
५. मत्स्यपुराण २४।३७-४८ तथा वायुपुराण ९१।८७-९७।
६. महाभारत, शान्तिपर्व १७१।
७. वही, १७३ तथा खत्तविज्जीवाद जातक ५।२४०।
८. जातक ५।२३८।
९. डॉ० वासुदेवशरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ३८२-८३।

आज बचा नहीं है। वेदों को अप्रमाण माननेवाले नास्तिक मतों में जैन और बौद्ध आगम अधिक सुगठित हुए। अनेक नास्तिक एवं आस्तिक पूर्वदर्शनों के संमिश्रण से उनकी रचना हुई थी, उनने अपना इतिहास बनाया और उन पर आगे विचार करेंगे। आस्तिक विचारधाराओं के फलस्वरूप वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तर-मीमांसा अथवा वेदान्तदर्शन ने रूप ग्रहण किया। इन अनेक दर्शनों और स्थानीय आराधनाओं से अनेक धर्ममार्गों का प्रवर्त्तन हुआ, जिनमें पद-पद पर और अंग-अंग में विविध दर्शनों एवम् पूर्वोक्त दिडियों का सम्प्रदायविशेष की आवश्यकताओं के अनुरूप ग्रहण परिलक्षित हुआ तथा दर्शन और उपासनापद्धतियों की इस विभिन्नता में इनके साधकों की जीवन-अर्पण के मूल्य पर संपाद्य लोकमंगल की कामना में अद्भुत एकरूपता प्रकट हुई। सभी दर्शनों के तत्त्वदर्शी और सभी आराधनापद्धतियों के आचार्य समाज में सम्मान प्राप्त करते थे, उनका देवताओं जैसा आदर होता था।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि इन दर्शनों का प्रादुर्भाव प्रस्तुत काल से बहुत पूर्व होगया था, सूत्र रूप में उनके ग्रथन के समय से उनके दर्शन का रूप ग्रहण करने के समय का कोई सम्बन्ध नहीं है। उदाहरणार्थ योग-सूत्रों की रचना भगवान् पतंजलि ने आगे शुंगकाल में की थी, जब कि योगदर्शन की प्राचीनता; वह पाशुपत साधना, का मूलाधार होने से, उससे कम नहीं है, जो प्राग्वैदिक उपासना है। इन दर्शनों की विचारसरणि अलग-अलग होते हुए भी एक दुर्लभ सहिष्णुता इनमें थी, जो भगवद्गीता के उपदेश में परिलक्षित होती है। सभी साधनाओं को व्यापक दृष्टिकोण रहते हुए परमगति का साधन माना जाता था।

आजीवक

प्रस्तुत काल से पहले नियतिवादी आजीवक सम्प्रदाय के नन्द वच्छ और किस संकिच्छ नामक दो पूर्वाचार्य हो चुके थे। महावीर स्वामी के समकालीन इस मत के आचार्य मक्खलिगोसाल हुए। इनका सम्प्रदाय अति प्राचीन था। महाभारत में धृत-राष्ट्र और ययाति को नियतिवाद में श्रद्धा रखनेवाला कहा गया है। इनका अपना साहित्य आज अवशिष्ट नहीं है, परन्तु ब्राह्मण, जैन एवं बौद्ध साहित्य के उल्लेखों से इनके सिद्धान्तों का कुछ अनुमान होता है। महाभारत शान्तिपर्व में इन आजीवकों के पाँच सिद्धान्त बताए गये हैं—सर्वसाम्य, अनायास, सत्यवाक्य, कर्म के प्रति नितान्त उपेक्षा और आत्मा आदि के ज्ञान के विषय में बौद्धिक प्रयत्न का भी परित्याग। ये सम्पूर्ण मानुषी प्रयासों का खण्डन करते थे। पतंजलि के अनुसार इनका मत था—कर्म मत करो, बिलकुल कर्म मत करो, शान्ति से ही मोक्ष मिलेगी[1]। ब्राह्मण दर्शन कर्म करने पर आधारित था। उनने देखा था कि बिना कर्म किये शरीरयात्रा ही नहीं चलती[2]। इधर कर्म बन्धनकारी है, यह भी उनने देखा था[3]। बीच की सूनी जगह लोक-

१. महाभाष्य ६।१।१५४।

२. भगवद्गीता ३।८।

३. वही, २।३९।

संग्रहकारी कर्मों से भरी गयी थी। परन्तु कर्म के बन्धन से बचने की चिन्ता भी इन्हें थी। अतः यज्ञार्थ और निःसंग कर्म करने का वरिष्ठ मार्ग इनने निकाल लिया था[1]। उसके पीछे विशाल दर्शन था, जीवननिष्ठा थी। आजीवकों ने बहुत दूर तक इस तत्त्व-शोध के साथ-साथ चलकर कर्म से मुक्ति के लिए कर्म का ही त्याग करके समीप का मार्ग पकड़ लिया। उनके अनुसार अनेक जन्मों के स्वाभाविक आध्यात्मिक विकास से मुक्ति अपने आप प्राप्त होती थी। अतः उनने सभी दिशाओं में कर्ममात्र का त्याग करके पूर्ण निवृत्ति का मार्ग अपनाया था।

इस सम्प्रदाय के तत्त्वज्ञानियों के जीवन की पृष्ठभूमि में कठिन तपस्या और उच्च कोटि की नैतिकता थी। जीवन के सुखोपभोगों का ये त्याग करते थे और यद्यपि श्रौत-स्मार्त धर्मावलम्बियों की दृष्टि में गीता के शब्दों में ये निरग्नि और अक्रिय होने के कारण[2] तथा वेदों को प्रमाण न मानने के कारण श्राद्ध और धार्मिक भोजों में निमंत्रित होने के योग्य नहीं माने जाते थे[3], लोक में इनका आदर था, राजा और प्रजा इनको नमन करते थे और इस समय में इनके सम्प्रदाय पर श्रद्धा करनेवाले अवन्ति से अंग तक तथा दक्षिण में नागार्जुन पहाड़ी तक फैले हुए थे। जैन धर्म के भगवतीसूत्र के अनुसार इनके अनुयायी अनेक वैदिक और अवैदिक देवताओं की पूजा करते थे। इनमें से पूर्णभद्र और माणिभद्र उल्लेखनीय हैं। माणिभद्र की मूर्त्ति हमारे प्रदेश में पद्मावती में प्राप्त हुई है। भगवती सूत्र के अनुसार पीछे इनका मुख्य केन्द्र विन्ध्याचल के नीचे पुण्ड्र प्रदेश बन गया था।

मक्खलिगोसाल

इन आजीवकों के प्रस्तुत काल के प्रमुख परिव्राजक मक्खलिगोसाल थे। सम्प्रदाय-प्रवर्त्तकों के जीवनवृत्त उनके पीछे के अनुयायियों द्वारा चमत्कारयुक्त घटनाओं से सजा दिये जाते हैं। आजीवकों का यदि कोई साहित्य अवशिष्ट होता, तो कहता कि देवताओं की इच्छा से मक्खलि का जन्म हुआ, इनके जन्म पर सारा देवलोक बाजे बजाता आया था और इतिहास एवं कालक्रम की अवहेलना करके स्वायम्भुव मनु से अशोक के पौत्र दशरथ तक मक्खलि के शरणागत हुए थे। परन्तु इन मक्खलिगोसाल के जीवन के सम्बन्ध में और इनके आजीवक मत में दीक्षित होने के संबंध में बिना चमत्कार का रंग चढ़ा, लगभग व्यंग्यपूर्ण उल्लेख महाभारत के शान्तिपर्व में प्राप्त होता है। कहानी है कि ये मंकि ऋषि पहले पुरुषार्थवादी थे, परन्तु भाग्य इनका साथ न देता था। इनने अंतिम बार पुरुषार्थ करके सफल होने का दृढ़ संकल्प किया, सब कुछ बेचकर एक जोड़ी बैल खरीदे और उन्हें जुए में नहकर खेत की ओर चले। बछड़ों को देखकर मार्ग में बैठा एक ऊँट छड़ककर खड़ा हो गया, बछड़े उसकी गर्दन पर दोनों ओर लटक गये, उन्हें ऊँट लेकर भागा, मंकि ऋषि ने विलाप करते हुए पीछा किया और हारकर कहा, "भाग्य ही सब कुछ है, हठ करना

---

१. वही, ३।९ तथा २।४८ आदि।

२. वही, ६।१।

३. अर्थशास्त्र ३।२०।

पुरुषार्थ नहीं है[1] ।" इस प्रसंग का अर्थ इतना ही है कि ये आजीवक थे, जिनके मत से त्याग, कर्म का भी त्याग, कल्याण का मार्ग था। ये अपने समय के बहुमान्य मनीषी थे। इनका मुख्य स्थान श्रावस्ती था और इनके सम्पर्क में वर्द्धमान महावीर भी आए थे[2]। अनुमान यह किया जाता है कि इनके चरम त्याग से प्रभावित होकर तीर्थंकर ने वस्त्र-त्याग किया था और जैन धर्म के अनेक आचारों पर आजीवक दर्शन की छाप है[3]। पूर्ववर्त्ती स्थिति के कारण परवर्त्ती जैन और बौद्ध आचार्यों के खण्डन का इस मत को शिकार बनना पड़ा था। इनने वर्द्धमान महावीर से १६ वर्ष पूर्व देहत्याग किया।

आजीवक मत का प्रसार

अशोक के काल में भी इस मत का महत्त्वपूर्ण स्थान था। बराबर पहाड़ी की गुफाओं के उल्लेखों से सूचित होता है कि अशोक ने इन आजीवकों के लिए अनेक गुहाएँ बनाई थीं तथा उसके सप्तम स्तम्भ लेख के अनुसार वह इस सम्प्रदाय का जैन और ब्राह्मण धर्म के समान ही आदर करता था। सम्राट् अशोक के पौत्र दशरथ ने भी नागार्जुन पहाड़ी पर गुफाओं का निर्माण कराके इन साधुओं को अर्पित की थीं[4]। बौद्ध धर्मग्रंथों में भी, जहाँ उनकी दृष्टि साम्प्रदायिकता से धुँधली नहीं हुई है, इनके आचार-विचार, तपोनिष्ठा तथा पवित्रता की बड़ी प्रशंसा की गयी है[5]। यह सम्प्रदाय प्रस्तुतकाल के बाद भी जीवित रहा यह बृहज्जातक और हर्षचरित में इसके उल्लेखों से सूचित होता है। दक्षिण भारत के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि इन्हें पीछे के काल में एकदण्डी कहा जाने लगा था। बृहज्जातक का टीकाकार उत्पल आजीवकों का समावेश नारायणाश्रितों में करता प्रतीत होता है और अनुमान यह किया जाता है कि तापसों के इस सम्प्रदाय का चौदहवीं शताब्दी में वैष्णवधर्म में विलय होगया, जिस के पश्चात् इसके उल्लेख प्राप्त नहीं होते।

जैन धर्म

इस मनोमंथन में से वेदों को अप्रमाण माननेवाले धर्मों में उद्भव के क्रम से जैन धर्म बहुत प्राचीन है। इस धर्म के साहित्य का और इसकी परंपरा की प्राचीनता का यथेष्ट शोध नहीं हुआ है। परन्तु इसके प्रतीकों को, तीर्थंकरों की परंपरा को और इसके प्राप्त समन्वयात्मक रूप को देखते हुए इस आगम की दीर्घायु का अनुमान होता है। कुछ विद्वान जैन धर्म को वैदिक धर्म के समान ही प्राचीन मानते हैं[6]। ब्राह्मण अनुश्रुति इसका प्रारंभ ययाति के काल से मानती है[7] जब आर्यों न भारत में लगभग प्रवेश ही किया था,

---

१. शान्तिपर्व १७१।
२. भगवतीसूत्र २४।
३. हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑव दि इण्डियन पीपल, खंड २, पृष्ठ ४१३-१४।
४. कमलापति त्रिपाठी : मौर्य-कालीन भारत का इतिहास, पृष्ठ १९२।
५. हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि इण्डियन पीपल, खण्ड २, पृष्ठ ८९।
६. अप्पास्वामी चक्रवर्ती : कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, जैनिज्म, पृष्ठ १८५।
७. मत्स्यपुराण २४।३७-४८ तथा वायुपुराण २१।८७-९७।

यद्यपि इसका इस काल का रूप आज प्राप्त नहीं होता। तीर्थंकर ऋषभदेव भी किसी अत्यंत प्राचीन काल में हुए होंगे। प्राचीनता के इस क्रम के अतिरिक्त भी भारत में, गम्भीर तत्त्वान्वेषण की पराकाष्ठा जिसकी विशेषता रही है, इसका दीर्घ जीवन इस धर्म की अन्तःशक्ति का साक्ष्य देता है और वह उत्पन्न हुई है उस कठोर साधना से जो इस धर्म के अंतर्गत इसके मुनियों से एकाकार होगयी थी। अपने से पूर्ववर्त्ती घटकों से ही कभी इसका निर्माण हुआ था, वही इन्द्रादि देवता, वही सांख्यदर्शन, वही त्याग और तपस्या एक प्रणाली में प्रवाहित हुए थे। जनसाधारण उग्र साधनाएँ नहीं करता, वह साधकों का नमन करता हुआ उनके उपदेशों को हृदय में धारण किये जीवन-पथ पर अग्रसर होता है। इसी क्रम में, जिन्हें वैदिक धर्मसाधना के अनुरूप निर्मित हुए समाज के ढाँचे में महत्त्व नहीं मिला था अथवा उससे असन्तोष था, जिसको इस धर्म के साधकों की कठोर तपस्या, त्याग और नैतिक सिद्धान्तों ने आकर्षित किया वे इनके आगम में दीक्षित हुए, जैन श्रावक बने।

पार्श्वनाथ

जैन साहित्य के अनुसार यह आगम २४ तीर्थंकरों की परम्परायुक्त अत्यन्त प्राचीन है, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से जिनके सम्बन्ध में कुछ कहा जा सके वे तीर्थंकर पार्श्वनाथ हैं। इनके जन्म से पहले इनकी माता ने अपने पार्श्व में एक नाग देखा था, इसी से इनका नाम पार्श्वनाथ पड़ा था[1]। इनके भी व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अधिक ज्ञात नहीं है। ये बनारस के राजा अश्वसेन के वामा से उत्पन्न पुत्र थे। तीस वर्ष की आयु तक इनने गृहस्थाश्रम में निवास किया और उसके पश्चात् साधु हो गये। चौरासी दिन तक तपस्या करने के पश्चात् वे जिन (संसार-बंधनों पर विजयी) हुए थे। इनने पूर्ण शतायु प्राप्त की थी और बंगाल में स्थित सम्मेत पर्वत पर महावीर से लगभग २५० वर्ष पहले देहत्याग किया था। ये अपने काल में अत्यधिक लोकप्रिय थे, यह इनके "पुरिसादाणीय" विशेषण से प्रकट होता है।

पार्श्वनाथ, महावीर की ही भाँति प्रकृति को शाश्वत मानते थे। इनके अनुसार संयम से कर्म का नाश होता है। इनके अनुयायी अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह का व्रत लेते थे और मुनि श्वेत वस्त्र धारण करते थे। पार्श्व के माता-पिता भी अपने पुत्र के धर्म में दीक्षित हुए थे। पार्श्वनाथ के पश्चात् इन्हींकी धर्म-परम्परा में वर्द्धमान महावीर हुए, उनने इस धर्म को नया रूप दिया।

वर्द्धमान महावीर

तीर्थंकर महावीर का नाम वर्द्धमान था। वैशाली के निकट कुंडिग्राम (आधुनिक बसुकुण्ड) में वृज्जिगण के ज्ञातृ (पालि "नात") कुल के राजा सिद्धार्थ के घर वर्द्धमान ने[2] तथागत बुद्ध से छत्तीस वर्ष पहले ई० पू० ५९९ में[3] जन्म लिया था। प्रसिद्ध लिच्छवि

---

१. जॅकोबी : जैन सूत्राज, सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, ऑक्सफोर्ड। पृष्ठ २७१-७४।
२. आचारांग (उवहाणसुय, भावनाओ), कलासूत्र तथा भगवती।
३. दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ११७।

राजा चेटक की बहन त्रिशला इनकी माता थीं। इनके माता-पिता तीर्थंकर पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। कल्पसूत्र के अनुसार वर्द्धमान पहले ऋषभ ब्राह्मण की पत्नी देवानन्दा के गर्भ में आए थे और फिर "हरिणेगमेसी" द्वारा वह भ्रूण इनकी माता त्रिशला के गर्भ में स्थानान्तरित हुआ था। वर्द्धमान के पिता सिद्धार्थ के इनसे बड़े एक पुत्र नंदिवर्द्धन और एक पुत्री और थी। बड़े होने पर वर्द्धमान ने यशोदा नामक युवती से विवाह किया और इनके अणोज्जा अथवा प्रियदर्शिनी नाम की पुत्री उत्पन्न हुई। इसका विवाह वर्द्धमान के भांजे जमालि के साथ हुआ।

माता-पिता के देहावसान के पश्चात् अपने अग्रज नन्दिवर्द्धन की अनुज्ञा लेकर वर्द्धमान ने तीस वर्ष की आयु में शीतकाल के प्रारम्भ में गृहत्याग किया और कठिन तपोनिष्ठा के जीवन का वरण किया। इसी बीच इनका सम्पर्क मक्खलिगोसाल से हुआ, वैराग्य लेने के १३ मास पश्चात् ही दूसरे शीतकाल में वस्त्रों का परित्याग करके ये दिगम्बर हो गये और इस प्रकार इन्होंने अपने पूर्व तीर्थंकरों से आगे पदनिक्षेप किया। मक्खलि से इनका छह वर्ष तक सम्पर्क रहा, पीछे मतभेद हो जाने के कारण दोनों के मार्ग भिन्न हो गये। वर्द्धमान १२ वर्ष तक चिन्तन और कठिन तपस्या करते रहे। उनके विचारों ने परिपक्वता ग्रहण की और उन्हें जीव (आत्मा या ब्रह्म) की सर्वव्यापकता का बोध हुआ, विश्व के कष्टों का मूल उन्होंने वासना और कर्म में देखा, जिन के कारण मनुष्य को जन्म-मरण के अनन्त चक्र में भ्रमित होना पड़ता है। १२ वर्ष पश्चात जृम्भिका ग्राम के समीप ऋजुपालिका नदी के तीर पर एक शालवृक्ष के नीचे इन्होंने कैवल्य (मोक्ष) प्राप्त किया। वे अर्हत (पूज्य), जिन (कर्म-बंधनों के विजेता), निर्ग्रंथ (बंधनहीन) और महावीर कहलाने लगे तथा चौबीसवें अन्तिम तीर्थंकर माने गये। इनको जैन धर्मग्रन्थों में नायपुत्त (ज्ञातपुत्र), कासव (काश्यप), वैसालीय (वैशालीय), विदेहदिन्न (विदेह प्रदेशीय) भी कहा गया है।

जिन हो जाने के पश्चात् महावीर ने धर्म का उपदेश प्रारम्भ किया। इनकी धर्म-साधना में तीर्थंकर पार्श्वनाथ के उपदेशों से केवल इतना अन्तर था कि इनने उनके चार व्रतों में ब्रह्मचर्य और जोड़ दिया था तथा त्यागपूर्ण जीवन को कठोरतर तपस्यापूर्ण बना दिया था, जो इनके वस्त्रत्याग से सूचित होता है। वर्ष के चार मास ये एक स्थान पर वर्षावास करते थे और शेष आठ मास परिव्राजक के रूप में घूम-घूमकर धर्मोपदेश करते थे। चम्पा, वैशाली, राजगृह, मिथिला और श्रावस्ती में इनके वर्षावासों का जैन अनुश्रुति में उल्लेख प्राप्त होता है। इनके उपदेश जनता श्रद्धापूर्वक सुनती थी, अनेक शासक महावीर के उपदेशों में श्रद्धा करते थे। मगध एवं अंग[1] के विस्तृत प्रदेश में इनके अनेक अनुयायी होगये, जिनमें राजा से लेकर साधारण गृहस्थ तक थे। जैन अनुश्रुति में प्रसिद्ध अंग के राजा दधिवाहन की पुत्री चन्दना अथवा चन्दनबाला पहली स्त्री थी जिसने महावीर के निर्ग्रन्थ धर्म की दीक्षा ली और साध्वी हो गयी। बयालीस वर्ष तक साधना और धर्म का उपदेश करने के पश्चात् ७२ वर्ष की आयु में राजगृह के समीप मज्झिमापावा में हस्तिपाल (हत्थि-

१. जर्नल ऑफ बिहार ओरिएण्टल रिसर्च सोसायटी, १३, पृष्ठ २४६।

पाल) राजा के प्रासाद में कार्तिक कृष्ण अमावास्या की रात्रि में महावीर का निर्वाण हुआ तथा मल्ल और लिच्छवि राजाओं ने इस रात्रि को दीपावली जलाकर इनके निर्वाण को समारोहित किया।

महावीर और जैन धर्म

जैसा ऊपर देखा जा चुका है, महावीर ने कोई नया धर्म नहीं चलाया था। कठोर साधना, सत्संगति आदि से उनने पिछले तीर्थंकरों द्वारा अवलम्बित मार्ग में नवीन सत्यों का शोध किया था और उस काल में निर्ग्रंथ कहे जानेवाले जैन धर्म को इन सत्यों के समावेश से अधिक तपोनिष्ठ और व्यवस्थित रूप दिया था। तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय तक जैन धर्मावलम्बी अहिंसा, सत्य, अस्तेय एवं अपरिग्रह, ये चार व्रत लेते थे। महावीर ने उसमें ब्रह्मचर्य का समावेश करके पांच व्रतों का उपदेश किया। इस नैतिकता के समावेश और स्वयं वस्त्रत्याग करके अपने उत्तरवर्ती मुनियों का जीवन अधिक त्याग और तपस्यामय बनाने के अतिरिक्त महावीर ने जैन धर्म के पूर्ववर्ती मूलभूत रूप में क्या परिवर्तन किया यह जानना आज सरल नही है। प्रतीत यह होता है कि महावीर ने अपने से पहले वर्तमान इस धर्म की अव्यवस्थित सामग्री को एक निश्चित रूप दिया, जैन साधु एवं श्रावकों के लिए आचरण के कठोर नियम निर्धारित किये, अहिंसा के सिद्धान्त को पुष्ट किया और इस प्रकार इस आगम को इसे चिरजीवी बनानेवाली शक्ति दी। महावीर द्वारा निर्धारित जैन धर्म के मौलिक तत्व आज भी लगभग ज्यों के त्यों वर्तमान हैं। यह बौद्ध ग्रन्थों में आए इस धर्म के वर्णनों से उसके आज के रूप की तुलना करने से प्रकट होता है[1]।

जैन धर्म में आज जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दो रूप हो गये है, महावीर के काल में तथा सम्भवत. प्रस्तुत काल के अन्त तक दो पृथक् सम्प्रदायों के रूप में अस्तित्व में नहीं आए थे। पुरातनता प्रेमी मूर्तियों को वस्त्रों से ढँकते रहे होंगे और महावीर से नयी प्रेरणा प्राप्त करनेवाले उपासक वैकल्पिक रूप से तीर्थंकरों की दिगम्बर रूप में उपासना करते होंगे तथा इस विकल्प की व्यवस्था जिन कल्प एवं स्थविर कल्प द्वारा की गयी प्रतीत होती है। दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों के शास्त्रों का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह संकेत प्राप्त होते हैं कि प्रारम्भ में दोनों का धार्मिक साहित्य एक ही था। आज उपलब्ध अंगों का वह कौनसा अंश है जो प्रारम्भ में अविभाजित श्वेताम्बर और दिगम्बरों का धार्मिक साहित्य था, यह कह सकना सरल नहीं है; परन्तु यह कहा जा सकता है कि आचारांग एवं सूत्रकृतांग के प्राचीन अंश में और किसी सीमा तक भगवती सूत्र में इस आगम का मौलिक रूप सुरक्षित है।

तीर्थंकर महावीर के जीवनकाल में उनके धर्म के प्रसारक्षेत्र का अनुमान कौशल, विदेह, मगध और अंग में उनके भ्रमण करने के उल्लेखों से होता है। छेदि सूत्र भी यह उल्लेख करते हुए कि जैन श्रमणों को पूर्व में अंग और मगध तक, दक्षिण में कौशाम्बी तक तथा उत्तर में कुलला तक जाना चाहिए संभवतः इनके काल में हुए जैन धर्म के प्रसार का वर्णन करते हैं।

---

१. जेकोबी : सेक्रेड बुक्स ऑफ दि बुद्धिस्ट्स, ४५, १५।

जैन साहित्य

जैन अनुश्रुति के अनुसार आचार्य सुधर्म ने, जो वर्द्धमान महावीर के शिष्य थे, जैन आगम के अंगों और उपांगों का सबसे पहले संकलन किया था। चंद्रगुप्त अर्थात् संप्रति मौर्य के समकालीन आचार्य भद्रबाहु ने आरम्भिक जैन ग्रन्थों पर अपनी निर्युक्ति की रचना की थी। इसी समय में स्थूलभद्र ने जैन धर्म की संगत बुलाई थी। इस संगत में जैन धर्म के साहित्य के अंगों का संकलन किया गया। इस समय ११ अंगों का तो संकलन सुविधा से हो गया, परन्तु बारहवाँ अंग, जिसका मगध में लोप हो गया था, नैपाल से इस प्रतिबन्ध पर मिला था कि उसके ज्ञान को गुप्त रखा जाएगा। इस अंग के १४ पूर्व थे और इनका ज्ञान केवल भद्रबाहु को था। जैन आगम के स्थानकवासी संप्रदाय के अनुसार प्रमाणभूत ग्रन्थों में ११ अंग, १२ उपांग, ५ या ६ छेद ग्रन्थ और ४ मूल ग्रन्थ हैं। श्वेताम्बर १० प्रकीर्ण ग्रन्थ भी प्रमाण मानते हैं। उनके अतिरिक्त २० प्रकीर्ण, १२ निर्युक्ति तथा ९ विविध ग्रन्थों सहित ८४ प्रमाणग्रन्थ माने जाते हैं। दिगम्बरों के चार अनुयोग ग्रन्थ हैं। भाषा की दृष्टि से इस जैन साहित्य के वर्तमान रूप को प्रस्तुत काल का मानने में कठिनाई है; परन्तु इन ग्रन्थों की मूल बातें इस काल की हैं, यह असंदिग्ध है[1]।

जैन दर्शन

यह पहले उल्लेख किया जा चुका है कि जैन दर्शन का सांख्य से बहुत साम्य है। इनकी तर्कना की अपनी विशिष्ट प्रणाली है, जिसे स्याद्वाद कहते हैं, जिसने इस आगम के सन्तों को आग्रह या हठ से दूर रखकर उन्हें व्यापक दृष्टिकोण दिया और दूसरे सिद्धान्तों के प्रति श्रद्धापूर्वक सहिष्णु बनाया। इस स्याद्वाद के अनुसार जैन दार्शनिक एक तत्त्व पर तर्क करते हुए सात परिणामों पर पहुँचता है—(१) है, (२) नहीं है, (३) है तथा नहीं है, (४) परिणाम पर नहीं पहुँचा जासकता, (५) परिणाम पर पहुंचा जा सकता है और नहीं पहुँचा जा सकता, (६) नहीं है, और परिणाम पर नहीं पहुँचा जा सकता, तथा (७) है और परिणाम पर नहीं पहुँचा जा सकता। तात्पर्य यही है कि वे बिना आग्रह के किसी बात पर अनेक पहलुओं से विचार करते थे और अपने परिणाम पर पहुँचकर भी उसका उन्हें आग्रह नहीं था, वे आचार से आगे बढ़कर तर्क प्रणाली में भी अहिंसक थे तथा उनका निर्णय संभाव्य सुधार के लिए खुला था। इसका यह अर्थ नहीं है कि उनका दर्शन अस्थिर था। इसी सूक्ष्म परीक्षण के आधार पर इनने अपने दर्शन की रचना की थी। पूर्वाग्रह को पकड़ने की वृत्ति के विरुद्ध एक निष्कर्ष पर पहुँचने के पश्चात् भी उस पर खुले मस्तिष्क से विचार करने का द्वार अपावृत रखने की यह प्रणाली थी और इसका अनुसरण करते हुए अपना सृष्टि के अनादित्व का सिद्धान्त उनने स्थिर किया था।

जैन दर्शन के अनुसार सृष्टि में दो प्रकार के शाश्वत और अनादि, किन्तु भिन्न स्वभाववाले तत्त्व हैं, एक जीव और दूसरे अजीव। जीव की तुलना वेदों का प्रमाण माननेवाले दर्शनों के आत्मा, पुरुष और अज से की जा सकती है, जो अनादि, अजर और अमर है,

---

१. जयचंद्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जिल्द २, पृष्ठ ७४५-४६।

तटस्थ, द्रष्टा एवं निराकार है। अजीव के फिर पाँच रूप हैं–१. पुद्गल २. धर्म, ३. अधर्म ४. आकाश और ५. काल।

इनमें जीव चेतन है, इसे ज्ञान होता है, यह अनुमान करता है, प्रवृत्त होता है और पुद्गल के संसर्ग में आकर उसके ऊपर क्षण-क्षण होनेवाले कर्म के संस्कारों के "आस्रव" (प्रवाह) से वह कष्ट भोगता है, बार-बार जन्म लेता है और इसका परम पुरुषार्थ पुद्गल से मुक्ति पाना है। यह जीव वृक्ष में, पशु में या मनुष्य के शरीर में निवास कर सकता है और जिस शरीर में वह निवास करता है उसके अनुरूप ही उसका आकार होता है।

पुद्गल जड़ प्रकृति है, जिसका जीव के साथ योग होने से विश्व में जीवन प्रत्यक्ष होता है। पुद्गल से संयुक्त हुआ जीव धर्म के द्वारा सक्रिय होता है और अधर्म वह तत्त्व है जिस के आधार पर वह प्रवृत्त होता ह। इस धर्म और अधर्म की तुलना रजोगुण और ऋत से की जा सकती है। आकाश पंचतत्त्वोंवाला ही आकाश है और विश्व के परिवर्तन काल के आधार पर होते हैं। यह आकाश व्योमवाद का[1] और काल श्वेताश्वर उपनिषद्[2] के कालवाद का दीर्घजीवी अवशेष है।

जैन दर्शन में न्याय और वैशेषिक दर्शन के समान सृष्टि का उत्पादक ईश्वर नहीं है और पुनर्जन्म से मुक्ति के लिए उसे किसी की कृपा की आवश्यकता नहीं है। वह अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य द्वारा, तप और ज्ञान से निःसंग होकर कैवल्य प्राप्त कर सकता है, देवता हो सकता है।

जैन धर्म का रूप

जैन धर्म के पाँच व्रत हैं। उनमें पहला अहिंसा है। इसका कठोरता से पालन करते हुए वे इतना ही नहीं कि शहद नहीं खाते थे, पतिंगों की मृत्यु के भय से दीपक को वस्त्र से ढँके रहते थे और पानी छान कर पीते थे, वरन् अपने तर्क भी स्याद्वाद की प्रणाली से करते थे और घोर तपोनिष्ठा उनकी विशेषता थी। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र पर, जिन्हें वे त्रिरत्न कहते थे, उनकी आस्था थी: गौतमबद्ध के योनिवाद के विपरीत, जिसमें विशेष वंश में जन्म लेने का महत्त्व है, बुद्धि, धार्मिकता, वंश, जाति, बल, सिद्धि, तपस्या और रूप के अहंकार का वे परित्याग करते थे। कर्मबन्धन से मुक्ति के प्रयास के मार्ग में चौबीस तीर्थंकरों की और महावीर के गर्भ को पहले लिखे प्रकार से स्थानान्तरित करनेवाली हरिणेगमेसी की प्रतिमा के साथ-साथ जैन आगम में ब्राह्मण धर्म से ग्रहण की गयी श्री, लक्ष्मी, गणेश, कुबेर, नवग्रह, दिग्पाल, यक्ष, यक्षिणी तथा गौरी, सरस्वती आदि सोलह विद्या देवी एवं चौंसठ योगिनी की मूर्तियों की पूजा का विधान है[3]। जैन आगम जाति व्यवस्था का विरोधी नहीं दिखता।

---

१. डॉ० वासुदेवशरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृष्ट ३८३।

२. श्वेताश्वतर उपनिषद् १।२।

३. आचारदिनकर; उत्तराध्ययन सूत्र तथा अभिधानचिन्तामणि; बुलर : दी इण्डियन सेक्ट ऑफ दि जैनाज, अपेण्डिक्स ए; वी० ए० स्मिथ : जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टीक्विटीज ऑफ मथुरा तथा वागेल : मथुरा म्यूजियम केटलॉग, ४१–४३, ६६–८२।

इस धर्म की अनुश्रुति में एक प्रकार से ब्राह्मणत्व के प्रति आदर प्रकट किया गया है। कुल में जन्म दैवायत्त ही होता है। महावीर का जन्म क्षत्रिय वंश में हुआ था। अनुश्रुति ने उनका भ्रूण पहले देवानंदा ब्राह्मणी के गर्भ में आने की कल्पना करके, अपने विकास के काल के जैन विचारकों की ब्राह्मण जाति के प्रति पूज्यता की समन्वयसाधक भावनाओं को सुरक्षित रखा है। इन तथ्यों को इस आगम के दर्शन और उच्च आचरण-धर्म की पृष्ठभूमि पर देखने से इस सम्प्रदाय के दीर्घ जीवन का कारण और उन परिस्थितियों का मूल सहज समझ में आ जाता है, जहाँ प्रस्तुत काल के पश्चात् भी जब ब्राह्मण अश्वमेधियों ने शासनसूत्र सँभाले तब भी यह धर्म विकास करता रहा और एक ही परिवार में ब्राह्मण और जैन धर्म के अनुयायी उपलब्ध होते रहे। इस धर्म के तीर्थंकरों ने इसके नेतृत्व के मार्ग पर कठिन व्रत और तपों की बाधा खड़ी करदी और साधुओं को वस्त्र का भी त्याग एवं लुंचन द्वारा केशों का उखड़वाना जैसे कृच्छ्रसाध्य बन्धन लगा दिये, जिसके कारण जैन मुनियों की संख्या कदाचित् ही किसी काल में अत्यधिक हो पाई हो। उन्हें सम्राट् अशोक जैसा समर्थ श्रावक भी प्राप्त न हुआ जो भारत की सीमाओं के पार इसका संदेश पहुँचा सकता। परन्तु पूर्वोक्त बाधा जिसने उसमें अनैतिकता का प्रवेश नहीं होने दिया तथा उसका ब्राह्मणधर्म से सामंजस्यपूर्ण दर्शन एवं स्थूल रूप उसके वेदबाह्य सम्प्रदाय होते हुए भी भारतवर्ष में दीर्घ जीवन के कारण बने।

जैन धर्म का प्रसार

आचार की पवित्रता एवं उच्चता का लक्ष्य प्रथम दृष्टिकोण होने के कारण जैन धर्म का प्रसार अत्यंत मन्द पर दृढ़ गति से हुआ है। फिर भी हमने ऊपर तीर्थंकर महावीर के जीवनकाल में जैन धर्म के प्रसार की सीमाएँ देखी हैं। खारवेल का हाथीगुंफा लेख[1] उस जैनप्रतिमा का उल्लेख करके, प्रस्तुत काल के प्रारम्भ में ही जिसे नन्द सम्राट् कलिंग से जीत ले गये थे, इस घटना से पूर्व कलिंग में जैन धर्म के प्रसार की सूचना देता है। सिकन्दर ने सिन्धु तट पर संभवतः जैन साधुओं को देखा था और अजमेर के वाडली गांव में मिला अभिलेख[2] वीर अथवा नन्द संवत् ८४ में उस प्रदेश तक जैन धर्म के प्रसार की सूचना देता है। सम्राट् अशोक ने निर्ग्रंथ साधुओं के प्रति अपने धर्मलेखों में बौद्ध, ब्राह्मण और आजीवकों के समान ही आदर व्यक्त किया है। जिनप्रभ सूरि के अनुसार अशोक के पौत्र संप्रति को सुहस्तिन ने जैन धर्म में दीक्षित किया था, इससे प्रतीत होता है कि प्रस्तुत काल के अन्त तक इस धर्म का प्रचार अवन्ति में भी होगया था। संप्रति ने अशोक के बौद्ध धर्म के प्रचार के समान ही जैन धर्म के प्रसार का प्रयास किया था। इस संप्रति का एक नाम चन्द्रगुप्त भी अनुश्रुति में विख्यात है और यह दक्षिण में श्रवणबेलगोला तीर्थ तक जैन धर्म का संदेश ले गया था। परन्तु जैन धर्म का प्रसार बहुधा जैनमतावलम्बियों के मन्द गति से चलनेवाले स्थानान्तर और प्रवासों के कारण ही अधिक हुआ।

---

१. जर्नल ऑफ बिहार ओरिएण्टल रिसर्च सोसाइटी, ३, ४, १३ तथा १४।

२. ओझा : प्राचीन लिपिमाला, पृष्ठ २–३।

बौद्ध धर्म

वेदों को अप्रमाण माननेवाले सम्प्रदायों में बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज संसार में इस धर्म के माननेवालों की बहुत बड़ी संख्या है और इतिहास के प्रस्तुत काल में जन्म लेकर इसने हमारे प्रदेश को ही व्याप्त नहीं कर लिया था, सम्राट् अशोक जैसा अनुयायी प्राप्त करके भारत की सीमाओं को भी पार किया था। बौद्ध साहित्य बोधिसत्त्वों के रूप में गौतम बुद्ध से पहले की जिस परम्परा का उल्लेख करता है उसका ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है। इनके जन्म से बहुत पहले से अनेक स्तरों पर धर्मसाधना हो रही थी, प्रचुर धार्मिक एवं लोकसाहित्य विद्यमान था और धर्मोपदेश करते हुए भावना के प्रवाह में जब बुद्ध इस पूर्व साहित्य के किसी चरित्र से तादात्म्य का अनुभव करते होंगे, तब अपने श्रोतावर्ग के मानसिक स्तर का अनुमान करके, उसकी समझ में इनका भाव सरलता से चढ़ जाए इस हेतु मध्यमा प्रतिपत का आश्रय लेते हुए उसका उपदेश वे अपने पूर्वजन्म के वृत्तान्त के रूप में करते रहे होंगे। बोधिसत्त्वों की कथाएँ प्रकारान्तर से यही बताती हैं कि बुद्ध ने जिन सत्यों का उपदेश किया, लोक में उनसे पहले ही वे व्याप्त थे और उस ज्ञानराशि को ही उनकी वाणी के माध्यम से अभिव्यक्ति मिली। हम पहले देख चुके हैं कि बुद्ध के जन्म से पहले हजारों वर्ष की ज्ञान-साधना के फलस्वरूप अनेक दार्शनिक विचारधाराओं का विकास हो चुका था, जिनमें वेदों को प्रमाण माननेवाले आस्तिक और उन्हें प्रमाण न माननेवाले नास्तिक दोनों प्रकार के दर्शन थे, उनके विद्वान् थे और लोक में उन पर श्रद्धा करनेवाले भी थे। बौद्ध धर्म के जन्म से पहले वर्धमान महावीर भी कैवल्य प्राप्त कर चुके थे और वास्तविक अहिंसा एवं त्याग की परा कोटि प्रस्तुत कर चुके थे। साधारण जनता में वैदिक और अवैदिक अनेक देवताओं की पूजा-अर्चना भी प्रचलित थी। इसी पूर्व सामग्री को सिद्धार्थ की वाणी ने बौद्ध धर्म का पावन रूप दिया।

गौतम बुद्ध

बौद्ध धर्म के प्रवर्त्तक सिद्धार्थ बुद्ध के जीवन के सम्बन्ध में प्रामाणिक सूचनाओं का अभाव है। सुत्तनिपात आदि प्राचीन स्रोतों से कुछ सूचनाएँ मिलती हैं, परन्तु विस्तार की बातों के लिए बहुधा अपेक्षाकृत अर्वाचीन साहित्य का आधार लेना पड़ता है। इसके अनुसार नेपाल के सीमान्त पर रोहिणी और राप्ती नदियों से सिंचित शाक्यों के गणराज्य का प्रदेश था तथा इसकी राजधानी कपिलवस्तु थी। कपिलवस्तु के अतिरिक्त इस राज्य में अनेक नगर थे, जिनमें शाक्यों के अस्सी हजार परिवार बसे हुए थे[1]। इनके राजा शुद्धोदन ने रोहिणी नदी के पूर्वी तट पर बसे कोलिय राजा की महामाया और प्रजावती गौतमी नाम की कन्याओं से विवाह किया था। राजा शुद्धोदन की पैंतालीस वर्ष की आयु होने पर महामाया गर्भवती हुईं। प्रसवकाल निकट आने पर दोनों बहनें अपने मायके को रवाना हुईं और मार्ग में ही लुम्बिनी वन में, जहाँ आज अशोक का स्तम्भ नेपाल राज्य की सीमाओं में रुम्मिनदेई में खड़ा है, ईसा पूर्व ५६३ में राजकुमार सिद्धार्थ ने जन्म लिया। महामाया प्रसव के सातवें दिन दिवंगत हुईं

---

१. केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृष्ठ १७५–६।

और बालक सिद्धार्थ का पालन उसकी मौसी प्रजावती ने किया। इनके जन्म के समय अनेक चमत्कारिक घटनाएँ हुई कही जाती हैं। हिमालय निवासी असित मुनि नवजात बालक का अभिनन्दन करने के लिए राजा के महल पर आए और बालक के बुद्धत्व प्राप्त करने पर उनकी दीक्षा ग्रहण करने का अपने शिष्य नालक को उनने आदेश दिया[1]।

ललितविस्तर में कुशाग्रबुद्धि राजकुमार सिद्धार्थ की शिक्षा-दीक्षा का और धनुर्विद्या आदि राजपुत्रोचित कलाओं में लोकोत्तर निष्णातता प्राप्त करने का वर्णन प्राप्त होता है। कुमार बचपन से ही चिंतनशील और एकान्तप्रिय था। यह देखकर, यह वैराग्य ग्रहण न करले, इस दृष्टि से राजा शुद्धोदन ने इसके चारों ओर विलास की सामग्री एकत्र कर दी और १६ वर्ष की छोटी आयु में ही कोलियराज्य की रूपवती राजकुमारी यशोधरा[2] से विवाह भी कर दिया।

महाभिनिष्क्रमण

सुत्तनिपात अथवा अरियपरियेसनसुत्त केवल यह बताते हैं कि राजकुमार को गृहजीवन आध्यात्मिक उन्नति में बाधक और अपवित्र दिखा और उनने प्रव्रज्या ली, परन्तु अवरकालीन साहित्य से इनके वैराग्य के क्रमिक विकास की सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। चारों ओर एकत्र किये गये वैभव और विलास की दीवारों को लाँघती सिद्धार्थ की आँखें प्राणियों को कष्ट देनेवाले बुढ़ापे, रोग, मृत्यु और विलासिता के कुरूप पहलू तक पहुँच गयीं और उनकी सहज वैराग्यवृत्ति जाग्रत हो गयी। इसी समय यशोधरा ने राहुल को जन्म दिया। रात्रि में जब कपिलवस्तु नगरी राजपुत्र के जन्मोत्सव की थकान में निद्रित थी, नवजात शिशु और उसकी माता के सोते मुखों का आकर्षण ठुकराता राजकुमार सिद्धार्थ अपने कन्थक नाम के घोड़े पर चढ़कर महाभिनिष्क्रमण कर गया, अट्ठाईस वर्ष की ही आयु में ज्ञान की खोज में निकल पड़ा। राजसी वस्त्र उसने त्याग दिये और संन्यासी की वृत्ति ग्रहण की।

निष्क्रमण करके सिद्धार्थ आराडकालाम नामक दार्शनिक के पास वैशाली में आए। उससे इनने सांख्यदर्शन का अध्ययन किया[3] और फिर राजगृह आकर एक दूसरे दार्शनिक रुद्रक रामपुत्र का शिष्यत्व ग्रहण किया। इस विद्वान के शिष्यत्व से अभीष्ट बोध प्राप्त होते न देख वे उसके पाँच ब्राह्मण शिष्यों सहित गया के वनों में तपस्या को चले गये।

तपस्या और बोध

यह कहा जाता है कि तपस्या के मार्ग का अनुसरण करते हुए निराहार से मृत्यु निकट देख सिद्धार्थ ने अन्न ग्रहण किया और ब्राह्मण तापस यह देखकर उनका साथ

---

१. सुत्तनिपात, नालकसुत्त।

२. यह नाम महायान सम्प्रदाय के ग्रन्थों में प्राप्त होता है। बुद्धवंश में इनका नाम भद्दकच्चा (भद्रकृत्या) कहा गया है और ललितविस्तर में शाक्य दण्डपाणि की पुत्री गोपा।

३. बुद्धचरित १२।६५।

छोड़ गये। सुजाता नाम की एक नवविवाहित ग्वालिन ने संतान की इच्छा से अपने अनुष्ठान के लिए खीर (पायस) बनाई थी, वह क्षीणकाय सिद्धार्थ को उसने पिलाई। वह उन्हें निरंजरा नदी के किनारे उरवेला में वृक्षक देवता के पास लाई। एक पीपल के पेड़ के नीचे सिद्धार्थ बोधि प्राप्ति के लिए दृढ़संकल्प होकर ध्यानमग्न हुए। कामदेव ने सदेह उनपर आक्रमण किया। बुद्ध विजयी हुए। उन्हें बोध हुआ। अरिय परियेसन सुत्त[1] सुजाता या तपस्या का उल्लेख नहीं करता। उसके अनुसार बुद्ध रुद्रक रामपुत्र के आश्रम से उरुविल्व आए। वहाँ कगारों को छूकर बहती नदी के तट पर एक पीपल के नीचे ध्यानस्थ अवस्था में वैशाखी पूर्णिमा के दिन उन्हें बोध हुआ। वह पीपल बोधिवृक्ष कहलाया।

धर्मचक्र प्रवर्तन

ज्ञान का पारावार, जिसका बुद्ध अवगाहन कर रहे थे, अगाध एवं सूक्ष्म था और उसका उपदेश वे संसार को करें, यह वे पहले निश्चित न कर सके। ब्रह्मा ने सदेह आकर आग्रह किया, तब बुद्धदेव उपात्त मुक्ति के मार्ग का उपदेश करने को अग्रसर हुए। उनके दोनों आचार्य इस समय तक संसार छोड़ चुके थे। वे ऋषिपत्तन (सारनाथ) आए। यहाँ इनके वे पाँच पूर्व के साथी मिले। उन्हें अपने मध्यमाप्रतिपतवाले आर्य अष्टांगिक मार्ग का उपदेश करके[2] इनने अपना 'धर्मचक्र' प्रवर्तित किया। इसके पश्चात् वाराणसी का श्रेष्ठि यस अपने इष्टमित्रों सहित इनका अनुयायी हुआ। राजगृह में इनने तीन वर्षावास किये। यहाँ अनेक तित्थिय और परिव्राजकों से उनकी मुठभेड़ हुई। राजगृह में उनने अनेक उपासक और शिष्य बनाए। इन शिष्यों में सारिपुत्त और मोग्गलान प्रसिद्ध हैं। अनेक जैन श्रमण इनकी ओर फूट आए। वैभवशाली अनाथपिंडक, बिम्बिसार और अजातशत्रु बुद्ध के धर्म मे दीक्षित हुए। फिर बुद्ध गया, उरुविल्व, नालन्दा और पाटलिपुत्र गये।

कौशल में बुद्ध ने अपने अंतिम २० वर्षावास व्यतीत किये थे। यहाँ श्रेष्ठि अनाथपिडक ने उनके निवास के लिए अपार धनराशि व्यय करके जेतवन मोल लेकर दिया था[3]। संभवतः प्रसेनजित इनके अनुयायी हुए और उनकी रानियाँ साधिका बनीं।

राजगृह के निवासकाल में बुद्ध कपिलवस्तु गये। कहते हैं कि विरोधी दृष्टिवाले शाक्य बुद्ध के चमत्कारप्रदर्शन के पश्चात् इनके अनुयायी बने और इनका स्वयं का परिवार भी बौद्ध धर्म में दीक्षित हुआ[4]।

वैशाली की नगरवधू अम्बपाली बुद्धधर्म में दीक्षित होकर थेरी हुई। अपना पाँचवाँ वर्षावास बुद्ध ने यहाँ व्यतीत किया था। यद्यपि बुद्ध स्त्रियों को भिक्षुणी बनाने के विरुद्ध थे, बौद्ध संघ के धर्मभाण्डागारिय एवं अपने निजी सहायक[5] आनन्द और अपनी मौसी

---

१. मज्झिमनिकाय १, पृष्ठ १६४।

२. महावग्ग १।१।

३. चुल्लवग्ग ६।२।

४. वही।

५. जुन्हजातक (४५६)।

महाप्रजावती गौतमी के अनुरोध से स्त्रियों के लिए प्रव्रज्या का मार्ग इनने खोल दिया। ये थेरी कहलाईं। कौशाम्बी में बुद्ध ने नवाँ वर्षावास किया और बारहवाँ मथुरा में। अवन्ति के महाराज चण्डप्रद्योत ने इन्हें अवन्ति आने का निमंत्रण दिया, परन्तु बुद्ध नहीं गये। अवन्ति के कात्यायन ने इनका शिष्यत्व ग्रहण किया और मथुरा, अवन्ति तथा दक्षिण अवन्ति में बुद्ध के उपदेशों का प्रचार किया।

महापरिनिर्वाण

दीघनिकाय का महापरिनिब्बाणसुत्त मल्लों के प्रदेश में तथागत के अंतिम पर्यटन का वर्णन देता है। इस समय तक उनके अनेक साथी संसार से उठ गये थे, प्रसेनजित के पुत्र विडूडभ ने कपिलवस्तु पर आक्रमण करके शाक्यों का संहार किया था और श्रावस्ती में पैंतालीसवाँ वर्षावास व्यतीत करके जब बुद्ध राजगृह जा रहे थे, मार्ग में उन्हें कपिलवस्तु के खण्डहर देखने को मिले। बुद्ध अस्सी वर्ष के हो गये थे। स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता था। इसी बीच बुद्ध मल्लों के अनेक गाँवों में घूमते हुए जब पावा पहुँचे, वहाँ कम्मारपुत्त (लुहार) चुन्द ने इन्हें सूअर के मांस का भोजन कराया। बुद्ध इसे पचा न सके, उन्हें रक्तातिसार हो गया और कुसीनारा में उनने ५४४ ई० पू० देह-त्याग किया, विश्व को अपने उपदेश देकर स्वयं महापरिनिर्वाण प्राप्त किया। मल्लों ने इनका दाहसंस्कार किया और इनके फूल (अस्थि अवशेष) वैशाली के लिच्छवि, कपिलवस्तु के शाक्य, वेठ दीप के ब्राह्मण, पिप्पलिवन के मौर्य, अल्लकप्प के बुलि तथा रामगाम के कोलियों ने बाँट लिये। उनने उन पर स्तूप बनाए और इस सुत्त के अनुसार इस समय चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी और वाराणसी में बौद्ध धर्म सुस्थापित हो गया था। इस सम्प्रदाय के प्रसार का चरम विस्तार भारत में अशोक के काल में हुआ। उस सम्राट की धर्मभावना ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय धर्म बना दिया। उसने देश के अंचलों को बौद्ध स्तूपों से जड़ दिया और अपनी धर्मपरायणता के अमृत से गौतम बुद्ध द्वारा आरोपित पौधे को सींचकर विशाल वटवृक्ष बनाया, जिसकी शीतल सघन छाया में संसार के अनेक देशों ने आश्रय प्राप्त किया।

बौद्ध साहित्य का विकास

बौद्ध धर्म के उपदेश पालि सुत्तपिटक में संग्रहीत हैं। इनमें बौद्ध धर्म के अनेक आचार्यों के उपदेशों के बीच यह पहचानना सरल नहीं है कि गौतम बुद्ध के मूल उपदेश क्या थे। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् भिक्षु महाकाश्यप के प्रस्ताव के अनुसार ५०० बौद्ध भिक्षुओं ने राजगृह में एकत्र होकर बौद्ध धर्म की पहली संगीति में बुद्ध के उपदेशों का गान किया।

दूसरी संगीति वैशाली में सौ वर्ष बाद हुई। इसे कालाशोक या काकवर्णी ने बुलाया था, जिसका उल्लेख राजनैतिक इतिहास के प्रकरण में किया जा चुका है। इस संगीति में बौद्ध संघ में उत्पन्न हुए दो दल प्रकट हुए। एक दल कौशाम्बी, पाथेय्य और अवन्ति के स्थविरों का था और दूसरा वैशाली और पाटलिपुत्र का। इस दलबन्दी का कारण वे दस नियम थे जो पाटलिपुत्र और

वैशाली के स्थविरों ने ग्रहण किये थे और जिनमें बौद्ध भिक्षुओं को कुछ अधिक खाने-पीने एवं आराम की सुविधाओं की, आचार की कुछ शिथिलता की और सोना-चाँदी दान में लेने की व्यवस्था थी। अवन्ति और कौशाम्बी के स्थविरों ने इन पूर्व के स्थविरों से इन नियमों के त्याग का आग्रह किया; परन्तु सफल नहीं हुए। इस संगीति ने इन नियमों के विरुद्ध निर्णय दिया। परंतु पूर्व के स्थविरों ने, जो अपने आपको वृज्जिपुत्र कहते थे, इस निर्णय को स्वीकार नहीं किया। अपनी महासंगीति उनने अलग बुलाई और इन नियमों पर स्वीकृति की मुहर लगादी। वे महासंघिक कहलाने लगे और अवन्ति आदि के भिक्षुओं के थेरवाद के विपरीत वे आचरियवाद के अनुयायी कहलाए।

थेरवाद

थेरवाद के प्रवर्तक अवन्ति के महाकात्यायन थे। इनका कार्यक्षेत्र कौशाम्बी और उज्जैन था, अतः इनने इस प्रदेश की पालि प्राकृत को अपने पिटक की भाषा के रूप में ग्रहण किया। इसी पालि पिटक का प्रचार अशोक के पुत्र महेन्द्र ने सिंहल में किया।

थेरवाद की एक शाखा सर्वास्तिवाद थी, जिसका संस्थापक राहुलभद्र था। इसके पिटक संस्कृत भाषा में थे और इस शाखा का प्रारंभिक केन्द्र मथुरा में था, जहाँ से आगे के काल में वह गांधार और काश्मीर में पहुँची। यह बड़ी प्रभावशाली शाखा थी।

महासंघिक

महासंघिक शाखा के प्रवर्तक महाकाश्यप कहे जाते हैं। वैशाली के केन्द्र से इसका प्रचार संपूर्ण भारत में हुआ। पीछे के काल में यह आन्ध्र प्रदेश में सीमित हो गयी। नागार्जुनकोंडा और अमरावती इसके केन्द्र थे। विनय के उक्त नियमों के अतिरिक्त थेरवाद से इनके सिद्धान्तों में भेद यह था कि इनने बुद्ध में, उन्हें लोकोत्तर मानते हुए देवत्व का आरोप किया था। थेरवादियों का लक्ष्य अर्हत होना था और महासंघिकों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य बुद्धत्व प्राप्ति होना चाहिए। ये मानते थे कि विज्ञान (चित्त) मूल रूप में विकारहीन है।

थेरवाद और महासंघिक के अन्तर्गत अनेक अवांतर शाखाओं का विकास हुआ था; परन्तु उनके मतभेद अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं थे।

अशोककालीन संगीति

अशोक ने जब बौद्ध धर्म स्वीकार किया, इस धर्म में ये अनेक शाखाएँ और उनके मतभेद विद्यमान थे। उसने अशोकाराम नामक एक विशाल विहार बौद्ध भिक्षुओं के निवास के लिए पाटलिपुत्र में बनवाया था। उसमें सात वर्ष तक इन मतभेदों के कारण उपोसथ नाम की पाक्षिक बैठकें नहीं हो सकी थीं। उपोसथ में भिक्षु पखवाड़े में अपने द्वारा किये गये आचरणों के नियमों (विनय) के उल्लंघनों को प्रकट करते थे। ये बैठकें न होने का कारण यह था कि कुछ कृत्य किसी मत विशेष में अविनय नहीं थे और दूसरे में वही अविनय थे। इसने, ये उपोसथ हों, इसकी व्यवस्था के लिए एक अमात्य नियुक्त किया। इस अमात्य ने उपोसथ में भाग न लेनेवाले भिक्षुओं का वध किया। अशोक इससे दुखी हुआ और उसने मोग्गलिपुत्त तिस्स से परामर्श किया।

उनके परामर्श के अनुसार जो भिक्षु थेरवाद के नियमों का उल्लंघन करते थे, उन्हें संघ से निकाल देने का इसने नियम बनाया। अशोक के प्रयास से मोग्गलिपुत्त तिस्स की प्रधानता में तीसरी संगीति बुलाई गयी। थेरवाद के विरोधियों के मतों का इस संगीति में खंडन करके बौद्ध आगम में एकरूपता लाने का प्रयास किया गया। इन संगीतियों में बौद्ध धर्म के साहित्य का विकास हुआ। इन तीन संगीतियों तक धर्म के सिद्धान्त और भिक्षु संघ के धर्माचरण के संबंध में बौद्ध वांग्मय के दो ही विभाग या पिटक थे। तीसरी संगीति के पश्चात् आगामी युग में बौद्ध धर्म के अभिधम्म साहित्य के साथ इसके तीन पिटक हो गये। एक धम्मपिटक, दूसरा विनयपिटक और तीसरा अभिधम्मपिटक। यही त्रिपिटक कहलाते हैं।

बौद्ध धर्म

बुद्ध ने अपने धर्म को मध्यमा प्रतिपत कहा है। सांसारिक सुखोपभोग को ही सर्वस्व माननेवाले लोकायतों के और उग्र तपस्यावाले पूर्ववर्त्ती ऋषियों और तीर्थंकरों के मार्गों में से बीच का मार्ग बुद्ध ने चुना था[1]। बौद्ध धर्म की अहिंसा का स्वरूप, जिसमें अपने हाथ से जीव के वध का निषेध था और पराये हाथ का मारा मांस खाया जा सकता था[2], तथा अध्यात्म के उहापोह का त्याग, जो बुद्ध द्वारा इन प्रश्नों को अव्याकृत, न पूछे जाने योग्य, घोषित करने से प्रकट होता है, इस मध्यम मार्ग के ही सूचक हैं। इस मध्यमा प्रतिपत के अनुसरण में उनने चार आर्य सत्य देखे थे--(१) संसार "दुःखों" का घर है, (२) उस संसार का वासना के "निरोध" से समुदय रोका जा सकता है, (३) "समुदय" वासना से होता है और (४) वासना के "निरोध" का "मार्ग" आर्य अष्टांगिक मार्ग है। इस मार्ग के सम्यक् ज्ञान, साम्यक् प्रयोग, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम (उद्योग), सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि (ध्यान) ये आठ अंग हैं[3]। बौद्ध धर्म के अनुसार पंचतत्त्व अनात्म हैं, अनित्य हैं और दुःख का कारण हैं। इन पंचतत्त्वों की इन विशेषताओं का अनुभव करनेवाला विमुक्त और अर्हत हो जाता है। सदाचार का, विश्वमैत्री का और स्वतंत्र चिंतन का उपदेश बौद्ध साहित्य में सर्वत्र झलकता है।

बौद्ध दर्शन

आर्य अष्टांग मार्ग के अनुसरण में प्राप्त प्रज्ञा के अनुसार संसार मिथ्या है। "हेतु प्रत्ययों" के कारण अबुद्ध मनुष्य को उसका अयथार्थ आभास प्राप्त होता है और संसार में अवास्तविक पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व दिखाई देने का कारण "प्रत्यय समुत्पाद" है।

बुद्ध के मार्ग का अनुसरण करते हुए मनुष्यजीवन की चरम परिणति निर्वाण[4] है। इसे प्राप्त कर लेनेवाला मनुष्य अजर, अव्याधि, अमृत, अशोक और असंक्लिष्ट (अपवित्रता से मुक्त) हो जाता है। यह सर्वोच्च (अनुत्तर) स्थिति है और बौद्ध साहित्य

१. महावग्ग १।१।

२ तेलोवाद जातक (२४६)।

३. सुत्तनिपात ३८१–८३।

४. अरियपरियेसनसुत्त।

में इसकी स्पष्ट परिभाषा और आत्मा के प्रश्न पर बौद्ध दृष्टिकोण स्पष्ट प्राप्त नहीं होते, कारण कि इन प्रश्नों को न पूछे जाने योग्य, "अव्याकृत" मान लिया गया था। परन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि बुद्ध आत्मा को दार्शनिक और व्यावहारिक दोनों रूपों में मानते थे[1]। सम्भवतः स्थिति यही थी। तब नागार्जुन द्वारा खड़ा किया गया बौद्ध दर्शन का महल और बुद्ध द्वारा इन प्रश्नों को अव्याकृत कहकर टालना क्रमशः बौद्ध धर्म और दर्शन को वैदिक परम्पराओं से पृथक् प्रतिपादित करने की एवं जनसाधारण को सीधासादा धर्मपथ देने की इच्छा से प्रेरित रहे होंगे। दुःख आर्य सत्य है, यह अनात्मवाद की निराशा का परिणाम न होकर तथागत के हृदय में उमड़ती करुणा की अभिव्यक्ति ही थी।

बौद्ध संघ

बुद्ध का मध्यमा प्रतिपत्त का सिद्धान्त था। अतः बौद्ध भिक्षु विहारों में रहते थे और उपासकों द्वारा दिया हुआ भोजन, वस्त्र, औषधि आदि का समुचित व्यवहार करते थे। भिक्षुओं के आचार के नियम पातिमोक्ख तथा विनयपिटक में संग्रहीत हैं। इनमें पुरुष स्थविरों या भिक्षुओं और स्त्री थेरी या भिक्षुणियों के लिए विस्तृत व्यवस्थाएँ हैं। यह पहले कहा जा चुका है कि बुद्ध पहले स्त्रियों को थेरी बनाने के पक्ष में नहीं थे और पीछे उन्होंने उसको अनुमति दे दी थी। तपस्या की कठिनाइयों का भी मध्यम मार्ग में प्रश्न नहीं था और स्थविरों एवं भिक्षुओं के लिए भी मांस खाना छोड़ना आवश्यक नहीं था। आश्रमधर्म की स्पष्ट अवहेलना में इस सम्प्रदाय का उद्भव होने से प्रवृज्या लेकर भिक्षु बनने के लिए आयु का भी बंधन नहीं था। अतः सभी आयु के बहुसंख्यक स्त्री-पुरुष नवीन धर्म की ओर आकर्षित होकर भिक्षु बने थे। प्रारंभ में इस बड़ी संख्या ने बौद्ध धर्म के प्रचार में बहुत सहायता की होगी और इसी बड़ी संख्या में से मोग्गलान, आनंद, नागार्जुन ओर अश्वघोष जैसे महान् व्यक्तित्व विकसित हुए; परन्तु सर्वत्र स्थिति यह नहीं रही। "बुद्ध के विहारों और प्राचीन ऋषियों के आश्रमों में एक भारी बुनियादी भेद था। उन आश्रमों में स्त्रियाँ और पुरुष एक कुल या परिवार की तरह साथ-साथ रहते थे, जब कि बौद्ध विहारों में फौजी छावनियों की तरह वे अलग-अलग रखे जाते थे और बौद्ध मार्ग में युवकों और युवतियों को भी बहुत आसानी से प्रवृज्या मिल जाती थी। यह प्रकृति के नियमों के प्रतिकूल था ओर मानव प्रकृति पर इस प्रकार दबाव डालने से उसकी आवश्यक प्रतिक्रिया हुई[2]।" यह प्रतिक्रिया कुछ तो सम्राट अशोक के काल में ही हजारों भिक्षुओं को संघ से निष्कासित किये जाने की आवश्यकता के रूप में और कुछ आगे वज्रयान के उद्भव में दिखाई दी। इसके अनुकरण में अन्य सम्प्रदायों में भी आश्रमधर्म का उल्लंघन कर प्रारंभिक वय में प्रवृज्या लेकर साधु बननेवालों की बाढ़ आ गयी, जिसके अवशेष आज भी उपलब्ध हैं।

बौद्ध धर्म और योनिवाद

बौद्ध और जैन धर्म की समीक्षा करते हुए कुछ विद्वानों ने यह अनुमान किया है कि जिस समय बौद्ध धर्म का उद्भव हुआ "यज्ञों पर पलनेवाले ब्राह्मण इतने हिंसाप्रिय हो गये थे

१. जयदेवसिंह : बौद्ध दर्शन में अनात्मवाद, त्रिपथगा, फरवरी १९५६, पृष्ठ ३२।

२. जयचंद्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जिल्द १, पृष्ठ ३८७-८८।

कि समाज उनसे घृणा करने लगा और ब्राह्मणों का पद उन्होंने क्षत्रियों को दे दिया"। "उन दिनों यह अनुभव किया जाने लगा था कि अहिंसा धर्म का महाप्रचारक ब्राह्मण नहीं हो सकता। इसीलिए बुद्ध और महावीर के क्षत्रियवंश में उत्पन्न होने की कल्पना लोगों को बहुत अच्छी लगने लगी[1]"। इस अनुमान की भ्रांति वहाँ प्रकट होती है जहाँ इस कल्पना के लिए अपेक्षित ब्राह्मण के प्रति वह घृणा प्रस्तुत युग में प्राप्त नहीं होती जिसे समाज की घृणा कहा जा सके। जिन्हें यज्ञों पर पलनेवाला ब्राह्मण कहा गया है, उनकी परंपरा उन विशाल ब्राह्मण संस्थाओं से निकल रही थी जिनकी एक-एक कृति पृथिवी का गौरव है, जिनका वैभव और मान समाज उन्हें सांस्कृतिक तीर्थ मान कर स्थिर रखे था और जो संपूर्ण देश में व्याप्त वैदिक चरणों एवं आश्रमों के रूप में राष्ट्र के ज्ञान-तंतुओं का पोषण कर रही थीं। इस कल्पना में वह विचित्र मान्यता भी निहित है कि यज्ञ हिंसा का समानार्थी था और अहिंसा भारतवर्ष के लिए कोई नया आविष्कार था। ब्राह्मण परंपरा के चिन्तकों ने तात्त्विक अहिंसा को जाना था और कम से कम बौद्ध धर्म का अहिंसा का घोष ब्राह्मणों की कथित हिंसाप्रियता से इस प्रकार भिन्न था, यह समझ से बाहर की बात है। जो मांस बौद्ध धर्म में दूसरे द्वारा मारे जाने पर ग्राह्य था, उसे यदि ब्राह्मण देवता को अर्पित करके खाजाता था, तो उसके घृणा का पात्र होने का केवल एक ही कारण हो सकता है कि वह अपने आपको यज्ञशिष्ट का भागी मानता था, उसका जीवन ही यज्ञार्थ था।

बुद्ध के जिन कथनों को इस सम्बन्ध में उद्धृत किया गया है और जिनमें वे नीचे से नीचे क्षत्रिय को भी ब्राह्मण से श्रेष्ठ मानते हैं, उनका जादू अधिकतम परीक्षित के वंशज उदयन की रानियों पर चल सकता था। संभव है कोई राजा शाक्यसिंह के राजपुत्र होने के साथ-साथ उनके अपने आप को क्षत्रिय कहने के कारण बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गया हो; परंतु अधिकांश तथ्य इस अनुमान के विपरीत है। ब्राह्मणों के प्रति समाज की घृणा या सम्मान का जहाँ तक प्रश्न है, उसके लिए इतिहास के विविध कालों में हैहय, नहुष, परीक्षित, वीतहव्य और प्रस्तुत काल के ही विदेहों के प्रसंग खोजना नहीं पड़ेंगे। इनके राज्य समाज की ब्राह्मण के प्रति घृणा के कारण या किसी जादू से समाप्त नहीं हो गये थे। इन विप्लवों की मौलिक शक्ति ब्राह्मण का सम्मान करनेवाले जनबल का उस सम्मान पर आघात होने के कारण किया गया विद्रोह था। यह सम्मान प्रस्तुत काल में सर्वोपरि था और क्षत्रियों का सूर्य लगभग अस्त हो चुका था। बौद्ध धर्म जब भारतवर्ष में खमध्य रेखा पर चमक रहा था, तब भी अशोक के धर्मलेख ब्राह्मण के प्रति सम्मान प्रदर्शित कर रहे थे, इसलिए नहीं कि अशोक ब्राह्मण धर्म का अनुयायी था, और दूसरी ओर साठ-साठ हजार भिक्षु एक बार में उसी के द्वारा बौद्ध संघों से निकाले जा रहे थे। बहुत ध्यान से देखने पर भी इन शिलालेखों में ब्राह्मण के प्रति कल्पित घृणा या तथागत के क्षत्रिय वंश के प्रति श्रद्धा की अभिव्यक्ति दिखाई नहीं देती। प्रस्तुत काल की सामाजिक स्थिति का अध्ययन इस संबंध में अधिक स्पष्ट सूचनाएँ देता है।

---

१. दिनकर। संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ १०७।

उक्त कथनों से जिस ब्राह्मण-क्षत्रिय प्रतिस्पर्द्धा का संकेत किया गया है और जिसके सन्दर्भ में श्री भगवतशरण उपाध्याय का मत उद्धृत किया गया है, वह शाश्वत सत्य है। उसका आधार भी वंश न होकर राजनैतिक अधिक है। लोकनिरपेक्ष राजसत्ता और चिंतन में सामंजस्य दीर्घजीवी नहीं होता, और उस एकतंत्र के युग में पुरोहित से भी राज्य की पटरी राजा की विवशता के कारण ही बैठती रही थी, ब्राह्मणत्व और निरंकुश राजसत्ता का संघर्ष दीर्घकालीन रहा। ब्राह्मण को अपने उच्च नैतिक स्तर का, बहुसंख्या का, जनता के समर्थन का, ज्ञान का और वैभव का दम्भ था और राजा को राजसत्ता का। इनकी उखाड़-पछाड़ के उदाहरण इतिहास में भरे पड़े हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ब्राह्मण अराजक ही था, क्षत्रिय निरंतर प्रजा-उत्पीड़क था, फिर भी राज्य स्थापित करलेता था, निरंतर दो शिविर लगे हुए थे और युद्ध चालू था। स्थिति यह थी कि ब्राह्मण जनशक्ति का प्रतिनिधि था और राजन्य या क्षत्रिय राजनैतिक व्यवस्था का प्रतीक। राजा, मंत्रिपरिषद और महामंत्री अर्थात् आर्य ब्राह्मण मिलकर राज्य शासन की इकाई की पूर्ति करते थे, परस्पर सहकार करते थे। यह सामंजस्य की स्थिति होती थी, जो बहुधा वर्तमान रहती थी। राज्यतंत्र का यह गठन सैद्धान्तिक ही नहीं था। उस युग में जब जन और जनपद सशक्त एवं प्रबुद्ध थे, इस सहकार और सामंजस्य के बिना व्यवहार चलना संभव नहीं था। राजनैतिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए अन्यत्र इसका दिग्दर्शन किया गया है। आर्यब्राह्मण बिना अपने माथे पर मुकुट चढ़ाए शान्ति और व्यवस्था बनाए रखना चाहता था, अतः इस सहकार और सामंजस्य की स्थिति में जहाँ तक राजा लोकनिष्ठ रहता था, ब्राह्मण अपने प्राणों के मूल्य पर राजतंत्र की रक्षा करता था और इतिहास में उसके विप्लवकारी रूप के उदाहरण उन प्रसंगों में निरपवाद प्राप्त होते हैं जहाँ राजा का व्यक्तित्व लोक के लिए असह्य होगया है। ऐसे उदाहरण अधिक हैं जहाँ उसे यदि राजतंत्र हाथ में भी लेना पड़ा है तो वह अपने आपको शुंगों के उदाहरण में 'सेनापति' और काण्वों के उदाहरण में 'शुंगभृत्य' ही कहता रहा है।

भारतवर्ष में जिन्हें अवतार माना गया है, उनके अवतार माने जाने में किसी वंश विशेष में जन्म लेने का हाथ मानना भारतवर्ष की समष्टिगत चेतना पर अनुचित लांछन लगाना ही होगा। जन्म देनेवाले वंश से महापुरुषों को महत्त्व नहीं मिला, उनके उदात्त चरित्र और लोकसंग्रहकारी प्रवृत्तियों से वंश गौरवान्वित हुए हैं और बुद्ध के उपर्युक्त कथन का क्षत्रिय की अहिंसा की काव्यकल्पना के स्थान पर दूसरा ऐतिहासिक महत्त्व है। इनसे पूर्व नास्तिक योनिवादियों का एक दर्शन था, जो जाति विशेष में जन्म लेने को बहुत महत्त्व देते थे[1]। बुद्ध का यह कथन उसी का अवशेष है, जो सौभाग्य से बौद्ध दर्शन पर गहरा नहीं छाया। यदि उसमें योनिवाद या क्षत्रिय की श्रेष्ठता उतनी स्पष्ट होती, जितनी ऊपर कल्पना की गयी है, तो निश्चय ही ब्राह्मण के अनुमानित जातिवाद से कहीं अधिक इस क्षत्रियवाद का भी काश्यप, नागार्जुन आदि विद्वानों द्वारा तिरस्कार ही होता। यह सोचना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता कि मूढ़ता

१. डॉ० वासुदेवशरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ३८२।

के किन्हीं कल्पित नगण्य अपवादों के अतिरिक्त समझदार संसार इसलिए बौद्ध या जैन धर्म में द्रुतगति से दीक्षित हो गया था कि वे क्षत्रिय द्वारा प्रवर्त्तित थे। इन धर्मों के प्रसार के कारण दूसरे थे। उनमें युगों के निकष पर खरे उतरे सर्वमान्य शाश्वत सत्यों को लोक-कल्याण की दृष्टि से जनता तक पहुँचाया गया था। समाज के जिस अंश ने इस प्रस्तुति को पसन्द किया, वह इनमें दीक्षित हुआ।

अशोक का बौद्ध धर्म और चाणक्य का राजधर्म

अशोक ने बौद्ध धर्म का झण्डा ऊँचा किया था। उसकी धार्मिक नीति का अध्ययन राजनैतिक इतिहास देते हुए प्रस्तुत किया जा चुका है। उसकी धर्मनीति का जिन धर्मलेखों में स्पष्ट रूप दिखाई देता है उनसे प्रतीत यह होता है कि अशोक ने साम्प्रदायिक सीमाओं से ऊपर उठकर वस्तुतः लोकधर्म का, उन सिद्धान्तों का प्रचार किया था, जिनका पालन करके समाज सुखी रहता आया था। अशोक की धर्मलिपियों की तुलना जब हम उससे पहले हुए आचार्य चाणक्य के वचनों से करते हैं, तब यह बात स्पष्ट दिखाई देती है। यह अनुमान न करने का कोई कारण नहीं है कि अशोक के सामने उसके ही राज्यपीठ के लिए निर्मित इनका यह अर्थशास्त्र न रहा हो अथवा जिन ब्राह्मण शास्त्रों का निचोड़ इस अर्थशास्त्र के वचनों में रखा गया है, उनसे इस जीवधारियों का वैदिक परंपरा से सम्मत ऋण माननेवाले का[1] परिचय न हो।

चार वर्ण और आश्रमों के कर्त्तव्यों का निर्देश करने के पश्चात् वात्स्यायन चाणक्य कहते हैं कि, 'अहिंसा, सत्य, पवित्रता, अवैर, क्रूरता का अभाव तथा क्षमा सब (वर्णों और आश्रमों) का धर्म है। अपने स्वधर्म के पालन से स्वर्ग और आनंत्य (अनंत आनंद) प्राप्त होता है। इसका उल्लंघन किये जाने पर वर्ण और धर्म की अव्यवस्था से संसार समाप्त होगा। अतः राजा अपनी प्रजा को अपने कर्त्तव्यों से च्युत नहीं होने देगा........... इससे निश्चित उन्नति होगी और कभी विनाश नहीं होगा[2]'। इसके प्रकाश में हम देखते हैं कि सम्राट अशोक अपने प्रचारित धर्म का रूप निरूपित करते हुए अपने एक धर्मलेख में प्रज्ञापित कराता है कि 'उस (धर्ममंगल) में ये बातें हैं कि (जन्म से) दास और (वेतनभोगी) नौकरों से उचित व्यवहार, गुरुजनों की पूजा, प्राणियों पर दया, श्रमणों और ब्राह्मणों को दान[3]'। एक धर्मलेख कहता है 'प्रियदर्शी राजा के धर्मानुशासन से आजकल प्राणियों का न मारा जाना, जीवों की अहिंसा, संबंधियों, ब्राह्मणों तथा श्रमणों का आदर, माता-पिता और वृद्धजनों की सेवा बढ़ती है[4]'। एक और धर्मलेख में अच्छी बातों की परिगणना की गयी है, 'माता-पिता की और मित्रों, परिचित (प्रशंसित) लोगों, संबंधियों, ब्राह्मणों और श्रमणों की सेवा (करना) अच्छा है, दान देना अच्छा है, जीवों का न मारना अच्छा है, थोड़ा व्यय करना और थोड़ा बटोरना अच्छा है[5]'। अपने

---

१. अशोक की धर्मलिपियाँ, छठा प्रज्ञापन तथा मनुस्मति ९।१०६ और ६।९४।

२. अर्थशास्त्र १।३।

३. अशोक को धर्मलिपियाँ, नवाँ प्रज्ञापन।

४. वही, आठवाँ प्रज्ञापन। ५. वही, तीसरा प्रज्ञापन।

एक धर्मलेख में वह कहता है कि 'मनुष्य के ऊँच-नीच विचार और ऊँच-नीच (अनु) राग होते हैं। वे (अपने-अपने धर्म का) पूरी तरह (पालन) करेंगे। अथवा (उसका) कोई अंश (पालन) करेंगे। जिसके (यहाँ करने को) बहुत दान नहीं है, उसमें भी संयम, भावशुद्धि, कृतज्ञता और दृढ़ भक्ति तो अवश्य ही नित्य है अर्थात् विद्यमान है'[1]। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि अशोक के ये धर्मादेश धर्म के उपर्युक्त रूप के किसी प्रकार विरोधी या उससे भिन्न नहीं हैं। ये लोकधर्म की साधिकार की गयी घोषणाएँ हैं।

अशोक की इस धर्मनीति ने बौद्ध धर्म को भी प्रभावित किया था और उसके परिणाम व्यापक एवं दीर्घकालीन हुए थे। इसका वर्णन आगे के युग का विषय है। उसने बौद्ध धर्म को संघों और विहारों की सीमाओं से निकालकर लोकधर्म बनाने का प्रयास किया था। आगे की पीढ़ियों के भारत ने उसका लाभ उठाया।

अशोक ने अपने धर्मदूत, जिनमें उसका पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा भी थी, उस काल के मनुष्य द्वारा अधिवासित विश्व के छोरों तक भेजे और उनके द्वारा भारत की उदार संस्कृति ने वसुंधरा के सुदूर अंचलों को संस्कारित किया।

वैष्णव उपासना

विगत वैदिक युग की धर्मसाधना से जिन आस्तिक मतों का विकास हुआ, उनमें वैष्णव उपासना का प्रमुख स्थान है। इसमें देवोत्तम के रूप में विष्णु को अथवा सूर्य के रूप में विष्णु को आराधना के प्रमुख पुरस्कर्त्ता वासुदेव कृष्ण की उनके चातुर्व्यूह कहलानेवाले संकर्षण आदि परिवार सहित "पत्रं पुष्पं फलं तोयम्" आदि के अर्पण द्वारा आराधना प्रस्तुत काल में प्रचलित हो गयी थी। उसमें यद्यपि यज्ञों की धर्मसाधना के रूप का पीछे के काल में परित्याग किया गया था, इस मत के आराधक वेदों को प्रमाण मानते थे।

पिछले अध्याय में हमने वासुदेव कृष्ण के प्रादुर्भाव के रूप में मध्यदेश की ही नहीं, सम्पूर्ण भारत की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण घटना का साक्षात्कार किया है। भगवद्गीता के रूप में उन्होंने तत्त्वज्ञानयुक्त धर्मसाधना लोक में उपस्थित की थी। अन्य बातों के साथ-साथ भक्ति उस साधना का महत्त्वपूर्ण अंग थी। वासुदेव कृष्ण के उद्भव और इस उपदेश के अतिरिक्त धार्मिक क्षेत्र में इसी प्रकार की अन्य धाराएँ भी प्रवाहित हो रही थीं। ऋग्वेद में विष्णु एक आदित्य के रूप में वर्तमान थे। ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण में आगे के काल में इस आदित्य विष्णु का सर्वोच्च देवता के रूप में उल्लेख हुआ[2]। इस संदर्भ में यहाँ यह देवता यद्यपि एक आदित्य ही है और उसकी उपासना का स्वरूप प्रारंभ में विष्णु को अर्पित यज्ञों का ही रहा, परन्तु विष्णु नाम में सर्वोच्चता का भाव इसी परम्परा में प्रतिष्ठित हुआ।

---

१. वही, सातवाँ प्रज्ञापन।

२. आर० जी० भाण्डारकर: वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स, पृष्ठ ३४।

शतपथ ब्राह्मण में नारायण पुरुष का उल्लेख प्राप्त होता है। ये प्रजापति की प्रेरणा से पाँच अहोरात्र चलनेवाला पांचरात्र यज्ञ करके पुरुषोत्तम बने थे। नारायण की विष्णु से अभिन्नता बौधायन धर्मसूत्र में स्थापित की गयी है। नारायण ऋषि में देवत्व की स्थापना होने पर इनके उपासक सम्भवतः पांचरात्रिक और यह साधना नारायणधर्म कहलाने लगी। इन नारायण और इनके साथ उल्लेखित नर पीछे कृष्ण और अर्जुन से अभिन्न मान लिये गये। वासुदेव कृष्ण ने अपने जीवनकाल में ही अपने आपको ईश्वर घोषित कर दिया था। मथुरा के आसपास के शूरसेन प्रदेश में वासुदेव कृष्ण, उनके अग्रज संकर्षण, कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न एवं साम्ब तथा प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध की यादवों में पूजा प्रचलित हो गयी थी। इन अनेक तत्त्वों से मिलकर वैष्णव धर्म का उद्भव हुआ। भगवद्गीता के अध्ययन से प्रकट होता है कि वासुदेव कृष्ण सूर्य के उपासक थे[1]। इनका वंश सूर्योपासक होने के उल्लेख पुराणों में भी प्राप्त होते हैं। अपने आराध्य सूर्य के विष्णु नाम से वासुदेव कृष्ण कालान्तर में अभिन्न हो गये, नारायण के पांचरात्र का इनकी उपासना में समाहार हुआ और संभवतः यमुना तट पर निवास करनेवाले ग्वालों द्वारा पूजित प्राग्वैदिक कृष्ण की रस कथाएं रासलीला के रूप में इनके व्यक्तित्व पर आरोपित हुईं। इस प्रकार चातुर्व्यूह युक्त भक्तिप्रधान वैष्णव मत का उदय हुआ।

प्रस्तुत काल में इस मत का पर्याप्त विकास हो गया था यह पाणिनि की अष्टाध्यायी में वासुदेव तथा अर्जुन के उपासकों का उल्लेख प्राप्त होने से सूचित होता है[2]। इसी प्रकार संकर्षणवासुदेव का उल्लेख भी चातुर्व्यूह का अंशतः संकेत माना जाता है[3]। मेगास्थनीज भी सोर्सेनोई (शौरसेन) लोगों द्वारा हेराक्लीज (हरिकृष्ण) की पूजा का उल्लेख करता है। इससे प्रतीत होता है कि प्रस्तुत काल में कम से कम शूरसेन जनपद में वासुदेव कृष्ण की विष्णु के रूप में पूजा होने लगी थी। इस मत का अधिक विकास आगे के काल में दिखाई दिया।

शैव उपासना

शैव आगम की प्राचीनता प्राग्वैदिक और वैदिक काल की धर्मसाधना का अध्ययन करते हुए देखी जा चुकी है। यह भी देखा गया है कि यह उपासना व्यापक रूप से जनता के सभी स्तरों में प्रचलित थी। ऋग्वेद के काल से ही वैदिक आराधना में भी रुद्र दिखाई देने लगते हैं और प्रतीत होता है कि उसमें जैसे यह देवता रोकते-रोकते घुस पड़ा हो। समय व्यतीत होते यजुर्वेद में इसका महत्व बढ़ता है, रथान्तर साम विशेष रूप से शिवोपासना का अंग बनता है[4], अथर्ववेद में शिव, ईशान और महादेव नाम से यह देवता अभिहित होता है[5] और वेदवाह्य समाज में भी इसके व्रात्य उपासक माथे पर त्रिपुण्ड लगाए इतिहास में

१. भगवद्गीता ४।१ तथा १०।२१।
२. अष्टाध्यायी ४।३।९८।
३. वही, ८।१।१५।
४. म्यूर : ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स, खण्ड ४, पृष्ठ १९४।
५. अथर्ववेद १५।६।९।



उज्जयिनी के प्राचीन प्राकार (पृष्ठ ३१९)

★

गीत-नृत्य, विदिशा की बौद्ध-कला (पृष्ठ ३२८)





हाथी और सवार, विदिशा में प्राप्त (पृष्ठ ३३०)

★

विदिशा की बौद्ध बाड़ पर अंकित नर-नारी (पृष्ठ ३२७)



दिखाई देते हैं[1]। प्रतीत यह होता है कि शिवोपासना इतिहास के विविध अनुक्रमों में बहुजन समाज की प्रमुख आराधना रही है और शिवोपासक होने का अर्थ एक सर्वांगपूर्ण आराधना पद्धति का अंगीकार करना रहा है। यह अधिक स्पष्ट होता है कि जब जैन और बौद्ध धर्म द्वारा अंगीकृत वैदिक और अवैदिक देवताओं का परीक्षण करते हैं, उनमें व्यक्तित्वयुक्त वैदिक देवता तथा लौकिक जान्तव देवता मुक्तरूप से ग्रहण किये गये हैं। परन्तु शिव को उनमें इस कारण ग्रहण नहीं किया गया कि इस देवता की उपासना गौण देवता के रूप में प्रचलित नहीं थी और इसे ग्रहण करने का अर्थ उन सम्प्रदायों द्वारा इस आराधना के दर्शन का अंगीकार करना एवं अपनी स्वयं की विशिष्टता का ह्रास करना होता।

पिछले अध्याय में हमने देखा है कि शिव की कल्पना में विविध देवताओं की प्रवृत्तियाँ और नाम प्रविष्ट हो रहे थे, आदित्यविष्णु के व्यक्तित्व पर जिस प्रकार नारायण एवं वासुदेव आदि का चरित्र आरोपित हुआ था, उसी प्रकार इतिहासप्रसिद्ध शैव उपासकों के चरित्र इस देवता पर आरोपित हुए थे। अनेक देवता शिवपरिवार में जुड़े थे और वाल्मीकि रामायण में हिमालय द्वारा शंकर को अपनी कन्या उमा का दान करने की[2]-कन्दर्प द्वारा समाधिस्थ शिव को अभिभूत करने के प्रयास की[3], देव सेनापति कार्तिकेय के जन्म की[4], शंकर द्वारा विषपान की[5] तथा अन्धक का वध कर त्रिपुरी विजय करने आदि की कथाएँ प्राप्त होती हैं। श्वेताश्वर उपनिषद् और केन उपनिषद् में शिव और उमा अथवा हेमवती का सर्वोच्च देवता के रूप में उल्लेख प्राप्त होता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में उमा के भवानी, शर्वाणी, रुद्राणी और मृडानी नाम प्राप्त होते हैं तथा शिव का वैश्रवण और सोम के साथ उल्लेख किया गया है[6]। पाणिनि और अर्थशास्त्र[7] के उल्लेखों से शिवमूर्तियों की पूजा लोक में प्रचलित होने की सूचना प्राप्त होती है। मेगास्थनीज ने भी डायोनिसस और हेराक्लेस नाम से दो भारतीय देवताओं का वर्णन किया है, जिनमें डायोनिसस की पहचान शिव से की गयी है। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में भी शिव-पूजा का उल्लेख प्राप्त होता है। राजतरंगिणी के अनुसार अशोक का उत्तराधिकारी जालौक, जिसने प्रस्तुत काल के अन्त में काश्मीर में अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया था, शैव था[8]। षड्दर्शन समुच्चय के रचियता हरिभद्र के अनुसार न्यायदर्शन के आद्याचार्य गौतम तथा वैशिषिक दर्शन के आद्याचार्य कणाद शैव थे। उपर्युक्त षड्दर्शन समुच्चय के टीकाकार गणरत्न ने लिखा है कि नैयायिक शैव कहलाते थे और वैशेषिक पाशुपत।

---

१. डॉ० देवसहाय त्रिवेद : प्राङ्मौर्य, बिहार, पृष्ठ १८–१९।

२. रामायण बालकाण्ड ३५,२०।

३. वही, २३।

४. वही, ३८।

५. वही, ४५।

६. डॉ० वासुदेवशरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ३५०।

७. अर्थशास्त्र २।४।

८. राजतरंगिणी १।१०८।

पाशुपत दर्शन

प्रत्येक धर्मसाधना के दो रूप होते हैं---एक लोकप्रचलित, दूसरा वरिष्ठ उपासकों का। इन उपासकों की तन्मयता, चिन्तनशक्ति एवं साधना के फलस्वरूप आराधना में तत्त्वज्ञान की परंपरा चलती रहती है। धर्मसाधना लोक में भक्तिभाव से व्यापक बनती है और उसके प्रसार में यह विश्वास भी प्रेरकतत्त्व होता है कि अमुक देवता की आराधना अमुक फल देनेवाली होती है। इस प्रकार धर्मसाधना के सुखग्राह्य स्थूल रूप का निर्माण होता है, परन्तु उसमें उसके पीछे रहे दर्शन की तेजस्विता अप्रत्यक्ष रूप से कुछ उसकी कथाओं के रूप में और कुछ विविध प्रतीकों के रूप में विद्यमान रहती है। यही क्रम शैव आराधना में दिखाई देता है। प्रस्तुत काल में इस उपासना में अवतारवाद का प्रवेश नहीं होता, किसी पूर्ववर्ती शैव उपासक की पूजा शिव के स्थान पर प्रचलित नहीं होती और महाभारत में यह उल्लेख प्राप्त होता है कि पाशुपत ज्ञान का उपदेश स्वयं पशुपति ने किया[1]। पाशुपत दर्शन का कोई ग्रन्थ ऐसा प्राप्त नहीं होता जिसे प्रस्तुत काल में रखा जा सके; परन्तु उपर्युक्त उपनिषदों के चिंतन में इस उपासना के देवताओं का आधार लिए जाने से तथा पाशुपत दर्शन के तत्त्वों का प्राग्वैदिक मुद्राओं में निदर्शन प्राप्त होने से प्रतीत यह होता है कि इस दर्शन की परम्परा इतिहास में विद्यमान थी।

पाशुपत दर्शन के अनुसार साधना का अन्तिम लक्ष्य पारमैश्वर्य की प्राप्ति है और कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त का ज्ञान इसके लिए आवश्यक है। जीवमात्र को इसमें 'पशु' कहा गया है और इनकी सृष्टि 'कारण' पशुपति द्वारा की गयी है। सारे कार्यों का, जीवों द्वारा किये जानेवाले कार्यों का भी मूल पशुपति है।

चित्त द्वारा आत्मा और ईश्वर के सम्बन्ध का नाम योग है। इसके अन्तर्गत जप, ध्यान और अनुभूति आती है। विधि के द्वारा मनुष्य धर्म अथवा ईश्वर के समीप पहुँचता है। विधि के दो प्रकार हैं---व्रत और द्वार। भस्मस्नान, भस्मशयन, जप, प्रदक्षिणा, उपहार, हँसना, नृत्य करना, गाना आदि व्रत कहलाते हैं। विकार का हेतु विद्यमान होते हुए भी विकार उत्पन्न न होने देना और विकार उत्पन्न नहीं हुआ है, यह भी प्रदर्शित न करना द्वार है। चर्या अप्रधानविधि है, जिसमें भस्मलेपन, भिक्षाटन आदि करके इनमें न्यस्त हीनता की भावना पर विजय प्राप्त की जाती है। इस सम्पूर्ण साधना से दुःखान्त प्राप्त होना है। यह दो प्रकार का है---एक अनात्मक जिसमें सम्पूर्ण दुःखों से अत्यंत निवृत्ति प्राप्त हो जाती है और दूसरा सात्मक जिसमें साधक को पारमैश्वर्य प्राप्त होता है। पारमैश्वर्य से दो प्रकार की अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं---दृक् (देखने की) शक्ति और क्रिया (करने की) शक्ति। दृक् शक्तियाँ पाँच प्रकार की हैं, जिनके द्वारा साधारण साधनों से परे विषयों का दर्शन, श्रवण, मनन, विज्ञान और सर्वज्ञत्व प्राप्त किया जाता है। क्रिया शक्ति तीन प्रकार की है---मन की गति से कार्य कर सकना; इच्छानुसार रूप, शरीर आदि का धारण कर सकना और इन्द्रियाँ जब कार्य नहीं कर रही हों तब भी ईश्वरत्व स्थिर रहना। ये दृक् एवं क्रिया शक्तियाँ सतत साधना से प्राप्त होती हैं। अन्य दर्शनों में दुःख से छुटकारा

---

१. महाभारत (दक्षिण भारत संस्करण), शांतिपर्व ३३८।६२--६५।

पाना अथवा भगवान् का दासत्व प्राप्त होना मुक्ति है, जब पाशुपत दर्शन पारमैश्वर्य को मुक्ति मानता है।

पाशुपत दर्शन तपश्चरण और साधना का पुरुषोचित मार्ग है। पाशुपत तथा शैव दर्शन की अन्य शाखाओं से भारतीय इतिहास के ऐसे आत्मज्ञ व्यक्तियों का सम्बन्ध रहा है जिन्हें किसी भी देश या काल में पृथिवी का रत्न माना जाएगा[1]।

कुबेर

इन प्रमुख धर्मसाधनाओं के अतिरिक्त प्रस्तुतकाल में अनेक देवताओं की पूजा अर्चनाओं के उल्लेख प्राप्त हैं। शैव उपासना का वर्णन करते हुए जिन वैश्रवण का उल्लेख किया गया है में यक्षों में महान कुबेर हैं। उन्हें इस काल के साहित्य में महाराज कहा गया है[2]। इनके उपासक महाराजिक कहलाते थे[3]। कौटिल्य इनका मन्दिर अन्य देवताओं के साथ दुर्ग के मध्य में स्थापित करने की व्यवस्था देता है[4]। गृह्य सूत्रों में भी वैश्रवण की पूजा का उल्लेख है। प्रायः प्रत्येक गृह्य होम के अन्त में वैश्रवण की स्तुति का मंत्र पढ़ा जाता था। वैश्रवण के मन्दिरों में कल्पवृक्ष की शीर्षयुक्त स्तम्भों का निर्माण होता था।

यक्षपूजा का लोक में बहुत प्रचार था। इनकी पूजा का प्रचलन बहुत प्राचीनकाल से चला आरहा था। यक्ष विशेषरूप से सार्थवाहों का देवता था। विविध प्रदेशों में विभिन्न यक्षों की पूजा होती थी। कौशाम्बी के अनायास यक्ष का उल्लेख पंचरक्षा नामक बौद्ध ग्रन्थ में प्राप्त होता है और पद्मावती में भगवत माणिभद्र यक्ष की मूर्त्ति मिली है। ये सार्थवाह अपने समृद्धिदाता यक्ष के विशाल देवालय बनाते थे। इन मन्दिरों को प्रस्तुतकाल में इनके उपासकों द्वारा प्रचुर धन अर्पित होता था। समाज में यक्ष की कल्पना बड़ी विशाल थी। ब्रह्म और राजा इसके पर्याय थे[5]। इन्हें अलौकिक शक्तियों से युक्त समझा जाता था। ये विद्या देनेवाले माने जाते थे[6] और बड़े-बड़े आचार्यों की उपमा यक्ष से दी जाती थी[7]। उपनिषदों में ब्रह्म को यक्ष कहा गया है।

नागपूजा

प्राग्वैदिक काल के शिवपूजक नागों की वेदों के काल में अहिर्बुध्न्य के रूप में पूजा हुई और प्रस्तुत काल में भी प्रचलित रही। नागमूर्त्तियों की पूजा की व्यापकता एवं लोकप्रियता की सूचना कौटिल्य के अर्थशास्त्र से प्राप्त होती है जहाँ इनके द्वारा राज्य को पैसा एकत्रित करने की सलाह दी गयी है[8]।

---

१. हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दी इंडियन पीपल, खण्ड २, पृष्ठ ५६।
२. अष्टाध्यायी ४।२।३५।
३. वही, ४।३।९७।
४. अर्थशास्त्र २।४।
५. रामायण ६।७१।९७।
६. काश्यप संहिता (निर्णयसागर), पृष्ठ १९१।
७. द्राह्यायण गृह्यसूत्र।
८. अर्थशास्त्र ५।२।

सूर्य

वैदिक और वैष्णव उपासना का वर्णन करते हुए हमने सूर्य की आराधना की प्राचीनता देखी है। आदित्य विष्णु के अतिरिक्त सूर्य अपने ही रूप में प्रस्तुतकाल में पूजित रहा। भरहुत के मूर्तिअवशेषों में ई० पू० तीसरी शती की सूर्य की मानवाकृति मूर्त्ति मिली है। उपनिषदों के 'असुर्या नाम ते लोकाः' आदि पदों में ज्ञान के स्रोत के रूप में सूर्य का ही संकेत है। यह देवता अत्यन्त प्राचीनकाल से भारत में और पश्चिम के देशों में पूजा जाता रहा है।

अन्य देवता

इनके अतिरिक्त वेदों के प्रजापति प्रस्तुतकाल में ब्रह्मा के रूप में पूजित रहे। उमा अष्टाध्यायी में भवानी, शर्वाणी, रुद्राणी एवं मृडानी के[1] तथा महाभारत में विजया एवं महिषमर्दिनी के रूप में उल्लेखित हुईं और हरिवंश पुराण के अनुसार वही विन्ध्यवासिनी देवी बनीं। शैव उपासना से भिन्न स्वतंत्र रूप में भी स्कन्द की पूजा प्रचलित थी और विघ्नहर्ता गणेश भी लोक में पूजित हुए। लक्ष्मी की मूर्तियाँ भरहुत के अवशेषों में प्राप्त हुई हैं। इनके अतिरिक्त वृक्षचैत्य, शालावृक्ष, सिद्ध, साध्य, गन्धर्व, नदी, तीर्थ तथा कालवाची नक्षत्र आदि देवता भी लोक में पूजित रहे। अपराजिता, अप्रतिहत, जयन्त, वैजयन्त अश्विन तथा श्रीमदिरा के मंदिर प्रस्तुतकाल में बनते थे[2], यह सूचना अर्थशास्त्र में प्राप्त होती है। मनुष्य इस काल में बड़े वेग से राष्ट्र रचना में लगा था। उसे अपने साहसिक कार्यों में अपने स्वयं के अदम्य उत्साह और बल के साथ-साथ अलौकिक शक्तियों की या उनके बहाने अपनी अंतःशक्ति की सहायता की आवश्यकता थी, अतः पग-पग पर जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति में सहायता देनेवाले विविध प्रतीकों में प्रतिष्ठित देवता उसकी सहायता के लिए तैयार खड़े थे। अशोक के धर्मलेखों में जहाँ पशुओं को पूजनेवालों का उल्लेख है, जान्तवदेवताओं के सम्बन्ध में हम देख चुके हैं, वहाँ साहसी समुद्री नाविकों की सहायक देवी मणिमेखला के हाथ[3] समुद्र की लहरों से संघर्ष करनेवाले विपदग्रस्त पुण्यात्मा नाविक को बचाने के लिए सदा आगे बढ़े रहते थे। इन लोकदेवताओं की पुण्यशील व्यक्तियों को सहायता करने की प्रकृति भारत के जनप्रवाह की प्रशस्त नैतिक पथ पर अग्रसर रहने की स्वाभाविक प्रवृत्ति की सूचना देती है और बड़े-बड़े पूर्वाग्रहोंवाले संप्रदाय, अपने सुस्थिर जीवननिष्ठ पथ पर अशिथिल पगों से चलनेवाले इस लोक के देवताओं की वंदना करते इतिहास में दिखाई देते हैं, भले ही इन देवताओं का उनके दर्शन से दूर का भी संबंध स्थापित न हो सके। प्रस्तुतकाल की धर्मसाधना का विहंगावलोकन करने पर यह स्पष्ट प्रकट होता है कि उच्च स्तर पर, सिद्धान्तों और मतों के पुरस्कर्त्ताओं में संभव है शास्त्रार्थ होते हों, मतभेद रहते हों, खंडन-मंडन चलता हो; पर नीचे अतल गहराइयोंवाला जनसिन्धु व्यापक लोकनिष्ठा लिये अपने सरल विश्वासों के धर्ममंगल की तरंगों में उन्मुक्त लहरा रहा था।

---

१. अष्टाध्यायी ४।१।४९।

२. अर्थशास्त्र २।४।

३. जातक ६।३५

साहित्य, भाषा और लिपि

मध्यदेश का अंशदान

प्रस्तुत काल में साहित्यरचना में मध्यदेश ने पिछली परम्पराओं को आगे बढ़ाया और वाङमय के विविध अंचलों में शाश्वत महत्त्व की कृतियों की रचना की। नाट्य-रचनाओं के अतिरिक्त राजनीति, धर्म, दर्शन, आयुर्वेद आदि साहित्य के विविध अंगों को इस प्रदेश की प्रतिभा से पोषण मिला। इस काल के मध्यदेश से संबद्ध विख्यात साहित्यकारों और साहित्यिक प्रवृत्तियों का विहगावलोकन करने से यह स्पष्ट होगा कि प्रस्तुत काल अपने पूर्ववर्त्ती और परवर्त्ती कालों के बीच मध्यदेश की उच्च साहित्यिक परम्पराओं की महत्त्वपूर्ण संयोजक कड़ी है।

भास

आज यह साधारणतया स्वीकार किया जाता है कि प्रतिमा, अभिषेक, पंचरात्र, मध्यम-व्यायोग, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच, कर्णभार, उरुभंग, बालचरित, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, स्वप्नवासवदत्तम्, अविमारक तथा चारुदत्त नाटकों के रचयिता भास ही हैं जिनका उल्लेख कालिदास मालविकाग्निमित्र नाटक में अपने पूर्ववर्त्ती प्रबंधकार के रूप में सौमिल्ल और कविपुत्र से पहले करके सम्मान प्रदर्शित करते हैं[1]।

भास के काल के संबंध में यद्यपि विद्वानों में मतैक्य नहीं है, परन्तु अधिक दृढ़ आधारों पर पुसालकर उन्हें कौटिल्य का पूर्ववर्त्ती मानते हैं[2] और इसका समर्थन भास के नाटकों की भाषा की प्राचीनता और उनमें हुए ऐतिहासिक उल्लेखों एवं अनुल्लेखों से भी होता है[3]।

इस महान नाटककार के जीवन के संबंध में सूचनाएँ बहुत थोड़ी हैं। उसने अपनी कृतियों में अपना नाम तक नहीं छोड़ा है। वह इन नाटकों का रचयिता है यह निष्कर्ष भी दूसरों की सूचनाओं के आधार पर निकालना पड़ा है। परन्तु इसके साहित्य में ऐसे मूर्द्धाभिषिक्त संकेत विद्यमान हैं जिनसे इसके संबंध में कुछ अधिक अनुमान दृढ़ आधारों पर किये जा सकते हैं।

मध्यदेश का भास

भास के उपलब्ध १३ नाटकों में रामायण, महाभारत और हरिवंश के सार्वदेशिक प्रसिद्धि के कथानकों पर आधारित पहले ९ नाटकों को छोड़कर शेष ४ नाटकों की कथावस्तु का संबंध मध्यप्रदेश से है। प्रतिज्ञायौगन्धरायण और स्वप्नवासवदत्तम् नाटक वत्स

---

१. पुसालकर : भास—ए स्टडी (लाहौर संस्करण), १९४०। २. वही।

३. वी० आर० आर० दीक्षितार : काले कोमेंमोरेशन वॉल्यूम, पृष्ठ १६५–६७

और अवन्ति के बीच घटित हुई ऐतिहासिक कहानी पर आधारित हैं और स्वप्नवासवदत्तम् ही उसका सर्वश्रेष्ठ नाटक है, जिसके संबंध में यह कहा जाता है कि उसे अग्नि भी नहीं जला सकी[1]। भास का यह नाटक चरित्रचित्रण, नाट्यशिल्प, कथनोपकथन और रसनिष्पत्ति की दृष्टि से हृदयहारी है तथा उसकी उपलब्ध रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ है। परन्तु यह अकस्मात् नहीं हो गया। उदयनकथा के प्रति उसका रामायण और महाभारत की पवित्र कथाओं से भी अधिक अनुराग प्रतीत होता है, जिसके कारण उसकी प्रतिभा ने इस नाटक में अपना चरम उत्कर्ष प्रदर्शित किया तथा इस अनुराग का संभाव्य कारण है भास का उस प्रदेश का निवासी होना जहाँ अवन्ति और वत्स के बीच उदयन और वासवदत्ता की ऐतिहासिक रसकथा उससे एक दो शताब्दी पहले ही घटित हुई। चारुदत्त नाटक भी अवन्ति जनपद की उदारचरिता वसन्तसेना और धनहीन हुए ब्राह्मण सार्थवाह चारुदत्त की प्रसिद्ध रसकथा पर आधारित है, जिसे आगे शूद्रक ने भी अपने प्रसिद्ध मृच्छकटिक नाटक की कथावस्तु बनाई। अविमारक नाटक की कथावस्तु भी इतनी ही इस प्रदेश से संबद्ध है। राजकुमारी कुरंगी और उसके प्रेमी नाटक के नायक अविमारक की पहचान अभी संभव नहीं है, परन्तु उन्हें प्रणयपाश में बाँधनेवाला हाथी, जिससे वह कुरंगी को बचाता है, उस काल के मध्यदेश की, दशार्ण के सघन वनों से ढके तत्कालीन प्रदेश की तथा आज के नरवर शिवपुरी की अचूक पहचान देता है। यहाँ के इस हाथी के वंशजों ने अपनी उत्कृष्टता के लिए आचार्य चाणक्य को भी आकर्षित किया था[2]।

अवन्ति और वत्स के बीच की भूमि की कथा के प्रति और हाथियों के प्रति नाटककार भास का अनुराग ही उसे चेदि, कुन्तल अथवा शूरसेन का निवासी बता देने में असफल रहता यदि भास के नाटक उससे आगे का साक्ष्य प्रस्तुत न करते। भास के उपलब्ध तेरह नाटकों को देखते हुए और उसके दामक और त्रैविक्रम दो और नाटक होने की संभावना को देखते हुए वह संस्कृत साहित्य का सबसे अधिक सक्षम नाटककार सिद्ध है। संस्कृत भाषा पर उसका अशिथिल अधिकार है और यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि उसे उस काल की शौरसेनी, मागधी, आदि प्राकृतों का भी ज्ञान था। परन्तु उसके वे पात्र, जिन्हें साहित्यिक परम्पराओं के अनुसार प्राकृत बोलना चहिए, थोड़े से मागधी के प्रयोगों के अपवाद को छोड़कर सर्वत्र शौरसेनी ही बोलते हैं। भास की शैली अत्यन्त सरल और अकृत्रिम है और शौरसेनी के प्रति उसका यह झुकाव इसका द्योतक है कि अपने स्त्री आदि पात्रों के मुख में उसने वही शौरसेनी रख दी है, जिसे उसके मध्यदेश में स्थित घर के आसपास के जनसाधारण बोलते थे और जो उसकी लेखनी से अप्रयास निःसृत हो गयी। उसकी शौरसेनी प्राकृत उसके मध्यदेश के निवास का अनुपेक्षणीय साक्ष्य है। शौरसेनी के संबंध में आगे पालि पर विचार करते हुए प्रकाश डाला गया है। भारतीय वाङ्मय का यह पहला प्राप्त नाटककार अपने १६ नाटकों के साथ इस संभावना को भी अपनी कहानी में छिपाए है कि इसे मध्यदेश में लिखे और

१. भास नाटकचक्रेऽपि छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः॥

२. अर्थशास्त्र २।२।

अभिनीत होते अपने से पूर्व के भी नाटकों का ज्ञान रहा होगा। भास को नाटयकला का आविष्कारक नहीं कहा जा सकता, निश्चय ही उसके पहले इस प्रदेश के नाटय-साहित्य की एक पूर्वपरम्परा थी, जिसकी कृतियाँ आज उपलब्ध नहीं हैं।

वात्सय जीवक

पालि साहित्य में गौतम बुद्ध के समकालीन एक प्रसिद्ध चिकित्सक का उल्लेख प्राप्त होता है और स्वर्गीय यादवजी त्रिकमजी आचार्य द्वारा काश्यपसंहिता अथवा वृद्धजीवकीयतन्त्र प्रकाशित कराया गया है।

महावग्ग के अनुसार जीवक राजगृह की शालावती वेश्या का पुत्र था और वहाँ के राजकुमार ने उसका पालन किया था। उसका नाम जीवक रखा गया था तथा कुमार द्वारा उसका पालन होने के कारण वह कुमारभृत्य भी कहा जाता था। बड़ा होकर यह तक्षशिला में अध्ययन के लिए गया और लौटते हुए साकेत के एक श्रेष्ठी की उसने चिकित्सा की। वहाँ से उसे बहुतसा धन मिला, जिसे उसने राजगृह लौटकर राजकुमार को अर्पित कर दिया। फिर इसने मगध के राजा बिम्बिसार की तथा गौतम बुद्ध की चिकित्सा की। जीवक के चिकित्सा कार्य के अन्य महत्त्वपूर्ण उल्लेखों के साथ इस ग्रंथ द्वारा चण्डप्रद्योत की चिकित्सा करने का, उससे धन प्राप्त करने का, गौतम बुद्ध को विरेचन द्वारा स्वस्थ करने का और चण्डप्रद्योत एवं वाराणसी के राजा द्वारा दी गयी भेंट की सामग्री भगवान तथागत को भिक्षुसंघ के हेतु अर्पित करने का उल्लेख है। तिब्बत की कहानियों के अनुसार[1] वह शालावती गणिका का बिम्बिसार से उत्पन्न पुत्र था, राजकुमार अभय ने उसका पालन किया था और तक्षशिला में उसने शिक्षण प्राप्त किया था। धम्मपद व्याख्या,[2] सतीगुम्बजातक तथा संकिच्चजातक[3] में भी जीवक का उल्लेख प्राप्त होता है। इन ग्रंथों के अनुसार वह बुद्ध का शरणागत हुआ था।

काश्यपसंहिता के अनुसार[4] जीवक या वृद्धजीवक ने कश्यप से आयुर्वेद का अध्ययन कनखल में किया था। ये वैदिक युग के भार्गव ऋचीक के पुत्र थे, जिनका नाम गर्ग, भृगु, गालव आदि की भाँति असीरिया के इतिहास में भी उपलब्ध होता है[5] और काश्यपों के संबंध में हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि उस काल के इनके वंशजों का यह पुरोहितकुल था। कश्यप के विस्तृत उपदेशों का इनने काश्यपसंहिता अथवा जीवकतंत्र अथवा वृद्धजीवकीय तंत्र के रूप में संक्षिप्त संग्रह किया। इस तंत्र में मुख्य रूप से बालचिकित्सा संग्रहीत है, जिसे आयुर्वेद में कौमारभृत्य कहा जाता है। कालान्तर में इस तंत्र का लोप हुआ और जीवक

---

१. टिबेटन टेल्स, पृष्ठ ७५–१०९ तथा हिस्ट्री ऑफ इण्डियन मेडिसिन, भाग २, पृष्ठ ६४१–७४४।

२. बुद्धिस्ट लीजेण्ड्स, भाग २, पृष्ठ १९८।

३. फोन्स बाल द्वारा संपादित।

४. निर्णयसागर संस्करण, पृष्ठ १९०।

५. नेपालराजगुरु हेमराजशर्माकृत उक्त ग्रन्थ का उपोद्घात, पृष्ठ ४०।

के ही वंश में उत्पन्न वात्स्य ने अनायास यक्ष से इसका उपदेश प्राप्त किया एवं पुनरुद्धार किया। पंचरक्षा नामक बौद्ध तंत्र के अनुसार यह अनायास यक्ष कौशाम्बी नामक नगरी का अधिष्टाता था। काश्यपसंहिता में उत्सर्पिणी–अवसर्पिणी, संहनन तथा सांख्य के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति के उल्लेख से[1] यह अनुमान किया जाता है कि इस ग्रन्थ ने वर्तमान रूप प्रस्तुतकाल में ग्रहण किया। जेकोबी के मतानुसार[2] ये शब्द जैनसम्प्रदाय के हैं और शारीर का वर्णन करते हुए कलियुग का उल्लेख भी इस ग्रन्थ को विचाराधीन काल में ले आता है।

प्रस्तुत संहिता का अवलोकन करने पर इन कालप्रभाव से समाविष्ट उल्लेखों के अतिरिक्त यह प्रकट नहीं होता कि इस ग्रन्थ का संग्रहकर्ता वात्स्य बौद्ध था। उसके संगृहीत ग्रन्थ में ये उल्लेख उसी प्रकार आए हैं जैसे पाणिनि की अष्टाध्यायी में उनको बुद्धोत्तर काल में स्थापित करनेवाले निर्देश[3]। इस ग्रन्थ की सामग्री प्रथम दृष्टि में ही इसे श्रौत-धर्मावलम्बी की कृति बताती है और बौद्ध आगम के अनुयायी ने इसकी रचना अथवा संस्कार किया है यह सूचित नहीं होता[4]। यह स्पष्ट है कि काश्यपसंहिता का प्रतिसंस्कार करनेवाला वात्स्य अपने काल का अद्वितीय चिकित्सक होना चाहिए; कौमारभृत्य तंत्र का उसने पुनरुद्धार किया था, अतः उसे कुमारभृत्य कहा जाता हो यह असंभव नहीं है और अपने गोत्रनाम वात्स्य की भाँति उसका एक नाम जीवक का वंशज होने के कारण जीवक भी रहा हो यह भी अनुमानगम्य है। कौशाम्बी के अनायास यक्ष के निर्देश के अनुसार वह कौशाम्बी का निवासी हो और उसने वे विविध चिकित्साकार्य एवं दान किये हों जिनकी अनुश्रुति महावग्ग एवं जातकों में सुरक्षित है, यह भी संभावना के समीप है तथा संभावना यही अधिक है कि इस वत्सगोत्रीय भार्गव को जिसने ऋक्, यजुः और साम तीनों वेदों का अंग संहित सम्पूर्ण अध्ययन किया था तथा शिव, कश्यप और यक्ष को तपस्या और बुद्धि से प्रसन्न किया था[5] उसी परम्परा में बौद्ध कहा गया जिसमें उस काल के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण नाम को बौद्ध साहित्य में तथागत आगम से जोड़ दिया गया है। इस महान विद्वान के जीवक एवं कौमारभृत्य वंशनाम एवं उपाधि पर से पीछे के बौद्ध आख्यानकारों ने उसके जन्म के सम्बन्ध में उपर्युक्त परस्पर असम्बद्ध किंवदन्तियाँ भी उसी क्रम में गढ़ लीं[6]। इन किंवदन्तियों का आवरण हटा देने पर आचार्य वात्स्य प्रस्तुत काल के उस प्रदेश में उत्पन्न आयुर्वेद के पारग ज्ञाता प्रकट होते हैं जिसने इस काल में वात्स्यायन चाणक्य को उत्पन्न किया तथा पीछे के काल में वात्स्यायन बाणभट्ट को जन्म दिया। इनके शास्त्रज्ञान और पीयूष-

---

१. वही, पृष्ठ, ४५–४७।

२. एच० जॅकोबी : एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, खण्ड १, पृष्ठ २०२।

३. डॉ० वासुदेव शरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ४७०–७१।

४. काश्यपसंहिता, पृष्ठ १९१।

५. वही, पृष्ठ १९१, श्लोक १८–२७।

६. इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन के लिए नेपालराजगुरु श्री हेमचंद्र शर्मा लिखित काश्यपसंहिता का उपोद्धात देखिए।

पाणिनि की कीर्तिकौमुदी ने इस काल में अवन्ति से लेकर उत्तर-पूर्व दिशा की सीमाओं तक को आलोकित किया।

व्याडि

सांस्कृतिक इतिहास में व्याडि एक पहेली की भाँति हैं। प्रतीत यह होता है कि व्याडि नाम के कई विद्वान भारतवर्ष में हुए हैं। यहाँ यह देखना है कि इनमें से किसका सम्बन्ध इस प्रदेश एवं काल से है।

एक व्याडि शब्दशास्त्र के रचयिता हैं। इनने सूत्रशैली में व्याकरणशास्त्र पर अपने संग्रह नाम के ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ को पंतजलि ने देखा था और उनने 'शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः[1]' कहकर इस ग्रन्थ की शैली और मार्मिक विवेचन की प्रशंसा की थी। इनके संग्रहसूत्रों का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी भाष्यकार पतंजलि के समय में 'सांग्रहसूत्रिक' कहलाते थे। मंजुश्रीमूलकल्प में नन्दों के राज्यकाल में पुष्पपुर में विचारशील विद्वानों का धन से सम्मान होने की परम्परा का उल्लेख है। राजशेखर ने इसे शास्त्रकार परीक्षा कहा है और इसमें पाणिनि के आचार्य वर्ष, पिंगल के आचार्य उपवर्ष, पाणिनि एवं पाणिनि के छन्दःशास्त्रकार अनुज पिंगल के साथ व्याडि के ख्याति प्राप्त करने की स्मृति उसने सुरक्षित रखी है[2]। ये पाणिनि के माता के पक्ष के सम्बन्धी थे, समकालीन थे और दक्षगोत्रीय थे[3]। हेमचंद्र और त्रिकांडशेष के अनुसार इनकी माता का नाम नन्दिनी था और इनने विन्ध्य में निवास किया था। हेमचन्द्र इन्हें कोषकार भी कहते हैं।

संग्रहसूत्रकार और कोषकार व्याडि के अतिरिक्त रसरत्नसमुच्चय में रसविद्या के पूर्वाचार्य के रूप में भी व्याडि का उल्लेख मिलता है,[4] परन्तु इनके सम्बन्ध में इस उल्लेख से अधिक सूचनाएँ प्राप्त नहीं हैं।

वररुचि

यहाँ हम जिन वररुचि का उल्लेख कर रहे हैं, वे विक्रमादित्य के वररुचि से भिन्न कात्यायन वररुचि हैं, जिनका राजशेखर ने पुष्पपुर की उपर्युक्त शास्त्रकार परीक्षा में उत्तीर्ण होने का पाणिनि और पिंगल के साथ उल्लख किया है[5]। ये पाणिनि के परवर्त्ती और पतंजलि के पूर्ववर्त्ती थे। इनने पाणिनि के सूत्रों पर प्रसिद्ध वार्तिकों की रचना की है। इनके वार्तिकों ने पीछे होनेवाले वैयाकरणों के लिए पाणिनि की अष्टाध्यायी को समझने का मार्ग सुगम किया है। कथासरित्सागर के अनुसार इनका जन्म कौशाम्बी में हुआ था। बालपन से ही इनकी स्मृति तीव्र थी। व्याडि इन्हें मेधावी देखकर आचार्य वर्ष के पास अध्ययन के हेतु ले गये, उपकोशा से इनने विवाह किया और फिर सम्राट महापद्मनन्द के ये मंत्री हुए। पाणिनि के सूत्रों पर इनके लगभग सवा चार हजार वार्तिकों

---

१. महाभाष्य २।३।६६ ।

२. काव्यमीमांसा (गायकवाड ओरिएण्टलसीरीज), पृष्ठ ५५, पंक्ति २२,२३।

३. डॉ० वासुदेवशरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १६।

४. जी० एन० मुखोपाध्याय : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन मेडीसिन, खण्ड ३, पृष्ठ ७५८।

५. काव्यमीमांसा, पूर्वोक्त संस्करण, वही।

के अतिरिक्त पतंजलि 'वाररुचंकाव्यम्" (वररुचि के काव्य) का अस्तित्व बताकर इनके कवि होने का भी निर्देश करते हैं। इनके द्वारा धर्मशास्त्र, श्रौतसूत्र और यजुर्वेद प्रतिशाख्यों की रचना हुई भी कही जाती है तथा इन्हें दार्शनिक भी कहा जाता है।

वात्स्यायन चाणक्य

सर्वतोमुखी प्रतिभा के कारण वात्स्यायन विष्णुगुप्त चाणक्य का स्थान मध्यदेश के ही नहीं, भारतवर्ष के सांस्कृतिक इतिहास में भी अद्वितीय है। वराहमिहिर [1] ने उनका ज्योतिषशास्त्र के तथा वाग्भट्ट ने अगदतंत्र[2] के पूर्वाचार्य के रूप में उल्लेख किया है। दण्डी ने उनके छः सहस्र श्लोकात्मक अर्थशास्त्र का निर्देश किया है[3] और सौभाग्य से वह आज प्राप्त भी है। इनका न्यायभाष्य प्राप्त होता है, जिसमें अर्थशास्त्र के पद ज्यों के त्यों बिना अर्थशास्त्र या उसके ग्रंथकर्त्ता का नामोल्लेख किये, उद्धृत हुए हैं[4]। नामोल्लेख न करने का एकमात्र कारण यही है कि न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने पहले अर्थशास्त्र की रचना की और उसके पश्चात् न्यायभाष्य की। मत्स्यपुराण [5] के अनुसार आचार्य चाणक्य, जिन्हें वहाँ राजर्षि कहा गया है, नर्मदा तट पर शुक्लतीर्थ में रहते हुए सिद्धि को प्राप्त हुए। पुराण यह कथन करते हुए सम्भवतः इस महापुरुष के जीवन के अंतिम साधनापूर्ण भाग का वर्णन करता है।

कामन्दक अपने नीतिसार ग्रंथ के प्रारम्भ में विशाल वंशों के वंश में जन्म लेनेवाले इस महापुरुष का स्तवन करते हुए कहते हैं, "जिस वज्र और अग्नि जैसे तेजस्वी के अभिचार वज्र के प्रहार से सुदृढ़ श्रेणियोंवाले पर्वत के तुल्य वैभवशाली नन्द सम्राट जड़ से उखड़कर गिर पड़ा, जिसने अकेले ही वज्रधारी इन्द्र के समान अपनी राजनीति के वज्र की सहायता से राजाओं में चन्द्रमा के समान चन्द्रगुप्त को पृथिवी प्रदान की और अर्थशास्त्र के महासमुद्र का मंथन कर जिसने राजनीति के अमृत का उद्धार किया, उस ब्रह्मा के तुल्य बुद्धिवाले विष्णुगुप्त को हमारा नमन अर्पित है। विद्याओं का जिसने सम्पूर्णतः अवलोकन किया था उस उत्तम शास्त्रनिर्माता के शास्त्र से हम राजविद्याविदों द्वारा सम्मत यत्किंचित् उपदेश करेंगे[6]"।

चाणक्य का जन्मस्थान बुन्देलखण्ड

इस महापुरुष को शुक्रनीति और ज्योतिष का पारग विद्वान बताते हुए मुद्राराक्षस नाटक के टीकाकार ढुंढिराज कहते हैं कि इनके पिता चणक नीतिशास्त्र के प्रणेता थे

---

१. बृहज्जातक ७।७ तथा २१।३।

२. उत्तरतंत्र, विषप्रकरण।

३. दशकुमारचरित अष्टम उच्छ्वास।

४. न्यायभाष्य २।१।५४ की अर्थशास्त्र के ३१वें अध्याय के "पदसमूहो वाक्यमर्थपरिसामाप्तौ" से तथा १।१।१ की अर्थशास्त्र के विद्यासमुद्देश्य प्रकरण के श्लोक से तुलना कीजिए।

५. मत्स्यपुराण १९२।१४।

६. श्लोक ४-७।

और सम्भवतः आज भी उपलब्ध चाणक्यनीति उनकी वही रचना हो[1]। परन्तु बौद्ध ग्रंथकार पुरुषोत्तम अपनी भाषावृत्ति में "चणकोऽभिजनो यस्य स चाणक्यः" इस प्रकार इनके नाम को सिद्ध करते हैं[2] और हेमचन्द्र के अनुसार भी इनका अभिजन ही चणक है[3]। इसकी तुलना वाकाटकों के चणक अभिजन या मूल निवास के स्थान के श्री जायसवाल और पार्जिटर के विवेचनों से करने पर[4] ढुंढिराज की अपेक्षा वायुपुराण से समर्थित पुरुषोत्तम और हेमचन्द्र का मत अधिक ऐतिहासिक मूल्य का प्रतीत होता है, जो सूचना देता है कि विष्णुगुप्त चाणक्य का जन्मस्थान वर्तमान बुन्देलखण्ड के पन्नानगर से २५ मील दक्षिण-पूर्व तथा नागौद से १५ मील पश्चिम स्थित वर्तमान नाचना नाम का जनरल कनिंघम द्वारा पहचाना गया चणक ग्राम है[5]।

चाणक्य के अनेक नाम

चाणक्य की बहुमुखी प्रवृत्तियों के कारण इनके अनेक नाम विद्वत्समाज में प्रचलित होगये प्रतीत होते हैं। यादव प्रकाश[6] हेमचन्द्र[7] और पुरुषोत्तम[8] अपने कोषों में इनके नाम विष्णुगुप्त, कौटिल्य, चणकात्मज, चाणक्य, द्रामिण या द्रामिल, अंगुल, वात्स्यायन, मल्लनाग, पक्षिल स्वामी तथा वराणक बताते हैं। इसमें विष्णुगुप्त इनका व्यक्ति नाम है और वात्स्यायन भृगुवंशज वत्सगोत्रीय परिवार में इनके जन्म लेने के कारण गोत्रनाम। अन्य नाम विशेषण हो सकते हैं और इनके द्रामिण या द्रामिल तथा मल्लनाग नाम अष्टाध्यायीकार पाणिनि और आह्निक नागों की भाँति द्राविडत्व के सूचक कहे जा सकते हैं।

चाणक्य के कार्य

सिंहली महावंश की 'अत्थपकासनी' टीका में इस महापुरुष की आरम्भिक जीवन-कथा बताते हुए लिखा है कि ये भी शास्त्रकार परीक्षा में सम्मिलित होने के लिए ही पाटलिपुत्र गये थे[9]। वहीं सम्भवतः अनुश्रुति के अनुसार शकटार से इनकी भेंट हुई प्रतीत होती है, जिसके परिणामस्वरूप 'मुद्राराक्षस' में वर्णित प्रकार से इनके द्वारा सम्राट नन्द का नाश हुआ और प्रसिद्ध मौर्य साम्राज्य का शिलारोपण हुआ। इन्हें मंजुश्री-मूल कल्प[10] में दीर्घजीवी कहा गया है और मौर्य सम्राटों की तीन पीढ़ियों तक ये वर्तमान

---

१. उपोद्घात ४७-४८।
२. सूत्र ४।३।९२।
३. परिशिष्ट पर्व ८।१४।
४. जायसवाल : अन्धकारयुगीन भारत, पृष्ठ ३०-३२।
५. वही, पृष्ठ १५३।
६. २।७।२३।
७. भूमिकाण्ड ब्राह्मणाध्याय।
८. मर्त्यकाण्ड ५१७।
९. डॉ० वासुदेवशरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ५४।
१०. श्लोक ४५४-५६।

रहे। अपनी प्रकाण्ड विद्वत्ता के साथ वे एक विशाल साम्राज्य के दीर्घकाल तक महामंत्री रहे और राजनीति के इसी प्रत्यक्ष एवं प्रायोगिक अनुभव के आधार पर उनने शुक्र और बृहस्पति का नमन करके पृथ्वी के लाभ और पालन के लिए सभी आचार्यों के अर्थ-शास्त्रों की उत्कृष्टताएँ एकत्र कर अपने अर्थशास्त्र की रचना की[1], जिसकी सर्वोपरि प्रभा के कारण पहले के सभी शास्त्र निस्तेज होकर नामशेष रह गये। आचार्य चाणक्य के व्यक्तिगत निस्पृह जीवन की जो झाँकी 'मुद्राराक्षस' में अंकित है उसे देखते हुए यह महापुरुष कामसूत्र का रचयिता वात्स्यायन प्रतीत नहीं होता, यद्यपि भारतीय जीवन की सांगोपांग कल्पना में मनुष्य के चार पुरुषार्थों में काम की गणना है और उसकी अवहेलना शास्त्रकारों ने नहीं की है, प्रतीत यही होता है कि कामन्दकीय नीतिसार के रचयिता के शब्दों में विशाल वंश्यों को जन्म देनेवाले वात्स्यायन वंश में उत्पन्न हुआ कामसूत्रकार कोई दूसरा पीछे का व्यक्तित्व है, साम्य केवल गोत्र का है, व्यक्तित्व भिन्न हैं। वैदिक दर्शन केवल अध्ययन का विषय नहीं हैं। उनसे प्राप्त होनेवाला तत्त्वबोध साधना की अपेक्षा करता है। आचार्य चाणक्य ने मत्स्यपुराण के अनुसार वह साधना की और उसके परिणामस्वरूप न्यायभाष्य की रचना की। यह माना जाता है कि इनका न्यायभाष्य अन्य दर्शनों पर केवल भाषाज्ञान के आधार पर लिखे गये पीछे के काल के भाष्यों से अलग प्रकार का है और न्याय के दर्शन के लिए अपेक्षित साधना के पश्चात् उसकी रचना की गयी है, जिसके कारण वह वास्तविक बोध देनेवाला बना है।[2]

सांस्कृतिक चक्र की नाभि

प्रस्तुतकाल के साहित्य क्षेत्र के ये थोड़े से व्यक्तित्व हैं, जिनकी कृतियाँ आज की पीढ़ी के लिए अवशिष्ट रह गयी हैं और इनके अतिरिक्त इस प्रदेश के कितने सरस्वती के वरद पुत्रों की रचनाएँ एवं नाम विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गये अथवा पुनः प्रकाश प्राप्त करने के लिए शामशास्त्री[3] एव बॉवरों[4] की प्रतीक्षा कर रहे हैं यह अनुमान भी नहीं किया जा सकता। इससे भिन्न धार्मिक क्षेत्र की विविध प्रवृत्तियों ने भी साहित्य की रचना में सदा महत्त्व का योग दिया है। धर्मसाधना पर विचार करते हुए हमने देखा है कि हमारे प्रदेश में पाशुपत, वैष्णव, आजीवक, जैन आदि धर्मसाधनाएँ प्रस्तुत काल के पहले से चली आरही थीं। इनका अपना साहित्य रहा होगा और इस काल में भी उसके साहित्य में वृद्धि हुई होगी। उसमें से कुछ लुप्त हो गया और कुछ सम्भवतः समानान्तर साधनाओं के साहित्य में समाविष्ट हो गया तथा कुछ का, उसे लोक-सम्पत्ति मानकर आगामी साहित्य की आधारभूमि के रूप में उपयोग हो गया। मध्यदेश की यह गौरवशाली

१. अर्थशास्त्र (शामशास्त्री का संस्करण), १।१ ।
२. रामशंकर भट्टाचार्य: दर्शनशास्त्र का अपव्यवहार, भारती, ग्वालियर, जुलाई १९५६, पृष्ठ ४६० ।
३. मैसूर के इस विद्वान के प्रयास से ही सर्वप्रथम चाणक्य का अर्थशास्त्र प्रकाश में आया था।
४. लेफ्टिनेण्ट बॉवर ने तुर्किस्तान में अनेक बहुमूल्य प्राचीन ग्रंथों को खोज निकाला था।

साहित्यिक परम्परा सम्पूर्ण भारत में चल रही वाणीसाधना का हृदय मात्र थी, दिशाओं में छोरों तक प्रवर्तित सांस्कृतिक चक्र की नाभि मात्र।

पाणिनि

मध्यदेश के इस केन्द्र के चारों ओर सम्पूर्ण देश की साहित्यक प्रवृत्तियों का वह विस्तार हो रहा था जिसने इस काल को वह सांस्कृतिक प्रभा दी जिसमे सम्पर्क में आए समकालीन विश्व की आँखें चौंधिया गयीं। शिशुनागों के विशाल साम्राज्य की परम्परा में स्थापित हुए नन्दों और मौर्यों के समृद्ध शासन ने और सम्पूर्ण देश में फैले विद्वान आचार्यों के आश्रमों के जाल ने इस काल में साहित्य प्रणयन को प्रचुर प्रोत्साहन दिया। वैदिक चरणों में राष्ट्र की सर्वोत्तम प्रतिभाएँ ज्ञानयज्ञ में अपने जीवन की आहुतियाँ अर्पित कर रही थीं। इन व्यापक संस्थाओं एवं कुलपति शौनक द्वारा आयोजित दीर्घसत्र जैसे विशाल आरंभों के परिणामस्वरूप वैदिक चरणों के भीतर और बाहर साहित्य के प्रत्येक अंग को शाश्वत महत्त्व की कृतियों से इस काल में पुष्ट किया जा रहा था। इन रचनाओं में से अष्टाध्यायी व्याकरण का उदाहरण के रूप में नामोल्लेख किया जा सकता है। कुभा और सिन्धु के संगम पर स्थित शलातुर ग्राम में माता दाक्षी के गर्भ से वात्स्यायनों के पाणिनि उपगोत्र में जन्म लेनेवाले आहिक कुल में इस शालंकि नामक विद्वान और कवि ने महापद्मनन्द के समय में इस महत्शास्त्रौघ की रचना की थी। इस व्याकरण का पाणिनि शालंकि के जीवनकाल में ही देशव्यापी प्रचार हो गया था, शास्त्रकार परीक्षा में वे सत्कृत हुए थे, नन्द सम्राट की इनने प्रीति प्राप्त की थी और इस सम्राट के द्वारा पाणिनि की अष्टाध्यायी में निष्णात विद्वान पुरस्कृत होते थे। पाणिनि के व्याकरण को उस काल के विद्वानों ने यद्यपि अन्य कारणों से अकालक व्याकरण कहा था[1], परन्तु वस्तुतः वह इस अर्थ में अकालक हुआ कि उसके महत्त्व पर काल का आज भी ह्रासकारी प्रभाव नहीं पड़ा है।

इससे भिन्न इस काल में नवीन सम्प्रदायों ने जन्म लिया था, उनके धार्मिक उपदेशों का संग्रह हुआ था, उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप पहले से वर्तमान वर्गिष्ठ एवं लोक-साहित्य का रूप परिवर्तन हुआ था और इस प्रकार साहित्य की श्रीवृद्धि हुई थी।

संस्कृत भाषा

प्रस्तुतकाल में मध्यदेश में संस्कृत और प्राकृत में जिस साहित्य की रचना हुई उसे देखने से यह प्रकट है कि संस्कृत इस काल को शिष्टजनों द्वारा आज को हिन्दी भाषा की तरह बोली जानेवालो सार्वदेशिक भाषा थी, इसी कारण मथुरा क्षेत्र कीं बौद्ध धर्म की सर्वास्तिवाद शाखा के साहित्य की भाषा संस्कृत थी और विविध प्राकृतें देश के विभिन्न अंचलों में जनसाधारण की बोलियाँ थीं। संस्कृत भाषा में मध्यदेश की विशाल सीमाओं में प्रस्तुत युग में और इससे पूर्व के काल को दो सहस्राब्दियों में जिस विपुल साहित्य का निर्माण हुआ था उसकी रचना से इसे वह शक्ति प्राप्त हुई जिसने आगे शूद्रक और कालिदासों को जन्म दिया।

---

१. डॉ० वासुदेवशरण: पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १--२५।

शौरसेनी पालि—वेत्रवती की पुत्री

इधर बोलियों के क्षेत्र में भास की शौरसेनी विकसित हुई। जैन और बौद्ध उपदेश अपने प्रवर्तकों की बोली मागधी में पहले निःसृत हुए। जैन धर्म के सामने, उसका मूल तपोनिष्ठा में होने का कारण अपने विश्वासों के व्यापक प्रसार की त्वरापूर्ण महत्त्वाकांक्षा नहीं थी, अतः इसने पीछे के काल में भी मागधी को ही धार्मिक साहित्य की रचना का माध्यम रखा। गौतम बुद्ध को अपने धर्मचक्र के प्रवर्तन की तीव्र आकांक्षा और त्वरा थी और उनकी इच्छा के अनुसार उनके उपदेश जनता तक उसकी प्रादेशिक बोली 'सका निरुत्ति' में पहुँचाए गये। अनुमान यह किया जाता है कि उनके समय में ही इन उपदेशों के अशोक के शिलालेखों में मिलनेवाली मागधी प्राकृत में, उत्तर-पश्चिम की प्राकृत में और मध्यदेश की शौरसेनी प्राकृत में पाठ तयार हुए[1]। बौद्ध संघ की दूसरी संगीति का वर्णन करते हुए यह पहले कहा जा चुका है कि मध्यप्रदेश में बौद्ध धर्म का थेरवाद रूप प्रचलित था। इसके प्रवर्त्तक बुद्ध के शिष्य महाकात्यायन थे। इस थेरवाद के तत्कालीन पिटक पालि प्राकृत में थे[2]।

मध्यदेश में बुद्ध स्वयं वेत्रवती के तट पर स्थित एरकच्छ तक आए थे। यह स्थान झाँसी के पास का वर्तमान एरछ है[3]। उनके पश्चात् बौद्ध धर्म का महानतम प्रचारक अशोक अपने पिता बिन्दुसार के राज्यकाल में अवन्ति का शासक बनकर इस प्रदेश में रहा था और विदिशा की श्रेष्ठिपुत्री देवी से उसने विवाह किया था। उससे उसके संघमित्रा और महेन्द्र दो सन्तानें हुई थीं। इन संघमित्रा और महेन्द्र ने तथा फाह्यान की मताउला (मथुरा) जनपद में मिले श्रमणसमूहों[4] के पूर्ववर्त्तियों ने बुद्ध के आदेशानुसार यहाँ की कौशाम्बी से अवन्ति तक बोली जानेवाली शौरसेनी प्राकृत में ही अनूदित उनके धम्मपद के वचनों का अध्ययन किया होगा। गौतम बुद्ध के मुख से निःसृत उपदेश भी उनके मथुरा के बारह 'वस्सा' वासों में[5] यहाँ के श्रमणों और गृहस्थों ने इसी भाषा में सुने होंगे। जब अशोक ने इन संघमित्रा और महेन्द्र को धर्म-प्रचार के लिए सिंहलद्वीप भेजा, तब स्वभावतः वे धम्मपद आदि बुद्धागम के साहित्य को, जिसका दूसरी और तीसरी संगीति के पश्चात् थेरवाद-प्रमुख रूप इस समय तक बन चुका था, मध्यदेशीया शौरसेनी में ही अपने साथ ले गये। वहाँ उसका सिंहली भाषा में अनुवाद हुआ, परन्तु सौभाग्य से गाथाएँ (गेय पद्यात्मक अंश) ज्यों की त्यों मूल शौरसेनी में सुरक्षित रहीं। पीछे जब भारत से इस साहित्य का लोप हुआ, बुद्धघोष ने इसी सिंहली अनुवाद से उसका पुनः पालि अनुवाद किया

---

१. आर० सी० मजूमदार : हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि इंडियन पीपल, खण्ड २ पृष्ठ २८३।

२. वही, पृष्ठ ३७९।

३. सियारामशरण गुप्त : पालि भाषा, मध्यभारत संदेश, २३ जून १९५६।

४. जगन्मोहन वर्मा : फाह्यान, पृष्ठ ३०।

५. हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि इंडियन पीपल, खण्ड १, पृष्ठ ३६९।

और इस अनुवाद में ये गाथाएँ ज्यों की त्यों पुनः लौट आई[1]। इन गाथाओं को ही पालि कहा जाता है। कुछ विद्वानों के अनुसार ये पालिगाथाएँ जातक कथाओं की भाँति ही, गौतम बुद्ध से पहले की हैं[2]। यही कारण है कि इनमें भगवद्गीता की छाया बहुशः लक्षित होती है। वे संभवतः जनता में प्रचलित सदा जिह्वा पर रहनेवाली लोकधर्म की सूक्तियाँ हैं, जिन्हें बौद्ध आगम में ग्रहण कर लिया गया है।

झाँसी के पास गुजर्रा नामक स्थान में अशोक का एक शिलालेख मिला है। यह उपर्युक्त एरछ स्थान के निकट है। समीप ही विदिशा की अशोकमहिषी देवी और उसकी संतान संघमित्रा एवं महेन्द्र की बुद्धोपासना का स्मारक साँची का स्तूप है। देवगढ़ के समीप पालि नामक कस्बा भी है[3]। ये परिस्थितियाँ और ऐतिहासिक घटनाओं की सम्भावनाएँ हैं। भाषाशास्त्री डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने पालि-गाथाओं की भाषा का अध्ययन किया है। इसका मागधी प्राकृत से भाषाशास्त्र की दृष्टि से सम्बन्ध नहीं जुड़ता। इनके मत से इस भाषा का आधार मध्यदेश की प्राकृत शौरसेनी का प्राचीन रूप है, जो अभिव्यक्ति-क्षमता और मधुरता के अपने प्रदेशजन्य गुणों के कारण इस काल के लोकसाहित्य की सार्वदेशिक भाषा थी[4], जिसका निर्माण नाटककार भास और उनके पूर्ववर्त्ती मध्यदेशीय साहित्य-कारों ने और जनसाधारण ने किया था। इस प्रकार इस प्रदेश के साहित्यकारों एवं बौद्ध धर्म के प्रचारकों ने उस मध्यदेशीया शौरसेनी का निर्माण किया जो आगे की लौकिक रसगाथाओं के रचयिता कवियों और नाटककारों की वाणी में अप्रयास निःसृत हुई। बौद्ध वाङमय की यह पालि तथा शौरसेनी वेत्रवती की पुत्री है।

लिपि

पिछले अध्याय में इस प्रदेश में उस काल में हुए लिपि के विकास पर प्रकाश डाला गया है। ब्राह्मी के पूर्वरूप के इस प्रदेश में निर्माण होते समय जनसमूहों के दक्षिण प्रवास के साथ ब्राह्मी का यह प्रारूप दक्षिण में भी गया। वहाँ उसने स्थानीय परि-स्थितियों में मूललिपि के अनेक रूपों को सुरक्षित रखते हुए अत्यंत मंदगति से विकास किया। उत्तर-पश्चिम भारत से प्रस्तुत काल में यह लिपि उठ गयी थी, यह अशोक के उस प्रदेश में प्राप्त होनेवाले खरोष्ठी लिपि के शिलालेखों से प्रकट होता है। मध्यदेश में ब्राह्मी लिपि के पूर्वरूप से विकसित होकर उसका अशोक की धर्मलिपियों में प्राप्त रूप बना और वह अशोक के धर्मप्रचारकों के साथ शौरसेनी भाषा में संग्रहीत बौद्ध आगम के ग्रंथों की लिपि के रूप में प्रस्तुतकाल में देशव्यापी हुई तथा उसने भारतवर्ष की सीमाओं का भी अतिक्रमण किया, जहाँ इसने देशानुरूप विकास किया।

---

१. जयचंद्र विद्यालंकार: भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जिल्द १, पृष्ठ ३७९।

२. वही पृष्ठ, ३७९–८०।

३. सियारामशरण गुप्त : उपर्युक्त लेख।

४. जयचंद्र विद्यालंकार: पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ ३७५।

सामाजिक स्थिति

वर्ण-व्यवस्था

पिछले अध्याय में वर्ण-व्यवस्था के जिस तरल रूप का अध्ययन किया गया था, प्रस्तुत काल में उसमें महत्त्व का परिवर्तन हुआ हो, यह दिखाई नहीं देता। वर्ण-व्यवस्था में ठोस कार्य-विभाजन की या वंशानुगत रूप से जाति विशेष द्वारा कुछ विशिष्ट कार्य ही अपरिवर्तित रूप से करने की जो कल्पना की जाती है, वह पिछले युगों के समान ही इस युग में भी दिखाई नहीं देती। वर्ण-व्यवस्था के स्वरूप के सम्बन्ध में इस काल के दो प्रकार के साक्ष्य प्राप्त होते हैं, एक कौटिल्य के अर्थशास्त्र जैसे ग्रन्थों का जो वस्तुस्थिति की अपेक्षा सैद्धान्तिक रूप से समाज की विविध प्रवृत्तियों का वर्गीकरण मात्र है और दूसरा साहित्य के उल्लेखों का जो समाजरचना का व्यावहारिक पहलू उपस्थित करता है। अर्थशास्त्र जैसे नियामक शास्त्र वस्तुतः वह चित्र उपस्थित करते हैं जिसके अनुसार शास्त्रकार समाज की रचना करना चाहते हैं और वास्तव में समाज किस प्रकार चल रहा है यह ऐतिहासिक घटनाओं और साहित्य के चित्रण से प्रकट होता है। प्रस्तुत काल की समाज-रचना का स्पष्ट रूप समझ में आ सके, इस हेतु एक-एक वर्ण के इन शास्त्रों में कहे रूप का अध्ययन हम दूसरे समकालीन साहित्य के उल्लेखों के साथ तुलना करते हुए प्रस्तुत करेंगे। इस प्रकार के अध्ययन से मनीषियों की इच्छा का और ऐतिहासिक तथ्य के रूप में समाज-रचना की वास्तविक स्थिति का परस्पर सम्बन्ध और अंतर स्पष्ट होगा।

ब्राह्मण वर्ण

चिरकालीन राजनैतिक और आर्थिक कारणों से ब्राह्मण वर्ण की कुछ विशेषताएँ थीं। वह एक वंश या जाति था और यद्यपि वह समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप अनेक व्यवसाय करता था, उसे अपने आनुवंशिक संस्कारों की प्रतिष्ठा का भान था, जिनका वर्णन वासुदेव कृष्ण ने[1] शम, दम, पवित्रता, क्षमा, ऋजुता, ज्ञान, विज्ञान और शास्त्रवचनों में श्रद्धा को ब्राह्मण की स्वाभाविक प्रवृत्ति कह कर दिया है। वह विविध उद्योगों को करते हुए भी वंशपरंपरा से प्राप्त इस वरिष्ठता को अपने आचरणों द्वारा बनाए रखने का प्रयास करता था। ऋचाओं के काल में ब्राह्मण वर्ण में प्रविष्ट होने की इच्छावाले अन्य वंशों के योग्य व्यक्तियों को ब्राह्मणत्व में दीक्षित करने की जो ब्राह्मण वंशों की प्रवृत्ति देखी गयी थी, वह इस काल में चालू रही, यह प्रकट नहीं होता, संभवतः उसके कारण और आधार भी नहीं रहे होंगे। फिर भी समाज-व्यवस्था में तरलता थी, उसकी

१. भगवद्गीता १८।४२।

पाचन शक्ति प्रवल थी और इस युग के इतिहास एवं साहित्य में हमें भारत की सामाजिक स्थिति का विस्तृत और सटीक चित्र प्राप्त होता है।

नियामक ग्रंथों का निरूपण

समाज-व्यवस्था के वास्तविक रूप की सूचना धर्मसूत्रों अथवा अन्य नियामक ग्रन्थों से प्राप्त नहीं हो सकती। उनमें जिन सामाजिक बन्धनों अथवा नियमों का उल्लेख प्राप्त होता है, वे उस शास्त्र के निर्माता की दृष्टि में आदर्श समाज के निरूपण मात्र होते हैं, वास्तविक स्थिति उससे कुछ भिन्न होती है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में चातुर्वर्ण्य और उनके कर्त्तव्यों का वर्णन करते हुए ब्राह्मण के स्वधर्म—(१) अध्ययन, (२) अध्यापन, (३) यजन, (४) याजन, (५) दान तथा (६) प्रतिग्रह गिनाए गये हैं। इस कथन का इतना ही अर्थ हो सकता है कि आचार्य चाणक्य की कल्पना के आदर्श ब्राह्मण को अपना जीवन इन कार्यों को अर्पित करना चाहिए था, इस समाज के कुछ अंश की प्रवृत्ति वैसी रही भी, उसने देश का अध्यात्मिक और धार्मिक क्षेत्र में व्यापक नेतृत्व किया, परन्तु औसत ब्राह्मण इनमें बँधा नहीं था और इस युग के समाप्त होते न होते प्राचीन वर्ण-व्यवस्था का दंभ करनेवाले शुंग और सातवाहन इस व्यवस्था का उल्लंघन कर सेनापति बनते और राजदण्ड धारण करते दिखाई देते हैं।

व्यावहारिक ब्राह्मणवर्ण

प्रस्तुत युग के ब्राह्मण की स्थिति पर विचार करने से शास्त्रों की वर्ण-व्यवस्था और व्यवहार की वर्ण-व्यवस्था का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। मेगास्थनीज ने जिस दार्शनिक वर्ग का उल्लेख किया है, उसमें इस युग के सभी ब्राह्मण नहीं समा सकते। वे इस जाति के बहुत थोड़े अंश मात्र थे। आज के दिन ब्राह्मण जाति का अनुपात भारतवर्ष की जन-संख्या में सबसे अधिक है। यह अनुपात पिछली दो तीन सहस्राब्दियों में कम होकर ही शेष रहा है, क्योंकि बुद्ध के काल से ही अनेक ब्राह्मण बौद्ध, जैन तथा इस्लाम, सभी धर्मों में दीक्षित हुए हैं। पीछे के ह्रास के मध्यकाल में इनकी कितनी विशाल संख्या वैश्य या क्षत्रिय बन गयी, इसका लेखा नहीं है। तब क्या देश की इतनी बड़ी जनसंख्या मेगास्थनीज के शब्दों में वनों में रहकर तत्त्वचिंतन करती रहती थी? जैसा हम पूर्व में संकेत कर चुके हैं, जब आर्य भारत में आए तब वे अपनी विजयों के कारण शस्त्रजीवी राजन्य बने थे। इनसे पहले के भारत के निवासी या तो द्राविड नृवंश के ब्राह्मण थे, या फिर सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़े हुए निषाद आदि शूद्र, जिन्हें अंशतः वनों, अटवियों में धकेल दिया गया था। परन्तु यह विभाजन जाति का न होकर राजनैतिक और सांस्कृतिक स्थितियों एवं स्तरों का द्योतक था। इतिहास के कालविभाजन की दृष्टि से कहा जाए तो उत्तर पाषाण-युग के भारतवासी और आर्यों के आगमन के बीच में जो समाज भारत-भूमि में पनपा, फला-फूला वह ब्राह्मण था, जिसमें दार्शनिक थे, ऋषि थे, व्यापारी थे और विकट योद्धा एवं शस्त्रों में पारंगत भी थे। आर्यों के घुड़सवार दलों ने इन्हें हराया और वे राज्य करने के अतिरिक्त समाज के शेष सभी कार्यों में लग गये। अधिक काल तक इस वर्ग की सीमाएँ इसकी संस्कृतिगरिमा को ग्रहण करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए खुली रहीं, जिसके उदाहरण विश्वामित्र और वीतहव्यों के रूप में पहले देखे जा चुके

हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि नाग ब्राह्मण थे और इन नागों की बहुत बड़ी जनसंख्या भारत में फैली हुई थी, जिसके कारण यह कल्पना उत्पन्न हुई कि इस पृथ्वी को ही नाग अपने सिर पर धारण किये हैं। उन्हीं से आगे शुंग, सातवाहन, चेदि, वाकाटक, पल्लव आदि राजवंश चले थे।

जातक साहित्य और ब्राह्मण

बौद्ध जातक साहित्य भी ब्राह्मण वर्ण के सम्बन्ध में यही तथ्य प्रदर्शित करता है। दशब्राह्मण जातक में ब्राह्मण को फलों, मिठाइयों आदि की दूकान करते हुए, गोपों और निषादों का काम करते हुए, रथ और गाड़ी हाँकते हुए, हल जोतते हुए, पशु पालते हुए, शिकार करते हुए, धनुष चलाते हुए और नाग नचाते हुए दिखाया गया है, फिर भी उनकी श्रेष्ठता मानी गयी है। ये समाज के सभी आर्थिक स्तरों पर कार्यरत थे और यह साहित्य ८० करोड़ के धनी ब्राह्मण का भी उल्लेख करता है, जिसका पुत्र वाराणसी की किसी शिक्षा-संस्था में विद्याध्ययन के लिए गया था। जातकों के अनुसार ब्राह्मणों का एक अत्यन्त छोटा वर्ग भी था जो तपस्वी या ऋषि तथा पौरोहित्य का कार्य करनेवाला था।

चारुदत्त और ब्राह्मण

ब्राह्मण के बहुविध व्यक्तित्व का अधिक निरूपण भास के चारुदत्त नाटक से प्रकट होता है, जिसे अपने ब्राह्मणत्व के गौरव का ध्यान है, जो वीतराग तपस्वी नहीं है, निर्धन हुआ सार्थवाह है और जीवन की सभी प्रवृत्तियों का रस लेता वह इस नाटक में अपने चरित्र का विकास करता है। संगीत का वह रसिक है, अर्थ का अर्जन करता है और उसका ब्राह्मणत्व अक्षुण्ण है। बुन्देलखंड में पद्मावती (पवाय) के विषय में एक जनश्रुति प्रसिद्ध है कि पवाय उलट गयी थी और उसमें से भार्गव ब्राह्मण तथा गभोई वैश्य बचकर निकल सके थे। इस जनश्रुति में वास्तव में ब्राह्मण का इतिहास छिपा है। यह घटना इतिहासप्रसिद्ध है कि गुप्तों ने जब पद्मावती का विध्वंस किया तब उसमें नागों की बस्ती थी, उन्हीं का राज्य भी था। वे नाग धरती में नहीं समा गये। वे सब ब्राह्मण थे, ऐसे ब्राह्मण जो समाज संचालन के लिए सभी कार्य करते थे, गहन तत्वचिंतन से लेकर माणिभद्र की पूजा तक।

क्षत्रियवर्ण का शास्त्रीय रूप

क्षत्रियवर्ण पर दृष्टिपात करने पर भी इससे भिन्न स्थिति उद्भासित नहीं होती। वासुदेव कृष्ण क्षत्रिय के स्वभावज कर्म शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध में अपलायन, दान तथा ईश्वरभाव गिनाते हैं[1]। जिसे शासन करना हो, उसके लिए ये कर्म या गुण अपरिहार्य भी हैं। इधर चाणक्य क्षत्रिय के लिए--(१) अध्ययन, (२) यजन, (३) दान, (४) शस्त्र-जीव और (५) भूतरक्षा कर्मों की व्यवस्था करते हैं। कौटिल्य के ये कथन क्षत्रिय को किन्हीं विशिष्ट कार्यों की सीमा में नहीं बाँधते और न कृष्ण के वचनों का ईश्वरभाव अथवा अर्थशास्त्र का भूतरक्षा का कार्य क्षत्रिय का एकाधिकार रहता है। प्रस्तुत युग में क्षत्रिय ने धर्मप्रवर्त्तन किया है और नन्दों एवं मौर्यों के रूप में शूद्रों ने क्षत्रकुलान्तक सम्राट हमारे देश को दिये हैं।

---

१. भगवद्गीता १८।४३।

क्षत्रिय की श्रेष्ठता का प्रतिपादन

अधिक छानबीन करने पर तत्कालीन बौद्ध और जैन ग्रन्थ ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रिय की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते दिखाई देते हैं और चातुर्वर्ण्य की गणना करते समय पहले क्षत्रिय का नाम गिनाते हैं। श्रमण धर्मों के इस रोष को समझने के लिए इसकी राजनैतिक पृष्ठभूमि को देख लेना है। यह हम पहले देख चुके हैं कि राजतंत्र राजन्य आर्यों के साथ आया था। राजन्य के साथ राजत्व एवं शस्त्रजीवता का सम्बन्ध था। इधर पूर्वोत्तर से प्रवेश करनेवाले मंगोल रक्त के कुछ शाक्य प्रभृति वंशों ने भी राज्य स्थापित करके क्षत्रियत्व धारण किया था[1]। परन्तु शस्त्रबल से प्राप्त हुआ यह राजपद जानपद जनों की अनुकूलता प्राप्त रहने तक स्थिर रहता था। इन जानपद जनों में बहुसंख्या उस समुदाय की होती थी जो ब्राह्मण कहलाता था। इसी कारण राजा को पुरोहित पर अधिक निर्भर रहना पड़ता था और वैदिक साहित्य की वह स्थिति अस्तित्व में आई थी कि ब्राह्मण राजा से भी ऊपर था, राजा सब का राजा था, परन्तु ब्राह्मण का राजा सोम था। बहुजन समाज की यह प्रकृत श्रेष्ठता थी और शस्त्रबल पर प्राप्त राजन्य की श्रेष्ठता उसके सामने कृत्रिम ही ठहरती थी, तथा अत्यधिक प्रयास के पश्चात् भी इस बहुजन समाज की तेजस्विता के कारण एकतंत्र सत्ता का स्वरूप अस्तित्व में नहीं आ पाता था, टिक नहीं पाता था। इसकी प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। प्रबल राजा अपने में वरुण आदि देवताओं का ऐश्वर्य अनुभव करता था और राजपद के साथ-साथ वह भी आध्यात्मिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में अग्रणीत्व प्राप्त कर क्षत्रिय की निरपवाद श्रेष्ठता स्थापित करना चाहता था। पिछले युग का इतिहास इन घटनाओं से भरा है। यह अनैसर्गिक व्यवस्था जम नहीं सकी थी और वंशाभिमान के लिए प्रसिद्ध शाक्यों के कुल से बौद्ध संप्रदाय के प्रवर्त्तन में उस प्रवृत्ति का अंतिम प्रयास दिखाई दिया था। इसी क्रम में श्रमणधर्मों का यह रोष स्वयं वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध नहीं था, उसके विरोध का लक्ष्य क्षत्रिय की श्रेष्ठता प्रतिपादित करना और ब्राह्मण की श्रेष्ठता का विरोध करना मात्र था। परन्तु इस प्रतिपादन का व्यवहार से कोई सम्बन्ध नहीं था, गौतम बुद्ध का योनिवाद इक्के-दुक्के वचनों तक ही सीमित रह गया, बौद्ध दर्शन में वह पल्लवित न हो सका और इसकी निरर्थकता के कारण ही सम्राट अशोक को बहुजन समाज ब्राह्मण को समुचित आदर देने की दृष्टि से धर्म-प्रचार प्रारम्भ करने के दो वर्ष पश्चात् ही अपनी धर्मनीति में परिवर्तन करना पड़ा था, जिसकी सूचना उसके इस काल के शिलालेखों में ब्राह्मणों के बार-बार उल्लेख से मिलती है तथा जिसका बौद्ध संप्रदाय की भावना से कोई दूर का भी संबंध नहीं है।

क्षत्रियवर्ण का व्यावहारिक रूप

बौद्ध जातकों के वर्णनों से यह कृत्रिम श्रेष्ठता भी क्षत्रिय को किसी विशेष व्यवसाय से बांधती नहीं दिखाई देती। उनमें जिस समाज-व्यवस्था का वर्णन किया गया है उसमें क्षत्रियों को कुंभकार, डलिया बनानेवाला, माला बनानेवाला तथा रसोइया का काम करनेवाला बतलाया गया है और इन कामों के करने से उनकी जाति नष्ट हुई हो, इसका कहीं संकेत नहीं है। शाक्य और कोलियगण खेती का काम करते थे, यह भी जातकों में वर्णन है।

---

१. हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दी इण्डियन पीपल, खंड २, पृष्ठ ३६३।

वैश्य

अर्थशास्त्र में और भगवद्गीता में वैश्य वर्ण की भी कल्पना की गयी है । भगवद्-गीता-कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य को वैश्यकर्म कहती है और कौटिल्य—(१) अध्ययन, (२) यजन, (३) दान, (४) कृषि, (५) पशुपालन तथा (६) वाणिज्य वैश्य के कर्म गिनाते हैं। प्रस्तुत काल के साहित्य में ब्राह्मण और क्षत्रिय द्वारा किये जानेवाले धन्धों को देखते हुए वैश्य जाति को अलग से ढूंढ़ निकालना संभव नहीं दिखता, भले ही अर्थशास्त्र उसकी एक वर्ण के रूप में कल्पना करता है । निषेधात्मक शब्दों का उपयोग करते हुए यदि यह कहा भी जाए कि जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र या चाण्डाल वंशों के नहीं थे और इन उद्योगों को करते थे, वे संभवतः वैश्य रहे होंगे, तो भी उससे इस वर्ण की ऐतिहासिकता सिद्ध नहीं होती । प्रस्तुत युग से पहले पणि मिलते हैं, जो अलग से उपर्युक्त सीमाओं में रहनेवाला कोई वंश नहीं है और वेदों का विश भी संपूर्ण प्रजा का द्योतक है, जो वे सभी कार्य कर रही थी जिनकी राष्ट्रनिर्माण में अपेक्षा होती है । ऊपर वैश्य के जो कार्य गिनाए गये हैं, प्रस्तुत काल में सब ब्राह्मण और क्षत्रिय द्वारा भी किये जाते दिखाई देते हैं । अतः कहना यही पड़ता है कि व्यावहारिक रूप में अभी तक वैश्य वर्ण अस्तित्व में नहीं आया था और नियामक शास्त्रों में उसका उल्लेख केवल यही सूचना देता है कि उनका चातुर्वर्ण्य एक आदर्श की कल्पना ही थी ।

शूद्र और शास्त्रमर्यादा

शूद्र की स्थिति राजनैतिक और आर्थिक कारणों से उत्पन्न हुई थी । द्राविडों से पूर्व के भारतवर्ष के निवासी जिनका सांस्कृतिक स्तर अविकसित था, प्रारम्भ में शूद्र कहे गये । भगवद्गीता इनका स्वभावज कर्म परिचर्यात्मक बताती है और अर्थशास्त्र ने–(१) द्विजाति की सुश्रूषा, (२) वार्ता, (३) कारु कर्म (कला), (४) कुशीलव कर्म (दस्तकारी) इनका स्वधर्म निरूपित किया है। यह कथन भी समाज में शूद्र की स्थिति का ठीक निर्धारण नहीं करता । ये कार्य शूद्र ही करता था या शूद्र के ये ही कार्य थे, ऐसा इतिहास से सूचित नहीं होता। बौद्ध और जैन धर्म चातुर्वर्ण्य व्यवस्था हटाकर समत्वपूर्ण समाज की स्थापना करना चाहते थे, आपाततः ऐसा दिखाई देता है। बौद्ध संघ के द्वार सबके लिए खुले भी थे, फिर भी जातकों में कहीं-कहीं चाण्डालों को उनके कर्म के कारण अस्पर्श्य माना है । हीन शिल्प करनेवाले चाण्डाल, वेण, निषाद, रथकार तथा पुक्कुस अपने कर्म के कारण इस साहित्य में समाज से दूर माने गये हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी ग्राम के बाहर और भीतर रहने योग्य शूद्रों के दो भेद बताए गये हैं। इन सब कथनों का व्यवहार से सामंजस्य स्थापित नहीं होता।

शूद्र की व्यावहारिक स्थिति

प्रस्तुत काल के राजनैतिक इतिहास में क्षत्रकुलांत नंदों का विशाल साम्राज्य स्थापित होते हमने देखा है। ये शास्त्र मर्यादाओं में सुश्रूषा के लिए नियोजित शूद्र नाई थे और इनके पश्चात् राज्यपीठ पर आसीन होनेवाले मौर्य-सम्राट शूद्र वृषल कहे गये हैं। महावंश के अनुसार अशोक के भाई सुमति की पत्नी चाण्डाल ग्राम में उनके मुखिया के घर में निग्रोध को जन्म देती है और यही निग्रोध बौद्ध श्रमण होकर अशोक को बौद्ध धर्म में दीक्षित करता है।

वर्ण-व्यवस्था के खुले द्वार

चाणक्य ने एक वर्ण से दूसरे वर्ण में सम्मिलित होने की कोई व्यवस्था नहीं दी, संभवतः उसका निषेध ही किया है। यह निषेध प्रस्तुत काल तक अधिकतम ब्राह्मण वर्ण प्राप्त करने में बाधक हुआ होगा। वर्ण-व्यवस्था की दीवारें अभी अभेद्य नहीं बनी थीं। इस काल के पहले तथा इस काल में अनेक विदेशी जातियों के समूह भारत में आकर बसने लगे थे, परन्तु धीरे-धीरे वे इसी समाज के संगठन में घुस गये। पुराण जिन्हें संभवतः विदेशी होने के कारण म्लेच्छ कहते हैं, उन्हें भी अन्ततोगत्वा इस विशेषण के साथ क्षत्रिय ही स्वीकार करते हैं। इस संकेत के अनुसार इनकी बहुसंख्या अपने से पहले भारत में आनेवाले आर्य और मंगोलों की भाँति ही क्षत्रिय बन गयी और शेष न पहचाने जाने योग्य रूप में अपने कार्य के अनुसार किसी न किसी श्रेणी में समा गये। यह प्रक्रिया इस युग में जीवित सत्य रही।

वर्ण बनाम श्रेणियाँ और जनपद

ऊपर लिखे वर्णनों से यह तथ्य सहज उद्भावित होता है कि यद्यपि यत्रतत्र वंशाभिमान दिखाई देता है, राजनैतिक इतिहास के कारण समाज में विभिन्न स्तर दिखाई देते हैं, परन्तु इस युग की समाज की रचना के संबंध में कौटिल्य के उल्लेखों के आधार पर यह कहना उचित तथा इतिहाससम्मत नहीं है कि प्रस्तुत युग में वर्ण-व्यवस्था की जकड़बंदियाँ अस्तित्व में आचुकी थीं, जो बहुत आगे के काल की उपज हैं। प्रस्तुत काल की समाजरचना का आधार व्यवसायों और उद्योगों की वृद्धि के कारण उन्हें करनेवाले समूहों की श्रेणियों और जनपदों का विभाजन था। इन्हें अपनी विशेषताओं का दम्भ और गौरव था। जनपदों अथवा प्रदेशों में जो संगठन और निजत्व की भावना प्रबल रूप से दिखाई देती है, वह किसी वर्ण, धर्म या जाति के कारण न थी। नन्दिवर्धन कलिंग की विजय के चिह्न-स्वरूप वहाँ की जिन-मूर्त्तियाँ उठा ले गया था और यह केवल संभावना ही है कि वह स्वयं जिन-भक्त या जैन भी हो। आगे जब खारवेल मगध विजय कर उन प्रतिमाओं को कलिंग में लौटाकर लाया, तो हाथीगुंफा की प्रशस्ति में बड़े दम्भ से यह लिखा गया कि 'खारवेल राजा नन्द की ले गयी हुई कालिंग जिन-मूर्त्ति ले आए।' कलिंग के इस पराक्रमी योद्धा को उस जिन-मूर्त्ति से इसलिए ममत्व अधिक था कि वह कलिंग की थी, केवल इसलिए नहीं कि उसकी रानी जैन धर्म का पालन करती थी। स्वयं तो वह "पत्तों से भरे हुए (सोने के) कल्पवृक्ष, घोड़े, हाथी, सारथियों सहित रथ, मकान और अग्निकुंडों सहित शालाएँ" ब्राह्मणों को दान में देता था।[1] इन तथ्यों को देखते हुए यह प्रकट होता है कि प्रस्तुत काल के समाज का आधार जनपद, श्रेणियाँ, निगम और व्यवसाय थे, न कि अर्थशास्त्र में वर्णित चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था। इन आर्थिक, प्रादेशिक तथा राजनैतिक इकाइयों पर हम अन्यत्र विचार करेंगे। यहाँ यही कहना पर्याप्त है कि इतिहास के इस युग का प्रथम दर्शन ही यह प्रकट कर देता है कि प्राचीन भारत में वर्ण-व्यवस्था समाज की विविध तरल प्रवृत्तियों का केवल एक शास्त्रीय अध्ययन मात्र था।

---

१. हाथीगुंफा शिलालेख।

मेगास्थनीज भारत में रहकर भी व्यवहार में जो वर्ण-व्यवस्था थी उसे ही देख सका और इसी कारण उसने तत्कालीन समाज में व्यवसायों के अनुसार सात जातियों के दर्शन किये हैं[1]। यदि चातुर्वर्ण्य का विभाजन केवल शास्त्रीय न होकर व्यावहारिक होता, तब इस सूक्ष्म दृष्टिवाले राजदूत की आँखों से वह ओझल न हो सकता था।

आश्रमधर्म

समाज के चार वर्णों के समान मनुष्य-जीवन के चार आश्रमों की व्यवस्था भी बृहत्तर लोक-कल्याण को दृष्टि में रखकर की गयी थी। पूर्ववर्त्ती वैदिक युग में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास चार आश्रमों का विधान हो चुका था। मानव-जीवन को शतायु मानकर प्रत्येक व्यक्ति के लिए पच्चीस-पच्चीस वर्ष तक एक-एक आश्रमधर्म पालन करने की व्यवस्था थी। परन्तु अपनी व्यक्तिगत प्रवृत्तियों के अनुसार इन आश्रमों का समय बढ़ता-घटता रहता था।

ब्रह्मचर्य और शिक्षा

ब्रह्मचर्य आश्रम में अपना घर छोड़कर विद्यार्थी अपने गुरु के आश्रम में विद्याभ्यास के लिए जाता था। जो विद्यार्थी एक सीमित काल तक अध्ययन करना चाहते थे, वे उपकुर्वाण कहलाते थे। परन्तु कुछ ऐसे भी थे जो आजीवन ब्रह्मचारी रहकर विद्याध्ययन करते रहते थे, वे शस्थिक कहे जाते थे। वैदिक युग के ऋषियों के चरण नामक आश्रम इस युग में भी यथावत् चल रहे थे और विकसित ही हो रहे थे। बहुत बड़े-बड़े विश्व-विद्यालय भी इस युग में दिखाई देते हैं। इनमें ही इस युग के ब्रह्मचारी शिक्षा प्राप्त करते थे। इस युग की शिक्षापद्धति का विवेचन पृथक् रूप से किया गया है।

गृहस्थ

आश्रमों और विद्यापीठों में अध्ययन पूरा करने के पश्चात् ब्रह्मचारी को देशाटन करना आवश्यक होता था। उसके पश्चात् ही उसका ज्ञान पूर्ण माना जाता था। इस प्रकार के स्नातक चरक कहलाते और इसी तारतम्य में संभवत: अग्निवेश संहिता का प्रति-संस्कार करनेवाले पतंजलि चरक कहलाए। ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् गृहस्थाश्रम का प्रारम्भ होता था। विवाह के समय प्रज्वलित हुई अग्नि गार्हपत्य कहलाती थी। अतएव विवाह करने के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होनेवाला व्यक्ति गृहपति कहलाता था। गृहपति के स्वधर्म यज्ञ, अध्ययन और दान बतलाए गये हैं।

वानप्रस्थ

तीसरा आश्रम वानप्रस्थाश्रम था, जिसे पालन करनेवाले भिक्षु कहलाते थे। इनके धर्म अनिचय (संग्रह न करना), ऊर्ध्वरेता (ब्रह्मचर्य), वर्षा ऋतु में असंचरण, ग्रामों में केवल भिक्षा के लिए प्रवेश, केवल कौपीन पहनना और भिक्षा से ही जीवन-निर्वाह बतलाए गये।

संन्यास

चौथे आश्रम में पहुँचा व्यक्ति संन्यासी, परिव्राजक अथवा वैखानस कहलाता था, जब जंगल में रहकर केवल कंद, मूल, फल से जीवन-निर्वाह करना पड़ता था और वृक्षों

---

१. पीछे पृष्ट १९९।

की अथवा पशुओं की खाल से शरीर ढँका जाता था। संन्यासी सत्य और असत्य, सुख और दुःख, इहलोक और परलोक सबका परित्याग कर केवल आत्मा की खोज करता था। ऐसे संन्यासियों से सिकन्दर का भी पाला पड़ा था और विश्वविजय का दम्भ करनेवाला वह उद्दाम सैनिक उनके सामने हतप्रभ हुआ था। सिकन्दर का एक सेनापति ओनेसिक्रिटस तक्षशिला के पास ऐसे ही कुछ संन्यासियों से मिला था। उसने उनसे कहा कि यवन राजा उनसे उनका ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। उनमें से एक ने उत्तर दिया कि उनका ज्ञान प्राप्त करने के लिए लम्बे-लम्बे चोंगे, टोप और जूते छोड़ देने होंगे और सब वस्त्रों को त्यागकर उनके पास गरम पत्थरों पर बैठने का अभ्यास करना होगा। यह ओनेसिक्रिटस सिकन्दर के कहने पर एक और संन्यासी से मिला था, जिसका नाम ग्रीक लेखकों ने दण्डामिस लिखा है और जिसका आवास वन था तथा जो पत्तों की शैया पर पड़ा रहता था। ओने-सिक्रिटस ने दण्डामिस से कहा कि महान देवता जियुस का पुत्र राजा सिकन्दर, जो सब व्यक्तियों का सार्वभौम स्वामी है, तुम्हें बुला रहा है और यदि तुम उसकी आज्ञा को मान लोगे तो वह तुम्हें बहुत अधिक बहुमूल्य उपहार देगा; किन्तु यदि तुम उसकी आज्ञा का उल्लंघन करोगे तो वह तुम्हारा सिर काट लेगा। यूनानी इतिहास लेखक लिखता है कि दण्डामिस ने मुस्कराते हुए उसकी बात सुनी और अपनी पत्रशैया से हिले बिना ही तिरस्कारपूर्ण उत्तर दिया, "सार्वभौम-सम्राट केवल ईश्वर है, तथा वह प्रकाश, शान्ति, जीवन, जल, मानवशरीर और आत्मा का निर्माण करता है न कि उद्धत अनाचारों का। मेरा श्रद्धाभाजन केवल वही ईश्वर है जो मारकाट से घृणा करता है तथा युद्धों को प्रारंभ नहीं करता। सिकन्दर तो ईश्वर नहीं है, क्योंकि उसे तो एक दिन मरना पड़ेगा। वह संसार का स्वामी भी नहीं है। अभी तो उसने टाइबेराबोअस (व्यास का किनारा) ही पार नहीं किया है और न अभी वह विश्वसाम्राज्य के सिंहासन पर ही बैठा है। यह भी जानले कि सिकन्दर ने जो उपहार मुझे देने का वचन दिया है, वे मेरे लिए बिलकुल बेकार हैं। ये फलते-फूलते वृक्ष हैं जो मुझे सुस्वादु भोजन देते हैं और यह जलधारा है जो मुझे जीवन देती है। सब वस्तुएँ जो बड़ी उत्सुकता से संग्रहीत की जाती हैं, संग्रहकर्त्ता के ही विनाश का कारण बनती हैं तथा उसे दुःख और चिंता में डाल देती हैं, जो संसार के सभी प्राणियों में फैली हुई हैं। जहाँ तक मेरा संबंध है, मैं वन-पत्रों पर लेटता हूँ और मेरे पास कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसकी मुझे रक्षा करनी पड़े, इसलिए मैं चैन की नींद सोता हूँ। यदि मैं सुवर्ण इकट्ठा कर लूँ तो यह मेरी नींद ही चली जाएगी। धरती माता मुझे सब कुछ देती है, उसी प्रकार जिस प्रकार माता अपनी संतान को दूध पिलाती है। जहाँ मेरी इच्छा होती है वहाँ मैं जाता हूँ, मेरी ऐसी कोई आकांक्षाएँ भी नहीं हैं जिनके लिए मैं अपनी इच्छा के विरुद्ध चिंताएँ करता फिरूँ। सिकन्दर चाहे तो मेरा सिर काट ले, परन्तु वह मेरी आत्मा को तो नष्ट नहीं कर सकता। मेरा सिर कटकर मौन पड़ा रह जाएगा, परन्तु मेरी आत्मा अपने स्वामी के पास चली जाएगी और फटे हुए पुराने वस्त्र की भाँति शरीर को वहीं छोड़ जाएगी जहाँ से उसे वह मिला था। सिकन्दर से कहो कि वह ये धमकियाँ उनको दे जो सुवर्ण और धन के भूखे हैं और जो मृत्यु से डरते हैं। हमारे लिए तो ये हथियार बेकार हैं; क्योंकि ब्राह्मण न तो सुवर्ण से प्यार करता है और न मृत्यु से ही डरता है। जाओ और सिकन्दर से कहदो कि दण्डामिस को तुम्हारी किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है और इसलिए वह तुम्हारे

पास नहीं आएगा; किन्तु यदि तुम्हें दण्डामिस से कुछ चाहिए तो तुम उसके पास आ सकते हो[1]"।

यूनानियों का यह आँखों देखा वर्णन उस समय के संन्यासियों की वृत्ति पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। श्री मजूमदारने दण्डामिस के विषय में ठीक लिखा है, "दण्डामिस द्वारा सिकन्दर की युद्ध और नरहत्या के प्रोत्साहन के लिए की गयी भर्त्सना आधुनिक संसार के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। दण्डामिस उस भारतीय संन्यासी का प्रतिनिधि है जो धर्म और सम्प्रदाय विशेष का न होकर उन गुणों तथा आध्यात्मिक सत्यों का मूर्त्तिमान प्रतीक है जो भारत को अत्यन्त प्राचीन काल से अनुप्राणित करते रहे हैं और जिनने अशोक के दिनों से लेकर महात्मा गांधी तक भारत के जीवन में प्रभावपूर्ण मार्गदर्शन किया है"।

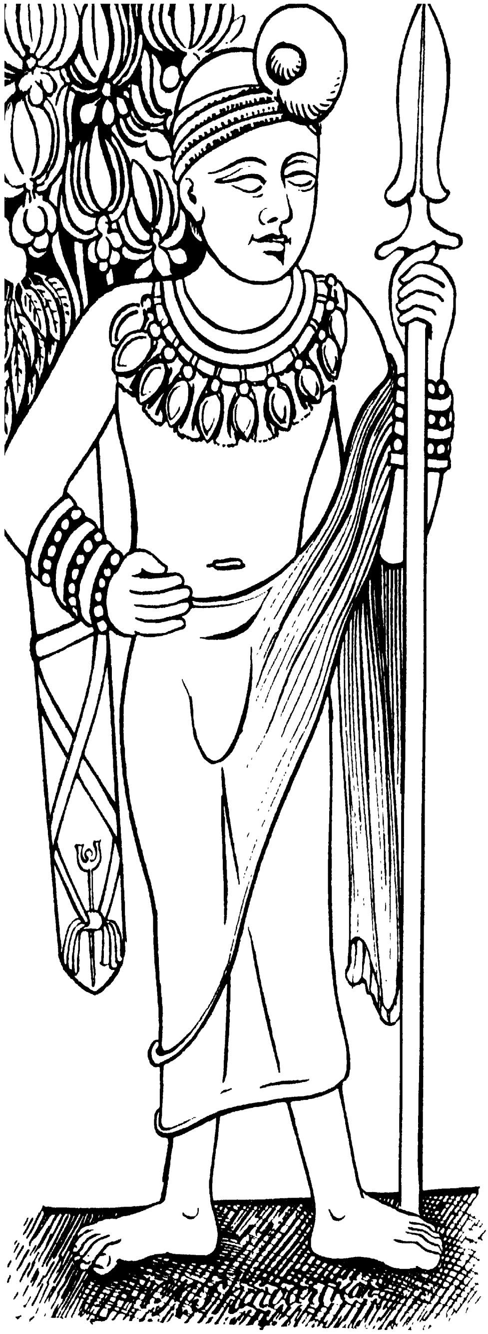
आश्रम-व्यवस्था का विपर्यय

परन्तु इस युग में यह आश्रम-व्यवस्था छिन्न-भिन्न होने लगी थी। यद्यपि अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने निर्धारित अवस्था के पहले छोटी अवस्था में संन्यासग्रहण को वर्जित किया है और बिना अपनी पत्नी तथा पुत्रों के लिए प्रबन्ध किये संन्यास लेना निन्दनीय बतलाया है तथा ऐसे परिव्राजक या श्रमणों को ग्रामों की सीमा में प्रवेश करने का निषेध किया है, क्योंकि उनके कारण ग्रामीण समाज पर अनिष्टकारी प्रभाव की आशंका थी, तथापि हम देखते हैं कि उस समय बौद्ध तथा अन्य श्रमण-धर्मों ने बाल और युवा अवस्था में संन्यासी बनने की छूट दे दी थी। संघों की निश्चिन्त जीवनचर्या ने समाज के उस अंग को प्रोत्साहित किया जो संसार के कर्त्तव्यों से भाग जाना चाहता था और इस प्रकार परिपक्व साधना के पश्चात ग्रहण किये जानेवाले संन्यास के स्थान पर इनने भिक्षु और भिक्षुणियों का अपरिपक्व आध्यात्मिक अवस्था में ही विपुल संख्या में निर्माण चालू कर दिया। आश्रमधर्म में अत्यन्त अकल्याणकारी विक्षोभ इस युग के पहले से ही प्रारम्भ हो गया था और आगे वह बाल और युवा संन्यासी तथा संन्यासिनियों के रूप में पर्याप्त मात्रा में विकसित हुआ।

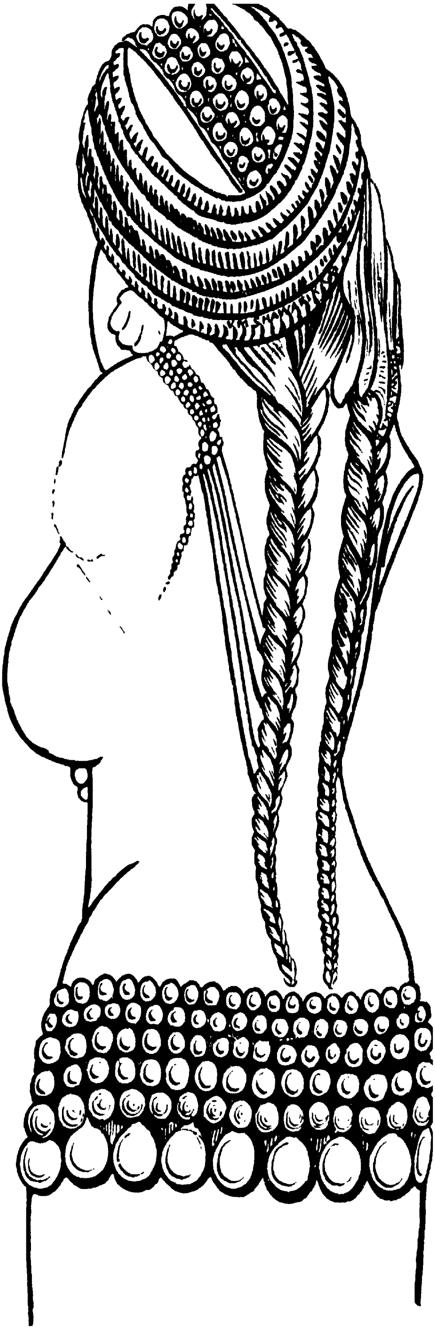
पारिवारिक जीवन तथा विवाह

पिछले युग के पारिवारिक जीवन तथा विवाह-व्यवस्था के संबंध में हम जो लिख चुके हैं, इस युग में उसके शास्त्रीय विवेचनों में कुछ विभिन्नता अथवा विशेषता दिखाई नहीं देती। परन्तु व्यवहार में इस युग में पारिवारिक जीवन में विक्षोभ उत्पन्न हुआ दिखाई देता है। बड़े-बड़े महानगरों का विकास हो गया था और धन-धान्य तथा सुवर्ण भी पर्याप्त मात्रा में संग्रहीत हो चला था। समाज के अधिक सम्पन्न स्तर में इस युग में पति की पत्नी के प्रति और पत्नी की पति के प्रति निष्ठा में न्यूनता दिखाई देने लगी थी। यदि बिम्बिसार अवन्ति की वारवनिता पद्मावती तथा लिच्छवियों की नगरवधू आम्रपाली को प्राप्त करने का समाज की भर्त्सना के भय के बिना प्रयास करता था और उनसे उसके वैध सन्तानों की उत्पत्ति होती थी तो दूसरी ओर मेगास्थनीज रानियों के लिए लिखता है "जो स्त्री शराब के नशे में चूर राजा को मार डालती है वह उसके उत्तराधिकारी की पत्नी बन जाती

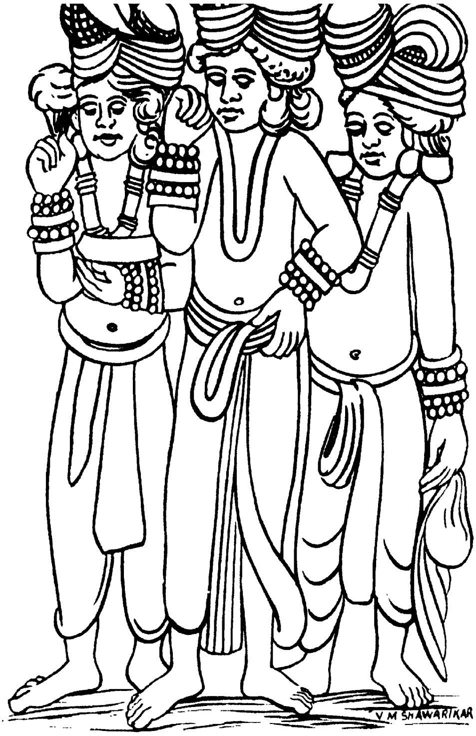
१. मेकक्रिंडिल : मेगास्थनीज, पृष्ठ १२४ से १२६।



वेष-भूषा—सैनिक, सांची

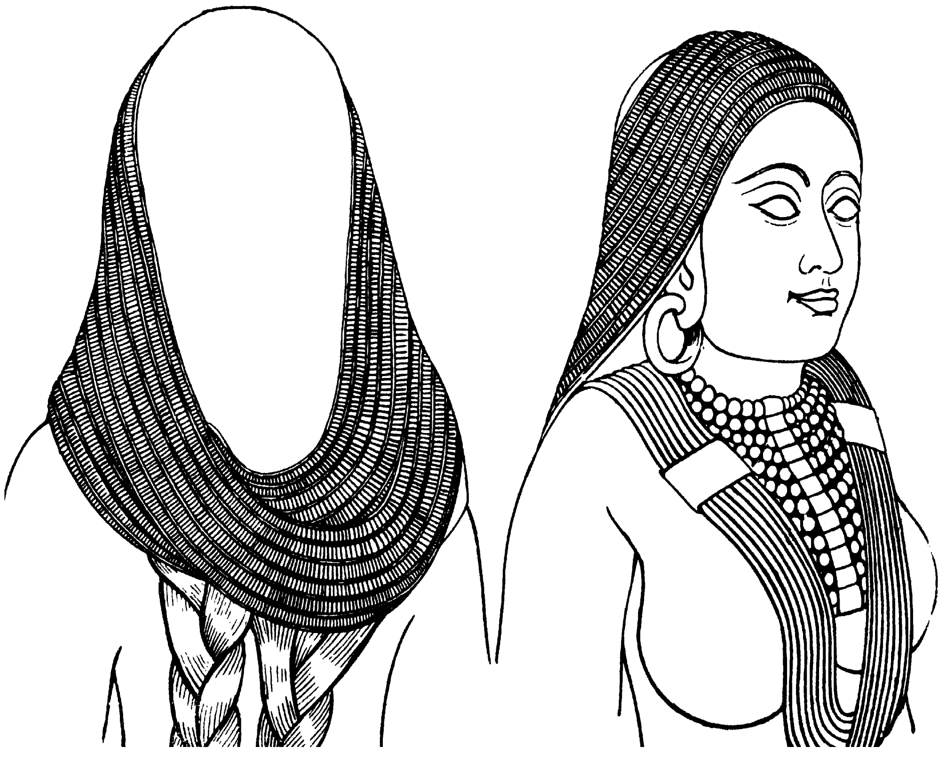


वेष-भूषा—यक्षिणी, बेसनगर



वेष-भूषा –तीन व्यापारी

यक्षिणी, बेसनगर



है[1]।" जातकों में भी इस प्रकार की अनेक कथाएँ मिलती हैं, जिनसे पति-पत्नी के संबंधों की पावनता की शिथिलता दिखाई देती है। मेगास्थनीज ने जो यह लिखा है कि "भारतवासी अनेक विवाह करते हैं, कुछ इसलिए कि उन्हें अपने कार्य में सहायक मिल जाए और कुछ केवल आनन्द के लिए करते हैं, बच्चों से अपना घर भरने के लिए।" यह सब राजाओं तथा नगरों के सम्पन्न वर्ग के संबंध में ही था। सर्वसाधारण में परिवार और विवाह की प्रतिष्ठा पूर्ववत् ही रही।

विवाह-मोक्ष

इस युग में विवाह-मोक्ष (तलाक) को भी मान्यता थी। यदि पति-पत्नी में आपस में द्वेष हो और वे विवाह से मोक्ष पाना चाहें तो कौटिल्य के अनुसार यह संभव था[2]। यदि बहुत लम्बे समय तक पति प्रवास में रहे और पता न लगे तो धर्मस्थों से पूछकर स्त्री दूसरा पति वरण कर सकती थी[3]।

समाज में स्त्री का स्थान

पाणिनि की अष्टाध्यायी में इस युग की स्त्रियों के संबंध में महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। स्त्रियाँ पुरुषों के समान ही विद्याध्ययन करती थीं, कुछ केवल अपने विवाह तक विद्याध्ययन करती रहती थीं और कुछ आजीवन अध्ययनरत रहती थीं तथा ब्रह्मवादिनी कहलाती थीं। पाणिनि ने वैदिक चरणों में अध्ययन करनेवाली स्त्रियों का उल्लेख किया है। कात्यायन के वार्त्तिकों में स्त्री-आचार्याओं का भी उपाध्यायी के रूप में उल्लेख है। पाणिनि ने स्त्री-छात्राओं के आवास छत्रिशालाओं का भी उल्लेख किया है।

पाणिनि के सूत्रों से ज्ञात होता है कि कुछ स्त्रियाँ आजीवन अविवाहित रहती थीं। बड़ी आयु हो जाने पर भी वे कुमारी कहलाती थीं और उनके लिए वृद्ध कुमारी, जरत् कुमारी आदि कहा जाता था। ऐसी कुमारियों से उत्पन्न पुत्र कानीन कहलाता था।

बौद्ध जातकों में भी ब्रह्मवादिनी अनेक महिलाओं का उल्लेख है, जो आजीवन अविवाहित रहकर शास्त्रों का अध्ययन करती थीं। थेरी गाथाओं की थेरियाँ वे स्त्रियाँ थीं जिनने कुमारियों के रूप में ही प्रव्रज्या ग्रहण कर ली थी, यद्यपि उनमें अभयमाता और इसिदासी जैसी महिलाएँ भी अपना पहले का जीवनक्रम बदलकर पहुँच जाती थीं। जैन अनुश्रुतियों में भी आजीवन कुमारी रहकर शास्त्र और दर्शन का गंभीर विवेचन करनेवाली स्त्रियों का उल्लेख है। कौशाम्बी की राजकुमारी जयन्ती ने स्वयं वर्द्धमान महावीर से तात्त्विक विवाद किया था और वह जैन साध्वी बन गयी थी।

साधारणतः स्त्रियों को संगीत, नृत्य और चित्रकला का अभ्यास कराया जाता था। उनमें से कुछ शस्त्रास्त्रों की सैनिक शिक्षा भी लेती थीं। पाणिनि ने उन्हें शक्तिकी लिखा

---

१. मेकक्रिंडिल : मेगास्थनीज, पृष्ठ ७१।

२. अर्थशास्त्र ३।३।

३. वही, ३।४।

है[1]। मेगास्थनीज ने भी उन स्त्रियों का उल्लेख किया है जो हथियारबन्द सैनिकों के रूप में राजाओं के साथ रहती थीं[2]। परन्तु यह नगरों के जीवन का चित्र मालूम होता है। ग्रामों के कृषक नगरों की ओर आना पसन्द नहीं करते थे। वहाँ स्त्रियों की दशा क्या थी, यह बताने का कोई साधन नहीं है।

इस युग में सती प्रथा के भी उल्लेख मिले हैं। ईसा पूर्व ३१६ में ईरान में एक भारतीय सेनापति की मृत्यु हो गयी, उसकी दोनों पत्नियाँ उसके साथ सती होने को प्रस्तुत हुईं। बड़ी कठिनाई से यूनानी सेनापति जेठी पत्नी को सती होने से रोक सका। लेकिन मृत सेनापति की छोटी पत्नी सती हो गयी। यूनानी इतिहास लेखकों ने इस घटना का आँखों देखा वर्णन लिखा है[3]।

नागरिक सभ्यता के उदय ने पण्यस्त्रियों अर्थात वेश्याओं को जन्म दे दिया था। वे गणिका, रूपाजीवा आदि नामों से संबोधित की गयी हैं। कौटिल्य ने इनका उपयोग जासूसों के रूप में किये जाने का भी उल्लेख किया है। अर्थशास्त्र में गणिकाओं की अधिकारी नियुक्त करने का भी उल्लेख है, जो स्वयं अपने रूप, गुण और सौन्दर्य के लिए अप्रतिम होती थीं तथा जिन्हें १००० पण वेतन मिलता था। प्रारम्भिक बौद्ध युग में कुछ अत्यन्त प्रभावशाली वेश्याओं के अस्तित्व का भी उल्लेख मिलता है। वैशाली की आम्रपाली अनुपम सुन्दरी और चौंसठ कलाओं में निपुण कही गयी है। उसकी सौन्दर्यश्री के कारण अनेक राजकुमार और धनिक पुत्रों ने उससे विवाह करना चाहा था। जब वह लिच्छविगण की सभा में लाई गयी तो वे वृद्ध नायक उसकी रूपश्री से चमत्कृत हुए। उसे स्त्रीरत्न घोषित कर यह निश्चय किया गया कि उसका विवाह किसी व्यक्ति से नहीं होना चाहिए और वह समस्त गण की अनुरंजिनी के रूप में नगरवधू बनकर रहे। वह समाज इन्हें नीची दृष्टि से नहीं देखता था। जब गौतम बुद्ध वैशाली आए तो लिच्छविगण के निमंत्रण को अस्वीकार कर वे आम्रपाली के अतिथि बने और उसे उनने धर्मोपदेश दिया। कुछ अनुश्रुतियों का कथन है कि इसी आम्रपाली से मगध-सम्राट बिम्बिसार के जीवक तथा विड्डभ नामक पुत्र हुए थे।

दास

यह पहले लिखा जा चुका है कि मेगास्थनीज ने भारतवर्ष में दासप्रथा के अभाव का उल्लेख किया है, परन्तु अनुश्रुतियों और शास्त्रों ने दासों के संबंध में अनेक नियम और व्यवस्थाएँ निर्धारित की हैं। संभावना यह है कि इस युग में दासप्रथा का अस्तित्व था; परन्तु ग्रीकों के दासों के समान उनके साथ दुर्व्यवहार नहीं किया जाता था और उन्हें समाज में नागरिक अधिकार प्राप्त थे अथवा हो सकते थे।

आमोद-प्रमोद

इस काल के स्वस्थ, समृद्ध और प्राणवन्त समाज में आमोद-प्रमोद तथा मनोरंजन के साधन अत्यन्त लोकप्रिय थे। समज्या या गोष्ठियाँ, उद्यानक्रीड़ा, अक्षक्रीड़ा,

---

१. डॉ० वासुदेवशरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १०१।

२. पीछे पृष्ठ २०६।

३. केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, खण्ड १, पृष्ठ ४१५।

लुब्धयोग या मृगया, प्रहरणक्रीड़ा तथा मल्लयुद्ध अनेक प्रकार के क्रीड़ाविनोद इस युग के साहित्य में और प्रत्यक्ष रूप से अर्धचित्रों में प्राप्त होते हैं।

समज्या या समाज वे उत्सव थे जिनमें जनसमुदाय, स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध एकत्र होकर अनेक प्रकार के खेल-तमाशे, नृत्य, संगीत, हस्तियुद्ध, मेषयुद्ध, अजायुद्ध, दण्डयुद्ध, मल्लयुद्ध आदि खेल या क्रीड़ाएँ करते थे। मेगास्थनीज ने विवाह के संबंध में लिखा है कि तरुणियाँ ऐसे युवकों से स्वयं विवाह कर लेती थीं जो किसी विशेष शारीरिक अथवा पौरुष के प्रदर्शन में यश प्राप्त करता था[1]। यह निर्वाचन संभवतः इन्हीं समाजों में होता होगा। अशोक का ध्यान इन समाजों की ओर गया था और उसने लिखा था कि लोगों को समाज न करना चाहिए, यद्यपि उसने लिखा है कि "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा समाज के अनेक दोषों को देखता है, यद्यपि कुछ समाज ऐसे हैं जो देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा को अच्छे लगते हैं[2]। इस युग में ये समाज, अशोक के शब्दों में, भले और बुरे, दोनों ही बहुत लोकप्रिय थे।

मल्लयुद्ध और प्रहरणक्रीड़ा तथा मृगया पुरुषों के क्रीड़ाविनोद थे। पहलवानों को जातकों में मुट्ठिक कहा गया है। प्रहरणक्रीड़ा में लाठी, मुक्केबाजी, शस्त्रपरीक्षा, धनुषबाण आदि के खेल होते थे।

स्त्रियों की उद्यानक्रीड़ाओं के साहित्य और शिल्प दोनों में उल्लेख और चित्रण मिलते हैं। भारतवर्ष के पूर्वी भाग में अनेक प्रकार की उद्यानक्रीडाएँ प्रचलित थीं। उद्दालक, पुष्पभंजिका, वीरणपुष्पप्रचायिका, शालभंजिका, तालभंजिका, अभ्योषखादिका आदि स्त्रियों के क्रीड़ाविनोद थे। इनके आकर्षक सौंदर्य से विमोहित होकर बौद्ध स्तूपों की बाड़ों पर इन क्रीडाविनोदों को करती हुई स्त्रियों के अर्धचित्र बनाए गये। शालभंजिका शब्द क्रीड़ा का नाम भी था और शालवृक्ष के नीचे उसकी डाल झुकाने की मुद्रा में खड़ी हुई स्त्री का वाचक भी हो गया था। शालवन में शालभंजिका क्रीड़ा करने का वर्णन पालि निदानकथा में आया है। "उन दोनों नगरों (कपिलवस्तु और देवदह) के बीच में लुम्बिनीवन नामक मंगल शालवन था, जो उभय नगरवासियों के उपभोग में आता था। उस समय में मूल से लेकर फुनगी तक सारा वन फूलों से अकस्मात् लद गया था। शाखाओं और पुष्पों के बीच में पंचरंगी तितलियाँ और नाना प्रकार के पक्षी मधुर स्वर से कूजते हुए विचर रहे थे। सारा लुम्बिनीवन रंग-बिरंगी लताओं के वन के समान या किसी वैभवशाली राजा के सुसज्जित हार के समान होगया था। उसे देखकर रानी मायादेवी के मन में शालवन की क्रीड़ा करने की कामना उत्पन्न हुई (सालवन कीलितुकामना उदपादि)। अमात्य देवी के साथ शालवन के भीतर आए। रानी ने मांगलिक शाल के नीचे जाकर उसकी शाखा को पकड़ने की इच्छा की। शाल की शाखा भपारा दिए हुए बेत के समान झुककर देवी के हाथ की पहुँच के भीतर आगयी। उसने हाथ बढ़ाकर शाखा को पकड़ लिया, उसी समय से प्रसव पीड़ा प्रारंभ हुई[3]।

---

१. पीछे पृष्ठ २०२।

२. अशोक की धर्मलिपियाँ (प्रथम प्रधान शिलालेख), पृष्ठ ७।

३. डॉ० वासुदेवशरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १६४।

चाणक्य ने अर्थशास्त्र में ऐसे अनेक लोगों का वर्णन किया है जिनका काम एक स्थान से दूसरे स्थान पर विविध मनोरंजनों से जनसाधारण का मनोविनोद करके जीविका उपार्जन करना था। नट, नर्त्तक, गायक, वादक, वाग्जीवन (तरह-तरह की बोलियाँ बोलनेवाले), कुशीलव (घूमघूमकर गानेवाले), प्लवक (रस्सी पर नाचनेवाले), सौभिक (मदारी तथा चारण) ग्रामों तथा नगरों में तमाशा किया करते थे। इन्हें राज्य को पाँच पण कर के रूप में देना पड़ता था[1]। कौटिल्य को यह भी व्यवस्था देनी पड़ी थी कि वे तमाशेवाले नट, नर्त्तक, गायक आदि ग्रामों के काम में विघ्न डालते हैं। अत: तमाशे उतने ही होने चाहिए जितने से ग्रामों के काम में बाधा न पड़े[2]।

वेशभूषा तथा अलंकार

इस युग में भारतीय वेशभूषा तथा अलंकारों का अत्यन्त परिष्कृत उपयोग करने लगे थे। कौपीन और वल्कलवस्त्र अथवा मृगचर्म धारण किये संन्यासियों अथवा केवल तीन वस्त्रधारी भिक्षु-भिक्षुणियों के अतिरिक्त नागरिक नर-नारी अपनी वेशभूषा तथा शृंगारा-भरण का पर्याप्त ध्यान रखते थे। मेगास्थनीज ने इस विषय में जो कुछ लिखा है उसका उल्लेख पहले हो चुका है। इस युग के साहित्य तथा अवशेषों और मूर्त्तियों से भी यह प्रकट होता है कि इस युग में सिर से पैर तक साज-सज्जा के वस्त्राभरणों का उपयोग होने लगा था। जीवन की विविध स्थितियों के अनुसार अनेक प्रकार की वेशभूषा प्रचलित थी।

अनेक प्रकार के सूती, ऊनी और रेशमी वस्त्र बनने लगे थे। इन वस्त्रों को सीने के लिए सुइयों का भी उपयोग होता था।[3] चमड़े के वस्त्रों का भी उपयोग होता था। बहुधा पुरुष उत्तरीय तथा अन्तरीय दो वस्त्रों का ही उपयोग करते थे। उत्तरीय मनोहर ढंग से कंधे पर डाल लिया जाता था और अन्तरीय धोती की तरह पहना जाता था। धोती के ऊपर कटिप्रदेश में कायबन्धन या फेंटा बाँधा जाता था। पुरुष कानों में बाले, गले में अनेक प्रकार की मालाएँ तथा बाजुओं पर भुजबंद पहनते थे। केशविन्यास का भी विशेष ध्यान रखा जाता था और विविध प्रकार के उष्णीष बाँधे जाते थे।

स्त्रियों के प्रसाधन का प्रधान साधन दर्पण इस युग में उपयोग में आता था। यह दो प्रकार का होता था, यथामुखीन और सम्मुखीन। यथामुखीन दर्पण चपटा तथा सम्मुखीन बीच में उठा हुआ होता था, जिसमें सामने से स्पष्ट दिखाई दे सके। स्त्रियाँ अपने बालों को बड़ी बारीकी से सँवारती थीं और उन पर जरी की पट्टियाँ बाँधती थीं। ललाटिका (आधुनिक बोर) जैसे सिर के आभूषण का भी उल्लेख मिलता है और दीदारगंज की चामरग्राहिणी की मूर्त्ति के माथे पर उसके दर्शन भी होते हैं। स्त्रियाँ कर्णाभरण भी बड़े-बड़े पहनती थीं। गले में पहनने के ग्रैवेयक तथा गिवेय्य नामक आभरणों का उल्लेख पाणिनि तथा जातकों ने किया है। गले के ये आभरण, मालाएँ और हार स्त्रियों के समस्त गले को भरे रहते थे और नाभि तक ढके रहते थे। नीचे लहरदार किनारी की साड़ियाँ

१. अर्थशास्त्र २।२७।

२. वही, २।१।

३. चुल्लवग्ग ५।११।२।

या धोती पहनी जाती थीं। इसके ऊपर स्त्रियाँ अत्यन्त अलंकृत नीवि अथवा कमरपेटी बाँधती थीं। विदिशा में प्राप्त यक्षिणियों की मूर्त्तियों के वस्त्राभरण इस युग के समृद्ध नर-नारियों की वेशभूषा पर प्रकाश डालते हैं। साधारण नर-नारी भी अपना साज-शृंगार का ध्यान रखती थीं यह उज्जयिनी में हुए उत्खनन में प्राप्त मिट्टी तथा सीप के कर्णाभरण तथा कड़ों के खंडों, कंघों के टुकड़ों तथा प्रसाधन सामग्री रखने की डिबियों से प्रकट है। एक स्त्री के अस्थिअवशेषों में रंगे हुए दाँत मिले हैं। स्नान के समय रगड़-रगड़ कर पैर स्वच्छ करने के मिट्टी के पकाकर बनाए गये टुकड़े भी मिले हैं। मिट्टी के बर्त्तनों के खंड भी सुन्दर अलंकारणों से सुशोभित हैं।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के समन्वय का साधक इस प्राचीन युग का भारतीय संन्यासियों का समूहमात्र नहीं था। वह धरती से धन लेना भी जानता था और उस धन का उपयोग भी करता था तथा अपने शास्त्रचिंतकों और तत्त्वज्ञानियों के निदेशों को भी मानता था। वह एक सर्वांगपूर्ण सजीव समाज था।

धार्मिक विश्वास

धर्मसाधना में हम इस युग के तात्त्विक एवं दार्शनिक चिन्तन की रूपरेखा दे चुके हैं। यहाँ भारत के ग्रामों के जनसमूहों में फैले अनेक विश्वासों की झाँकी प्रस्तुत की गयी है यद्यपि इनसे नगरनिवासी भी अछूते नहीं होंगे। लोगों को तंत्र-मंत्र पर बहुत अधिक विश्वास था। चाणक्य ने अनेक कार्यों को प्रारम्भ करने के पूर्व पढ़े जानेवाले मंत्रों का उल्लेख किया है। उसने लिखा है कि "खेत में बीज बोने से पहले कुछ बीजों को पानी में भिगोकर तथा बीजों में सुवर्ण रखकर, उन्हें यह मंत्र पढ़कर बोना चाहिए——

प्रजापतये काश्यपाय देवाय च नमः।
सीता मे ऋधतां बीजेषु च धनेषु च।।"

अशोक ने लिखा है, "लोग ऊँचा-नीचा मंगलकार्य करते हैं। बीमारी, न्यौते, विवाह, पुत्रजन्म, परदेशगमन तथा और ऐसे ही दूसरे अवसरों पर मनुष्य बहुत से मंगलकार्य करते हैं। ऐसे अवसर पर बच्चेवाली स्त्रियाँ बहुत से मंगलकार्य करती हैं[1]।" यह उस समय के रीति-रिवाजों और विश्वासों की परिगणना मात्र है। फलित ज्योतिष, वशीकरण, उच्चाटन आदि मंत्रों पर विश्वास तो था ही, साधु-महात्माओं के चमत्कारों पर भी लोगों का कम विश्वास नहीं था। इसका कुटिल उपयोग कौटिल्य ने राजनीति में करने की सलाह दी है। शत्रु तथा उसके देश को जीतने के उपायों में वह मुण्ड या जटिल वेष में दूसरे राजा के प्रदेश में गुप्तचर भेजने की सलाह देता है। उसका कथन है कि ये गुप्तचर बहुत से चेलों को लेकर नगर के समीप बैठ जाएँ। पूछने पर बताएँ कि हम पर्वत की गुहा में रहनेवाले हैं और हमारी आयु ४०० वर्ष की है। शिष्य लोग अमात्यों और राजाओं को महात्माजी के दर्शनों के लिए प्रेरित करें[2]। मूर्त्तियों को दिखाकर और उनके अलौकिक कृत्यों का बखान कर धन एकत्रित करने की कौटिल्य की सुझाई हुई रीति का उल्लेख अन्यत्र हो ही चुका है।

---

१. अशोक की धर्मलिपियाँ (नवम प्रधान शिलालेख), पृष्ठ ९७।
२. अर्थशास्त्र १३।२।

जीवन्त समाज का रूप

इस युग के बहुरंगी जनसमूह में एक ओर दार्शनिक चिन्तनरत संन्यासी थे तो दूसरी ओर जीवन का सम्पूर्ण रस लेनेवाला वह जीवन्तवर्ग भी था जिसने अपने अपार बाहुबल से रत्नगर्भा वसुन्धरा से धन-धान्य और सुवर्णराशि अर्जित कर जीवन में जीवित रहने का मंत्र सीखा था। उस समय की कला में जो जीवनचित्रण फूट पड़ा है, वह इस युग की सामाजिक स्थिति का द्योतक है। उसके धर्मस्थान भी मनहूसियत की ओर नहीं झुक सके। उनके ऊपर उत्कीर्ण विविध दृश्यों का आधार चाहे जातक कथाएँ हों, चाहे अन्य, उनमें वह जीवन का हास-उल्लासपूर्ण चित्र चाहता था। कौन कह सकता है कि समाज की इसी लिप्सा को तृप्त करने के लिए उसकी लोककथाओं, विश्वासों, अनुभवों, आकांक्षाओं और अनुभूतियों को जातककारों ने संग्रहीत कर उसके सामने धर्मग्रन्थ के रूप में नहीं रख दिया और फिर उनका अनुकरणकर तक्षकों, रूपकारों और चित्रकारों ने सड़ासी से मूँछ पकड़कर बन्दरों द्वारा खींचने के, हाथियों, घोड़ों एवं मोरों के समूहों के, उद्यान-क्रीड़ाओं के, नगरों और सेनाओं के, नृत्य और संगीत के, जलयात्राओं और धर्मयात्राओं के विविध दृश्य अंकित नहीं कर दिये। उस समाज के इसी आमोद-प्रमोद और उत्सवप्रियता को देवप्रतिमा और स्कंध आदि के दर्शनोंयुक्त रथयात्राओं का रूप दिया गया। धर्म, कला और राज्यव्यवस्था के रूपनिर्माता कुछ व्यक्ति——राजा, शास्त्रकार और धर्मगुरु नहीं होते, उसका रूपनिर्माण लोकसमूह करता है। इस युग के अवशेषों में जो विशालता, महानता, रस और जीवन दिखाई देता है उसका वह रूपनिर्माण उस युग के जनपदों के निवासी लक्षावधि लोकसमूह की प्रकृति, प्रवृत्ति और पराक्रम ने किया है——महावीर और गौतम; नन्दिवर्धन, चन्द्रगुप्त और अशोक; पाणिनि और चाणक्य ने उसका संयोजन और संगठन करने का प्रयासमात्र किया; परन्तु उसका रूप वही रहा जो उस समय का समाज चाहता था। उनकी कृतियों में तत्कालीन लोक-मानस की शक्ति और दुर्बलताएँ फूट पड़ी हैं। न बौद्ध धर्म गौतम बुद्ध की देन है, न अशोक की कृतियाँ अशोक की हैं, सारनाथ और साँची के निर्माण भी अशोक के दो हाथ करने नहीं गये थे, अकेला चन्द्रगुप्त भी यूनानियों से टक्कर न ले पाता, चाणक्य का बुद्धिवैभव भी पुस्तकों तक रह जाता, भारत की धरती भी अपने आप सोना न उगलती, न विदेशी ही अपने आप यहाँ व्यापार करने आकर अपना धन दे जाते, ये सब कृतियाँ उस समाज की कर्तृत्वशक्ति की द्योतक हैं जो नगरों, पुरों और ग्रामों में फैला हुआ था, जो जिन्दा रहना जानता था और वास्तव में जीवित था।

इस युग की महान कलाकृति सारनाथ के स्तम्भ का शीर्ष और धर्मचक्र मूलरूप में किसी सम्प्रदाय की कृति नहीं है। भारत के इतिहास में लोकसत्ता अत्यन्त जीवन्त और प्रबल रूप में इसी युग में दिखाई दी। इस युग में साम्राज्य बने और बिगड़े, नये धर्म और विश्वास उत्पन्न हुए और समाप्त भी हुए, परन्तु एक बात सदा स्पष्ट रही, वह है जन की प्रबलता और उसकी प्रमुखता, सामूहिक प्रयास की उत्कट इच्छा तथा कर्तृत्वशक्ति की अदम्यता। चारों दिशाओं की ओर देखनेवाले ये सौम्य सिंह उसी भावना की अभिव्यक्ति हैं, गणों, श्रेणियों, निगमों, जनपदों और पौरजनों के पराक्रम के, उनके विश्वव्यापी चंक्रमण

के तथा उनकी गतिशीलता के प्रतीक हैं और आज जब उन्हें हमने राष्ट्रीय चिह्न के रूप में ग्रहण किया है तब उनके निर्माण के मूल में प्रेरक तत्त्व बनी विश्वकल्याण के पथ पर दृढ़ विधायक पग बढ़ाती भारत की इस जनशक्ति की इन शास्वत विशिष्टताओं को ही राष्ट्र के प्रतीक के रूप में हमने वरण किया है।

मरणोत्तर संस्कार

उज्जयिनी में गढ़ और कुम्हार टेकरी पर किये गये उत्खननों से प्राङमौर्य तथा मौर्य-कालीन मरणोत्तर संस्कारविधि के कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवशेष प्राप्त हुए हैं। कुम्हार टेकरी की खुदाई में प्राप्त मानवअस्थियों के विषय में ग्वालियर राज्य के भूतपूर्व विद्वान संचालक श्री मो० ग० गर्दे ने सन १९३८-३९ में लिखा था "अद्यतन सम्मति के अनुसार ऐसी मुद्राओं (जैसी कुम्हार टेकरी में प्राप्त हुई थीं) का समय ई० पू० दूसरी से तीसरी शताब्दी का माना जा सकता है। ये मानव अस्थिपंजर, इस कारण, ईसा पूर्व दूसरी या तीसरी शताब्दी के पहले के माने जा सकते हैं। कितने पहले के, यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार मोहें-जो-डेरो में कुशाणकाल के स्तूप के नीचे ही प्रागैतिहासिक अवशेष मिले थे, उसी प्रकार संभव है कि वे व्यक्ति जो कुम्हार टेकरी के इस स्मशान में जलाए या गाड़े गये हों, प्रागैतिहासिक युग के हों"[1]। ये मानवपंजर उसी वर्ष वैज्ञानिक अध्ययन के लिए कलकत्ता भेजे गये थे, परन्तु अभी तक, ऐसा ज्ञात हुआ है, उनके विषय में कोई सूचना नहीं मिली। परन्तु जो अवशेष इन मानवपंजरों के साथ प्राप्त हुए हैं वे इन्हें प्राङमौर्य अथवा मौर्यकालीन अवश्य सिद्ध करते हैं।

इन अवशेषों से उस युग के किसी वर्ग विशेष के मरणोत्तर संस्कार तथा उनकी वेशभूषा पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। दो या तीन फुट के गहरे में ही लगभग ४२ मानव-पंजर मिले थे जिनमें से कुछ बिलकुल पूर्ण थे। ये विभिन्न स्थितियों में थे, इनमें से अधिकांश का सिर उत्तर की ओर था, एक का सिर दक्षिण की ओर था और दो का दक्षिण-पश्चिम की ओर। कुम्हार टेकरी के एक भाग में मानवपंजर औंधे लेटे हुए थे और दूसरे भाग में वे सीधे यानी ऊपर को मुँह किये हुए थे। कुछ पंजर असामान्य स्थिति में रखे हुए मिले। दो पंजर घुटने मोड़े हुए बैठी स्थिति में थे। एक तो योगी अथवा जैन या बौद्ध भिक्षु के समान ध्यान-मुद्रा में बैठा हुआ था। कुछ पंजर स्त्रियों के ज्ञात होते थे तथा कुछ बच्चों के ज्ञात होते थे। एक पंजर के पास सीप के बने हुए कर्णाभरण प्राप्त हुए थ। एक के पास सीप के इतने मनके मिले थे कि उन्हें जोड़कर एक माला बन सकी थी। एक पंजर के दाँत लाल रंग से रँगे हुए मिले थे। इन पंजरों के बीच मे एक बड़ी डहार[2] तथा कुछ छोटे मृत्तिका-पात्र प्राप्त हुए थे। बड़ी डहार में कुछ हड्डियाँ, राख और मिट्टी की सकोरे प्राप्त हुए थे। कुछ पंजरों के चारों ओर मिट्टी के प्याले और सकोरे सजाकर रखे हुए मिले थे। जिस भूमिस्तर पर ये मानवपंजर मिले थे उसके कुछ ऊपर ई० पू० तीसरी या

---

१. वार्षिक विवरण, पुरातत्त्व विभाग, ग्वालियर राज्य, संवत् १९९५, पृष्ठ १६।

२. इस आकार-प्रकार के मोटे दल के मृत्तिकापात्र को बुंदेलखंड में आज डहार कहा जाता है। अतएव हमने इस शब्द का प्रयोग किया है।

दूसरी शताब्दी की मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। इस स्तर के कुछ नीचे दाहसंस्कार के भी चिह्न प्राप्त हुए हैं।

कुम्हार टेकरी पर तथा उसकी खुदाई से मिले हुए मिट्टी के ये अगणित पात्र यह प्रकट करते हैं कि जिस वर्ग का यह स्मशान था उसमें मृत व्यक्ति के साथ बहुत से मृत्तिका-पात्र रख देने का चलन था। मुर्दों को वे गाड़ते भी थे और जलाते भी थे।

उज्जयिनी के गढ़ के उत्खनन में भी मरणोत्तर संस्कार के इस युग के अथवा इसके कुछ पूर्व के चिह्न प्राप्त हुए हैं। यहाँ २ फुट व्यास के मिट्टी की चकरियों के बने हुए अन्नकप मिले थे, जिनका उल्लेख अन्यत्र किया गया है। साधारणतः अन्न सुरक्षित रखने के लिए उपयोग में आनेवाले इन अन्नकूपों का उपयोग यहाँ मरणोत्तर संस्कार के लिए किया गया है। इनमें कुछ मुद्राएँ, कुछ सिक्के, गला हुआ मिट्टी के रूप में संभवतः अन्न, पत्थर की मृतकों के अवशेष रखने की डिबिया तथा मिट्टी के बर्त्तनों के टुकड़े और कुछ में घोड़े की हड्डियाँ तथा एक में गधे की हड्डी मिली है। यहाँ पर भी मिट्टी की बड़ी डहारें प्राप्त हुई हैं, जिनमें मनुष्य की अस्थियाँ और किसी व्यक्ति के नाम से अंकित मिट्टी की मुद्रा प्राप्त हुई है। इस मुद्रा पर नन्दी भी अंकित है। इसी डहार में एक छोटी मिट्टी की मुद्रा भी मिली थी, जिसके एक ओर मनुष्य का सिर बना हुआ है और दूसरी ओर कमल का चिह्न है। इनके पास जो सिक्के प्राप्त हुए हैं, उनसे ये अवशेष प्राङ्मौर्यकाल के सिद्ध होते हैं। गढ़ के इन अवशेषों से स्पष्ट होता है कि यह मरणोत्तर क्रिया दाह-संस्कार के पश्चात् की गयी है और प्राग्द्राविड काल के उत्तरपाषाणयुग के मानव की मरणोत्तर क्रियाओं की परम्परा की द्योतक है, जो अपने मृतकों के साथ उसके जीवन के उपयोग की सामग्री, यहाँ तक कि उसका प्रिय सहचर कुत्ता भी गाड़ देते थे।

कुम्हार टेकरी और गढ़ के ये स्मशान राजाओं या धनिकों के नहीं हैं। मध्यम श्रेणी के विविध विश्वासोंवाले उज्जयिनी के पौरजन अपने दैनिक उपयोग की सामग्री लिए यहाँ सोए हुए हैं। यदि किसी जनपद का इतिहास केवल राजाओं और सामन्तों का इतिहास नहीं है और वह जनजीवन का भी इतिहास है तो इन अवशेषों का अध्ययन, निरीक्षण और अन्वेषण अत्यन्त आवश्यक है। उसकी डहारें, उसके मिट्टी के सकोरे और प्याले, उसके अन्नकूप तथा उसके जीवनयापन के साथी कुत्ते, गधे और घोड़े आज भी उसी रूप में उसके साथ हैं।

व्यवसाय तथा व्यापार

समृद्धि की परम्परा

पिछली अनेक शताब्दियों से भारत के आर्थिक विकास की जो परम्पराएँ उद्भूत होकर पुष्ट हुईं और जिनके द्वारा वह अगले युगों तक समृद्ध बना रहा उनका अत्यन्त विस्तृत और विशद रूप हमें इस युग में प्राप्त होता है। कृषि, व्यवसाय और व्यापार बढ़े पिछले युगों में थे, परन्तु उस समय का उनका पूरा विवरण प्राप्त नहीं होता, केवल यत्र-तत्र उसके संकेत मिलते हैं। इस युग के साहित्य ने हमें उस आर्थिक ढाँचे के विस्तृत विवरण के दर्शन सर्वप्रथम कराए, जिसके कारण साम्राज्यों, धार्मिक, सामाजिक तथा शिक्षा और संस्कृति सम्बन्धी संस्थाओं के अत्यन्त उच्च मान प्राचीन भारत में स्थापित हो सके। यह स्मरणीय है कि आर्थिक व्यवस्था का वह रूप जो इस युग में दिखाई दिया, अपने पीछे बहुत लम्बी परम्परा लिये हुए था और आगे भी अनेक शताब्दियों तक उसी रूप में तथा कुछ परिवर्तित रूप में आज भी दिखाई देता है। चाणक्य के अर्थशास्त्र में उसके नियमन और व्यवस्थापन के जो सूत्र दिखाई देते हैं, वे भी अपने पीछे बहुत लम्बी परम्परा लिये हुए हैं।

आर्थिक संगठन

इस युग के आर्थिक ढाँचे का मेरुदण्ड वे संगठन थे जो इस युग में लगभग सभी प्रकार के व्यवसायों और व्यापारों में दिखाई दिए। किसानों, मजदूरों, शिल्पियों और व्यापारियों के अद्भुत संगठनों का पूर्ण विकास इस युग में प्रत्यक्ष हुआ। ये संगठन व्यवसायप्रधान भी थे और क्षेत्रप्रधान भी। जनों ने जनपदों में बसकर कुलों के समूह से ग्रामों की और ग्रामों के समूह से जनपदों की सुदृढ़ प्रतिष्ठा की, विविध व्यवसाय करनेवाले शिल्पी श्रेणियों के रूप में संगठित दिखाई दिये, कर्मकारों (मजदूरों) ने अपनी श्रेणियाँ संगठित कीं, व्यापारियों ने निगमों के रूप में अपने समवेत प्रयास किये, बड़े-बड़े काफिलों ने सार्थों का संगठनकर देश के आन्तरिक व्यापार को व्यवस्थित किया, जलयानों द्वारा नदियों और समुद्रों में देशी और विदेशी व्यापार संगठित हुए और इस युग के अन्त में हम देखते हैं कि राज्य ने भी अपने द्वारा किये जानेवाले व्यवसाय और व्यापार को अत्यन्त विकसित रूप से सुसंगठित किया। इस प्रसंग में यह विषयातिरेक है, फिर भी यह एक मनोरंजक संयोग है कि इस युग में शिक्षा और धर्म के क्षेत्र में भी संघबद्ध तथा सुसंगठित प्रयास किये गये। हम देखते हैं कि व्यक्ति ने समष्टि के लिए, जनपदों, श्रेणियों, निगमों, पूगों और पौरों ने राष्ट्र के लिए अपने आप को खपा देने और एकरूप कर देने का जो प्रयास भारतभूमि में किया था उसका उज्ज्वलतम और स्पष्टतम रूप इस युग में दिखाई दिया, यद्यपि इस युग के पहले उसका विकास प्रारम्भ हो चुका था। अगली अनेक शताब्दियों तक अत्यन्त भव्य कलाकृतियों पर तथा महानतम

शास्त्रों और श्रेष्ठतम काव्यों पर व्यक्तियों के नाम न मिलने की तथा उनका व्यक्तिगत परिचय प्राप्त न होने की भारत में जो परम्परा दिखाई देती है, उसका मूल इन संगठनों में है। व्यक्ति कार्य करता था, उसकी कमजोरियाँ भी थीं और उसकी शक्ति भी थी, लेकिन वह सब समष्टि के लिए थी, उसकी श्रेणी निगम, चरण या संघ के लिए थी।

इन औद्योगिक और व्यापारिक संगठनों पर विचार करते समय यह स्मरण रखना आवश्यक है कि उनका जाति अथवा वर्ण से कोई सम्बन्ध नहीं था। इनका यह भी तात्पर्य नहीं था कि सम्पत्ति का व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं था अथवा व्यक्ति को अपना पूरा कौशल दिखाने का अवसर नहीं था। इस युग में अनाथपिण्डक जैसे "महासेट्ठि" भी थे जिनने सौ करोड़ दान में ही दे दिये थे और जिनकी दान की समता करने के लिए अशोक जैसे सम्राट भी सक्षम नहीं थे[1] और इनमें अस्सी-अस्सी करोड़ की स्थितिवाले ब्राह्मण भी थे[2]।

खेती

भारत के अधिकांश जनसमूह का व्यवसाय सदा से खेती रहा है, इस युग में भी था। अनेक अन्य व्यवसाय भी खेती से सम्बन्धित थे। अधिकांश खेती ग्रामों में होती थी, यद्यपि उल्लेख ऐसे भी मिलते हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि बड़े-बड़े राजा गायों के झुण्ड पालते थे तथा खेती कराते थे, तथापि अधिकांश किसान ग्रामों में ही रहते थे।

ग्रामों में किसानो के घर कुटीर कहलाते थे, जो बहुधा फूस के छप्पर से छाए जाते थे। एक घर में एक परिवार या गार्हपत रहता था। एक ग्राम में ३० से १,००० तक कुल या परिवार होते थे। सारी गाँव-बस्ती के लिए वसति शब्द का प्रयोग किया जाता था और ग्रामों के समूह को ग्रामता कहा जाता था। गाँवों के मनुष्यों के लिए कुएँ और पशुओं के लिए निपान या चरही बनाई जाती थी। ग्रामों में चारों ओर दीवार या बाड़ होती थी। इसके बाहर खेत होते थे। गाँवों के खेतों से दूर अरण्य होते थे। इन अरण्यों में रहनेवाले मनुष्य आरण्यक कहे जाते थे।

इस युग में भूमि का स्वामी कृषक था, "प्रथमच्छेदस्य केदारम्" से भी यही सूचित होता है कि भूमि जोतनेवाले की थी। राज्य का उस पर स्वामित्व नहीं था। पृथ्वी का यह कथन कि "मुझे कोई मर्त्य न दे" राज्य के उस पर स्वामित्व का निषेधकारी था। ऐसी स्थिति में जमींदारियों का प्रश्न ही नहीं उठता। राजा खेती की उपज पर केवल वार्षिक भाग या बलि लेता था और अस्वामिक सम्पत्ति पर अधिकार कर सकता था। राज्य का भार उपज के अंश के रूप में लिया जाता था, जिसे ग्राम के मुखिया (ग्राम-भोजक) अथवा राज्यकर्मचारी वसूल करते थे। भूमि का स्वामी कृषक उसका दान अथवा विक्रय भी कर सकता था। पिता की सम्पत्ति का उसकी भूमिसहित पुत्रों में बँटवारा भी होता था। खेती का काम सभी वर्ग के लोग करते थे, वैश्य, ब्राह्मण और गण-राज्य में क्षत्रिय, स्वयं खेती करते थे और कभी-कभी भृतकों द्वारा खेती का काम कराया

---

१. दिव्यावदान।

२. जातक १।२३९, ३, १८, २३३।

जाता था। खेत छोटे-बड़े दोनों प्रकार के होते थे, इतने बड़े खेतों का भी उल्लेख मिलता है, जिन पर पाँच-पाँच सौ भृतकों द्वारा हल चलवाए जाते थे।

खेती के उपकरणों में हल प्रधान था। आज के समान उस युग में भी हल के तीन भाग थे, ईषा या हलस, बीच का भाग पोत्र और लोहे की बनी कुशी या फाल[1] जो पोत्र में ठुकी रहती थी। आन्ध्र देश के शिगवरं स्थान से प्राप्त ईसा पूर्व की चौथी पाँचवीं शताब्दी की एक आहतमुद्रा में इस युग के हल का अंकन मिलता है[2]। यह एक मनोरंजक संयोग है कि आज ढाई हजार वर्ष बीत जाने पर भी इन हलों का स्वरूप बदल नहीं सका है। खेती के अन्य उपकरण फावड़ा, कुदाली, आखन, हँसिया आदि का भी इस युग में उल्लेख मिलता है। अत्यंत परिश्रमपूर्वक और सावधानी से खेत जोते जाते थे और दुस्सर-तिस्सर करके उन्हें कमाया जाता था। फिर दो-तीन दिन बाद शुभ मुहूर्त्त में बीज बोया जाता था। फसल काटकर खलिहानों में ले जाते थे। कई खलिहानों के समूह को खल्या कहते थे। अर्थशास्त्र में लिखा है कि जहाँ तक हो खलिहानों को एकसाथ रखना चाहिए। खलिहान में फसल की मणनी की जाती थी। शिगवरं में प्राप्त एक चाँदी के कार्षापण पर इस मणनी का दृश्य भी अंकित है, जिसमें बीच में एक छायादार वृक्ष है, दोनों ओर चार-चार बैल पयर (प्रकर) या चकरी के ऊपर घूमते हुए दायँ चला रहे हैं।

ग्रामों का आन्तरिक संगठन अनेक मामलों में स्वावलम्बी होता था। उनके कुछ अपने नियम होते थे, जो उसके सब कुलों को पालनीय होते थे। ग्राम के मुखिया, ग्रामभोजक के अधीन उनकी अपनी छोटीसी शासनव्यवस्था थी। उसके अधीन वेतनभोगी ग्रामभृत्य होते थे, जिनमें कुट्टक (बढ़ई), करमार (लुहार), कुम्हार, नापित, धोबी, मेदक, रज्जुवर्त्तक (रस्सी बनानेवाला) तथा कहीं-कहीं हाथी और घोड़े सिखानेवाले होते थे। प्रत्येक ग्राम का एक गोपालक भी होता था, जो ग्राम के पशुओं को चराने ले जाता था और संध्या को उनके स्वामियों के घर पर उन्हें लौटा देता था।

पाणिनि ने अन्न सुरक्षित रखने के लिए अनेक प्रकार के पात्र और निर्माणों का उल्लेख किया है। कुसूल एक लम्बा मिट्टी का पात्र था, जो मनुष्य की ऊँचाई का होता था। इसी को कोष्ठी या कोठी कहा गया है[3]। कुम्भ मिट्टी का बड़ा घड़ा होता था, जिसका मुँह अपेक्षाकृत छोटा होता था। कूप पक्की मिट्टी की बनी हुई चकरियाँ-सी थीं। शाला इस प्रकार का अन्नभण्डार था, जिसमें तीन वर्ष तक खाने लायक अन्न इकट्ठा हो सकता था। इन चारों प्रकार के अन्नसंग्रह के मुखों को पाणिनि ने बिल कहा है। ये नीचे की ओर होते थे और ढक्कन से मूँदकर रखे जाते थे।

भारत में ग्रामों की दुनियाँ बहुत कम बदली है। उनकी वे कोष्ठी, कुसूल (कुठीला), कुम्भ और शाला (खोंह) पाणिनि के काल में या उससे भी पूर्व वैदिककाल[4] में बनती थीं

---

१. डॉ० वासुदेवशरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ २०१।

२. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, संवत् २००१, पृष्ठ २५१।

३. आज भी इस प्रकार के निर्माण को कुठीला कहते हैं।

४. ऋग्वेद १०।६८।३।

वैसी ही आज भी मिल जाती हैं। पाणिनि ने अन्न भरने के जिस कूप का वर्णन किया है वह अवश्य आजकल दिखाई नहीं देता। उज्जयिनी के उत्खनन में क्षिप्रा के किनारे मिट्टी की चकरियों के बने हुए जो कूप मिले हैं वे पाणिनि द्वारा उल्लिखित अन्नकूप हैं। इनका व्यास दो फुट है और प्रत्येक चकरी की ऊँचाई सात से आठ इंच तक है। एक के ऊपर एक, बीस से पच्चीस चकरियाँ रखकर उन्हें बारह से चौदह फुट तक ऊँचा कर लिया गया है। यद्यपि उज्जयिनी के उत्खनन में प्राप्त इन कूपों का उपयोग मरणोत्तर क्रियाओं के लिए किया गया है तथापि ग्रामों में इनका मूल उपयोग अन्न-संग्रह ही होता होगा।

इसी प्रकार के अन्नकूप हीलियोदोर स्तम्भ के पास उत्खनन किये जाने के समय भी प्राप्त हुए थे। जिस भूमिस्तर पर ये प्राप्त हुए थे वह मौर्यकालीन माना गया है[1]।

इनके विषय में डॉ० देवदत्त रामकृष्ण भाण्डारकर ने लिखा था 'इस स्थान पर चार या पाँच पकी मिट्टी की बनी हुई चकरियों से बने उस प्रकार के कूप मिले थे जैसे सर जॉन मार्शल को सारनाथ में तथा श्री कजन्स को ब्राह्मणाबाद में प्राप्त हुए थे। इस स्थान पर दो या तीन इस प्रकार के कूप मिले थे परन्तु वे सुरक्षित दशा में नहीं थे[2]'।

अन्न सुरक्षित रखने के एक अन्य प्रकार के कूप विदिशा में प्राप्त हुए हैं। बेस नदी के पुल के निकट सड़क के लिए खुदाई करते समय सन १९३५ में ईंटों के बने हुए दो कूप मिले थे, इनमें जले हुए गेहूँ, चावल, मूँग और मसूर पड़े हुए थे। ये अन्नकूप एक दूसरे से ८ फुट की दूरी पर थे। इकहरी ईंट से १०-११ इंच चौड़ी दीवार के ये कूप १४ से २० फुट गहरे थे। इनमें से एक का भीतरी व्यास ३ फुट और दूसरे का ३॥ फुट था। ज्ञात यह होता है कि नगर के प्राकार के पास इस प्रकार के अन्नकूप दुर्भिक्ष के समय काम में आने के लिए बनाए तथा भरे जाते थे[3]।

खेती के लिए केवल वर्षा के पानी पर ही आश्रित नहीं रहा जाता था। सिंचाई की व्यवस्था राज्य की ओर से भी होती थी। बड़े-बड़े बाँध बनवाने के इस काल के अनेक उल्लेख मिले हैं। सौराष्ट्र के गिरनार का सुदर्शन नामक बाँध मौर्यों के काल में ही बाँधा गया था। अनेक बड़ी-बड़ी नहरें भी निकाली जाती थीं। अर्थशास्त्र में सिंचाई के अनेक प्रकार बताए गये हैं। खेतों में खाद डालने की व्यवस्था भी की जाती थी।

इस युग की सींचने की नहरों का बहुत सुन्दर उदाहरण विदिशा में प्राप्त हुआ है। बेस नदी के पास खुदाई करते समय हीलियोदोर के गरुड़ध्वज के पास मौर्य अथवा प्राङ्मौर्य एक नहर के अवशेष मिले थे[4]। इस नहर के निर्माण में इतने श्रेष्ठ कोटि के चूने का उपयोग हुआ है जो उस युग में यूनान में भी कम मिला है। ज्ञात यह होता है कि बेस नदी

---

१. वार्षिक विवरण, आरकॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, १९१४-१५, पृष्ठ ७०-७१।

२. वही, पृष्ठ ७९।

३. वार्षिक विवरण, पुरातत्त्व विभाग, ग्वालियर राज्य, संवत् १९९२, पृष्ठ ७।

४. वार्षिक विवरण, आरकॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, १९१४-१५, पृष्ठ ७०-७१।

पर कोई बाँध बाँधा गया था और उसमें से प्रणालियों (नहरों) द्वारा पानी लेकर विदिशा के उपवनों तथा खेतों को सींचा जाता होगा। यह नहर सात फुट चौड़ी थी और लगभग साढ़े पाँच फुट ऊँची थी। इस खुदाई में इस नहर का केवल एक सौ पच्चासी फुट चार इंच लम्बा एक भाग मिला था। यहाँ से बेस नदी दो फर्लांग की दूरी पर है। विदिशा के उपवनों की साहित्य में बहुत अधिक प्रशंसा की गयी है और एक शिलालेख भी ऐसा मिला है जिसमें उनके सौन्दर्य का बखान मिलता है। उनको हरा-भरा रखने के लिए बेस नदी से इस प्रकार की नहरें निकाली गयी होंगी। ज्ञात होता है कि विदिशा की यह नहर बहुत समय तक रही; क्योंकि ई० पू० पहली शताब्दी के अक्षरों में नामांकित एक अंगूठी भी इस में मिली है। यह अंगूठी पीतल की है और उस पर 'गोलकस', गोलक नामक व्यक्ति की, अंकित है। इसमें कुछ मिट्टी के और ताँबे के खिलौने और मनके भी प्राप्त हुए हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि विदिशा के नागरिक कभी इन नहरों के किनारे घूमते होंगे और उस समय ये वस्तुएं इन नहरों में जा पड़ीं।

यद्यपि मेगास्थनीज ने लिखा है कि भारत में कभी अकाल नहीं पड़ता तथापि राज्य अकाल की आशंका से सदा सतर्क रहता था। चंद्रगुप्त मौर्य ने ऐसे अन्नभण्डार बना रखे थे जिनमें सुकाल के समय अन्न संग्रह कर लिया जाता था और अकाल की दशा में वह प्रजा में बाँट दिया जाता था। सहगौरा (गोरखपुर से दक्षिण में चौदह मील) में प्राप्त मौर्य-कालीन ताम्रपत्र में दो राजकीय अन्नकोठारों के संबंध में एक आज्ञा लिखी है, जिसमें श्रावस्ती के महामात्रों को आज्ञा दी गयी है कि अकाल के समय इन अन्नभण्डारों को प्रजा में वितरण के लिए खोल दिया जाए। इसी प्रकार महास्थान (बोगरा जिला, पूर्वी बंगाल) में प्राप्त ईसा पूर्व लगभग चौथी शताब्दी के अभिलेख में लिखा है, "पुंड्र नगर के महामात्र इस आज्ञा का पालन कराएँगे। संवंगियों के उपभोग के लिए धान दिया गया है। इस दैवी विपत्ति के समय नगर पर जो घोर अन्नसंकट आया है, उससे पार उतरा चाहिए, जब सुभिक्ष होगा तब कोष्ठागार फिर धान से और कोष गण्डक मुद्राओं से भर दिये जाएँगे[१]"।

अर्थशास्त्र में उस समय उत्पन्न किये जानेवाले अनाजों का भी उल्लेख है। वर्षा ऋतु के प्रारंभ में शालि, व्रीहि, कोद्रव (कोदो), तिल, प्रियंगु, दारक और वरक (मोठ) बोए जाते थे। वर्षा के मध्य में मूँग, उड़द और शैव्य बोए जाते थे। वर्षान्त में कुशुम्भ, मसूर, कुलित्थ, जौ, गेहूँ, चना, अलसी और सरसों बोए जाते थे। इनके अतिरिक्त ईख, कपास तथा अनेक शाक-भाजियों और औषधियों के नाम भी अर्थशास्त्र में किसानों की उपज के रूप में दिये गये हैं। राष्ट्र पर संकट आने के समय खेती अधिक की जाए इसके भी नियम थे।

पशुपालन की ओर इस युग में बहुत ध्यान दिया जाता था और पशुधन को सम्पत्ति के रूप में माना जाता था। खेती के काम में गाय, बैल, भैंस, भेड़, बकरी, गधे, ऊँट, सुअर और कुत्ते काम आते थे। राज्य की ओर से भी गोपालक, पिण्डारक, दौग्धिक, मन्थक और

---

१. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, संवत् २००१, पृष्ठ २५३।

लुब्धक नामक अधिकारी रखे जाते थे, जिनका काम क्रमशः गायें चराना, भैंसें चराना, दूध दुहना, घी बनाना तथा शिकारी कुत्तों की सहायता से फसल की रक्षा करना था।

व्यवसायियों की श्रेणियां

इस युग के उद्योगों के विकास में विभिन्न शिल्प या व्यवसायों में लगे हुए व्यक्तियों की श्रेणियों ने प्रमुख भाग लिया था। लगभग सभी प्रकार के व्यवसाय करनेवालों को शिल्पी कहा गया है। नर्तक, गायक, वादक, मूर्तिकार, चित्रकार भी शिल्पी माने गये हैं और साथ ही लोहाकार, मणिकार कर्मकार (मजदूर) आदि भी शिल्पी को श्रेणियों में ही गिनाए गये हैं। अर्थशास्त्र में सैनिक शिक्षा भी एक शिल्प मानी गयी है। शिल्पियों के भी अनेक विभेद माने जाते थे, ऐसा ज्ञात होता है। कुछ शिल्प अच्छे माने जाते थे और उच्च शिल्प कहलाते थे। कुछ व्यवसाय ऐसे थे जिनका सम्बन्ध हत्या से था। अतएव वे हीन शिल्प कहलाते थे। लुब्धक (शिकारी), मछुए, कसाई तथा चमड़ा पकानेवाले हीन शिल्पी समझे जाते थे। इनके साथ ही कुछ ऐसे पेशे थे जिन्हें आदिवासी ही करते थे। उन्हें भी हीन शिल्प माना जाता था। परन्तु ये हीन शिल्प भी किसी जाति विशेष तक सीमित नहीं थे। इनके अतिरिक्त जातकों में अठारह प्रमुख शिल्पों का उल्लेख मिलता है, जिनमें लुहार, दन्तकार, तन्तुवाय (कपड़ा बुननेवाला), देवताकारु (मूर्तिकार), सुनार प्रमुख थे। कुशल शिल्पियों को राजशिल्पी कहा जाता था। संभव है वे राजकुल के कार्य से भी संबंधित रहते हों। इन शिल्पियों के कहीं-कहीं पूरे ग्राम के ग्राम होते थे। नगरों में उन्हें विशेष मुहल्लों में बसाया जाता था और इनके अपने आन्तरिक संगठन थे जो श्रेणी कहलाते थे। एक-एक श्रेणी में एक-एक हजार तक शिल्पी होते थे और प्रत्येक श्रेणी का एक मुखिया चुना जाता था, जिसे पामोक्ख (प्रमुख), जेट्ठक (जेष्ठक) या सेट्ठि (श्रेष्ठि) कहा जाता था। प्रत्येक शिल्प का संचालन और नियंत्रण श्रेणी के हाथ में रहता था। कच्चे माल की खरीद, तैयार माल की बिक्री, उपज और श्रम का नियंत्रण, शिल्प सीखनेवाले अन्तेवासिकों (छात्रों) की शिक्षा के नियम, सब की व्यवस्थाएँ श्रेणी करती थीं। उस युग के शिक्षाप्रचार के प्रधान संगठन 'चरण' में शिल्पों की शिक्षा को जानपदीय शिक्षा कहते थे और चरणों में यह जानपदीय शिक्षा नहीं दी जाती थी। इसका प्रबंध जनपदों की इन श्रेणियों को करना पड़ता था। यहाँ यह स्मरणीय है कि ये श्रेणियाँ प्रारम्भ में जातियों अथवा वर्णों का संगठन नहीं थीं। धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति बढ़ती अवश्य दिखाई देती है कि पिता के व्यवसाय को उसका पुत्र भी करे।

वस्त्र व्यवसाय

खेती के बाद सबसे प्रमुख व्यवसाय कपड़ा बनाना था। कपास, सन, ऊन, रेशम तथा अनेक प्रकार के रेशों से कपड़े बनाए जाते थे। इस युग में भी गरीबों और असमर्थ लोगों को रोजी देने का साधन चरखा था। अर्थशास्त्र में लिखा है कि विधवा, विकलांग, कन्या, प्रव्रजिता, राज्य दण्डिता, वेश्याओं की वृद्ध माता, वृद्ध राजदासी, मन्दिर के काम से छूटी हुई देवदासी तथा इसी प्रकार की असमर्थ स्त्रियों से सूत कातने का कार्य लिया

जाए[1]। बढ़िया, घटिया या मध्यम सूत की जाँच करने के पश्चात् उसका मूल्य दिया जाता था और तैयार किया हुआ सूत बुनकरों को दिया जाता था, जो उसे बुनकर वस्त्र तैयार करते थे। इस युग में वस्त्रव्यवसाय की बहुत अधिक उन्नति हुई थी। कुछ स्थानों के वस्त्र बहुत अधिक प्रसिद्ध हो गये थे। मथुरा, काशी, अपरांत, कलिंग, बंगाल, कौशाम्बी और माहिष्मती के सूती कपड़े प्रसिद्ध थे। अनेक प्रकार के कम्बल और रेशमी कपड़े बनाए जाते थे। पंजाब तथा काश्मीर में वस्त्रों पर कसीदे के काम का भी उल्लेख है। तन्तुवायों के साथ ही रज्जुकार (रस्सी बनानेवाले), कवच बनानेवाले, रजक (धोबी), रँगरेज तथा दर्जी के व्यवसाय थे।

जंगलों से सम्बन्धित अनेक व्यवसाय थे। इनसे ही प्रासादों और भवनों के लिए सार दारु (ठोस लकड़ी), बाँस और रेशेदार पौधे, रस्सी बनाने के सामान, लिखने के उपकरण, औषधि एवं नाना प्रकार के विष, नौकाओं और जहाजों के निर्माण के लिए लकड़ी प्राप्त होती थी। लकड़हारे, बढ़ई और लुहार तथा अन्य व्यवसाय जंगलों की उत्पत्ति पर ही अवलम्बित थे।

ऐसा ज्ञात होता है कि मौर्यकाल में कुछ व्यवसायों पर राज्य ने एकाधिकार कर लिया था। खदानों में कार्य करनेवाले, नमक बनानेवाले, समुद्र से बहुमूल्य रत्न निकालनेवाले तथा हथियार बनानेवाले शिल्पी राज्य के अधीन कार्य करते थे। खदानों के अधिकारी को अर्थशास्त्र में आकराध्यक्ष लिखा है, नमक के व्यवसाय के अधिकारी को लवणाध्यक्ष, समुद्र से बहुमूल्य रत्नों की प्राप्ति के अधिकारी को खन्याध्यक्ष और हथियार बनानेवालों की देखरेख करनेवाले अधिकारी को आयुधगाराध्यक्ष लिखा गया है। इन व्यवसायों में कार्य करनेवालों को राज्य की ओर से निश्चित वेतन मिलता था।

कर्मकार या मजदूरों के भी संघ कायम थे। ये संघ ठेके पर भी काम ले लेते थे और यह निश्चित हो जाता था कि कितने समय में कितना काम पूरा हो जाना आवश्यक है। यदि निश्चित समय में अथवा बढ़ाई हुई अवधि में काम पूरा न होता था तो दण्ड निश्चित किया गया था। ये संघ-भृत्त अपनी कमाई को बराबर अथवा जैसा निश्चित हो जाता था, आपस में बाँट लेते थे।

व्यापारिक संगठन

इस समवेत संघबद्ध कृषि और व्यवसाय ने देश की उत्पत्ति बहुत अधिक बढ़ा दी थी। इस उपज को आवश्यकतानुसार मण्डियों में अथवा देश के विभिन्न भागों में तथा विदेशों में ले जाने के लिए और आवश्यक सामान विदेशों से देश में आयात करने के लिए व्यापारियों के अत्यन्त सुदृढ़ संगठन थे। इनके संगठन अनेक प्रकार के मिलते हैं। नगरों में वे निगम, श्रेणी या पूग के रूप में संगठित थे। शिल्पियों के संगठन श्रेणी कहे जाते थे और धनी व्यापारियों के संगठन निगम कहे जाते थे[2]। पूग उन व्यक्तियों के संगठन थे जो लूटमार की अवस्था में ऊपर उठ कर कुछ अर्थोपजीवन अपना लेते थे।[3] इनका एक संगठन उन

१. अर्थशास्त्र २।२३।

२. डॉ० वासुदेवशरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १०९।

३. वही पृष्ठ ४५१।

काफिलों के रूप में था जो देश के एक भाग से दूसरे भाग तक माल ले जाते थे। इसे सार्थ कहा गया है। सम्भावना यह है कि विदेशों को जहाजों द्वारा माल ले जानेवाले तथा लानेवाले व्यापारियों का भी पृथक् संगठन हो। सार्थ और विदेशी व्यापारियों के संगठन के मूल में ये निगम, श्रेणियाँ और पूग ही थे।

इन संगठनों का अस्तित्व इस युग के पहले से भी था परन्तु मौर्यकाल आते-आते इनके संगठन का पूर्ण विकास दिखाई देता है। इनके मुखिया को जेष्ठक या श्रेष्ठि कहते थे। यह व्यवसायियों तथा व्यापारियों का प्रतिनिधि होता था। जातकों से यह ज्ञात होता है कि उसका पद पुश्तैनी हो गया था। उसे नित्य राजदरबार में उपस्थित होना पड़ता था। उसके ऊपर अनेक प्रतिबन्ध भी थे। अपना धन दूसरों को बाँटते समय उसे राजा की आज्ञा लेना पड़ती थी। ये श्रेष्ठि या सेट्ठि बहुत धनी और प्रतिष्ठावान होते थे। प्रसेनजित ने श्रावस्ती के मालाकार श्रेष्ठि की पुत्री मल्लिका के साथ विवाह किया था[1] और अशोक ने विदिशा के श्रेष्ठि की दुहिता असंघिमित्रा के साथ। महाश्रेष्ठि अनाथपिण्डक के वैभव का उल्लेख पहले हो चुका है। कभी-कभी श्रेष्ठि के अधीन उसका सहायक भी होता था। इन संगठनों के अपने चरित्र (नियम और आचार) थे, जिन्हें राज्य से मान्यता मिलती थी। इनके द्वारा ग्रामों के छोटे-छोटे व्यवसायों और दुकानों से लेकर नगरों और देश-विदेश के व्यापार तक किये जाते थे।

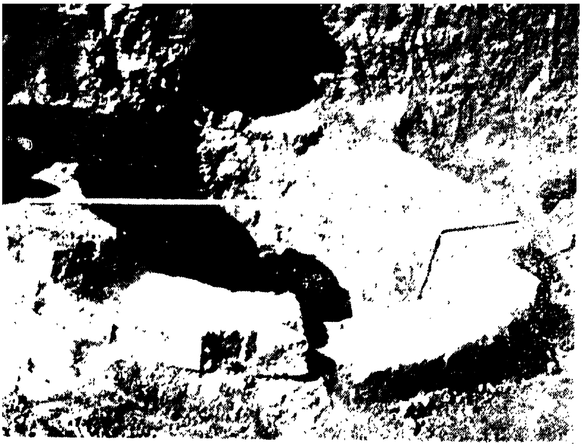
व्यापार के नियम

ज्ञात होता है कि कालान्तर में व्यापार के साथ अनुचित मुनाफा कमाने की वृत्ति घर कर चली थी जिसके कारण राज्य को अनेक नियम बनाने पड़े थे। घटिया माल को बढ़िया माल बताने के विरुद्ध जिस स्थान का माल हो उससे किसी भिन्न स्थान का माल बताने, मिलावटी माल को अच्छा माल बताने या सौदा किये गये माल से भिन्न माल देने पर व्यापारी पर अर्थदण्ड की व्यवस्था की गयी थी। राज्य द्वारा एक संस्थाध्यक्ष नामक पदाधिकारी नियुक्त किया जाता था, जो तराजू, बाँट तथा माल का निरीक्षण करता था। इनमें फर्क मालूम होने पर राजदण्ड दिया जाता था। व्यापारियों की दुकानों पर माल तौलनेवाले और मापनेवाले व्यक्ति को अर्थशास्त्र में धरक और मापक कहा गया है। यदि इनके द्वारा गड़बड़ी की जाती थी तो इन्हें कठोर दण्ड दिया जाता था। अर्थशास्त्र में आदर्श नगर की कल्पना में मांस, चावल, रोटी, मिठाई आदि भोजन के पदार्थों की दुकान आदि के लिए, सुगन्धित तेल फूल-माला आदि की दुकानों के लिए तथा इसी प्रकार भिन्न-भिन्न पदार्थों के लिए अलग-अलग दुकानों की व्यवस्था बताई है। माल को रोककर या परस्पर मिलकर वस्तुओं के दाम बढ़ाने के विरुद्ध व्यवस्था थी। कितना मुनाफा लिया जाए इस पर भी राज्य का नियंत्रण था, साधारणतः ५ प्रतिशत तथा विदेशों से आयात की गयी वस्तुओं पर १० प्रतिशत मुनाफा लिया जा सकता था।

व्यापार के लेन-देन के सम्बन्ध में भी नियम निश्चित हो गये थे। ऋण मिल सकता था और उस पर व्याज देना पड़ता था, जो व्यापार की जोखम के अनुसार १५ प्रतिशत से १२० प्रतिशत तक होता था। समुद्री व्यापार के लिए जो धन ऋण लिया जाता था

---

१. जातक ३।४०५।६।



विदिशा में प्राप्त अन्नकूप (पृष्ठ ३०८)



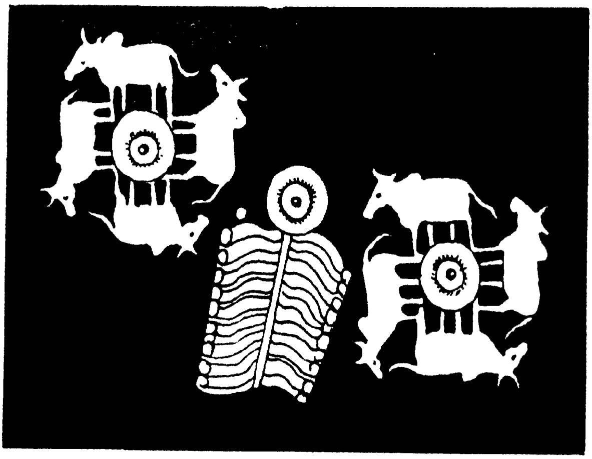
उज्जयिनी में प्राप्त अन्नकूप (पृष्ठ ३०४ तथा ३०८)

उज्जयिनी में प्राप्त पत्थर के बाँट (पृष्ठ ३१७)



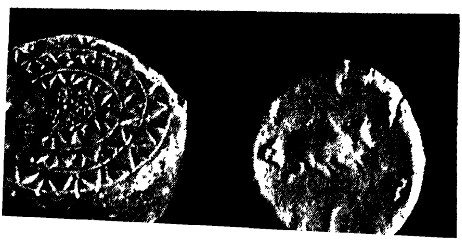


सहगौरा का ताम्रपत्र (पृष्ठ ३०९)

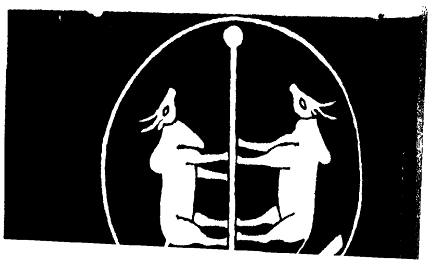


खलिहान में मणिनी (पृष्ठ ३०७)

उज्जयिनी में प्राप्त मिट्टी की मुद्रा (पृष्ठ ३०८)



हल बैल (पृष्ठ ३०७)



उस पर तो २४० प्रतिशत ब्याज देना पड़ता था। महाजनों के पास लोग अपना धन भी जमा कर देते थे, जिसे उपनिधि कहा जाता था। अनुबन्धों का भी अस्तित्व था। व्यापारियों द्वारा रात अथवा जंगल में किये गये अनुबन्धों को राज्य मान्यता नहीं देता था। माल रहन रखा जा सकता था। रहन रखे हुए माल को महाजन बेच नहीं सकता था। यदि किसी व्यापारी को शत्रुसेना, बाढ़, आग, लुटेरों द्वारा अथवा जहाज डूबने से क्षति हो जाए तो उसके द्वारा लिया हुआ ऋण उससे वसूल नहीं हो सकता था।

सार्थ

देश के विभिन्न भागों में एक स्थान से दूसरे स्थान को व्यापार के लिए माल ले जानेवाले संगठन सार्थ कहलाते थे। पाँच-पाँच सौ गाड़ियों, सैकड़ों वाहन-पशुओं तथा हजारों व्यापारियों के ये सार्थ और महासार्थ बहुमूल्य मणि-रत्न, वस्त्र, अन्न आदि लादकर एक स्थान से दूसरे स्थान को चलते रहते थे। इनके बीच भी संगठन होना आवश्यक था। सार्थ का नेता सार्थवाह कहलाता था।

इन सार्थों को मार्गों में चोरों, डाकुओं तथा अन्य संकटों का भी सामना करना पड़ता था। इसके लिए वे सेनाएँ भी रखते थे। समय आने पर ये सेनाएँ राज्य के काम भी आती थीं। पड़ाव डालने पर वन्य पशुओं से रक्षा करने के लिए रात को चारों ओर बाड़ा बना देते थे। रेगिस्तानी रास्तों में मार्ग-दर्शन के लिए कीलें गढ़ी होती थीं। इन सार्थों के मालपर नगर-द्वार पर शुल्क देना पड़ता था और माल के निकास के लिए दी गयी राजमुद्रा अथवा नाममुद्रा की जाँच करवानी पड़ती थी। इसके लिए शुल्काध्यक्ष नामक अधिकारी नियुक्त किया जाता था। सीमा का अधिकारी अन्तःपाल भी इनसे कर लेता था और यदि किसी व्यापारी का माल उसके प्रदेश में लुट जाता था तो अंतःपाल को उसकी क्षतिपूर्त्ति करनी पड़ती थी। मार्ग में जो नदियाँ पड़ती थीं उन्हें घाट के उतारनेवाले नाविक उतराई लेकर पार कराते थे। बहुधा नदियाँ ऐसे स्थान पर पार की जाती थीं जहाँ पानी उथला हो। पुलों के भी उल्लेख मिलते हैं।

विदेशी व्यापार के प्रमुख तीन मार्ग थे। स्थल मार्ग से भारत के उत्तर-पश्चिम के प्रदेशों को माल जाता था। पूर्वी समुद्र तट पर कम्भिय, गम्भीर और सेरिव नामक पोतपत्तन (बन्दरगाह) थे और पश्चिम में भृगुकच्छ, शूर्पारक तथा सौवीर नामक पोतपत्तन थे। देश में फैले महापथों पर चलकर ये सार्थ निर्यात का माल पोतपत्तनों तक पहुँचाते थे। पश्चिम के पोतपत्तनों से विदेशों को जानेवाला माल पद्मावती, विदिशा, उज्जयिनी तथा माहिष्मती होता हुआ जाता था।

व्यापार पथ और यातायात

देश के आन्तरिक व्यापार के लिए बहुत लम्बे-लम्बे महापथ थे। यूनानी लेखकों ने उत्तर भारत के मध्य एशिया से पाटलिपुत्र तक विस्तृत राजपथ का उल्लेख किया है। इन महापथों पर यात्रियों के आराम के लिए धर्मशालाएँ या विश्रामस्थल बनाए जाते थे। अशोक ने पथिकों के विश्राम के लिए इन राजपथों पर शालाएँ बनावाई थीं। उसने इन महापथों पर छाया के लिए बरगद के पेड़ लगवाए, आम्र वाटिकाएँ

बनवाईं, आठ-आठ कोस पर कुए खुदवाए, पानी की प्याऊओं का प्रबंध किया और मार्ग तथा दूरी बतलानेवाले खंभे लगवाए। इन महापथों पर केवल भारत के व्यापारियों के सार्थ ही नहीं चलते थे वरन् विदेशी सार्थ भी व्यापार करते थे। यातायात के लिए गाड़ी, रथ, हाथी, घोड़े, ऊँट, बकरे और गधे काम में लाए जाते थे। गंगा और यमुना में नावों द्वारा भी माल ढोया जाता था, जो पूर्व के पोतपत्तनों तक पहुँच सकता था। विंध्याचल से निकलनेवाली नदियाँ संभवतः इसके लिए उपयुक्त नहीं थीं। उनपर नावों का उपयोग केवल घाट पार करने के लिए था।

विदेशी व्यापार

जातकों में व्यापार के लिए समुद्र-यात्रा के बहुत अधिक उल्लेख मिलते हैं। यद्यपि उस युग के लकड़ी के छोटे जहाजों को समुद्र में अनेक संकटों का सामना करना पड़ता था फिर भी ये व्यापारी बहुत दूर-दूर तक अपने माल ले जाते थे। यूनान, ईरान, अफ़रीका, सिंहल तथा चीन तक इनके व्यापारिक सम्बन्ध थे। इनके पहुँचाए हुए मसाले, इमारती लकड़ी, रत्न, खनिज, औषधियाँ, सुगन्धित द्रव्य, गेहूँ, चावल, तिल्ली आदि, यहाँ तक कि मोर, कौए, बन्दर तथा शिकारी कुत्ते मिस्र तक में बिकते थे और वहाँ से उनके बदले अपार सोना भारत में आता था। इन पोत-व्यापारियों के भी अपने संगठन थे। पोत में सब लोग शासक (कप्तान) और नियमिक का अनुशासन मानते थे। अर्थशास्त्र में एक शासकीय अधिकारी नौकाध्यक्ष की नियुक्ति की भी व्यवस्था है, जो समुद्र और नदियों में चलनेवाली नौकाओं तथा पोतों की निगरानी रखता था। राज्य के कार-खानों में बने हुए माल का भी निर्यात होता था। देश से सुगन्धित द्रव्य, कपड़े, रत्न, खिलौने, दालचीनी आदि मसाले निर्यात किये जाते थे। बाहर से सुगन्धित द्रव्य, रत्न, सुवर्ण इत्यादि इस देश में आते थे।

संस्कृति के संदेश वाहक

व्यापारियों, कृषकों और शिल्पिओं के ये संगठन देश की केवल आर्थिक स्थिति ही समुन्नत नहीं कर रहे थे, वे देश के सांस्कृतिक विकास में भी सहायक हो रहे थे। उनके दानों से ही बड़े-बड़े स्तूप और मन्दिर खड़े होते थे। एक-एक व्यापारी सवा मन तक सोना दान करता था। उनके सार्थों के सहारे विद्यार्थी, विद्वान, शिल्पी तथा धर्मोपदेशक देश के एक भाग से दूसरे भाग में तथा विदेशों में जाते थे। कभी-कभी वे उन्हें मार्ग में भोजन तथा आश्रय देते थे[1]। विदेशों में जानेवाले व्यापारियों के पोतों के साथ ही भारतीय संस्कृति के सन्देश वाहक ईरान, यूनान, चीन जैसे सुदूर देशों में पहुँचे होंगे। इन श्रेणियों और निगमों के दानों के सहारे ही ग्राम-ग्राम में फैले हुए शिक्षा के 'चरण' और विश्वविद्यालय देश को विद्यादान दे रहे थे। मौर्यों के समय में अथवा उसके पहले या बाद को कोई सरकारी 'शिक्षा विभाग' भारत में नहीं रहा है। ऋषि-मुनियों और परिव्राजकों की अदम्य लोकसेवा की भावना और इन श्रेणियों और निगमों के दान ही शिक्षा और धर्म के क्षेत्र में वह परिणाम दिखा सके थे जो भारत के प्राचीन इतिहास में ही नहीं, किसी

---

१. डॉ० मोतीचन्द्र : सार्थवाह, पृष्ठ १६७।

भी देश के प्राचीन इतिहास में अप्रतिम हैं। केवल एक धर्म के पोषण में सम्राट अशोक का खजाना खाली होगया था, परन्तु इस युग के इन वास्तविक अशोकों का खजाना कभी खाली नहीं हुआ, यद्यपि उनके दान उस युग के सभी धर्मों, सम्प्रदायों और विश्वासों का पोषण करते थे। कौटिल्य के शब्दों में संकट पड़ने पर राजा भी साधारण करों के अतिरिक्त इनकी गर्दन पकड़ता था। वे उसे भी देते थे। इनकी शक्ति और दृढ़ता के कारण ही भारत पर कभी एक धर्म या सम्प्रदाय नहीं छा सका। अशोक ने बौद्ध धर्म प्रचलित करना चाहा, सम्प्रति ने जैन धर्म की ध्वजा फहराई और शुंग ब्राह्मणों का झंडा लेकर चले, परन्तु ये किसी से भी न दबे, इनकी तराजू पर जो खरा उतरा उसे इनके द्वारा जीवनदान मिला। बौद्ध सम्राट के शासन में ब्राह्मण धर्म और ब्राह्मण सम्राटों के शासन में बौद्ध धर्म को इन्हींने जीवित रखा। यही नहीं, इन किसानों, व्यापारियों और शिल्पियों की श्रेणियों ने यक्ष, राक्षस, नाग, वृक्ष, पशु, पक्षी, आदि की आराधना करने वालों को भी आश्रय दिया।

मुद्रा

देश के इस उन्नतिशील और समृद्ध व्यापार ने विनिमय के लिए मुद्रा पद्धति को जन्म दिया होगा। मुद्रा के प्रचलन के पहले विनिमय के लिए निमान अर्थात् एक वस्तु से बदल कर दूसरी वस्तु लेना-देना ही मुख्य साधन था। आयात-निर्यात के पूर्ण विकास के पश्चात व्यापार की यह पद्धति अधिक उपयोगी नहीं रह सकती थी। हम देखते हैं कि इस युग के प्रारंभ में ही मुद्राओं का चलन हो गया था। ये सिक्के सुवर्ण, चाँदी तथा ताँबे के प्राप्त हुए हैं। हखमानी साम्राज्य में भारत का जो भाग था वह अपना राजकर सोने के बुरादे के रूप में दिया करता था, ऐसा यूनानी इतिहास लेखक हीरोडोट्स का कथन है। लगभग इसी समय अर्थात् ईस पूर्व सातवीं शताब्दी से सोने, चाँदी तथा ताँबे के निश्चित रूप, भार तथा चिह्नों से युक्त सिक्कों का प्रचलन भारत में हो गया था।

सोने का सिक्का निष्क कहलाता था। वेदों में निष्क एक गहने का नाम है[1]। उस समय इसका व्यवहार मुद्रा के रूप में हो गया था या नहीं यह कह सकना कठिन है। यह संभव है कि निष्क गहने की तौल और आकृति व्यवहार में निश्चित मान की हो गयी हो और तब लेन-देन या अदला-बदली या गिरवी रखने में निष्क का व्यवहार होने लगा हो। जातक, महाभारत और पाणिनि तीनों में ही निष्क का उल्लेख सुवर्ण-मुद्रा के रूप में आया है[2]।

शतमान नामक मुद्रा प्रारंभ में सोने की थी ऐसा भी उल्लेख मिलता है[3]। आगे यह शतमान चाँदी का बनने लगा था, जिसकी तौल सौ रत्ती थी। शतमान के आठवें हिस्से को शाण कहते थे।

प्राचीन भारत का सिक्का कार्षापण कहा जाता था। ये कार्षापण गौतम बुद्ध के समय से भी पूर्व के मिलते हैं और समस्त भारतवर्ष में पाए जाते हैं। संभावना यह भी

१. ऋग्वेद ५।१९।३।

२. डॉ० वासुदेवशरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ २५०।

३. शतपथ ब्राह्मण ५।५।५।१६।

बतलाई जाती है कि चाँदी के सिक्के को कार्षापण और ताँबे के कर्ष को पण कहा जाता हो, क्योंकि मनुस्मृति में ताँबे के कार्षापण को पण कहा है[1]।

कार्षापण के प्रमाण से कुछ छोटे सिक्के भी चलते थे, जो चौथाई रत्ती तक के होते थे। कार्षापण की तौल बत्तीस रत्ती तक की होती थी और उसी के हिसाब से अर्ध-कार्षापण, पाद (चौथाई) तथा अष्ट भाग का वजन होता था। इसका नाम माष होता था। आधे माष को अर्धमाषक कहते थे। चौथाई का नाम काकणी था।

कार्षापण बनाने के लिए चाँदी या ताँबे की चादर को पीट कर उसमें से निश्चित वजन के अनुसार चौकोर या गोल टुकड़े काट लिये जाते थे। तौलने पर यदि कोई टुकड़ा अधिक वजन का होता था तो उसमें से कुछ अंश काट लिया जाता था, फिर हर एक टुकड़े पर एक-एक चिह्न या रूप टोका जाता था। भिन्न-भिन्न टकसालों के तथा भिन्न-भिन्न जनपदों और गणों के सिक्कों पर अलग-अलग रूप ठोके जाते थे। पाणिनि ने रूप शब्द का व्यवहार चिह्नविशेष के अर्थ में किया है। जातक और अर्थशास्त्र में रूप सिक्के को कहा गया है। अर्थशास्त्र में एक अधिकारी का उल्लेख है जो सरकारी खजाने में आनेवाले सिक्के की परख किया करता था।

मुद्राओं का इतना विस्तृत प्रचलन उस काल की व्यापारिक समृद्धि की ओर इंगित करता है। मध्यभारत में ये आहत मुद्राएँ पद्मावती, विदिशा और उज्जयिनी में बहुत अधिक मात्रा में प्राप्त हुई हैं। उज्जयिनी में तो इन आहत मुद्राओं की टकसाल ही थी और उन पर अवन्ति का विशेष चिह्न मिलता है। इन प्राचीन मुद्राओं की सबसे अधिक संख्या विदिशा में मिली है। प्राचीन भारत में प्रारम्भ से ही कुबेर की यह नगरी व्यापार का प्रधान केन्द्र थी।

उज्जयिनी, विदिशा और पद्मावती में प्राप्त मुद्राओं के चिह्न भी महत्त्वपूर्ण हैं। इन पर चैत्य, त्रिशूल, हाथी, वृक्ष, स्तंभ (अथवा शिवलिंग), नदी, मछली, नन्दी, घोड़ा तथा देवी के चित्र बने हुए हैं। इनकी तुलना यदि मुहें-जो-डेरो, हरप्पा तथा अहमदाबाद के पास प्राप्त मिट्टी की मुद्राओं पर अंकित अनेक चिह्नों से की जाए तब कुछ तथ्य सामने आते हैं। ज्ञात यह होता है कि जनपद और गणराज्य अपने व्यापारिक सार्थ भी चलाते थे और वे अपने चिह्नों से युक्त आहत मुद्राएँ प्रचलित करते थे। प्रारंभ में ये मिट्टी की होती होंगी, जिनका उपयोग केवल सार्थ की मार्ग में पहचान करना होगा, बाद को धातु की आहत मुद्राएँ विनिमय में भी काम में आने लगीं। आहत मुद्राओं के ये चिह्न भी उसी प्रकार के व्यापारियों के हैं। जिन मुद्राओं पर मछली और नदी है वे उन व्यापारियों को हो सकती हैं जो पद्मावती से ठेठ मृगुकच्छ, सौवीर अथवा शूर्पारक के पोतयानों तक अपने सार्थ ले जाते होंगे। हाथी और घोड़े तो उस काल में व्यापार के साधन थे ही।

प्रमाण और उन्मान

प्राग्वैदिक युग के अवशेषों में विविध वजन के अत्यन्त छोटे से लेकर रस्सी डालकर उठाए जा सकने योग्य बड़े बाँट तक प्राप्त हुए हैं। वैदिककाल में भी द्रुवय और द्रोण

---

१. डॉ० वासुदेवशरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ २५७।

आदि पात्रों के उल्लेख हैं । सम्भव है ये पात्र पण्य द्रव्य एवं खेती की उपज नापने के काम में उस समय भी लिये जाते हों। परन्तु इस सम्बन्ध में तत्कालीन साहित्य के स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होते। अनुमान यह होता है कि उस काल के समृद्ध व्यापार में प्राग्वैदिक अवशेषों में प्राप्त बाँटों का उपयोग होता रहा होगा। जनपदों में विभिन्न नापों और वजन के नाप और बाँट प्रचलित रहे होंगे। प्रस्तुत काल में नन्द सम्राटों के समय में नाप-तौल के मान पुनर्गठित किये गये, यह उल्लेख पहले किया जा चुका है। तौलों के मान चरक संहिता और अर्थशास्त्र में भी मिलते हैं। अष्टाध्यायी में भी अनेक प्रासंगिक उल्लेख है।

प्रस्तुत युग की प्राप्त मानपरिभाषाओं से यह प्रकट होता है कि इस काल में पदार्थों की तौल के लिए निश्चित वजन के बाँट प्रचलित हो गये थे। तौल को परिमाण कहा जाता था और लंबाई नापने के लिए प्रमाण शब्द का व्यवहार होता था। आगे तौल के लिए उन्मान शब्द का भी प्रयोग होने लगा।

तुला (तराजू) का अस्तित्व इस समय में था। अनाज की नाप पाय्य नामक बर्त्तन से की जाती थी, जो आज भी बुन्देलखण्ड में प्या के नाम से प्रचलित है।

लम्बाई की नाप के लिए अंगुली और शम का उल्लेख है। चौदह अंगुली का एक शम कहा गया है। गहराई नापने के लिए पुरुष नामक नाप का प्रयोग किया जाता था। गहराई की हस्ति[1] की ऊँचाई से भी एक नाप थी। खेतों की नाप काण्ड कहलाती थी। पथों की लम्बाई योजन में नापी जाती थी और एक योजन चार मील नौ सौ साठ गज का होता था।

---

१. आजकल बुन्देलखंड में प्रचलित 'हाथी डुब्बा' पानी से तुलना कीजिए।

स्थापत्य तथा अन्य शिल्प

नगर निर्माण

वास्तु विद्या के रूप में भवन निर्माण के ज्ञान ने मौर्यों के काल से बहुत पहले शास्त्रीय रूप ग्रहण किया था और शिल्पी उसका विधिवत् अध्ययन करते थे, यह पाणिनि के ऋगयनादि गण में वास्तु विद्या का पाठ उपलब्ध होने से सूचित होता है। इस प्रकार के शास्त्र की उपस्थिति प्रस्तुत युग के सुदूर प्रदेशों में उपलब्ध निर्माणों के अवशेषों में जो मौलिक एकरूपता दिखाई देती है, उसकी व्याख्या करती है। यद्यपि इस प्रकार का शास्त्रीय साहित्य इस काल का आज मिलता नहीं है; परन्तु संभावना यही अधिक है कि इस विद्या की परंपरा शास्त्रीय स्तर पर इस युग में वर्तमान थी जो परिवर्तित एवं परिवर्धित रूप में समरांगणसूत्रधार आदि पीछे के युगों की रचनाओं में प्राप्त होती है। जन-साम्राज्यों के युग में नगरों का निर्माण किस प्रकार किया जाता था, शास्त्र ग्रन्थों की अनुपस्थिति में भी इसका वर्णन जातकों, पाणिनि की अष्टाध्यायी और अर्थशास्त्र में मिलता है। जहाँ नगर बसाना होता था वहाँ पहले भूमि का संस्कार किया जाता था। यह कार्य वास्तुविद्याचार्य करते थे। भूमि शोधन के पश्चात् नगरमापन होता था। सबसे पहले परिखा, प्राकार और द्वार का निर्माण होता था[1]। प्राकार की ऊँचाई बारह हाथ से चौदह हाथ तक होती थी और नगर को चारों ओर से घेरे रहनेवाले इस प्राकार के ऊपर इन्द्रकोष (कँगूरों) के पीछे आठ हाथ चौड़ा एक देवपथ होता था। इन नगरों में बहुधा चार बड़े-बड़े नगर-द्वार बनाए जाते थे। पाणिनि के अनुसार, इन नगर-द्वारों का नामकरण होता था। द्वार का नाम उस नगर के नाम पर पड़ता था जिसकी ओर उस द्वार से निकलकर मार्ग जाता हो। नगर के भवनों का निर्माण अधपकी या पूरी पकी ईंटों और लकड़ी से होता था। राजप्रासाद और राजसभा के निर्माण में लकड़ी के बड़े-बड़े लट्ठे काम में लाए जाते थे। जातकों में उल्लेख है कि वास्तुविद्याविशारद जंगल में जाकर पेड़ों का चुनाव करते थे और उनकी पक्की लकड़ी कटवाकर प्रासाद के लिए लाते थे[2]।

नगरों और भवनों के निर्माण के सम्बन्ध में यूनानी लेखक एरियन ने भी यही लिखा है कि वे लकड़ी या कभी-कभी ईंटों के बनाए जाते थे[3]। नगरों के प्राकारों में भी लकड़ी का उपयोग अधिक होता था। परिणाम यह हुआ है कि इतने समय पश्चात् उनके

---

१. अर्थशास्त्र ३।५१।

२. डॉ० वासुदेवशरण: पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १४३।

३. पीछे पृष्ठ २०४।

अवशेष मिलना कठिन हो गया है। प्राचीन राजगृह के प्राकार के कुछ अवशेष प्राप्त हुए हैं, जो पत्थरों के अनगढ़ टोलों से बना हुआ है। लकड़ी और टोलों के प्राकार कालान्तर में नष्ट हो गये और उनके कुछ अवशेष पाटलिपुत्र तथा उज्जयिनी में प्राप्त हुए हैं। सन १९३८ में उज्जयिनी में जो खुदाई हुई थी उसमें क्षिप्रा के किनारे प्राचीन प्राकार के अवशेष मिले थे। लकड़ी के लट्ठों से बना यह प्राकार ठीक वैसा ही है जैसा कि पाटलिपुत्र में मिला है। इसके साथ मौर्यकालीन ओपयुक्त अनेक मनके भी प्राप्त हुए हैं, जो उसका कालनिर्देश करते हैं। अभी हाल में उज्जयिनी में जिस प्राकार के अवशेष मिले हैं वे सम्भवतः गौतम बुद्ध से भी पूर्व के हैं। विदिशा में भी नगर के प्राकार के अवशेष मिले हैं। यह प्राकार १२ फुट चौड़ा है और पत्थरों के बड़े-बड़े खण्डों से बना है[1]।

नगर और भवन

इस युग के नगरों का रूप कैसा था यह उन अर्धचित्रों में दिखाई देता है जो भरहुत, साँची, अमरावती, मथुरा आदि स्थानों पर मिले हैं। यद्यपि ये अर्धचित्र प्रस्तुत काल से कुछ पीछे के हैं तथापि उनमें नगरों के जो चित्र दिये गये हैं वे प्रस्तुत काल के ही माने जा सकते हैं। साँची के बड़े स्तूप के तोरणों पर तत्कालीन नगरों के अर्धचित्र बने हुए हैं। इनमें नगर की परिखा, नगरद्वार, प्राकार, इन्द्रकोष, देवपथ तथा उसके पीछे ऊँचे-ऊँचे कई खण्ड के गृह स्पष्ट दिखाई देते हैं। नगर-द्वार के दोनों ओर द्वार-अट्टालक अथवा गोपुर-अट्टालक बने हुए हैं। परिखा के जलपक्षी तथा पादप दिखाई दे रहे हैं, नगर जन-संकुलित हैं, और कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ कोई स्त्री या पुरुष खड़ा न हो। बुद्ध चिह्नों के लिए हुए युद्धों के अंकनों में तो हाथी, रथ, पैदल सेनाओं से घिरा नगर तथा उसके प्राकार और द्वार-अट्टालकों से युद्ध करते हुए सैनिकों के अंकन से उनके तत्कालीन रूप तथा उपयोग का सजीव चित्र मिल जाता है। भरहुत पर प्राप्त देवसभा का अर्धचित्र उस समय के भवनों के रूप को प्रकट करता है।

इन अर्धचित्रों से भी नगरों और भवनों के निर्माण में प्रयुक्त सामग्री का बोध होता है। नगर-प्राचीर ईंटों के बनाए हुए ज्ञात होते हैं और लगभग सभी छाजन तथा खम्भे लकड़ी के हैं। मथुरा के एक अर्धचित्र में उद्यान में स्थित प्रासाद का भी सुन्दर चित्रण किया गया है। पाटलिपुत्र के राजभवनों की तुलना में यदि मेगास्थनीज ने सूसा और इकबटना के प्रासादों को हेय बतलाया है[2] और फाहियान उसे मानवनिर्मित मानने में सन्देह करता है[3], तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। इन अर्धचित्रों में अंकित नगरों के साधारण आवास जब इस प्रकार के थे तो भारत-सम्राट का राजप्रासाद कैसा होगा, इसका अनुमान लगाया जा सकता है। पटना में अशोक के राजभवन के अवशेष मिले हैं, परन्तु वे; इतने कम हैं कि उनसे उसकी विशालता का अनुमान लगा सकना कठिन है।

---

१. वार्षिक विवरण, पुरातत्त्व विभाग, ग्वालियर राज्य, संवत् १९९२, पृष्ठ ९।

२. पीछे पृष्ठ २०६।

३. जगन्मोहन वर्मा: फाहियान; पृष्ठ ५८।

ज्ञात होता है कि राजप्रासाद अनेक भवनों का समूह था, जिनके मध्य में एक विशाल सभाभवन था। इस सभा-भवन में स्तम्भों की पंक्तियाँ थीं और ये स्तम्भ लकड़ी के थे। एक स्तम्भ ओप सहित पत्थर का भी प्राप्त हुआ है।

हमारे प्रदेश में मौर्यकालीन अथवा प्राङ्मौर्य नगरों और आवासों के अवशेषों की खोज नहीं हुई है। विदिशा में जो कुछ धरती के ऊपर था, केवल वही अब तक देखा गया है। उज्जयिनी और पद्मावती में केवल नाममात्र का उत्खनन कार्य हुआ है और अन्य स्थलों पर तो कोई दृष्टि ही नहीं डाली गयी। अमबारी का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। भूमि के ऊपर ही अत्यन्त प्राचीन अवशेष यहाँ मिल जाते हैं। मीलों लम्बे क्षेत्र में फैले हुए किसी प्राचीन नगर के यहाँ के अवशेषों में जो ईंटें प्राप्त होती हैं वे मौर्यकाल की ईंटों की याद दिलाती हैं। अमोला और शिवपुरी के बीच में बियाबान जंगल में सिन्ध नदी के तट पर 'खण्डहर' नाम से प्रख्यात एक अत्यन्त प्राचीन गढ़ आज भी हजारों वर्ष की कहानी अपने अंक में छिपाए खड़ा है।

बौद्ध स्थापत्य

बौद्ध स्थापत्य से हमारा तात्पर्य उन अवशेषों से है जिनका सम्बन्ध बौद्ध संघों अथवा उनके विहारों से ज्ञात हुआ है। वास्तव में भारतीयकला में बौद्ध, जैन, ब्राह्मण नाम की कोई कलाएँ नहीं हैं। शिल्पियों की श्रेणियाँ अपने युग के सभी निर्माणों को अपनी कलासाधना के प्रसाद से विभूषित करती थीं। वे राजाओं की कृतियाँ थीं यह मानना भी ठीक नहीं। उनके निर्माण में शिल्पियों की श्रेणियों और व्यापारियों के निगमों का बहुत बड़ा हाथ था। पद्मावती (पवाया) तथा विदिशा (भेलसा) में मूर्तियों और स्तूप की बाड़ के उष्णीष प्रस्तरों पर ब्राह्मी लिपि में असम, वर्धमान, सोमदास, अजामित्र[1] आदि के दानों का जो उल्लेख है वह इंगित करता है कि ये स्तूप किनके दान-धर्म से बने थे।

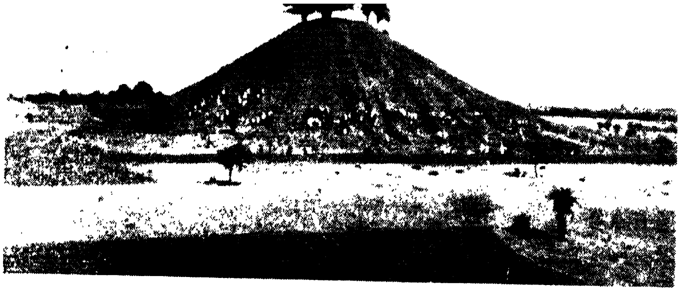
बौद्ध स्थापत्य स्तूप, स्तम्भ, पर्वतों में उत्कीर्ण गुहाएँ, विहार तथा मन्दिरों के रूप में मिलता है।

स्तूप

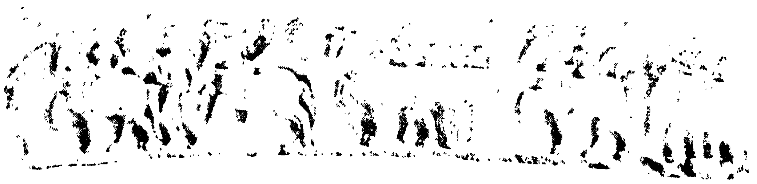
प्राग्वैदिक काल में मृत व्यक्तियों की समाधि पर स्तूप या टीला बना देने का चलन था। ज्ञात होता है इसे आगे राजाओं और धनिक वर्ग ने अपना लिया, यह बौद्ध अनुश्रुतियों में ही प्रमाणित है। महापरिनिर्वाण सुत्त में गौतम बुद्ध ने आनन्द से कहा है कि उनके परिनिर्वाण के पश्चात् उनके शरीर के अवशेषों के ऊपर सार्वभौम सम्राटों के स्तूपों से भी बड़ा स्तूप बनवाया जाए। जैन धर्मावलम्बी भी बहुत प्राचीन काल से स्तूप बनवाते थे। परन्तु गौतम बुद्ध के स्तूप बनाने के आदेश के परिणामस्वरूप उनके तथा उनके प्रधान शिष्यों के 'धातुओं' पर स्तूप बनाए गये और अशोक के समय में स्तूप की पूजा का चरम विकास हुआ।

---

१. हरिहरनिवास द्विवेदी : ग्वालियर राज्य के अभिलेख, पृष्ठ ९७।



वेश्या टेकरी, उज्जयिनी (पृष्ठ ३२१)



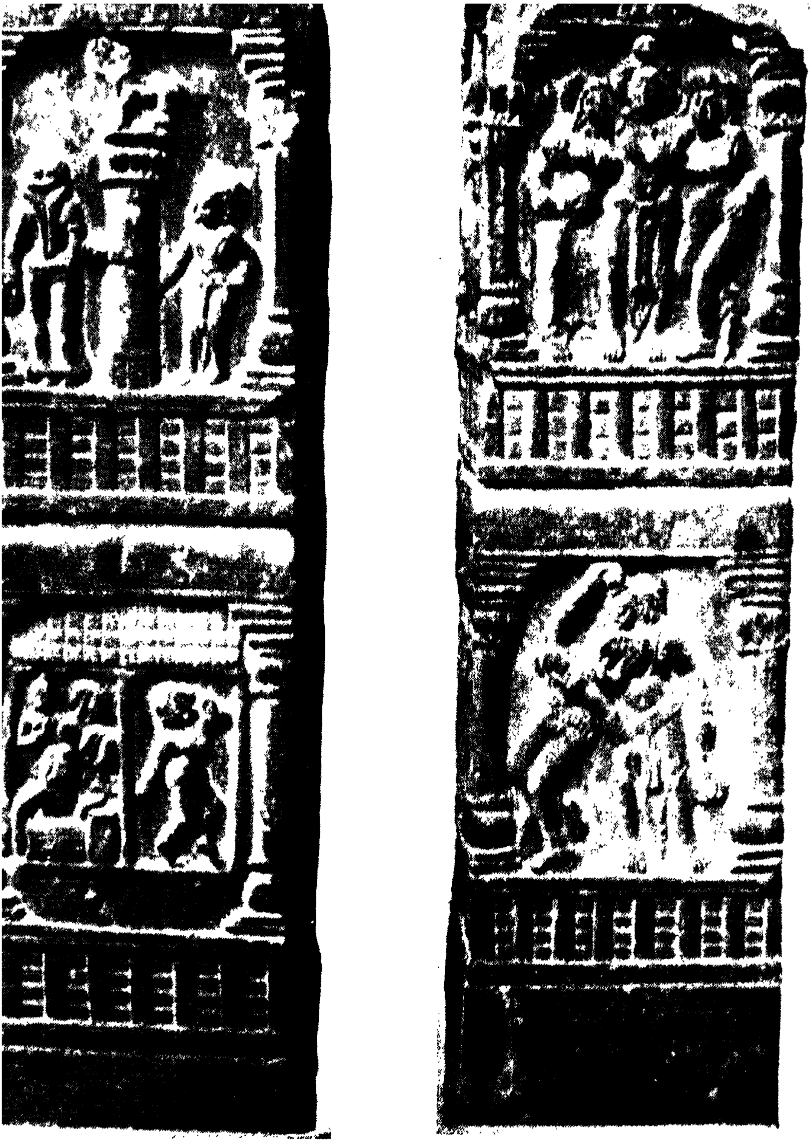
धर्मयात्रा (पृष्ठ ३२९) —लखनऊ संग्रहालय

स्तम्भशीर्ष विदिशा (पृष्ठ ३२२)



स्तम्भशीर्ष विदिशा (पृष्ठ ३२२)

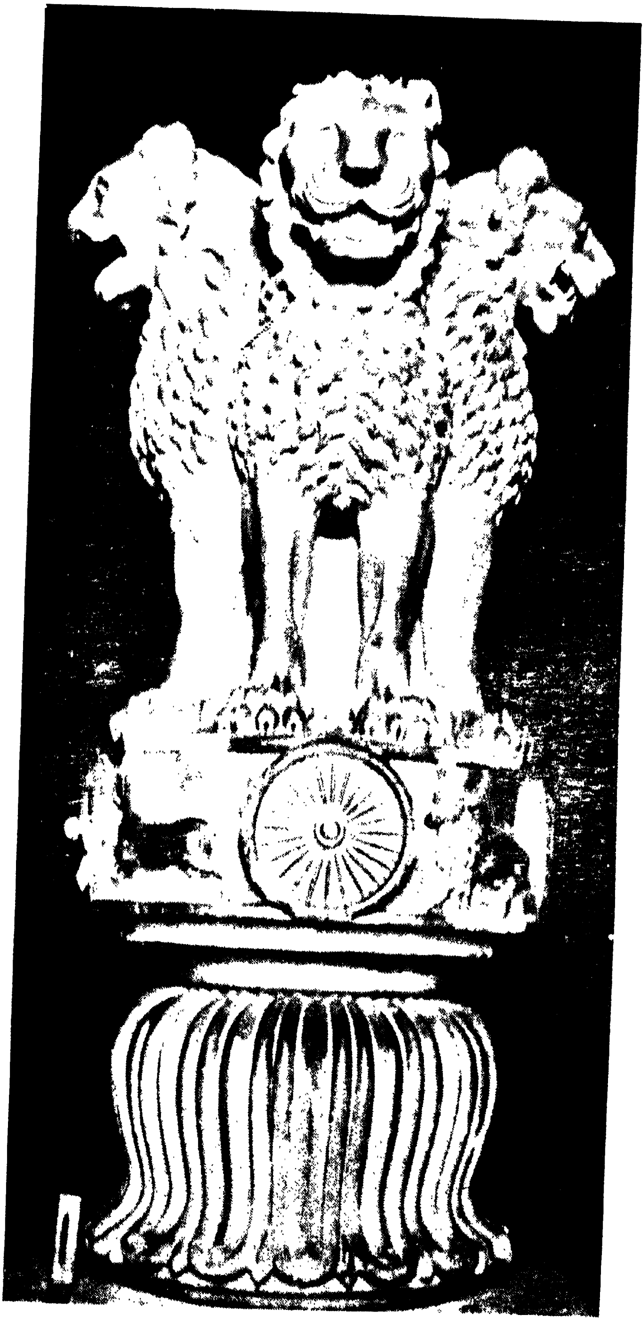




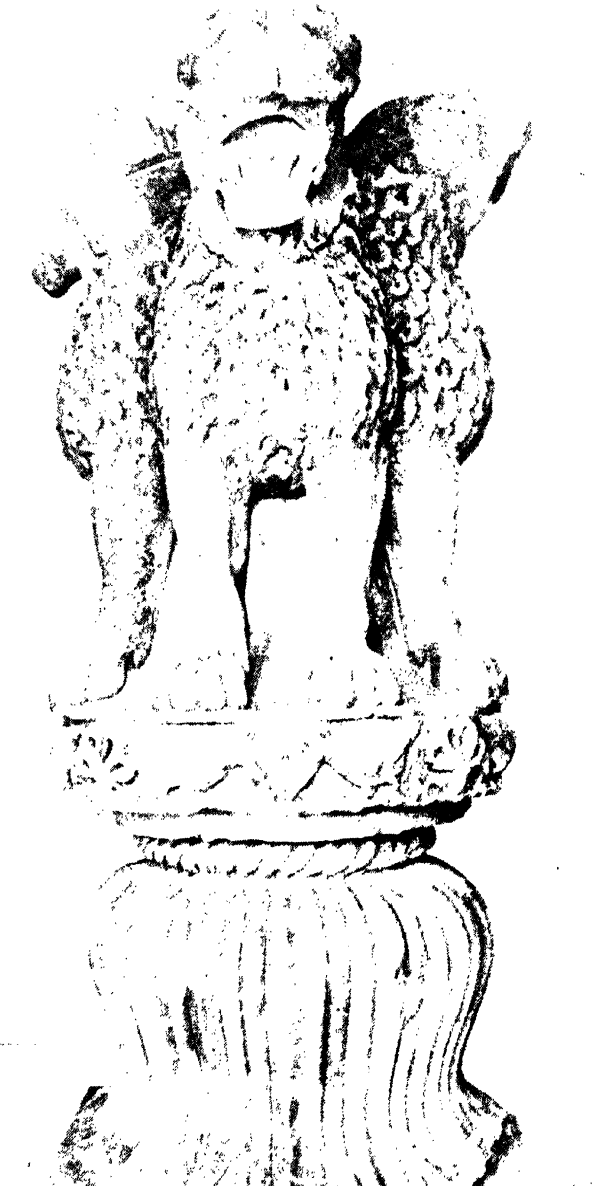
स्तम्भ-पूजा (पृष्ठ ३२२)—मथुरा संग्रहालय

बौद्ध-स्तूप की बाड़, विदिशा में प्राप्त (पृष्ठ ३२७)





स्तम्भशीर्ष सारनाथ (पृष्ठ ३२५)



स्तम्भशीर्ष साँची (पृष्ठ ३२५)

वेश्या टेकरी पर प्राप्त बौद्ध स्तूप अपने मूल रूप में अशोक से भी पहले बन गया था। साँची का बड़ा स्तूप सुरक्षित रूप से प्राप्त स्तूपों में सबसे प्राचीन है। अशोक के समय में वह ईंटों का बनाया गया था और एक शताब्दी पश्चात् ही उसे आकार में दूना तथा पत्थर का बना दिया गया, और तोरण द्वार तथा बाड़ लगा दी गयी। यह स्तूप अण्डाकार है। ऊपर हर्मिका बनाने के लिए कुछ स्थान समतल बना लिया गया है। ज्ञात यह होता है कि अशोक के समय में इस स्तूप के चारों ओर लकड़ी का घेरा बना हुआ था जिसके स्थान पर आगे पत्थर के तोरण और बाड़ बने।

इस काल के कुछ बौद्ध स्तूप निमाड़ जिले में कसरावद के पास एक पहाड़ी पर भी मिले हैं। यहाँ ग्यारह स्तूप हैं, जो ईंटों के बने हुए हैं। इनमें से सबसे बड़े स्तूप का व्यास ३५ फुट है। चारों ओर पटा हुआ प्रदक्षिणापथ बना हुआ है। सम्भव यह है कि ये एक-दो शताब्दी पीछे के हों। इन स्तूपों पर कोई अलंकृत वेष्टनी आदि भी प्राप्त नहीं हुई है। अपने मूल रूप में ये स्तूप किस प्रकार के होते थे यह अनेक अर्धचित्रों से ज्ञात होता है। मथुरा के एक अर्धचित्र में एक सम्पूर्ण स्तूप का अत्यन्त बारीक और विस्तृत अंकन है। इन स्तूपों की वैभवपूर्ण साज-सज्जा का वर्णन फाहियान ने किया है[1]।

ये स्तूप बौद्ध धर्म में पूजा के प्रधान अंग बन गये थे। लोग मिट्टी के छोटे-छोटे स्तूप बनवाकर इन बड़े स्तूपों पर चढ़ाते थे। परन्तु आज इनका महत्त्व उन अर्धचित्रों के कारण अत्यधिक है, जो इनके तोरणों, वेष्टनियों, उष्णीषों आदि पर प्राप्त होते हैं, जिनमें अत्यन्त परिष्कृत तक्षणकला के साथ-साथ उस समय के समाज का जीता-जागता चित्रण मिलता है।

स्तम्भ

स्तम्भों का उद्गम सम्भवतः यज्ञ यूपों से अथवा उन स्तम्भों से हो सकता है जो प्राग्वैदिक काल में ही मृतकों के स्तूपों के पास बना दिये जाते थे। इनका अस्तित्व अशोक के पूर्व से था यह उसके अभिलेखों से ही ज्ञात होता है[2]। परन्तु अशोक के स्तूपों के निर्माण का कौशल और उनकी श्रेष्ठता उसे भारतीय कला के इतिहास में विशिष्ट स्थान देते हैं। अशोक के ये स्तम्भ ४० से ५० फुट तक ऊँचे हैं तथा लगभग ढाई फुट चौड़े हैं। वे सब चुनार के पत्थर के हैं। इसके दो भाग होते हैं—स्तम्भ और शीर्ष। समूचा स्तम्भ एक पत्थर का बना हुआ होता है। अकेले स्तम्भ का वजन लगभग १,४०० मन अनुमानित किया जाता है। इन्हें बनाकर समस्त भारत में भिजवा देना भी अद्भुत कार्य था। सुल्तान फीरोजशाह तुगलक अम्बाला से एक स्तम्भ को दिल्ली लेगया था। वह स्तम्भ ४२ पहियों की विशेष रूप से बनाई गयी गाड़ी में ८,४०० व्यक्तियों द्वारा ढोया जा सका था। इनकी सबसे बड़ी विशेषता इन पर प्राप्त ओप है। समस्त स्तम्भ तथा उनका शीर्ष काँच के समान चमकता है।

---

१. पीछे पृष्ठ २२८।

२. लघुशिला-लेख, तीसरा।

सांँची के अशोक-स्तम्भ के आज अनेक खण्ड हो गये हैं। अनुमान यह है कि वह पूरा लगभग ४२ फीट ऊँचा होगा। उसका स्तम्भ-शीर्ष अत्यधिक टूट-फूट गया है, फिर उसके अपने चार केसरी मूल रूप में अपनी सजीवता में सारनाथ के स्तम्भ के सिंहों से किसी प्रकार कम नहीं हैं।

उदयगिरि और भेलसा के निकट भी कुछ स्तम्भ थे। जब कनिंघम ने उदयगिरि की यात्रा की थी, तब उसे टूटा हुआ एक स्तम्भ-खण्ड मिला था[1]; परन्तु अब वह प्राप्त नहीं है। केवल उसका शीर्ष ही प्राप्त है, जिसका उल्लेख आगे किया गया है।

इन स्तम्भों के उपयोग का संकेत मथुरा में प्राप्त एक अर्धचित्र से होता है। संभावना यही है कि ये स्तम्भ बहुधा चैत्यों, विहारों और स्तूपों के पास ही खड़े किये जाते थे। उपासकगण बड़े समारोह के साथ इनका पूजन तथा परिक्रमा करते थे। इस अर्धचित्र में एक उपासक और उपासिका स्तम्भ को हाथ से स्पर्श करते हुए परिक्रमा करते बताए गये हैं। पास के ही कुछ अर्धचित्रों में अत्यन्त तन्मयतापूर्वक नृत्यगीत चल रहा है।

चैत्य तथा गुहा-भवन

स्तूप-पूजा के प्रचलन का परिणाम यह हुआ कि बौद्ध विहारों में एक ऐसा स्थान भी बनाया जाने लगा जहाँ आराधना के लिए स्तूप बना दिया जाता था। इसे चैत्य कहते हैं। गौतम बुद्ध ने अपनी मूर्त्ति के निर्माण का निषेध कर दिया था और इस निषेध का ईसवी प्रथम शताब्दी तक पालन भी हुआ। उस समय तक पूजा के लिए चैत्य में स्तूप बना दिया जाता था। अशोककालीन चैत्यों के साँची, सुनारी तथा सारनाथ में केवल चिह्न-मात्र मिले हैं। साँची का चैत्य लकड़ी का बना हुआ था। आगे ये चैत्य पहाड़ियों को खोदकर बनाए गये, परन्तु इन पर भी लकड़ी की कारीगरी की झलक दिखाई देती है। पहाड़ियों को खोदकर बनाए गये चैत्यों का विकास आगे की शताब्दियों में हुआ।

यह पहले उल्लेख किया जा चुका है कि अशोक और दशरथ ने आजीवकों के लिए गुहा-भवन निर्मित कराए थे। ये सब गया के पास बराबर तथा नागार्जुन पहाड़ियों पर हैं। इन पर मौर्यकालीन ओप किया हुआ है और उनकी दीवारों तथा छतों की चमक तथा चिकनाहट आज भी आश्चर्य में डाल देती है।

मौर्यकालीन अवशेष अधिकांश में नष्ट-भ्रष्ट हो गये हैं। कुछ स्तूपों, स्तम्भों और गुहा-भवनों को छोड़कर शेष निर्माणों की केवल नींवें अथवा संक्षिप्त अवशेष मिलते हैं। अशोक के निर्माण बहुत विशाल परिमाण में हुए थे। जो कुछ मिला है, वह केवल नगण्य है; परन्तु सम्भावना यह है कि अभी बहुत कुछ मिलना शेष है और वह मिलेगा भी।

मूर्त्तियों के प्रकार

मूर्त्तियों का निर्माण प्राग्वैदिक काल से ही प्रारम्भ हो गया था, यह हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। उनके माध्यम भी अनेक रहे हैं। इस जन-साम्राज्य युग के प्रारम्भ में ही

---

१. आरकॉलॉजिकल सर्वे ऑफ दी वेस्टर्न सर्कल, भाग १०, पृष्ठ ५५–५६।

उनके निर्माण के लिए अधिक स्थायी माध्यम—प्रस्तर—ग्रहण कर लिया गया और इस कारण हमें इस काल की मूर्त्तियाँ अनेक स्थलों पर प्राप्त हुई हैं। इन मूर्त्तियों पर विचार करने पर वे अनेक प्रकार की दिखाई देती हैं। पहली तो वे मूर्त्तियाँ हैं जो राजाओं और सम्राटों की प्रतिकृतियाँ हैं, दूसरी वे हैं जो स्थापत्य के अलंकरण के रूप में बनाई गयी होंगी और तीसरे प्रकार की मूर्त्तियाँ वे हैं जो किसी धार्मिक आराधना के लिए बनाई गयी हैं।

यह कल्पना व्यर्थ है कि मूर्त्ति-निर्माण की कला भारत में विदेशों से आई है। रामगढ़ पहाड़ी के विक्रमखोल के प्राङ्मौर्य शिलालेख में एक रूपदक्ष (मूर्त्तिकार) की कहानी अंकित है। इसमें लिखा है 'सुतनुका नामक एक देवदासी थी—उसका प्रियतम देवदीन नामक रूपदक्ष था'। ये रूपदक्ष राजाओं तथा देवताओं की मूर्त्ति बनाते होंगे। पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी मूर्त्तियों का उल्लेख है। भास के 'प्रतिमा' नामक नाटक में राजाओं की मूर्त्तियों के देवकुलों का उल्लेख है। उस समय यह प्रथा थी कि प्रत्येक राजवंश का अपना देवकुल होता था, जिसमें मरने के पश्चात् राजा की मूर्त्ति स्थापित की जाती थी। इस देवकुल के बाहर रखने के लिए राजा के जीवनकाल में मूर्त्तियाँ बनती होंगी, यह अनुमान किया जा सकता है।

यक्षों और राजाओं की मूर्त्तियाँ

अशोककालीन मूर्त्तियों के अतिरिक्त इस युग की मूर्त्तियाँ संख्या में बहुत कम हैं। इनमें से चार मथुरा के पास मिली हैं—एक परखम में, दूसरी बरौदा में, तीसरी मनसादेवी की मूर्त्ति, और चौथी एक और स्त्री-मूर्त्ति। दो मूर्त्तियाँ पटना में प्राप्त हुई हैं तथा एक कोसम में मिली है। मध्यभारत में इस काल की सात मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं:—

(१) कुबेर मूर्त्ति।
(२) कुबेरी की मूर्त्ति।
(३) कल्पवृक्ष।
(४) पूरी स्त्री-मूर्त्ति।
(५) आधी स्त्री-मूर्त्ति।
(६) पवाया की मणिभद्र की मूर्त्ति।
(७) अलगी की मनसा देवी की मूर्त्ति।

इनमें से प्रथम दो भेलसा के डाक बंगले के आँगन में रखी हुई हैं, तीसरी और चौथी अब कलकत्ता के संग्रहालय में हैं, पाँचवीं तथा छठी ग्वालियर के गूजरीमहल संग्रहालय में हैं, और सातवीं अपने स्थान पर लगी हुई है।

इन सभी मूर्त्तियों के निर्माणकाल और इनके विषय के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद है[1]। पटना से जो मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं वे अजउदयी और नन्दिवर्धन की

---

१. इन मूर्त्तियों के सम्बन्ध में जो विचार हुआ है उसके लिए देखिए, भारतीय इतिहास की रूपरेखा, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ५५८-५६२; ज० बि० ओ० रि० सो०

मूर्त्तियाँ हैं, जिनके अनुकरण में आगे अशोक ने अपनी मूर्त्ति बनवाई थी। कोसम, परखम, पवाया तथा विदिशा की मूर्त्तियाँ यक्ष-मूर्त्तियाँ हैं. जैसा पहले उल्लेख हो चुका है, इन स्थानों पर स्थित प्राचीन नगर कौशाम्बी, मथुरा, पद्मावती तथा विदिशा से सार्थवाहों के काफिले जाया करते थे जिनके देवता कुबेर और मणिभद्र यक्ष थे। निद्देश[1] में जिन विविध धर्मों का उल्लेख है उनमें महाराज (कुबेर), यक्ष, माणिभद्र और पुण्यभद्र के उपासक भी अलग गिनाए गये हैं। पाणिनि ने महाराज (कुबेर) और उनके भक्त महाराजिकों का उल्लेख किया है।

विदिशा की अधिकांश मूर्त्तियाँ कुबेर के मन्दिर से सम्बन्धित ज्ञात होती हैं। धन के देवता कुबेर और उनका कल्पवृक्ष स्तम्भ तथा कुबेरी इसी मन्दिर की मूर्त्तियाँ हैं। शेष दो स्त्री-मूर्त्तियों के विषय में कुछ कह सकना सम्भव नहीं। संभवत: वे किसी प्रासाद की अलंकरण की मूर्त्तियाँ हैं।

इन मूर्त्तियों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि मूर्त्तिकला लकड़ी के माध्यम को छोड़कर पत्थर को अपनाती ही जारही है। इनकी निम्नलिखित विशेषताएँ दिखती हैं:—

(१) इनकी विशालता। इनमें से कोई भी मूर्त्ति ६ फुट से कम ऊँचाई की नहीं है।

(२) चारों ओर से कोरकर बनाने की रीति।

(३) यथातथ्य चित्रण की ओर प्रवृत्ति।

(४) पैरों की भद्दी बनावट।

अशोककालीन मूर्त्तियां

मौर्यकालीन कारीगर पत्थर पर एक अत्यन्त चमकदार ओप करने की रीति जानते थे, जो उस काल की कला की एक निजी विशेषता थी। मूर्त्ति, स्तम्भ या भवन बनाकर वे उसे इतना चिकना कर देते थे कि हाथ फिसलता था। यह ओप उस काल की मूर्त्तियों की अचूक पहचान है। यद्यपि पत्थर पर ओप आगे भी हुआ, परन्तु इस युग के ओप की बराबरी न की जा सकी। साँची के तोरणों पर इसका आभास मिलता है और मध्यकाल में भी अनेक मूर्त्तियों पर चिकनाहट की गयी है, परन्तु यह विशेषता उनमें नहीं आ सकी है। इसमें चुनार का पत्थर अधिक सहायक हुआ है।

मौर्यकालीन मूर्त्तिकला का अत्यन्त विकसित एवं भव्य रूप अशोकीय स्तम्भों के शीर्षों के रूप में सामने आया। इनके द्वारा भारतीय कारीगर की श्रेष्ठता विश्व के समस्त सभ्य देशों ने स्वीकार की। लाट के ठीक ऊपर इकहरी या दुहरी मेखला रहती

भाग ५, पृष्ठ ५१२-५६५; ई० ए० १९१९, पृष्ठ २५-२६; मॉडर्न रिव्यू, अक्टूबर १९१९; ज० रॉ० ए० सो० १९२०, पृष्ठ १५४-१५६ तथा नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग १, पृष्ठ ४०-८२।

१. पीछे पृष्ठ. २७५-७६।

है, उसके ऊपर लौटी हुई घण्टाकृति, बैठकी, फिर एक कण्ठा, जिस पर गोल या चौखूँटी चौकी पर एक अथवा एकाधिक पशु रहते हैं। चौकी पर उड़ते हुए हंस, कमल, मुकुंद, बैल आदि बने रहते हैं और सबसे ऊपर हाथी, सिंह, बैल अथवा घोड़ा मिले हैं। इन स्तम्भ-शीर्षों में सर्वश्रेष्ठ सारनाथ में प्राप्त सिंह-स्तम्भ-शीर्ष है। इसे आज भारत शासन ने अपने राष्ट्रीय चिह्न के रूप में स्वीकार किया है। इसका वर्णन अत्यन्त मार्मिक रूप से श्री रायकृष्णदास ने किया है—"सारनाथ-स्तम्भ अशोक-शासन-काल के पिछले दिनों में ई० पू० २४२ से २३२ के बीच, धर्मचक्र प्रवर्त्तन का स्थान, अर्थात् बुद्ध के पहले उपदेश का स्थान, जताने के लिए खड़ा किया गया था। चौकी पर के चार पहिये धर्म-चक्र के प्रतीक हैं। इसी प्रकार सिरे के चार सिंहों पर भी एक धर्मचक्र था जिसके टुकड़े मिले हैं। अब सिरे पर के सिंहों को देखिए। चार सजीव केसरी पीठ से पीठ मिलाए, चारों दिशाओं की ओर मुँह किये दृढ़ता से बैठे हैं। उनकी आकृति भव्य, दर्शनीय और गौरवपूर्ण है, जिसमें कल्पना और वास्तविकता का बड़ा स्वादु सम्मिश्रण है। कलाकार ने जानबूझकर पंचानन की उग्रता, हिंस्रता तथा प्रचंडता नहीं दिखाई और इन्हें छोड़कर भी उनका मृगेन्द्रत्व कहीं से कम नहीं होने दिया। उनके गठीले अंग-प्रत्यंग सम विभक्त हैं और बड़ी सफाई से गढ़े गये हैं। उनमें कहीं लरबरपन, बोदापन व भरा-पन नहीं है। न एक छैनी कम लगी है न अधिक। ओप के कारण उनपर एक अद्भुत तेज जान पड़ता है। उनके फहराते हुए लहरदार केसर का एक-एक बाल बड़ी बारीकी से और चारुता से दिखलाया गया है, जो उनके सौंदर्य को दूना कर देता है। चारों मूर्त्तियों में नपी हुई समानता है। इनमें ताजगी भी इतनी है कि आज की बनी जान पड़ती हैं।. . .पहले इन सिंहों की आँखों में मणियाँ बैठाई थीं, उनके कारण इनका तेज और भी बढ़ा हुआ रहा होगा"। इनके विषय में विन्सेण्ट स्मिथ ने लिखा है कि संसार के किसी भी देश की पशु- मूर्त्तियों में इस सुन्दर कृति से बढ़कर तो क्या, इसके टक्कर की कृति पाना भी कठिन है।

साँची के अशोक-स्तम्भ पर भी इस प्रकार के सिंह बने हैं। परन्तु इन सिंहों के ऊपर धर्मचक्र नहीं था जैसा कि सारनाथ के सिंहों के ऊपर बना हुआ था। कारण स्पष्ट है। सारनाथ धर्मचक्र प्रवर्त्तन का स्थान था, अतएव वहाँ धर्मचक्र की आवश्यकता थी। साँची में वह अनावश्यक था। साँची का यह स्तम्भ भी चुनार के पत्थर का बना है और श्रेष्ठता में सारनाथ के स्तम्भ से कम नहीं रहा होगा। किन्तु यह स्तम्भ-शीर्ष ध्वस्त अधिक है और उसका सौन्दर्य पूर्ण रूप से दिखाई नहीं देता।

मौर्य-सम्राटों के महलों की विशालता का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इन प्रासादों के अलंकरण के लिए मूर्त्तियों का भी निर्माण हुआ होगा। पटना के पास दीदारगंज में मिली और अब पटना संग्रहालय में सुरक्षित चामर-ग्राहिणी की मूर्त्ति इन्हीं प्रासादों के अलंकरण के लिए निर्मित हुई होगी। यह मूर्त्ति मौर्य* मूर्त्तिकला का सुन्दर उदाहरण है।

निर्माण-कौशल और कला की दृष्टि से अशोक के समय की मूर्त्तियाँ एक स्पष्ट पृथक् वर्ग की हैं। उनकी श्रेष्ठ निर्माणशैली तथा उनपर प्राप्त अद्भुत ओप के कारण

भारतीय कला में उनका विशिष्ट स्थान है। अशोक के समय में तक्षणकला के स्पष्टतः दो भेद हो गये थे। उसने अपने तत्त्वावधान में उस तक्षणकला का आविर्भाव किया था जो लोककला से सर्वथा भिन्न थी। उसने चाणक्य के इस सूत्र को कुछ भिन्न उद्देश्य से ग्रहण किया था—"देवताध्यक्षों को चाहिए कि देव-मूर्तियों के जरिये सोना बटोरें और खजाना भरें। देवताओं के चैत्यों में उत्सव और मेले कराएँ, और नाग मूर्त्तियाँ अपने फनों की संख्या घटा-बढ़ा लेती हैं, इस प्रकार की चमत्कार की बात फैलाकर भोली-भाली जनता से पुजवाकर पैसा इकट्ठा करें[१]"। अशोक ने इन देव-प्रतिमाओं के दर्शन का उपयोग जनता को बौद्ध धर्म के प्रति आकर्षित करने के लिए भी किया था[२] परन्तु दुर्भाग्य से अशोक द्वारा निर्मित सभी देव-मूर्त्तियाँ नष्ट हो चुकी हैं। स्वयं अशोक की वह मूर्त्ति जिसे ईसवी सातवीं शताब्दी में इत्सिग ने देखा था, प्राप्त नहीं हो सकी। इस मूर्त्ति में वह बौद्ध भिक्षु के वस्त्र पहने हुए दिखाया गया था[३]। अब अशोक के समय के केवल स्तम्भों के शीर्ष पटना की चामर-ग्राहिणी तथा विदिशा का हाथी ही प्राप्त है।

मौर्यकालीन अन्य मूर्त्तियाँ

विदिशा और उज्जयिनी में भी मौर्यकाल की मूर्त्तिकला के सुन्दर उदाहरण प्राप्त हुए हैं और आगे भी प्राप्त होने की आशा है। विद्वानों ने यह अनुमान किया है कि पत्थरों पर उभरी हुई मूर्त्तियाँ (अर्ध-चित्र) तथा अलंकरण हाथीदाँत पर बनी हुई कलाकृतियों का अनुकरण करने की चेष्टा से बने हैं। ये हाथीदाँत के कारीगर विदिशा में रहते थे, इसका प्रमाण भी मिलता है। साँची के दक्षिण तोरण के बाएँ खम्भे पर विदिशा के दन्तकारों के दान का उल्लेख है[४]। भरहुत की वेदिका पर विदिशा के फल्गुदेव आदि के दान सम्बन्धी चार लेख हैं[५]।

मध्यभारत में प्राप्त मौर्यकालीन कला-कृतियों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है:—

(१) विदिशा के स्तूप की बाड़ के अवशेष,

(२) उदयगिरि के बौद्धावशेष तथा कुछ अन्य स्तम्भ-शीर्ष, तथा

(३) कुछ मृण्मूर्त्तियाँ, गुरिए, हाथीदाँत की वस्तुएँ तथा उज्जैन की कुम्हार टेकरी में प्राप्त मृत्तिकापात्र आदि।

उज्जैन में वेश्या टेकरी के उत्खनन के फलस्वरूप जिन स्तूपों का पता लगा है उनका अपनी विशालता एवं विशिष्ट स्थापत्य कलाकौशल की दृष्टि से अशोकालीन स्तूपों में महत्त्वपूर्ण स्थान है; परन्तु उनके चारों ओर या तो कोई वेदिका (बाड़) थी ही नहीं, और

---

१. अर्थशास्त्र ५।२।

२. अशोक की धर्मलिपियाँ, चौथा प्रज्ञापन।

३. तथाकुसु।

४. मार्शल तथा फुशे: मान्यूमेण्ट्स ऑफ साँची, तीसरा भाग।

५. बरुआ: भरहुत, पृष्ठ ४१ तथा ए गाइड टू दि स्कल्पचर्स इन इंडियन म्यूजियम, भाग १, पृष्ठ ८५।

यदि थी तो वह लकड़ी की बनी हुई थी। इस प्रकार यहाँ मूर्त्तिकला का कोई उदाहरण प्राप्त न हो सका। यह एक विचित्र संयोग है कि बेसनगर (विदिशा) के पास एक स्तूप की बाड़ के कुछ अंश प्राप्त हुए हैं, परन्तु वहाँ स्तूप का पता नहीं लगा। ज्ञात यह होता है कि स्तूप की ईंटें तथा बाड़ के कुछ अंश कोई मकान बनानेवाला ले गया और सौभाग्य से बाड़ का कुछ अंश प्राप्त हो सका। सन १८७४ में सबसे पहले कनिंघम ने इन्हें देखा था। उसने लिखा है, "बेसनगर ग्राम के बाहर पूर्व की ओर मुझे एक बाड़ के कुछ अंश मिले, जो कभी बौद्ध स्तूप को घेरे हुए थे।...चारों अभिलेखयुक्त हैं जिनमें अशोककालीन लिपि में दाताओं के छोटे-छोटे लेख हैं। इस कारण से इस स्तूप की तिथि ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के मध्य के पश्चात् की नहीं मानी जा सकती[1]"।

इन लेखों की लिपि के कारण भी यह वेदिका अशोककालीन ज्ञात होती है, साथ ही यदि इसकी तुलना भरहुत एवं साँची की उभरी हुई मूर्त्तियों से की जाए तो इसका उन दोनों से पूर्वकालीन होना सिद्ध होगा। भरहुत एवं साँची में जो जातकों के तथा बुद्ध-जीवन सम्बन्धी दृश्य दिखाए गये हैं वे अधिक विकसित एवं अधिक रूढ़िबद्ध हैं। बेसनगर की बाड़ इस दिशा में पूर्वतम प्रयास ज्ञात होती है। बुद्ध द्वारा उनकी मूर्त्ति-अंकन के निषेध का पालन इस बाड़ की मूर्त्तियों में किया गया है। प्राचीन बाड़ों पर बुद्ध का स्वयं का चित्रण-(१) सिंहासन, (२) बोधिवृक्ष, (३) त्रिरत्न तथा (४) स्तूप द्वारा किया गया है। इनमें त्रिरत्न को छोड़कर शेष तीनों प्रतीक बेसनगर की बाड़ में मौजूद हैं। साँची के स्तूप की बाड़ों में सारी जड़-चेतन प्रकृति बुद्ध की आराधना में तत्पर दिखलाई है; परन्तु उत्कीर्णक की छेनी बुद्ध-विग्रह के अंकन के निषेध की मर्यादा में बँधी ही रही।

कला की दृष्टि से बेसनगर की बाड़ के वे अर्धचित्र साँची और भरहुत के पूर्वगामी हैं, यह ऊपर कहा जा चुका है। दाताओं की असमर्थता के कारण भी उनमें विशालता एवं अनेकरूपता नहीं है। बाड़ का केवल कुछ अंश ही प्राप्त हुआ है और कोई तोरणद्वार भी नहीं मिला है। इस कारण से इसमें साँची या भरहुत की सी न तो प्रचुरता है और न कला की परिपक्वता अथवा विकास। परन्तु साँची और भरहुत की पूर्वगामिनी होने के कारण इसकी कला का महत्त्व अवश्य बहुत अधिक है।

कनिंघम ने इस बाड़ के उष्णीष (कोपिंग स्टोन) का एक खण्ड, एक स्तम्भ और दो सूची (तकिए) के पत्थर (रेलबार्स) देखे थे। उसके पश्चात् अब एक उष्णीष का खण्ड, एक स्तम्भ का खण्ड तथा तीन सूचियों के पत्थर और मिल गये हैं। इस प्रकार अब दो उष्णीष के खण्ड, दो स्तम्भ खण्ड तथा पाँच सूचियों के प्रस्तर प्राप्त हैं। ये सब गूजरी महल संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

उष्णीष-प्रस्तर के खण्ड ११ इंच ऊँचे और ११ इंच मोटे हैं। बड़ा टुकड़ा ७ फीट ४ इंच लम्बा है और छोटा टुकड़ा लम्बाई में इससे प्रायः आधा है। इनके भीतरी ओर हाथी और घोड़ों का समारोह अंकित है। प्रत्येक हाथी के सिर पर बुद्ध-चिह्न की पिटारी रखी हुई है। हाथी के पीछे एक पदाति है जो ध्वजा या चमर लिये हुए है और उसके पीछे

---

१. कनिंघम: आ० स० ई०, भाग १०, पृष्ठ ३८।

एक अश्वारोही है। अश्वारोही के पीछे फिर एक पदाति है। इस प्रकार इन दोनों खण्डों में १३ पदाति, ६ घोड़े और ६ हाथी हैं।

बाहरी भाग में उष्णीष-प्रस्तरखण्डों का ऊपरी गोल हिस्सा अर्धचित्रों के ऊपर निकला हुआ दो इंच चौड़ी छज्जी-सी बना देता है, जिससे उनकी रक्षा होती रहे। बड़े तथा छोटे दोनों टुकड़ों में दो स्तूपों की पूजा का अंकन है। गो-मूत्रिका के आकार में फैलाई गयी एक पद्म-बेल द्वारा १० खन बना दिये गये हैं। इस बेल में यत्रतत्र पूर्ण विकसित, अर्ध-विकसित एवं अविकसित कमल पुष्प तथा पत्ते बने हुए हैं।

दाहिनी ओर के पहले खन में एक हाथी है, दूसरे और नवें खन में दो-दो गायक हैं, जिनमें से एक मृदंग बजा रहा है। तीसरे और चौथे खनों में एक-एक स्त्री और पुरुष हैं। स्त्री भरा हुआ थाल लिये है और पुरुष के हाथ में ध्वजा है। इस प्रकार की ध्वजाएँ बौद्ध स्तूप पर टँगी हुई भरहुत में भी दिखाई गयी हैं और इसी बाड़ के दूसरे टुकड़े में भी हैं। पाँचवें, छठे, सातवें और आटवें खन में प्रत्येक में एक-एक स्त्री है जो अपने दोनों हाथों में भरे हुए थाल लिये है। दसवें खन में एक स्तूप है जिसके दाहिनी ओर एक स्त्री है। इस स्तूप में ऊपर का छत्र नहीं है। छोटे वेष्टन-प्रस्तर खण्ड में बड़े खण्डों के समान पद्म-बेल द्वारा पाँच खन बताए गये हैं। पहले खन में बुद्ध-चिह्न की पिटारी सिर पर रखे हाथी है और चौथे खन में बोधिवृक्ष है, जिसके दोनों ओर स्त्री और पुरुष हैं। पाँचवें खन में, जिसमें स्तूप है, दाहिनी ओर उपासिका खड़ी है। दूसरे खन में दो व्यक्ति हैं, जिसमें से एक भरा हुआ थाल लिये है और दूसरा ध्वजा लिये है। तीसरे खन में एक स्त्री और एक पुरुष हैं, जो गायन-वादन कर रहे हैं।

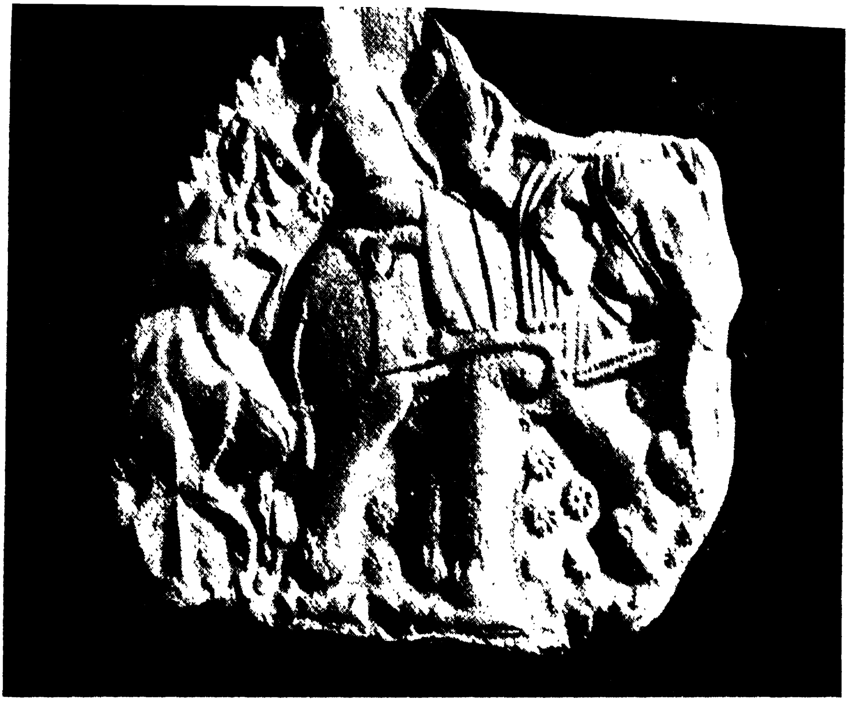
बड़े खम्भों में बोधिवृक्ष की पूजा दिखाई गयी है। इस दृश्य का अंकन बहुत अकुशल हाथों द्वारा किया गया है और अर्ध-चित्रों के अत्यन्त अविकसित रूप का परिचायक है। मूर्त्तिकार बोधिवृक्ष और नौ उपासकों का संश्लिष्ट चित्र बतलाने में असफल रहा है। पहली पंक्ति में बोधिवृक्ष बना है, फिर नीचे तीन पंक्तियों में तीन-तीन उपासक हैं। अन्तिम पंक्ति के उपासकों का इस समय केवल सिर का कुछ भाग शेष रह गया है। स्तम्भ के छोटे टुकड़े पर अंकन अधिक रुचिर है। इसके एक ओर संगीत का दृश्य दिखाया गया है। ऊपर एक सिंहासन है। आठ स्त्रियाँ विविध वाद्य बजा रही हैं। बीच में एक दीपक जल रहा है। इसमें वीणा, मुरली, मृदंग आदि वाद्य स्पष्ट दिखाई देते हैं। इसी स्तम्भ खंड के दूसरी ओर नीचे-ऊपर दो खन हैं। ऊपर के खन में वन का दृश्य है। चार मृग और दो मोर अत्यन्त सुन्दर रूप में बने हुए हैं। ऊपर का कुछ भाग टूट गया है। नीचे के खन में दो घोड़ों के रथ में एक राजपुरुष दिखाया गया है। एक पारिषद छत्र लिए हुए है और दूसरा चामर। रथ के नीचे की ओर दो व्यक्तियों के सिर से दिखाई देते हैं।

पाँच सूची प्रस्तरों में से चार में सुन्दर एवं विविध प्रकार के फुल्ल कमल हैं। एक में बोधिवृक्ष के दोनों ओर दो उपासक दिखाए गए हैं।

कनिंघम ने बेसनगर की यात्रा सन १८७४ में की थी, यह ऊपर लिखा जा चुका है। उस समय उसे इस बाड़ के दक्षिण-पश्चिम में साँची की दिशा में प्रायः एक मील दूर पर उदयगिरि पहाड़ी के दक्षिण में बौद्ध बाड़ और स्तम्भ के अवशेष मिले थे। आश्चर्य है कि



विदिशा में प्राप्त स्त्री-मूर्त्ति (पृष्ठ ३२३)



उदयन और वासवदत्ता (पृष्ठ १७८)



यक्षी-अग्र तथा पृष्ठ भाग (पृष्ठ ३२३)

आज सिंहशीर्षयुक्त स्तम्भ के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त नहीं है। अतएव आज कनिंघम द्वारा किये गये उनके वर्णन के अतिरिक्त हमारे पास कोई दूसरा साधन नहीं है। वह लिखता है[1] 'पहाड़ी (उदयगिरि) के दक्षिणी भाग तथा चोटी पर बहुत से बौद्ध अवशेष हैं। पूर्व में सोम (सुन) पुरा ग्राम के पास मुझे एक बौद्ध बाड़ का टूटा खम्भा मिला, जिसका सिरा ८ × ६ इंच था और जिसके सामने सुपरिचित मुद्राएँ बनी हुई थीं और जिसमें तकिये के प्रस्तरों के घुमावदार छेद बने हुए थे। पास ही मुझे एक पूरा वेष्टन-प्रस्तर मिला, जो एक बहुत बड़ी बाड़ का खण्ड था और २ फुट १ इंच लम्बा तथा १ फुट १० इंच चौड़ा था। इसकी मोटाई बीच में ७। इंच थी। इनकी नापें भरहुत के वेष्टन-प्रस्तरों से लगभग मिलती-जुलती हैं। अत: हम यह अनुमान लगाते हैं कि उदयगिरि में भी कभी बड़ा स्तूप रहा होगा।

"पहाड़ी का चक्कर खाकर दक्षिण की ओर जाने पर मुझे एक इमली के पेड़ के नीचे एक बौद्ध स्तम्भ की चौकी मिली, जो २ फुट ६।। इंच वर्ग की तथा १ फुट ९।। इंच ऊँची थी, तथा साँची और बेसनगर के समान बौद्ध बाड़ से अलंकृत थी। अन्य खण्डों में मुझे कुछ घण्टाकृति खम्भे मिले, जो बहुत प्राचीन मन्दिर के अवशेष ज्ञात होते हैं।

"पहाड़ी के ऊपर अनेक स्थानों पर भवनों के चिह्न हैं। गुफाओं के ठीक ऊपर एक चौकोर चबूतरा है, जिसके पास मुझे एक बड़े स्तम्भ का एक सिंहयुक्त घण्टाकृति स्तम्भ-शीर्ष मिला। पहाड़ी के उत्तरी भाग की ओर, जो प्राय: ३५० फीट ऊँची है, मुझे एक गोल स्तम्भखण्ड मिला, जो ९ फुट ९ इंच लम्बा था और जिसका व्यास २ फुट ८।। इंच था और ढाल की ओर २ फुट ७ इंच था। इस स्थल के कुछ ऊपर इस स्तम्भ का भारी सिरा है, जो २ फुट ११ इंच वर्ग का है और ६ फुट ५ इंच लम्बा है। यह अब भी अपने मूल स्थान पर ज्ञात होता है, किन्तु पश्चिम की ओर झुक गया है। स्पष्टत: यह बौद्धों का महान सिंहस्तम्भ था, जो शताब्दियों तक पहाड़ी के शीर्ष पर खड़ा रहा और आसपास के मीलों दूर के जनसमुदाय का महान मार्गदर्शक बना रहा। एक दिन उसका विध्वंसक उसे ले जाने के लिए आया, जिसने उसकी नींव खोद डाली और उसे उखाड़ने का प्रयत्न किया, लेकिन चौकोर सिरे के ऊपर से ही स्तम्भ चटक गया और गड्ढे की चट्टान से टकराया" जिससे गोल स्तम्भ तो टुकड़े टुकड़े होकर छितर गया है, स्तम्भ-शीर्ष दूर जाकर गिरा और खंडित हो गया है'।

हमारे अनुमान से यह ध्वंस शुंगकाल में हुआ होगा और इस प्रकार यह स्तम्भ मौर्य-कालीन ही है। इतना अवश्य है कि इसमें उस उत्कृष्ट कला के दर्शन नहीं होते जो सारनाथ के अन्य कुछ स्तम्भों पर होते हैं और न इसमें चुनार के पत्थर का ही उपयोग किया गया है। फिर भी यह अत्यन्त सुन्दर है और अशोककालीन कहे जानेवाले अनेक स्तम्भों की टक्कर का है। विशेषत: इसकी तुलना संकिसा तथा बटवारी ग्राम के स्तम्भों से की जा सकती है। आज इसपर ओप भी दिखाई नहीं देता। घण्टाकृति अथवा कमलाकृति भाग आधा टूट गया है। उसके ऊपर भँजी हुई रस्सी की आकृति का कण्ठा बना हुआ है। इसके ऊपर ही एक गोल सादा पट्टी है, जिसके ऊपर गोल चौकी है। इस चौकी में चारों ओर बैल, हाथी, सपक्ष

---

१. आ० स० ई०, भाग १०, पृष्ठ ५५–५६।

ऊँट, सपक्ष घोड़ा, विदेशी जिराफ और दाढ़ीयुक्त मानवमुख, सपक्ष सिंह आदि आठ उभरे हुए पशुओं को देखकर ही अनेक विद्वान इस स्तम्भ को शुंगकालीन मानते हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि ये सपक्ष पशु शुंगकाल के पूर्व भी बनाए गये हैं[1] और ये पशु सारनाथ के स्तम्भ-शीर्ष पर भी आसीन हैं। चौकी के ऊपर एक विशाल केशरी बैठा हुआ है, जिसका मुख टूट गया है; परन्तु फिर भी उसकी विशालता एवं दृढता दर्शनीय है[२]।

लुहांगी पहाड़िया पर प्राप्त स्तम्भ-शीर्ष भी मौर्यकाल की कला का उदाहरण है। इसपर भी मौर्य ओप नहीं है और न इसकी चौकी पर श्रेष्ठ अंकन ही हुआ है, परन्तु यह अकुशल कलाकार की कृति होते हुए भी मौर्यों के काल की कृति है। इसमें कमल-पंखुड़ियों के भाग के ऊपर बटी हुई रस्सी के अलंकरण का कंठा है। गोल चौकी पर रमपुरवा के स्तम्भशीर्ष जैसे अलंकरणों को उत्कीर्ण किया है। स्तम्भ-शीर्ष पर दो सिंह और दो हाथी एक के बाद एक बैठे हुए थे; परन्तु अब केवल उनके पैर रह गये हैं।

एक सवारयुक्त हाथी की मूर्त्ति बेसनगर में प्राप्त हुई है और वह अब गूजरी महल संग्रहालय में सुरक्षित है। हाथी की सूँड़ टूट गयी है। सवार का भी ऊपर का भाग टूट गया है। कनिंघम ने इसे भी किसी स्तम्भ का शीर्ष माना है। कनिंघम ने इसके विषय में लिखा है, "इस मूर्त्ति पर अशोक के स्तम्भों के समान बहुत अधिक ओप है और मुझे शंका नहीं कि यह अशोककालीन है[२]"। आज इसपर कोई ओप दिखाई नहीं देता।

उज्जयिनी में गढ़ के उत्खनन में प्राप्त स्लेट पत्थर पर खोदी हुई मूर्त्ति मौर्यकालीन लोककला का सुन्दर उदाहरण है। यह चारों ओर कोरकर नहीं बनाई गयी, वरन् अर्ध-चित्र के समान खोदी गयी है। सर्वसाधारण में इसी प्रकार की मूर्त्तियों का प्रसार ज्ञात होता है। वहाँ पर ही प्राप्त पत्थर की डिबिया प्रान्त के साधारण जीवन में कलाकृतियों के बढ़ते हुए उपयोग की द्योतक है। यहाँ उसका उपयोग किसी मृत व्यक्ति के अवशेष सुरक्षित रखने के लिए किया गया है।

मनके, गुरिये और प्रसाधन सामग्री

इस काल की मूर्त्तियों में उस समय की प्रसाधन सामग्री और आभूषणों का रूप भी प्राप्त होता है। मेगास्थनीज भारतीय वेषभूषा और अलंकारों से प्रभावित हुआ था।[३] माहिष्मती, अवन्ति और विदिशा के दन्तकार तथा रत्नकार भी अत्यन्त प्राचीन काल से प्रसिद्ध रहे हैं। इनके द्वारा हाथीदाँत और स्वर्ण के विविध आभूषण बनाए जाते रहे होंगे। उज्जयिनी और विदिशा में इनके कुछ अवशेष प्राप्त हुए हैं। उज्जयिनी में गढ़ पर मिट्टी, सीप, कांच और मूल्यवान पत्थरों के मनके प्राप्त हुए हैं[४]। मनकों का ओप अशोककालीन ओप का स्मरण दिलाता है।

---

१. राय कृष्णदास : भारतीय मूर्तिकला, पृष्ठ ३७।

२. आ० स० ई० भाग १०, पृष्ठ ४१।

३. पीछे पृष्ठ २०२।

४. ग्वालियर पुरातत्त्व विभाग का वार्षिक विवरण, १९३८–३९, पृष्ठ १८।

मृण्मूर्त्तियाँ, मिट्टी के बरतन तथा मुद्राएं

मिटटी की भाँति-भाँति की मूर्त्तियाँ बनाने की कला भारतवर्ष में बहुत पुरानी है, यह हम प्राग्वैदिक युग के अवशेषों के वर्णन में देख चुके हैं। मृण्मूर्त्तियों के कालनिर्णय का कार्य सरल नहीं है। वह मूलतः लोककला है, और जिस रूप में मोहें-जो-डेरों तथा कन्नौज आदि स्थानों के प्राग्वैदिक स्तरों मे प्राप्त हुई है, उसी रूप में वह आज भी मिल जाती है। अन्य लोककलाओं की भाँति वह शाश्वत और कालसीमा के बन्धनों से परे है। उत्खनन के स्तर और उसके साथ प्राप्त अन्य सामग्री से ही उनके काल का निर्णय हो सकता है। मौर्यकाल में मृण्मूर्त्तियों के निर्माण के लिए साँचे का उपयोग प्रारंभ नहीं हुआ था और पूरी की पूरी मूर्त्ति हाथ से बनाई जाती थी। उज्जयिनी और विदिशा में अनेक मृण्मूर्त्तियाँ मौर्यकालीन स्तर में प्राप्त हुई हैं। उज्जयिनी के गढ़ के उत्खनन में मिट्टी के बने हुए खिलौने, गाड़ियों के पटिये, मनुष्य, पशु-पक्षी प्राप्त हुए हैं। मिट्टी के बरतनों पर भी सुन्दर कारीगरी का काम मिला है। मिट्टी के बाँट, दीपक और स्नान करने के समय पैरों को रगड़ने के टुकड़े और अलंकरणयुक्त ईंटें मिली हैं। हाथीदाँत के बरतन और सुन्दर नक्काशीयुक्त खिलौने प्राप्त हुए हैं।

लोकाभिमुख कला

इस युग की एक अपनी विशेषता है, जो आगे के युगों में धीरे-धीरे कम होती गयी। इस युग की कला मूलतः लोकाभिमुख है, वह अधिकांश लोककृति भी है। राजप्रासादों, अशोक के स्तम्भों अथवा कुछ राजाओं की मूर्त्तियों के अतिरिक्त जो भी अवशेष प्राप्त हुए हैं वे सब पौरसभाओं, श्रेणियों, निगमों तथा अन्य नागरिकों की कृतियाँ हैं। उनमें इसी कारण जनजीवन का प्रचुरमात्रा में अंकन हुआ है। राजनीति और धर्म में इस युग के समाज की गहरी छाप दिखाई देती है। सम्राट आए और साम्राज्य बने, परन्तु वे लोक-संगठनों में हस्तक्षेप न कर सके। धर्मों ने भी लोकरंजन का ही अधिक ध्यान रखा तथा भाषा और साहित्य ने भी जनता से निकट सम्पर्क रखने का प्रयास किया। इसी प्रकार कला भी लोकाभिमुख रही। अशोक ने दरबारी कला के जिस रूप के विकास का प्रयास किया वह भी लोकजीवन से सामजस्य बनाए रही। उसने उसपर ओप चढ़ा दिया, परन्तु उसके मूल अभिप्राय जनता के विश्वासों के अनुसार उनके परिचित पशु-पक्षी और उनका अपना जीवन ही रहा। अशोक के समय में ही अथवा उसके कुछ पश्चात् ही कला का यह राजसी रूप समाप्त होगया और अगले युग को लोकजीवन के अंकन की रीति ही दाय में मिली, जिसके कारण अगली दो-तीन शताब्दियों की कलाकृतियाँ लोकजीवन के अंकन से ओतप्रोत हैं, जानपदजन के रूपअंकन की लालसा लिये हुए हैं। उसमें देवताओं और देवयोनियों के कल्पनाप्रसूत रूप प्रमुखता न पा सके, उनकी भीड़भाड़ इकटठी न हो सकी। यह लोकाभिमुख कला धरती के पुत्र की कला है, केवल आसमान की ओर उसने अभी देखना प्रारंभ नहीं किया था।

संगीत, नृत्य तथा चित्रकला

संगीत और नृत्य

संगीत-नृत्य का विकास उस लोक से होता रहा है जो जीवन के शाश्वत सत्य को आनन्द-मय बनाने के लिए उसके पग-पग को स्वरों के उल्लासपूर्ण आरोहावरोह से निनादित कर और मानवहृदय की सरल अनुभूतियों को मुद्रा एवं अंगहारों द्वारा व्यंजित कर अपनी रसानुभति सामाजिक से हृदयपटल पर अंकित करता रहा है। लोक में नूतन संगीत के सर्जन का यह क्रम सतत चलता रहा है और आज का लोकसंगीत सूक्ष्मदर्शी शिल्पियों के हाथ में पड़कर कल के संस्कारित समाज का वरिष्ठ संगीत बनता रहा है। इसी क्रम में सामगान कभी यज्ञाग्नियों के चतुर्दिक समवेत ऋत्विजों में से सुवाच एवं सुजिह्व उद्गाताओं के उल्लासमय कंठ से निःसृत हुआ होगा, पीछे उसकी अस्खलित पद्धतियाँ बनीं, और इस क्रम में वह लोकसंगीत जिसका उल्लेख वैदिककाल की संस्कृति का वर्णन करते हुए किया जा चुका है, संभवतः प्रस्तुत काल में वरिष्ठ संगीत बना होगा और वही संगीत अनुश्रुति के किसी नाग[1] से उदयन ने वीणावादन के रूप में सीखा होगा तथा वही भास की वासवदत्ता की प्रणयविभोर अंगुलियों के ताड़न से घोषवती वीणा के तनुओं से निःसृत हुआ होगा।

लोक में संगीत की प्रतिष्ठा थी, उसे संस्कार का अंग माना जाता था और प्रस्तुतकाल में उसका शास्त्र के रूप में विकास हो गया था। पाणिनि की अष्टाध्यायी[2] में संगीत के एक अंग नाट्य के सूत्रों का उल्लेख प्राप्त होता है। काशिका के लेख से इस शास्त्र की वेद जैसी प्रतिष्ठा होने की सूचना मिलती है। शिलाली और कृशाश्व आचार्यों के चरणों में इन नये सूत्रों की रचना हुई थी। नाट्यशास्त्र का अध्ययन ऋग्वेद के चरण के अन्तर्गत हुआ था[3], परन्तु प्रस्तुतकाल के सामाजिक विपर्यय में, अतिरेकपूर्ण नर्वीन प्रवृत्तियों के उदय ने, जीवन के अनेक आवश्यक अंगों के सम्मान को ठेस पहुँचाई थी। उसका प्रभाव संगीत पर भी हुए बिना न रहा। इस काल के उत्तरार्द्ध में शिष्ट समाज में संगीत का वह सम्मान न रहा जो उसे अब तक की सर्वांग समृद्ध समाजव्यवस्था में प्राप्त था।

सुसंस्कृत समाज में शिलाली और कृशाश्व जैसे आचार्यों की पद्धतिबद्ध प्रणाली का संगीत मनोरंजन कर रहा था, परन्तु संगीत का मूल शाश्वत रूप से लोक में, बहुजन समाज में निहित है। वरिष्ठ समाज के कण्ठ से अनेक मर्यादाओं के कारण वाल्मीकि जैसा संगीत

---

१. देखिए पीछे पृष्ठ १७६।

२. अष्टाध्यायी ४।३।१२९।

३. डॉ० वासुदेवशरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ३३०।

कदाचित् ही कभी फूटता है। उसके उन्मुक्त प्रवाह का स्रोत लोककण्ठ है, जिसे उच्च स्तर की काल्पनिक मर्यादाएँ कुण्ठित नहीं करतीं, जहाँ से निकलकर वह जनमानस को आनन्दप्लावित करता है और प्रस्तुत काल में भी सूचनाएँ यही प्राप्त होती हैं कि संगीत का जनसाधारण में व्यापक प्रचार था।

पाणिनि[1], जातक[2] तथा अर्थशास्त्र[3] में गायक, वादक और नाट्यकारों को शिल्पी माना है। गीत, वाद्य, नृत्त तथा नाट्य मिलकर संगीत सांगोपांग करते रहे हैं। अभिनय के लिए नाट्य शब्द प्रयोग में आ चुका था और बड़े-बड़े प्रेक्षणागार भी बनाए गये थे। वाद्यों में वीणा अनेक प्रकार की और अत्यन्त विकसित बनने लगी थी। भड्डुक, झर्झर, दार्दुरिक आदि बाजों का भी उल्लेख मिलता है। वीणा के अनेक प्रकार थे, जिनके नाम उनकी आकृति के अनुसार रखे गये थे।

अभिनेताओं, गायकों तथा नर्त्तकों की टोलियाँ फिरती थीं और गायन-वादन बहुधा वृन्द के रूप में होता था। इस वृन्दनृत्य गायन में जो वाद्यों का समूह बजाया जाता था उसे तूर्यांग कहते थे। जातकों में पंचांगित तुरीय पाँच बाजों के इसी तूर्यांग के लिए आया है। कौटिल्य ने इन गीतनृत्य की टोलियों पर बहुत से प्रतिबन्ध लगाए थे। वर्षा ऋतु में इन्हें एक निश्चित स्थान पर रहना पड़ता था। यदि उनके नृत्य-गान समारोह लोगों के काम में बाधक होते थे तो वे राज्य द्वारा बन्द कराए जाते थे[4]।

बौद्ध धर्म जनसाधारण को साथ लेकर चला था। इस लोकसमूह ने बौद्ध स्तूप, स्तम्भ और चैत्यों की अर्चना में अपनी समस्त कलासाधना की तन्मयता से योग दिया। मौर्यकालीन तथा उसके पश्चाद्वर्त्ती शिल्पियों ने स्तूपों की वेष्टनियों पर बौद्ध प्रतीकों की पूजा के जो दृश्य अंकित किये हैं उनमें इस काल के गीत-नृत्य के वृन्दों और वाद्यों का बहुत सुन्दर अंकन किया है। उनके द्वारा हमें न केवल उन वृन्दों के रूप का दर्शन होता है, परन्तु साथ ही उनके वाद्य किस प्रकार के तथा कैसे थे, इसका भी परिज्ञान होता है। विदिशा में उदयगिरि पर अशोककालीन स्तूप की बाड़ पर गीत-नृत्य के एक वृन्द का बहुत सुन्दर चित्रण हुआ है। इसमें मृदंग, झाँझ, धनुर्वीणा स्पष्ट दिखाई गयी है। जातकों में वीणा के बहुत उल्लेख आते हैं। वीणा का तूम्बा दोणी कहलाता था और वह चर्मावगुंठित रहती थी। वीणा का दण्ड मुड़ा हुआ, अर्थात् सरल न होकर वक्र होता था। उसमें सात तार होते थे, अतः वे सप्ततंत्री कहलाती थीं। वीणा के तार आजकल जैसे धातुनिर्मित नहीं होते थे। बहुत प्राचीन काल में दाभ या मूँज का प्रयोग होता था, आगे चलकर रेशम की डोरियाँ, बाल इत्यादि भी काम में लाए जाने लगे।

उदयगिरि के अर्धचित्र में इसी प्रकार की सप्ततंत्री वीणा का अंकन किया गया है। पाणिनि ने जिस दर्दुर नामक वाद्य का उल्लेख किया है, वह सम्भवतः मृदंग ही है। उसे वाद्य-

---

१. अष्टाध्यायी ४।४।५६, ३।१।१४५, १४६,१४७।

२. खत्तिवादी जातक, ३।४०।

३. अर्थशास्त्र १।४४,२।१७,४।१०।

४. वही, ४।१।

भाण्ड माना गया है। मृदंग की उत्पत्ति प्रारम्भ में टूटे हुए भांड या बरतन पर चमड़ा मढ़ लेने से हुई होगी, जिसका विकसित और अलंकृत रूप उक्त मौर्यकालीन अर्धचित्र में मिलता है। मृदंग के वादन की प्रवीणता इस सीमा तक बढ गयी थी कि इस अर्धचित्र में दो मृदंग तबले के समान साथ-साथ बजाए जा रहे हैं। यद्यपि ताल के लिए मृदंग का विकास हो चुका था, फिर भी प्राचीन परम्परा के अनुसार साथ ही तालों से स्वर साधनेवाली पाणिध का भी इस चित्र में अस्तित्व है। इसके अतिरिक्त वेणु (बाँसुरी) जिसका उल्लेख पिछले अध्याय में हो चुका है, लोकवाद्य के रूप में प्रचलित रही, जिसका अंकन इस अर्धचित्र में हुआ है।

संगीतशास्त्र

अनुश्रुति और अर्धचित्रों मे संगीत और नृत्य के जिस वातावरण का दर्शन होता है वह संगीत, नृत्य और अभिनय की अत्यन्त विकसित अवस्था का द्योतक है। परन्तु ये मूक प्रस्तर केवल नृत्य की कुछ मुद्राओं और वाद्यों के अतिरिक्त और कुछ अंकित नहीं कर सकते। आगे की अनुश्रुतियाँ यह अवश्य इंगित करती हैं कि ई० पू० तीसरी शताब्दी के पूर्व संगीत और नृत्य का पर्याप्त विवेचन हो चुका था। पाणिनि के सूत्रों में उदात्त और अनुदात्त स्वरों के समाहार से 'स्वरित' का उद्भव बतलाया गया है[1]। प्रातिशाख्य में 'उदात्त' को निषाध और गान्धार स्वरों का, अनुदात्त को ऋषभ तथा धैवत का तथा स्वरित को षडज, मध्यम और पंचम का बोधक कहा गया है। अतएव सम्भावना यह है कि प्रकृति के विभिन्न पशु-पक्षियों की स्वरलहरी से अनुप्राणित होकर उनके स्वरों के अनुकरण में संगीत के सप्तस्वरों का विकास और उनकी परिभाषा इस युग में हो चुकी थी।

भरत के नाट्यशास्त्र की रचना ई० पू० दूसरी शताब्दी मानी जाती है[2]। परन्तु इसके भी पूर्व नन्दी और दत्तिल नामक संगीताचार्यों तथा उनके नृत्यों का उल्लेख मिलता है। दत्तिल ने रागों को १८ जातियों में विभक्त किया था, यह भी ज्ञात होता है[3]।

चित्रकला

इस युग की अनुश्रुतियों में अत्यन्त विकसित चित्रकला के अस्तित्व के उल्लेख मिलते हैं। विनयपिटक की एक कथा के अनुसार आम्रपाली ने अनेक देशों के चित्रकारों को बुलाया और अपने भवन की दीवारों पर राजाओं, व्यापारियों तथा अन्य प्रसिद्ध व्यक्तियों के चित्र अंकित करने को कहा। इन चित्रों में बिम्बिसार का चित्र देखकर ही वह उसे प्रेम करने लगी थी। विनयपिटक में प्रसेनजित के चित्रगारों का भी उल्लेख है। महाभारत में ऊषा की सखी चित्रलेखा का उल्लेख है, जिसने अनेक देशों के राजकुमारों के चित्रों का अंकन किया था। इसी प्रकार भास ने अपने स्वप्नवासवदत्तम् नाटक के छठे अंक में वासवदत्ता और उदयन के चित्रपटों का उल्लेख किया है, जिनका अंकन चण्डप्रद्योत की उज्जयिनी में हुआ था।

---

१. अष्टाध्यायी ४।२, २९,३०,३१ और ३२।

२. आगामी अध्याय में साहित्य, भाषा और लिपि के प्रकरण में देखिए।

३. वी० वी० नरसिंहाचार्य : दि अर्ली राइटर्स ऑन म्यूजिक (जर्नल ऑफ म्यूजिक एकेडमी, मद्रास, अक्टूबर १९३०)।

यह निर्विवाद है कि इस युग में तक्षण कला अत्यन्त विकसित हो चुकी थी। नदियों और समुद्रों में चलनेयोग्य जहाजों का निर्माण हो रहा था तथा बड़े-बड़े नगर और प्रासाद बनाए जाने लगे थे। इन सब में दक्षता प्राप्त करने के लिए चित्रकला का ज्ञान आवश्यक है, और निश्चय ही इस युग में उसका अत्यधिक विकास हुआ होगा। लेप्यचित्र, लेख्यचित्र, धूलिचित्र तथा पटचित्र नाम भी इसी काल में प्रचलित हो गये ज्ञात होते हैं। पिसे हुए चावल अथवा रंग-बिरंगी मिट्टी के बनाए जानेवाले धूलिचित्र लोककला के अंग हैं और इस कारण अपने उसी प्राचीन रूप में रांगोली, अल्पना अथवा साँझी आदि विभिन्न नामों से समस्त भारत में प्रचलित हैं।

इस युग के चित्रों के उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि चित्रांकन के लिए भवनों की दीवारें तथा पट दोनों का ही उपयोग होने लगा था। आगे बाघ तथा अजण्टा में प्राप्त विभिन्न रंगों और सुललित रेखाओं के भित्तिचित्रों की परम्परा का विकास इसी युग में हुआ होगा।

राजनीति और शासनव्यवस्था

राजनीति की व्यापक धाराएं

पिछले युग के विवेचन में यह देखा जा चुका है कि देश में प्रथमजतंत्र तथा एकराजतंत्र दोनों व्यवस्थाओं का अस्तित्व था। साम्राज्य भी बनते थे परन्तु वे अपने अन्तर्गत प्रथमजतंत्रों से अपना प्रभुत्व स्वीकार कराकर तथा उनसे बलि अथवा कर लेकर संतुष्ट रहते थे। एकराज संस्था का विकास होता जा रहा था। व्यक्तियों से कुलों और कुलों से गणों या संघों के रूप से संगठित समूहों को एकराज में बांधने के प्रयास की प्रारंभिक स्थिति का युग समाप्त होकर प्रस्तुतकाल में एक नये राजनैतिक ढांचे का उदय हुआ। नीचे हमें अत्यन्त सुसंगठित जनसमूह दिखाई देते हैं और ऊपर राजा सबपर छा जाने के लिए प्रयासशील हैं तथा वर्त्तमान युग के समाप्त होते-होते इन दोनों स्तरों के बीच एक नयी व्यवस्था के रूप में सामंजस्य स्थापित हो जाता है। सभी जनसंगठनों को मान्यता देकर लगभग समस्त देश में एक साम्राज्य स्थापित हो जाता है। कुल, गोत्र, व्रात, पूग, श्रेणी, निगम और गण आदि विभिन्न क्षेत्रीय, आर्थिक तथा सामाजिक संगठन अपने वैयक्तिक चरित्र अक्षुण्ण रखते हुए साम्राज्य की सत्ता को स्वीकार करते हैं। साम्राज्य उनके नियमों और आचारों को मान्यता देकर उनके प्रतिनिधियों को शासन-व्यवस्था में स्थान दे रहा था। इस युग तक व्यक्ति ने छोटे संगठन में और इन छोटे संगठनों ने राष्ट्र में अपना पूर्ण समाहार कर दिया था। राष्ट्र ने क्षेत्रीय और व्यवसायी संगठनों के तथा व्यक्ति के अस्तित्व और योगक्षेम को अपना राजधर्म बनाया था।

अर्थशास्त्रों का विकास

राजनैतिक व्यवस्था का शास्त्रीय चिंतन इस युग में पर्याप्त मात्रा में हुआ। ई० पू० चौथी शताब्दी के अन्त में लिखा गया विष्णुगुप्त चाणक्य का अर्थशास्त्र उस चिंतन का विकसित रूप है। चाणक्य ने नरेन्द्रों के उपयोग के लिए अपने पूर्व के लगभग १८ आचार्यों और चिंतकों के सम्प्रदायों का सार लेकर अपने अर्थशास्त्र की रचना की थी। अर्थशास्त्र का आशय और उद्देश्य बतलाते हुए चाणक्य ने लिखा है, "जन की वृत्ति (जीविका) ही अर्थ है; पृथ्वी, जिसपर मनुष्य रहता है, वह भी अर्थ है; वह शास्त्र जो (जनसहित) पृथ्वी को प्राप्त करने तथा उसे धारण करने के उपाय बतलाता है, अर्थशास्त्र है[1]"। अर्थशास्त्र के उद्देश्य को समझने के लिए जन और पृथ्वी से उस समय क्या तात्पर्य था यह समझ लेना आवश्यक है। एक जनपद की भूमि को पृथ्वी कहा जाता था, इसके विपरीत

---

१. अर्थशास्त्र १५।१।



माणिभद्र यक्ष
पद्मावती (पृष्ठ ३२३)



माणिभद्र यक्ष (पृष्ठ-भाग)
(पृष्ठ ३२३)



कल्पवृक्ष, बेसनगर (पृष्ठ ३२८)

उससे विस्तृत भूप्रदेश या समस्त देश के लिए सर्वभूमि शब्द था। पृथ्वी का राजा पार्थिव कहा जाता था तथा सर्वभूमि का राजा सार्वभौम। अपने जनपद से आगे बढ़कर जो राजा अनेक जनपदों तक अपने राज्य का विस्तार करता था वह साम्राज्य की पदवी का अधिकारी होता था, और जो उसके अधिकतम क्षेत्र का आधिपत्य प्राप्त कर लेता था वह सार्वभौम कहा जाता था[1]। कौटिल्य ने अपने पूर्वाचार्यों में मनु, बृहस्पति और उशना तक की गणना की है, जिनने उसके पहले अर्थशास्त्र के सिद्धांतों का निरूपण किया था। अतः यह कहा जा सकता है कि ठेठ प्रारंभिक वैदिक युग से ही यह प्रयास प्रारंभ हो गया था कि जनों के संगठनों तथा उनके जनपदों (कौटिल्य की पृथ्वी) को एक राज्य के सूत्र में बाँधकर उसे धारण करने के शास्त्र को व्यावहारिक रूप दिया जाए।

इस युग का राजनैतिक और शास्त्रीय तंत्र समझने के लिए यह आवश्यक है कि उन विविध इकाइयों के रूप को समझा जाए जो इस युग में पूर्णतः प्रतिष्ठित हो चुकी थीं और 'पृथ्वी' अर्थात् जनपदों में बसी हुई थीं। उन्हें प्राप्त और धारण करनेवाले सार्वभौम केन्द्रीय तंत्र और उनके इन इकाइयों से, उन्हें धारण करते रहने के लिए, स्थापित संबंध का विवेचन इस युग की राजनीति की पूरी तसवीर प्रस्तुत कर सकता है।

साम्राज्य तंत्र

पिछले पृष्ठों में चन्द्रगुप्तकालीन भारत और अशोक के विषय में लिखते समय उस युग के साम्राज्य शासन की बहुत कुछ झाँकी आ चुकी है। उसके विषय में कुछ और ज्ञातव्य बातें यहाँ देना आवश्यक है जिससे कि उसका रूप स्पष्ट हो सके।

सम्राट, राजा या स्वामी

इस युग के साहित्य में एक जनपद की भूमि को पृथ्वी कहा जाता था। कलिंग से सौवीर तक समस्त देश को महापृथ्वी या सर्वभूमि के नाम से संबोधित किया जाता था। पृथ्वी या जनपद का स्वामी राजा होता था, चाहे वह राजा एक हो अथवा गणतंत्र की पद्धति के अनुसार सैकड़ों राजाओं का समूह हो। अपने जनपद से बाहर राज्य बढ़ानेवाले 'साम्राज्य' और सार्वभौम का उल्लेख ऊपर हो चुका है। 'स्वामी' शब्द प्रारंभ में राजा के लिए प्रयुक्त होता था। आगे जैसे-जैसे सार्वभौम साम्राज्य दृढ़तर होते गये उनका रूप बदलता गया और जानपदीय राजाओं अथवा स्वामियों को अपने में पूर्णतः विलीन कर लेने की प्रवृत्ति भी बढ़ती गयी। इस युग की मूल राजनैतिक चेतना सार्वभौम राज्य की स्थापना थी, जिसके लिए अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र के पारंगत महामात्य और राजा निरंतर प्रयासशील रहते थे।

इस युग के पूर्व इन जनपदों का तथा साम्राज्यों का संबंध व्यवहार में किस प्रकार का था यह निश्चित रूप से कह सकना संभव नहीं, परन्तु प्राङ्मौर्य साहित्य में तथा मौर्यों के समय में जिस स्थिति की सूचना मिलती है उससे ज्ञात होता है कि मौर्य साम्राज्य स्थानीय जनपदों के संघों के रूप में था, जिसमें साम्राज्य और स्थानीय संस्थाओं के अधिकार बँटे हुए थे और साम्राज्य का निर्देश सर्वोपरि था।

---

१. डॉ० वासुदेवशरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ २८९।

सम्राट या राजा का कर्त्तव्य जनता को 'सौराज्य' देना था। राजा के अभाव में समाज में मत्स्यन्याय चलता था; अर्थात् बलवान दुर्बल को खा जाता था। इस युग की मान्यता यह थी कि इस मत्स्यन्याय को रोकने के लिए ही जन या गण ने राजा का वरण किया और उसे सबल बनाने के लिए उपज का छठा भाग देना स्वीकार किया। जातकों में इस अनुबंधप्रसूत राज्यव्यवस्था का उल्लेख मिलता है और चाणक्य भी यही मानता है। भिक्षु आर्यदेव ने एक दम्भी राजा की यह कहकर भर्त्सना की थी, 'हे राजा ! तेरे दम्भ का क्या मूल्य है, तू केवलमात्र गण का नौकर है और वेतन के रूप में उपज का छठा भाग प्राप्त करता है'। राजसत्ता की दैवी उत्पत्ति का सिद्धांत कुछ क्षेत्रों के मस्तिष्क में होगा, शास्त्रकार ने उसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया था। व्यवहार में भी इस युग के अधिकांश सार्वभौम सम्राट या राजा निरंकुश नहीं थे।

मंत्रिपरिषद

सबसे बड़ा अंकुश मंत्रिपरिषद का था। इस परिषद का राजतंत्र में प्रमुख स्थान था। अशोक के शिलालेखों से इस मंत्रिपरिषद के अस्तित्व और उनके कार्यों पर प्रकाश पड़ता है। इस मंत्रिपरिषद का प्रधान महामंत्री होता था, जो सम्राट के समान ही महत्त्वपूर्ण होता था। इस युग में सम्राटों और राजाओं के समान ही अनुश्रुति ने अनेक महामंत्रियों के नाम को सुरक्षित रखा है। चंडप्रद्योत के महामंत्री भरत रोहक, उदयन के यौगंधरायण, पालक के आचार्य पिशुन, अंशुमान के घोटमुख, नंद का कल्पक, चंद्रगुप्त मौर्य और बिंदुसार के चाणक्य, अशोक के राधगुप्त, अजातशत्रु के वर्षकार, विडूडभ के दीर्घचारायण, परन्तप के कर्णिक भारद्वाज महामंत्रियों का उल्लेख मिलता है।

महामंत्री और मंत्रिपरिषद के रूप में इस युग की राज्यसंस्था में ब्राह्मण और क्षत्रिय का पूर्ण समन्वय हुआ दिखाई देता है। कौटिल्य का कहना है कि 'जिस क्षत्र को ब्राह्मण का समर्थन प्राप्त है, अन्य मंत्रियों के परामर्श का लाभ प्राप्त है और जो शास्त्रों का ईमानदारी से पालन करता है वह अजेय बन जाता है तथा बिना शस्त्रों के भी अनेक प्रदेश जीत लेता है'[1]। इस सूत्र का 'ब्राह्मण' महामंत्री है। राजा और ब्राह्मण की संधि से राज्यशासन चल सकता था। ब्राह्मण जन का प्रतिनिधि था। अतएव प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य में राजा को महामंत्री का परामर्श आवश्यक रखा गया था। यद्यपि इस युग की अनुश्रुति में 'आर्यब्राह्मण' शब्द महामंत्री के लिए प्रयोग किया जाता था और महामंत्री ब्राह्मण होते भी थे, परन्तु व्यवहार में उसका अर्थ प्रजा से ही था। ऐन्द्र महाभिषेक में राजा की शपथ यही सूचित करती है। अभिषेक में राजा कहता था, 'जिस रात्रि में मेरा जन्म हुआ है और जिस रात्रि में मेरी मृत्यु होगी, उन दोनों के बीच में जो मेरी संतति, धन, आयुक्त और यश है, वह सब नष्ट हो जाए, यदि मैं प्रजा से द्रोह करूँ'। हम देखते हैं कि इस युग में व्यवहार में भी राजा प्रजा के प्रतिनिधि आर्यब्राह्मण (महामंत्री) और मंत्रि-

१. अर्थशास्त्र १।९।

परिषद से बँधा हुआ था। महामंत्री और मंत्रियों की परिषद की स्वीकृति के बिना सम्राट की आज्ञाएँ कार्यान्वित करना संभव नहीं था। अपनी मंत्रिपरिषद की इच्छा के विरुद्ध अशोक अपने अन्तिम दिनों में दान न कर सके थे, यह पहले लिखा जा चुका है। मंत्रिपरिषद में तीन या चार सदस्य होते थे। अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और गोपनीय विषयों की मंत्रणा केवल महामंत्री से की जाती थी और शेष अन्य विषयों के लिए मंत्रिपरिषद की सम्मति आवश्यक होती थी। कौटिल्य ने शासनतंत्र चलाने के लिए मंत्री और परिषद का अस्तित्व आवश्यक माना है। इस मंत्रिपरिषद के सदस्य पुरोहित, सेनापति तथा युवराज भी होते थे।

जनपद

एक विशेष भौगोलिक सीमा में बस जानेवाले जनों के कुलों के समूह, जो एक समान संस्कृति और शील अर्जित कर लेते थे, जनपद कहे जाते थे। इसकी सीमा में ग्रामसमुदाय तथा नगर सम्मिलित होते थे। नगर जनपद की राजधानी होता था। इस प्रकार अपनी 'पृथ्वी' से संबंधित जानपदजन, अपनी आन्तरिक शासनव्यवस्था, नियम, चरित्र तथा आचारों का निर्माण कर चुके थे। इन जनपदों के व्यवहारों (नियमों) तथा चरित्रों को शासन द्वारा मान्यता प्राप्त थी। व्यवहार के चार पदों में कौटिल्य ने धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजशासन का उल्लेख किया है। इनमें धर्म से तात्पर्य शास्त्रों के नियमों से था। धर्म से अधिक महत्त्व व्यवहार का था जो पुराने समय से स्थापित हो चुके हैं। चरित्र का आशय उन नियमों से था जिनका विकास और निर्धारण जनपदों में होता था। राजशासन सर्वोपरि था, परन्तु वह जनपदों के इन चरित्रों को राष्ट्र की व्यापक नीति के विरुद्ध होने की दशा में ही निरस्त कर सकता था। अर्थशास्त्र में यह भी विधान है कि राजा देश, ग्राम, जाति और कुलों के संघातों (समूहों) के धर्मव्यवहार और चरित्रसंस्थान को निबंध-पुस्तकों में लिखवाए। इससे ज्ञात होता है कि इन संघातों के अपने धर्म और व्यवहार, अर्थात् आपसी व्यवहार और समाजव्यवस्था के नियम होते थे, जिन्हें राजा स्वीकृत करता था। जनपदों की निन्दा करना भी अर्थशास्त्र में अपराध माना गया है, जिसके लिए वाक्पारूष्य का दावा हो सकता था। इससे जनपद की एक इकाई के रूप में कल्पना स्पष्ट हो जाती है। अपने आन्तरिक संगठन में प्रत्येक जनपदों की शासनव्यवस्था राजतंत्र अथवा गणतंत्र के आधार पर होती थी। प्रत्येक जनपद में, चाहे वह राजाधीन हो या गणाधीन, उसकी एक सभा और परिषद होती थी। एक जनपद के निवासियों में आत्मीयता का बोधक इस युग का 'सजनपद' शब्द है। एक जनपद के निवासी 'सजनपद' थे, उनमें आत्मीयता का भाव यह शब्द व्यक्त करता है। एक जनपद की सीमाओं के भीतर अवान्तर भेद और स्थानीय भक्ति होते हुए भी समग्र जनपद की दृष्टि से वहाँ के सब निवासी परस्पर सजनपद कहलाते थे[1]। जनपद अपनी-अपनी रक्षा का भी प्रबंध करता था। उसकी राजधानी में दुर्ग भी होता था। जनपद पर जब कोई आकस्मिक विपत्ति आती थी तो सभापाल अधिकारी सान्नाहिकी भेरी बजाकर सब लोगों को युद्ध के लिए तैयार होने की सूचना देते थे और नागरिक लोग विमर्श के लिए सभाभवन में एकत्र हो जाते थे। दुर्ग

१. डॉ० वासुदेवशरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ४२२।

की रक्षा का प्रबंध इस प्रकार का रखा जाता था कि न केवल पुरुष, बल्कि स्त्रियाँ भी युद्ध कर सकें[1]।

जीविका के साधनों को इस युग में जानपदीयवृत्ति कहा गया है। जानपदीय जीवन के लिए शिल्पों की आवश्यकता का अनुभव किया जारहा था। शास्त्रों के ज्ञान के समान ही जानपदीय शिल्पों में निपुण होना प्रतिष्ठा का कारण समझा जाता था। शिल्पों में निपुणता प्राप्त करने की शिक्षा को जानपदीय शिक्षा कहते थे। इस जानपदीय शिक्षा का प्रबंध ग्रामों-ग्रामों में फैले हुए वैदिक शास्त्रीय शिक्षा के 'चरणों' में न होकर शिल्पियों की श्रेणियों में किया जाता था, यह उल्लेख अन्यत्र किया गया है।

इस युग में इन जनपदों का निवासी 'जानपदजन' साम्राज्य की प्रजा का पर्याय बन गया था। उसका समादर भी राष्ट्र की दृष्टि में बहुत अधिक था। अशोक ने विहार-यात्राएँ बंद करके धर्मयात्राएँ प्रारंभ की थीं। इन धर्मयात्राओं के शुभ फलों में श्रमणों और ब्राह्मणों के दर्शन, दान, वयोवृद्धों के दर्शन और धर्म के उपदेश तथा धर्म की जिज्ञासा के साथ जानपदजन का दर्शन भी था[2]। इन्हीं जानपदजन के हित-सुख के लिए राजुकों को नियुक्त किया गया था और वे राजुक बिना किसी भय के उत्साह के साथ मन लगाकर कर्त्तव्य कर सकें, इसलिए उनके हाथ में न्याय के साथ व्यवहार करने और दण्ड देने के अधिकार सौंप दिये गये थे।

इस प्रकार के सुसंगठित जनपदों को सार्वभौम साम्राज्य के अन्तर्गत इस प्रकार सम्मिलित किया गया था कि उनकी निजी विशेषताएँ नष्ट न हों और उनकी समस्त शक्तियाँ राष्ट्र की समृद्धि और दृढ़ता की ओर अग्रसर की जा सकें। जनपदों अथवा जनपद-चक्रों के अनुशासन के लिए महामात्य नियुक्त होते थे। विशेष महत्त्व के जनपदों पर राजकुमारों की कुमारामात्य के रूप में नियुक्ति होती थी। अर्थशास्त्र में प्रत्येक जनपद के लिए समाहर्ता नामक अधिकारी की नियुक्ति का विधान है। एक-एक ग्राम में ग्रामिक नाम का अधिकारी था, दस ग्रामों अथवा ग्राम छोटे होने की दशा में बीस या चालीस ग्रामों पर एक गोप नियुक्त होता था, जो समाहर्ता के अधीन रहता था।

केन्द्रीय अधिकारी

केन्द्र में शासनकार्य चलाने के लिए विविध विभागों के आमात्यों तथा अधिकारियों का ताना-बाना पुरा हुआ था और उनके निश्चित कार्य थे। महामंत्री और पुरोहित इन सब-पर नियंत्रण रखते थे, उनका स्थान राजा के पश्चात् ही था। इनके अलावा अनेक अन्य महामात्यों की गणना अर्थशास्त्र में दी गयी है और उनके कार्य भी बताए गये हैं।

प्रान्तीय शासन के संबंध में कुमारामात्य, युक्त, राजुक आदि अधिकारियों का उल्लेख पहले हो चुका है। प्रान्तीय राजधानियों में ये अधिकारी बहुत सीमा तक केन्द्र से स्वतंत्र थे, ऐसा ज्ञात होता है। इनके अधीन भी केन्द्र के समान ही कुछ परिषदें थीं, जिनकी सम्मति लेना इनके लिए आवश्यक था।

---

१. डॉ० वासुदेवशरण, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ४३१।

२. अशोक की धर्मलिपियाँ (अष्टम-प्रधान शिलालेख), पृष्ठ ८३।

जनों के समवाय या संगठन

राज्य (अर्थात् राजा, महामंत्री, मंत्रिपरिषद, विभिन्न अमात्यादि) जिस जन को धारण करते थे वह अनेक रूप में संगठित था। इस युग के बहुत पहले ही वह व्यक्ति और कुल विस्तृत भौगोलिक तथा राजनैतिक संगठनों में बँध चुका था। भौगोलिक रूप में मूल इकाई जनपद थी और राजनैतिक एवं आर्थिक रूप से इन जनपदों में निवास करने-वाले जानपदजन निगम, श्रेणी, पूग, व्रात आदि समवायों में संगठित थे।

पौर या नगरसभा

जनपदों की राजधानियों के नगरों अथवा केन्द्रीय राजधानी के प्रबंध के लिए इस युग में पौर अथवा नगरसभाओं का संगठन दिखाई देता है। व्यापार और समृद्धि की वृद्धि के साथ बड़े-बड़े नगरों का बन जाना अवश्यम्भावी था। इन नगरों में शिल्पियों की अनेक श्रेणियाँ बसती थीं। व्यापारियों के समवाय निगम नाम से संगठित हो गये थे। इन सब की व्यवस्था के लिए उस युग की प्रणाली के अनुसार राज्यपक्ष और जनपक्ष के संयोग से इनका अपना शासनतंत्र खड़ा हो जाना स्वाभाविक था। पाटलिपुत्र के प्रबंध के लिए तीस व्यक्तियों की जिस समिति का उल्लेख पहले हो चुका है वह सम्भवतः यही पौर सभा थी। नगर के निवासी सामूहिक रूप से पौरजानपद कहे जाते थे और उनकी प्रतिनिधि संस्था, पौरसभा अथवा नगरसभा थी। इन सभाओं में विभिन्न श्रेणियों, निगमों तथा वर्गों के प्रतिनिधि निर्वाचित अथवा नियुक्त होते थे। अभिवादन के नियमों का उल्लेख करते हुए कौटिल्य ने लिखा है कि शूद्र भी यदि भूतपूर्व पौर (पूर्वः पौरः) हो तो उसे खड़े होकर अभिवादन करना चाहिए। जब भूतपूर्व पौर शूद्र के सम्मान की यह व्यवस्था थी तब पौर पद पर कार्य करनेवाले व्यक्ति की स्थिति का अनुमान किया जा सकता है। राजव्यवहार में भी यह पौरसभा अत्यंत प्रभावशाली थी। पहले यह देखा जा चुका है कि तक्षशिला के विद्रोह में पौरजन ही पुर की ओर से बोले थे और इन्हीं पौरजनों को कुणाल को अपदस्थ करने का आदेश भेजा गया था। राज्य को विशेष रूप से धन की आवश्यकता पड़ने पर इन्हीं पौरजनों से याचना करना पड़ती थी। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में लिखा है, "समाहर्ता धन एकत्रित करने का प्रयोजन बतलाकर पौरजनों से याचना करें और राजा स्वयं उनसे धन माँगे"। दुर्भिक्ष, आक्रमण आदि से हानि होने की दशा में पौरसभा ही राजा से कर की मुक्ति की याचना करती थी। चाणक्य ने लिखा है, "राजा पौरजनों की याचना पर कर का परिहार कर दे या कुछ कमी कर दे; क्योंकि ऐसा करना कोषवृद्धि का ही कारण होता है। परन्तु ऐसे अनुग्रह और परिहार न करे जिनसे कोष का नाश हो; क्योंकि कोष कम हो जाने पर राजा पौरजनों को ही सताता है"।

गणराज्य

जो जनपद एकराज, अर्थात् राजतंत्र के अधीन थे उनके आन्तरिक शासन का रूप हम देख चुके हैं। इस युग में अनेक जनपद ऐसे थे जहाँ का शासन गणतंत्र प्रणाली का था। यूनानी लेखकों के उल्लेखों से उत्तर-पश्चिम में क्षुद्रक, मालव, शिवि, वसति, आग्रीत आदि गणसंघों के अस्तित्व का पता चलता है। वृजि या वज्जि गणसंघ का उल्लेख पहले हो चुका है। इस युग के प्रारंभ में गणतंत्र शासन बहुत लोकप्रिय था। साम्राज्य-स्थापना की भावना

से गणतंत्र का मेल बिलकुल नहीं खाता था। इस कारण हम देखते हैं कि इस युग के प्रारंभ से ही साम्राज्यों के प्रमुख केन्द्र मगध से गणसंघों की सत्ता को निर्मूल करने का प्रयास किया गया और मौर्यों के समय तक उदीच्य, अर्थात् पंजाब में इनका अस्तित्व शेष रह गया था।

एकराज शासन पद्धति में एक व्यक्ति में ऐश्वर्य या प्रभुता केन्द्रित रहती थी, परन्तु गणराज्यों में वह सम्पूर्ण गण में निहित थी। प्रत्येक कुल का प्रतिनिधि राजा की पदवी धारण करता था और उसका यथाविधि अभिषेक भी होता था। लिच्छवियों के ७,७०७ कुल थे। इस प्रकार उनकी गणसभा में इतने ही 'राजा' थे। इनके अभिषेक के लिए वैशाली में मंगलपुष्करणी नामक एक विशेष जलकुण्ड था। कुल के अभिषिक्त ज्येष्ठ की मृत्यु हो जाने पर उसका पुत्र राजा बनाया जाता था। इन राजाओं की सभा द्वारा किये गये निर्णय सर्वमान्य होते थे। प्रत्येक गण का अपना अंक और लक्षण होता था। अंक वह नाम या वाक्य था, जो मुद्रा आदि पर लिखा जाता था और लक्षण वह चिह्न था जो गणसंघ अपनी मुद्रा, सिक्के या ध्वजा आदि के लिए चुन लेता था।

इन संघों की शक्ति अपरिमेय थी। अजातशत्रु ने जब वृजि गणराज्य को अपने साम्राज्य में मिलाना चाहा तो उसने अपने प्रधानमंत्री को गौतम बुद्ध के पास इस विषय में सम्मति लेने के लिए भेजा। उसकी बात सुनकर बुद्ध ने आनन्द से कहा, "आनन्द क्या तुम जानते हो कि वैज्जन लोग अपनी राजनैतिक सभाएँ करते हैं" ?

आनन्द ने उत्तर दिया—"भगवन् मैंने ऐसा ही सुना है"। इसपर बुद्ध ने कहा—"जब तक वैज्जन लोग इसी प्रकार अपनी सभाएँ करते रहेंगे, तब तक उनके अवनत होने का कोई डर नहीं है, निरन्तर वे समृद्ध होते जाएँगे"।

इसी बातचीत में भगवान बुद्ध ने आगे कहा, "आनन्द, जब तक वैज्जन लोग मिलकर संगठन में सब काम करेंगे, जब तक वे प्राचीन रीति-रिवाजों का अपने संघ में पालन करेंगे, जब तक कि वे किसी बात को पहले निश्चय किये बिना न करेंगे और निश्चित की हुई बातों का उल्लंघन न करेंगे, जब तक कि वे वैज्जनों की प्राचीनकाल से चली आती राजनैतिक संस्थाओं के अनुसार काम करते चले जाएँगे, जब तक कि वे संघ के वृद्ध पुरुषों की सम्मत्ति का पालन करते रहेंगे, तब तक वैज्जन लोगों के ह्रास का कोई डर नहीं, वे निरन्तर समृद्धि ही लाभ करते जाएँगे"।

अजातशत्रु ने वज्जि संघ को आक्रमण द्वारा पराजित करना असम्भव समझकर उनमें फूट डालने का प्रयास किया। इस कूटनीति में सफल होने के पश्चात् ही वह इस गणतंत्र को जीत सका था। साम्राज्य निर्माण का मंत्र देनेवाले कौटिल्य ने भी इन गणों को नष्ट करने का उपाय उनमें फूट डालना ही बतलाया है। उसने लिखा है कि राजा को चाहिए कि सभी संघों में अपने गुप्तचर रखे, जो उनके पारस्परिक द्वेष, ईर्ष्या, कलह आदि के कारणों का पता लगाकर उनसे लाभ उठाएँ। और भी अनेक उपाय चाणक्य ने इन गणों में फूट डालने के बतलाए हैं।

इस युग में राज्यव्यवस्था का समाज के विभिन्न अंगों के साथ अत्यन्त व्यापक संबंध दिखाई देता है। ऊपर से देखने पर ज्ञात यह होता है कि कोई क्षेत्र ऐसा नहीं कि जहाँ

राज्य का हस्तक्षेप न हो। नियमों के स्रोत भिन्न-भिन्न थे। वेद, शास्त्र, चरित्र तथा परिस्थितियों की आवश्यकता के अनुसार राज्यादेश जनसमाज द्वारा पालनीय नियमों का निर्धारण करते थे। ये नियम केवल राजकीय शान्ति, रक्षा तथा विविध करों की वसूली से ही सम्बन्धित नहीं थे, वरन् उनका व्यापक क्षेत्र व्यक्तिगत, कुलगत तथा विभिन्न समवायों के पारस्परिक सम्बन्धों तक विस्तृत था। पाश्चात्य विचारकों को भारत की प्राचीन शासनव्यवस्था और न्यायदानव्यवस्था को समझने में सदा से कठिनाई यह रही है कि यूनान और रोम में विकसित होनेवाले शासनतंत्र तथा न्यायतंत्र अपने क्षेत्र में अत्यन्त सीमित रहे हैं। जब भारत में अंग्रेजों का साम्राज्य हुआ और उन्हें कुछ विषयों में प्राचीन धर्मशास्त्र के सिद्धांतों को देखना पड़ा, तब उनके लिए सबसे बड़ी उलझन इस बात से होती थी कि इन धर्मशास्त्रों में नीति, सम्प्रदाय और राजनियमों को एक में मिला दिया गया है[1]।

परन्तु वास्तव में भारतीय राज्यव्यवस्था का प्रारम्भ से ही प्रधान कर्त्तव्य "धर्म" का पालन करना और कराना रहा है। यहाँ धर्म से आशय मतमतान्तर, सम्प्रदाय अथवा उपासना पद्धति से नहीं है। धर्म से आशय है विश्व तथा जगत् को प्रतिष्ठित रखनेवाले अथवा उनको धारण करनेवाले नियम। व्यक्ति अथवा संघ या समूह कोई यदि ऐसा काम करे, जिससे कुल, जनपद, अथवा राज्य में विशृंखलता फैले तो उसे रोकने का कर्त्तव्य राज्य का माना गया है। इस दृष्टि से व्यक्ति को क्या करणीय है और क्या अकरणीय है इसका निर्धारण भी नियमों, श्रुति अर्थात् वेद, शास्त्र, चरित्र यानी विभिन्न समुदायों द्वारा निर्धारित आचार तथा राज्यशासन द्वारा होता था।

इस युग के एक दृष्टांत से यह बात स्पष्ट हो जाती है। यदि कोई स्त्री चोरी का अपराध कर चुकी हो और वह भिक्षुणी होना चाहती थी तो उसे राजा से, गण से, पूग से और श्रेणी से अनुशासन अथवा आज्ञा प्राप्त करना आवश्यक था। जिस श्रेणी, पूग या राजा के अधिकारक्षेत्र में वह होती थी उसकी अनुमति के बिना वह भिक्षुणी भी नहीं हो सकती थी। राज्य की अधिकारसीमा में तत्त्वचिंतन, समाज, व्यापार, व्यवसाय सब आते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राज्यशासन के इस व्यापक हस्तक्षेप का पूर्णरूप दिखाई देता है। राज्य तत्त्वचिंतन और आत्मचिंतन को प्रोत्साहन देना चाहता है। साथ ही वह यह भी नियन्त्रित करना चाहता है कि किस वय में और किन परिस्थितियों में कोई व्यक्ति संन्यास ले सकता है। कौटिल्य का राज्यतंत्र यह देखने के लिए भी सतर्क है कि पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-बहिन, गुरु-शिष्य एक दूसरे के प्रति विश्वसनीय रहें तथा निर्धारित व्यवहार करें। कौटिल्य का राज्यतंत्र यह निर्देश तक करता है कि पत्नी अथवा प्रेयसी का मन जीतने के लिए जादू-टोने का प्रयोग किस सीमा तक तथा किन परिस्थितियों में किया जाए और कब और किन परिस्थितियों में वह राज्य द्वारा दण्डनीय होगा। वह विवाह, विवाहमोक्ष, स्त्रियों की शीलरक्षा, यहाँ तक कि वेश्याओं तक के लिए राजनियमों का निर्धारण करता है। आमोद-प्रमोद तथा द्यूतक्रीड़ा के

---

१. श्री बालुसुगुरुलिंग स्वामी वि० बालुसु रामलक्षम् इ० ला० रि०, २२, मद्रास ३९८।

लिए भी राजनियम हैं। मद्यपान किस प्रकार किया जाए और कब किया जाए, मांस कब बेचा जाए या न बेचा जाए इसका नियंत्रण भी राज्य करता है। वैद्य, सुनार, धोबी, आदि किस प्रकार कार्य करें, इसकी व्यवस्था भी राज्य करता है। तात्पर्य यह है कि राजा समाज के सभी क्षेत्रों में राजधर्म का पालन कराने और स्वयं करने के लिए उत्तरदायी था।

न्यायालय की वरिष्ठता

न्यायालय और न्यायव्यवस्था अपने पूर्व और परिपक्व रूप में इस युग में दिखाई दी। केवल राजनियमों द्वारा वर्जित कृत्यों के लिए दण्ड देने के हेतु ही न्यायव्यवस्था नहीं थी, वरन् आपसी अनुबन्ध तथा दायित्वों के निर्णय भी ये न्यायालय करते थे। चुल्लवग्ग में जेतवन के विक्रय के सम्बन्ध में जो कहानी दी गयी है वह स्पष्ट करती है कि गौतम बुद्ध के समय में ही न्यायालयों की और व्यावहारिक अमात्य की पूर्ण प्रतिष्ठा थी। श्रावस्ती के महाश्रेष्ठी अनाथपिण्डक तथा वहाँ के राजकुमार जेत के बीच राजकुमार के जेतवन नामक बगीचे के क्रय के सम्बन्ध में झगड़ा चला था। गौतम बुद्ध के चातुर्मास के लिए अनाथपिण्डक इस जेतवन को खरीदना चाहता था। अनाथपिण्डक ने जेत से कहा, "आर्यपुत्र, मुझे यह बगीचा मठ बनाने के लिए दे दो"। जेत ने उत्तर दिया "करोड़ों सिक्के बिछाकर लेने से भी बगीचा नहीं दिया जा सकता"। अनाथपिण्डक ने तुरन्त ही उत्तर दिया, "मैंने इस कीमत पर खरीदा"। इस बातचीत से विवाद यह उत्पन्न हुआ कि राजकुमार ने जेतवन बेचने का वचन दिया अथवा नहीं, और यह विवाद व्यावहारिक अमात्य को निर्णय के लिए प्रस्तुत किया गया, जिसने निर्णय दिया कि—क्योंकि जेत ने बगीचे के दाम का उल्लेख किया था इसलिए वह बिक गया। इस निर्णय के रूप और उसके औचित्य पर विचार करने का यह स्थान नहीं, आशय केवल यह है कि राजकुमारों और महाश्रेष्ठियों के विवादों का निर्णय करने की क्षमता रखनेवाले न्यायाधिकरणों का अस्तित्व इस युग में था। प्राचीन भारत के राजनियमों के रूप तथा न्यायालयों के संगठन पर हम अगले परिच्छेद में प्रकाश डालेंगे।

शिक्षाव्यवस्था

पूर्व परम्परा

इस प्रदेश में प्रचलित व्यापक शिक्षाव्यवस्था का उल्लेख पिछले अध्याय में किया गया है, परन्तु उस काल की सूचनाएँ सीमित हैं। प्रस्तुत काल में पाणिनि की अष्टाध्यायी, चाणक्य के अर्थशास्त्र तथा जातकसाहित्य से इस संबंध की विस्तृत सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। इस संबंध में यह नहीं मानना चाहिए कि यह व्यापक शिक्षाव्यवस्था पाणिनि, चाणक्य अथवा जातकों के समय में प्रचलित हुई। उसका जो भव्य चित्र इन सूत्रों से उपलब्ध होता है, उसके पीछे सहस्राब्दियों की परम्परा थी, यह स्पष्ट दिखाई देता है। इसके संकेत पिछले अध्याय में बहुधा यथाप्रसंग किये जा चुके हैं। उसी पूर्व परम्परा का परम विकास प्रस्तुत काल की व्यापक वरिष्ठ शिक्षाव्यवस्था में दिखाई देता है। वैदिकयुग की भाँति ही प्रस्तुत काल की शिक्षाव्यवस्था भी स्वयं में पूर्ण एवं आत्मनिर्भर है। वह लोकव्यवस्था है और इस काल के तेजस्वी समाज की भाँति ही वह राज्य पर निर्भर नहीं है। इस काल की यह सर्वांगपूर्ण एवं व्यापक भास्वर शिक्षाव्यवस्था उस मानवसमूह की ऊर्ध्वमुखी प्रवृत्तियों के निर्माण में सहायक हुई, जिनने विश्व की आँखें चौंधिया देनेवाले इतिहास का निर्माण किया। छात्रों की ज्ञानपिपासा, आचार्यों का तपस्वी जीवन, आचार्य और अन्तेवासी का वात्सल्य एवं श्रद्धा से सिक्त संबंध, शिक्षा का लक्ष्य जीवन को सर्वांगपूर्ण एवं उच्च चारित्र्य-युक्त बनाना आदि जहाँ इसकी सफलता के कारण थे वहाँ आचार्यवर्ग अपनी सूक्ष्म दृष्टि, असाधारण प्रतिभा, दृढ़ संकल्प और महान प्रयासों के विनियोजन द्वारा भारतवर्ष की उदार ज्ञानपरम्पराओं को निरन्तर विकसित करता हुआ आगे बढ़ा जा रहा था। यह प्रयास संगठित रूप से देशव्यापी था और उसकी प्रणालियाँ अविरल प्रवाहित हुई थीं। इसके फलितार्थ भी अद्भुत हुए थे तथा यास्क के शब्दों में धनुर्वेद, वास्तु, नृत्य, संगीत आदि जानपदी विद्याएँ प्राप्त करके राष्ट्र के पुरुष का निर्माण हो रहा था और प्राचीन एवं नवीन साहित्य के रूप में संग्रहीत अनेकविध ज्ञान की पारंगतता का अर्जन करके लोक के शीर्षस्थानीय भूयोविद्य विद्वान समाज में अवतरित हो रहे थे[1]। इन लोकोत्तर भूयोविद्यों से भी उच्चतर सर्वविद्य ब्रह्मा[2] या महाब्रह्मा थे[3] जिनने अपनी अलौकिक प्रतिभा ज्ञानयज्ञ में अर्पित कर दी थी। इन महाब्रह्मा से वह गौरव और सर्वोच्च सम्मान अभिन्न हो गया था, जिसके कारण तथागत बुद्ध जैसे नवीन धर्मों का प्रवर्त्तन करनेवाले

---

१. निरुक्त १।१।१६।

२. वही, १।१।३ तथा अष्टाध्यायी ५।४।१०५।

३. मातंगजातक ४।३७७, कुंडक कुच्छि जातक ३।२५४ तथा कस्सप जातक ६।२४२।

यह अनुभव करते थे कि विद्वत्ता की उस पराकोटि को प्राप्त करनेवाले देवर्षिनारद जै व्यक्तित्व पूर्व जन्म में उनसे अभिन्न थे।

विद्यारंभ

इस शिक्षापद्धति का प्रारंभ छोटे-छोटे बालकों से होता था जहाँ मुंडन संस्कार वे पश्चात् उन्हें आचार्य कौटिल्य के अनुसार ५ वर्ष की आयु में विद्यारम्भ कराय जाता था[1]। ये छोटे-छोटे विद्यार्थी हाथ में पलाश का दण्ड लिये उपाध्याय के पास अक्षरज्ञा प्राप्त करने के लिए जाते थे। इन्हें लिपि और संख्या (गणित) सिखाई जाती थी और इनको माणव अथवा दण्ड धारण करने के कारण दण्डमाणव कहा जाता था[3] इनकी माणव्यकक्षा में इन्हें आगामी अध्ययन के लिए तैयार किया जाता था[4]।

उपनयन

माणव्यकक्षा का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् आश्रमव्यवस्था में जिसका उल्ले किया गया है, बालक का वह उपनयन संस्कार होता था, और वह ब्रह्मचारी कहलात था। यहाँ से शिष्य का जीवनक्रम ही परिवर्तित हो जाता था। मन, वाणी और क से वह आचार्य के समीप पहुँच जाता था और उसकी अन्तेवासी संज्ञा होती थी[5]। आचा और छात्र के बीच मधुर विद्यासंबंध स्थापित होता था। वे परस्पर उपस्थानीय होते थे[6] अर्थात् शिष्य आचार्य के समीप आकर उसकी सेवा और अध्ययन करता था तथा आचा अन्तेवासी को अपने समीप लाकर शिक्षित बनाता था।

अन्तेवासी

अन्तेवासी बनने के लिए इतना ही पर्याप्त होता था कि छोटी आयु का छात्र होने व दशा में उसका पिता अथवा अभिभावक आचार्य से उसे उपनीत करने की प्रार्थना करता थ और वयस्क होने की स्थिति में छात्र स्वयं समित्पाणि होकर अर्थात् 'मैं आचार्य की सेव करके ज्ञानलाभ करना चाहता हूँ' इस मंगल आकांक्षा की अभिव्यक्ति हाथ में समिध काष्ठ वहन द्वारा करते हुए गुरु के समक्ष पहुँचता था। साधारणतया इसके मार्ग में गुर दक्षिणा बाधक नहीं होती थी। फिर भी कुछ संपन्न परिवार के छात्र गुरुदक्षिणा लेकर आचा के समीप जाते थे[7], कुछ अध्ययन समाप्त होने पर गुरुदक्षिणा देने का वचन देकर ज्ञा प्राप्त करते थे[8], कुछ आचार्य को सेवा करके संतुष्ट करते थे। इन अन्तेवासियों क

---

१. अर्थशास्त्र १।५।
२. वही।
३. अष्टाध्यायी ४।३।१३० तथा ६।२।६९।
४. वही, ४।२।४२।
५. वही, ४।३।१०४, १३०।
६. वही, ३।८।६९।
७. फॉस बॉल द्वारा संपादित जातक, खंड २, पृष्ठ २७७, ७८।
८. कॉवेल द्वारा संपादित जातक, खंड ५, पृष्ठ २४६।

एक संज्ञा वर्णी[1] थी, जो चार वर्ण के छात्रों की सूचक थी। बालिकाएँ भी उपनयन के पश्चात् अन्तेवासी बनती थीं, यह सूचना अष्टाध्यायी से प्राप्त होती है[2]। इनके निवास के लिए छत्रिशालाएँ[3] होती थीं, जिनमें रहते हुए ये आचार्य से उन सभी विषयों का अध्ययन करती थीं, जिन्हें बालक ग्रहण करते थे। इन अन्तेवासियों का मुख्य गुण शुश्रूषा[4] होता था, अर्थात् आचार्य से श्रवणीय ज्ञान सुनकर ये धारण करते थे। ब्रह्मचर्य जीवन में नियम और व्यवस्था का मुख्य स्थान था, परन्तु कुछ छात्र अपनी उच्छृंखल प्रवृत्ति के कारण कुख्यात हो जाते थे। बार-बार गुरुकुल बदलनेवाले अस्थिरमति छात्र को 'तीर्थकाक'[5] कहकर निन्दा की जाती थी और जो ब्रह्मचर्य काल समाप्त करने से पहले ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था, उसे 'खट्वारूढ़'[6] कहा जाता था।

आचार्य

प्रस्तुत काल की सम्पूर्ण शिक्षाव्यवस्था का भार विद्वान ब्राह्मण पर था। अन्तेवासी को अपने समीप रखकर शिक्षित करनेवाले आचार्य अनूचान[7] और प्रवचनीय[8] कहलाते थे। अध्यापन की क्षमता के अनुसार चार प्रकार के शिक्षकों के इस काल में उल्लेख मिलते हैं। आचार्य का स्थान सर्वोपरि था। इन्हें ही उपनयन कराने का अधिकार होता था। ये अन्तेवासी को अपने विद्यागर्भ में धारण करते थे[9] और इनके नाम के अनुसार अन्तेवासियों के तैत्तरीय, पाणिनीय आदि नाम पड़ते थे[10]। आचार्य के बाद दूसरा पद प्रवक्ता का था[11]। वेद और वेदांगों का अर्थसहित अध्यापन इनका कार्य था। छंद या वेद की शाखाओं को कण्ठ करनेवाले विद्वान श्रोत्रिय कहलाते थे[12]। इनका कार्य अपने कण्ठस्थ विषय छात्रों को कण्ठस्थ कराना होता था। लौकिक या वैज्ञानिक साहित्य का अध्ययन करानेवाले शिक्षक अध्यापक[13] कहलाते थे। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि आचार्य अनेक वैदिक विषयों के पारंगत भूयोविद्य विद्वान होते थे और दूसरे प्रकार के शिक्षक भी अपने-अपने विषयों के पारंगत होते थे। इनकी विद्वत्ता का सुयश दूर-दूर के ज्ञानपिपासुओं

---

१. अष्टाध्यायी ५।२।१३४।
२. वही, ४।१।६३।
३. वही, ६।२।८६।
४. वही, १।३।५७।
५. वही, २।१।४१।
६. वही, २।१।३६।
७. वही, ३।२।१०९।
८. वही, ३।४।६८।
९. अथर्ववेद ११।५।३।
१०. अष्टाध्यायी ६।२।१३६।
११. वही, २।१।६५।
१२. वही, ५।२।८४।
१३. वही, २।१।६५।

को अपनी ओर आकर्षित करता था। आचार्यों की भाँति स्त्री आचार्या भी होती थीं और आचार्यों के समान इन्हें भी उपनयन कराने का अधिकार होता था। इनसे पुरुष छात्र भी विद्या ग्रहण करके गौरवान्वित होते थे और आचार्या के नाम के अनुसार उनका चरण-सूचक नाम पड़ता था।

अध्यापकों में कुछ अपनी कठोरता के कारण दारुणाध्यापक या घोराध्यापक कहलाते थे और कुछ अपनी अध्यापन कुशलता के लिए प्रसिद्धि प्राप्त कर काष्ठाध्यापक[1], अद्भुताध्यापक, परमाध्यापक आदि नामों से विख्यात होते थे।

अध्ययनकाल

उपनयन के समय ही माणवक का अभिभावक अथवा स्वयं विद्यार्थी आचार्य से निवेदन कर देता था कि कितने समय के लिए उसे ब्रह्मचर्य धारण करना अभीप्ट है। यह समय उस विषय के अनुरूप होता था जिसका अध्ययन अभीष्ट होता था। इसके अनुसार पखवाड़े का, वर्ष का और अधिक वर्षों का ब्रह्मचर्य होता था। इसके अनुसार ये सांवत्सरिक, मासिक और अर्धमासिक ब्रह्मचारी कहलाते थे[2]। यह अवधि कभी अध्येतव्य विषय का संकेत भी करती थी। यह ब्रह्मचर्य आचार्य से एक प्रश्न पूछने का भी होता था। सामवेद की महानाम्नी ऋचाओं का अध्ययन शाक्वरी व्रत कहलाता था। प्राचीन रौरुकि ब्राह्मण में कहा गया था कि माताएँ अपने बच्चों को दूध पिलाते समय लोरी में कहा करती थीं कि तुम शाक्वरी व्रत के पारगामी बनो[3]। इन ऋचाओं का अध्ययन करने के लिए आचार्य के समीप आनेवाले छात्र महानाम्निक कहलाते थे। इसी प्रकार अग्निष्टोमिक, वाजपेयिक, राजसूयिक आदि ब्रह्मचारियों का नाम पड़ता था। साधारणतया अध्ययनकाल की समाप्ति ब्राह्मण की २५ वर्ष की आयु में होती थी। क्षत्रिय के लिए चाणक्य १६ वर्ष की आयु में गोदान संस्कार करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश की व्यवस्था करते हैं[4]। ऐसे उदाहरण भी कम नहीं होते थे जब अध्ययन करते हुए प्रौढ़ आयु और बुढ़ापा आजाता था तथा ज्ञानपिपासा अतृप्त ही रहती थी।

अध्ययन के विषय

प्रस्तुतकाल तक विशाल साहित्य का निर्माण हो चुका था। ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं का विकास हुआ था। उनके शिक्षक आचार्य लोक में विद्यामान थे। समाज के उच्च जीवनस्तर में इस ज्ञान की लोक को आवश्यकता थी और ज्ञानार्थी छात्र उन-उन विषयों के आचार्यों के समीप रहकर अध्ययन करते थे। वेद और उनके अंगों के अध्ययन का महत्त्व सर्वोपरि था। चाणक्य ने अध्ययनीय विषय वेद, आवीक्षिकी, वार्ता, दण्डनीति, सैनिक शिल्प से संबंधित हाथी, घोड़ा, रथ, शस्त्रास्त्र का ज्ञान और इतिहास बताए हैं[5]।

---

१. अप्टाध्यायी ८।१।६७।

२. वही, ५।१।९४।

३. गोभिल गृह्यसूत्र ३।२।७–९।

४. अर्थशास्त्र १।५।

५. वही।

इनमें वेद से तात्पर्य ऋक्, साम और यजुर्वेद यह त्रयी, तथा अथर्ववेद और इतिहासवेद से है। इसमें शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंदस्, ज्योतिष[1] तथा वेदों के ब्राह्मण एवं धर्मसूत्र आदि ग्रंथ आते हैं। आचार्य ने आयुर्वेद आदि वेदांगों का समाहार भी इसी के अंतर्गत किया है। विद्याध्ययन से धर्म और अधर्म का ज्ञान होता है, यह अचार्य का मत है[2]। आवीक्षिकी के अन्तर्गत सांख्य, योग और लोकायत दर्शनों का ज्ञान अभिप्रेत है[3]। कृषि, गोपालन और वाणिज्य का विज्ञान वार्ता का विषय है[4]। दण्डनीति शासनतंत्र का विज्ञान है। पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र का समाहार इतिहास के अन्तर्गत होता है[5]। पाणिनि द्वारा उल्लिखित छंदस्, ब्राह्मण, अनुब्राह्मण, कल्प, धर्म, व्याकरण, काव्य, नाटच, आख्यान[6], गाथा और श्लोक साहित्य भी अध्ययन का विषय बना था[7]। शिलाली आचार्य के वैदिक चरण में रचित नटसूत्र अध्ययन के विषय थे। परिव्राजकों के संबंध में पाराशर्य और कर्मन्द के भिक्षुसूत्र[8] इस काल में विद्यमान थे। इनका विकास भी वैदिक चरणों के अन्तर्गत हुआ था जहाँ इनके शिक्षण की भी व्यवस्था थी। भवन निर्माण की वास्तुविद्या भी शास्त्र के रूप में विकसित हुई थी और इसकी विधिपूर्वक शिक्षा दी जाती थी। प्रस्तुत काल के समाज ने जीवन के प्रत्येक पार्श्व में अभूतपूर्व उन्नति की थी, उसका सूक्ष्म अध्ययन किया गया था और इस अध्ययन के परिणामस्वरूप जीवनकला को विकसित किया गया था तथा इसका ज्ञान 'ग्रामे ग्रामे च काठकं' के अनुसार सर्वत्र प्रवाहित था।

प्रत्यक्ष अध्यापन

लेखनप्रणाली प्रस्तुत काल में विद्यमान थी, उसमें विकास भी हुआ था, यह साहित्य के प्रकरण में दिखाया गया है। इसके पश्चात् भी संपूर्ण शिक्षाक्रम मौखिक और क्रियात्मक था। भारतवर्ष में लिपि अपरिचित कभी नहीं रही, यह हमने पिछले दो अध्यायों में देखा है, परन्तु फिर भी ज्ञान को कंठस्थ रखने की प्रणाली प्रचलित रही। इसका कारण स्पष्ट है। हमारे देश का ज्ञान किसी विद्वान के पास इसी अपेक्षा से पहुँचता था कि वह उससे आगे अनेक विद्यार्थियों को प्राप्त होगा और अत्रुट रूप से सुरक्षित और विकसित होगा। मेधा का अभाव नहीं था। अतः अत्यन्त सुलभता से उसका प्रसार हो सके, छात्र की शंकाओं का निराकरण स्मृति की अलमारी में चिने हुए ज्ञानभंडार से तत्काल हो सके, इस हेतु मेधावी भूयोविद्य विद्वान उसे कण्ठस्थ रखते थे। आज भी, ढेरों

---

१. अर्थशास्त्र १।३।
२. रघुवंश १८।५० पर मल्लिनाथ द्वारा उद्धृत चाणक्य।
३. अर्थशास्त्र १।२।
४. वही, १।४।
५. वही, १।५।
६. अष्टाध्यायी ४।३।११०, १११।
७. वही, ३।२।३०।
८. वही, ४।३।११०।

छपा साहित्य और पाठ्यपुस्तकें होते हुए भी विश्वविद्यालयों में भाषणों द्वारा शिक्षण इस प्रणाली की उपादेयता सूचित करता है। पुस्तकप्रणाली व्याकरण आदि विषयों में कुछ उपयोग दे भी सकती थी, परन्तु जानपदी विद्याओं में तथा सामवेद, यजुर्वेद, आयुर्वेद, धनुर्वेद, आदि वेद एवं वेदांगों के अध्ययन में, जहाँ प्रत्यक्ष कर्माभ्यास ही सब कुछ था, उसका महत्त्व कुछ भी नहीं था। इसी कारण शिष्य में शुश्रूषु का और आचार्य में अनूचान का गुण होना अनिवार्य था। प्राचीन साहित्य में सुनने की इच्छा को जो महत्त्व दिया गया है, उसका अभिप्राय इस प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने की पद्धति का महत्त्व स्वीकार करना ही है। कौटिल्य ने वैदिक ज्ञान प्राप्त करने का अनुक्रम शुश्रूषा (आचार्य के वचन सुनने की तत्परता), श्रवण (कहे हुए वचन को सुनना), ग्रहण (सुने हुए वचन को समझना), धारण (स्मरण रखना), ऊहापोह (विमर्श करना), विज्ञान (प्रवचन का पूरी तरह ज्ञान प्राप्त करना) और तत्त्वाभिनिवेश (आचार्य के प्रवचन के गंभीर तत्त्वों को हृदयंगम करना) बताया है[1]। यह देखते हुए आचार्य के उपदेश को कंठस्थ करना मात्र धारण था। इस शिक्षणक्रम को समाप्त कर छात्र गोदान के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे और कुछ इन शिक्षा संस्थाओं में अर्जित ज्ञान का अनन्तर विकास करने के लिए पर्यटन करते थे एवं चरक कहलाते थे[2]। संभवतः इसी क्रम में आगे के काल में पतंजलि ने चरक संज्ञा धारण की थी और इसी परम्परा में अष्टाध्यायीकार पाणिनि ने विस्तृत पर्यटन करके शब्द-शास्त्र के तथ्यों का विशद ज्ञान प्राप्त किया था।

शिक्षा संस्थाएँ

शक्तिशाली भारत का ज्ञानयज्ञ जिन संस्थाओं द्वारा प्रस्तुत काल में चल रहा था, उनका सिंहावलोकन गौरवशाली इतिहास के मूल स्रोत का दर्शन कराता है। यहाँ यह कह देना प्रासंगिक है कि ये सभी शिक्षा संस्थाएँ आत्मनिर्भर थीं और इनकी लोकोपयोगिता सर्वविदित थी, अतः इन्हें जनता से स्वयंप्रेरित सम्मान और संरक्षण प्राप्त होता था। राज्य पर ये निर्भर नहीं थीं; परन्तु शासन इनका सम्मान करता था और राजनैतिक परिवर्तनों से निरपेक्ष इनकी रक्षा होती थी। हमारे इतिहास में ऋषियों के आश्रमों को जो रक्षणीयता और पवित्रता प्राप्त हुई है उसका कारण इन आश्रमों से प्रवाहित ज्ञानधारा की पुनीतता ही रही है। कौटिल्य भी इनके व्यवस्थापक विद्वानों को करमुक्त रखने की व्यवस्था देता है[3]। औद्योगिक शिक्षा निगम और श्रेणियों में चल रही थी और संपूर्ण देश में वैदिक चरणों के ज्ञानपीठों का जाल बिछा हुआ था। आगे वे बड़े-बड़े आश्रम थे जिनमें उच्चकोटि के पारोवर्यविद विद्वानों का समूह विद्यादान कर रहा था। इसी अनुक्रम में प्रस्तुत काल में तज्ञ तक्षकों की उज्ज्वल परम्परा ने वरिष्ठ शिल्प की पराकोटि का स्पर्श किया था। इन संस्थाओं का आगे वर्णन किया गया है।

---

१. अर्थशास्त्र १।५।

२. अष्टाध्यायी ५।१।११।

३. अर्थशास्त्र २।१ तथा १३।५।

औद्योगिक शिक्षण संस्थाएँ

शिक्षा संस्थाओं की व्यापकता थी। जहाँ तक उन व्यावसायिक शिल्पों का संबंध है जिनका शिक्षण पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष कर्माभ्यास पर निर्भर करता है, हमारे प्रदेश के निगम और श्रेणियों में दीपक से दीपक जल रहा था। यहाँ यह शंका करने का स्थान नहीं है कि यह व्यवस्थाहीन आनुवंशिक परम्परा थी। कौटिल्य भी वार्त्ता का अध्ययन औद्योगिक शालाओं में करने का राजा को उपदेश देता है[1]। नारद के अनुसार[2] शिक्षार्थी युवक अपने माता-पिता की अनुज्ञा से इन औद्योगिक शालाओं में प्रविष्ट होता था, वह अपने शिक्षक के समीप ही अन्तेवासी होकर रहता था और शिक्षक से पुत्र जैसा स्नेह प्राप्त करता था। उसे निश्चित अवधि तक अपने शिक्षक के पास रहना पड़ता था। शिक्षा समाप्त होने पर वह अपने शिक्षक को गुरुदक्षिणा से संतुष्ट कर चला जाता था अथवा उसी के नीचे परस्पर निश्चित हुए प्रतिबन्धों के अनुसार काम करता रह सकता था। अपनी-अपनी कलाओं में इन्हीं गुरु-शिष्यों की परम्पराओं ने वह लोकोत्तरता प्राप्त की थी जिसे देखकर उस काल के पश्चिम के देशों की थैलियाँ भारत पर बरसती थीं और जिससे अनुश्रुति की ६४ कलाओं का उद्भव हुआ था।

वैदिक चरण

पिछले अध्याय में वैदिकयुग की शिक्षाप्रणाली का उल्लेख करते हुए हमने वैदिक चरणों का तथा वैदिक साहित्य का वर्णन करते हुए संहिताओं की विविध शाखाओं का उल्लेख किया है, जिनमें से कुछ के अपने-अपने विशेषतायुक्त पाठ और ब्राह्मण आदि ग्रंथ उपलब्ध होते हैं। इन वैदिक चरणों के संबंध में प्रस्तुत काल के साहित्य में प्रचुर सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। ये चरण सुसंगठित शिक्षण संस्थाएँ थीं और इनकी परम्परा बहुत प्राचीन थी। वैदिक संहिताओं की मंत्रसामग्री का प्रथम उपदेश करनेवाले इनके संस्थापक आचार्य के नाम पर ये संस्थाएँ प्रसिद्ध हुई थीं[3]। उस छंदोग्रंथ का अध्ययन करने के लिए छात्र एकत्र होने लगे और उन्हीं में से आगे आचार्य प्रवक्ता, श्रोत्रिय और अध्यापक आदि की परम्परा का निर्माण हुआ[4]। इन चरणों में शिक्षण और विमर्श संघ या परिषद की प्रणाली पर चलता था। ये परिषद विद्वत्सभा के रूप में थी और उच्चारण एवं व्याकरण संबंधी नियमों का निश्चय करती थीं तथा अपनी शाखा के पाठ आदि के विषय में भी इनमें विचार होता था। आचार्य की वरिष्ठता में कार्य करनेवाली इन परिषदों के गम्भीर अध्ययन और सूक्ष्म विवेचन के परिणामस्वरूप ब्राह्मण, कल्प एवं धर्मसूत्रों के विशाल वैदिक वाङमय का विकास हुआ।

चरण का नाम

मूल संस्थापक आचार्य या ऋषि के नाम पर ही इस चरण का, इसके अन्तर्गत निर्मित साहित्य का और उसमें अध्ययन करनेवाले छात्र अथवा स्नातकों का नाम होता था।

---

१. अर्थशास्त्र १।५।

२. ५।१६,२१।

३. अष्टाध्यायी ४।३।१०२ ।

४. वही, ४।२।६६।

डॉ० वासुदेवशरण ने प्रस्तुत काल की शिक्षाप्रणाली का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए इसके सटीक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। ऋषि तित्तिरि ने तैत्तिरीय शाखा के यजुर्वेद का प्रवचन किया, उसके अध्येता छात्र तैत्तिरीय कहलाए और इस शाखा या चरण के अ तर्गत निर्मित वैदिक ग्रंथ भी तैत्तिरीय कहलाए। इस संदर्भ में यह भी ध्यान देने योग्य है कि इतिहास-पुराण को भी पंचमवेद कहा गया है। उसका अध्ययन-अध्यापन भी चरण के अंतर्गत होने लगा। वहीं इस पुराणविद्या में अनन्तर विकास हुआ और चार सहस्र श्लोकात्मक मूल पुराण संहिता पीछे की परम्परा के आचार्यों द्वारा चार लक्ष श्लोक के बराबर बना दी जाने पर भी, चरणपरम्परा के अनुसार उस पर छाप मूल रचयिता वेदव्यास के नाम की ही लगी रही। इस प्रकार ये चरण देश की ज्ञाननिधि का विकास कर रहे थे, तिल-तिल जोड़ी पीढ़ियों की ज्ञानराशि की परम्परा को सुरक्षित रखते थे और प्रस्तुत युग के प्राणवंत इतिहास का निर्माण करनेवाले छात्रों में उसका वितरण कर रहे थे।

चरणों की संघीय व्यवस्था

ये वैदिक चरण एक स्थान पर सीमाबद्ध होकर नहीं रह गये थे। जहाँ-जहाँ आचार्य के शिष्यों की परम्परा फैलती जाती थी, इन चरणों के विद्यापीठ स्थापित होते थे और अपने मूल आचार्य के नाम से प्रसिद्ध होते थे। देश में फैले इन चरणों के जाल की सूचना आगे के काल में पतंजलि के गाँव-गाँव में काठक और कालापकों के उल्लेख में प्राप्त होती है। एक शाखा विशेष की ये शिक्षा संस्थाएँ संघ के रूप में एक दूसरे से संबद्ध थीं। अन्यत्र हमने इस काल की आर्थिक और राजनैतिक संघों की स्वायत्त प्रणाली की संस्थाओं का वर्णन किया है, उसका प्रतिरूप इन वैदिक चरणों में भी दिखाई पड़ता है। इनकी अपनी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था थी। उसके व्यवहारपक्ष को साधने के लिए ये संस्थाएँ अपनी मुद्राओं (मुहरों) का प्रयोग करती थीं। पाणिनि ने इन वैदिक चरणों की मुद्राओं का अपने सूत्रों में उल्लेख किया है।

एक-एक वैदिक चरण की यह ज्ञानसाधना भी एकाकी नहीं चल रही थी। तत्कालीन साहित्य में ऐसी सूचनाएँ प्राप्त होती हैं कि कठ, कौथुम, शाकल आदि चरण तत्वज्ञान की राष्ट्रव्यापी उपासना में साहचर्य के आधार पर अग्रसर हो रहे थे[1]। इस वरेण्य प्रवृत्ति का परिणाम प्रातिशाख्य ग्रंथों की रचना थी, जिनका अध्ययन किसी शाखा विशेष तक सीमित नहीं था और जो वेद की अनेक या सब शाखाओं से संबंधित थे[2]।

छात्र और स्नातक

इन चरणों में वैदिक विषयों का अध्ययन करने के लिए छात्र उपनयन के पश्चात् प्रविष्ट होते थे[3]। एक वैदिक चरण के अन्तेवासी परस्पर सब्रह्मचारी कहलाते थे[4]

---

१. अष्टाध्यायी ६।२।३७ तथा १।३।४९।

२. वही, ५।३।१०३।

३. वही, ५।१।३४।

४. वही, ६।३।८६।

और इनके द्वार स्त्री छात्राओं के लिए भी उन्मुक्त खुले थे[1], अर्थात् आगे के पतंजलि के काल तक स्त्रियाँ इन चरणों में वेदाध्ययन के लिए प्रविष्ट होती थीं तथा पुरुष छात्रों की भाँति जो कठ चरण के अन्तेवासी होने पर काठक कहलाते थे, ये भी कठी कहलाती थीं और अपने चरण का अभिमान करनेवाली विदुषी के लिए कठमानिनी विशेषण प्रचलित था।

इस प्रकार सुव्यवस्थित इन चरणों की अपनी-अपनी विशिष्ट परम्परा थी, जिसका इन स्नातकों को अभिमान होता था[2]। अमुक विद्वान अमुक शाखा का स्नातक है, इसके अनुसार उसकी शास्त्रपारंगतता और उच्च आचरण का अनुमान किया जाता था[3]। इस रूप में मूल चरण-प्रवर्त्तक आचार्य से प्रारंभ हुई, उसके पश्चाद्वर्त्ती आचार्यों द्वारा विकसित हुई और स्नातक में प्रदीपित हुई ज्ञानज्योति की अव्याहत परम्परा का उस छात्र में दर्शन किया जाता था। वैदिक चरण विशेष का स्नातक होने का इस काल में गोत्र के समान ही महत्त्व था। गोत्र जहाँ किसी ऋषिवंश में जन्म लेने का सूचक था, यह शाखा का नाम दीप्तिमती ज्ञान की विशिष्ट परम्परा का निर्देश करता था।

आश्रमों की परंपरा

ऋषियों के आश्रमों का, जिनमें छात्र ज्ञान प्राप्त करते थे, अपने विषयों के वेदितृ बनते थे, उसके पश्चात् समाज में गृहपति के रूप में प्रतिष्ठित होते थे अथवा मेधावी ज्ञानानुरागी वहीं आचार्यत्व प्राप्त करते थे, पिछले अध्याय में उल्लेख किया गया था। इन आश्रमों की विस्तृत सूचनाएँ पीछे के साहित्य में प्राप्त होती हैं, यद्यपि इन आश्रमों से संबद्ध व्यक्तित्व और उनका कुलपतित्व ऐतिहासिक है तथा उन्हें वैदिक एवं प्राग्वैदिक युग में स्थापित करता है। उस युग के इतिहास में हमने शुक्र, च्यवन, ऊर्व, वाल्मीकि आदि के सुविज्ञात आश्रमों की इस प्रदेश की परम्परा देखी है जिनमें अन्तेवासी संपूर्ण विद्याओं का ज्ञान प्राप्त करते थे। इन आश्रमों की प्रकृति इनका वर्णन देखते हुए उपर्युक्त वैदिक चरणों से इस रूप में भिन्न प्रतीत होती है कि संभवतः इनका ज्ञानदान किसी वैदिक शाखा विशेष तक सीमित नहीं था। इनका रूप बहुधा विश्वविद्यालय जैसा था जिनमें अनेक वैदिक शाखाओं का समाहार होता था।

शौनक का ऋषिकुल

भार्गव शौनक के आश्रम का उल्लेख भी पहले हुआ है। उनका ऋषिकुल नेमिषारण्य में स्थित था और अपने समय का सबसे अधिक प्रसिद्ध आश्रम था। इसमें कुलपति शौनक दस सहस्र अन्तेवासियों को ज्ञानदान की व्यवस्था करते थे। उन ने बारह वर्ष का दीर्घसत्र किया था, जिसमें भारतवर्ष के सुदूर अंचलों से विद्वान ऋषि एकत्र हुए थे। महाभारत में इन ऋषियों के बीच तत्त्वज्ञान, धर्म एवं अन्य शास्त्रीय विषयों पर चलने-

---

१. अष्टाध्यायी ४।१।६३।

२. वही, ५।१।१३४।

३. वही, २।४।१४।

वाले विचारविमर्श का विस्तृत वर्णन है[1]। इनके इस आश्रम में अथर्ववेद की शौनक शाखा के साहित्य का विकास हुआ। इनके वैदिक चरण का शाकलों के साथ घनिष्ठ संबंध था। ऋग्वेद प्रातिशाख्य भी मुख्यतः इस शौनक चरण का है। अथर्ववेद की गणना इतिहास के अन्तर्गत की जाती है और पुराण, इतिवृत, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र भी इतिहास के अंग हैं। शौनक शल्यतंत्र के आचार्य कहे गये हैं तथा आज प्राप्त महाभारत एवं भागवत आदि पुराण के मुख्य श्रोता कुलपति शौनक हैं। इससे ज्ञात होता है कि इनके ऋषिकुल में उपर्युक्त विषयों का अध्ययन-अध्यापन चलता था और समीपतम होने के कारण इनकी शाखा के वैदिक चरण मध्यदेश की शैक्षणिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र की जो परंपरा प्रस्तुत तथा आगे के युग में मध्यदेश में प्राप्त होती है, उसका संरक्षण और विकास इस ऋषिकुल में हुआ होगा।

अन्य आश्रम

महर्षि कण्व का आश्रम मालिनी नदी के तट पर था। यहाँ अनेक आश्रम थे, जिनमें विविध विषयों का अध्ययन होता था। अयोध्या नगर के समीप रामायण में वर्णित मेखली ब्रह्मचारियों का महासंघ था। ब्रह्मचारियों के आश्रम और आवसथ नामक छात्रावासों में रहने का रामायण में उल्लेख है। अयोध्या के मागधों की परम्परा का, वधूसंघ का, जो स्त्रियों का एक सामाजिक संगठन था तथा नाटकसंघ का उल्लेख प्राप्त होता है। उस काल का विशालतम आश्रम प्रयाग में भरद्वाज ऋषि का था, जिसमें दाशरथि भरत को सेना और राजसमाज सहित घर जैसा आराम मिला था। इस प्रकार के आश्रमों में अग्निस्थान प्रार्थना का स्थल होता था, वैदिक एवं आध्यात्मिक विषयों का स्थान ब्रह्मस्थान कहलाता था, राजनीति, अर्थनीति और वार्ता का विभाग विष्णुस्थान था, सैनिकशिक्षा का महेन्द्रस्थान था, ज्योतिष का विभाग विवस्वतस्थान कहा जाता था, वनस्पतिविज्ञान का विभाग सोमस्थान था, परिवह एवं यानविद्या का विभाग संभवतः गरुड़स्थान था और युद्धसंचालन के शिक्षण का विभाग कार्तिकेयस्थान कहलाता था।

तक्षशिला

इस परम्परा में प्रस्तुत काल में तक्षशिला के सबसे अधिक उल्लेख प्राप्त होते हैं। इस ज्ञानपीठ का पीछे के काल में बौद्धों से विशेष सम्बन्ध रहा और उनके कथा-साहित्य में इसका विस्तृत वर्णन मिलता है। यह एक प्रकार से स्नातकोत्तर अध्ययन का विश्व-विद्यालय था जैसा कि इसमें प्रवेश की आयु १६ वर्ष होने के उल्लेख से सूचित होता है[2]। देश के कोने-कोने में फैले वैदिक चरणों की शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् अपने ज्ञान में पारंगतता प्राप्त करने के लिए निर्धन ब्राह्मण से लेकर राजपुत्र तक तक्षशिला पहुँचते थे[3]। जातक साहित्य में उन विषयों की सूचना मिलती है जो इस विश्वविद्यालय में पढ़ाए

---

१. महाभारत आदिपर्व १ १।

२. प्रो० कॉवेल : दी जातक, खंड १, पृष्ठ १२६।

३. वही, खंड ४, पृष्ठ २४।

जाते थे। तीनों वेद[1], अठारह विद्याएँ, शिल्प[2], धनुर्विद्या[3], हस्तिविद्या[4], सब प्राणियों को वश में कर लेने की शक्ति देनेवाली[5] मंत्रविद्या[6], सब प्राणियों की बोली समझने की विद्या[7] तथा आयुर्वेद[8] की शिक्षा यहाँ प्राप्त होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। आयुर्वेद की शिक्षा यहाँ विशेष रूप से प्राप्त होती थी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अगदतंत्र के ज्ञान के लिए विख्यात काश्यप ऋषि का तक्षशिला से सम्बन्ध अनुश्रुति में विख्यात है और वात्स्य जीवक को प्राप्त हुए कौमारभृत्य के ज्ञान की परम्परा का आदि स्रोत भी यही ऋषिवंश है, जिसके बौद्धीकृत जीवनचरित्र में उसे तक्षशिला का स्नातक कहा गया है और जिसका उल्लेख साहित्य पर प्रकाश डालते हुए किया गया है। इस प्रकार तक्षशिला के नागों की विद्यापरम्परा भी सुप्राचीन युग से चली आई ज्ञात होती है, जिसके चरम विकास के दर्शन बौद्ध साहित्य में प्राप्त होते हैं।

प्रस्तुत काल की अन्य शिक्षा संस्थाओं के समान यहाँ के विद्यादान में भी धन बाधक नहीं होता था। यद्यपि इस विश्वविद्यालय का शिक्षाशुल्क एक हजार कार्षापण होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[9], जिसे देकर छात्र आचार्य के ज्येष्ठ पुत्र की भाँति उसके परिवार में रहता था; परन्तु इसकी व्यवस्था न कर सकनेवाले विद्यार्थी भी आचार्य की सेवा करके अथवा अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् गुरुदक्षिणा देने का वचन देकर अध्ययन करते थे[10]।

इस विश्वविद्यालय में अनेक[11] विश्वविख्यात आचार्य शिक्षा देते थे[12]। एक आचार्य के समीप बहुधा ५०० छात्र अध्ययन करते थे[13]। इनमें से एक आचार्य के समीप १०१ राजकुमार अन्तेवासी होने का उल्लेख प्राप्त होता है[14]। इन विद्यार्थियों में बहुधा सवर्ण अन्तेवासी होते थे[15], यद्यपि वर्ण छिपाकर चाण्डालों के अध्ययन करने के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं[16]।

---

१. प्रो० कॉवेल : दी जातक, खंड ३, पृष्ठ ७६।
२. वही, खंड १, पृष्ठ १२६।
३. वही, खंड २, पृष्ठ ६०।
४. वही, खंड २, पृष्ठ ३२।
५. वही, खंड ४, पृष्ठ २८३।
६. वही, खंड २, पृष्ठ ६८।
७. वही, खंड ३, पृष्ठ २४९।
८. हॅवेल : आर्यन रूल इन इंडिया, पृष्ठ ९०।
९. कॉवेल : दी जातक, खंड १, पृष्ठ १४८ तथा खंड ५, पृष्ठ २४६।
१०. वही, खंड ४, पृष्ठ १४०।
११. वही, खंड २, पृष्ठ १९४।
१२. वही, खंड २, पृष्ठ १९३ तथा खंड ५, पृष्ठ ६६, ६७ आदि।
१३. वही, खंड ३, पृष्ठ १५४ आदि।
१४. वही, खंड ५, पृष्ठ २४७।
१५. वही, खंड ३, पृष्ठ १०५।
१६. वही, खंड ४, पृष्ठ २४५।

जातक कथाओं में काशी के राजा ब्रह्मदत्त के पुत्र की तक्षशिला में अध्ययन करने के लिए जाने की कथा में तक्षशिला जाकर अध्यन करने की देशव्यापी प्रवृत्ति पर प्रकाश पड़ता है। उसका पुत्र जब १६ वर्ष का हो गया तो उसने उसे एकतलिक जूते, पत्तों का छाता और एक हजार कार्षापण देकर तक्षशिला रवाना कर दिया। राजकुमार ने तक्षशिला पहुँचकर आचार्य के दर्शन किये। उन्हें देखकर उसने जूते उतार दिये, छाता बन्द कर लिया और सम्मानपूर्वक वन्दना करके चुपचाप खड़ा हो गया। आचार्य ने उसके भोजन की व्यवस्था करके उसे आराम करने का आदेश दिया। विश्राम के पश्चात् राजकुमार पुनः आचार्य के सम्मुख उपस्थित हुआ। अभिवादन के पश्चात् आचार्य ने नामधाम ज्ञात करके उससे पूछा कि वह शिक्षाशुल्क देकर अध्ययन करेगा या धर्मान्तेवासी के रूप में आचार्य की सेवा करके विद्या प्राप्त करेगा। राजकुमार ने एक हजार कार्षापणों की थैली आचार्य के चरणों में रखदी और 'आचारिय भाग दायक' के रूप में उसने विद्याध्ययन किया।

तक्षशिला का शिक्षणकाल सात वर्ष का था और इस विश्वविद्यालय के विद्यागर्भ से प्रस्तुत काल के वररुचि, पाणिनि, वर्ष उपवर्ष और वात्स्य जैसे अमरकीर्त्ति शास्त्रकार तथा चाणक्य[१] जैसे साम्राज्यों के निर्माता राजनीतिज्ञ जन्म लेते थे, और प्रसेनजित[२] जैसे शासकों का उसमें निर्माण होता था। तक्षशिला में अपने ज्ञान में पारंगत हुए उद्भट विद्वान नवीन शास्त्रों की रचना कर, जिन्हें उपज्ञात[3] कहा जाता था, प्रस्तुत काल में पाटलिपुत्र में होनेवाली शास्त्रकार परीक्षा की कसौटी पर खरे उतरते थे और साहित्यकार एवं अपने विषयों के वेदितृ विद्वान अवंति में सम्मानित होते थे। इस प्रकार इनकी विद्यागरिमा प्रमाणित होने पर इनकी ख्याति देशव्यापी हो जाती थी।

काशी

जातक साहित्य से सूचित होता है कि प्रस्तुत युग में काशी की भी शिक्षा के केन्द्र के रूप में ख्याति हो रही थी। इस विद्याकेन्द्र का निर्माण तक्षशिला के स्नातकों से हो रहा था[४]। यहाँ भी ५०० विद्यार्थियों को पढ़ानेवाले आचार्य उत्पन्न हो रहे थे[५]। इस विद्यापुरी ने पर्याप्त महत्त्व प्राप्त किया था, यह इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि एक ८० करोड़ के धनी ब्राह्मण व्यापारी के पुत्र ने यहाँ विद्याध्ययन किया था[६] और यहाँ की शिक्षाव्यवस्था उसकी महत्त्वाकांक्षा की सीमाओं के अनुरूप थी। संगीत की शिक्षा के लिए भी वाराणसी इस काल में प्रख्यात हुई थी[७]।

---

१. हॅवेल : आर्यन रूल इन इंडिया, पृष्ठ ९०।

२. ला : हिस्टोरिकल ग्लीनिंग्स, पृष्ठ १।

३. अष्टाध्यायी ४।३।१५।

४. कॉवेल : दी जातक, खंड १, पृष्ठ २८४, ८५, ३२१ तथा खंड २, पृष्ठ ६८।

५. जातक क्रमांक १, पृष्ठ २३९ तथा ३, पृष्ठ १८, २३३।

६. जातक क्रमांक ४, पृष्ठ २३७।

७. जातक क्रमांक २४३।

बौद्ध विहार

इन सार्वजनिक शिक्षा संस्थाओं के अतिरिक्त बौद्ध विहारों में भी प्रस्तुत काल में शिक्षा की व्यवस्था थी। उनमें केवल बौद्ध धर्म सम्बन्धी शिक्षा दी जाती थी[1]। जनसाधारण की ज्ञानपिपासा उपर्युक्त वैदिक प्रणाली से संचालित आश्रमों और चरणों से तृप्त हो रही थी, और उन्हीं से सिकन्दरों-सेल्यूकसों को पराङ्मुख करनेवाले और आज के संसार को अपनी आध्यात्मिक एवं भौतिक उन्नति के अवशेषों से चकित करनेवाले समाज का संस्कार हो रहा था।

---

१. चुल्लवग्ग ८।४, ७।

विदेशों से सम्बन्ध

हखमानी साम्राज्य के पूर्व

प्राग्वैदिक तथा वैदिक युग के विदेशों से चलनेवाले व्यापारों के संबंध में पहले अनेक स्थलों पर उल्लेख किया जा चुका है। कन्नौज, नागदा, उज्जयिनी तथा अहमदाबाद के पास हुए उत्खननों ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि उस प्राचीन काल में भी कान्यकुब्ज, पद्मावती, विदिशा, नागद्रह, उज्जयिनी तथा माहिष्मती होता हुआ कोई व्यापारिक पथ था, जो पश्चिम के पोतपत्तनों से देश के भीतरी व्यापार का सम्बन्ध स्थापित करता था और मुहें-जो-डेरो, हड़प्पा आदि स्थानों पर प्राप्त बस्तियों से भी इन स्थानों का सम्बन्ध था।

यहूदी अनुश्रुतियों के अनुसार सुलेमान (ई० पू० ८००) के समय में टायर के राजा हिरम ने एक जहाजी बेड़े से पूर्व की यात्रा की थी और वह ओफिर नामक पोतपत्तन पर उतरा था जहाँ से वह सोना, चाँदी, हाथीदाँत, बन्दर, मोरें, अलगम के वृक्ष तथा मणि ले गया था।

जातकों में बाबेरू तक लम्बी पोतयात्रा द्वारा व्यापार करने का उल्लेख है। यह बावेरू संभवत: बेबीलोन का भारतीय रूप है। बाबेरू जातक में एक अनुश्रुति सुरक्षित है कि भारत का कोई व्यापारी कौए को पकड़कर बाबेरू रट्ठ (बाबुल देश) ले गया, वह कौआ वहाँ एक सौ कार्षापण में बिका था। जहाज पर कौआ भूमि का पता लगाने को छोड़ा जाता था। यदि भूमि पास होती थी तो कौआ लौटता नहीं था, और यदि भूमि दृष्टि में नहीं आती थी तो वह जहाज पर लौट आता था। दूसरी बार वही व्यापारी मोर ले गया, जो एक हजार कार्षापण में बिका।

बोगाजक्योई के शिलालेख ने ईरान और भारत के सम्बन्ध को ई० पू० चौदहवीं शताब्दी तक निश्चित रूप से स्थापित कर दिया है। इस शिलालेख में वैदिक देवता, मित्र, वरुण तथा इन्द्र के नाम स्पष्ट रूप में आए हैं।

हखमानी साम्राज्य

हखमानी साम्राज्य का उदय ई० पू० छठी शताब्दी में ईरान में हो चुका था, यह उल्लेख पहले हो चुका है। इस समय से भारत और पाश्चात्य देशों का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से सामने आता है। यह विशाल साम्राज्य ईरान, लघु-एशिया, सीरिया, फोनीशिया तथा मिस्र तक फैला हुआ था और उसमें सिन्धु का भी एक भाग सम्मिलित कर लिया गया था। हखमानी साम्राज्य के पहले भारत के पाश्चात्य देशों से सम्बन्ध का

मुख्य द्वार पश्चिम के शूर्पारक, सौवीर तथा भृगुकच्छ के प्राचीन पोतपत्तन थे और समस्त पूर्वी भारत का पश्चिमी विदेशों में जानेवाला माल वर्त्तमान मध्यभारत की सीमाओं से गुजरनेवाले महापथों से जाता था, जिनको बड़े-बड़े सार्थवाह ढोते थे और वे कौशाम्बी, तथा मथुरा, पद्मावती, विदिशा, नागद्रह, उज्जयिनी एवं माहिष्मती में अपने विशाल अड्डे बनाए हुए थे। प्रस्तुत युग के प्रारम्भ होते-होते हखमानी साम्राज्य का यह प्रभाव पड़ना आवश्यक था कि उत्तर-पश्चिम के स्थल-मार्गों मे विदेशी व्यापार तथा सम्पर्क को गति मिलती और हखमानी साम्राज्य की भारतीय सीमा की जनता भारत और उस साम्राज्य के दूसरे छोर लघु-एशिया तक व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करती। हखमानी सम्राट दारा ने एक यूनानी एस्काईलास्क को सिन्धु नदी की पड़ताल करने के लिए भेजा था और जब ईरानी सेना ने यूनान के नगर राज्यों पर आक्रमण किया, उस समय उसके साथ एक भारतीय सैनिकों की टुकड़ी भी थी। यूनान ने हखमानी साम्राज्य के आक्रमण मे अपनी रक्षा करली थी, परन्तु भारतीय और यूनानी उस प्राचीन काल में भी सम्पर्क में आए थे। यूनानी इतिहास लेखक हीराडोटस (जन्म ई० पू० ४८४) ने भारतवर्ष के विषय में लिखा था, उसका वर्णन अब तक प्राप्त है तथा विश्वसनीय माना जाता है।

यूनानी साम्राज्य

सिकन्दर के भारत आक्रमण का हम उल्लेख कर चुके हैं। इस आक्रमण के पश्चात् यूनानी भारत के निकट सम्पर्क में आए और भारत के भी उनके साथ सम्पर्क बढ़े। सिकन्दर का शासन बहुत कम रहा, परन्तु उसके पश्चात् सेल्यूकस और उसके वंशजों का भारत से घनिष्ट सम्बन्ध रहा। चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ सेल्यूकस की राजकुमारी के विवाह को इतिहासज्ञ पूर्णतः स्थापित नहीं मानते, परन्तु इस यूनानी साम्राज्य के राजदूतों के मौर्यो की राजसभा में आने के सम्बन्ध में तो संदेह को स्थान ही नहीं है। सेल्यूकस के राजदूत मेगास्थनीज और उसके पश्चात् डायमेकस भारत में रहे। संभावना यह है कि भारत के राजदूत भी यूनानी राजसभा में रहे होंगे। बिन्दुसार ने सेल्यूकस के उत्तराधिकारी एण्टिओकस सोटर को अंजीर, मधु और दार्शनिक माँगने के लिए जो पत्र लिखा था उसका हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। अशोक ने अपने शिलालेख में तत्कालीन सभी यूनानी राजाओं का नामोल्लेख किया है जिनके राज्य में उसने धर्मविजय के लिए प्रचारक भेजे थे। मेगास्थनीज ने पाटलिपुत्र की विदेशियों की देखरेख करने-वाली उप-समिति का उल्लेख किया है, जिससे ज्ञात होता है कि भारत में विदेशियों का आवागमन कम नहीं था।

मिस्रदेश में टालेमी फिलाडेल्फस का राज्य था (ई० पू० २८५–२४६)। इसने भी मौर्यों की राजधानी में अपना राजदूत डायोनिसस भेजा था। एकेनियस नामक यूनानी लेखक ने लिखा है कि टालेमी फिलाडेल्फस के जलूसों में भारतीय स्त्रियाँ, शिकारी कुत्ते, कौए तथा अन्य अद्भुत वस्तुएँ रहती थीं। ऊँटों पर रखकर भारत के भेजे हुए मसाले भी इन जलूसों में निकाले जाते थे। यही लेखक लिखता है कि टालेमी फिलाडेल्फस की नौका में भारतीय मणि जड़े हुए थे।

पाश्चात्य देशों से सांस्कृतिक आदान-प्रदान

युद्ध या व्यापार के द्वारा जब दो देश सम्पर्क में आते हैं तब एक दूसरे में सांस्कृतिक आदान-प्रदान होना अवश्यम्भावी है। हखमानी तथा यूनानी साम्राज्य ने मौर्य राजसभा के व्यवहार को तथा शासन प्रबन्ध को प्रभावित किया था, ऐसा विद्वानों का मत है। शासन कार्य के अनेक ईरानी तथा यूनानी शब्दों का प्रयोग तथा आरमीनियन और उससे उत्पन्न खरोष्ठी लिपि का प्रयोग इसका प्रमाण बतलाया जाता है।

तत्कालीन विदेशी साहित्य, विज्ञान, दर्शन तथा धर्मों को भारत ने बहुत अधिक प्रभावित किया था। छठी शताब्दी के यूनानी दार्शनिक पायथेगोरस का दर्शन भारत के सांख्य दर्शन पर आधारित है। सिकन्दरिया के क्लीमेण्ट ने लिखा है कि 'यूनानियों ने असभ्यों का दर्शन चुरा लिया था'। ये असभ्य भारतीय ही थे और इनका दर्शन था 'सांख्य' जो यूनानी दर्शन के रूप में प्रकट हुआ। पायथेगोरस का केवल दर्शन ही नहीं, उसके गणित सम्बन्धी सब सिद्धान्तों का मूल भारत देश था ऐसा अनेक विद्वानों का मत है[1]। श्रोदर का एक तर्क अकाट्य ज्ञात होता है। वह लिखता है कि भारत में सांख्य दर्शन के विकसित होने के लिए लम्बी और पूर्ण परम्परा मौजूद थी, जबकि पायथेगोरस की विचारधारा के जन्म के लिए यूनान में कोई पूर्व परम्परा नहीं थी। हखमानी साम्राज्य के दोनों पल्ले भारत और यूनान से मिलते थे। वह इस प्राचीन सम्पर्क का मूल कारण बना था। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात (ई० पू० ४००) की भेंट एक भारतीय दार्शनिक से हुई थी, इसका प्रमाण भी प्राप्त हुआ है। सिकन्दर के गुरु अरस्तू (एरिस्टोटल) का एक शिष्य एरेस्टोजीनस था, जो बहुत बड़ा संगीतज्ञ था। इसके विषय में यूसीवियस नामक एक प्राचीन यूनानी लेखक ने लिखा है कि "संगीतज्ञ एरेस्टोजीनस भारतवासियों के विषय में निम्नलिखित कहानी बतलाता है। एक भारतीय एथन में सुकरात से मिला और उससे पूछा कि उसके दर्शन की सीमा क्या है? सुकरात ने उत्तर दिया 'मानव के तत्त्वों का विवेचन'। इस पर भारतीय जोर से हँस पड़ा और बोला, 'कोई मनुष्य मानव-तत्त्वों का विवेचन कैसे कर सकता है, यदि वह दैवी तत्त्वों से अनभिज्ञ है'"? इस बातचीत में यूनानी और भारतीय तत्त्वचिन्तन का अन्तर तो विद्यमान ही है, इससे यह भी प्रकट है कि ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी में भारतीय दार्शनिक यूनान में जाकर वहाँ की भाषा सीखते थे और सुकरात जैसे दार्शनिकों से दार्शनिक चर्चाएँ भी करते थे।

चीन और भारत

भारत और चीन के बीच व्यापारिक सम्बन्ध मौर्यकाल में प्रारम्भ होगया था, यह संभावना की जाती है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में चीन के रेशमी वस्त्रों[2] का उल्लेख किया है। ई० पू० चौथी शताब्दी में सीन नामक एक छोटा-सा राज्य था। उस समय समस्त चीन देश का नाम सीन या चीन नहीं पड़ा था। उस देश का यह नाम सीन वंश (ई० पू० २२१) के समस्त चीन पर राज्य स्थापित हो जाने के पश्चात् पड़ा था। संभावना यह है कि इसके पूर्व उस प्रदेश से भारत के सम्बन्ध रहे हों जो सीन या चीन कहलाता था।

---

१. श्रोदर: पायथेगोरस उण्ड डी इण्डर; कोलब्रूक: मिसलेनियस एसेज, पृष्ठ ४३६–३७।

२. अर्थशास्त्र २।११।

हिन्दू-संस्कृति-निर्माण युग

(ई० पू० २०० से ई० ३५० तक)

इस युग की विशेषताएँ

संघर्ष का युग

राष्ट्रों के जीवन में कभी-कभी विषम परिस्थितियाँ आती हैं। उनमें यदि सफलतापूर्वक संघर्ष करने की शक्ति कोई राष्ट्र उत्पन्न कर लेता है तब उसमें एक अपूर्व आभा और निखार के दर्शन होते हैं। उस संघर्ष में राष्ट्र जो अद्‌भुत शक्ति का संचय करता है उसका प्रभाव साहित्य और कला के क्षेत्र में भी परिलक्षित होता है। वह अपने विषम अभियानों में सफल तभी होता है जब उसका समस्त पौरुष इन संकटों का सामना करने के लिये कटिबद्ध हो जाता है, उसके मनीषी चिन्तक उसे नव-जागरण का सन्देश देते हैं, उसके कवियों की वाणी में उत्प्रेरक गान झंकृत हो उठते हैं और उसी समय कला में भी एक अद्‌भुत नवोन्मेष दिखाई देता है। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के प्रारम्भ से ही भारत पर दिमित्र, मिनेन्द्र और एपोलोडोटस के रूप में एक काली घटा घिर आई थी। प्रबल प्रभंजन के रूप में पुष्यमित्र शुंग ने उसका प्रवाह लौटाया। यूनानी दिमित्र के सेनापति पाटलिपुत्र तक पहुँच गये और उस युगनिर्माता सेनापति द्वारा वे सिन्धुनद के पार खदेड़ दिये गये। गार्गी संहिता तो कहती है कि संभवत: अग्निमित्र के पश्चात् ही एक शक आक्रमण होगया था, परन्तु ईसवी प्रथम शताब्दी में शकों की धाराओं ने सौराष्ट्र, दक्षिणापथ, अवन्ति, आकर और मथुरा तक घेर ली। यहाँ से सातवाहन, मालव और उज्जयिनी के विक्रम ने इन्हें उखाड़ फेंका और भारत छोड़ने पर अथवा यहाँ के समाजतंत्र में अपने आपको मिला देने को बाध्य किया।

इस युग में सबसे अन्त में प्रबल हुए कुषाण। कनिष्क के राज्य में उत्तर भारत का अधिकांश प्रदेश आगया था, और कुछ विद्वानों का तो मत है कि सम्भवत: पाटलिपुत्र भी उसकी राज्यसीमा में था। उसके क्षत्रप सुदूर दक्षिण और पश्चिम में भी फैले हुए थे। कुषाणों का साम्राज्य एशिया में बहुत दूर तक फैला हुआ था और यद्यपि उनके समय में आर्थिक रूप से भारत समृद्ध हुआ, परन्तु उनके शासन का रूप मूलत: विदेशी और भयंकर उत्पीड़क था। पद्मावती ने जो वनस्परों का भीषण राज्य देखा, वह भारत की स्वातंत्र्य भावना की अत्यन्त विषम परीक्षा थी। पुष्यमित्र शुंग के समय में राष्ट्र-प्रेम की जो अमर-ज्योति जगाई जा चुकी थी उसका प्रकाश अभी मन्द नहीं हुआ था। अगली शताब्दियों ने उसे और अधिक तेजस्वी बनाया। समस्त भारत में पंजाब, मथुरा, कान्तिपुरी, पद्मावती, विदिशा और वर्त्तमान मध्यप्रदेश में नागों के रूप में भारत का शौर्य ही जाग उठा। मालव, यौधेय आदि छोटे-बड़े गणतंत्र भी अपना जयमंत्र स्मरण कर इस राष्ट्रीय नव-जागरण में योग दे उठे और उनने कुषाणसत्ता का उन्मूलन कर दिया। अन्तिम

कुषाणों ने धर्म की आड़ लेना चाही। वासुदेव कुषाण नागों और मालवों के आराध्य शिव का उपासक बना। परन्तु धर्म एक बात है, स्वतंत्रता—स्वराज्य—दूसरी बात है। उनके विदेशी राज्य को उखाड़ फेंका गया।

राष्ट्रीयता का उदय

नागों के सेनापति विन्ध्यशक्ति ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया। विदेशियों के पिछली दो-तीन शताब्दियों के शासन की कमर तोड़ी जा चुकी थी। इस वाकाट (पन्ना के पास) वासी सेनापति ने अप स्वामी नागों के पराक्रम से अर्जित भारत की स्वतंत्रता को एक सूत्र में बाँधा। उसके वंशज प्रवरसेन वाकाटक ने विशाल साम्राज्य की स्थापना की। इसके 'पल्लव' सुदूर काँची तक फैल गये। उत्तर में नागों का तो वह अपना ही था। उसके राजकुमार को पद्मावती के भव नाग ने अपनी कन्या भी दी और उसके मिस नागों द्वारा अर्जित समस्त पृथ्वी का प्रभुत्व भी दिया। प्रथम बार भारतीय इतिहास में उत्तरापथ, दक्षिणापथ, पूर्व, पश्चिम और मध्य की दीवारें टूटीं और एक ओर तो प्रवरसेन वाकाटक को कल्कि अवतार घोषित किया गया और दूसरी ओर पुराणों ने हिमालय से रामेश्वरम् तक के इस विशाल देश को 'भारत' की संज्ञा देकर अत्यन्त मार्मिक शब्दों में भारत-वन्दना की —

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते,
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्[1] ।।

राष्ट्रीयता का जो अद्भुत व्यापक उन्मेष इस युग में हुआ वह हमें भारत के इतिहास में आगे फिर उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में ही दिखाई दिया।

राष्ट्रीय साहित्य की सृष्टि

यह उन्मेष और जीवन इस युग के साहित्य और उसकी कला में भी दिखाई दिया। रामायण और महाभारत का नवीन रूपनिर्माण इस युग में हुआ। वह सौद्देश्य था। भारत के जानपदजन के हृदय में उसके पूर्वजों की गौरवगाथा अनेक रूपों में पहुँचाना थी। राम के दुष्टदलन रूप की अवतार के रूप में स्थापना आवश्यक थी। कालिदास और शूद्रक के नाटक भी केवल मनोरंजन के लिए नहीं लिखे गये थे। उनमें इतिहास और राजनीति का विवेचन सौद्देश्य था। अष्टाध्यायी का महाभाष्य लिखते समय 'अरुणद् यवनः साकेतम्', 'अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्' के उदाहरण कालगति को समझाने के लिए किसी वैयाकरण की सनक के कारण नहीं दिये गये थे। अपने-अपने क्षेत्र में सभी भारत के जन को उत्प्राणित करना चाहते थे, उसके पौरुष को जगाना चाहते थे।

इस युग में उस साहित्य का निर्माण हुआ जो अगली पीढ़ियों के भारतीय साहित्य का आधार बना। नये-नये अलंकार जोड़े गये, भाषा में चमत्कार उत्पन्न किया गया, टीकाएँ हुईं; परन्तु मूल में इसी युग का साहित्य रहा। गुप्तयुग से वर्त्तमान युग तक का आख्यान, नाटक,

---

१. विष्णुपुराण

कथा-साहित्य इस युग में लिखित, सम्पादित-संकलित महाभारत, रामायण तथा गुणाढ्य की बृहत्कथा पर आधारित है। सातवाहन हाल का गाथाकोष अगली शृंगारिक मुक्तक रचनाओं का मूल है। आगे स्मृति साहित्य तो मनुस्मृति की टीका और व्याख्या तक सीमित है। व्याकरण के क्षेत्र में टीकाएँ लिखी गयीं, फिर न पतंजलि हुए और न कातंत्र-लेखक। जब राष्ट्र संघर्ष के लिए कटिबद्ध होता है तब उसकी अन्तरात्मा मुखरित होती है।

कला के क्षेत्र में, इसी कारण हमें इस युग में एक अद्भुत सजीवता दिखाई देती है। साँची, भारहुत, बाघ, अजण्टा, नासिक आदि के अर्धचित्रों, मूर्त्तियों और भित्तिचित्रों में उस युग का समाज मुखरित हुआ है। उनके शिल्पियों के पीछे एक जीवित राष्ट्र था और थी राष्ट्र के रूप में जीवित रहने की प्रबल इच्छा। वह भावना इस युग की कला में मूर्त्तिमंत हुई। संहार के देवता शिव अपने नन्दी, त्रिशूल, देवसेनापति स्कन्द, गणेश और गंगा जैसे अनेक प्रतीक लेकर भारतीय कला को मिले। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और यक्षों के साथ बुद्ध और जैन मूर्त्तियों के निर्माण ने भारत की मूर्त्तिकला में बहुरूपता ला दी। आगे के युगों में इस यग के कलाप्रतीकों को केवल निखारा गया, उनका भाष्य-मात्र किया गया।

धार्मिक क्षेत्र में इस युग का प्रारम्भ अनिवार्य कटुता से हुआ। परन्तु इसके समाप्त होते-होते, जैसे ही राष्ट्रीय संकट की निशा समाप्त होकर स्वराज्य का अरुणोदय हुआ, फिर एक बार हम भारत को सभी धर्मों को आश्रय देते हुए देखते हैं। भागवत, शैव, जैन, बौद्ध तथा सभी सम्प्रदाय अबाध गति से प्रगति करते हैं, अपने-अपने विश्वासों और विचारों के अनुसार। बौद्ध धर्म के अनुयायियों ने भारत से इस सम्प्रदाय के निष्काषित होने के बीज इस युग में पूरी तरह बो लिये। उसने आक्रान्ताओं से साठगाँठ की। परिणाम वह हुआ, जो पहले कभी नहीं हुआ था। अगली शताब्दियों में भारत की उत्कट राष्ट्रीयता ने अपनी भूमि में उद्भूत इस धर्म को राष्ट्रीय सीमाओं से निकालकर अन्तर्राष्ट्रीय बना दिया। यद्यपि बुद्ध को अवतारमाला में पिरो दिया गया; परन्तु बौद्ध धर्म को अपने इस रूप में सहा न जा सका।

सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में अत्यधिक उथल-पुथल हुई। सुमति भार्गव ने मानव धर्मशास्त्र को जो नवीन रूप दिया था वह संकट काल की व्यवस्था थी। परन्तु आगे का जड़ स्मृतिकार उसके इस रूप को न समझ सका और उसके अक्षर को पकड़कर रह गया। किन्तु इस युग में उसका दुष्परिणाम नहीं दिखाई दिया। मान से या अप-मान से यवन, शक, कुषाण सभी उस समाज-तंत्र में खपा लिये गये! ऊँच-नीच की भावना भी जड़ न पकड़ सकी। परन्तु समाजनियमन के वे बीज पड़ चुके थे जिनके कारण तुर्कों के आक्रमण के समय एक विशृंखलता उत्पन्न हो गयी। राजनीति में राजा की निरंकुशता का, उसके दैवी अधिकारों का जन्म भी इस युग से पहले ही होगया था। परन्तु अब्राह्मण राजाओं पर ब्राह्मण के रूप में जनशक्ति का अंकुश रहता था। इस युग में ब्राह्मण राजा हो गया। परिणाम यह हुआ कि जब आगे दैवी अधिकारवाले सम्राटों का उदय हुआ तब राज्यपीठों से अपदस्थ हुए ब्राह्मण वंशों में पराजयजन्य

कुण्ठा या जन्मजात श्रेष्ठता की झूठी भावना घर कर गयी और सम्राटों के दरबार के समान ही समाज में नीच-ऊँच एवं स्पृश्य-अस्पृश्य के भेद दिखाई दिये।

हमने इस युग का प्रारम्भ ई० पू० २०० से माना है। पुष्यमित्र शुंग का उदय जिन परिस्थितियों में हुआ वे इस समय तक पूर्णत: अस्तित्व में आ चुकी थीं। इस युग का अन्त हम ई० सन ३५० के लगभग मानते हैं। इसके पूर्व ही कौशाम्बी के महायुद्ध में समुद्रगुप्त ने गणपति नाग, नागदत्त, नागसेन, नन्दी, अच्युत आदि नागों का उन्मूलन तथा रुद्रसेन वाकाटक आदि का मानमर्दन कर दिया होगा तथा मालव, आर्जुनायन, यौधेय, मद्रक, आभीर, प्रार्जुन, सनकानीक, काक और खरपरिक आदि गणतंत्रों का दलन कर दिया होगा। इसके पश्चात् बहुत कुछ वर्त्तमान अर्थों में साम्राज्य का उदय हुआ।

इस युग के इतिहास की कठिनाइयां

इस युग के इतिहास की सामग्री तथा घटनाओं और राजवंशों का तिथिक्रम एक समस्या है। पुराणों के पाठ एक दूसरे के विरोधी हैं, शिलालेखों के पाठ भी कहीं-कहीं संदिग्ध हैं, और इस कारण वर्त्तमान इतिहासज्ञ भी लगभग सभी तिथियों के विषय में विभिन्न मत रखते हैं। सातवाहनों और कलिंग के चेदियों का समय लगभग दो सौ वर्ष आगे-पीछे माना जाता है। विक्रमादित्य अभी तक एक गुत्थी है जो सुलझ नहीं सकी और नागों का इतिहास भी क्रमबद्ध नहीं है। इस सम्बन्ध में स्वर्गीय श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने अत्यन्त स्तुत्य प्रयास किया था। उनकी अधिकांश स्थापनाएँ अत्यन्त सुसंगत हैं। किसी कारण से हो, उनकी स्थापनाओं के विरुद्ध एक अवांछनीय प्रतिक्रिया दिखाई दी। चूँकि श्री जायसवाल ने यह लिखा था कि कुषणो को नागों ने उखाड़ फेंका था, अतः इतिहास के एक महान आचार्य ने उन्हें उखाड़ फेंकने का श्रेय यौधेयगण को दे दिया। जो काम पंजाब से प्रयाग तथा दक्षिण में नर्मदा तट तक फैले नाग न कर सके उन्हें इस छोटे से गणतंत्र ने कर दिखाया, जिसकी कमर कुषाण और रुद्रदामन तोड़ चुके थे। हमने इस युग के इतिहास में स्वर्गीय श्री काशीप्रसाद जायसवाल की स्थापनाओं को मान्य समझा है। जहाँ हमारा उनसे मतभेद है, उसे हमने व्यक्त कर दिया है। वे स्थल थोड़े ही हैं। खारवेल को हम जैन नहीं मान सके। ज्येष्ठ नाग और नवनागों की शाखाओं को हमने अलग माना है; यद्यपि श्री जायसवाल ने एक स्थल पर यह भी लिखा है—पुराणों का ज्येष्ठ नागवंश, शुंगों के पूर्व और नवनाग वंश शुंगों के पश्चात् हुआ; परन्तु उनने इन दोनों को एक ही क्रम में गिना दिया है।

इस युग के कुछ राजवंशों का इतिहास एक दूसरे से इतना गुँथा हुआ है कि न तो किसी को छोड़ा जा सकता था और न एक क्रम में उसे लिखा ही जा सकता था। इस कठिनाई को हल करने के लिए हमने इस युग के इतिहास के पाँच भाग कर दिये हैं:—

१. शुंग और यूनानी,
२. विक्रम और शक,
३. सातवाहन और क्षत्रप,
४. नाग, कुषाण तथा वाकाटक, तथा
५. गुप्तों का विद्रोह।

प्रथम चार भाग तो उन संघर्षों की कथाएँ हैं जिनमें मध्यभारत के इस युग की अनेक शक्तियों को विभिन्न विदेशी आक्रान्ताओं से संघर्ष करना पड़ा। वाकाटकों के रूप में इन विषम संघर्षों का शुभ परिणाम भारत को प्राप्त हुआ और उस संस्कृति को पूर्ण परिष्कृत रूप मिला जो संक्षेप में हिन्दू-संस्कृति कही जाती है और अन्त में गुप्तों ने भारत साम्राज्य की स्वातन्त्र्य भावना की समाप्ति कर एक नवीन-तंत्र का सूत्रपात किया।

इस युग का नामकरण

यह एक संयोग है कि इस युग की सभी शक्तियाँ ब्राह्मण हैं। परन्तु हम इसे बौद्धों के विरुद्ध ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया नहीं मानते। यह युग तो राष्ट्रीय नवजागरण का युग है, इसमें यदि सातवाहन अपने आपको क्षत्रियों का दर्प और अभिमान चूर करने-वाला लिखते हैं तब उनकी दृष्टि में वे शक थे जिन्हें धीरे-धीरे क्षत्रिय (भले ही पतित सही) माना जाने लगा था। हमने, इसी कारण इस युग का नाम 'ब्राह्मण साम्राज्य'[1] रखना स्वीकार नहीं किया। ब्राह्मण साम्राज्य कभी नहीं बनाता, वह सम्राटों और शासनतंत्रों का संचालन करता है। इस युग में तो विवश होकर उसे राजदण्ड ग्रहण करना पड़ा था।

श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने इस युग को अश्वमेध पुनरुद्धार का युग कहा है। बड़े गर्व से इस युग के सभी राजवंशों ने अश्वमेध, राजसूय, वाजपेय आदि महायज्ञ किये; परन्तु ये यज्ञ युगधर्म नहीं थे। इनके द्वारा तो देश का सोया हुआ पौरुष जगाया जा रहा था। वे साधनमात्र थे, साध्य नहीं। वास्तव में इस युग में एक सुपुष्ट और उत्कृष्ट संस्कृति का निर्माण हुआ था। हमें इस युग में भारतीय संस्कृति का रूप अपनी पूर्णता को प्राप्त होता दिखाई देता है। परन्तु वह रूप भारतीय संस्कृति का न होकर हिन्दू संस्कृति का था। आगे की शताब्दियों में मुसलमानों और अंग्रेजों के सम्पर्क के पश्चात् जो रूप हमारी संस्कृति का आज है उसे भारतीय संस्कृति कहा जाता है। अतएव इससे विभेद दिखाने के लिए हमने इस युग को 'हिन्दू-संस्कृति-निर्माण युग' कहा है। इस युग के यूनानी राजा भी अपने आपको हिन्द का राजा कहते थे। दिमित्र को अंग्रेजी के आदि कवि चौसर ने 'हिन्द का राजा, महान् डिमेट्रियस' लिखा है।

इस युग की संस्कृति का निर्माण मध्यदेश—वर्तमान मध्यभारत में हुआ था। इस युग का इतिहास इस भूप्रदेश के सपूतों की गौरवगाथा है—यह आगे के पृष्ठों से प्रकट होगा।

---

१. भगवतशरण उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ १६४।

शुंग और यवन

बाख्त्री के यवन

ईसा पूर्व ३२७-३२५ में सिकन्दर ने भारत से लोहा लिया। यहाँ उसका विश्वविजय का दम्भ चूर-चूर हो गया। यहाँ से वह एक ऐसा घाव लेकर गया कि कालान्तर में उसीके कारण उसकी असामयिक मृत्यु हो गयी। सिकन्दर के साम्राज्य के एशियाई भाग के उत्तराधिकारी सेल्यूकस ने भी ई० पू० ३०५ में एक बार फिर भारत के विरुद्ध असफल शक्ति-परीक्षा की थी और उसमें विफल होकर चन्द्रगुप्त मौर्य से सन्धि करके लौट गया। इस घटना के पश्चात् एक शताब्दी तक भारत और सेल्यूकस के उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध बहुत अच्छे रहे। परन्तु ई० पू० २०६ में परिस्थितियों से विवश होकर अन्तिओकस (तृतीय) ने भारत की सीमाओं की ओर पुनः आक्रमण किया था। ये परिस्थितियाँ भीषण रूप लेती गयीं और इस बार यूनानियों की विजयवाहिनियों ने पाटलिपुत्र तक धावा मारा। इस दुर्घर्ष आक्रमण का प्रतिकार शुंगों की प्रबल शक्ति ने किया और एक बार पुनः उन्हें भारत के शौर्य तथा उसकी सांस्कृतिक गरिमा के आगे सिर झुकाने को बाध्य किया। मौर्यों के अन्त से शुंग और शुंगभृत्यों (कण्वों) के अन्त तक मध्यदेश तथा भारत की राजनीति से इन यूनानियों के विग्रह और सन्धि के निकट सम्बन्ध रहे तथा उनके द्वारा भारत की आन्तरिक व्यवस्था प्रभावित की गयी। अतः इस युग के मध्यदेश तथा भारत के इतिहास को समझने के लिए इस यूनानी साम्राज्य में होनेवाले घटना-क्रम को दृष्टि में रखना आवश्यक है।

बाख्त्री साम्राज्य का उदय

अन्तिओकस (द्वितीय) थीओस (ई० पू० २६१-२४६) के समय में ही सेल्यूकस के विशाल साम्राज्य के दो प्रान्त बाख्त्री तथा पर्थिया ने विद्रोह कर दिया और वे स्वतंत्र हो गये। बाख्त्री के दियोदोत (प्रथम) ने लगभग ई० पू० २५० में अपने आपको सेल्यूकस के साम्राज्य से स्वतंत्र घोषित कर दिया। अन्तिओकस (द्वितीय) तथा उसके उत्तराधिकारी सेल्यूकस (द्वितीय) तथा सेल्यूकस (तृतीय) बाख्त्री और पर्थिया के इन स्वतंत्र राज्यों को अपने अधीन न कर सके।

बाख्त्री में दियोदोत (प्रथम) अपने नवोदित पड़ोसी पर्थिया के यूनानियों से झगड़ता रहा। परन्तु उसके उत्तराधिकारी दियोदोत (द्वितीय) ने पर्थिया से सन्धि कर ली। ई० पू० २४० तथा २३५ के बीच सेल्यूकस (द्वितीय) ने पर्थिया पर आक्रमण किया, परन्तु वह सफल न हो सका और बाख्त्री तथा पर्थिया दोनों अपना स्वतंत्र अस्तित्व

रख सके। बाख्त्री में दियोदोत (द्वितीय) के पश्चात् यूथीदेमो राजा बना। यूथीदेमो, दियोदोत के राज्य को उलटकर बाख्त्री का राजा बना था या वह दियोदोत का कोई सम्बन्धी था, यह स्पष्ट नहीं है। यूथीदेमो के समय में सेल्यूकस के साम्राज्य के सिंहासन पर अन्तिओक (तृतीय) आरूढ़ था। वह महान विजेता था। उसने अपने साम्राज्य के खोए हुए प्रान्त बाख्त्री को पुनः प्राप्त करने का प्रयास किया। ई० पू० २०८ में अन्तिओक (तृतीय) ने बाख्त्री की राजधानी जो बाख्त्रा या जरिअस्क कहलाती थी (वर्त्तमान बल्ख) को घेर लिया। दो वर्ष तक यह घेरा जारी रहा। अन्त में ई० पू० २०६ में यूथीदेमो तथा अन्तिओक (तृतीय) के बीच सन्धि हुई। अन्तिओक ने अपनी राजकुमारी का विवाह यूथीदेमो के राजकुमार दिमित्र से कर दिया और यूथीदेमो को स्वतंत्र राजा स्वीकार किया।

अन्तिओक (तृतीय) अपनी राजधानी को लौटने के बजाय भारत की ओर बढ़ा और हिन्दूकुश पार करके उसकी मुठभेड़ सुभागसेन (यूनानी लेखकों के सौफागसेनस) से हुई। यह सुभागसेन सम्भवतः उस मौर्य राजकुमार वीरसेन का उत्तराधिकारी था जो गान्धार में अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर बैठा था। अन्तिओक (तृतीय) तथा सुभागसेन के बीच हुए संघर्ष का परिणाम क्या हुआ, यह ज्ञात नहीं। यूनानी अनुश्रुतियों से केवल यह ज्ञात होता है कि सुभागसेन ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली तथा कुछ धन और हाथी उसे भेंट किये। अन्तिओक अपनी राजधानी मेसोपोटामिया लौट गया। अन्तिओक के इस भारत अभियान ने यूथीदेमो तथा उसके महत्त्वाकांक्षी पुत्र दिमित्र को भारत आक्रमण के लिए प्रोत्साहित किया। अन्तिम मौर्यों की शिथिलता के कारण उनका साम्राज्य लड़खड़ा रहा था। यूनानियों के यूथीदेमो के समय में हुए इस आक्रमण ने मौर्यसाम्राज्य को ढहा दिया। ई० पू० १९० के आसपास दिमित्र ने अपने सेनापति मिनेन्द्र तथा एपोलोडोटस के साथ समस्त भारत विजय का संकल्प किया। इनने बल्ख से चलकर तक्षशिला को जीता और गान्धार को अपने अधीन कर लिया। दिमित्र ने इस प्रदेश का शासक अपने पुत्र दिमित्र (द्वितीय) को बनाया। दिमित्र ने अपनी राजधानी कपिशा बनाई। तक्षशिला पर अधिकार कर लेने के पश्चात् दिमित्र की सेनाएँ दो मार्गों से भारत की ओर बढ़ीं। एक मार्ग से मिनेन्द्र आगे बढ़ा और दूसरे से दिमित्र तथा एपोलोडोटस। दिमित्र तथा एपोलोडोटस ने सिन्ध जीत लिया और वहाँ दत्तामित्री नामक एक नगर बसाया। इस प्रदेश का शासन एपोलोडोटस को देकर दिमित्र अपनी राजधानी बल्ख लौट गया।

दूसरे मार्ग से मिनेन्द्र आगे बढ़ा और पांचाल, मथुरा, माध्यमिका (चित्तौर के पास नगरी नामक स्थान) तथा साकेत विजय करता हुआ ठेठ पाटलिपुत्र के नगरद्वार पर जा पहुँचा तथा उसकी परिखा को मिट्टी से पाटकर, पुराणों के अनुसार, समस्त विषयों (प्रदेशों) को व्याकुल कर दिया। यद्यपि अन्तिम मौर्य राजा बृहद्रथ इस समय निष्क्रिय पड़ा था, परन्तु उसका वीर सेनानी पुष्यमित्र शुंग इस आसन्न संकट के प्रति जागरूक था और उसने यूनानियों के साथ 'महायुद्ध' किया तथा अपने प्रबल पराक्रम से उन्हें मथुरा तक खदेड़ दिया।

पुष्यमित्र शुंग ने फिर किस प्रकार इस आसन्न विपत्ति से भारत की रक्षा की यह आगे के परिच्छेद का विषय है। यहाँ हम कुछ अन्य यूनानी राजाओं का उल्लेख करेंगे जिनका सम्बन्ध विदिशा के शुंगों से आया। यूनानियों के हाथ से बाख्त्री का साम्राज्य निकल गया। ई० पू० १७१ में युक्रेतिदिस ने बाख्त्री को अपने अधिकार में कर लिया और फिर प्रयत्न करने पर भी दिमित्र उसे वापस न ले सका। विवश होकर उसे अपने भारत के राज्य से ही सन्तुष्ट होना पड़ा। ई० पू० १६५ के लगभग दिमित्र का देहान्त हो गया और उसके पश्चात् कपिशा में उसका पुत्र दिमित्र (द्वितीय) तथा शाकल (स्यालकोट) में उसका सेनापति और जामाता मिनेन्द्र राजा बन गया। सौराष्ट्र तथा उज्जैन में भी इस काल में कुछ युनानी राजा राज्य करने लगे थे, ऐसा ज्ञात होता है। तक्षशिला में भी कोई यूनानी राजा अपना राज्य जमा बैठा था और उसीके वंश में वह अंतलिकित नामक राजा हुआ, जिसका राजदूत विदिशा के शुंगों की राजसभा में रहता था। संभावना यह है कि अन्य यूनानी राजाओं के राजदूत भी विदिशा में गये थे।

भारतीय अनुश्रुतियों में इन यूनानियों को यवन कहा है। आगे चलकर यवन शब्द म्लेच्छ का पर्यायवाची हो गया था और फिर यह शब्द प्रत्येक विदेशी के लिए प्रयुक्त होने लगा था। परन्तु प्रस्तुत युग के साहित्य में यवन शब्द का उपयोग यूनानियों के लिए हुआ है। प्राचीन ईरानी भाषा में आयोनियन यूनानियों के लिए यौन शब्द का प्रयोग किया गया है। भारतीय अनुश्रुति ने इस शब्द को ज्यों का त्यों ले लिया। दिमित्र के प्रारंभिक आक्रमणों के समय से ही इन यवनों का सम्बन्ध भारतवासियों से बहुत निकट का हो चला था। मिनेन्द्र ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया, सम्भवतः इसलिए कि भारत में फैले हुए बौद्ध संघाराम उसके पाँचवें दस्ते का काम देंगे, जिससे भारत की विजय सरल भी हो जाएगी और स्थायी भी हो सकेगी। उसकी यह अभिसन्धि असफल रही और उसे, प्लूटार्क के अनुसार, गंगा किनारे पुष्यमित्र से युद्ध करते हुए प्राण गँवाने पड़े। साथ ही उसने उस दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति को जन्म दिया जिसके परिणामस्वरूप शाकल तक न केवल यूनानी सेनाएँ धकेल दी गयीं, वरन् बौद्ध संघारामों को भी अपने राष्ट्रद्रोह का कुफल भुगतना पड़ा। दिमित्र तथा आगे के अन्य यूनानी राजाओं ने राजनीति में संप्रदाय का उपयोग नहीं किया। उनने भारत की भाषा, व्यवहार और संस्कृति को ही नहीं, उस युग के लोकधर्म, भागवतधर्म को भी अपनाया।

यवन इतिहास की समस्याएँ

इतिहासकार इन यवनों के इतिहास से सम्बन्धित अधिकांश घटनाओं पर एकमत नहीं हैं। पाटलिपुत्र का आक्रान्ता मिनेन्द्र था अथवा दिमित्र यह सर्वाधिक विवाद का विषय रहा है। हाथीगुम्फा अभिलेख में किसी दिमित्र का नाम पढ़ा गया है और गार्गीसंहिता के युगपुराण में धर्ममीत शब्द पढ़कर उसका आशय भी दिमित्र माना गया है। इन दोनों आधारों पर यह स्थापना की गयी है कि पाटलिपुत्र के नगरद्वारों को उध्वस्त करने का प्रयास स्वयं दिमित्र ने किया था। प्राचीन यूनानी इतिहासकार मिनेन्द्र को ही भारतविजेता बतलाते हैं और उसके सिक्के काबुल से गाजीपुर, मथुरा और बुन्देलखण्ड तक पाए जाते हैं। युगपुराण के धर्ममीत उल्लेख पर यह व्याख्या की गयी है

कि पिछले मौर्यों की अधार्मिक प्रकृति के कारण पुराणकार ने दिमित्र को धर्ममीत, अर्थात् धर्म का मित्र या रक्षक मान लिया [1]। यह बहुत बड़ा भ्रम है, पुराणकार यवन आक्रान्ता को कभी धर्ममीत नहीं लिख सकता। वह अपने देश के झगड़े अपने पराक्रम से निपटाने में विश्वास करता है और अत्यन्त उत्कृष्ट राष्ट्रीयता के कारण ही युगयुगान्तर तक उसकी वाणी लोकमानस में सम्मान्य स्थान पाती रही। ये यवन प्रारंभ में बौद्धों के धर्ममीत बने थे और उसके जो भीषण परिणाम हुए उसका साक्षी पुष्यमित्र शुंग का इतिहास है। हाथीगुम्फा लेख में यदि दिमित्र का उल्लेख है तो भी पाटलिपुत्र का आक्रान्ता मिनेन्द्र को मान लेने में कोई कठिनाई नहीं है; क्योंकि मिनेन्द्र, दिमित्र के सेनापति के रूप में ही उस समय आया था। उसने अपनी स्वतंत्र सत्ता संभवत: दिमित्र के निधन के पश्चात् ही ग्रहण की थी।

दिमित्र और मिनेन्द्र के बाद के सभी यूनानी राजाओं का इतिहास उनके सिक्कों से प्राप्त होता है। इन सिक्कों पर लगभग ४० राजाओं का उल्लेख मिला है। केवल अन्तलिकित ऐसा राजा है कि जिसके सम्बन्ध में विदिशा के गरुड़ध्वज के अभिलेख से कुछ बातें ज्ञात होती हैं। यहाँ हमारा काम इन यूनानी राजाओं के इतिहास का निरूपण नहीं है और इन विभिन्न मतमतान्तरों में से कोई सुसंगत क्रम निकाल लेना सरल भी प्रतीत नहीं होता। जहाँ तक मध्यदेश के इतिहास का सम्बन्ध है, एकमात्र महत्त्वपूर्ण घटना यह है कि विदिशा के शुंगों को अपने प्रारंभिककाल में इन यवनों से घोर संघर्ष करना पड़ा था और पाटलिपुत्र, साकेत, मथुरा, एवं माध्यमिका से उन्हें उखाड़कर शाकल (स्यालकोट) तक धकेलना पड़ा था। उनके बाहुबल से त्रस्त होकर इन यूनानियों के राजाओं को उससे संधि करना पड़ी थी। कलिंग का चेदिराज खारवेल और विन्ध्याचल के सातवाहनों ने भी इस राष्ट्रीय अभियान में योग दिया था और उन्हें सौराष्ट्र से आगे बढ़ने से रोक दिया था। फिर वे विदिशा और उज्जैन में आए अवश्य, परन्तु आक्रान्ताओं के रूप में नहीं, मित्रों अथवा राजदूतों के रूप में। उज्जयिनी के ज्योतिषियों ने उनसे होराचक्र, जामित्र (दायामेत्रान), लग्न आदि सीखी और गार्गी-संहिता ने लिखा, 'यद्यपि यवन बर्बर हैं, परन्तु ज्योतिष को जन्म देने के कारण देवताओं के से पूज्य हैं'। उस युग के भारतीयों ने इनके आन्तरिक संगठन का भी निरीक्षण किया और ये उल्लेख मिलते हैं कि इनके राजा अभिषेक के संस्कार से हीन अर्थात् स्वेच्छाचारी थे और उनके समाज में केवल दो ही वर्ग थे, शूद्र तथा दास। वे यूनानियों को शूद्र मानते थे तथा इनका आधिपत्य स्वीकार करनेवाले भारतीयों को दास।

कलिंग का चेदि वंश

उड़ीसा में भुवनेश्वर के निकट उदयगिरि नामक पहाड़ी पर 'हाथीगुम्फा' तथा मंचपुरी नामक गुहाओं में 'ऐर' महाराज महामेघवाहन खारवेल सम्बन्धी तीन शिलालेख प्राप्त हुए हैं और उनके द्वारा इस युग के एक अत्यन्त प्रतापी राजा कलिंग-राज खारवेल का इतिहास प्रकाश में आया है। इन तीनों शिलालेखों में हाथीगुम्फा

१. भगवतशरण उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ १७९ तया १८२।

का शिलालेख खारवेल के कार्यों पर विस्तृत प्रकाश डालता है। शुंगवंश के इतिहा से इस खारवेल का बहुत अधिक सम्बन्ध है, अतएव यहाँ उसके विषय में कुछ लिख दे उचित है। खारवेल के सम्बन्ध में इन शिलालेखों के अतिरिक्त अन्य कहीं से कु जानकारी प्राप्त नहीं होती है और हाथीगुम्फा का शिलालेख इतना अस्पष्ट औ छिन्नभिन्न है कि उसके अनेक शब्दों के वास्तविक पाठ के विषय में विद्वानों में बहु मतभेद रहा है। खारवेल के समय के विषय में भी अत्यधिक विवाद है। श्री जयच विद्यालंकार ने बड़ी दृढ़ता से श्री काशीप्रसाद जायसवाल के मत का समर्थन करते हु खारवेल को पुष्यमित्र शुंग का समकालीन माना है[1]। उसके पश्चात् भी भारती विद्याभवन द्वारा डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार के प्रधान सम्पादकत्व में प्रकाशित 'f हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि इण्डियन पीपल' में खारवेल को पुष्यमित्र शुंग के ए शताब्दी पश्चात् रखा गया है।

श्री जयचन्द्रजी ने जायसवालजी के एक अन्य अनुमान की भी पुष्टि की है श्री जायसवाल का मत है कि पुराणों और जैन अनुश्रुति में शकों के आक्रमणों के पह उज्जयिनी में जिस गर्धभिल राजवंश के राज्य का उल्लेख है वह खारवेल क कोई वंशज था। पुराणों के अनुसार गर्धभिल लोग आंध्रों के समकालीन थे और उन सात राजाओं ने बहत्तर वर्ष राज्य किया था। जायसवालजी का कहना है कि बहत्तर वर्ष खारवेल के समय से उज्जयिनी पर शकों के आक्रमण तक के समय (१७४- १०२ ई० पू०) सूचित करते हैं, और यह ठीक वह समय है जब दक्षिणापथ का सातवाह लगातार दबा हुआ जान पड़ता है। हम इन विभिन्न मतों के ऊहापोह में नहीं पड़न चाहते और श्री जायसवाल तथा श्री जयचन्द्र के मत को ही समीचीन मानक चलते हैं। लिपिविज्ञान तथा उड़ीसा की उदयगिरि पहाड़ी के शिल्प की रचन शैली का आधार लेकर इनकी स्थापनाओं को अमान्य करने की जो चेष्टाएँ क गयी हैं, वे समीचीन नहीं हैं। लिपिविज्ञान और मूर्त्तिविज्ञान द्वारा एक दो शताब्दियअ की भूल हो जाना स्वाभाविक है।

उदयगिरि के शिलालेखों में खारवेल को चेदिवंश का ऐर लिखा है। चेदि राजवं खारवेल को बुन्देलखण्ड से सम्बन्धित करता है। ज्ञात यह होता है कि अवन्ति के चण्ड प्रद्योत और वत्स के उदयन तथा उसके पुत्र बोधिकुमार के निरन्तर दबाव के कार चेदि का यह राजवंश महाकोशल की ओर चला गया और वहां से वह कलिंग की ओ बढ़ा। डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार ने चेदि राजवंश को अकारण ही वसुचैद्योपरिचर सम्बन्धित मान लिया है[2]। वाल्मीकि युग में चेदि जनपद पर यदु के वंशज कौशिक राज्य स्थापित किया था[3]। यह राजवंश अपने आपको यादव कह सकता था वासुदेव कृष्ण युग में यादव राजवंश से चेदि जनपद जीतकर पौरव कुल के वसु ने चैद्यो

१. जयचन्द्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृष्ठ ८२६।

२. दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृष्ठ २१२।

३. पीछे पृष्ठ ११२ ।

परिचर (चेदि को कुचलनेवाला) विरुद धारण किया था।[1] वसु के वंशज चेदि में ही रहकर उसके कुचलनेवालों का विरुद बहुत समय तक धारण नहीं कर सकते थे। साथ ही उपनिषद् युग में वे चेदि से हटकर उत्तर पांचाल में चले गये थे[2]। इसके पश्चात् चेदि पर भग्ग का गणराज्य स्थापित हुआ था, जिसे उदयन के पुत्र बोधिकुमार ने अपदस्थ किया था। अतः चेदि राजवंश का सम्बन्ध पौरव वसुचैद्योपरिचर से जोड़ना बीच के बहुत लम्बे इतिहास को भुला देना है। यदि वसु के वंशज कलिंग आते तो उनकी प्रशस्ति में उनके लिए पौरव जैसा गौरवास्पद शब्द लिखा होता। हाथीगुम्फा प्रशस्ति में 'चेदि राजवंश' का अर्थ चेदि जनपद से आनेवाले राजवंश से है, जो भग्ग अथवा उनके साथ भागनेवाले कोई अन्य होंगे।

इस प्रशस्ति का दूसरा विचारणीय शब्द है 'ऐर'। इसे विद्वानों ने ऐल का रूप माना है। मनु के दस पुत्रों में से इल या इला नामक पुत्र या पुत्री की अवशिष्ट वंश के राजन्यों को मनु से सम्बन्धित करने के लिए कल्पना की गयी थी। कभी स्त्री और कभी पुरुष बन जानेवाले इस मानव से सम्बन्धित किये गये चन्द्रवंशी भी कभी अपने आपको ऐल नहीं लिखते और इतिहास में किसी राजवंश ने अपने लिए यह नाम ग्रहण नहीं किया। र से ल अथवा ल से र में परिवर्तन प्राकृत विशेष की निश्चित प्रवृत्ति के अनुसार होता है। प्रस्तुत प्रशस्ति में ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं है जिसमें संस्कृत के ल से प्राकृत का र बना हो। वास्तव में इस कठिन कल्पना की आवश्यकता भी नहीं है। इस ऐर शब्द का अर्थ उत्कललिपि में लिखी उस हस्तलिखित पुस्तक से बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है जिसमें ऐर वंश को 'अहिर राजा' लिखा है जिसका अर्थ है नागराजा। ये नाग ब्राह्मण थे यह हम पहले भी लिख चुके हैं और आगे भी इसपर विस्तार से प्रकाश डालेंगे। श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने उक्त हस्तलिखित पुस्तक के उल्लेख 'अहिरराजा' को भूल से लिखा माना है और लिखा है "यह नया राजवंश चेति, अर्थात् चेदि क्षत्रियों का था और वह चेदिवंश ऐर, अर्थात् ऐल था[3]"। यदि श्री विद्यालंकार, श्री जायसवालजी की इस स्थापना को स्वीकार करते हैं कि उज्जयिनी के गर्धभिल राजा खारवेल के वंशज थे तब खारवेल क्षत्रिय न होकर ब्राह्मण था; क्योंकि उज्जयिनी के गर्धभिल निश्चित रूप से ब्राह्मण थे। श्री भगवतशरण उपाध्याय ने ठीक ही लिखा है कि यह चेदि राजवंश ब्राह्मण कुल का था[4]। तात्पर्य यह है कि चेदि के प्रवासी ऐर या अहिर राजवंश का खारवेल नागवंश का ब्राह्मण था।

उड़ीसा में ऐसी अनुश्रुति है कि यह ऐर राजवंश कौशल से खण्डगिरि आया था[5]। इस अनुश्रुति की पुष्टि बालाघाट में प्राप्त आहत मुद्राओं से होती है[6]। इनमें सामने की

१. पीछे पृष्ठ ११८।
२. पीछे पृष्ठ १२२।
३. भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृष्ठ ८००।
४. प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ १७७।
५. भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृष्ठ ८००।
६. जर्नल ऑफ दि न्यूमिस्मेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया, भाग १३, १४ और १५।

ओर चार चित्र अंकित हैं—(१) हाथी, (२) नन्दी, (३) गोनांगल, और (४) बिन्दु-मण्डलयुक्त नेत्र, तथा इनकी पीठ सपाट है। इनका वजन १२ रत्ती है। नन्द और मौर्यकाल का कार्षापण ३२ रत्ती का होता है और इनके ऊपर अंकित चिह्न भी मौर्यों की मुद्राओं से भिन्न हैं। बालाघाट के ये सिक्के १०० रत्ती तौल के शतमान सिक्के के अष्टभाग सिक्के हैं, जिनको शाण[1] कहा जाता था। नन्दमान इनके बाद हुआ है। इन सिक्कों को प्रचलित करनेवाले शिव के उपासक ज्ञात होते हैं, अतः उनके सिक्कों पर नन्दी का लांछन था। आगे खारवेल ने अपने वंश को महामेघवाहन (हाथियों की सवारी करनेवाला) कहा ही है। बालाघाट के ये सिक्के इन्हीं चेदियों के होंगे, जिनने बुन्देलखण्ड से छत्तीसगढ़ होते हुए कलिंग पर अधिकार जमा लिया।

खारवेल का धर्म

इतिहास लेखकों ने खारवेल को जैन धर्मानुयायी लिखा है। हाथीगुम्फा लेख से यह प्रकट नहीं होता कि खारवेल वास्तव में जैन धर्म में दीक्षित हो गया था। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि यह हाथीगुम्फा लेख अर्हत की निशीदी अर्थात् जैन गुहा मन्दिर में खारवेल की जैन रानी (श्री जायसवाल के पाठ के अनुसार) द्वारा खुदवाया गया है। यह शिलालेख जैन धर्म से संबंधित प्राचीनतम शिलालेख अवश्य है। इसमें खारवेल को श्री जायसवाल के अनुसार अभिविजय में राजा वेण के समान और श्री बरुवा के अनुसार यौवन का अभिविजय करनेवाला बतलाया गया है। परन्तु राजा वेण भी जैन नहीं था। उसने जाति-पाँति उठा दी थी, इस कारण उससे ब्राह्मण चिढ़ गये थे[2]। परन्तु इसके विपरीत खारवेल तो ब्राह्मण भी है और ब्राह्मण-भक्त भी। वे "पत्तों से भरे हुए कल्पवृक्ष, घोड़े, हाथी, हाँकनेवाले समेत रथ, मकान और अग्निकुण्डों सहित शालाएँ ब्राह्मणों को देते थे[3]"। यह देखते हुए श्री बरुआ का पाठ सुसंगत ज्ञात होता है।

खारवेल के धर्म के विषय में इस शिलालेख में दूसरा उल्लेख राजसूय यज्ञ कराने का है। हमारी जानकारी में जैन धर्म में राजसूय यज्ञ करने की कोई व्यवस्था नहीं है। श्रमण धर्मों का मूल ही यज्ञविरोधी था। वे उनके प्रति किसी दशा में सहमत नहीं हो सकते थे। उनमें दक्षिणाएँ ब्राह्मणों को मिलती थीं। खारवेल के धर्म का अगला उल्लेख इस शिलालेख में राजा नन्द द्वारा ले जाई गयी कालिंग जिनमूर्त्ति को मगध से वापस ले आने का है। यह जिनमूर्त्ति प्रधानतः इस कारण वापस लाई गयी थी कि वह कलिंग की थी, उसका बदला कलिंग के अभिमानी खारवेल को लेना था और संभवतः अपनी किसी रानी के धार्मिक विश्वासों को भी उसे सुख पहुँचाना था। सोलहवीं पंक्ति में इस लेख में जिन 'चौंसठ अध्यायवाले अंग सप्तिक का मौर्यकाल में उच्छिन्न होना' पढ़ा गया था वह अब 'मुख्य कलाएँ' पढ़ी गयी हैं। खारवेल को इस शिलालेख में सब धर्मों का पूजनेवाला, क्षेमराज,

---

१. महाभारत, वनपर्व १३४।१५।

२. श्री काशीप्रसाद जायसवाल : कलिंग चक्रवर्ती महाराज खारवेल के शिलालेख का विवरण, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ८, पृष्ठ ३११।

३. हाथीगुम्फा लेख, पंक्ति ८ व ९।

वृद्धिराज, भिक्षुराज, धर्मराज और राजर्षि कहा है। ये विरुद उसके निर्मल चरित्र तथा सब धर्मों के पोषक होने के रूप को ही प्रकट करते हैं। उसके जैन अथवा बौद्ध होने के प्रमाण नहीं हैं। वह जिस प्रकार ब्राह्मणों को जागीरें तथा दान देता था उसी प्रकार जैनों को भी दान देता था।

खारवेल का धर्म क्या था यह वास्तव में बहुत महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। महत्त्व की बात यह है कि वह राजधर्म को समझता था, एक धर्म विशेष उसके अनुग्रह का अधिकारी नहीं था और यही भारत का मान्य राजधर्म रहा है। इस व्यापक राजधर्म के अधीन उसकी रानी अथवा वक्रदेव जैन लेन (गुहा मन्दिर) बनाने के लिए स्वतन्त्र थे। प्राचीन इतिहास में भी शैव अथवा अन्य श्रौत धर्मावलम्बी राराओं की जैन अथवा बौद्ध रानियों के अस्तित्व के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

हाथीगुम्फा प्रशस्ति का रूप

खारवेल इस प्रशस्ति के अनुसार प्रजारंजक, बड़े-बड़े निर्माण करानेवाला, कलाप्रेमी, विद्वान तथा बहुत बड़ा सेनानायक ज्ञात होता है। परन्तु इस प्रशस्ति के पढ़ने से ही यह प्रकट होता है कि इसमें अतिशयोक्ति से काम लिया गया है। यदि इस प्रशस्ति के बृहस्पति-मित्र और द्विमित्र क्रमशः पुष्यमित्र शुंग और यूनानी सम्राट दिमित्र हैं, तब निश्चय ही इसके कथन अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। यूनानी विजेता इतने भीरु नहीं थे कि खारवेल के राजगृह का घेरा डालने के समाचार मात्र से अपनी सेना और वाहनों को लेकर मथुरा भाग जाते और न पुष्यमित्र शुंग ही इतना कमजोर था कि वह खारवेल के चरणों में वन्दना करने के लिए झुक जाता। यूनानी सेना लौटी थी पुष्यमित्र के प्रबल धक्के से। यूनानियों की सेना का नेतृत्व कर रहा था अपने युग का सर्वश्रेष्ठ योद्धा मिनेन्द्र। इस सेना और उसके सेनानी के विजेता का सिर झुकने का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। खारवेल की दक्षिण और पश्चिम की विजयों के सम्बन्ध में जो कथन किये गये हैं उनकी सत्यता की परीक्षा करने का आज कोई साधन हमारे पास नहीं है। इस प्रशस्ति में यह उल्लेख विचारणीय है, 'दूसरे वर्ष में शातकर्णि की कुछ चिन्ता न करते हुए उसने पश्चिम देश के बहुत से हय, गज, नर, रथ भेजे', अर्थात् उसकी यह सेना शातकर्णि की सेना की मार से बचती हुई पश्चिम पहुँची थी। एक ओर तो बचाया गया शातकर्णि को और दूसरी ओर पश्चिम के लिए दक्षिण का रास्ता अपनाकर पुष्यमित्र शुंग और यवन विजेताओं की सीधी टक्कर से भी पीछा छुड़ाया गया। यह प्रशस्ति ही सत्य का उद्‌घाटन कर देती है, यदि सावधानी से उसे देखा जाए।

परन्तु इस शिलालेख से यह बात अवश्य स्पष्ट होती है कि पुष्यमित्र शुंग और सातवाहन राजाओं के पश्चात् भारतवर्ष में उस समय कलिंग का खारवेल ही अत्यन्त शक्तिशाली राजा था।

खारवेल का परिवार

उदयगिरि पहाड़ी की मंचपुरी गुहा में नीचे का भाग किसी महाराज वक्रदेव ने उत्कीर्ण कराया है, जो अपने आपको कलिंगाधिपति तथा महामेघवाहन लिखता है। इस गुहा का ऊपरी भाग खारवेल की अग्रमहिषी (पटरानी) ने बनवाया है, जो ललार्क के पुत्र

हस्तिसिंह के प्रपौत्र की पुत्री थी। हाथीगुम्फा शिलालेख में श्री जायसवाल ने 'सिंहप्रस्थ के राजा की पुत्री सिन्धुला रानी'[1] शब्द पढ़े हैं। इन तीनों शिलालेखों के समन्वय से खारवेल के परिवार पर प्रकाश पड़ता है। पट्टमहिषी सिन्धुला ललार्क के पुत्र हस्तिसिंह की चौथी पीढ़ी में थी। मंचपुरीगुहा के पास में हाथीगुम्फा अर्थात् हस्तिगुहा है। संभव यह है कि यह हस्तिसिंह जैन हो और हाथीगुम्फा पर उसके द्वारा जैन धर्म संबंधी कोई निर्माण हुए हों और उन्हीं की परम्परा को उसके प्रपौत्र की पुत्री, खारवेल की पट्टमहिषी ने जारी रखा हो। महाराज वक्रदेव इसी सिन्धुला के पुत्र ज्ञात होते हैं। डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार[2] ने वक्रदेव की खुदवाई हुई गुहा सिन्धुला की गुहा के नीचे होने के कारण यह अनुमान किया है कि वक्रदेव की गुहा कालक्रम में पहले खुदवाई गयी होगी। परन्तु मंचपुरी की ये गुहाएँ शिलाओं में उत्कीर्ण हैं। इनके लिए यह आवश्यक नहीं है कि नीचे की गुहा पहले खोदी जाती और ऊपर की बाद को। ज्ञात यह होता है कि अपने मातृकुल में हस्तिसिंह से प्रारंभ की गयी परम्परा को सिन्धुला के पुत्र वक्रदेव ने आगे बढ़ाया।

हाथीगुम्फा तथा मंचपुरी के वक्रदेव के शिलालेखों में प्रयुक्त विशेषण 'महामेघवाहन' पर भी विचार करने की आवश्यकता है। इसका आशय हो सकता है—महामेघवाहन का वंशज। तब क्या महामेघवाहन इस वंश का या इस कलिंग राज्य का संस्थापक था। हाथीगुम्फा लेख में खारवेल को इस राजवंश का तीसरा राजा कहा है। पहला राजा कौन था इसका इसमें कोई उल्लेख नहीं है। संभावना यह है कि यह महामेघवाहन उस सुदूर पूर्वज की स्मृति हो जो महामेघों अर्थात् हाथियों पर बैठकर चेदि से महाकोशल होता हुआ कलिंग आया।

खारवेल का प्रारंभिक जीवन

हाथीगुम्फा शिलालेख के अनुसार चेदि राजवंशवर्धन कलिंगाधिपति श्री खारवेल अपने बचपन के पन्द्रहवें वर्ष तक कुमारक्रीड़ाएँ करते रहे। उसके पश्चात् लेख्य (राजकीय शासनादेशों की विधि), रूप (टकसाल के नियम), गणना (हिसाब-किताब), व्यवहार (न्याय तंत्र) और विधि (कानून) की दक्षता प्राप्त करते रहे। सोलहवें वर्ष में वे युवराज के पद पर आसीन हुए। चौबीसवें वर्ष में इनका राज्याभिषेक हुआ।

निर्माण तथा प्रजारंजन

हाथीगुम्फा प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि खारवेल ने कलिंग में जनोपयोगी अनेक निर्माण कराए थे। इस शिलालेख में उसके राज्याभिषेक के पश्चात् तेरह वर्ष का कार्यक्रम दिया हुआ है। संभवतः उसके राज्याभिषेक के तेरहवें वर्ष में ही वह लेण बनी थी, जिसमें यह अभिलेख खुदा हुआ है। इस अभिलेख से ज्ञात होता है कि खारवेल बहुधा एक वर्ष राजधानी में रहकर प्रजारंजन अथवा निर्माण करता था और उसके पश्चात् एक वर्ष सेना लेकर विजय-यात्रा के लिए निकलता था। यद्यपि यह क्रम अनेक बार टूटा है। राज्यारोहण के पहले वर्ष उसने वातविहत (तूफान से गिरे हुए) गोपुर (राजधानी के फाटक), प्राकार

---

१. हाथीगुम्फा शिलालेख, पंक्ति १५।

२. दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृष्ठ २१३।

(कोट) तथा उसके भवनों की मरम्मत कराई, कलिंग राजनगरी के ताल, तड़ाग, बाँध बनवाए और बागों की मरम्मत करवाई और कलिंग की पैंतीस लाख जनता का रंजन किया। तीसरे वर्ष खारवेल राजधानी में तो रहे; परन्तु कोई निर्माण नहीं किये गये। इस वर्ष नगरी में मल्लयुद्ध, नृत्य, गीत, वाद्य और उत्सव समाज आदि कराकर राजधानी के निवासियों का मनोरंजन किया गया। राज्याभिषेक के पांचवें वर्ष राजा नन्द द्वारा बनवाई गयी नहर को राजधानी तक लाया गया और इस प्रकार जलकष्ट का निवारण किया गया। छठे वर्ष में बड़े ठाट-बाट से राजसूय यज्ञ किया गया और सातवें वर्ष व्रजकुल की दुहिता घुषिता नामक रानी ने राजकुमार को जन्म दिया। राज्याभिषेक के नवें वर्ष महाराज श्री खारवेल ने ब्राह्मणों को दान और जागीरें दीं तथा अड़तीस लाख कार्षापण व्यय करके महाविजय नामक प्रासाद बनवाया। बारहवें वर्ष में सैकड़ों कारीगरों को जागीरें दीं और उनसे बड़े-बड़े शिखर बनवाए। तेरहवें वर्ष में जैन श्रमणों के लिए अनेक निर्माण कराए गये।

खारवेल की विजय-यात्राएँ

हाथीगुम्फा प्रशस्ति के अनुसार उसमें वर्णित तेरह वर्षों में से खारवेल ने छह वर्षों में भारत की विभिन्न दिशाओं में विजय-यात्राएँ कीं। यह क्रम राज्याभिषेक के दूसरे वर्ष से ही प्रारम्भ हुआ और शातकर्णि राजा की कुछ भी चिन्ता न करते हुए खारवेल ने पश्चिम दिशा की ओर अपनी सेना भेजी तथा कन्हवेणा (कृष्णानदी) के किनारे मुषिक नगर को त्रस्त किया।

राज्याभिषेक के चौथे वर्ष फिर पश्चिम की ओर आक्रमण किया गया, जहाँ भोजकों के रथी अपने मुकुट और छत्रश्रृंगार छोड़कर उसके चरणों पर झुकने को बाधित हुए।

राज्याभिषेक के आठवें वर्ष में उसकी महासेना ने गोरथगिरि (गया के पास बराबर नामक पहाड़ी) को तोड़कर राजगृह को घेरा और उसके इस पराक्रम का सम्वाद सुनकर ही यूनानी विजेता दिमित्र पाटलिपुत्र से मथुरा भाग गया।

राज्याभिषेक के दसवें वर्ष उसने दण्ड, सन्धि और साम साथ में लेकर भारतवर्ष (अन्तर्वेद) पर आक्रमण किया, जहाँ से उसे मणिरत्न प्राप्त हुए[1]।

राज्याभिषेक के ग्यारहवें वर्ष पृव राजा की बसाई हुई पिथुंड नामक मण्डी को खारवेल ने गधों के हल से जुतवा डाला और एक सौ तेरह वर्ष पुराने तमिल देश के संघ को तोड़ दिया।

राज्याभिषेक के बारहवें वर्ष खारवेल ने उत्तरापथ अर्थात् तक्षशिला की ओर आक्रमण किया और वहाँ के राजाओं को त्रस्त किया। इसके पश्चात् उसने मागधों को भयभीत करते हुए अपने हाथियों को मौर्यों के प्रसिद्ध राजप्रासाद सुगांगेय तक पहुँचाया। मागध राजा बृहस्पतिमित्र (पुष्यमित्र) को पैरों गिरवाया, राजा नन्द की ले जाई गयी कालिंग जिनमूर्त्ति को स्थापित किया और अंग तथा मगध के धन को गृहरत्नों के प्रतिहारों सहित लिवा लाया। इसी वर्ष खारवेल द्वारा सैकड़ों घोड़े, हाथी, रत्न, माणिक्य और अनेक मोती-मणि पाण्ड्य राजा के यहाँ से हरण करवा लिये गये।

---

१. इस समय अन्तर्वेद में शुंगों और यूनानियों के बीच भीषण संग्राम चल रहा था।

इसके आगे की किसी विजय का वृत्तान्त हाथीगुम्फा प्रशस्ति में नहीं है। यदि इस प्रशस्ति के सब कथन सही हैं तो खारवेल जैसा प्रतापी वीर भारत-भूमि पर दूसरा नहीं हुआ। परन्तु कठिनाई यही है कि हम खारवेल को चाहें तो ई० पू० दूसरी शताब्दी में मानें, चाहे ई० पू० पहली शताब्दी में, इन दोनों ही समयों में उत्तरापथ अर्थात् तक्षशिला से मगध तक और पाण्ड्य से गुजरात तक मैदान इस तरह खाली नहीं था कि महामेघवाहन की सेनाएँ अप्रतिहत रूप से अपनी विजय-यात्राएँ करती रहतीं। हाथीगुम्फा का यह शिलालेख भारतीय इतिहास की एक समस्या है और इस पर तथा इसके सम्बन्ध में अबतक किये गये कथनों पर पुर्नविचार की आवश्यकता है। परन्तु मध्यदेश का इतिहास लिखते समय हम केवल यही कहना चाहते हैं कि परमप्रतापी कलिंग चक्रवर्ती महामेघवाहन महाराज श्री खारवेल यदि उत्तरभारत और मध्यदेश में सेनाएँ लेकर पधारे भी थे तो उन अवसरों पर, जब सेनापति पुष्यमित्र शुंग भारत-भूमि से यवनों को वहिष्कृत करने का पराक्रम दिखा रहा था और इनके द्वारा यदाकदा उसकी पीठ में छुरा भोंकने का प्रयास ही किया जाता था। यह निश्चय है कि हाथीगुम्फा लेख द्वारा इस युग की शासनपद्धति, कलिंग की आंतरिक स्थिति तथा खारवेलपूर्व भारत के इतिहास के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य ज्ञात होते हैं। अत्यन्त सावधानी से देखने पर इससे समकालीन भारत की स्थिति पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है। पुष्यमित्र शुंग, सातवाहन तथा यूनानियों के विषय में भी कुछ सूत्र मिल जाते हैं। यह शिलालेख यूनानी सम्राट सिकन्दर द्वारा देवपुत्र जैसे लम्बे-चौड़े विरुद धारण करने और कुछ प्राचीन यूनानी इतिहास लेखकों के समान पराजय को छिपाने और विजय को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाने की परम्परा सुदूर कलिंग तक पहुँच जाने की साक्षी अवश्य प्रस्तुत करता है, जो आगे चलकर भारत के राजन्यों में इतनी गहरी जड़ जमा गयी कि स्वराज्य के पूर्व अंग्रेजी साम्राज्य के वशीभूत नरेश भी दो-चार पंक्तियों से कम की उपाधियों से संतुष्ट न होते थे।

वैदिश ज्येष्ठनाग तथा सातवाहन

शिशुनाग का साम्राज्य महानन्दी के साथ अन्त हो जाने के पश्चात् नागों का राजवंश फिर हमें विदिशा में उदित हुआ दिखाई देता है। मौर्यों ने उज्जयिनी को अपनी उप-राजधानी बनाकर दृढ़ अधिकार जमा रखा था, संभवतः वर्त्तमान दतिया के पास स्वर्णगिरि में अपनी दूसरी उप-राजधानी बना रखी थी, परन्तु इस अंचल में विदिशा, पद्मावती, कान्तिपुरी आदि स्थलों पर नागों के जनपद अपना प्रभाव जमाए हुए थे। पुराणों में शुंगों के पूर्व विदिशा के एक नागवंश का उल्लेख है। इनमें शेष, भोगिन, रामचंद्र, धर्मवर्मन या धनवर्मन और वंगर का उल्लेख किया गया है इन नागों को शुंगों के पश्चात् होनेवाले नव अथवा नये नागों से अन्तर दिखाने के लिए ज्ये ठ नाग लिखा है। इन ज्येष्ठ नागों के क्रम में आगे भूतनन्दी, शिशुनन्दी, यशोनन्दी और शिवनन्दी हुए। इन ज्येष्ट नागों के संबंध में बहुत थोड़ी बातें ज्ञात हो सकी हैं। शेष, रामचन्द्र और शिशुनन्दी के अनेक सिक्के मिले हैं, जिन पर शेषदात, रामदात तथा शिशुचंद्रदात नाम पढ़े गये हैं[1]। शेष के विषय में पुराणों

---

१. काशीप्रसाद जायसवाल : अन्धकारयुगीन भारत, पृष्ठ २२।

में यह उल्लख मिलता है कि उसने अपने शत्रु की राजधानी जीती थी। इस विजित राजधानी को श्री जायसवालजी ने बुलन्दशहर के पास इन्द्रपुर माना है[1]।

शिशुनन्दी का राज्यकाल संभवत: अशोक मौर्य के समय से ही प्रारम्भ होता है। इसका दौहित्र शिशुक या सिमुक पुरिका में राज्य कर रहा था। शिशुनन्दी के पश्चात् लगभग ५ वर्ष तक यशोनन्दी का राज्य रहा और इसके पश्चात् संभवत: शिवनन्दी का राज्य हुआ। शिवनन्दी के राज्य में विदिशा के अतिरिक्त पद्मावती भी थी। इसके राज्यकाल के चौथे वर्ष में माणिभद्र यक्ष के भक्तों की गोष्ठि ने अपने आराध्य यक्ष की प्रतिमा का निर्माण पद्मावती में कराया।

पद्मावती जनपद के सिक्के

डॉ० हरिहर त्रिवेदी ने[2] अभी हाल ही में कुछ ताँबे के सिक्के प्रकाशित किये हैं। इनके ऊपर एक ओर छह पंखुड़ियों का कमल बना हुआ है, साथ में कच्छप, स्वस्तिक, वृषश्रृंग तथा उज्जयिनी नामक चिह्न हैं। ये सिक्के पद्मावती की टकसाल के हैं। उनका मत है कि पद्मावती में ये ईसवी पहली तथा दूसरी शताब्दी में प्रचलित थे। परन्तु वे यह भी लिख गये कि ये सिक्के नाग राजाओं के पद्मावती में राज्य स्थापन करने के पहले जारी किये गये थे। हमारे इस विद्वान मित्र की यह धारणा संभवत: इस आधार पर है कि नाग राजाओं ने अपने निज के सिक्के भी जारी किये थे। परन्तु यह स्मरणीय है कि जनपदों के उच्छेता नागराजा नहीं थे, गुप्त-सम्राट थे। नागों ने जनपदों के तथा स्थानीय राजाओं के अथवा गणतंत्रों के सिक्के बन्द नहीं किये थे। पद्मावती की टकसाल के सिक्कों का उल्लेख श्री गर्दे महोदय ने भी किया था, परन्तु डॉ० त्रिवेदी ने इनका सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से प्रकाशन किया है। इन सिक्कों से पद्मावती जनपद के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है, जिसका उल्लेख हमने पहले किया है[3]।

नाग नागपूजक नहीं थे

इन वैदिक नागों को वायुपुराण में वृष अर्थात् शिव का नन्दी कहा गया है। वे शिव के परम भक्त थे। अनेक विद्वान नागों को नागपूजक बतलाते हैं। मुहें जो-डेरो में नागों की जो मुद्रा प्राप्त हुई है उसमें वे शिव की उपासना कर रहे हैं। उनके सिर पर नागछत्र बनाए हुए दिखाए गये हैं। पद्मावती में अथवा अन्यत्र कहीं भी मुद्राओं या मूर्त्तियों पर नाग राजाओं पर अहिछत्र बतलाया गया है, कहीं भी उन्हें नाग की पूजा करते हुए अंकित नहीं किया गया। शेषशायी विष्णु के माथे पर नागछत्र होता है; परन्तु इसी से विष्णु नागपूजक नहीं माने जाते। यह केवल इस तथ्य का सूचक है कि शेषशायी विष्णु के रूप का विकास नागों की छत्रछाया में हुआ है। इसी प्रकार अपने वंशनाम के कारण नाग राजाओं ने अहि अथवा नाग को अपने प्रतीक के रूप में अपनाया और आगे कभी उसे शिव के गले का हार अपने

---

१. काशीप्रसाद जायसवाल : अन्धकारयुगीन भारत, पृष्ठ २५।

२. मुद्रण के पूर्व अपना यह लेख हमें दिखाकर डॉ० त्रिवेदी ने जो सहायता की है, उसके लिए हम उनके आभारी हैं।

३. पीछे पृष्ठ ३४।

प्रतीक के रूप में बना दिया। नाग शिवभक्त थे और शिव के नन्दी कहलाने का गौरव अनुभव करते थे। नागपूजा के उल्लेख उस वर्ग की सूचना देते हैं जिनने इन नागों को ही किसी काल में देववत् पूज्य मान लिया था और अपनी श्रद्धा की अंजलियाँ इन्हें अर्पित करता था। आगे नाग राजा विष्णुपूजक भी हो गये थे।

पुष्यमित्र और नाग

पुष्यमित्र शुंग ने लगभग ई० पू० १८७ में मौर्य साम्राज्य की बागडोर सँभाली थी, इसके पूर्व ही उसका ध्यान विदिशा के इन नागों की ओर गया होगा और ई० पू० तीसरी शताब्दी के अन्त में ही शिवनन्दी को अपनी स्वतन्त्र सत्ता छोड़नी पड़ी होगी और विदिशा से संभवतः मौर्यों या शुंगों के मांडलिक के रूप में पद्मावती जाना पड़ा होगा। यह स्मरणीय है कि उसके राज्य के चौथे वर्ष तक उसे स्वामी अर्थात् स्वतन्त्र राजा लिखा गया है।

श्री जायसवाल ने शिवनन्दी के दौहित्र शिशुक या सिमुक को विन्ध्यशक्ति के पुत्र के साथ समानता स्थापित कर उसे विन्ध्यशक्ति के पुत्र प्रवीर का भाई मान लिया है[1] और इस प्रकार विदिशा के उन ज्येष्ठ नागों का समय शुंगों के पश्चात् खींच लाए हैं। पुरिका का यह शिशुक या सिमुक वह है जो सातवाहन वंश के राज्य का संस्थापक था और जैसा हम आगे देखेंगे उसका राज्यकाल ई० पू० २४० है। वास्तव में जायसवालजी को इस अस्पष्टता का भान था और उनने अनेक स्थलों पर लिखा है कि नागवंश का अस्तित्व शुंगों के पहले विदिशा पर था[2]। वाकाटकों के क्रम में शिशु या शिशुक का नाम पुराणों में नहीं मिलता। वे उसे आन्ध्र राजाओं के क्रम में गिनाते हैं। सातवाहनों के शिलालेखों में भी उसे उस वंश का संस्थापक माना गया है। यह ज्येष्ठ नागवंश शुंगों के पहले था इसके लिए श्री जायसवालजी का एक तर्क उद्धृत किया जा सकता है। माणिभद्र यक्ष की चरण चौकी के अभिलेख में शिवनन्दी को 'स्वामी' लिखा गया है। राजा की यह स्वामी उपाधि आरंभिक सातवाहन राजाओं के साथ लगाई जाती थी। वे लिखते हैं, 'यह शब्द सम्राट का सूचक है[3]। आरंभिक सातवाहनों को स्वयं श्री जायसवालजी ने शुंगों का समसामयिक माना है। शुंगों के पश्चात् ही यूनानियों के सम्पर्क से महाराज आदि विरुद ग्रहण किये गये थे। शिवनन्दी का यह 'स्वामी' विरुद उसे शुंगों के पश्चात् नहीं रखता।

शिवनन्दी को कुषाणों ने अपदस्थ नहीं किया, जैसा श्री जायसवालजी का अनुमान है, वरन् उसके समय तक विदिशा का शुंग सेनापति पुष्यमित्र अपना प्रभाव स्थापित कर चुका होगा और उसने ही विदिशा से शिवनन्दी की सत्ता समाप्त कर उसे पद्मावती हट जाने के लिए विवश किया। शिशुनन्दी का दौहित्र पुरिका का राजा शिशुक या सिमुक भी इसी समय दक्षिणापथ की ओर प्रवास करने के लिए बाध्य किया गया होगा, जहाँ उसने प्रतिष्ठान में राजधानी बनाकर सातवाहन कुल के राज्य की नींव डाली। अगले सौ-सवासौ वर्ष विदिशा के नाग पद्मावती तथा कान्तिपुरी में कहीं मांडलिक के रूप में बने रहे।

---

१. अन्धकारयुगीन भारत, पृष्ठ ३०-३१।

२. वही, पृष्ठ १६।

३. वही, पृष्ठ २०।

सातवाहन वंश

परन्तु इन नागों के दौहित्र पुरिका के राजा सिमुक ने इनकी परम्परा को यशस्वी बनाया। डॉ० रायचौधरी ने[1] इसी सिमुक या शिशुक को सातवाहन वंश के राज्य का संस्थापक माना है। वे सिमुक को ब्राह्मण और नाग रक्त के सम्मिश्रण से उत्पन्न मानते हैं, जिसका आधार द्वात्रिंशिका की वह कथा है जो हमने आगे उद्धृत की है। इसमें शालिवाहन (सातवाहन) को शेष नाग का पुत्र कहा गया है। वह नागपुत्र अथवा पुराणों के अनुसार नाग दौहित्र था। नागों के वंश के संबंध में हम पहले प्रकट कर चुके हैं, अतएव सिमुक मातृकुल और पितृकुल दोनों से ही विशुद्ध ब्राह्मण वंश का था। सातवाहन शिलालेख तो इस वंश को ब्राह्मण वंश लिखते ही हैं।

ज्ञात यह होता है कि सिमुक को पुरिका से दक्षिण की ओर जाना पड़ा और उसने प्रतिष्ठानपुर (पैठन) में अपना राज्य स्थापित किया। पुराणों में इस वंश को आन्ध्र अथवा आन्ध्रभृत्य कहा गया है, जबकि इन शिलालेखों में उन्हें सातवाहन या शातकर्णि कुल का कहा गया है। बौद्ध अनुश्रुतियों में मज्झिम देश (मध्यदेश) की दक्षिणी सीमा पर सेतकन्तिक (शातकर्णिक) नगर का उल्लेख है। इसके विषय में अनुमान यह किया जाता है कि इस नगर का संबंध शातकर्णि नामक सातवाहन राजा से था[2]। सम्भावना यह है कि मध्यदेश की दक्षिण सीमा पर कभी आन्ध्र जाति रहती थी। ऐतरेय ब्राह्मण का रचना-काल ई० पू० ५०० के पहले का माना जाता है। इसमें पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द और मूतिव जातियों के साथ आन्ध्रों का भी उल्लेख है, जिन्हें दस्यु कहा गया है तथा जिनका निवास आर्यावर्त्त की सीमाओं पर बतलाया गया है[3]। ईसवी ५वीं शताब्दी में लिखी गयी सुत्तनिपात की टीका में एक अनुश्रुति का उल्लेख है जिसमें अश्मक और मूलक जनपदों को अन्धक (संस्कृत आन्ध्रक) राज्य कहा गया है। अश्मक और मूलक जनपद अवन्ति जनपद की दक्षिण सीमा से लगे हुए थे। संभव है कि बौद्ध अनुश्रुति की यह सेतकन्तिक नगरी अश्मक जनपद में हो, यहाँ इन आन्ध्रों का राज्य हो और 'सातवाहन' प्रारम्भ में उनका 'भृत्य' सेनापति या मंत्री रहा हो और बाद में उसने राज्य स्थापित कर लिया हो। 'आन्ध्रभृत्य' शब्द का कुछ विद्वानों ने यह अर्थ बतलाया है, 'वे आन्ध्र जो प्रारम्भ में किसी अन्य शक्ति के अर्थात्, मौर्य या शुंगों के भृत्य रहे हैं[4]। आन्ध्रभृत्य का यह अर्थ सर्वथा असंगत है। काण्वों को पुराणों ने शुंगभृत्य कहा है और उसका अर्थ है शुंगों के भृत्य, न कि वे शुंग जो अन्य शक्ति के भृत्य रहे हों। उसी प्रकार आन्ध्रभृत्य का आशय उस कुल से हो सकता है जो कभी आन्ध्रों का भृत्य रहा था।

---

१. पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शण्ट इण्डिया, पृष्ठ ३३६।
२. दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृष्ठ १९४।
३. ऐतरेय ब्राह्मण ७।९२।१८
४. दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृष्ठ १९२।

कथासरित्सागर ने इस परम्परागत अनुश्रुति को अन्य रूप में सुरक्षित रखा है। उसके अनुसार किसी दीपकर्णि (अथवा शातकर्णि) राजा को सात नामक एक गुह्यक से एक पुत्र प्राप्त हुआ, जिसका नाम उसने सातवाहन रखा; क्योंकि वह उस सात की पीठ पर बैठकर आया था[1]। इस दीपकर्णि (अथवा शातकर्णि) राजा का सम्बन्ध बौद्ध अनुश्रुतियों के सेतकन्तिक (शातकर्णिक) नगर से हो सकता है।

यह निश्चित है कि इस सातवाहन कुल के प्रारम्भिक राजाओं का सम्बन्ध वर्त्तमान आन्ध्र देश से नहीं था। पिछले सातवाहन राजाओं के बेल्लारि जिले में प्राप्त अभिलेखों में उस प्रदेश को सातवाहनिहार अर्थात् सातवाहनों का प्रदेश कहा गया है। यह प्रदेश इस सातवाहन वंश द्वारा वाशिष्ठीपुत्र पुलमावि के समय में ई० सन १३० के लगभग जीता गया था और उस समय से ही उसे सातवाहन प्रदेश कहा गया होगा। ईसवी प्रथम शताब्दी में प्लिनी ने आन्ध्र देश के ३० गढ़ोंयुक्त नगर तथा एक लाख पैदल, दो हजार अश्वारोही और एक हजार हाथियों की सेना का उल्लेख किया है। प्लिनी ने संभवतः सातवाहन वंश के तीसरे राजा शातकर्णि के सैन्यबल की अनुश्रुति को लिखा है।

सातवाहन राजाओं के समय के सम्बन्ध में भी विद्वानों में बहुत मतभेद है। डॉ० भाण्डारकर, डॉ० रायचौधरी और डॉ० त्रिपाठी उन्हें ई० पू० प्रथम शताब्दी के मध्य में मानते हैं और श्री जायसवाल तथा श्री जयचन्द्र विद्यालंकार इनका समय ई० पू० तीसरी शताब्दी से प्रारम्भ मानते हैं। इस विवाद का मूल पुराणों के पाठों में प्राप्त मतभेद है। वायुपुराण में सातवाहन राजाओं का राज्यकाल ३०० वर्ष दिया गया है और मत्स्यपुराण इनका राज्यकाल ४६० वर्ष कहता है। परन्तु खारवेल को पुष्यमित्र शुंग का समकालीन मान लेने के पश्चात् मत्स्यपुराण का उल्लेख ही विश्वसनीय प्रतीत होता है क्योंकि हाथीगुम्फा शिलालेख में शातकर्णि का स्पष्ट नामोल्लेख है। सातवाहनों का राज्य ई० सन २२५ के आसपास समाप्त हुआ था। इस आधार पर सातवाहन राज्य का आरम्भ इससे ४६० वर्ष पूर्व, अर्थात् ई० पू० २३५ के लगभग माना जाता है।

सिमुक

सातवाहन वंश के राज्य का संस्थापक सिमुक अथवा शिशुक था। नानाघाट शिलालेख में इसका नाम सिमुक सातवाहन दिया गया है। पुराणों में इसके सिमुक, सिन्धुक, शिशुक नाम मिलते हैं। इसकी राजधानी प्रतिष्ठानपुर (वर्त्तमान पैठन) थी। अनुमान यह है कि लगभग ई० पू० २४० में सिमुक ने सातवाहन राज्य की स्थापना की होगी। सिमुक का राज्यकाल पुराणों के अनुसार तेईस वर्ष रहा। हम यह ऊपर लिख चुके हैं कि यह सिमुक अनुश्रुति के अनुसार मध्यदेश में पुरिका (वर्त्तमाण हुशंगाबाद) से दक्षिणापथ में गया था।

---

१. कथासरित्सागर, कथापीठ लम्बक १, तरंग १। हमने इस कथा के अलौकिक तत्त्व हटाकर उसका सार यहाँ दिया है। इस कथा में यह सात गुह्यक सिंह के रूप में आया है और राजा का बाण लगने पर मनुष्य बन गया।

कृष्ण

सिमुक का उत्तराधिकारी उसका भाई कन्ह अथवा कृष्ण हुआ। कृष्ण का राज्य कम-से-कम नासिक तक था। यह वहाँ की गुहा में उत्कीर्ण एक शिलालेख से प्रकट है, जिसमें उल्लेख है कि सातवाहन कुल के राजा कृष्ण के राज्यकाल में नासिक नगर में भिक्षुओं के लिए एक महामात्र ने गुहावास का निर्माण कराया[1]। पुराणों के अनुसार कृष्ण सातवाहन ने अठारह वर्ष राज्य किया।

शातकर्णि

कृष्ण के पश्चात् सिमुक का पुत्र शातकर्णि राजा हुआ। यह अत्यन्त प्रतापी और महान विजेता था। किसी महारथी की पुत्री नागा नागनिका अथवा नायनिका से इसका विवाह हुआ था और यह विवाह उसके प्रताप की वृद्धि का कारण बना। यह महारथी कौन था यह अभीतक स्पष्ट नहीं है। हमारा अनुमान है कि यह महारथी पुष्यमित्र ही होना चाहिए, और वही ऐसा प्रतापी महारथी (सेनापति) इस युग में था, जो इस शिलालेख में वर्णित पराक्रम के पश्चात् भी सेनापति का विरुद धारण करता था और जिसकी पुत्री सातवाहन कुल की श्रीवृद्धि का कारण बनी हो। नानाघाट शिलालेख के "अंगिक कुल वर्द्धनस्य सागर-गिरिवर-वलयायाः पृथिव्याः प्रथम वीरस्य" विशेषण यदि इस बाला के पिता महारथी के लिए माने जाएँ तब कोई सन्देह शेष नहीं रहता। संभव है यह 'अंगिक' 'शौंगिक' हो और उत्कीर्णक की भूल ने उसे अंगिक कर दिया हो। इस प्रकार की भूल असंभव भी नहीं है; क्योंकि सम्राट अशोक तक को उत्कीर्णक की भूल का भय रहता था[2]। जो भी हो, यह निश्चित है कि इस विवाह के परिणामस्वरूप शातकर्णि "अप्रतिहत-चक्र-दक्षिणापथ-पति" होगया, अर्थात् समस्त दक्षिणापथ पर उसका रथ बेरोकटोक चलने लगा, उसके रोक सकने की शक्ति किसी में न रह गयी।

कुछ सिक्के अवंति में ऐसे प्राप्त हुए हैं जिनपर सातवाहन नाम है। साँची के स्तूप का एक तोरण शातकर्णि के एक शिल्पी वाशिष्ठीपुत्र आनन्द ने बनवाया था। यह सब सातवाहनों के इस प्रदेश के अधिकार के द्योतक न होकर उनके शुंगों के साथ निकट सम्बन्धों के साक्षी हैं।

अश्वमेध यज्ञ

सातवाहन शातकर्णि ने दो अश्वमेध और एक राजसूय यज्ञ किये थे। ई० स० ७० और ८० के बीच लिखे गये पेरिप्लस ऑफ दी एरिथ्रियन सी से ज्ञात होता है कि शातकर्णि के समय में सुप्पारा (शूर्पारक) पोतपत्तन व्यापार का एक बहुत बड़ा केन्द्र बन गया था।

---

१. दिनेशचन्द्र सरकार : सिलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स, पृष्ठ १८३।

२. अशोक की धर्मलिपियाँ, चौदहवाँ प्रधान शिलालेख, जिसमें वह लिखता है- 'इनमें (कहीं-कहीं एक ही बात) फिर-फिर लिखी गयी है। (इसका कारण) उनके अर्थ की मधुरता है, जिसमें लोग उसका प्रतिपादन करें। यह हो सकता है कि कुछ अंश को विचारने योग्य समझकर कुछ अधूरा लिखा गया है। इसमें लिपिकर का (भी) दोष हो सकता है'।

शातकर्णि को पुराणों ने महान लिखा है और उसके नाम श्रीमल्लकर्णि तथा श्रीमल्ल शातकर्णि भी मिलते हैं, जो यह प्रकट करते हैं कि यह अपने समय का महान विजेता था कलिंग के खारवेल ने अपनी प्रशस्ति में लिखा है कि 'शातकर्णि की चिन्ता न करके' उसने पश्चिम देश में एक सैना भेजी और कृष्णा नदी के किनारे किसी मुषिक नगर को त्रस्त किया। इस उल्लेख से शातकर्णि के प्रताप का ही परिचय मिलता है और ज्ञात होता है कि खारवेल की सेना किसी प्रकार शातकर्णि की राज्यसीमा में से निकल गयी और इसे ही खारवेल ने अपनी बहुत बड़ी विजय मानी।

शातकर्णि की मृत्यु के समय उसके दोनों राजकुमार वेदश्री और शक्तिश्री अवयस्क थे। इनकी ओर से इनकी माता महारानी नागा ने राज्य किया। यह शक्तिश्री संस्कृत साहित्य का प्रतिष्ठान के शालिवाहन राजा का पुत्र शक्तिकुमार है।

इन प्रारंभिक सातवाहन राजाओं की मूर्त्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। सह्याद्रि के नानाघाट में सातवाहनों का राजमंदिर है, जिसमें ये मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई थीं। ये मूर्त्तियाँ नष्ट हो चुकी हैं; परन्तु सौभाग्य से इनके पैर तथा छह मूर्त्तियों के नीचे लिखे हुए नाम मौजूद हैं। इनमें सिमुक सातवाहन, देवी नागा, श्री शातकर्णि, महारथी त्रणकयिरो, कुमार शक्तिश्री और कुमार शातवाहन के नाम पढ़े गये हैं।

कुछ विद्वानों ने महारथी त्रणकयिरो की मूर्ति को उस महारथी से अभिन्न माना है जिसकी पुत्री महारानी नागा थी। परन्तु इस अनुमान के कोई आधार नहीं हैं। डॉ० दिनेश-चन्द्र सरकार ने इस मूर्त्ति के नीचे लिखे 'महारठी' का संस्कृत रूप 'महारथी' माना है। इस मूर्त्ति का यह महारथी सातवाहनों का महारथी अर्थात् सेनापति है। मूर्त्तियों का यह समूह उस रूप में देवकुल नहीं है कि ये सब मूर्त्तियाँ इनके प्रतीकों की मृत्यु के बाद बनी हों। ज्ञात यह होता है कि अत्यन्त महत्त्वाकांक्षिणी महारानी नागा ने अपने जीवनकाल में ही अपने राज्य की किसी गौरवपूर्ण घटना को स्थायित्व देने के लिए अपने कुमार, उनके पिता तथा पूर्व पुरुषों की मूर्त्तियाँ स्थापित करदीं और साथ में उस घटना से सम्बन्धित अपने महारथी अथवा सेनापति की मूर्त्ति बनवादी है।

देवी नागा और उनके पुत्रों के राज्यकाल के पश्चात् ईसवी प्रथम शताब्दी के अन्त तक सातवाहन राजाओं का इतिहास अन्धकार में है। परन्तु शुंगों के इतिहास के विवेचन के साथ इन प्रारंभिक सातवाहनों के इतिहास का विवेचन ही आवश्यक है। इस कुल की विचलित लक्ष्मी को पुनः स्थापित करनेवाले वाशिष्ठीपुत्र शातकर्णि का इतिहास आगे के परिच्छेद का विषय है। शुंगों के एक शताब्दी से अधिक के राज्यकाल में भारत में जिन गौरवशाली परम्पराओं का उत्कर्ष हुआ उनमें हम इन प्रारंभिक सातवाहनों को पूर्ण सहयोग देते हुए देखते हैं, और यह प्रकट होता है कि वे अपने मूलस्थान पुरिका और विदिशा को भूल न सके।

विदिशा के शुंग

पुष्यमित्र का उदय

उत्तर-पश्चिम की सीमा पर यवनों की सेनाओं की शनि-दृष्टि पाटलिपुत्र के वैभव की ओर थी। दक्षिण-पूर्व में कलिंग का खारवेल अपने दुर्ग की परिखा, प्राचीर और प्राकार की मरम्मत करके प्रबल सेनाओं का संगठन कर रहा था और दक्षिण-पश्चिम में सातवाहन अपना शक्ति-संगठन कर रहे थे, जो कुछ साम्राज्य शेष था उससे भी अधिकांश जनता असन्तुष्ट थी, सेना संभवतः उपेक्षित थी, उस समय मगध के सिंहासन पर बैठा था अतीव वृद्ध[1] प्र(ति)ज्ञा दुर्बल, दुर्बलबुद्धि अथवा अपनी अभिषेक की प्रतिज्ञा को भूला हुआ अन्तिम मौर्य साम्राट बृहद्रथ।

इसी समय साम्राज्य के भीतर विदिशा का अध्यापक आचार्य[2] का वंशज, एक राजकुल का पुरोहित[3] भरद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण शक्ति-संचय कर रहा था। वह मौर्यों का सेनापति बना। भारत पर चारो ओर से उठ रही विषम आँधी और तूफानों की ओर भी उसकी दृष्टि थी और उस संकटकाल में शास्त्रबल के साथ प्रबल सैन्यबल के संगठन की तत्काल आवश्यकता का उसने अनुभव किया। मौर्य राजसभा संभवतः उस समय अनेक दलों में बँटी हुई थी, मौर्यसचिव संभवतः उसके विरुद्ध था और विदर्भ का राजा यज्ञसेन, मौर्यसचिव का बहनोई पुष्यमित्र के अनुकूल नहीं था। संभवतः विदर्भ का एक अंश अपने पक्ष में करने के लिए इसी समय पुष्यमित्र ने यज्ञसेन के रिश्ते के भाई माधवसेन की कन्या मालविका से अपने पुत्र अग्निमित्र का विवाह पक्का किया और यदि हमारा अनुमान सही है तो, प्रतिष्ठानपुर में उदीयमान प्रबल शक्ति का संगठन करनेवाले सातवाहन शातकर्णि को अपना जामाता बनाया।

यवन आक्रमण

यह सब चल ही रहा था कि यवनों की सेनाएँ भारत पर टूट पड़ीं। दिमित्र और उसके दुर्धर्ष सेनापति मिनेन्द्र तथा एपोलोडोटस भारत की उन सीमाओं पर चढ़ बैठे जहाँ विश्व-विजयी सिकन्दर के भी पैर नहीं पड़े थे। पतंजलि ने इस घटना की गुरुता को भावी भारत के मस्तिष्क में चिरस्थायी रखने के लिए पाणिनि की अष्टाध्यायी के महाभाष्य में अनद्यतन भूतकाल का उदाहरण देते हुए लिखा, "अरुणद् यवनः साकेतम्" यवन ने साकेत घेरा, "अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्" यवन ने माध्यमिका घेरी। साकेत और माध्यमिका ही नहीं, यह यवन सेना और आगे बढ़ी। गार्गीसंहिता के युगपुराण स्कन्ध में इस घटना का कुछ

---

१. कलियुग-राजवृत्तान्त।
२. आश्वलायन श्रौतसूत्र।
३. तारानाथ।

अधिक विस्तार से उल्लेख करते हुए पुराणकार ने लिखा, 'दुष्ट विक्रान्त यवनों ने पांचाल, मथुरा और साकेत पर आक्रमण किया, कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) पहुँच गये। यहाँ उनने नगरदुर्ग की खाई को मिट्टी से पूर दिया और समस्त विषय (प्रदेश) व्याकुल होगये''। सेनापति पुष्यमित्र शुंग सतर्क था; परन्तु प्रजा की रक्षा का भार लेनेवाला मौर्य राजा निकम्मा पड़ा हुआ था, माध्यमिका (चित्तौड़ के पास वर्त्तमान नगरी नामक स्थान) टूटी, पर उसकी नींद न खुली; पांचाल आक्रांत हुआ, वह कुछ न बोला; मथुरा गयी, साकेत गया, उसका राजधर्म फिर भी न जागा। जब पाटलिपुत्र ही घिर गया, तब सेनापति पुष्यमित्र ने राजधर्म का, राष्ट्रधर्म का और सेनापतिधर्म का निर्वाह करने के लिए यवनों का प्रतिकार करने का संकल्प किया। पाटलिपुत्र में महायुद्ध हुआ और हाथीगुम्फा शिलालेख के कथन के अनुसार यवनराज दिमित्र की सेनाएँ अपने वाहन, सामान आदि समेट कर मथुरा भाग गयीं।

बृहद्रथ वध

विजयी सेना और उसके सेनापति के स्वागत के लिए संभवत: कोई समारोह हुआ। राजा बृहद्रथ भी अपने सुगांगेय प्रासाद से बाहर निकले, पुष्यमित्र ने उन्हें सेना का निरीक्षण कराया और इस दुर्बलमति राजा से भारत का पीछा छुड़ाने के लिए सेना के सामने ही उसका वध कर डाला। बाणभट्ट ने पुष्यमित्र को उसके इस कार्य के कारण अनार्य कहा है। बाणभट्ट राजाश्रित कवि था और वह राजा भी महामुनि सुआन्च्वाङ का शिष्य था। हर्षचरित में वह परिस्थितियों से विवश होकर राजा का वध करनेवाले को अनार्य कहने के लिए बाध्य था, यद्यपि बृहद्रथ को प्रज्ञादुर्बल या प्रतिज्ञादुर्बल लिखकर बाण ने पुष्यमित्र के इस कृत्य के औचित्य को प्रतिपादित किया है। आज बीसवीं शताब्दी में भी डॉ० मजूमदार जैसे महापंडित भी पुष्यमित्र को देशद्रोही लिख देते हैं। यदि भारतवर्ष की स्वतन्त्रता को ई० पू० दूसरी शताब्दी में अपहृत कर लेने का प्रयास करनेवाले यूनानियों की सेनाओं से पाटलिपुत्र का उद्धार कर लेना देशद्रोह हो सकता है तो पुष्यमित्र निश्चय ही देशद्रोही था, यदि जनता की रक्षा की शपथ लेकर महलों में सोते रहनेवाले सम्राट के होते हुए भी पहले हल्ले में ही उन्हें मथुरा तक धकेल देना देशद्रोह था तो निःसंदेह पुष्यमित्र देशद्रोही था, यदि उनकी सेनाओं को माध्यमिका, मथुरा, पांचाल आदि से उखाड़कर जालंधर और स्यालकोट के पीछे फेंक देना देशद्रोह था तब निश्चय ही पुष्यमित्र भयंकर देशद्रोही था, यदि राजगृह और पाटलिपुत्र को लूट लेने की सामर्थ्य एकत्रित कर लेनेवाले खारवेल को कलिंग में कील देना देशद्रोह था तब वास्तव में पुष्यमित्र देशद्रोही था, यदि पिछली एक शताब्दी से विश्रृंखलित और विगलित होती रहनेवाली केन्द्रीय सत्ता को पुन: शक्तिशाली बना देना देशद्रोह था तब पुष्यमित्र के देशद्रोही होने में कोई संदेह नहीं हो सकता था, यदि साम्राज्य की राजसभा में ही चलनेवाले आन्तरिक विद्वेषों का उन्मूलन

---

१. विक्रम स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ २१।

२. दी इम्पीरियल यूनिटी ऑफ इण्डिया, प्रस्तावना, पृष्ठ ४४:—
"The Commander of the imperial army seizes the opportunity to strike the final blow at his royal master. The *coup* succeeds, but the traitor wears only a crown of thorns."

कर देना देशद्रोह माना जा सके तो पुष्यमित्र अवश्य ही देशद्रोही था, यदि बिखरते हुए साम्राज्य को वंग से सिन्धु तक और हिमालय से विदर्भ तक एक सूत्र में बाँध देना किसी राजनैतिक परिभाषा में देशद्रोह माना जासके तो पुष्यमित्र शुंग के देशद्रोही होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता, यदि भारत को निगल जाने की इच्छा करनेवाले यूनानियों से निकट सम्बन्ध स्थापित कर लेनेवाले और उन्हें भारत के सम्राटों तथा जानपदजनों के दानों से बने हुए संघारामों में आश्रय देनेवाले भिक्षुओं का दमन करना देशद्रोह था तब पुष्यमित्र शुंग के देशद्रोही होने में कोई संदेह नहीं रहता, यदि अपार ऐश्वर्य और प्रबल शक्ति अपने बाहुबल से उपार्जित कर लेने के पश्चात् भी सम्राट पद अथवा कोई अन्य विरुद ग्रहण न करके पवित्र जीवन बिताना देशद्रोह था तो निश्चय ही पुष्यमित्र शुंग देशद्रोही था, और यदि भारत की प्राचीन परम्परा के अनुसार जानपदजन और पौरजनों को उनके स्वेच्छा के विश्वासों के अनुसार धर्माचरण करने की छूट देने की परम्परा को पुनरुज्जीवित कर उनके ऊपर राज्य की ओर से किसी धर्म विशेष के सिद्धान्तों को मनवाने की नीति को समाप्त करना देशद्रोह था तब निश्चय ही पुष्यमित्र शुंग भयंकर देशद्रोही था। परन्तु किसी भी युग की स्वस्थ राजनीति के अनुसार यह सब देशद्रोह नहीं है और असावधानी की भूल के अतिरिक्त किसी भी दशा में पुष्यमित्र शुंग नाम के साथ देशद्रोही शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

यह और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है कि जब बौद्ध साम्प्रदायिकता से ढीले बने यूनानियों के विध्वंसकारी आक्रमणों से पीड़ित भारत की अंतर्वेदना और 'रक्षाकारों' की पुकार महाभारत की वाणी में इस प्रकार सुनाई देती है, "हे राजश्रेष्ठ, वह ब्राह्मण हो, वैश्य हो, अथवा शूद्र हो, आक्रान्ताओं से जो प्रजा की रक्षा करे, धर्मपूर्वक दण्ड को धारण करे, पार न होने योग्य से पार लगा दे; जहाँ प्राणरक्षा के लिए नाव आदि साधन प्राप्त न हों, वहाँ जो नाव बन जाए; जिसका सहारा लेकर अनाथ, सतप्त और आक्रान्ताओं द्वारा अत्यन्त उत्पीड़ित जनता सुखपूर्वक जीवित रह सके, वह किसी वर्ण का हो, सर्वथा मान का पात्र है[1]"। वर्णाश्रम-धर्म की मर्यादाओं की स्थापना करना जिनका लक्ष्य था, जो चाहते थे कि समाज में अपने-अपने कार्य को सर्वोपरि महत्त्व देते हुए समीचीन कार्य का विभाजन हो, उनकी यह विकलता, एकमात्र पुरुषार्थवादियों की नाव न मिलने की एवं अनाथ अनुभव करने की निराशा और ब्राह्मण एवं शूद्र से भी राजदण्ड धारण करने की याचना उस भीषण परिस्थिति की सूचना देती है, जो यूनानी आक्रमणों से उत्पन्न हुई थी तथा जिसका प्रतिकार करनेवाला तत्कालीन राजदण्ड निष्क्रिय पड़ा था। यूनानी इतिहासकारों ने इस पर आश्चर्य प्रकट किया था कि भारतवासी युद्ध करते हैं, परन्तु इन युद्धों के सिलसिले में शत्रु के कृषकों को त्रास नहीं देते, फसलें नष्ट नहीं करते। ऊपर के कथन में देश की जो मार्मिक वेदना व्यक्त हुई है, वह यह बताती है कि राष्ट्र के इस जीवन-स्रोत कृषक को भी इन समस्त उत्तरभारत को रौंदनेवाले आक्रमणों में इन यूनानियों ने भारत के इतिहास में प्रथम बार त्रास दिया था और वह परिस्थिति उत्पन्न हुई थी जिसमें "सब प्रजाएँ शस्त्र

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व ७८।३६, ३८, ३९।

धारण कर उठ खड़ी होती है[1]" तथा वे मनीषी ब्राह्मण हों, अथवा कृषि एवं व्यापार में लगे वैश्य हों, "मर्यादा टूट जाने पर दस्युओं द्वारा (यह विवशता का वर्णधर्म का) संकर कर दिये जाने पर कोई वर्ण शस्त्र उठाने से दूषित नहीं होता[2]"। इन परिस्थितियों में किसी भी भारतवासी के लिए राष्ट्र की रक्षा का खुला निमंत्रण था, जो एक प्रकार से पौरुष, शौर्य और परम त्याग को इन विषमताओं की चुनौती थी और तथ्य यह प्रकट करते हैं कि इस निमंत्रण और चुनौती का सक्षम उत्तर देने में पुष्यमित्र ने देशद्रोह किया, ऐसा मत व्यक्त करना केवल विचार स्वातंत्र्य की मर्यादाओं का अतिक्रमण ही होगा।

पुष्यमित्र राजद्रोही भी नहीं था। भारतवर्ष में कम-से-कम उस युग में तो राज्य की सर्वोच्च सत्ता की परिभाषा अत्यन्त स्पष्ट थी। अकेला राजा कभी राज्यसत्ता नहीं माना गया। अभिषेक के समय लीगयी शपथ का पालन करनेवाला राजा, प्रजा का प्रतिनिधि-स्वरूप महामंत्री, मंत्रिपरिषद् और राजसभा तथा अन्य प्रतिनिधि संस्थाओं को मिलाकर सर्वोच्च राज्यसत्ता का निर्माण होता था। इनमें से कोई भी घटक अपने कर्त्तव्यों से च्युत हो जाने पर उस पद का अधिकारी नहीं रह सकता था। पुष्यमित्र शुंग के समय तक ये परम्पराएँ प्रचलित थीं और सर्वमान्य धर्म थीं। शिथिल और कर्त्तव्यच्युत पिछले मौर्य सम्राटों के शव को ढोकर देश को छिन्न-भिन्न और विनष्ट हो जाने देने की अपेक्षा राज्य-संस्था के प्रति निष्ठा इसी में थी कि उसे समाप्त कर दिया जाता और उस युग में जब ये कार्य तलवार की नोक से होते थे, यह उसी ढंग से किया भी गया। इस कार्य के लिए निश्चय ही पुष्यमित्र को उसकी सेना का, उस युग के चिंतकों का और प्रबुद्ध पौर-जानपदजन का पूर्ण समर्थन प्राप्त था, अन्यथा उन विक्षुब्ध परिस्थितियों में वह इतनी शक्ति एकत्र न कर पाता कि आक्रान्ताओं से देश को मुक्त कर लेता और साम्राज्य संगठन भी कर लेता।

तत्कालीन व्यवस्था

बृहद्रथ का वध करने के पश्चात् ही पुष्यमित्र शुंग ने राज्य की व्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ कार्य किये। मालविकाग्निमित्र से ज्ञात होता है कि मौसर्यचिव बन्दी बना लिया गया था और विदिशा में कुमार अग्निमित्र को नियुक्त कर दिया गया था तथा इस बन्दी मौर्यसचिव को उसी के अधीन विदिशा में रख दिया गया। ये कार्य तुरन्त ही किये गये होंगे। दक्षिणापथ की राजनीति अग्निमित्र के हाथ में छोड़ दी गयी।

यवनों से संघर्ष

इसके पश्चात् मथुरा और माध्यमिका से यूनानी किस प्रकार निकाले गये, इसका विवरण जानने के लिए कोई उल्लेख नहीं मिलता। युगपुराण केवल यह कहता है कि मध्य देश में यवन अधिक समय तक नहीं ठहर सके। आगे हम मिनेन्द्र को शाकल में जमा हुआ देखते हैं और प्लुटार्क कहता है कि उसकी मृत्यु युद्ध में लड़ते-लड़ते कहीं गंगा किनारे हुई। दिव्यावदान तथा तारानाथ यह भी प्रकट करते हैं कि पुष्यमित्र का अधिकार काश्मीर, जालन्धर और स्यालकोट तक था। मालविकाग्निमित्र से ज्ञात होता है कि सिन्धु नदी तक शुंगों की साम्राज्य-सीमा थी और उसके किनारे कहीं वसुमित्र की संरक्षता में छो

१. महाभारत, शान्तिपर्व ७८।१२।

२. वही, ७८।१८।

गये अश्वमेध यज्ञ के अश्व को यवनों ने पकड़ा था और सेनापति पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र ने उन्हें पुनः हराकर अश्व वापस ले लिया था। इन सूत्रों के आधार पर यवनों और शुंगों के संघर्ष की अस्पष्ट रूपरेखा ज्ञात होती है। परिणाम अवश्य स्पष्ट है। मिनेन्द्र मथुरा से शाकल तक ढकेला गया, माध्यमिका से यूनानी उखाड़े गये, मिनेन्द्र ने संभवतः पुनः आक्रमण किया और गंगा किनारे उसका बध किया गया और यूनानियों से सिन्धु तक का प्रदेश खाली करा लिया गया। यहाँ कुछ इतिहास लेखकों के इस अभिमत पर भी विचार कर लेना आवश्यक है कि मालविकाग्निमित्र की सिन्धु हिमालय से निकलनेवाली सिन्धु न होकर विन्ध्याचल से निकलनेवाली सिन्धु है। उनके इस कथन का खण्डन सफलतापूर्वक अनेक इतिहास लेखकों ने किया है। उनके तर्कों को हम दुहराना नहीं चाहते। यहाँ हम केवल एक ही बात का उल्लेख करना चाहते हैं। अनेक यूनानी राजाओं ने अपने राजदूत विदिशा की राजसभा में भेजे थे। मिनेन्द्र के पश्चात् इन यूनानियों का राज्य भारत में निश्चय ही हिमालय से निकलनेवाली सिन्धु के पश्चिम में था। यदि शुंगों की राज्यसीमा उनके राज्य से मिली न होती तो सुदूर विदिशा में बैठे हुए मध्यदेश के एक राजा से संधि-विग्रह करने की उन्हें चिन्ता न होती और तक्षशिला का राजा अन्तलिकित अपना राजदूत हिलियोदोर उसकी राजसभा में भेजने का कष्ट न उटाता।

पुष्यमित्र और बौद्ध

मिनेन्द्र ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था और वह गंगा किनारे तक अपनी सेनाएँ दौड़ा रहा था, यहीं कहीं मिनेन्द्र को मारकर पुष्यमित्र स्यालकोट पहुँचा। तारानाथ लिखता है कि पुष्यमित्र ने मध्यदेश से लेकर जालंधर की सीमा तक के बौद्ध मठों और संघारामों को जलवा दिया। दिव्यावदान में भी लिखा है कि उसने अपने राज्य के संघारामों के भिक्षुओं का घात किया और शाकल (स्यालकोट) में पहुँचकर यह घोषणा की, "जो मुझे एक श्रमण का सिर लाकर देगा उसे मैं सौ दीनार दूँगा"। मिनेन्द्र से हुए इस अन्तिम युद्ध पर ये उल्लेख पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। ज्ञात यह होता है कि मिनेन्द्र की सेनाओं को इन संघारामों में और उनके भिक्षुओं द्वारा प्रश्रय मिलता था। सेनापति पुष्यमित्र राष्ट्र की रक्षा के अभियान में इस प्रकार के कार्यों को सहन न कर सका होगा और यूनानी सेनाओं के सैनिकों के साथ राष्ट्रद्रोह की ये प्रवृत्तियाँ भी निर्ममता से कुचली गयी होंगी तथा साकल के श्रमणों को उनके इस घोर अनुचित कार्य के लिए दण्ड दिया गया होगा। यह सोचना व्यर्थ है कि पुष्यमित्र ने बौद्ध श्रमणों का घात धार्मिक विद्वेष के कारण किया। विदिशा के अंचल में ही साँची का बौद्ध विहार इसके समय में ही पनपा और फला-फूला। भारहुत के स्तूप और विहार भी इसके काल में निर्मित हुए। इन दोनों स्थानों पर इसी के काल में अत्यन्त उत्कृष्ट तोरणों और वेष्टनियों का निर्माण हुआ। विदिशा के दन्तकार और सातवाहनों का शिल्पी अपनी श्रद्धा के अनुसार यहाँ निर्माण करा रहे थे ऐसा साँची और भारहुत के शिलालेखों से ही ज्ञात होता है। अतएव दिव्यावदान और तारानाथ के कथनानुसार इस युद्ध के क्रम में हुए श्रमणों के घात तथा संघारामों के जलाने के कारण अत्यन्त स्पष्ट हो जाते हैं। आधुनिक इतिहासकारों ने भी इस विषय पर खोजबीन कर यह परिणाम निकाला है कि पुष्यमित्र का यह कार्य राजनैतिक आवश्यकताओं के कारण किया गया था। "दि ग्रीक्स इन इण्डिया एण्ड

बैक्ट्रिया" के विद्वान लेखक डब्ल्यू० डब्ल्यू० टार्न ने पश्चिमोत्तर प्रदेश में यूनानियों के जम जाने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए उसका एक कारण यह बतलाया है कि वहाँ के बौद्ध श्रमण यूनानियों की सहायता करते थे। हैवेल ने इस सम्बन्ध में लिखा है, "पुष्यमित्र द्वारा बौद्धों के दमन की कथाओं में कितना भी सत्य हो, बौद्ध अनुश्रुतियों में यह कथन अवश्य है कि उसने संघाराम जलाए और अनेक भिक्षुओं को मारा, तथापि यह निश्चित है कि दमन का यह हिंसात्मक मार्ग बौद्ध धर्म के विरुद्ध नहीं अपनाया गया था, वरन् राजनैतिक रूप धारण कर लेनेवाले बौद्धों के संघों के विरुद्ध था[1]"। श्री जवाहरलाल नेहरू ने इस विषय में लिखा है, "बौद्धों पर अत्याचार जरूर हुए, परन्तु इसका कारण बहुत करके राजनैतिक था, धार्मिक नहीं। बड़े-बड़े बौद्ध संघ शक्तिशाली संस्थाएँ थीं और बहुत से शासक उनकी राजनैतिक शक्ति से डरते थे। इसलिए उन्होंने उनको कमजोर करने की कोशिश की[2]"।

खारवेल की पाटलिपुत्र यात्रा

पाटलिपुत्र में यवनों से पुष्यमित्र का जब पहला संघर्ष चला था तब कलिंग के खारवेल ने राजगृह पर आक्रमण किया था। उसकी हाथीगुम्फा प्रशस्ति में उसकी एक और मगध यात्रा का उल्लेख है। प्रशस्ति कहती है—"बारहवें वर्ष····उत्तरापथ के हजारों राजाओं को त्रास दी········मागधों को भयभीत करते हुए अपने हाथियों को सुगांगेय पहुँचाया। मागध राजा बहसतिमति (बृहस्पतिमित्र-पुष्यमित्र) को पैरों गिरवाया, राजा नन्द की ले गयी हुई कालिंग जिनमूर्त्ति को स्थापित किया····और अंग और मगध के धन को गृहरत्नों के प्रतिहारों सहित लिवा लिया[3]"। खारवेल की सेना से मागध भयभीत हो सकते हैं, सम्भव है वह सुगांगेय (गंगा किनारे बना मौर्य-सम्राटों का राजप्रासाद) तक पहुँच भी गया हो; परन्तु क्या पुष्यमित्र वास्तव में उसके पैरों गिरा था? यदि वह इतना शक्तिहीन था तब आगे खारवेल फिर मगध की ओर न आकर पाण्डचों के रत्न और मोती लेने दूसरी दिशा में क्यों चला गया? सम्भावना यही है कि इस बार "महाराज कलिंग चक्रवर्त्ती खारवेलश्री" पाटलिपुत्र में पराजित होकर और पुष्यमित्र से संधि करके कालिंग जिनप्रतिमा लेकर लौट आए। अधीनता स्वीकार करलेनेवाले राजाओं को पुष्यमित्र उध्वस्त नहीं करता था।

प्रथम अश्वमेघ यज्ञ

हरिवंश पुराण के अनुसार जनमेजय के पश्चात् पुष्यमित्र ने ही अश्वमेध यज्ञ का पुनरुद्धार किया था। भविष्य पुराण में पुष्यमित्र को समाज और धर्म का रक्षक, कलि के प्रभाव को मिटानेवाला तथा गीता का अध्ययन करनेवाला लिखा है। अयोध्या के शिलालेख में पुष्यमित्र के छठे वंशधर धन(मित्र) ने लिखा है कि सेनापति पुष्यमित्र ने दो बार अश्वमेध यज्ञ किया था[4]। पुष्यमित्र द्वारा एक अश्वमेध यज्ञ, मालविकाग्नि-

१. आर्यन रूल इन इंडिया, पृष्ठ १२३।
२. विश्व इतिहास की झलक, पृष्ठ ७१।
३. हाथीगुम्फा लेख।
४. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ५, पृष्ठ २०२।

मित्र के अनुसार, वसुमित्र द्वारा यवनों को सिन्धु के पार हराने के पश्चात् किया था। एक अश्वमेध यज्ञ विदिशा में हुआ था, यह बात विदिशा में प्राप्त अवशेषों से स्पष्ट होती है। वसुमित्र की विजय के पश्चात् जो अश्वमेध यज्ञ किया गया था वह विदिशा से कहीं बाहर किया गया था, यह ध्वनि मालविकाग्निमित्र से निकलती है। हमारा अनुमान यह है कि मिनेन्द्र को माध्यमिका, साकेत, मथुरा और पांचाल से शाकल तक हटा देने के पश्चात् पहला अश्वमेध यज्ञ किया गया होगा और वह विदिशा में हुआ होगा। मिनेन्द्र-निपात के पश्चात् सिन्धु में फिर एक बार यूनानियों से लोहा लेकर कहीं विदिशा के बाहर दूसरा अश्वमेध यज्ञ किया गया। विदिशा के अश्वमेध यज्ञ के अवशेष एक अद्भुत कहानी कहते हैं।

इस समय तक विदिशा का वासुदेव का प्रासादोत्तम संभवतः बन चुका था। उसी के प्रांगण में विशाल यज्ञशाला बनवाई गयी। मेखलायुक्त समचतुरस्र तथा आयत-चतुरस्र दो हवनकुण्ड और एक योनिकुण्ड एक ऊँचे चबूतरे पर बनवाए गये। यज्ञ-कुण्डों के पश्चिम की ओर इकसठ फुट लम्बी शाला बनवाई गयी, जिसमें यज्ञ की विधियों से अवकाश पाकर शास्त्र-चर्चा की जाए, जो वैदिक यज्ञों का आवश्यक और प्रधान अंग थी। यज्ञकुण्डों के दक्षिण की ओर एक सौ सत्रह फुट लम्बी भोजनशाला का निर्माण कराया गया। उसे स्वच्छ रखने के लिए बड़ी-बड़ी नालियाँ बनाई गयीं तथा अन्य कार्यों के लिए और छोटे-मोटे अन्य निर्माण कराए गये[1]।

जिस समय मिनेन्द्र शाकल में राज्य कर रहा था उस समय तक्षशिला में दिमित्र का पुत्र दिमित्र (द्वितीय) राज्यासीन था। संभावना यह दिखती है कि जब पुष्यमित्र शाकल में था तब तक्षशिला के दिमित्र (द्वितीय) ने पुष्यमित्र से संधि कर ली। वह पुष्यमित्र के साथ इस यज्ञ में भाग लेने के लिए विदिशा आया। इस यज्ञ के स्थल पर जो मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं उनमें से एक इसकी साक्षी देती है। उस पर लिखा है[2] :—

टिमित्र दातृस्य (स) हो(ता)-
प(ो)ता मंत्र सज(ि?)न

यह टिमित्र यूनानी डिमिट्रियस का संस्कृत रूप है। इसने मिनेंद्र की भूल का परि-मार्जन किया। उस समय के अ-लोकप्रिय बौद्ध धर्म को ग्रहण करने के स्थान पर वह तत्कालीन भारत के लोकधर्म, भागवतधर्म, के वैदिक यज्ञ का होता बना। उसके साथ अनेक यूनानी आए होंगे। उनमें से एक था कोई हुविल, जिसके प्रस्तरपात्र का एक टुकड़ा वहाँ प्राप्त हुआ, जिस पर बाहरी ओर लिखा है "हुविलस्य"—हुविल का, और भीतर की ओर एक काल्पनिक पशु (ड्रैगून) बना हुआ है[२]। इस यवन राजा के सिक्के ढालने का एक साँचा भी यहाँ मिला है। वह पूरे ठाठ-बाट से इस यज्ञ में आया था।

---

१. वार्षिक विवरण, ऑरकॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, सन १९१४-१५, पृष्ठ ७३-७८।

२. ग्वालियर राज्य के अभिलेख, पृष्ठ ९-१३।

कुछ माण्डलिक राजा भी इस यज्ञ में सम्मिलित हुए थे। संभवतः शुंगवंश के ही कोई महाराज विश्वमित्र[1] भी यहाँ आए थे और सातवाहनों के प्रतिनिधि यज्ञश्री[2] भी मौजूद थे।

इस यज्ञ में सूर्यभर्तृ के पुत्र विष्णुगुप्त, स्कन्धघोष के पुत्र भवघोष, श्रीविजय तथा विष्णुप्रिय आदि व्यक्तियों की मुद्राएँ भी मिली हैं। इनके अतिरिक्त हयहस्त्यधिकारी की मुद्रा भी मिली है, जिसके ऊपर सूँढ़ में पत्ती और फूल लिए हुए हाथी बना हुआ है। यज्ञ में सतर्क दण्डनायक भी मौजूद थे। दण्डनायक विलु तथा चेतगिरिक पुत्र दण्डनायक श्रीसेन अपनी मुद्राओं के रूप में यहाँ अपना नाम छोड़ गये हैं।

इन मुद्राओं के उपयोग के विषय में भी यहाँ विचार कर लेना मनोरंजक होगा। टिमित्र की मुद्रा यज्ञशाला के किसी भाग में प्रवेश करने का अनुमति-चिह्न ज्ञात होती है। शेष मुद्राओं के देखने से यह ज्ञात होता है कि वे काठ की पाटियों पर सन्देश लिखकर उन्हें डोरी से बाँधकर, उस डोरी पर गीली मिट्टी रखकर अंकित की गयी हैं। इसी प्रकार के मिट्टी के टुकड़े यहाँ प्राप्त हुए हैं जिन पर मुद्राओं की छापें लगी हुई हैं। ज्ञात होता है कि इन माण्डलिक राजाओं ने, हाथी और घोड़े के अधिकारियों ने, दण्डनायकों तथा नागरिकों ने कोई सन्देश इन पाटियों पर लिखकर यज्ञशाला में भेजे होंगे। यह निश्चित है कि यज्ञशाला के ऊपर लिखे गये भवनों के बाहर मेहमानों के, दर्शकों के तथा राज्याधिकारियों के दूर-दूर तक शिविर लगे होंगे। वहीं किसी ओर शास्त्रों के पारंगत तथा वेदपाठी ऋषि-मुनियों और ऋत्विजों के अस्थायी आवास बने होंगे। वहीं किसी ओर गोनर्द के भगवान महाभाष्यकार पतंजलि विराजमान होंगे, जिनने अपने महाभाष्य में इस यज्ञ की स्मृति को अमर करने के लिए कालगति समझाते हुए लिख दिया— "पुष्यमित्रो यजते याजका याजयन्तीति। तत्र भवितव्यं पुष्यमित्रो याजयते याजका यजन्तीति। ३।१।२६।।" और आगे फिर लिखा "इह पुष्यमित्रं याजयामः।३।२।६२३।।" अपने युगप्रवर्त्तक यजमान की कीर्त्तिकौमुदी की छटा अनन्तकाल तक, जबतक संसार में पाणिनि की अष्टाध्यायी और पतंजलि का यह महाभाष्य पढ़ा जाता रहे तबतक अमर कर देने के लिए माध्यमिका और साकेत के यवन-आक्रमण के साथ ही उससे भारत का उद्धार करनेवाले पुष्यमित्र के इन विजययज्ञों की स्मृति को अमर कर दिया। हमारा विश्वास है कि यहीं, इसी यज्ञशाला में, यवनों द्वारा उध्वस्त वैदिक स्मृतियों, महाभारत, रामायण तथा मानव धर्मशास्त्र के पुनरुद्धार का कार्य सुमति भार्गव तथा अन्य विद्वानों को दिया गया होगा।

विदर्भ

इस प्रथम राजसूय यज्ञ के पश्चात् अग्निमित्र ने विदर्भ तथा दक्षिणापथ की राजनीति सुलझाई। उसने अपने एक दूर के साले वीरसेन को नर्मदा तट पर स्थित अन्त-

---

१. विश्वमित्र की मुद्रा पर लिखा है—····स्य मह(ा)र(ा)ज श्री विश्व(ा) मित्रस्य स्वामि(नः)। उस पर नन्दी एवं त्रिशूल के चिह्न हैं।

२. यज्ञश्री की मुद्रा पर लिखा है—····र [ज्ञो]·····पस [यज्ञश्र] (ि) [होतृ]····[तृ]····(नि)। इसके ऊपर नंदी बना हुआ है।

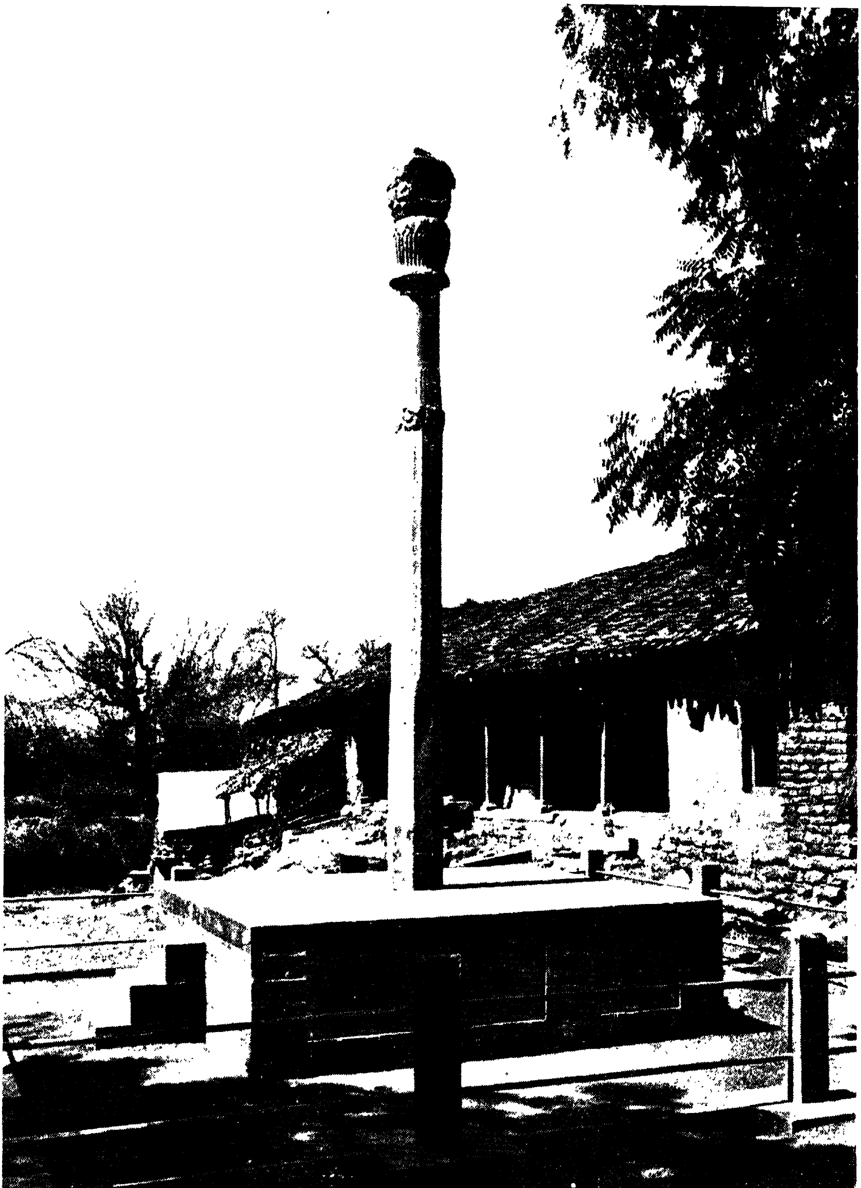


विदिशा का यज्ञ कुण्ड (पृष्ठ ३०१)

★

विदिशा के यज्ञ कुण्ड के पास प्राप्त मिट्टी की मुद्राएँ (पृष्ठ ३०२)





हेलियोदोर स्तंभ (खाम बाबा) विदिशा (पृष्ठ ३९८ तथा ६७४)

पाल दुर्ग (सम्भवतः माहिष्मती) पर स्थापित कर दिया[1]। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, विदर्भ के राजा यज्ञसेन का एक पितृव्यपुत्र (चचेराभाई) माधवसेन था और सम्भवतः उसे अपनी ओर मिलाने की दृष्टि से पुष्यमित्र ने उसकी बहिन मालविका का विवाह सम्बन्ध अग्निमित्र के साथ करना निश्चित किया था। माधवसेन अपने मंत्री सुमति और सुमति की बहिन कौशिकी के साथ मालविका को लेकर उसका विवाह अग्निमित्र के साथ करने के लिए विदिशा की ओर चला। यज्ञसेन ने माधवसेन को मार्ग में ही बन्दी कर लिया। अग्निमित्र ने माधवसेन को तुरन्त छोड़ने और मालविका को विदिशा भेज देने का आदेश यज्ञसेन को भेजा; परन्तु उसने यह शर्त्त रखी कि पहले अग्निमित्र यज्ञसेन के साले मौर्यसचिव को मुक्त कर दे। अग्निमित्र ने अन्तपाल के दुर्गपति सेनापति वीरसेन को विदर्भ पर आक्रमण करने के लिए भेजा, यज्ञसेन हार गया। अग्निमित्र ने यज्ञसेन के राज्य को दो भागों में बाँट दिया—वरदा (वर्धा) नदी के एक ओर का राज्य माधवसेन को दे दिया और दूसरी ओर का यज्ञसेन को। मालविका के साथ अग्निमित्र का विवाह होने के पश्चात् यज्ञसेन का साला मौर्यसचिव भी मुक्त कर दिया गया। इस प्रकार 'स्वाभाविक शत्रु' यज्ञसेन माण्डलिक राजा बन गया और विदर्भ में भी शुंग आधिपत्य सुदृढ़ हो गया। नर्मदा के दक्षिण में सातवाहन कुल का प्रतापी राजा शातकर्णि शुंग-साम्राज्य के मित्र के रूप में और हमारे अनुमान के अनुसार निकट सम्बन्धी के रूप में राज्य कर रहा था।

दूसरा अश्वमेध यज्ञ

पुष्यमित्र ने छत्तीस वर्ष राज्य किया था। ज्ञात होता है कि अपने समस्त साम्राज्य को सुव्यवस्थित कर लेने के पश्चात् विदिशा से बाहर दूसरा अश्वमेध यज्ञ किया गया। इस समय तक पुष्यमित्र का प्रपौत्र, अग्निमित्र का राजकुमार वसुमित्र सैन्य-संचालन के योग्य हो गया था। वसुमित्र की देखरेख में अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा छोड़ा गया। मालविकाग्निमित्र में पुष्यमित्र शुंग की ओर से अग्निमित्र को अश्वमेध यज्ञ में आने के लिए जो निमंत्रण भेजा है उसमें सब इतिहास लिख दिया है, "यज्ञभूमि से सेनापति पुष्यमित्र स्नेहालिंगन के पश्चात् सूचित करते हैं कि मैंने राजसूय यज्ञ की दीक्षा लेकर सैकड़ों राजपुत्रों के साथ वसुमित्र की संरक्षता में एक वर्ष में लौट आने का नियम निर्धारित कर यज्ञ का अश्व छोड़ दिया। सिन्धुनदी के दक्षिण तट पर विचरते हुए उस अश्व को यवनों ने पकड़ लिया, जिससे दोनों सेनाओं में घोर युद्ध हुआ। फिर वीर वसुमित्र ने शत्रुओं को परास्त कर मेरा उत्तम अश्व छुड़ा लिया, अतएव तुम्हें यज्ञ-दर्शन के लिए वधूजन सहित शीघ्र आना चाहिए"।

पतंजलि भी इस घटना के प्रति मौन न रहे और महाभाष्य में लिखा "अव्यवहारयति सैन्धवान्"। सिन्धुनदी के किनारे वसुमित्र ने यवनों को पंजाब में नहीं, सिन्ध में हराया था। इससे इस दूसरे अश्वमेध यज्ञ के स्थल का भी अनुमान लगाया जा सकता है। माध्यमिका को यवनों ने घेरा था। वहाँ से उन्हें सप्रयास

---

१. मालविकाग्निमित्र।

हटाया गया। उस स्थान पर भी शुंगों की छावनी रही हो यह संभावना है। घोसुण्डी पर जिस 'पाराशरीपुत्र' सर्वतात का उल्लेख है वह संकेत पुष्यमित्र के लिए ही है और उसके लिए यह सर्वतात शब्द का प्रयोग उसी प्रकार हुआ है जिस प्रकार महाराज अज के लिए कालिदास ने रघुवंश में प्रजा का शिक्षण, रक्षण और भरण-पोषण करने के कारण उसका पिता कहा है। जिस काल में विदिशा में वासुदेव का प्रासादोत्तम बना था उसी काल में माध्यमिका (वर्त्तमान नगरी) का संकर्षण वासुदेव का यह पूजास्थल बना होगा।

राज्य-व्यवस्था

सेनापति पुष्यमित्र शुंग स्वयं सम्भवतः पाटलिपुत्र में ही साम्राज्य की केन्द्रीय राजधानी बनाकर रह रहा था। वहाँ से ही साम्राज्य के पूर्वी भाग का प्रबन्ध होता होगा। विदर्भ में वर्त्तमान वर्धा नदी के उत्तर में माधवसेन और दक्षिण में यज्ञसेन माण्डलिक राजाओं के रूप में राजकार्य देख रहे थे। विदिशा में राजकुमार अग्निमित्र का शासन था। मालविकाग्निमित्र में उन्हें महाराज कहा गया है। उनके अमात्य, मंत्रिपरिषद और विद्वत्सभा सभी पृथक् थीं। पुष्यमित्र के समय में ही अथवा उसके पश्चात् अयोध्या, कौशाम्बी, अहिच्छत्रा एवं मथुरा में भी शुंग वंश के राजकुमारों को स्थानीय शासक नियुक्त किया गया था, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। अयोध्या का धन(मित्र) अपने शिलालेख में अपने आपको पुष्यमित्र की छठी पीढ़ी का लिखता है। ओदक या उद्रक (शुंग वंश का पाँचवाँ राजा) के राज्यकाल के दसवें वर्ष में अहिच्छत्रा में कोई आषाढ़सेन राज्य कर रहा था, जो कौशाम्बी के राजा बृहस्वातिमित्र का मामा था। पांचालों को यूनानियों ने आक्रान्त किया था, अतः वहाँ कोई निकट सम्बन्धी स्थानीय शासक रहना आवश्यक था। मथुरा भी यूनानियों ने हस्तगत की थी। अतएव वहाँ पर भी बृहस्वातिमित्र को स्थानीय शासक बनाया गया[१]। मथुरा से सात मील पश्चिम में मोरा नामक स्थान पर एक कूप-लेख में लिखा है, "बृहस्वातिमित्र की दुहिता, राजभार्या तथा जीवित पुत्रों की माता यशमाता ने बनवाया"। मथुरा के जिस राजा की यशमाता भार्या थी उसका नाम इस शिलालेख में अप्राप्य है। परन्तु वह कौशाम्बी के बृहस्वातिमित्र की पुत्री थी यह स्पष्ट है। कौशाम्बी में बृहस्वातिमित्र के सिक्के भी प्राप्त हुए हैं। श्री रेप्सन ने लिखा है, 'पभोस (कौशाम्बी) के अभिलेख से हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि ई० पू० दूसरी शताब्दी में पांचाल (अहिच्छत्रा) तथा वत्स (कौशाम्बी) में एक ही राजवंश राज्य कर रहा था और वह शुंगों का आधिपत्य स्वीकार कर रहा था[२]। श्री नागेन्द्रनाथ घोष ने यह स्थापना की है कि कौशाम्बी का बृहस्वातिमित्र शुंगों से स्वतंत्र था[3]। हम उनके सभी तर्कों का उत्तर देना यहाँ अनावश्यक समझते हैं। उनका प्रधान तर्क यह है कि यदि बृहस्वातिमित्र मांडलिक राजा होता तो वह अपने सिक्के जारी न कर सकता। उस युग में सिक्के जारी करने का अधिकार न केवल मांडलिक राजाओं को

---

१. मोरा कूप-लेख।

२. केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ ५२५।

३. अर्ली हिस्ट्री ऑफ कौशाम्बी, पृष्ठ ४६।

ही था, वरन् व्यापारियों की श्रेणियों तक को था। दूसरे वे यह मानकर चले हैं कि पुष्यमित्र के पश्चात् ही शुंग-साम्राज्य छिन्न-भिन्न होगया था और उनकी सत्ता अत्यन्त सीमित क्षेत्र में रह गयी थी[1]। यह भी बहुत बड़ा भ्रम है। इस विवाद का निराकरण वायुपुराण के उस उद्धरण से हो जाता है जिसमें लिखा है कि पुष्यमित्र के आठ पुत्र थे, जो साथ-साथ राजा हुए[2]। ये आठों पुत्र उसके जीवनकाल में ही उसके साम्राज्य के विभिन्न भागों पर शासन कर रहे होंगे और उसके पश्चात् सम-नृप हुए। इसमें अहिच्छत्रा, मथुरा, कौशाम्बी और विदिशा के शुंगों का उल्लेख शिलालेखों से तथा मालविकाग्निमित्र से मिलता है।

जैन अनुश्रुति उज्जयिनी में पुष्यमित्र के शासन के पश्चात् बलमित्र और भानुमित्र का राज्य बतलाती है। ये भी संभवतः पुष्यमित्र के पुत्र ही थे। पुष्यमित्र का एक राजकुमार माध्यमिका में नियुक्त हुआ ज्ञात होता है और एक संभवतः पुष्यमित्र के साथ पाटलिपुत्र में होगा। माध्यमिका का शासक ही सम्भवतः वह विश्वमित्र था जिसकी मिट्टी की मुद्रा विदिशा के यज्ञस्थल पर प्राप्त हुई है। इस प्रकार वायुपुराण का पुष्यमित्र शुंग के आठ पुत्रों को राजा कहना संगत प्रतीत होता है। जिस प्रकार पुष्यमित्र के जीवनकाल में अग्निमित्र 'महाराज' कहलाता था, ये भी 'महाराज' ही होंगे।

सेनापति विरुद

मौर्य सम्राट "देवानांप्रिय", "प्रियदर्शी" जैसे विरुदों का प्रयोग करते थे। पुष्यमित्र के पूर्ववर्ती यूनानी और हखमानी सम्राट भी लम्बे-चौड़े विरुदों का प्रयोग करते थे। परन्तु बंग समुद्र से सिन्धु तक और नर्मदा से हिमालय तक विशाल और सुदृढ़ साम्राज्य स्थापित करने पर भी पुष्यमित्र शुंग ने अपने आपको सदा सेनापति ही लिखा। उसके पश्चात् भी उसके छठे वंशधर धन(मित्र) ने भी उसे सेनापति ही लिखा है। मालविकाग्निमित्र नाटक में भी अग्निमित्र को तो महाराज लिखा गया है, परन्तु पुष्यमित्र शुंग को केवल सेनापति लिखा है। इसका कारण होना चाहिए। पतंजलि जैसे विद्वानों के आश्रयदाता, मनुस्मृति और महाभारत आदि का पुनरुद्धार करानेवाले इस शुंग सम्राट ने कुछ शास्त्रीय परम्पराओं के कारण ही यह विरुद अपनाए रखा था। हमारा अनुमान है कि इसका मूल कारण प्राचीन भारत की राज्यसत्ता की परिकल्पना है। राज्य और साम्राज्य के मूलतत्त्व राजा, महामंत्री और मंत्रिपरिषद् हैं तथा उसका धर्म रहा है समस्त जनों का तथा उनके धर्मों का संरक्षण। अपने समय की विषम परिस्थितियों में पुष्यमित्र अभिषेक की शपथ का पालन नहीं कर सकता था। बौद्ध श्रमण विद्रोह कर रहे थे, उनका शमन भी साम्प्रदायिक दृष्टि से नहीं, राजनैतिक दृष्टि से आवश्यक था। यवनों के आक्रमण के आतंक से महामंत्री अथवा मंत्रिपरिषद् का नियंत्रण स्वीकार कर सकना भी सम्भव नहीं था। पुष्यमित्र का अधिकांश जीवन भी युद्ध-शिविर में ही बीता था।

---

१. अर्ली हिस्ट्री ऑफ कौशाम्बी, पृष्ठ ५३।

२. पुष्यमित्रसुताश्चाष्टौ भविष्यन्ति समा नृपाः।

क्या शुंग नाग थे ?

ऊपर का इतिहास एक संभावना को जन्म देता है। पुष्यमित्र 'शुंग' थे। पाणिनि के अनुसार शुंग भारद्वाजों का एक अवान्तर गोत्र है। गोत्रों की विविधता नाग जिनका राजचिह्न था, उनमें दिखाई देती है। नागों के नाम के साथ भी सर्वत्र नाग जुड़ा हुआ नहीं मिलता। ज्येष्ठ नागों के नामों के अन्त में दात जुड़ा दिखाई देता है, नव-नागों के नामों में भी सेन, नंदी, दत्त आदि शब्द जुड़े मिलते हैं और सातवाहन, वाकाटक, पल्लव आदि द्वारा नागों के राज-चिह्न ग्रहण किये गये हैं। पुष्यमित्र के यज्ञ करानेवाले भगवान पतंजलि भी नाग के अवतार हैं, विदिशा के अश्वमेध यज्ञ के अवशेषों में विश्वमित्र की मुद्रा पर नागों का राज-चिह्न नंदी एवं त्रिशूल अंकित है, यज्ञश्री की मुद्रा पर भी नंदी अंकित मिला है और मालविकाग्निमित्र के अनुसार अग्निमित्र के प्रासाद में धारिणी देवी की नाग-मुद्रा राजाज्ञा की सूचक है[1]। तब क्या मित्रान्त्य नामोंवाले ये शुंग भी नाग थे ? तब क्या पुष्यमित्र ने मौर्य सम्राट की सेना में उस काल से ही, जब मल्लनाग नामवाले वात्स्यायन चाणक्य ने उसका संगठन किया था, बहुसंख्या में विद्यमान लड़ाके नागों की गणतन्त्री भावनाओं के समर्थन से ही मौर्य साम्राज्य के अन्तिम अवशेष को समाप्त किया था, इस साम्राज्य के वेतन-भोगी जानपदीय समाहर्ता अधिकारियों को अवन्ति, पद्मावती, मथुरा, कौशाम्बी, माध्यमिका, अहिच्छत्र आदि से अपदस्थ करके उन जनपदों के जानपदजन एवं राजधानियों के पौरजन को मृच्छकटिक में वर्णित रूप से सन्तुष्ट करके[2] अपने पुत्रों को स्थापित किया था और उनने इन जानपद एवं पौरजन की गणतन्त्री शासन-पद्धति को अपनाकर नाग, त्रिशूल और नंदी को अपने राजचिह्न के रूप में अपनाया था ? क्या यूनानियों के पराभव को समारोहित करने विदिशा एवं माध्यमिका के अश्वमेध यज्ञों में जिनकी मुद्राएं प्राप्त नहीं हुई हैं ऐसे अन्य जनपदों के गणाधिप भी सातवाहन यज्ञश्री के अतिरिक्त सम्मिलित हुए थे और क्या इस सेनापति के अधीन शिव के गणों के समान जनपदों के गणाध्यक्षों ने तत्कालीन यूनानी राक्षसों से विजयी परिणामवाले युद्ध किये थे ? क्या इसी कारण इस विजयी योद्धा ने गण-भावना का आदर करते हुए सेनापति विरुद ही अपने लिए सर्वोच्च सम्मान माना था ? यह सम्भावना यदि आगे अधिक सामग्री प्राप्त होने से पुष्ट हो सके तो शुंगों और सातवाहनों के परस्पर सहयोगपूर्ण संबंधों की व्याख्या प्राप्त होगी। सुदूर प्रदेशों में राज्य स्थापित करनेवाले इन नाग गणपतियों की परस्पर सहयोग की, अवैर की और घनिष्ट रक्त-संबंध स्थापित करने की जो परम्परा निरन्तर आधी सहस्राब्दी से अधिक काल तक प्राप्त होती है, उस पर भी अधिक प्रकाश पड़ सकेगा और मौर्योत्तर भारत का, विशेषत: मध्यदेश का इतिहास अधिक स्पष्ट होगा।

युगनिर्माता पुष्यमित्र

पुष्यमित्र और उसके वंशजों ने भारतीय संस्कृति को एक नया मोड़ दिया। पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त से इस युग में तथा आगे होनेवाले आक्रमणों के विरुद्ध जम कर

१. मालविकाग्निमित्र १।३-४ तथा ४।४-५।

२. मृच्छकटिक १०।४८।

लोहा लेने की परम्परा को बड़ी दृढ़ता से प्रारम्भ किया गया। अगली पीढ़ियाँ उसे अपनाए रहीं। अगले सातवाहन, नाग, मालव, यौधेय, वाकाटक, गुप्त और राजपूतों ने उसका अपनी सामर्थ्य और शक्ति के अनुसार अनुसरण और अनुकरण किया।

सांस्कृतिक क्षेत्र में इसके द्वारा जो कुछ किया गया, उसका साथ दक्षिणापथ के सातवाहनों ने भी दिया, नागों और वाकाटकों ने उस अत्यन्त उच्च संस्कृति को गुप्तों को सौंप दिया। इसका विवेचन हम आगे के पृष्ठों में करेंगे।

परन्तु पुष्यमित्र शुंग के दो महानतम आदर्श भारत में आगे न चल सके। अत्यन्त विशाल साम्राज्य का स्वामी होकर भी उसने अपना छोटासा विरुद 'सेनापति' ही रखा। ईरान के हखमानी सम्राट तथा यूनान के सम्राटों द्वारा लम्बे-चौड़े विरुद धारण करने की प्रणाली प्रारम्भ की जा चुकी थी। अशोक ने अपने लिए सिकन्दर के 'देवपुत्र' के समान 'देवानांप्रिय प्रियदर्शी' विरुद को अपना लिया था। पूर्व में खारवेल अपने लिए लम्बे-चौड़े विरुद अपना रहा था, दक्षिणापथ में सातवाहन भी बिना विरुद के कोई अभिलेख उत्कीर्ण नहीं कराते थे, परन्तु पुष्यमित्र सन्तुष्ट था केवल 'सेनापति' से। पतंजलि केवल 'पुष्यमित्र सभा' जैसे प्रयोगों में उसके मात्र नाम का उल्लेख करते हैं। मालविकाग्निमित्र तथा अयोध्या के शिलालेख में भी वह केवल 'सेनापति' है। शुंग वंश में अगले राजा इस परम्परा का पालन करते रहे। हेलियोदोर ने अपने गरुड़ध्वज के स्तम्भ में अन्तर्लिखित में नाम के साथ महाराज लिखा है, परन्तु शुंग नरेश भागभद्र का मात्र नाम लिखा है। शुंगों के पश्चात् यह परम्परा फिर आगे न चली।

पुष्यमित्र ने दूसरी परम्परा डाली थी अत्यन्त निर्मल चरित्र की। बौद्ध अनुश्रुतियों में उसको राक्षस के रूप में चित्रित किया गया है। परन्तु उसके चरित्र के विषय में वे कुछ नहीं लिखतीं। हम कहीं पुष्यमित्र की रानियों या उपरानियों के उल्लेख नहीं पाते। दुर्भाग्य से इस परम्परा को आगे के शुंग राजा भी स्थिर न रख सके। एक के बाद एक की विलासिता बढ़ती ही गयी और वही शुंग वंश को ले डूबी।

अग्निमित्र

पुष्यमित्र का राज्य ३६ वर्ष तक रहा और उसके सामने ही उसका प्रपौत्र वसुमित्र तक वयस्क हो गया था। अतएव जब अग्निमित्र राजा हुआ तब वह अधिक आयु का हो गया होगा। उसने पुराणों के अनुसार ८ वर्ष राज्य किया। मालविकाग्निमित्र नाटक में उसे विलासी चित्रित किया गया है। स्वयं उसकी रानी उसके प्रति कहती है कि यदि आर्यपुत्र राज्य की देखभाल करने में इतना समय लगाते (जितना एक सुन्दरी को प्राप्त करने में लगा रहे हैं) तो कितना अच्छा होता[1]।

---

१. मालविकाग्निमित्र, १।१९-२०।

कुछ विद्वान मृच्छकटिक के रचनाकार शूद्रक की अभिन्नता अग्निमित्र से बतलाते हैं[1]। इसके अभिनय, नृत्य और संगीत के प्रेम को देखते हुए उसका स्वयं नाटककार होना असम्भव नहीं है।

ज्येष्ठमित्र, वसुमित्र और ओद्रक

अग्निमित्र के पश्चात् पुराणों में ज्येष्ठमित्र का ७ वर्ष का तथा वसुमित्र का १० वर्ष का राज्य लिखा है। ज्येष्ठमित्र भी राज्यारोहण के समय काफी आयु का हो गया होगा। वसुमित्र अग्निमित्र का पुत्र था यह मालविकाग्निमित्र से प्रकट ही है। ज्येष्ठमित्र इसका जेठा भाई होगा। ज्येष्ठमित्र की कुछ मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं।

वसुमित्र के राज्य की किसी घटना का उल्लेख नहीं मिलता। बाणभट्ट ने अग्निमित्र पुत्र सुमित्र के वध का उल्लेख किया है कि मित्रदेव ने अति नृत्यप्रिय अग्निमित्र पुत्र सुमित्र का सिर काट लिया[2]। यह सुमित्र या तो वसुमित्र ही है या संभव है उसका कोई अन्य भाई हो।

पुराणों में इसके ओद्रक, आर्द्रक, अन्ध्रक तथा भद्रक नाम मिलते हैं। इसने २ या ७ वर्ष राज्य किया ऐसा पुराणों में उल्लेख है।

पुलिन्दक, घोषमित्र, वज्रमित्र और भागवत

ओद्रक के पश्चात् तीन-तीन वर्ष तक पुलिन्दक और घोषमित्र के राज्य का उल्लेख पुराणों में मिलता है। परन्तु इनके सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है। घोषमित्र के पश्चात् वज्रमित्र के ९ या ७ वर्ष राज्य करने का उल्लेख है। उसके राज्यकाल की भी किसी घटना का उल्लेख प्राप्त नहीं हुआ। इसके पश्चात् भागभद्र या भागवत राजा हुआ। उसका राज्यकाल ३२ वर्ष रहा। इसके समय पुनः यह ज्ञात होता है कि शुंग वंश का प्रताप अभीतक कम नहीं हुआ था। तक्षशिला के यवन राजा अन्तलिकित (अण्टि-अल्किडस) के राजदूत दिय के पुत्र हेलियोदोर ने काशीपुत्र भागभद्र के राज्य के चौदहवें वर्ष में एक 'गरुड़ध्वज' की स्थापना की, जो आज भी खामबाबा के नाम से बेस नदी के किनारे खड़ा है[3]। यहाँ वासुदेव का एक प्रासादोत्तम था। सम्भवतः इसी महाराज भागवत के राज्य के दसवें वर्ष में किसी गौतमीपुत्र भागवत ने एक गरुड़ध्वज का निर्माण कराया[4]। इसका अठपहलू स्तम्भ अभी गूजरीमहल संग्रहालय, ग्वालियर में सुरक्षित है।

देवभूति

शुंग वंश का पुराणों के अनुसार अन्तिम राजा देवभूति था। विष्णुपुराण के अनुसार उसके मंत्री वासुदेव कण्व ने उसका वध करा दिया और स्वयं राजा बन बैठा। हर्षचरित ने इस वध के कारण का भी विवरण दिया है। देवभूति अत्यन्त विषयी राजा था। उसने अपने अमात्य की कन्या से ही बलात्कार करना चाहा। वह मर गयी। मंत्री

१. भगवद्दत्त : भारतवर्ष का इतिहास, पृष्ठ ३००।

२. हर्षचरित, छठा उच्छ्वास।

३. ग्वालियर राज्य के अभिलेख, पृष्ठ १०।

४. वही, पृष्ठ ११।

वसुदेव ने देवभूति की दासी की पुत्री के द्वारा उसकी हत्या करादी। इस प्रकार ई० पू० १८७ के लगभग प्रारम्भ हुआ शुंग वंश का साम्राज्य ११२ वर्ष में लगभग ई० पू० ७३ में समाप्त हुआ।

शुंगभृत्य

वसुदेव काण्वायन कुल का ब्राह्मण था। उसके द्वारा देवभूति का वध कहाँ हुआ और काण्वों को शुंगों का कितना तथा कौनसा प्रदेश प्राप्त हुआ यह अज्ञात है। पुराणों के अनुसार काण्वों के वंश में चार राज, हुए[1] वसुदेव, भूमिमित्र, नारायण और सुशर्मा और उनका राज्य ४५ वर्ष रहा। वायुपुराण में यह भी उल्लेख है कि आन्ध्र नरेश सिमुक या सिन्धुक ने सुशर्मा काण्वायन एवं शुंगों की शेष शक्ति को नष्ट कर वसुधा का राज्य प्राप्त किया। इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि शुंगों और काण्वों का राज्य साथ-साथ चलता रहा। देश के किस भाग में काण्व थे और किसमें शुंग, यह कुछ भी स्पष्ट नहीं है। पुराणों का यह कथन भी ठीक नहीं कि सिमुक ने सुशर्मा को मारा; क्योंकि सातवाहन सिमुक तो बहुत पहले हुआ था। काण्वों को शुंगभृत्य भी कहा गया है, इससे यह प्रकट होता है कि राज्य का कोई भाग हस्तगत करके भी ये शुंगों की अधीनता मानते रहे। आगे सातवाहन राज्य का पुनर्गठित रूप दक्षिणापथ में दिखाई देता है, अतः संभावना यह भी है कि अन्तिम काण्वों का यह राज्य कहीं नर्मदा के आसपास रहा हो। परन्तु ये सब अनुमान मात्र हैं। अभी हम केवल यही मान सकते हैं कि ई० पू० २७ के लगभग कहीं काण्व तथा शुंगों के अवशिष्ट राज्य को सातवाहनों ने जीत लिया।

अन्तिम प्रतापी और कर्त्तव्यपरायण मूलपुरुषों द्वारा प्रारम्भ किये हुए साम्राज्यों के उत्तराधिकारी संघर्ष और निर्माण का कार्य शिथिल होते ही कर्त्तव्यविमुख हो विलासी बन जाते हैं। परन्तु लोकजीवन की ज्वाला उनको समाप्त कर यह कलुष भी समाप्त कर देती है। भारत के जनजीवन पर तबतक कोई विनाशकारी प्रभाव न पड़ सका जबतक यहाँ का जन प्रबुद्ध रहा। साम्राज्य उलटते रहे, बदलते रहे, परन्तु लोक-जीवन अबाध गति से आगे बढ़ता रहा। पुष्यमित्र के वंशज कहीं इधर-उधर बिखरे रहे और इतिहास में अन्तिम बार पुष्यमित्र के किन्हीं वंशजों को अथवा उसका नाम लेकर फिर उठनेवालों को गुप्त सम्राट कुमारगुप्त (४१४-४५५ ई०) के अन्तिम दिनों में देखते हैं जब वे पुष्यमित्र नामधारी 'समुदित-बल-कोष' बनकर नर्मदा के तीर से मगध-साम्राज्य पर टूट पड़े थे। यह आगे के परिच्छेदों का विषय है।

---

१. चत्वारः शुंगभृत्यास्ते नृपाः काण्वायना द्विजाः।

विक्रमादित्य और शक

ईसा पूर्व ५८ की मध्यदेश की सबसे प्रमुख घटना विक्रम-संवत्-प्रवर्त्तन की है। इसके विवेचन में ही इस प्रदेश के लगभग एक शताब्दी का इतिहास समाविष्ट है। यद्यपि यह घटना उज्जयिनी के विक्रमादित्य से सम्बन्धित है; परन्तु ज्ञात यह होता है कि मथुरा से प्रतिष्ठानपुर तक की शक्तियाँ इससे सम्बन्धित थीं। पिछले पृष्ठों में नाग और सातवाहनों के उल्लेख हो चुके हैं। इस घटना से मालव, यौधेय, शिविगण तथा नवोदित शकों का घनिष्ट सम्बन्ध है। उनका संक्षिप्त परिचय देकर हम विक्रमादित्य और विक्रम समस्या पर विचार करेंगे।

बाख्त्री के यूनानी भारत पर आक्रमण कर यहाँ अपना राज्य जमाने की परम्परा डाल चुके थे, उसे आगे शक-पह्लवों ने जारी रखा, परन्तु पुष्यमित्र शुंग उत्कट राष्ट्रीय भावना को जन्म दे गया था। दक्षिणापथ के सातवाहन, अवन्ति के गर्धभिल और नाग, मालव, यौधेय आदि संयुक्त अथवा पृथक् रूप से अपनी तलवार के प्रबल पराक्रम से इन शकों को पीछे धकेलते रहे। अवन्ति में गर्धभिल्लों ने शकों का उन्मूलन किया, सातवाहन और शक एक के बाद एक अवन्ति पर आधिपत्य जमाते रहे और अन्ततोगत्वा सातवाहन क्षिप्रा के किनारों को इन यवनों से मुक्त करने में सफल हुए। उत्तर और मध्य मध्यदेश में मालव, यौधेय तथा नागों ने इनसे टक्करें लीं। पुष्यमित्र शुंग के समय बाख्त्री के यवनों के रूप में जो घटा भारत की ओर बढ़ी थी, अगली चार-पाँच शताब्दियों में उसके साथ पह्लव, शक और कुषाणों ने भारत के जनपदों को चारों ओर से घेर लिया। इन विदेशी आक्रमणों में भारत की रक्षा करने के संघर्ष का इतिहास अत्यन्त लोमहर्षण है, परन्तु उसके परिणामस्वरूप भारत ने अपने पौरुष का अद्भुत परिचय दिया। ये सभी आक्रान्ता या तो भारत छोड़ने पर विवश हुए अथवा उनने भारतीय समाज में अपने आपको समर्पित कर दिया।

यह एक सुखद संयोग है कि इस संघर्ष का नेतृत्व मध्यदेश के जानपदजनों, गणतंत्रों और राजाओं ने किया था। उज्जयिनी के गर्धभिलों तथा उत्तर मध्यदेश के मालवों ने उनपर पहली चोट की। नागों के दौहित्र पुरिका के सिमूक के वंशज सातवाहनों ने उनके पैरों को दूसरी बार उखाड़ा और फिर नागों, मालवों तथा यौधेयों ने उनको उत्तर भारत से समाप्त किया तथा नागों के सेनापति विन्ध्यशक्ति के कुल ने पुनः एक बार नाग वाकाटक साम्राज्य का प्रभुत्व समस्त भारत पर जमाकर उत्तरापथ और दक्षिणापथ के भेद को दूर कर दिया और इस महावृक्ष के 'पल्लव' सुदूर दक्षिण में भी दिखाई दिये।

शक-पह्लव

इस संघर्ष का प्रथम परिच्छेद उत्तर-पश्चिम के शक-पह्लवों से सम्बन्धित है। पहले हम देख चुके हैं कि सिल्यूकस के साम्राज्य के दो प्रदेश बाख्त्री तथा पर्थिया स्वतंत्र हो चुके थे। बाख्त्री के यूनानी भारत में पाटलिपुत्र तक चढ़ आए थे और अन्ततोगत्वा शुंगों ने उनसे भारत को मुक्त किया। वे सिन्धु के उस पार भारतीय यूनानियों के रूप में राज्य करते रहे। परन्तु बाख्त्री और पर्थिया के यूनानी राज्यों को आगे अनेक विषम विपत्तियों का सामना करना पड़ा। उत्तर-पश्चिम चीन में, ई० पू० दूसरी शताब्दी के दूसरे चरण में, हियुंग-यू नामक एक अत्यन्त क्रूर जाति को अकाल ने घेरा। उनके चरागाह सूख गये और वे कान-सू प्रान्त की यूची जाति के प्रदेश में घुस बैठे। यूचियों को अपना प्रदेश छोड़ना पड़ा और वे सोरदारिया के निवासी शकों से जा टकराए। इन शकों को यूचियों से पराजित होकर अपना देश छोड़ना पड़ा। बेघरबार ये शक बाख्त्री और पर्थिया के यूनानी राज्यों पर टूट पड़े। बाख्त्री का राजा होलियाक्लिज मारा गया और ई० पू० १२८ में उनकी टक्कर पर्थिया से हुई। पर्थिया के इस संकट को वहाँ के राजा मिथ्रिदात ने रोका। पर्थिया में विफल होकर शकों की टोलियाँ भारत की ओर मुड़ीं। उनकी पहली मुठभेड़ काबुल के यूनानी राज्य से हुई। काबुल के पश्चिमी प्रदेश पर शकों को कुछ समय तक बसना पड़ा और उस प्रदेश का नाम 'शकस्तान' या सीस्तान पड़ा। शकों ने फिर बलूचिस्तान और कन्दहार के मार्ग से भारत की ओर प्रयाण किया। सिन्धु के नीचे के भागों में वे बस गये। इसका नाम उनके कारण शकद्वीप पड़ा। भारत के पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त पर भी इनका राज्य स्थापित हो गया। शुंगों और सातवाहनों के राज्यों के शक्तिहीन होने पर इन्हें भारत में बढ़ने का अवसर मिला और कालान्तर में सिन्ध और पश्चिमोत्तर से बढ़कर भारत में इनकी तीन शाखाएँ जम गयीं—(१) उज्जैन के क्षत्रप, (२) दक्षिण के क्षहरात (खखरात) और मथुरा के क्षत्रप।

मालव-शिवि-यौधेय

यूनानियों और शकों के प्रबल धक्कों से पश्चिमोत्तर भारत की कुछ प्रबल जातियाँ मध्यदेश की ओर अग्रसर हुईं। जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया था तब उन्हें मालव-क्षुद्रकगणों से मुकाबला करना पड़ा था। वहाँ पर ही यौधेय और शिबिगण बसे हुए थे। प्रस्तुत युग में हम यौधेय, शिबि और मालवों को मध्यदेश की ओर पाते हैं।

शिबि

शिबिगण के सिक्के मारवाड़ तथा चित्तौड़ के आसपास मिले हैं। ज्ञात होता है कि ये भी मालवों के साथ इस ओर आ बसे थे।

मालव

आज जिस प्रदेश को मालवा कहा जाता है उसको यह नाम ईसवी तीसरी शताब्दी के पश्चात् मिला था। उसके पूर्व यह अवन्ति तथा आकर नामक दो जनपदों द्वारा सम्बोधित होता था। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में मालवगण सिन्धु के काँठे में बसे हुए थे। सिकन्दर को इनसे बहुत भयंकर युद्ध लड़ना पड़ा था। इनकी सेना में उस समय

नब्बे हजार पैदल, दस हजार अश्वारोही तथा नौ सौ युद्ध-रथ थे। जब सिकन्दर से भीषण युद्ध के परिणामस्वरूप भी कुछ फल निकलता न दिखा तब इनने सन्धि का प्रस्ताव लेकर सौ राजदूत सिकन्दर के पास भेजे। यूनानी इतिहास लेखकों ने लिखा है, "ये असाधारण कद के तेजस्वी पुरुष थे, ये रथों में बैठकर आए थे और इनके कपड़े सोने और जवाहिरातों से जड़े हुए थे। उन्होंने आकर कहा कि युगयुगान्तर से अक्षुण्ण अपनी स्वाधीनता का हमें गर्व है। स्वाभिमान और स्वतंत्रता से जितना हमें अनुराग है उतना और किसी को नहीं। हमारी पराजय का कारण दैवी इच्छा है, भय नहीं। सिकन्दर ने उनका राजसी स्वागत किया तथा मैत्री स्थापित की"। ज्ञात होता है कि शकों के आक्रमण के कारण मालवगण राजस्थान और मध्यभारत की ओर बढ़े। ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के प्रारम्भ में हम उन्हें राजस्थान और मध्यभारत की सीमा पर बसा हुआ पाते हैं। इस काल में मालवों की राजधानी वर्त्तमान टोंक से २५ मील दक्षिण-पूर्व तथा बूँदी से ४४ मील उत्तर-पूर्व चम्बल और बनास के क्षेत्र में कर्कोट नगर थी। विक्रम संवत् १०४३ के इस स्थान पर प्राप्त एक शिलालेख ने इस नगर का नाम मालवनगर[1] दिया है। जयपुर के पास रेढ़ नामक स्थान पर उत्खनन के समय एक ताम्रमुद्रा मिली थी, जिस पर "मालव जनपदस" खुदा हुआ है[2]।

हम आगे देखेंगे कि यहीं पर कहीं नहपान के जामाता उषवदात ने मालवों को पराभूत किया था। उषवदात ने इस विजय से बहुत गौरव अनुभव किया था और पुष्कर में स्नान कर अनेक दान-पुण्य किये थे। वह बार-बार बनास के किनारे दान-पुण्य करने आता था और चम्बल का रामतीर्थ अथवा रामेश्वर उसका विशेष श्रद्धाभाजन बना था। इससे प्रकट होता है कि मालवों का क्षेत्र उस समय काली सिन्ध और बनास के बीच का चम्बल का क्षेत्र था तथा वे दशपुर और वर्त्तमान श्योपुर तक फैले हुए थे। उषवदात से दबाए जाकर संभवतः इनने नागों से सम्पर्क स्थापित किया और पद्मावती के मार्ग से ये विदिशा आए। समुद्रगुप्त ने इसी क्षेत्र में काक, सनकानिक तथा मालवों के गणतंत्रों का विनाश किया था। उस समय ये गणतंत्र विदिशा के आसपास बसे हुए थे। यशोवर्मन चन्देल के विक्रम-संवत् १०११ (ई० सन ९५३-५४) के शिलालेख[3] में भेलसा को "मालव नदी के तीर पर स्थित" कहा गया है। वेत्रवती को इसी प्रवास के सिलसिले में मालवों ने 'मालव नदी' नाम दिया था। उज्जयिनी के विक्रमादित्य के साथ ये अपने प्रकृत शत्रु शकों पर टूट पड़े और कुछ समय के लिए ही सही, शकों से अपना बदला ले सके। शकों के कमजोर होते ही दशपुर पर भी इनने अपना प्रभाव जमा लिया था, जहाँ आगे चलकर जनेन्द्र, जन का नेता मौलिकर यशोधर्मन-विष्णुवर्धन जैसा प्रतापी वीर उत्पन्न हुआ था।

मालवगण की मुद्राएँ उनके मालवनगर (कर्कोट) में तथा उनके इस प्रवास के ऊपर लिखे सभी क्षेत्रों में प्राप्त हुई हैं, जिनपर "मालव जनपदस" तथा "मालवानां जयः"

---

१. दि एज ऑफ इंपीरियल यूनिटी, पृष्ठ १६४।

२. कृष्णदेव : मालवों का संक्षिप्त परिचय, विक्रम स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ ५२७।

३. ग्वालियर राज्य के अभिलेख, पृष्ठ २८।

के मंत्र उत्कीर्ण हैं। शकों के कमजोर होते ही ज्ञात होता है कि मालवों ने उन प्रदेशों के अतिरिक्त जहाँ उनका कुछ भाग प्रवास करने पर बाध्य हुआ था, अपने मूल प्रदेश चम्बल, बनास और काली सिन्ध के क्षेत्र को भी अपना लिया। शकों के पराभव के समय जिस नवीन संवत् की स्थापना हुई उसका प्रयोग उन्होंने चम्बल के काँठे के अपने प्रदेश में मालव-संवत् के नाम से किया। अनेक विद्वानों का यह अनुमान है कि "मालवानां जयः" मन्त्रयुक्त मुद्राएं उस विजय के स्मारक के रूप में प्रचलित की गयीं। डॉ० वासुदेव-शरण अग्रवाल ने इस जयः शब्द का अर्थ प्रभावक्षेत्र बतलाया है[1]। यदि मालवानां जयः अथवा यौधेयानां जयः का तात्पर्य उस प्रदेश से है जिसमें इन गणों की प्रभुसत्ता थी, तब लुधियाना में प्राप्त मिट्टी की मुद्रा पर "यौधेयानां जयमंत्रधरानाम्" का जो अर्थ होगा उससे इसकी संगति मिलना कठिन है। अतः मालवानां जयः को किसी जय से ही सम्बन्धित मानना पड़ेगा और इस काल के मालवों की सबसे बड़ी विजय उज्जयिनी के विक्रमादित्य के साथ शकों के विरुद्ध हुई थी।

यौधेय

सिंधु के काँठे से मालवों के साथ शकों के धक्कों से यौधेय भी मध्यदेश की ओर चले थे। ये मालवों के क्षेत्र के पश्चिम की ओर बस गये थे। इनके सिक्के ढालने के साँचे रोहतक के पास मिले हैं। इनकी मुद्राएँ सहारनपुर, मुलतान तथा देहरादून तक प्राप्त हुई हैं। लुधियाने की मिट्टी की मुद्रा पर इन्हें "यौधेयानां जयमंत्रधरानाम्" अर्थात् जयमंत्रधारी यौधेय लिखा है। ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी की मुद्राओं पर "बहुधान्यके यौधेयानाम्" अर्थात् बहुधान्यक स्थित यौधेयगण की मुद्रा लिखा है। यह बहुधान्यक नगर रोहतक के पास माना गया है[2]। इनके कुछ सिक्कों पर प्राप्त वाक्यों में ये स्कंद कार्त्तिकेय के उपासक लिखे गये हैं। रुद्रदामन के जूनागढ़ शिलालेख में इनके विषय में लिखा है 'ये सब क्षत्रियों में प्रकट की हुई (अपनी) वीर पदवी के कारण अभिमानी बने हुए थे तथा उसने उन्हें उखाड़ फेंका'। इनकी ईसवी पहली-दूसरी शताब्दी की मुद्राओं पर 'यौधेयानां जयः' मंत्र लिखा मिलता है। रुद्रदामन का समय ईसवी दूसरी शताब्दी का मध्य माना जाता है। उसी समय यौधेयों को उनकी विजय के कारण जूनागढ़ शिलालेख के अनुसार वीर पदवी दी गयी होगी जिसके दम्भ को रुद्रदामन ने समाप्त किया। ज्ञात यह होता है कि बाम-कदफिस कुषाण ने जब इन्हें पश्चिमोत्तर प्रदेशों से खदेड़ा तो ये रोहतक के आसपास आ बसे और उस क्रम में इन्हें स्थानीय शक्तियों से संघर्ष करना पड़ा होगा, जिसमें विजय प्राप्त करके यह वीर पदवी मिली होगी जो रुद्रदामन ने मिटा दी। इतिहास के परम विद्वान डॉ० अनन्त सदाशिव अल्टेकर ने कुषाणों की सत्ता को उत्तर भारत में से उखाड़ फेंकने का श्रेय रुद्रदामन से मारे-पीटे इन यौधेयों को दिया है। ये लिखते हैं कि कुषाण साम्राज्य को पहला धक्का देने का श्रेय वास्तव में यौधेयों को था और यह आश्चर्य की बात है कि इस संबंध में उनके कार्य वर्तमान इतिहासज्ञों की दृष्टि से ओझल हो गये[3]।

---

१. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ४४६।
२ दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृष्ठ १६७।
३. ए न्यू हिस्ट्री ऑफ दि इण्डियन पीपल, पृष्ठ २८।

परन्तु वास्तविकता तो यह है कि शकों ने उनका कचूमर निकाल दिया था और कुषाणों के विरुद्ध लोहा लेने की शक्ति केवल उन नागों में शेष रह गयी थी जो मथुरा के दक्षिण में चंबल, बेतवा और महाकौशल के जंगलों में शक्ति संचय कर रहे थे तथा अवसर पाते ही पंजाब से लेकर बस्तर तक के प्रदेश में पद्मावती, कान्तिपुरी और मथुरा में उठ खड़े हुए तथा जिनके प्रबल सेनापति विंध्यशक्ति ने शकों के रहे-सहे अवशेषों को उखाड़ फेंका। वास्तव में डॉ० अल्टेकर का यह कथन तो स्वर्गीय श्री काशीप्रशाद जायसवाल की स्थापनाओं की प्रतिक्रियास्वरूप किया गया है और उसके गंभीरतापूर्वक विवेचन करने की आवश्यकता नहीं है।

उज्जयिनी का गंधर्वसेन या गर्धभिल वंश

यह पहले उल्लेख किया जा चुका है कि पुष्यमित्र शुंग के दो पुत्र बलमित्र और भानमित्र उज्जयिनी में शासन कर रहे थे। मेरुतुंग की थेरावली से इसकी पुष्टि होती है। इनके राज्यकाल के पश्चात् ही कभी गंधर्वकुल का उज्जयिनी में राज्य प्रारंभ हुआ। श्री सूर्यनारायण व्यास ईसा पूर्व १३२ में गंधर्व वंश का उदय बतलाते हैं[1], जो असंगत ज्ञात नहीं होता। जैन ग्रंथ 'त्रिलोक प्रज्ञाति" में शुंग राजाओं के पश्चात् उज्जयिनी पर १०० वर्ष तक गंधर्व राजाओं (गंधव्वाण) का राज्य होना लिखा है। पुराणों में इस वंश का नाम गर्धभिल या गर्धभिन् और उस वंश के सात राजा होना लिखा है। जैन अनुश्रुति इन्हें ब्राह्मण बतलाती है। पुराणों में इस वंश के सात राजाओं का राज्यकाल ७२ वर्ष माना गया है।

श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने गर्दभ, रासभ और खर की समानता के आधार पर यह स्थापना की है कि यह गर्द्रभिल वंश कलिंग के खारवेल का उत्तराधिकारी है। कलिंग के खारवेल की हाथीगुंफा प्रशस्ति में उसके द्वारा भोज के रठिकों को जीतने का उल्लेख किया गया है। संभव है उस समय वह सातवाहन शातकर्णि की चिंता न करते हुए उज्जयिनी भी आगया हो।

इसके पूर्व ही सिंध में शकों का राज्य जम चुका था। जैन अनुश्रुति के अनुसार इस वंश का गंधर्वसेन अथवा गर्धभिल नामक राजा तेरह वर्ष तक ही राज्य कर सका था कि शकों ने उसपर आक्रमण कर दिया और उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया। इस गंधर्वसेन का पुत्र था विक्रमादित्य। कालकाचार्य कथानक के अनुसार गर्धभिल ने जैनाचार्य कालकाचार्य की बहिन साध्वी सरस्वती को जैन संघ से निकालकर महलों में रख लिया। कालकाचार्य कुपित होकर सिंधु नदी के पश्चिम बसनेवाले शाही (शक) राजाओं के पास पहुँचे और उन्हें उज्जयिनी पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया। ९५ शक सामन्तों ने उज्जयिनी पर आक्रमण किया और गर्धभिल मारा गया[2]। कालक मुनि सरस्वती को छुड़ाकर सातवाहन शातकर्णि के प्रतिष्ठानपुर में चले गये।

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् २००४, पृष्ठ १६१।

२. अन्य जैन अनुश्रुति के अनुसार निर्वासित कर दिया गया।

इन शकों ने उज्जयिनी पर कुछ समय तक ही अधिकार रखा। परन्तु इस समय में ही क्या-क्या हुआ इसकी कुछ झलक गार्गीसंहिता में मिलती है[1]। "उस सुदारुण युद्धकाल के अन्त में वसुधा शून्य हो जाएगी और उसमें नारियों की संख्या अत्यन्त बढ़ जाएगी। करों में हल धारण कर स्त्रियाँ कृषिकार्य करेंगी और पुरुषों के अभाव में नारियाँ ही रणक्षेत्रों में धनुर्धारण करेंगी। उस समय दस-दस, बीस-बीस नारियाँ एक-एक नर को वरण करेंगी। सभी पर्वों और उत्सवों में चारों ओर पुरुषों की संख्या अत्यंत क्षीण होगी, सर्वत्र स्त्रियों के ही झुंड के झुंड दिखाई देंगे, यह निश्चित है। वे पुरुषों को जहाँ-तहाँ देखकर 'आश्चर्य' 'आश्चर्य' कहेंगें। ग्रामों और नगरों में सारे व्यवहार नारियाँ ही करेंगी"।

"फिर असंख्य निष्क्रांत शक प्रजा को बाध्य करेंगे कि वे आचारभ्रष्ट होकर अकर्म करें। ऐसा सुना जाता है कि जनसंख्या का चतुर्थांश शक तलवार के घाट उतार देंगे और उनकी चतुर्थांश संख्या (संभवतः दास बनाकर) अपनी राजधानी को ले जाएँगे"[2]।

शकों की पराजय

उज्जयिनी से यह गर्धभिल वंश शकों द्वारा उच्छेदित किया गया। हम पहले देख चुके हैं कि लगभग इसी समय उत्तर मध्यभारत में उषवदात ने मालवों को भी परास्त किया और उस स्वतंत्रताप्रिय जाति ने पद्मावती तथा विदिशा की ओर प्रयाण किया। विक्रमादित्य ने मालवों से विदिशा के अंचल में ही शकों के विरुद्ध अभियान की योजना बनाई होगी। हम आगे उल्लेख करेंगे कि विदिशा के पास ही दशार्ण में उसकी पुत्री वसुन्धरा भी निवास करने लगी थी। विक्रमादित्य ने मालवगण तथा इस प्रदेश के स्वातंत्र्यप्रेमी योद्धाओं की सहायता से उज्जयिनी मे शकों का उन्मूलन किया। इस प्रदेश के लिए विदेशियों का शासन एक नई घटना थी और इस कारण उनका यह पराभव भी एक राष्ट्रीय-पर्व माना गया। ई० पू० ५८ में नए युग का प्रतीक संवत्सर प्रारंभ किया गया, जिसे मालवों ने मालव-संवत् कहा और विक्रमादित्य के राज्य में वह विक्रम संवत् कहलाया।

विक्रमादित्य की इस शक-विजय की घटना का उल्लेख शिलालेखों में नहीं मिलता, पुराण भी इस विषय में मौन हैं। अतएव वर्तमान इतिहास लेखक इस घटना के अस्तित्व को ही सन्देह से देखते हैं। परन्तु भारतीय अनुश्रुति में यह घटना इतने सबल रूप में स्थापित है कि किसी शंका के लिए संदेह नहीं रह जाता। हम आगे के पृष्ठों में इन अनुश्रुतियों पर विचार करेंगे।

विक्रम-दुहिता वसुन्धरा

विक्रमादित्य और सातवाहनों का वैमनस्य भी अनुश्रुतियों में पूर्णतया प्रतिष्ठित है। ज्ञात होता है कि सातवाहन राजाओं के विग्रह में विक्रमादित्य के वंश की समाप्ति हुई।

---

१. विक्रम-स्मृति-ग्रंथ, पृष्ठ ६।

२. गार्गीसंहिता के युगपुराण का पाठ अत्यंत टूटा-फूटा है। यह अनुवाद हमने श्री भगवतशरण के लेख, विक्रमीय प्रथम शती का संक्षिप्त भारतीय इतिहास, विक्रम-स्मृति-ग्रंथ, से लिया है।

परन्तु विक्रमादित्य इतने समय तक अपना गौरव तथा अपने नवरत्नों की आभा भारतीय अनुश्रुति पर अवश्य छोड़ सका। एक अनुश्रुति के अनुसार हम विक्रमादित्य पुत्री वसुन्धरा को दशार्ण में व्रतनेम करते हुए पाते हैं। काशी के गहड़वाल वंशी प्रतापी नरेश गोविंदचन्द्र (ई० ११०४ से ११५४) के महासांधिविग्रहिक लक्ष्मीधर थे। उनने "कृत्यकल्पतरु" नामक धर्मशास्त्र का एक ग्रंथ लिखा था, इसमें एक व्रत की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

व्रतेन मुक्तिमापन्ना हरिणाक्षी वसुन्धरा ।
विक्रमस्य सुता साध्वी दशार्णविनिवासिनी ।।

"इस व्रत के कारण विक्रम की सुता, दशार्ण में रहनेवाली, साध्वी हरिण जैसे नेत्रवाली वसुन्धरा मुक्ति को प्राप्त हुई"।

इस पुस्तक की सूचना देते हुए डॉ० उमाकान्त शाह[1] ने इस वसुन्धरा को चंद्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्ता से अभिन्न माना है, और लिखा है, "संभव है युवावस्था में ही विधवा हो जाने के कारण उसने अपना शेष जीवन व्रताचरणों में बिताया हो और इस दिशा में आदर्श मानी गयी हो। इसलिए हम कह सकते हैं कि लक्ष्मीधर के द्वारा उल्लिखित वसुन्धरा संभवतः वाकाटक सम्राट रुद्रसेन द्वितीय की सम्राज्ञी तथा चंद्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्ता का ही वास्तविक नाम था"।

'वाकाटकललाम[2]' प्रभावती गुप्ता ने बड़े गौरव के साथ राज्य किया था। गुप्तों के विशाल साम्राज्य का बल उसके पीछे था तथा वाकाटकों की शक्ति भी उसके समय तक क्षीण नहीं हुई थी। युवराजों की उस जननी का शासन 'रिपुशासन' था[2]। उसे दशार्ण, में वास करने की आवश्यकता कभी नहीं आई। इस विषय में हमें श्री सदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे का मत समीचीन ज्ञात होता है। उनने लिखा है—यह उल्लेख परम्परागत उज्जयिनी के विक्रमादित्य की दुहिता के प्रति है[3]।

उज्जयिनी के शकारि विक्रमादित्य के अस्तित्व के विषय में इतनी अधिक शंकाएँ की गयी हैं कि अनुश्रुति और परवर्ती शिलालेखों के आधार पर उसके विषय में विस्तृत विवेचन आवश्यक है।

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् २०१२, पृष्ठ १६८ पर उद्धृत।

२. डॉ० दिनेशचंद्र सरकार : सिलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स पृष्ठ, ४११।

३. स० ल० कात्रे : विक्रम-स्मृति (मराठी), पृष्ठ १६२।

अनुश्रुति में विक्रमादित्य

अनुश्रुति का मूल्य

भारतीय कल्पना को अत्यधिक स्पर्श करने का सौभाग्य जितना विक्रमादित्य को प्राप्त है उतना केवल कतिपय महापुरुषों को ही प्राप्त हो सका है। सुभाषितों में, धार्मिक ग्रन्थों में, कथा-साहित्य में एवं लोक-कथाओं में विक्रम-चरित्र ओत-प्रोत है। भावुक एवं वीरपूजक भारतीय हृदयों में शकों के अत्याचार एवं अनाचार से त्राण दिलानेवाले इस महान वीर की मूर्त्ति सदा के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रूप से स्थापित हो गयी। यही कारण है कि विक्रमीय प्रथम शती से लेकर आज तक विक्रमादित्य विषयक साहित्य की वृद्धि ही होती गयी है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और वर्त्तमान प्रान्तीय भाषाओं में विक्रम-चरित्र सम्बन्धी सैकड़ों ही ग्रन्थ भरे पड़े हैं।

यहाँ हम अत्यन्त संक्षेप में विक्रम संबंधी साहित्य की विशाल राशि में से केवल कुछ को ही प्रस्तुत करना चाहते हैं। इनके देखने से यह तो ज्ञात होगा ही कि बहुत प्राचीन समय से ही लोक-मस्तिष्क में विक्रमादित्य की क्या भावना रही है, ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस साहित्य का मूल्य बहुत अधिक है। इनका प्रत्येक विवरण भले ही इतिहास की कसौटी पर खरा न उतरे, परन्तु इनका समन्वित रूप, साहित्य की विशिष्ट वर्णन-शैली को हटाकर ऐतिहासिक अन्वेषक के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। उसके द्वारा ज्ञात ऐतिहासिक सामग्री के ढाँचे में रूप-रंग भरा जा सकता है। अतः आगे क्रमशः एक-एक विक्रम विषयक ग्रन्थ का ऐतिहासिक मूल्यांकन कर उसमें निहित विक्रम विषयक उल्लेख देने का प्रयत्न करेंगे। इस प्रकार तुलना एवं परख से विक्रमादित्य को अनुश्रुति-सम्मत मूर्त्ति की धुँधली रूप-रेखा प्रस्तुत हो सकेगी। इस आशय के लिए यहाँ केवल गाथासप्तशती, कालकाचार्य-कथा, कथासरित्सागर, वेतालपच्चीसी, सिंहासनबत्तीसी, राजतरंगिणी, प्रबन्धचिन्तामणि, ज्योतिर्विदाभरण तथा भविष्यपुराण को ही लिया गया है; क्योंकि विक्रम विषयक सम्पूर्ण साहित्य का इस प्रकार विवेचन करना तो एक पृथक् ग्रन्थ का विषय है। वैसे तो इन ग्रन्थों के विषय में कालक्रम के अनुसार लिखना उचित होगा, परन्तु उससे हमारा कथा-प्रवाह भंग होगा। अतः आगे हम उनको उसी क्रम से लेंगे, जिससे कथा-प्रवाह बना रहे।

कालकाचार्य कथा

कालकाचार्य नामक चार जैनाचार्य हो गये हैं। पहले श्यामार्य नामक कालकाचार्य, जिनका समय वीरनिर्वाण संवत् ३३५ के लगभग है, दूसरे गर्धभिल राजा से साध्वी सरस्वती को छुड़ानेवाले, जिनका अस्तित्व काल वीरनिर्वाण-संवत् ४५३ के आसपास

है, तथा चौथे कालक का समय वीरसंवत् ९९३ है[1]। इनमें से दूसरे आचार्य कालक का सम्बन्ध विक्रमीय घटना से है।

कालकाचार्य कथा, जो आज प्राप्त होती है, उसमें इन चारों की कथाएँ सम्मिलित कर दी गयी हैं। इनमें से हमारे लिए तो गर्धभिल के राज्य का उन्मूलन करनेवाले कालकाचार्य की कथा ही उपयोगी है। इस कथा में गर्धभिल की शकों द्वारा पराजय एवं गर्धभिल के पुत्र विक्रमादित्य द्वारा शकों की पराजय का उल्लेख है। मेरुतुंगाचार्य रचित पट्टावली में पिछली घटना का समय वीरनिर्वाण संवत् ४७० (अर्थात् ५० ई० पू०, अर्थात् विक्रम संवत् को प्रारम्भ तिथि के ७ वर्ष पूर्व) बतलाया है। प्रबन्धकोष में भी संवत् प्रवर्त्तन को यही तिथि बतलाई है। धनेश्वर सूरि रचित शत्रुंजय माहात्म्य में विक्रमादित्य के प्रादुर्भाव का समय वीरसंवत् ४६६ बतलाया है। इस प्रकार सम्पूर्ण जैन अनुश्रुति इस तिथि तथा घटना का समर्थन करती है। इधर पुराणों में भी गर्दभिन् वंश का राज्यकाल यही ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी बतलाया गया है।

सप्तगर्दभिला भूयो मोक्ष्यन्तीमां वसुन्धराम्।
शतानि त्रीण्यशीतिञ्च शका ह्यष्टा दशैव तु॥ —मत्स्यपुराण[2]

इस कथा में प्रधान घटना शकों के मालव आक्रमण की है। प्रश्न यह है कि क्या कोई शक आक्रमण प्रथम शती ईसवी में मालव पर हुआ था? इसका उत्तर 'खरोष्ट्री इन्सक्रिपशन्स' की भूमिका में स्तीन कोनो ने दिया है। इसमें इस विद्वान ने भारतवर्ष के बाहर तथा भारत में प्राप्त सामग्री के आधार पर शकों का इतिहास प्रस्तुत किया है। वह लिखता है, "भारतवर्ष के प्रथम शक साम्राज्य के इतिहास का पुनर्निर्माण इस प्रकार किया जा सकता है। ई०पू० ८८ में मिथ्राडेटस द्वितीय की मृत्यु के थोड़े समय पश्चात् ही शीस्तान के शकों ने अपने आपको पर्थिया से स्वतन्त्र कर लिया और उस विजययात्रा का प्रारम्भ कर दिया जिसने उन्हें सिन्धु नद के देश तक पहुँचा दिया।............बाद को ई०पू० ६० के लगभग शकों ने अपना साम्राज्य उस प्रदेश तक बढ़ा लिया था जिसे कालकाचार्य कथानक में हिन्दुक देश कहा गया है (सिन्धु नद का निचला प्रदेश) और उसके पश्चात् वे काठियावाड़ और मालवे की ओर बढ़े, जहाँ उन्होंने सम्भवतः अपना राष्ट्रीय संवत्सर चलाया। यहाँ सन ५७–५६ ई० पू० में विक्रमादित्य ने उनका उन्मूलन किया और अपनी इस विजय के उपलक्ष्य में अपने संवत्सर का प्रवर्त्तन किया, जो हमें उसके प्रायः ७० वर्ष पश्चात् मथुरा में प्रयुक्त मिलता है"[3]।

कालकाचार्य कथा की ऐतिहासिकता का यह विद्वान बड़े उत्साह एवं दृढ़ता के साथ समर्थन करता है। वह लिखता है "मुझे तो इसका थोड़ासा भी कारण नहीं दिखता कि अन्य लोगों के समान मैं इस कथा को असत्य मान लूँ"[4]। स्तीन कोनो ही नहीं, रॅप्सन ने कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया भाग १, पृष्ठ ५३२ पर इस कथा की घटनाओं के विश्वसनीय होने के विषय में लिखा है। श्री नारमन ब्राउन भी अपने कालकाचार्य कथानक की भूमिका में इसकी घटनाओं की ऐतिहासिकता को स्वीकार करते हैं।

---

१. द्विवेदी-अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ ९५-९६। २. पार्जीटर : दि पुराण टैक्ट ऑफ दि डायनैस्टीज ऑफ दि कलि एज, पृष्ठ ४५, ४६, ७२। ३. पृष्ठ ३६। ४. पृष्ठ २७।

कालकाचार्य कथा के वर्त्तमान पाठों के विषय में श्री नारमन ब्राउन ने लिखा है कि सभी ज्ञात पाठों को एक ही मूल स्रोत से प्रवाहित मान लेना असम्भव है। यह स्रोत न तो इन पाठों में से कोई एक है और न कोई अप्राप्त पाठ। सम्भव है कि कालक नाम के साथ बहुत समय तक बहुतसी जनश्रुतियाँ सम्बद्ध रही हों, जो श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित थीं। यह जब मौखिक रूप में थी तब जैन साधु इसे विस्तृत अथवा संक्षिप्त रूप में अपने शब्दों में सुनाते रहे, और जब यह कथा लिपिबद्ध की गयी तो वह इसी मौखिक स्रोत से लिखी गयी[1]। आगे इस कालक कथा के केवल सम्बद्ध भाग का संक्षिप्त रूप दिया जाता है।

इस संसार के जम्बू द्वीप के भारत देश में धारावास नामक एक नगर था। उसमें वज्रसिंह नामक प्रतापी राजा रहता था। सुरसुन्दरी नामक उसकी रानी थी। इस रानी से कालक नामक उसके एक पुत्र हुआ। इस कालक की एकबार गुणाकर नामक (जैन) आचार्य से भेंट हुई। उनके उपदेश से यह बहुत अधिक प्रभावित हुआ और उनका शिष्य हो गया। कालक को विद्वान एवं साधना में सम्पन्न देख गुणाकर ने उसे सूरि पद दिया।

कालकाचार्य अपने शिष्यों सहित उज्जयिनी नगरी में आए और वहाँ रहने लगे। उज्जयिनी नगरी में गर्धभिल नामक राजा राज्य करता था। उसने एक दिन अत्यन्त रूपवती कालक की छोटी बहिन साध्वी सरस्वती को देखा और उसके रूप पर मुग्ध होकर उसे अवरुद्ध करके अपने अन्तःपुर में डाल दिया। कालक सूरि ने राजा को बहुत समझाया; परन्तु कामान्ध राजा ने एक न मानी। सूरि ने जैनसंघ द्वारा भी राजा को समझवाया; परन्तु राजा ने जैन संघ की बात न मानी। क्रुद्ध होकर कालक ने प्रतिज्ञा की कि यदि गर्धभिल का उन्मूलन न करूँ तो प्रवंचक, संयमोपघातक और उनके उपेक्षकों की गति को प्राप्त होऊँ।

सूरि ने विचार किया कि गर्धभिल का बल उसकी 'गर्दभी' विद्या है। अतः उसका उन्मूलन युक्ति से ही करना होगा। उन्होंने उन्मत्त का वेष बना लिया। वे प्रलाप करने लगे, "यदि गर्धभिल राजा है तो क्या? यह अन्तःपुर रम्य है तो क्या? यदि देश मनोहर है तो क्या? यदि लोग अच्छे वस्त्र पहने हैं तो क्या? यदि मैं भिक्षा माँगता हूँ तो क्या? यदि मैं शून्य देवल में सोता हूँ तो क्या"? इस प्रकार इनका हाल देखकर पुर के लोग कहने लगे, "हाय, राजा ने अच्छा नहीं किया।" राजा की यह निन्दा सुनकर मंत्रियों ने भी उसे साध्वी को छोड़ देने की सलाह दी; परन्तु राजा ने एक न मानी।

सूरि ने वह नगर छोड़ दिया और वे चलते-चलते शककुल नामक (सिन्धुनद के) कूल पर पहुँचे। वहाँ के सामन्त साहि कहलाते थे और उनका नरेन्द्र 'साहानुसाहि' कहलाता था। वहाँ एक 'साहि' के समीप सूरि रहने लगे, जिसे उन्होंने अपने मंत्र-तंत्र से प्रसन्न कर लिया था।

जब सूरि साहि के साथ आनन्द से रह रहे थे उसी समय एक दूत आया जिसने साहि को साहानुसाहि की भेजी हुई एक कटारी दी और उसको यह सन्देश दिया कि उससे साहि

१. दि स्टोरी ऑफ़ कालक : नार्मन ब्राउन, पृष्ठ ३।

अपना गला काट ले। साहि को भयभीत देखकर कालक ने पूछा कि साहानुसाहि केवल उसीसे अप्रसन्न हैं अथवा और किसी से भी। ज्ञात यह हुआ कि इसी प्रकार ९५ अन्य साहियों को आदेश दिया गया है। कालक की सलाह से ये ९६ साहि इकट्ठे हुए और उनने 'हिन्दुक देश' को प्रयाण किया।

वे समुद्र मार्ग से सुराष्ट्र (सूरत या सौराष्ट्र) आए। उस देश को ९६ भागों में बाँटकर वे सब वहाँ राज्य करने लगे।

वर्षाऋतु बीतने पर कालक सूरि ने गर्धभिल से बदला लेने के विचार से साहियों को उत्तेजित किया और कहा कि इस प्रकार निरुद्यम क्यों बैठे हो, उज्जयिनी नगरी को हस्तगत करो, क्योंकि वह "वैभवशालिनी मालवभूमि की कुंजी है"।

उनने कहा कि हम ऐसा करने को तैयार हैं; परन्तु हमारे पास धन नहीं है। कालक सूरि ने ईंटों के एक भट्ठे को सोने का बना दिया। उसे लेकर साहियों ने उज्जयिनी पर आक्रमण किया। लाट देश के राजा ने भी उनका साथ दिया। दोनों ओर की सेनाओं में भयंकर युद्ध हुआ। गर्धभिल की सेना के पैर उखड़ गये। गर्धभिल ने नगर के भीतर शरण ली। नगर घेर लिया गया।

गर्धभिल ने गर्दभी विद्या सिद्ध की। गर्धभिल उसे प्रत्यक्ष करने लगा। प्रत्यक्ष होने पर वह बड़ा भयंकर शब्द करती, जिसे सुनकर शत्रु सेना का प्रत्येक मनुष्य अथवा पशु भय-विह्वल होकर रुधिर वमन करता हुआ अचेत पृथ्वी पर गिर पड़ता। कालक सूरि यह रहस्य जानते थे। उनने सब सेना को पीछे हटा दिया और अपने साथ केवल १०८ तीरन्दाज रख लिए। उन्हें सूरि ने समझा दिया कि जैसे ही गर्दभी शब्द करने को मुँह खोले, वे तीर चलाकर उसका मुँह भरदें। इस प्रकार गर्दभी विद्या निष्फल हुई, गर्धभिल[1] हारकर पकड़ा गया और सूरि के सामने लाया गया। अपमानित गर्धभिल निर्वासित कर दिया गया।

---

१. अभी अनेक विद्वानों ने एक नवीन चर्चा प्रारम्भ की थी। मालवे में सोनकच्छ के पास गन्धावल नामक स्थान है। वहाँ एक गन्धर्वसेन का मन्दिर खोज निकाला गया है। गन्धावल के विषय में यह भी लिखा है कि वहाँ जैनमतावलम्बियों का प्रभुत्व है। ऐसे स्थान पर जैन धर्म विरोधी गर्धभिल का मन्दिर क्योंकर हो सकता है, यह सोचने की बात है। इसके विषय में एक विद्वान ने यह अनुमान किया है कि गर्धभिल का अपमान करने के लिए ही उसकी यह गर्दभमुखी प्रतिमा बनाई गयी है। परन्तु अपमान करने के लिए मन्दिर बनाने की अभिनव कल्पना से हम सहमत नहीं हो सकते, फिर यह प्रतिमा अत्यन्त अर्वाचीन भी है। इसके लिए उक्त विद्वान (श्री वकचाले) ने यह लिखा है कि यह किसी प्राचीन प्रतिमा की प्रतिकृति है। बात यह ज्ञात होती है कि यह वराह-प्रतिमा है। मध्यकाल की वराहावतार की मूर्त्तियाँ अनेक ग्रामों में पाई जाती हैं। वराह-पूजन की प्रथा कम होने पर वराहमूर्त्तियों के नाम भी विभिन्न हो गये। एक ग्राम में हमने लोगों को उसे दाने की मूर्त्ति भी कहते सुना। ज्ञात यह होता है कि गन्धावल के जैन उस वैष्णव सम्प्रदाय के मन्दिर को गन्धर्वसेन का मन्दिर कह उठे और वराह के मुख से गर्दभ के मुख की कल्पना कर उठे। यह भी कोई आश्चर्य नहीं कि यह फूहड़ रीति से गढ़ी हुई मूर्त्ति वराह की शास्त्रोक्त मूर्त्तियों से भिन्न हो।

जिस साहि के साथ कालक सूरि रहे थे वह सब साहियों का मुखिया बना और वे उज्जयिनी में रहने लगे। वे शककुल से आए थे, अतः शक कहलाते थे और इस प्रकार 'शक वंश' चला।

कुछ समय बाद विक्रमादित्य हुआ जिसने शक वंश का नाश किया और मालवे का राजा बना। वह पृथ्वी पर एक ही वीर था, जिसने अपने विक्रम से अनेक नरेन्द्रों को दबाया और अपने कार्यों से सुन्दर कीर्त्ति का संचय किया, जिसने अपने साहस से कुबेर की आराधना की और उनसे वरदान प्राप्त कर शत्रु तथा मित्र सभी को अगणित दान दिए, जिसने अपार धनराशि देकर सबको ऋण-मुक्त करके अपने संवत्सर का प्रवर्त्तन किया[1]।

कुछ समय पश्चात् एक शक राजा हुआ, जिसने विक्रमादित्य के वंशजों का भी उन्मूलन किया और विक्रम-संवत् के १३५ वर्ष पश्चात् उसने अपना शक-संवत् चलाया।

इस कथा के पढ़ने पर तथा ज्ञात ऐतिहासिक तथ्यों से इसे मिलाने पर यह स्पष्ट होता है कि इसमें बहुत कुछ उस समय का इतिहास सच्चे रूप में ही सन्निहित है। यह जैन सम्प्रदाय की धार्मिक कथा है, अतः कालकाचार्य के व्यक्तित्व में अलौकिकता का जुड़ जाना तो सम्भव है; परन्तु उसमें इतिहास की घटनाओं को बिगाड़कर लिखने की प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती। दूसरे, जैन सम्प्रदाय में धार्मिक साहित्य को अपरिवर्तित रूप में सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति बहुत अधिक है। अतः भले ही यह कथा प्रारम्भ में मौखिक रूप में प्रचलित थी, फिर भी उसमें अधिक परिवर्तन की प्रवृत्ति न रही होगी। यद्यपि स्मृति-दोष तथा संक्षेप एवं विस्तार की इच्छा ने अच्छा प्रभाव नहीं डाला होगा।

कथासरित्सागर

सोमदेवभट्ट-कृत कथासरित्सागर यद्यपि विक्रमी बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में लिखी गई है, परन्तु अनेक कारणों से उसका ऐतिहासिक महत्त्व बहुत अधिक है। यह कथा गुणाढ्य-रचित पैशाची प्राकृत में लिखी गयी बृहत्कथा के आधार पर रची गयी है। स्वयं सोमदेव ने लिखा है, 'बृहत्कथायाः सारस्य संग्रहं रचयाम्यहम्'।

बृहत्कथा का लेखक गुणाढ्य सातवाहन हाल का समकालीन था। अतः कथा-सरित्सागर विक्रमादित्य के प्रायः एक शताब्दी पश्चात् ही लिखे गये ग्रन्थ के आधार पर होने के कारण उसका विक्रमादित्य का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है।

कथासरित्सागर में विक्रमादित्य का नाम चार स्थान पर आया है।

पहले तो छठे लम्बक की प्रथम तरंग में उज्जयिनी के राजा विक्रमसिंह का उल्लेख है। इसमें केवल विक्रमसिंह की बुद्धि एवं उदारता सम्बन्धी कथा है। राजा शिकार खेलने निकलता है, उसने मार्ग के एक मन्दिर में दो आदमियों को बात करते पाया।

---

१. डॉ० अनन्त सदाशिव अल्टेकर ने कालक कथा के विक्रमादित्य सम्बन्धी श्लोकों को प्रक्षिप्त अनुमानित किया है। परन्तु इस अनुश्रुति का प्रतिपादन अन्य सभी जैन ग्रंथों द्वारा होता है, अतः उसे अकारण ही प्रक्षिप्त मानना उचित नहीं है।

लौटने पर फिर वे वहीं मिले। उसे सन्देह हुआ। बुलाकर उसने उनका हाल पूछा। उनके सत्य कहने पर उसने उन्हें आश्रय दिया।

उसके पश्चात् लम्बक ७ की तरंग ४ में पाटलिपुत्र के विक्रमादित्य का उल्लेख है। "विक्रमादित्य इत्यासीद्राजा पाटलिपुत्र के"। यह कथा भी उज्जयिनीपति विक्रमादित्य से सम्बन्धित न होकर पाटलिपुत्र-पुरवराधीश से सम्बन्धित है। यह विशेष रूप से महत्त्व-पूर्ण है; क्योंकि इससे ज्ञात होता है कि सोमदेव के सामने उज्जयिनीनाथ विक्रमादित्य के अतिरिक्त भी एक विक्रमादित्य थे। यह पाटलिपुत्र के राजा विक्रमादित्य निश्चय ही ५७ ई० पू० के संवत्-प्रवर्त्तक विक्रमादित्य से भिन्न थे।

आगे बारहवें लम्बक में उज्जैन के विक्रम केशरी का उल्लेख है। उसमें प्रतिष्ठान देश के राजा विक्रमसेन के पुत्र त्रिविक्रम के साथ विक्रम कथा में प्रसिद्ध वाचाल वेताल तथा उनके 'अपराजिता' नामक खड्ग को सम्बद्ध कर दिया है। इस बारहवें लम्बक में प्रख्यात 'वेताल पंचविंशतिका' सम्मिलित है। यह स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में एवं विभिन्न पाठों में मिली है। उसका वर्णन आगे किया गया है।

वास्तव में जिसे विक्रमादित्य का विस्तृत उल्लेख कहा जा सकता है, वह तो अठा-रहवें लम्बक में है (यही कथा क्षेमेन्द्रकृत बृहत्कथा मंजरी के दसवें लम्बक में है)। इस लम्बक में पाँच तरंग हैं। इनमें प्रधान पहली तरंग है, जिसमें विक्रमादित्य का जन्म, गुणशील आदि का वर्णन किया गया है। उसका संक्षिप्त रूप नीचे दिया जाता है :—

अवन्ति देश में विश्वकर्मा द्वारा बनाई हुई अत्यन्त प्राचीन नगरी उज्जयिनी है, जो पुरारि शंकर का निवास-स्थान है।

वहाँ पर महेन्द्रादित्य[1] नामक राजा राज्य करता था, जो अत्यन्त बली, शूर तथा सुन्दर था। उसकी सौम्यदर्शना नामक अत्यन्त रूपवती रानी थी और सुमति नामक मंत्री था। उसके प्रतीहार का नाम वज्रायुध था; परन्तु उसके कोई सन्तान नहीं थी। पुत्र-प्राप्ति के लिए राजा अनेक व्रत, तप आदि कर रहा था।

उसी समय एक दिन जब शिवजी कैलाशपर्वत पर पार्वती सहित विश्राम कर रहे थे, उनके पास इन्द्र पहुँचे और निवेदन किया कि महीतल पर असुर म्लेच्छों के रूप में अव-तरित हो गये हैं। वे यज्ञादि क्रियाओं में विघ्न डाल रहे हैं, मुनि-कन्याओं का अपहरण कर लेते हैं और अन्य अनेक पापाचार करते हैं। वाट्कार आदि क्रिया न होने से देवों को हवि प्राप्त नहीं होता। इनके नाश का कोई उपाय बतलाइए[2]। भगवान शंकर ने

---

१. यदि यह 'महेन्द्रादित्य' गुप्तवंशीय कुमारगुप्त को मानें, तो यह कथा 'स्कन्दगुप्त-विक्रमादित्य' से सम्बन्धित मानी जाएगी। कुमारगुप्त के सिक्कों पर "परम भागवत महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त महेन्द्रादित्यः" लिखा मिलता है। अतः स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के पिता का विरुद "महेन्द्रादित्य" था, यह माना जा सकता है। परन्तु इस कथा का विक्रमादित्य पाटलिपुरवराधीश से भिन्न है, अतः यह नाम-साम्य केवल आकस्मिक ज्ञात होता है।

२. म्लेच्छों के इस अत्याचार के वर्णन की तुलना शकों के उस अत्याचार के वर्णन से की जा सकती है, जो गार्गीसंहिता के एक अध्याय 'युगपुराण' में दिया गया है और जो पहले उद्धत किया जा चुका है।

कहा कि आप अपने स्थान को जाएँ, मैं इसका उपाय कर दूँगा। उनके चले जाने पर भगवान शंकर ने माल्यवान गण को बुलाकर कहा कि उज्जयिनी महानगरी के राजा महेन्द्रादित्य के घर में तुम जन्म लो और देवताओं का कार्य करो। वहाँ यक्ष-राक्षस वेताल को अपने वश में करके म्लेच्छों का उन्मूलन करो और मानवों के भोग भोगकर पुनः लौट आओ। माल्यवान[1] ने उज्जयिनी में महेन्द्रादित्य की रानी के गर्भ में प्रवेश किया।

भगवान शंकर ने महेन्द्रादित्य को स्वप्न में दर्शन देकर कहा कि "मैं तुम पर प्रसन्न हूँ, तुम्हारे ऐसा पुत्र होगा, जो द्वीपों सहित इस पृथ्वी पर विक्रमण करेगा, यक्ष-राक्षस-पिशाचादि को वश में करेगा और म्लेच्छ संघ को विनष्ट करेगा। इस कारण उसका नाम 'विक्रमादित्य' होगा और रिपुओं से वैर रखने के कारण वह 'विषमशील' भी कहलाएगा। प्रातःकाल जब राजा मंत्रियों को यह स्वप्न सुना रहे थे, उसी समय अन्तःपुर की एक चेटी ने एक फल लाकर दिया और कहा कि रानी को स्वप्न में यह फल मिला है। राजा को विश्वास हुआ कि उसे पुत्र प्राप्त होगा।

रानी का गर्भ अत्यन्त तेजस्वी था और समय पाकर महेन्द्रादित्य के बालार्क के समान पुत्र उत्पन्न हुआ और उसका नाम विक्रमादित्य तथा विषमशील रखा गया। इसके साथ ही मंत्री सुमति और वज्रायुध के घर पुत्र उत्पन्न हुए और उनके नाम क्रमशः महामति तथा भद्रायुध रखे गये। बालक विक्रमादित्य इनके साथ क्रीड़ा करने लगे और उनका तेज, बल और वीर्य दिन प्रति दिन बढ़ने लगा। समय पर उनका यज्ञोपवीत एवं विवाह हुआ। अपने पुत्र को युवा एवं प्राज्य-विक्रम जानकर राजा ने उसका विधिवत् अभिषेक किया और स्वयं काशी में रहकर शिव की आराधना करने चला गया।

फिर अत्यन्त प्रभावशाली शब्दों में सोमदेव ने विक्रमादित्य के शौर्य, पराक्रम एवं प्रजापरायणता का वर्णन किया है:—

सोऽपि तद्विक्रमादित्यो राज्यमासाद्य पैतृकम्।
नभो भास्वानिवारेभे राजा प्रतपितुं क्रमात् ॥६१॥
दृष्ट्वैव तेन कोदण्डे नमत्यारोपितं गुणम्।
तच्छिक्षयेवोच्छिरसोऽप्यानमत् सर्वतो नृपाः ॥६२॥
दिव्यानुभावो वेतालराक्षसप्रभृतीनपि।
साधयित्वानुशास्ति स्म सम्यगुन्मार्गवर्तिनः ॥६३॥
प्रसाधयन्त्यः ककुभः सेनास्तस्य महीतले।
निश्शेसर्विक्रमादित्यस्यादित्यस्येव रश्मयः ॥६४॥
महावीरोप्यऽभूद्राजा स भीरुः परलोकतः।
शूरोऽपि चाचण्डकरः कुभर्ताप्यंगना प्रियः ॥६५॥
स पिता पितृहीनानामबन्धूनां स बान्धवः।
अनाथानां च नाथः सः प्रजानां कःस नाभवत् ॥६६॥

---

१. यहाँ व्यंजना से मालव गणतंत्र का अर्थ लिया जा सकता है, जो अवन्ति के उत्तर में बसे हुए थे।

'वह विक्रमादित्य भी पैतृक राज्य को पाकर पृथ्वी पर अपने प्रताप को इस प्रकार फैलाने लगा जैसे आकाश में सूर्य अपने प्रताप को फैलाता है। धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाते हुए उस राजा को देखकर बड़-बड़े अभिमानी राजा नतमस्तक हो जाते थे। दिव्यानुभाववाला वह राजा उन्मार्गवर्त्ती वेताल राक्षस आदि की साधना करके उन पर शासन करता था। पृथ्वी पर विक्रमादित्य की सेना सम्पूर्ण दिशाओं में इस प्रकार व्याप्त हो गयी थी जैसे सूर्य की किरणें। अत्यन्त वीर्यवान् होते हुए भी वह राजा परलोक से डरनेवाला था—शूरवीर होते हुए भी वह अचण्डकर था और कुभर्त्ता (पृथ्वीपति) होते हुए भी स्त्री-प्रिय था। वह पितृहीनों का पिता था, बन्धुहीनों का बन्धु था, अनाथों का नाथ था एवं प्रजाजनों का सर्वस्व था'।

एक बार जब विक्रमादित्य अपनी सभा में बैठे थे, तो दिग्विजय को निकले हुए उनके सेनापति 'विक्रमशक्ति' का दूत उन्हें मिला। उसने कहा:—

सापरान्तश्च देवेन निर्जितो दक्षिणापथः।
मध्यदेशः ससौराष्ट्रः सबंगांगाः च पूर्वदिक् ॥७६॥
सकश्मीरा च कौबेरी काष्ठा च करदीकृता।
तानि तान्यपि दुर्गाणि द्वीपानि विजितानि च ॥७७॥
म्लेच्छसंघाश्च निहताः शेषाश्च स्थापिता वशे।
ते ते विक्रमशक्तेश्च प्रविष्टाः कटके नृपाः ॥७८॥
सच विक्रमशक्तिस्तै राजभिः सममागतः।
इतः प्रयाणकेष्वास्ते द्वित्रेष्वेव खलु प्रभो ॥७९॥

'आपके द्वारा अन्य देशों सहित दक्षिणा पथ, सौराष्ट्र सहित मध्यदेश और बंग एवं अंग सहित पूर्व दिशा जीत ली गयी है। कश्मीर सहित कौबेरी काष्ठा को करद बना लिया गया है, अन्य दुर्ग और द्वीप भी जीत लिये गये हैं। म्लेच्छ संघों को नष्ट कर दिया गया है, और शेष को वशवर्त्ती कर लिया है और वे सब राजा विक्रमादित्य की सेना में भरती हो गये हैं। वह विक्रमशक्ति उन राजाओं के साथ आ रहे हैं'।

इस प्रकार सोमदेव ने विक्रमादित्य के राज्य का विस्तार का भी वर्णन कर दिया है। इस समाचार को सुन विक्रमादित्य बहुत प्रसन्न हुआ और उसने कहा कि यात्रा में जो-जो घटनाएँ हुई हों वह सुनाओ।

इस प्रकार विक्रमादित्य सम्बन्धी अनेक कथाएँ दी गयी हैं। उनका ऐतिहासिक महत्त्व अधिक नहीं है। जनश्रुति में प्रसिद्ध अग्निवेताल इनमें भी आया है। समुद्रपार मलयद्वीप की राजकुमारी से विवाह का उल्लेख बृहत्तर भारत का चिह्न है। लोक-कथाओं के राजा सिंहल की पद्मिनियों से सदा विवाह करते रहे हैं। अन्य स्त्रियों के अतिरिक्त सिंहल की राजकुमारी मदनलेखा से भी विक्रम का विवाह होना लिखा है। परन्तु, क्या वर्त्तमान सीलोन यह सिंहल हो सकता है? वहाँ की वर्त्तमान "पद्मिनियों" (?) को देखते हुए तो इसमें सन्देह है।

अन्त में सोमदेव ने लिखा है कि इस प्रकार आश्चर्यों को सुनता हुआ, देखता हुआ और करता हुआ वह भूपति विक्रमादित्य द्वीपों सहित पृथ्वी को जीतकर राज्य करने लगा।

इत्याश्चर्याणि श्रृण्वन्सः पश्यन्कुर्वंश्च भूपतिः ।
विजित्य विक्रमादित्यः सद्वीपां बुभुजे महीम् ।।

जैन अनुश्रुति का गर्धभिल इस कथा में नहीं है। उसके स्थान पर विक्रम के माता-पिता, भाई-बन्धु आदि के नाम भी विभिन्न हैं। परन्तु, भविष्यपुराण, वेतालपंचविंशतिका एवं कथासरित्सागर के नाम प्रायः मिलते हैं। इसमें तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों की ओर भी संकेत है। मालवगण, शकों का अत्याचार आदि के संकेत बिखरे हुए मिलते हैं, भले ही शिवजी के गण माल्यवान को मालवगण मानने में एवं म्लेच्छों को 'शक' मानने में अनुमान एवं कल्पना का सहारा अधिक लेना पड़े।

वेतालपंचविंशतिका

पीछे कथासरित्सागर के प्रसंग में लिखा है कि 'वेतालपंचविंशतिका' मूल में क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामञ्जरी' तथा सोमदेव के 'कथासरित्सागर' का अंश हैं। यह अपनी मूल पुस्तक से पृथक् होकर कब, कैसे और किसके द्वारा स्वतंत्र कथा के रूप में जनमनरंजन करने लगी है, यह ज्ञात नहीं है। परन्तु, इस मनोरंजक ग्रंथ के विविध पाठों की तुलना करने से एक बात अवश्य ज्ञात होती है कि क्रमशः लोककल्पना ने इसके त्रिविक्रम राजा को विक्रमादित्य में परिवर्तित कर दिया और विक्रम-परिवार का विवरण भी कथा में जोड़ दिया। इस ग्रंथ के अनेक पाठों में कथासरित्सागर और सिंहासन-द्विंत्रिंशिका की कथाएँ मिश्रित पाई जाती हैं।

जम्भलदत्त विरचित वेतालपंचविंशतिका का प्रारम्भ 'विक्रम केशरी' नाम से किया गया है:—

इह हि महिमण्डले नरपतितिलको नाम विविधमणिकुण्डलमण्डितगण्डस्थलो नानालंकार विभूषितसर्वशरीरो .... पुरन्दर इव सर्वांगसुन्दरो राजचक्रवर्त्ती श्रीमान् विक्रमकेशरी बभूव[1] ।।

परन्तु आगे जम्भलदत्त ने "विक्रमादित्य" संज्ञा का उल्लेख किया है:—

विक्रमादित्योऽपि भ्रमति एक शालायाम् धृतवान् ।
त्वम् इतो महासत्वमहाराजश्रीविक्रमादित्य राजधानीम् गत्वा[2] ।।

परन्तु सूरतकवि ने जयपुराधीश सवाई महाराज जयसिंह के आदेश पर जिस संस्कृत पाठ का हिन्दी भाषान्तर किया है, उसमें तो पुराण, सिंहासनद्विंत्रिंशिका तथा अन्य प्रचलित कथाओं का सम्मिश्रण है। उसके प्रारम्भिक भाग में विक्रमादित्य के माता-पिता, परिवार आदि का विस्तृत उल्लेख है।

---

१. वेतालपंचविंशतिका, एम० बी० रिनेन्पू द्वारा सम्पादित, पृष्ठ १२।

२. वही, पृष्ठ १५० ।

उसके अनुसार गन्धर्वसेन धारा[1] नगर का राजा था। उसके चार रानियाँ थीं। उनसे छः बेटे थे। गन्धर्वसेन की मृत्यु के पश्चात् बड़ा राजकुमार 'शंख' गद्दी पर बैठा। शंख को मारकर उसका छोटा भाई विक्रम गद्दी पर बैठा। विक्रम बहुत प्रतापी था। वह धीरे-धीरे सम्पूर्ण जम्बू द्वीप का राजा बन गया और उसने अपना संवत् चलाया। देशाटन के लिए उत्सुक होने के कारण उसने अपना राजपाट अपने छोटे भाई भर्तृहरि को सौंप दिया और स्वयं यात्रा को चला गया।

इसके पश्चात् भर्तृहरि और उसकी रानी की प्रसिद्ध अमृत-फल की कथा दी हुई है। यह कथा सिंहासन द्वात्रिंशिका में भी है और आगे उक्त प्रकरण में दी गयी है। भर्तृहरि के वैराग्य के कारण सिंहासन रिक्त हो गया। यह सुन विक्रम अपने देश को लौटा और यहाँ उसकी उस योगी से भेंट हुई, जिसने उसे वेताल के पास भेजा। इस प्रारम्भिक कथा के पश्चात् वेताल की कहानियाँ प्रारम्भ होती हैं।

जम्भलदत्त की वेतालपंचविंशतिका की मूलकथा यह है कि विक्रमादित्य के पास एक योगी आया और उसने राजा को प्रसन्न कर उससे यह याचना की कि वह उसे एक अनुष्ठान में सहायता करे। वास्तव में, यह योगी राजा विक्रम से द्वेष रखता था तथा उसकी बलि देना चाहता था। उदारता एवं सरलतावश राजा ने यह स्वीकार कर लिया। योगी ने रात को राजा को श्मशान में बुलाया और दूर वृक्ष के नीचे लटकते हुए एक शव को लाने को कहा। अत्यन्त भयंकर वातावरण में लटकते हुए शव को राजा उठाने लगा, तो वह शव उछलकर उस वृक्ष की ऊपर की डाल से लटक गया। राजा ने बड़ी कठिनाई से उसे पकड़ लिया और उसे लाद ले चला। उस शव में एक वेताल घुस गया था। वह राजा के साहस से प्रसन्न था। उसने एक-एक कर राजा को पच्चीस कथाएँ सुनाईं। अन्त में इस वेताल की सहायता से राजा ने उस योगी को ही मार डाला।

यह कथा सिंहासनद्वात्रिंशिका में भी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कथासरित्सागर के विक्रम केशरी और वेताल की कथा क्रमशः विक्रमोन्मुखी होती गयी और इससे यह भी ज्ञात होता है कि विक्रम-कथा ने लोक-मस्तिष्क पर तथा कथा-साहित्य पर अपना प्रभाव पूर्णतः स्थापित कर लिया था।

विक्रम और वेताल की जोड़ी लोक-कथा एवं अनुश्रुति में दृढ़ करने में वेतालपंचविंशतिका ने अधिक सहायता की है। विक्रम के नवरत्नों के वेतालभट्ट और अनेक कथाओं के अग्निवेताल तथा इस वाचाल वेताल में क्या सम्बन्ध है? इस प्रश्न का समाधान कर सकना हमारे लिए सम्भव नहीं है।

सिंहासनद्वात्रिंशिका

विक्रम-साहित्य में विक्रम-चरित या सिंहासनद्वात्रिंशिका का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रचलित रही है। इसकी कथाएँ भारत के सभी प्रान्तों में एवं सभी भाषाओं में प्रचलित हैं। यह ग्रंथ वास्तव में विक्रमादित्य के प्रायः एक सहस्र वर्ष पश्चात् राजा भोज के विक्रमत्व का प्रतिपादन करने के लिए लिखा गया है और

---

१. वेतालपंचविंशतिका, पूर्वोक्त संस्करण, पृष्ठ १२।

उससे यह प्रकट होता है कि विक्रमादित्य के आविर्भाव के लगभग एक सहस्र वर्ष बाद जनता के विक्रमादित्य का क्या रूप था।

कथा-साहित्य जहाँ जनमत का अत्यन्त सुन्दर दर्पण है वहाँ इतिहास के लिए उसका उपयोग अत्यन्त सावधानी से करने की आवश्यकता है। जो बात अनेक मुखों से कही जाए अथवा अनेक लेखनियों से लिखी जाए और सिंहासनद्वात्रिंशिका के ही एक पाठ के अनुसार जिसका उद्देश्य 'सकललोकचित्त चमत्कारिणीकथा' कहना मात्र हो, तब उसमें कल्पना-प्रसूत तथ्यों के सम्मिश्रण की बहुत संभावना है। इस ग्रंथ के संस्कृत भाषा में ही (इजर्टन: विक्रमचरित्र की भूमिका, पृष्ठ २९) पाँच विभिन्न पाठ मिले हैं। इन पाँचों में पर्याप्त अन्तर है। इनके अतिरिक्त फिर मराठी, गुजराती आदि प्रान्तीय भाषाओं में अनेक लेखकों ने इसे अपनी रचनाओं का आधार बनाया है। इस कथा के साथ एक बात और विशेष हुई। इसे जैन साधुओं ने पूर्ण रूप से अपना लिया और विक्रमादित्य की मूर्त्ति जैन सम्प्रदाय के साँचे में ढालने का प्रयत्न किया। सिंहासनद्वात्रिंशिका के जैन पाठ में बहुत-सी ऐसी कथाएँ भी जुड़ी हुई हैं, जो जैन सम्प्रदाय की अन्य पुस्तकों में पाई जाती हैं। चौदहवीं शताब्दी में विरचित मेरुतुंगाचार्य के प्रबन्धचिन्तामणि की अनेक कथाएँ इस ग्रंथ से मिलती-जुलती हैं। मेरुतुंगाचार्य ने इस चिन्तामणि में जैन सम्प्रदाय में प्रचलित निबन्धों का संग्रह मात्र किया है। अतः प्रबन्धचिन्तामणि एवं सिंहासनद्वात्रिंशिका की कथाओं में समानता एक ही मूल स्रोत—जैन अनुश्रुति को आधार बनाने के कारण ज्ञात होती है।

यह ग्रंथ अनेक नामों से प्रचलित है। विभिन्न पाठों में इसके ये नाम प्राप्त हुए हैं—विक्रमचरित्र, विक्रमार्कचरित्र, विक्रमादित्यचरित्र, सिंहासनद्वात्रिंशिका, सिंहासन-द्वात्रिंशत्कथा तथा सिंहासनकथा। ये छह नाम तो ऊपर उल्लेख किये गये संस्कृत के पाँच पाठों की विभिन्न प्रतियों में ही मिलते हैं। वर्तमान प्रान्तीय भाषाओं में प्रयोग किये गये नाम इनसे पृथक् हैं।

सबसे कठिन बात इस पुस्तक के लेखक के नाम का पता लगाना तथा इसके रचनाकाल का निर्णय करना है।

कुछ विद्वान यह मानते हैं कि यह कथा धारा नरेश परमार भोजदेव के समय में लिखी गयी, और इसका कारण यह बतलाते हैं कि इसमें भोज के महत्त्वस्थापन को लक्ष्य बनाया गया है; परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य अटकल भी लगाए गये हैं। इस पुस्तक के कुछ पाठों में हेमाद्रि विरचित चतुर्वर्गचिन्तामणि के दानखण्ड का उल्लेख है, जिससे यह अनुमान किया गया कि यह हेमाद्रि के समय (१३ वीं शताब्दी ई०) के पश्चात् लिखी गयी। एक पाठ में तो हेमाद्रि को उसका रचयिता भी बतलाया है। ऐसी दशा में यह काल उक्त पाठों का ही माना जा सकता है, न कि मूल पुस्तक का। इसके रचनाकाल के विषय में किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकना यद्यपि सम्भव नहीं; परन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि यह तेहरवीं शताब्दी (ईसवी) के पूर्व की रचना है और भोजदेव के समय में या उनके पश्चात् लिखी गयी है।

इस कथा के रचयिता की खोज भी हमें किसी निश्चित परिणाम पर नहीं पहुँचाती। विभिन्न पाठों में रचयिताओं के नाम नन्दीश्वर, कालिदास, वररुचि, सिद्धसेन दिवाकर एवं रामचन्द्र लिखे हैं।

इनमें से कालिदास, वररुचि एवं सिद्धसेन दिवाकर इनके रचयिता नहीं हो सकते। किसी ने स्वयं लिखकर ये बड़े-बड़े नाम जोड़ दिये हैं। इन पाठों में जैन पाठ के रचयिता का नाम कुछ निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। जैन पाठों की अनेक प्रतियों में यह ज्ञात होता है कि मूल महाराष्ट्र से इसे क्षेमंकर मुनि ने संस्कृत में लिखा है:—

श्रीविक्रमादित्यनरेश्वरस्य चरित्रमेतत् कविभिर्निबद्धम्।
पुरामाहाराष्ट्रवरिष्टभाषामयं महाश्चर्यकरं नराणाम्॥
क्षेमंकरेण मुनिना वरगद्यपद्यबन्धेन युक्तिकृतसंस्कृतबन्धुरेण।
विश्वोपकारविलसद्गुणकीर्तनाय चक्रेऽचिरादमरपण्डितहर्षहेतुः॥

परन्तु, मूल विक्रमार्कचरित का रचयिता कौन था यह ज्ञात नहीं है। संस्कृत-साहित्य के निर्माता व्यक्तिगत यश तथा कीर्ति से अपने आपको दूर ही रखते रहे। ग्रंथ की रचना कर वे उसमें अपने अस्तित्व को निमज्जित कर देते थे।

अब आगे यह देखना है कि इस विक्रमचरित्र में विक्रमादित्य के चरित्र को कैसे और किस रूप में चित्रित किया है। उज्जैन नगर के राजा भर्तृहरि थे। अनंगसेना नाम की उनकी अत्यन्त सुन्दरी पत्नी थी तथा उनके भाई का नाम था विक्रमादित्य। एक निर्धन ब्राह्मण ने तपस्या करके पार्वतीजी को प्रसन्न कर लिया और उनसे अमरता का वरदान माँगा। पार्वतीजी ने उसे एक फल दिया, जिसके खाने से वह अजर-अमर हो सके। उसे खाने के पूर्व उसने विचार किया कि यदि वह उस फल को खा लेगा तो निर्धनता के कारण दुखी ही रहेगा। अतः उसने वह फल राजा भर्तृहरि को दिया। राजा, अनंगसेना को अत्यधिक प्रेम करता था। उसने उसके सौन्दर्य को स्थिर एवं अमर करने के विचार से वह फल अनंगसेना को दे दिया। अनंगसेना ने वह फल अपने प्रेमी सारथी को दिया। सारथी ने उसे अपनी प्रेमिका एक दासी को दिया, दासी ने एक ग्वाले को और ग्वाले ने अपनी प्रेमिका एक गोबर उठानेवाली लड़की को दे दिया। वह लड़की उस फल को अपनी गोबर की डलिया के ऊपर रखकर लेजा रही थी कि राजा की दृष्टि उस पर पड़ी। राजा उस फल को पहचान गया। निश्चय करने के लिए उसने उस निर्धन ब्राह्मण को बुलाया। ब्राह्मण ने वह फल पहचान लिया। राजा ने जब रानी से पूछताछ की तो उसे सारा रहस्य ज्ञात हुआ। उसे अत्यधिक ग्लानि हुई। उसने वह फल स्वयं खा लिया और राजपाट अपने भाई विक्रमादित्य को देकर विरागी हो गया।

विक्रमादित्य ने प्रजा का रंजन करते हुए नीतिपूर्वक राज्य करना प्रारम्भ किया। एक बार एक कपटी साधु राजा के पास आया और एक अनुष्ठान में सहायता देने की याचना की। राजा ने उसे स्वीकार किया। अनुष्ठान में उस साधु ने राजा की बलि देना चाही; परन्तु राजा ने उसकी ही बलि देदी। इसी प्रसंग में एक वेताल राजा पर प्रसन्न हो गया। उसने वचन दिया कि जब-जब राजा उसे बुलाएगा, वह उपस्थित होगा। उसने राजा को अष्टसिद्धि प्रदान की। यह कथा वेतालपच्चीसी के प्रसंग में विस्तार से दी गयी है।

इसी समय विश्वामित्र की तपस्या से इन्द्र को बहुत भय हुआ। उसने निश्चय किया कि रंभा या उर्वशी में से एक अप्सरा को विश्वामित्र की तपस्या भंग करने के लिए भेजा जाए। उसने देवसभा में उनके नृत्यकौशल का प्रदर्शन कराया और दोनों में जिसका प्रदर्शन अधिक उत्तम हो उसको ही विश्वामित्र के पास भेजने का विचार किया; परन्तु देवसभा यह निर्णय ही न कर सकी कि किसका नृत्य अधिक श्रेष्ठ है। नारदजी की सलाह से इन्द्र ने अपने सारथि मातलि को भेजकर विक्रमादित्य को बुलाया। विक्रमादित्य ने नृत्य को देखकर उर्वशी को दोनों में श्रेष्ठ ठहराया। कारण पूछने पर उसने नृत्य की अत्यन्त सुन्दर शास्त्रीय व्याख्या की और अपने निर्णय के औचित्य को सिद्ध कर दिया। प्रसन्न होकर देवराज ने उसे अपना सिंहासन भेंट में दिया। इस सिंहासन को राजा अपनी राजधानी में ले आए और उपयुक्त समय में उसपर आरूढ़ हुए।

कुछ समय पश्चात् प्रतिष्ठान नगर में एक छोटी-सी लड़की के शेष नाग द्वारा शालिवाहन नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उस समय उज्जैन में अशुभ चिह्न दिखाई देने लगे। ज्योतिषियों ने राजा के विनाश की भविष्यवाणी की। राजा को शंकर द्वारा यह वरदान प्राप्त हो चुका था कि उसे केवल वही व्यक्ति मार सकेगा, जो ढाई वर्ष की लड़की से उत्पन्न हुआ हो। राजा ने अपने मित्र वेताल को बाहर भेजा कि वह इस बात की खोज करे कि कहीं ऐसा बालक उत्पन्न तो नहीं हो गया है। प्रतिष्ठान में वेताल ने शालिवाहन को देखा और उसके जन्म का हाल जाना। उसने राजा को वह हाल सुना दिया। राजा ने प्रतिष्ठान पर आक्रमण कर दिया; परन्तु शालिवाहन ने उसे आहत कर दिया। उस घाव से राजा उज्जैन आकर मर गया।

राजा के मरने पर उसकी रानी ने अपने सात मास के गर्भ से राजकुमार को निकाला। मंत्रियों की देख-रेख में राज्य चलने लगा। परन्तु, इन्द्र के सिंहासन पर बैठने योग्य कोई व्यक्ति शेष नहीं था, अतः उसको एक पवित्र खेत में गाड़ दिया गया।

बहुत समय पश्चात् यह सिंहासन धार के राजा भोज को प्राप्त हुआ। जब वह इस पर बैठने की तैयारी करने लगा तो इसमें लगी हुई बत्तीस पुतलियों में से एक मानवी भाषा में बोल उठी—'हे राजन्! यदि तुझमें विक्रमादित्य जैसा शौर्य, औदार्य, साहस तथा सत्यवादिता हो, तभी तू इस सिंहासन पर बैठने का प्रयत्न करना'। राजा भोज ने उस पुत्तलिका से विक्रमादित्य की उदारतादि का वर्णन करने को कहा।

इस प्रकार उस सिंहासन की बत्तीसों पुतलियों द्वारा एक-एक करके विक्रम के गुणों का अतिरंजित वर्णन कराया गया है।

पहली पुतली ने विक्रम के दान का वर्णन इस प्रकार किया है:—

निरीक्षिते सहस्रंतु नियुतं तु प्रजल्पिते।
हसने लक्षमाप्नोति संतुष्टः कारितो नृपः॥

दूसरी पुतली ने विक्रमादित्य की परोपकारिता की कहानी कही है। राजा एक ब्राह्मण के ऊपर देवी को प्रसन्न करने के लिए अपने सिर की बलि देने को तैयार हो गया। राजा

की उदारता की नीचे लिखे शब्दों में प्रशंसा करते हुए देवी ने ब्राह्मण का अभीष्ट सिद्ध किया:—

छायायस्य कुर्वन्ति स्वयं तिष्ठंति चाऽतपे।
फलन्त्येव परार्थेषु नाऽत्महेतुर्महाद्रुमाः॥
परोपकाराय वहन्ति निम्नगाः परोपकाराय दुहन्ति धेनवः।
परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः परोपकाराय सतां विभूतयः॥

तीसरी पुत्तलिका ने विक्रमादित्य की उदारता की कहानी कही है। किस प्रकार विक्रम ने समुद्र द्वारा प्रदत्त चारों रत्न ब्राह्मण को उदारतापूर्वक दे दिये थे, इसका वर्णन इसमें है। अन्त में इस पुत्तलिका ने कहा है—"ओ राजन्! औदार्य तो सहज उत्पन्न गुण होता है, वह औपाधिक नहीं है; क्योंकि:—

चम्पकेषु यथा गन्धः कान्तिर्मुक्ताफलषु च।
यथेऽक्षुदण्डे माधुर्यं औदार्यं सहजं तथा॥

यदि तुममें ऐसा औदार्य हो तो इस सिंहासन पर आरूढ़ हो।"

चतुर्थ पुत्तलिका द्वारा राजा के उपकार मानने के स्वभाव का वर्णन कराया गया है। देवदत्त नामक ब्राह्मण ने राजा का उपकार किया। उसके बदले में राजा ने उसे अपने पुत्र का हत्यारा समझकर भी उस एक उपकार के बदले में क्षमा कर दिया; क्योंकि वह समझता था 'यः कृतमुपकारं विस्मरति स पुरुषाधम एव'।

पाँचवीं पुत्तलिका ने विक्रमादित्य की उदारता की कहानी कही है, जिसमें राजा द्वारा अमूल्य रत्नों को दान में देना बतलाया गया है।

छठी पुतली ने भी विक्रम के औदार्य का ही वर्णन किया है, जिसमें विक्रम ने असत्यवादी किन्तु आर्त ब्राह्मण की मनोवाञ्छा पूरी की है; क्योंकि:—

दत्वाऽर्तस्य नृपो दानं शून्यलिंगं प्रपूज्य च।
परिपाल्याऽश्रितान्नित्यं अश्वमेधफलं लभेत्॥

सातवीं पुत्तलिका राजा के पराक्रम की गाथा कहती है। इस कथा में विक्रमादित्य के उस पराक्रम का वर्णन है, जिसके कारण वह छिन्नमस्तक स्त्री-पुरुषों के युग्म को जीवित करने के लिए स्वयं अपने मस्तक को बलि देने को तत्पर हो गया था। जब भुवनेश्वरी उसपर प्रसन्न हुई तब राजा ने उस युग्म के लिए ही राज्य की याचना की, अपने लिए कुछ न माँगा। इस कथा में प्रसंगवश राजा विक्रमादित्य के राज्य की दशा का भी वर्णन आ गया है। "विक्रमादित्य के राज्य में सर्व जन सुखी थे, लोक में दुर्जनरूपी कण्टक नहीं थे। सर्व जन सदाचारी थे। ब्राह्मण वेद-शास्त्र के अभ्यास में लग्न तथा स्वधर्मचर्यापर एवं षट्कर्म में निरत थे। सब वर्ण के लोगों में पाप का भय था, यश की इच्छा थी, परोपकार की वासना थी, सत्य से प्रेम था, लोभ से द्वेष था, परोपकार का आदर था, जीवदया का आग्रह था, परमेश्वर में भक्ति थी, शरीर की स्वच्छता थी, नित्यानित्य वस्तु का विचार था, वाणी में सत्य था, बात के पालन में दृढ़ता थी और हृदय में औदार्य गुण था। इस प्रकार सब लोग सद्वासनायुक्त पवित्र अन्तःकरण होकर राजा के प्रसाद से सुखी रहते थे"।

आठवीं पुत्तलिका की कथा के अनुसार राजा विक्रमादित्य ने प्राणों की बाजी लगाकर एक जलहीन तालाब को पानी से भर दिया। उस तालाब में पानी नहीं ठहरता था। आकाशवाणी द्वारा यह ज्ञात हुआ कि जब तक बत्तीस लक्षणों से युक्त पुरुष अपने रक्त को अर्पित नहीं करेगा, उस तालाब में पानी नहीं ठहरेगा। राजा इसके लिए तैयार हो गया।

नवीं पुत्तलिका की कथा इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि विक्रमादित्य से सम्बन्धित अन्य नाम आए हैं। यह भी राजा के औदार्य और धैर्य की कहानी है। विक्रमादित्य का महि नाम का मंत्री था, गोविन्द नामक उपमंत्री था, चन्द्र नामक सेनापति था तथा त्रिविक्रम नामक पुरोहित था। इस त्रिविक्रम के कमलाकर नामक पुत्र था। इसी कमलाकर के लिए राजा ने काँची नगर की एक वेश्या नरमोहिनी को राक्षस के पाश से मुक्त किया था।

दसवीं पुतली ने राजा विक्रम की उस उदारता का वर्णन किया जिसके द्वारा उसने कठोर तपस्या द्वारा प्राप्त किया हुआ अजर-अमरता प्रदान करनेवाला फल भी एक रुग्ण ब्राह्मण को दान कर दिया था।

ग्यारहवीं पुत्तलिका द्वारा वर्णित कहानी में एक विशेषता है। वह महाभारत की एक कथा से बिलकुल मिलती-जुलती है। महाभारत में एक कथा है कि वनवास के समय कुन्ती सहित पाण्डव एक ऐसे नगर में पहुँचे, जहाँ प्रत्येक परिवार में से क्रमशः एक व्यक्ति एक राक्षस को खाने के लिए भेंट किया जाता था। पाण्डवों को आश्रय देनेवाले ब्राह्मण के घर यह क्रम आने पर उसके बदले भीम गये और उन्होंने उस राक्षस को ही मार डाला। सिंहासनबत्तीसी की कथा में राजा विक्रम इस प्रकार के नगर का हाल पक्षियों से सुनते हैं और उनके द्वारा अपने आपको राक्षस को अर्पित करने पर वह उनकी उदारता पर मुग्ध होकर उन्हें नहीं खाता है।

बारहवीं पुत्तलिका की कथा में विक्रमादित्य द्वारा एक राक्षस को मार कर एक शापग्रस्त ब्राह्मणपत्नी का उद्धार करने की तथा एक ब्राह्मणपुत्र को धन दान देने की कथा है।

तेरहवीं पुत्तली विक्रमादित्य द्वारा डूबते हुए ब्राह्मण युग्म को बचाकर वरदान पाने की कथा कहती है। इस वरदान के फल को भी राजा ने एक ब्रह्मराक्षस को दान कर उसे स्वर्ग दिलाया।

चौदहवीं कथा में राजधर्म की व्याख्या है और विक्रम द्वारा प्राप्त चिन्तामणि के समान मनवांछित फल देनेवाले 'काश्मीरलिंग' के दान का उल्लेख है।

पन्द्रहवीं कथा में राजा विक्रमादित्य के पुरोहित का नाम वसुमित्र बतलाया गया है। यह भी राजा के परोपकार की कथा है। संभव है ये वसुमित्र, पुष्यमित्र के कोई वंशज हों।

सोलहवीं पुतली द्वारा कही गयी कथा में विक्रमादित्य की दिग्विजय का उल्लेख है। उसने उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में परिभ्रमण करके वहाँ के नृपतियों को अपने वश में किया और उनके द्वारा अर्पित किये हुए हाथी, घोड़े तथा धन आदि लेकर उन्हें उनके राज्यों में पुनः प्रतिष्ठित कर वापस लौटा। यहाँ आकर उसने एक ब्राह्मण को कन्यादान के लिए बहुत-सा स्वर्ण दिया।

सत्रहवीं पुत्तलिका ने राजा के त्याग और उदारता की कथा कही है। राजा ने अपने प्रतियोगी को कष्ट से बचाने के लिए अपने शरीर का ही दान देना स्वीकार किया। अठारहवीं कथा राजा के अपूर्व दान की कहानी है। राजा ने सूर्य द्वारा प्राप्त प्रति दिन स्वर्णभार देनेवाली अंगूठियों को एक निर्धन ब्राह्म को दान में दे डाला। उन्नीसवीं पुत्तलिका द्वारा कहलाई गयी कथा में पुनः विक्रम के राज्य का वर्णन है। जब विक्रम पृथिवी पर शासन कर रहा था सर्व लोक आनन्द-परिपूर्ण-हृदय थे, ब्राह्मण श्रौतकर्म में निरत थे, स्त्रियाँ पतिव्रता थीं, पुरुष शतायु थे, वृक्ष फलयुक्त थे, इच्छानुसार जल की वर्षा होती थी, मही सदा सम्पूर्ण शस्यमती थी, लोक में पाप का भय था, अतिथि की पूजा होती थी, जीवों पर कृपा होती थी, गुरुजनों की सेवा होती थी और सत्पात्र को दान मिलता था, ऐसी प्रजा की प्रवृत्ति थी। आगे इस कथा में विक्रम द्वारा उस रस और रसायन के दान का वर्णन है जो उसे बलि से प्राप्त हुए थे। इसी प्रकार के दान का वर्णन बीसवीं कहानी में है।

इक्कीसवीं पुत्तलिका की कथा में विक्रमादित्य के एक और मंत्री का नाम आया है। उसका नाम बुद्धिसिन्धु था। इसके पुत्र अनर्गल के बतलाने पर राजा को अष्टसिद्धियों से जो वरदान प्राप्त हुए, उनके दान का वर्णन है। बाईसवीं कथा भी विक्रम द्वारा एक ब्राह्मण के हेतु जीवन-दान देने के लिए तत्पर होने की है। तेईसवीं कथा में दुःस्वप्न के फल निवारणार्थ विक्रम द्वारा किये गये दान की कथा है।

चौबीसवीं पुत्तली द्वारा बतलाई गयी कहानी महत्त्वपूर्ण है। इसमें विक्रम को मारनेवाले शालिवाहन एवं उसके नगर प्रतिष्ठान का उल्लेख है। एक सेठ ने मरते समय अपने धन का बटवारा अपने चारों बेटों के बीच करने के लिए चार घड़े रख दिये। उसके मरने पर उनमें क्रमशः मिट्टी, घास, कोयला तथा हड्डियाँ भरी हुई थीं। इसका अर्थ न समझ कर वे विक्रम के पास गये; परन्तु वहाँ भी कोई इस बात का अर्थ न बतला सका। जब वे प्रतिष्ठानपुर निवासी शालिवाहन के पास गये तो उसने बतलाया कि मिट्टी, घास, कोयला एवं हड्डियों का अर्थ क्रमशः भूमि, अन्न, स्वर्ण तथा पशुधन है। यह समाचार सुन विक्रम ने शालिवाहन को बुलाया; परन्तु शालिवाहन ने आने से मना कर दिया और बड़ा अपमानजनक उत्तर दिया। राजा विक्रम ने प्रतिष्ठान पर चढ़ाई कर दी। शालिवाहन कुम्हार के यहाँ रहता था। उसने मिट्टी की सेना बनाई। उसके पिता शेष ने उस सेना को जीवित कर दिया; परन्तु विक्रम की फौज को यह सेना हरा न सकी। तब शेष ने सर्पों (नागों) को भेजा। विक्रम ने वासुकी को प्रसन्न कर अमृत-घट प्राप्त कर लिया। शालिवाहन द्वारा भेजे गये ब्राह्मणों ने जब राजा को वचनबद्ध करके वह अमृट-घट माँगा तो केवल अपने वचन-पालन के लिए विक्रमादित्य ने वह अमृत-घट जानबूझकर शालिवाहन के आदमियों को दान दे दिया।

पच्चीसवीं कहानी में देश का अन्नदुर्भिक्ष मिटाने के लिए विक्रम द्वारा आत्मबलि देने का निश्चय करने की कथा है। छब्बीसवीं कथा रघुवंश में वर्णित नन्दिनी और दिलीप की कथा का स्मरण दिलाती है। गाय की रक्षा के लिए राजा सारी रात वृष्टि में सिंहों के मुकाबिले में खड़ा रहा। सत्ताईसवीं कथा में वर्णन है कि राजा विक्रम ने अष्टभैरवों को

अपने रक्त की बलि देकर सिद्धि प्राप्त कर उसे एक जुआरी को इसलिए दे दी कि वह उससे धन प्राप्त करे और जुआ खेलना छोड़ दे। अट्ठाईसवीं कहानी में राजा एक देवी से इस बात का वरदान माँगता है कि वह मानव-बलि लेना बन्द करदे। उन्तीसवीं कथा में विक्रम द्वारा ५० करोड़ दान देने का उल्लेख है। तीसवीं कहानी विशेष रूप से इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि इसमें राजा विक्रम ने पांड्य देश के राजा द्वारा भेजे हुए कर के धन को एक ऐन्द्रजालिक को देदिया। अतः पांड्य देश के राजा का विक्रम का करद होना प्रकट होता है।

इकतीसवीं पुत्तलिका द्वारा वेतालपंचविंशतिका की कथा कहलायी गयी है। राजा से एक योगी अनुष्ठान में सहायता करने का वचन लेता है। उसे श्मशान से शव लाने को कहता है। वहाँ उसे शव पर वाचाल वेताल मिलता है। परन्तु इस ग्रंथ में पच्चीस कथाएँ नहीं दी गयी हैं, केवल एक दी गयी है।

बत्तीसवीं अन्तिम पुत्तली राजा विक्रम का यशोगान करती है। वह कहती है कि विक्रम जैसा राजा भूमण्डल पर नहीं है। उसने काष्ठमय खड्ग से सारे संसार को जीत लिया था और पृथ्वी पर एकछत्र राज्य स्थापित किया था। उसने शकों को पराभूत कर अपना संवत् चलाया। उसने दुष्टों का नाश किया, निर्धनों की निर्धनता मिटा दी। दुर्भिक्ष मिटा दिये।

बत्तीसों पुत्तलिकाएँ इस प्रकार कथा सुना कर फिर यह कहती हैं कि वे शापग्रस्त देवांगनाएँ थीं, जो पार्वती के शाप से पुत्तलिकाएँ बनकर इस सिंहासन से लग गयी थीं। भोजराज को यह विक्रम की कथा सुनाने से वह शापमुक्त हुई हैं।

विक्रमचरित्र की इस कथा के जैन पाठ में अन्य पाठों से बहुत भेद है। इसमें प्रायः छह कथाएँ नयी जोड़ी गयी हैं। पहली कथा अग्निवेताल और विक्रम की है। अग्निवेताल का स्थान अभी भी उज्जैन में है। इससे यह कथा विशेष महत्त्वपूर्ण है। एक कथा में सिद्धसेन दिवाकर को विक्रम का गुरु होना बतलाया है। ये कथाएँ प्रबन्धचिन्तामणि में भी हैं। अतः उसी प्रसंग में इन पर प्रकाश डालेंगे।

जैन पाठकारों ने विक्रमादित्य के जन्म की एक कहानी भी जोड़ दी है। इसके अनुसार विक्रम की उत्पत्ति दैवी एवं अलौकिक बतलाई है। प्रेमसेन राजा के मदनरेखा नामक अत्यन्त रूपवती कन्या थी। इस राजा के नगर में गन्धर्वसेन नामक एक शापग्रस्त यक्ष गर्दभ के रूप में रहता था। उसने राजा से कहा कि यदि वह कन्या मदनरेखा का विवाह उसके साथ न करेगा तो उसके नगर का क्षेम नहीं है। यक्ष की अलौकिक शक्ति का परिचय पाकर राजा ने अपनी कन्या का विवाह उसके साथ कर दिया। नगर की रक्षा का विचारकर तथा विधि के विधान को समझकर कन्या ने उस गर्दभ से विवाह कर लिया। यक्ष सुन्दर रूप धारणकर रात्रि के समय राजकन्या के साथ विहार करता था। एक दिन मदनरेखा की माता उससे मिलने आई। उसने देखा कि गन्धर्वसेन ने गर्दभ की खाल एक ओर फेंक दी है और अत्यन्त सुन्दर रूप धारण किए बैठा है। माता ने गर्दभ की खाल को जला दिया। गन्धर्वसेन ने कहा कि अब वह शापमुक्त हो गया है और स्वर्ग

जाएगा। उसने कहा कि जो बालक तुम्हारे हो, उसका नाम विक्रमादित्य रखन तुम्हारी दासी के जो गर्भ हैं उसका नाम भर्तृहरि रखना। समय पाकर दोनों उत्पन्न हुए। यह गन्धर्वसेन गर्धभिल ही है।

प्रबन्धचिन्तामणि

मेरुतुंगाचार्यकृत प्रबन्धचिन्तामणि जैन ऐतिहासिक ग्रन्थों में प्रधान है इसकी रचना संवत् १३६१ वि० में की गयी थी। इस ग्रन्थ को लिखने में मेरु का उद्देश्य विशुद्ध ऐतिहासिक था। उन्होंने स्वयं इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में लि है—"यद्यपि विद्वानों द्वारा बुद्धि (संकलन) से कहे गये प्रबन्ध (कुछ-कुछ) भिन्न-भि भावोंवाले अवश्य होते हैं; तथापि इस ग्रन्थ की रचना सुसम्प्रदाय (योग्य परम्पर के आधार पर की गयी है, इसलिए (इसके विषय में) चतुरजनों को वैसी चर्चा न कर चाहिए"। इसपर टिप्पणी करते हुए प्रसिद्ध विद्वान श्री जिनविजयजी लिखते हैं—"मेरु सूरि ने इस ग्रन्थ को संकलन करने में कुछ तो पुराने प्रबन्ध-ग्रन्थों की सहायता ली अ कुछ परम्परा से चली आती हुई मौखिक बातों का आधार लिया।................प्रबन् चिन्तामणि की कुछ बातें ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा भ्रान्त भी मालूम होती हैं; लेकि मेरुतुंगाचार्य उनके लिए निष्पक्ष और निराग्रह हैं—यह बात इस श्लोक के कथन सूचित होती है"। तात्पर्य यह कि प्रबन्धचिन्तामणि में उस समय प्रचलित अनुश्रुतियों बिना किसी फेर-बदल के लिपिबद्ध किया गया है।

इस ग्रन्थ का प्रथम प्रबन्ध ही विक्रमार्क (विक्रमादित्य) के विषय में है। मेरुतुंग ऐतिहासिक प्रणाली से इतना तो निश्चित है कि उन्होंने अपनी ओर से कुछ मिलाया होगा, अतः प्रबन्धचिन्तामणि का विक्रमार्क-चरित्र विक्रमीय चौदहवीं शताब्दी में सम्प्रदाय में प्रचलित रूप माना जा सकता है।

विक्रमादित्य के राजा होने के पूर्व के जीवन के विषय में इस ग्रन्थ के दो स्थलों उल्लेख है। प्रकीर्णक प्रबन्ध में भर्तृहरि की उत्पत्ति की कथा में लिखा है कि अवन्तिपुरी एक व्याकरण का विद्वान पण्डित रहता था। उसके चार वर्णों की चार स्त्रियाँ थी क्षत्रिय स्त्री से विक्रमादित्य उत्पन्न हुए और शूद्रा से भर्तृहरि का जन्म हुआ। यह भर्तृह वैराग्यशतक आदि के कर्त्ता थे।

विक्रमार्क राजा के प्रबन्ध में लिखा है—"अवन्ति देश के सुप्रतिष्ठान* नामक न में असमसाहस का एकमात्र निधि, दिव्य लक्षणों से लक्षित, सत्कर्म, पराक्रम इत्या गुणों से भरपूर राजपुत्र था"। यह राजपुत्र बहुत निर्धन था। धन पाने के हेतु वह अ मित्र भट्टमात्र के साथ रोहण पर्वत को गया। रोहण पर्वत की यह विशेषता थी ललाट को हथेली से 'हा दैव!' कहकर चोट मारने से, अभाग्यवान मनुष्य को भी र मिलते थे। परन्तु विक्रम यह करने को तैयार न था। भट्टमात्र, विक्रम को लेकर उस पह के पास पहुँचा और जब विक्रम कुदाल से उस पर्वत में प्रहार कर रहा था, तो उसे अप

---

*अवन्ति देश में सुप्रतिष्ठान नामक नगर का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। सम्भव यह उज्जयिनी के लिए ही लिखा गया है।

माता की मृत्यु का दुःखद समाचार मिला। विक्रम ने कुदाल फेंक दिया और 'हा दैव !' कहकर माथा ठोका। तुरन्त ही एक सवा लाख का हीरा निकल आया। जब विक्रम को यह ज्ञात हुआ तो उसने वह रत्न उस पर्वत पर यह कहकर फेंक दिया कि इस रोहणगिरि को धिक्कार है, जो 'हा दैव !' ही कहलाकर दरिद्रों का निर्धनतारूपी घाव भरता है।

इसके पश्चात् विक्रमादित्य के राज्यप्राप्ति की कथा है। इसी प्रकार की कथा सिंहासनबत्तीसी के जैन पाठ में भी मिलती है। उसने अवन्ति देश में एक राक्षस को सन्तुष्ट किया। वह उसी प्रकार प्रतिदिन भक्ष्य-भोज्य पाकर सन्तुष्ट रहने लगा। एक दिन विक्रम राजा ने उससे अपनी आयु पूछी। अग्निवेताल ने कहा कि विक्रम की आयु १०० वर्ष है और किसी भी प्रकार कम या अधिक नहीं हो सकती। अगले दिन राजा ने उसे खाने को न दिया और लड़ने को तैयार हो गया। युद्ध में जब राक्षस हार गया तो वह बोला, "मैं तुम्हारे अद्भुत साहस से प्रसन्न हूँ। तुम जो कहो उस आदेश का पालन करनेवाला मैं अग्निवेताल तुम्हें सिद्ध हुआ"।

इसके पश्चात् मेरुतुंग ने लिखा है, "इस प्रकार अपने पराक्रम से दिङ्मण्डल को आक्रान्त करनेवाले उस राजा ने छियानवे प्रतिद्वन्द्वी राजाओं के राज्य को अपने अधिकार में किया" और "कालिदासादि महाकवियों द्वारा की हुई स्तुति से अलंकृत होकर उसने चिरकाल तक विशाल साम्राज्य का उपभोग किया"।

इसके पश्चात् विक्रमादित्य विषयक ११ कथाएँ और दी गयी हैं। एक कथा में विक्रमादित्य की लड़की का नाम प्रियंगुमञ्जरी बतलाया है। वररुचि उसका उपाध्याय है। प्रियंगुमञ्जरी की अशिष्टता से अप्रसन्न होकर वररुचि ने उसे शाप दिया कि उसका पति 'पशुपाल' होगा। कन्या ने प्रण किया कि वह ऐसे व्यक्ति से विवाह करेगी जो वररुचि का गुरु हो। जब वररुचि इस कन्या के लिए वर खोज रहे थे, जंगल में भैंसें चराते हुए कालिदास मिले। उन्होंने उन्हें 'करचण्डी' शब्द का अर्थ बतलाया, अतः गुरु बने। कालिदास का विवाह प्रयंगुमञ्जरी के साथ हुआ। जब इनकी मूर्खता प्रकट हुई तो प्रियंगुमञ्जरी ने उनका अपमान किया। दुखी होकर विद्वत्ता प्राप्त करने के लिए कालिदास ने काली की आराधना की। देवी प्रसन्न हुई और कालिदास ने कुमारसम्भव प्रभृति तीन काव्य तथा छह प्रबन्ध बनाए।

अगली कथा 'सुवर्ण-पुरुष की सिद्धि' के प्रबन्ध में विक्रम की उदारता और धैर्य का वर्णन है। यह कथा सिंहासनबत्तीसी के जैन पाठ में इकत्तीसवीं पुत्तलिका द्वारा कहलाई गयी है। इसमें दाँता नामक सेठ के धवलगृह (महल) की कथा है। सेठ ने जो नवीन धवलगृह बनवाया था उसमें उसे 'गिरता हूँ' शब्द सुनाई दिया और 'मत गिरो' यह कहकर वह भागकर राजा के पास आया। राजा ने वह धवलगृह (महल) स्वयं खरीद लिया। रात को जब वही 'गिरता हूँ' शब्द हुआ तो राजा ने कहा 'शीघ्र गिरो'। उसके ऐसा कहते ही सुवर्ण-पुरुष वहाँ गिरा और राजा को उसकी प्राप्ति हुई।

अगला विक्रमादित्य के सत्त्व का प्रबन्ध है। यह कथा भी सिंहासनबत्तीसी के जैन पाठ में सम्मिलित है और बत्तीसवीं पुत्तली द्वारा कहलाई गयी है। इसमें राजा के सत्त्व (साहस) के प्रेम का संकेत है। अवन्तिकापुरी में बिकने आई हुई कोई वस्तु बिना बिके नहीं लौटती

थी। एक व्यक्ति 'दारिद्रय' की मूर्त्ति बनाकर लाया। किसी के न खरीदने पर स्वयं राजा उसे क्रय कर लिया। दारिद्रय के आने पर लक्ष्मी आदि राजा को छोड़ गयीं। परन्तु उ सत्त्व (साहस) छोड़कर जाने लगा तो राजा आत्महत्या को तैयार हो गया। सत्त्व प्रस हुआ और रह गया। परिणाम यह हुआ कि लक्ष्मी आदि फिर लौट आई।

अगला 'सत्त्वपरीक्षा' नामक निबन्ध भी इसी प्रकार राजा के साहस का वण करता है। इसमें विक्रम के साहस को देखकर उसके पास आए हुए ज्योतिषी ने कहा "तुम्हारा यह सत्व (साहस) रूपी लक्षण बत्तीस लक्षणों से भी बढ़कर है"। यह क सिंहासनबत्तीसी के जैन पाठ में उन्तीसवीं पुतली द्वारा कहलाई गयी है।

विद्यासिद्धि के प्रबन्ध में विक्रमादित्य की उदारता का वर्णन है। जब वह 'परका प्रवेश' की विद्या सीखने श्रीपर्वत पर भैरवानन्द योगी के पास जाने लगा तो एक ब्राह्म उसके साथ हो लिया और उसने विक्रम से यह वचन ले लिया कि पहले यह विद्या मु सिखाना, फिर तुम सीखना। राजा ने दुःख उठाकर भी यह वचन पाला।

अगले प्रबन्ध में विक्रमादित्य के जैन साधु सिद्धसेन दिवाकर से प्रभावित हो की कथा है। यह कथा सिंहासनबत्तीसी के जैन पाठ में विस्तार से मिलती है।

विक्रमादित्य सिद्धसेन दिवाकर के 'सर्वज्ञ पुत्र' विरुद को सुनकर उनकी परी लेते हैं। वे मन ही मन उन्हें प्रणाम करते हैं। अपने श्रुतज्ञान से राजा का मनोगत भ जान सिद्धसेन ने उन्हें दाहिना हाथ उठाकर धर्म-लाभ का आशीर्वाद दिया। यह देखक राजा बहुत चमत्कृत हुआ। इस प्रबन्ध में राजा द्वारा पृथ्वी को अनृण करने का उल्लेख है।

अगले प्रबन्ध में विक्रमादित्य की मृत्यु से विक्रम-संवत् प्रवर्त्तन होना कहा गया है आगे प्रकीर्णक प्रबन्ध में 'विक्रमादित्य की पात्रपरीक्षा' नामक कथा और है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रबन्धचिन्तामणि तथा सिंहासनबत्तीसी के जै पाठ में जैन सम्प्रदाय में प्रचलित विक्रमादित्य की कथाओं का संग्रह किया गया है हम इस प्रकरण का अन्त मेरुतुंग द्वारा की गयी विक्रमादित्य की प्रशंसा से करेंगे।

अन्त्योऽप्याद्यः समजनि गुणैरेक एवावनीशः
शौर्यौदार्यप्रभृतिभिरतोर्वीतले विक्रमार्कः।
श्रोतुः श्रोतामृतसमनवत्तस्य राज्ञः प्रबन्धं
संक्षिप्योच्चैर्विपुलमपितं वच्मि किञ्चित्तदादौ॥

पुराण

अर्थशास्त्रकार ने इतिहास की परिभाषा में छह बातें सम्मिलित बतल हैं—१. पुराण, २. इतिवृत्त, ३. आख्यायिका, ४. उदाहरण, ५. धर्मशास्त्र अ ६. अर्थशास्त्र। अतएव पुराण भी इतिहास के एक अंग माने गये हैं। यद्यपि पाश्चा विद्वानों ने पुराणों के प्रति बहुत अश्रद्धा प्रकट की है, यहाँ तक कि किसी समय विल्स आदि योरोपियन विद्वान इनका रचनाकाल ईसवी ग्यारहवीं शताब्दी के पश्चात् त बतलाते थे। परन्तु अब पुराणों का ऐतिहासिक मूल्य विद्वानों द्वारा माना जा चुका है

उनके आधार पर प्राचीन भारतीय इतिहास का पुनर्निर्माण किया गया है। अतः यह देखना उचित होगा कि विक्रमादित्य का वर्णन पुराणों में क्या दिया हुआ है।

कालकाचार्य कथानक में गर्दभिल से मिलते हुए एक गर्दभिन् वंश का उल्लेख है, जिसने ७२ वर्ष राज्य किया (पार्जीटर, पुराण-पाठ, पृष्ठ ४५-४६)। इसके अतिरिक्त पुराणों में विक्रमादित्य का उल्लेख कम ही मिलता है। केवल भविष्यपुराण के प्रतिसर्ग पर्व में विक्रमादित्य का विशद वर्णन दिया है। भविष्यपुराण को पार्जीटर आंध्र राजा यज्ञश्री के समय में ईसवी दूसरी शताब्दी के अन्त में लिखा हुआ बतलाते हैं। अतः वह बहुत बहुमूल्य उल्लेख है। परन्तु स्मिथ का मत है कि भविष्यपुराण का वर्तमान रूप बहुत कुछ प्रक्षिप्त एवं घटा-बढ़ा है, अतः इतिहास की दृष्टि से बेकार है। जो हो, विक्रमादित्य का पुराण-वर्णित रूप यहाँ दिया जाता है।

भविष्यपुराण में विक्रमादित्य का उल्लेख दो स्थल पर आया है। द्वितीय खण्ड के अध्याय २३ में लिखा है :—

तस्मिन्काले द्विजः कश्चिज्जयंतो नाम विश्रुतः ॥
तत्फलं तपसा प्राप्तः शक्रतः स्वगृहं ययौ ।
जयतो भर्तृहरये लक्षस्वर्णेन वर्णयन् ॥
भुक्त्वा भर्तृहरिस्तत्र योगारूढो वनं गतः ।
विक्रमादित्य एवास्य भुंक्त्वा राज्यमकंटकम् ॥

इसमें जयन्त नामक ब्राह्मण का तपोबल से इन्द्र से अमृतफल लाने का उल्लेख है। इस ब्राह्मण ने इसे भर्तृहरि को बेच दिया। भर्तृहरि योगारूढ़ होकर वन को चले गये, तब विक्रमादित्य उनके स्थान पर राजा हुआ। यही कहानी सिंहासनबत्तीसी आदि अन्य पुस्तकों में जिस रूप में प्राप्त है अन्यत्र दिया गया है।

भविष्यपुराण के अनुसार कलियुग के ३,७१० वर्ष पश्चात् (सप्तत्रिंशशते वर्षे दशाब्दे चाधिके कलौ) अवन्ति में प्रमर नामक राजा हुआ। उसके पश्चात् उसके वंश में क्रमशः महामद, देवापि, देवदूत और गन्धर्वसेन हुए। गन्धर्वसेन अपना राज्य अपने पुत्र शंख को देकर वन को चले गये। वहाँ वन में इन्द्र द्वारा भेजी हुई वीरमती नामक देवांगना से गन्धर्वसेन के विक्रमादित्य उत्पन्न हुए। विक्रमादित्य का जन्म शकों का विनाश करने के लिए, आर्यधर्म की स्थापना करने के लिए हुआ था। स्वयं शंकर का गण 'शिवदृष्टि' विक्रम रूप में अवतरित हुआ था। इस विक्रमादित्य को शिवजी ने बत्तीस पुतलियोंयुक्त सिंहासन भी दिया। माता पार्वती ने सिंहासन के साथ वेताल नामक गण भी विक्रमादित्य की रक्षा के लिए भेजा। विक्रमादित्य ने बहुत समय तक राज्य किया। उसने दिग्विजय तथा अश्वमेध यज्ञ किये।

इस पर भविष्यपुराण का यह अंश विक्रम सम्बन्धी सभी कथाओं को एक नवीन रूप में प्रस्तुत करता है। यह कथा मूल भविष्यपुराण में होगी यह शंकास्पद है; क्योंकि यह तो प्रमर, चाहमान आदि राजपुत्रों की दैवी उत्पत्ति बतलाने के लिए गढ़ी गयी ज्ञात होती है।

स्कन्दपुराण में भी विक्रमादित्य का उल्लेख है। कुमारिका खण्ड में लिखा है कलियुग के ३,००० वर्ष बीत जाने पर अर्थात् लगभग १०० ई० पू० विक्रमादित्य जन्म हुआ था।

अन्य स्फुट ग्रन्थ

इस प्रसंग में हम गाथासप्तशती, ज्योतिर्विदाभरण तथा राजतरंगिणी का उ करेंगे। इन पुस्तकों में विक्रमादित्य का उल्लेख आया है।

इन तीनों में गाथासप्तशती बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह कुन्तल देश के राजा, प्रति (पैठण) नगर के अधीश, शतकर्ण (शातकर्णि) उपनामवाले द्वीपिकर्ण के पुत्र, मलय के पति और हालादि उपनामवाले आंध्रभृत्य सातवाहन के लिए अथवा उसके लिखी गयी है। इस सातवाहन वंश का ईसवी सन २२५ के आसपास अन्त हो गया ऐसी दशा में यह ग्रंथ उक्त समय के पूर्व ही लिखा माना जाएगा। इसके रचना के विषय में बहुत विवाद चलाया गया है। डॉ० देवदत्त भाण्डारकर इसका रचना ईसा की छठी शताब्दी बतलाते हैं[२]। यह सब खींचतान इस कारण से की गयी थ डॉ० रामकृष्ण भाण्डारकर का यह मत पुष्टि पा सके कि गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त द्वि ही प्रथम एवं शकारि-संवत्प्रवर्त्तक विक्रमादित्य था। यदि गाथासप्तशती का र काल दूसरी शताब्दी मान लिया जाए तो सर भाण्डारकर की यह कल्पना असत्य होती है। परन्तु अब तो इस कल्पना को असत्य सिद्ध करने के एकाधिक आधार हो गए हैं।

डॉ० देवदत्त भाण्डारकर के मत के खण्डन में महामहोपाध्याय रायब गौरीशंकर हीराचन्द ओझाजी द्वारा दिये गये तर्क हम यहाँ उद्धृत करते हैं :—

"देवदत्त रामकृष्ण भाण्डारकर ने विक्रम-संवत् सम्बन्धी अपने लेख में 'ग सप्तशती' के राजा विक्रम के विषय में लिखते हुए उक्त पुस्तक के रचनाकाल के स में लिखा है कि "क्या गाथासप्तशती वास्तव में उतना पुराना ग्रंथ है जितना कि जाता है? बाण के हर्षचरित के प्रारम्भ के १३वें श्लोक में सातवाहन के द्वारा के 'कोश' के बनाए जाने का उल्लेख अवश्य है; परन्तु इस 'कोश' को हाल की सप मानने के लिए कोई कारण नहीं है जैसाकि प्रॉ० बेवर ने अच्छी तरह बतलाया है। पुस्तक में मिलनेवाले प्रमाण उसकी रचना का समय बहुत पीछे का होना बतलात यहाँ पर केवल दो बातों का विचार किया जाता है। एक तो उस (पुस्तक) में और राधिका का (१।८९) और दूसरा मंगलवार (३।६१) का उल्लेख है। रा का सबसे पुराना उल्लेख जो मुझे मिल सका वह पंचतंत्र में है, जो ई० स० की प शताब्दी का बना हुआ है। ऐसे ही तिथियों के साथ या सामान्य व्यवहार में लिखने की रीति ९वीं शताब्दी से प्रचलित हुई; यद्यपि उसका सबसे पुराना उदा बुधगुप्त के ई० स० ४८४ के एरण के लेख में मिलता है। यदि हम गाथासप्तश

---

१. स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ २३२।

२. भाण्डारकर स्मृति-ग्रन्थ, पृष्ठ १८८-१८९।

हाल का समय छठी शताब्दी का प्रारम्भ मानें तो अधिक अनुचित न होगा" (आर० जी० भाण्डारकर कोमेमोरेशन, वॉल्यूम पृ० १८८-८९)। हम उक्त विद्वान के इस कथन से सर्वथा सहमत नहीं हो सकते; क्योंकि बाणभट्ट सातवाहन के जिस सुभाषित रूपी उज्ज्वल रत्नों के कोश (संग्रह, खजाने) की प्रशंसा करता है (अविनाशिनमग्राम्य-मकरोत्सातवाहनः। विशुद्धजातिभिः कोशं रत्नैरिव सुभाषितैः ।। १३) वह 'गाथा-सप्तशती' ही है, जिसमें सुभाषित रूपी रत्नों का ही संग्रह है। यह कोई प्रमाण नहीं कि प्रॉ० बेबर ने उसे गाथासप्तशती नहीं माना, इसलिए वह उससे भिन्न पुस्तक होना चाहिए। बेबर ने ऐसी-ऐसी कई प्रमाणशून्य कल्पनाएँ की हैं जो अब मानी नहीं जातीं। प्रसिद्ध विद्वान डॉ० सर रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर ने भी बेबर के उक्त कथन के विरुद्ध बाणभट्ट के उपर्युक्त श्लोक का सम्बन्ध हाल की सप्तशती से होना माना है (बम्बई, ग्रं०, जि० १, भा० २, पृ० १७१), ऐसा ही डॉक्टर फ्लीट ने (ज० रॉ० ए० सो०; ई० स० १९१६, पृ० ८२०) और 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' के कर्त्ता मेरुतुंग ने माना है[1]। पाँचवीं शताब्दी के बने हुए पंचतंत्र में कृष्ण और राधिका का उल्लेख होना तो उलटा यह सिद्ध करता है कि उस समय कृष्ण और राधिका की कथा लोगों में भलीभाँति प्रसिद्ध थी, अर्थात् उक्त समय के पहले से चली आती थी। यदि ऐसा न होता तो 'पंचतंत्र' का कर्त्ता उसका उल्लेख ही कैसे करता? ऐसे ही तिथियों के साथ या सामान्य व्यवहार में वार लिखने की रीति का ९वीं शताब्दी में प्रचलित होना बतलाना भी ठीक नहीं हो सकता; क्योंकि कच्छ राज्य के अंधे गाँव से मिले हुए क्षत्रप रुद्रदामन के समय के (शक) संवत् ५२ (ई० स० १३०) के ४ लेखों में से एक लेख में 'गुरुवार' लिखा है (वर्षे द्विपंचाशे ५०-२ फाल्गुण बहुलस द्वितीया वी २ गुरुवास (रे) सिंहलपुत्रस ओपशतस गोत्रस०; स्वर्गीय आचार्य वल्लभजी हरिदत्त की तयार की हुई उक्त लेख की छाप से), जिससे सिद्ध है कि ई० स० की दूसरी शताब्दी में वार लिखने की रीति परम्परागत प्रचलित थी। राधिका और बुधवार के उल्लेख से ही 'गाथासप्तशती' का छठी शताब्दी में बनना किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता है। डॉ० रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर ने भी गाथासप्तशती के कर्त्ता हाल को आंध्रभृत्य वंश के राजाओं में से एक माना है (बम्बई ग्रँ०, जिल्द १, भाग २, पृ० १७१) जिससे भी उसका आंध्रभृत्य (सातवाहन) वंशियों के राजत्वकाल में अर्थात् ई० स० की पहली या दूसरी शताब्दी में बनना मानना पड़ता है[2]"।

'गाथासप्तशती' में विक्रमादित्य के उल्लेख से जहाँ उसकी ऐतिहासिकता पर प्रभाव पड़ता है, वहाँ उसके गुणों पर भी प्रकाश पड़ता है। विक्रमादित्य अपार दानी था, यह लोक-कल्पना पिछले विक्रमादित्य विरुदधारियों के कारण ही अस्तित्व में नहीं आई है, वह मूल विक्रमादित्य के विषय में भी थी, यह बात सप्तशती की विक्रमविषयक गाथा से स्पष्टतया प्रकट होती है। वह गाथा इस प्रकार है :—

संवाहण सुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खं ।
चलणेण विक्कमाइच्च चरिअमणुसिक्खअंतिस्सा ।।४६४।।

---

१. प्रबन्ध चिन्तामणि, पृष्ठ २६ ।

२. प्राचीन लिपिमाला, पृष्ठ १६८–१६९ ।

इस गाथा में चरणों के संवाहन के सुखरस से तुष्ट हुई नायिका द्वारा विक्रमादित्य के चरित्र का अनुकरण करके "लक्खं" (लाल रंग की लाख या लक्ष मुद्रा) नायक के कर में दिये जाने का भाव प्रकट किया गया है। इसके शृंगार परक भाव के अनुठेपन से हमें कोई सम्बन्ध नहीं है, न हमें कवि के उपमेय से सम्बन्ध है, हम तो इस गाथा के उपमान 'विक्रमादित्य' पर ही विचार करेंगे। वह विक्रमादित्य ऐसा था जो प्रसन्न होकर लाखों मुद्राएँ दान दे देता था।

इस गाथा से विक्रमादित्य के दान का पता तो चलता ही है; परन्तु अधिक महत्त्व की सूचना तो यह है कि विक्रमीय द्वितीय शताब्दी के पूर्व एक विक्रमादित्य था। इस प्रकार विक्रमीय संवत्सर के प्रवर्त्तन का सेहरा चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा अन्य तथाकथित संवत्प्रवर्त्तकों के सिर नहीं बाँधा जा सकता।

विक्रमीय संवत् की तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में (संवत् १२०५ वि० के लगभग) लिखी गयी कल्हण की प्रख्यात राजतरंगिणी में भी शकारि विक्रमादित्य का उल्लेख मिलता है; परन्तु इसके द्वारा विक्रम-समस्या में गड़बड़ी ही फैली है।

सबसे पहले विक्रमादित्य का उल्लेख कल्हण ने राजतरंगिणी की दूसरी तरंग के पाँचवें तथा छठे श्लोक में किया है:—

अथ प्रतापादित्याख्यास्तैरानीय दिगन्तरात्।
विकमादित्य भूभर्तुर्ज्ञातिस्त्राभिषिच्यत ।।५।।
शकारि विक्रमादित्य इति संभ्रममाश्रितैः।
अन्यैरत्रान्यलेखि विसंवादिकदर्थितम् ।।६।।

प्रतापादित्य विक्रमादित्य का रिश्तेदार था, यह लिखकर कल्हण ने यह टिप्पणी की है कि यह वह विक्रमादित्य नहीं जो शकारि था, जैसाकि कुछ लोग भ्रमवश मानते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि राजतरंगिणीकार के समय में यह विवाद था कि प्रतापादित्य का बान्धव विक्रमादित्य शकारि था या नहीं। कल्हण ने अपना यह मत स्थिर किया है कि इस प्रतापादित्य का बान्धव विक्रमादित्य शकारि नहीं था। कल्हण के मस्तिष्क में केवल एक ही 'शकारि' की भावना थी।

इस प्रतापादित्य का समय राजतरंगिणी की गणना से लगभग १६९ ई० पू० होता है। अतः यह उल्लेख मूल विक्रमादित्य का ही हो सकता है और एक सौ बारह वर्ष का अन्तर कालगणना की भूल के कारण हो सकता है। इस काल की कल्हण की गणना ठीक मानी भी नहीं जा सकती।

कल्हण ने जिस विक्रमादित्य को शकारि माना है वह मातृगुप्त का आश्रयदाता विक्रमादित्य है। वह लिखता है:—

तत्रानेहस्युज्जयिन्यां श्रीमान् हर्षापराभिधः।
एकच्छत्रश्चक्रवर्ती विक्रमादित्य इत्यभूत ।।१२५।।

काश्मीर में मातृगुप्त के राज्य के समय में उज्जयिनी में किसी हर्ष विक्रमादित्य का राज्य नहीं था। दसवीं शताब्दी में मालवे में एक हर्षदेव परमार अवश्य हुए हैं। फिर यह कल्हण के 'शकारि' हर्ष विक्रमादित्य कौन हो सकते हैं। मातृगुप्त के समय में मालवे पर स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य का शासन था। अतः अनुमान यह किया जाता है कि उक्त श्लोक का मूल पाठ 'श्रीमान् हर्ष पराभिधः' के स्थान पर 'श्रीमान् स्कन्द पराभिधः' होगा। और स्कन्दगुप्त के लिए ही कल्हण ने आगे लिखा है:—

म्लेच्छोच्छेदाय वसुधां हरेश्वतरिष्यतः।
शकान्विनाश्य येनादौ कार्यभारो लघूकृतः॥

परन्तु चूँकि कल्हण इस एक विक्रम विरुदधारी को शकारि समझता था, इसलिए उसने प्रतापादित्य के समकालीन विक्रमादित्य के शकारित्व पर अविश्वास किया। काश्मीर के इतिहास को केन्द्रबिन्दु बनानेवाले इतिहासकार कल्हण ने ५७ ई० पू० के मालव विक्रमादित्य के अस्तित्व पर यदि नहीं, तो कम से कम उनके शकारित्व पर शंका का सूत्रपात किया था। परन्तु हमें तो उनसे केवल एक बात लेनी है; वह यह कि ई० पू० में एक विक्रमादित्य था। उस समय उज्जैन से उसने शकों को खदेड़ भगाया था यह बात हम दूसरी अनुश्रुतियों से पूर्णतः पुष्ट कर सके हैं।

ज्योतिर्विदाभरण कालिदास नामक ज्योतिषी ने लिखा है। यह कालिदास अपने आपको विक्रमकालीन महाकवि कालिदास मनवाने पर तुला हुआ है। वह अपने आपको उज्जयिनीपति विक्रम का मित्र बतलाता है, रघुवंश आदि तीनों काव्यों का कर्त्ता कहता है। वह पुस्तक का रचनाकाल भी संवत् २४ वि० लिखता है। परन्तु इस पुस्तक की घटिया रचनाशैली कहती है कि यह ग्रन्थ रघुवंश के रचयिता का नहीं हो सकता। दूसरे संवत् २४ विक्रमीय में की गयी इस रचना में वि० सं० १३५ में प्रारम्भ होनेवाले शक-संवत् का भी उल्लेख है, जिससे उक्त ग्रन्थ की भ्रामक तिथि भी प्रकट होती है। "भारतीय ज्योतिः शास्त्र" में श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित इस ग्रन्थ का रचनाकाल विक्रमीय तेरहवीं शताब्दी के अन्त में मानते हैं।

इस ग्रन्थ में विक्रम की सभा के जो नवरत्न गिनावे गए हैं उनका उल्लेख आगे करेंगे। उनके अतिरिक्त मणि, अंशु, गिष्णु, त्रिलोचन, हरि कवि तथा सत्य, श्रुतसेन, बादरायण, मणित्थ और कुमारसिंह ज्योतिषी और गिनाए हैं। उसकी सेना भी बहुत विशाल बताई है। तीन करोड़ पैदल सिपाही, दस करोड़ अश्वारोही, चौबीस हजार हाथियों के अतिरिक्त उसके पास चार लाख नावें भी बतलाई हैं। उसने ९५ शक राजाओं को हराकर अपना संवत् चलाया (कालकाचार्य कथानक के ९६ 'साहियों' से यह संख्या मिलती है)। इस ग्रन्थ में यह भी लिखा है कि विक्रमादित्य रोम देश के 'शक' राजा को जीतकर उज्जैन लाया; परन्तु फिर उसे छोड़ दिया। रोम सम्राट् को विक्रमादित्य हराकर उज्जैन लाए या नहीं, इस विषय में तो हम मौन रहना ही श्रेयस्कर समझते हैं, यहाँ हम केवल इतना लिखना उचित समझते हैं कि उस समय, अर्थात् ५७ ई० पू० के आसपास, रोम में परमप्रतापी जूलियस सीजर प्रभावशील था और ४५ ई० पूर्व में रोम की सीनेट ने उसे आजीवन डिक्टेटर बना दिया था।

विक्रम-संवत्

विक्रम-संवत् सम्बन्धी अद्भुत अनुमान

यहाँ यह देखना उपयोगी एवं मनोरंजक होगा कि विक्रम-संवत् एवं उसके प्रवर्त्तक विक्रमादित्य के विषय में योरोपीय विद्वानों ने क्या-क्या कल्पनाएँ की हैं।

संवत्-प्रवर्त्तन एक ऐसी घटना है जिससे कोई भी इतिहासज्ञ इन्कार नहीं कर सका। जिस संवत् का अजस्त्ररूपेण व्यवहार होता चला आ रहा है, उसका प्रवर्त्तन हुआ था इसे अस्वीकृत कौन कर सकता है? आज एक व्यक्ति जीवित है, इससे अधिक और इस बात का क्या प्रमाण हो सकता है कि उसका कभी जन्म भी हुआ होगा? संवत्सर की वयस का प्रमाण भी अन्य कहीं ढूँढ़ने नहीं जाना पड़ेगा।

परन्तु, विक्रम-संवत् को कुछ विचित्र कल्पनाओं का सामना करना पड़ा। सर्व-प्रथम फरगुसन[1] ने यह स्थापना की कि विक्रम-संवत् का प्रवर्त्तन ईसा से ५७-५६ वर्ष पूर्व नहीं वरन् ईसवी सन ५४४ में हुआ। उसका मत था कि ईसवी सन ५४४ में विक्रमादित्य नामक या उपाधिधारी व्यक्ति ने हूणों को पराजित कर एक संवत्सर की स्थापना की और उसे प्राचीनता की झलक देने के लिए उसका प्रारम्भ ६०० वर्ष पूर्व से माना। इससे अधिक कल्पना और क्या हो सकती थी? प्रारम्भ में इस पर अधिक ध्यान न दिया गया, परन्तु कुछ समय पश्चात् फरगुसन की प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए मैक्समूलर ने इस अभिनव आविष्कार का समर्थन किया[2] और इस प्रकार इस विचित्र स्थापना का अधिक प्रचार हुआ कि यह संवत् दो सहस्र वर्ष पुराना नहीं है; परन्तु सौभाग्य से यह मत अधिक पुष्टि न पा सका। फरगुसन का यह काल्पनिक महल धराशायी हो गया, जब वे अभिलेख[3] प्राप्त हो गये, जिनमें सन ५४४ ई० के पूर्व के भी विक्रम-संवत् के उल्लेख थे।

सर भाण्डारकर[4] और विन्सेण्ट स्मिथ[5] का मत भी कम कौतूहलपूर्ण नहीं था, यद्यपि वह फरगुसन के आविष्कार से कम विचित्र है। उनका कथन है कि प्रारम्भ में यह संवत् मालव-संवत् के नाम से प्रसिद्ध था। गुप्तवंशीय विक्रमादित्य उपाधिधारी

---

१ जर्नल ऑफ दि रॉयल एशिऐटिक सोसायटी १८७०, पृ० ८१।

२. इण्डिया ह्वाट इट केन टीच अस? पृष्ठ २८६।

३. देखिए परिशिष्ट 'क'।

४. जर्नल ऑफ दि बॉम्बे ब्राञ्च ऑफ दि रॉयल एशिऐटिक सोसायटी, पृष्ठ ३९८।

५. अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ २९०।

चन्द्रगुप्त द्वितीय ने इस मालव-संवत् का नाम परिवर्तित करके विक्रम-संवत्[1]
ःया। इस स्थापना के अनुयायी आज भी हैं। परन्तु यह विचारणीय बात है
त-वंश का गुप्त-संवत् अलग प्रचलित था और स्वयं चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कभी
थेत निज-प्रर्वातित अथवा नाम-परिवर्तित विक्रमीय संवत्सर का प्रयोग नहीं

स प्रकार जहाँ विक्रमीय संवत्सर की वयस घटाने के प्रयास हुए, वहाँ ऐसे भी प्रयास हुए जिन्होंने विक्रमादित्य के उसके जनक होने में शंका की।

ोलहौर्न[2] इस सम्बन्ध में पूर्ण नास्तिक है। उसका मत है कि विक्रमादित्य कोई राजा ई० पू० ५७ में नहीं था और न किसी व्यक्ति ने इसका प्रवर्त्तन किया। -काल' का अर्थ उन्होंने माना है युद्धकाल, और चूँकि मालव-संवत् का प्रारम्भ ऋतु में होता है, जब राजा लोग युद्ध के लिए निकलते थे, इसलिए इसका नाम संवत् रखा गया। इस मत को मानने में भी अनेक बाधाएँ हैं। एक तो 'विक्रम' युद्ध' शब्दों में अर्थ-साम्य नहीं है, दूसरे विक्रम-संवत् शरद-ऋतु में ही सर्वत्र नहीं होता।

ंनिघम[3] और मार्शल[4] नामक विद्वानों ने भी अपनी-अपनी स्थापनाएँ कीं। मत से विक्रम-संवत् का प्रवर्त्तन किसी विक्रमादित्य राजा ने नहीं किया था। न के मत में उसका प्रवर्त्तक कुषाणवंशीय राजा कनिष्क था। इस स्थापना के में बहुत ऊहापोह की गयी। अनेक विद्वानों ने इसके पक्ष और विपक्ष में लिखा[5]। सर जॉन मार्शल ने यह पूर्णरूपेण सिद्ध कर दिया कि कनिष्क का समय ५७ ई० हीं वरन् ७८ ई० है। इस प्रकार कनिंघम की स्थापना समाप्त हुई, परन्तु मार्शल ापना ने जोर पकड़ा। उसने कहा कि विक्रम-संवत् का प्रचलन गांधार के शक एजेस ने किया था। यह मत भी निराधार है। एजेस का संवत् उसीके नाम

. चन्द्रगुप्त के 'विक्रमादित्य' उपाधि ग्रहण करनेवाले सर्वप्रथम सम्राट होने के कारण भी ये विद्वान इन्हें संवत्-प्रवर्त्तक विक्रम मानते हैं। परन्तु अभी हाल ही में बमनाला ग्राम में समुद्रगुप्त की जो सात स्वर्ण-मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं, उनमें कुछ मुद्राओं पर 'पराक्रमः' लिखा है और एक पर 'श्रीविक्रमः' उपाधि लिखी है। अतः यह उपाधि मूलतः चन्द्रगुप्त द्वितीय से प्रारम्भ नहीं हुई, यह प्रमाणित होता है।

:. इण्डियन एण्टीक्वेरी १९ तथा २०।

. जर्नल ऑफ दि रॉयल एशिऐटिक सोसायटी १९१३, पृष्ठ ६२७।

. जर्नल ऑफ दि रॉयल एशिऐटिक सोसायटी १९१४, पृष्ठ ९७३ और १९१५, पृष्ठ १९१। साथ ही देखिए केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग १, पृष्ठ ५७१।

. इस विषय में जर्नल ऑफ दि रॉयल एशिऐटिक सोसायटी १९१३ दृष्टव्य है, जिसमें कनिष्क के विक्रम-संवत्-प्रवर्त्तक होने या न होने के विषय में योरोपीय विद्वानों ने मत प्रकट किये हैं।

से चला था ऐसा सिद्ध हो चुका है[1]। विक्रम-संवत् का प्रचलन पहले 'कृत' एवं मालव-संवत् के नाम से था, 'अयस' नाम से नहीं। साथ ही भारतवर्ष के एक कोने में एक विदेशी राजा द्वारा चलाए गये संवत् के पीछे विक्रम-संवत् के साथ आज भी अभिन्न-रूपेण सम्बद्ध शक-विरोधी एवं राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न नहीं हो सकती।

इसके अतिरिक्त कुछ मत और भी हैं। एक के अनुसार मालव-वीर यशोवर्मन्[2] ने इस संवत् को चलाया तथा एक अन्य मत के अनुसार पुष्यमित्रशुंग[3] ने। डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल का मत है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि[4] ने इस संवत् का प्रवर्त्तन किया है। डॉ० जायसवाल ने जैन अनुश्रुति के विक्रमादित्य और इतिहास के गौतमीपुत्र शातकर्णि को एक ही मानकर अनुश्रुति और इतिहास का समन्वय किया है। डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल की स्थापना के दो आधार हैं।

एक तो यह कि जिन गुणों का आरोप विक्रमादित्य में किया जाता है वे सब गौतमीपुत्र शातकर्णि में थे। नाशिक-अभिलेख से माता गौतमी ने अपने पुत्र में उन सब गुणों का होना लिखा है। दूसरा कारण यह है कि ई० पू० प्रथम शताब्दी में गौतमीपुत्र शातकर्णि ने किसी शक राजा को हराया था। परन्तु गौतमीपुत्र शातकर्णि और विक्रमादित्य में अनुश्रुति स्पष्ट भेद बतलाती है। इस शालिवाहन के हाथों विक्रमादित्य की मृत्यु हुई थी।

विक्रमीय संवत्सर को विक्रमादित्य नामक व्यक्ति द्वारा प्रवर्त्तित न माननेवालों में डॉ० अनन्त सदाशिव अल्टेकर भी हैं। उनका कहना है कि विक्रम-संवत् का मूल नाम 'कृत-संवत्' है और उसे मालवगण के 'कृत' नामक सेनाध्यक्ष को शक-विजय के उपलक्ष में 'कृत-संवत्' की संज्ञा दी गयी। यद्यपि उन्होंने कालकाचार्य-कथानक के विक्रमादित्य सम्बन्धी श्लोकों को प्रक्षिप्त माना है और जैन-परम्परा को अविश्वसनीय, फिर भी वे लिखते हैं, "अब यह भी माना जा सकता है कि जिस कृत नामक प्रजाध्यक्ष ने इस संवत् की स्थापना की उसका उपनाम विक्रमादित्य था[5]"। जब यहाँ तक अनुमान किया जा सकता है, तो ऐसे आधार भी हैं जिनके कारण यह विश्वास किया जा सके कि ई० पू० ५८ में विक्रमादित्य ने ही मालवगण, नाग तथा अन्य शक विरोधियों का संघ बनाकर उसका नेतृत्व किया होगा। मालव भी उसे अपनी विजय मान सकते थे तथा अन्य भी।

---

१. विक्रम-मृस्ति-ग्रंथ, पृष्ठ १

२. जर्नल ऑफ दि रॉयल एशिऐंटिक सोसायटी १९०३, पृष्ठ ५४५ और १९०९ पृष्ठ ८९।

३. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् १९९०।

४. जर्नल ऑफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, खण्ड १६, भाग ३ और ४, पृष्ठ २२६-३१६।

५. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४८, अंक १-४, संवत् २०००, पृष्ठ ७७।

अभिलेख एवं मुद्राओं से प्राप्त निष्कर्ष

इन सब स्थापनाओं पर विचार कर लेने के पश्चात् अब आगे हम उपलब्ध आधारों पर विक्रम-संवत् और उसके प्रवर्त्तक के विषय में विचार करेंगे। विक्रमादित्य के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रधान आधार विक्रम-संवत् है। विक्रम-संवत् का प्रयोग उसके अस्तित्व का प्रबल दलील है। विक्रम-संवत् का प्राचीन अभिलेखों में जिस प्रकार प्रयोग किया गया है उसे देखने पर अनेक बातों पर प्रकाश पड़ता है। संवत् १२०० विक्रमीय तक के प्रायः २६१ अभिलेख प्राप्त हुए हैं। इनमें से भी संवत् ९०० के पूर्व के तो ३३ ही हैं[1]।

परिशिष्ट 'क' में दी गयी सूची में हमने प्रत्येक अभिलेख का संवत्, उसका प्राप्ति स्थान, तथा संवत्-सूचक वह पाठ लिख दिया है जिसमें विक्रम-संवत् का उसके नाम के साथ उल्लेख है।

इस परिशिष्ट के अध्ययन से हम नीचे लिखे निष्कर्ष निकाल सकते हैं :—

(१) संवत् २८२ से ४८१ तक इसे कृत-संवत् कहा गया है।

(२) संवत् ४६१ से ९३६ तक इसे मालव-संवत् कहा गया है। संवत् ४६१ के मन्दसौर के अभिलेख में इसे 'कृत' तथा 'मालव' दोनों संज्ञाएँ दी गयी हैं।

(३) संवत् ७९४ के ढिमको के अभिलेख में इस संवत् को सबसे पहले विक्रम-संवत् कहा गया है; परन्तु डॉ० अल्टेकर ने इस अभिलेखयुक्त ताम्रपत्र को जाली सिद्ध कर दिया है[2]। अतः विक्रम-संवत् के नाम से यह सर्वप्रथम धौलपुर के चण्डमहासेन के ८९८ के अभिलेख में अभिहित किया गया है।

(४) मालव तथा कृत नामों के प्रयोग की भौगोलिक सीमा उदयपुर, जयपुर, कोटा, भरतपुर, मन्दसौर तथा झालावाड़ है। विक्रम नाम सम्पूर्ण भारत में प्रयुक्त हुआ है।

यह बात पूर्णरूपेण सिद्ध है कि कृत, मालव एवं विक्रम एक ही संवत् के नाम हैं। मन्दसौर के ४६१ संवत् के प्राप्त लेख में एक ही संवत् को 'मालव' तथा 'कृत' कहा गया है। इतिहास में कुमारगुप्त का समय निश्चित है। कुमारगुप्त के समय में बन्धुवर्मन् के मन्दसौर के ४९३ संवत् के लेख की गणना करने पर ज्ञात होता है कि वह विक्रम-संवत् ही है और उसका नाम उक्त लेख में लिखा है 'मालवगणों की स्थिति से चार सौ तेरानवे वर्ष बाद का' अर्थात् मालव-संवत्। अतः मालव और विक्रम नाम एक ही संवत् के हैं।

इसके आगे विचार करने के पूर्व हम 'कृत' शब्द के अर्थ पर विचार करेंगे। 'कृत' शब्द का ठीक अर्थ ज्ञात हो सके इसके लिए यह आवश्यक है कि 'मालवगण' सम्बन्धी

---

१. देखिए परिशिष्ट 'क'।

२. एपीग्राफिया इण्डिका, भाग २६, पृष्ठ १८९।

जो पाठ हैं[1] उन्हें एकत्रित करके उनपर विचार किया जाए :—

१. श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते (४६१ मन्दसौर)।

२. मालवानां गणस्थित्या (४९३ मन्दसौर)।

३. विख्यापके मालववंशकीर्त्तेः (५२४ मन्दसौर)।

४. मालवगणस्थितिवशात्कालज्ञानाय (५८९ मन्दसौर)।

५. संवत्सर············मालवेशानाम् (७९५ कोटा राज्य)।

६. मालवकालाच्छरदां (९३६ ग्यारसपुर)।

इन पाठों को एक साथ देखने से यह ज्ञात होता है कि यह संवत् (अ) मालवे (या मालवगणाध्यक्ष)[2] का चलाया हुआ है, (इ) इसके कारण या इसके प्रारम्भ व कारण मालवगण की स्थिति[3] (उनके अस्तित्व की प्रतिष्ठा या पुनर्स्थापना) हु (उ) यह संवत् मालववंश की कीर्त्ति का कारण है, (ए) इस मालव-संवत् को 'कृत भी कहते हैं। यदि इन सबको समन्वित रूप दें तो वह इस प्रकार होगा—"मालवेश ऐसा कार्य किया, जिससे मालववंश की कीर्ति बढ़ी, मालवगण का अस्तित्व प्रतिष्ठि रह सका या उसकी पुनर्स्थापना की गयी और उक्त महत्कार्य के उपलक्ष में इस संव का प्रवर्त्तन हुआ"।

इस विचार के प्रकाश में 'कृत' शब्द का अर्थ खोजना उपयोगी होगा। डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'कृत' का अर्थ माना है 'सतयुग या स्वर्णयुग'[4]। अग्रवालज का अनुमान सत्य के आसपास है। 'कृत' का सीधा-सादा शाब्दिक अर्थ है 'किया हुअ अर्थात् कर्म। यहाँ 'कृत' का अर्थ है मालवेश या मालवगणनायक का ऐसा कर्म ज मालववंश को कीर्त्ति बढ़ानेवाला था, जिससे मालवगण को स्थिति हुई, विदेशियों व विनाश हुआ और (डॉ० अग्रवाल के शब्दों में) सतयुग या स्वर्णयुग का प्रारम्भ हुआ

१. देखिए परिशिष्ट 'क'।

२. मालवगणाध्यक्ष क्रमशः मालवेश कैसे हो गया इसके लिए देखिए डॉ० राजबल पाण्डेय का लेख 'विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता'।

३. 'स्थिति' के अर्थ के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। डॉ० अल्टेकर इसव अर्थ 'परम्परा', 'सम्प्रदाय', 'रीति' आदि लेते हैं। डॉ० वासुदेवशर अग्रवाल लिखते हैं, "मालव-गण की स्थिति शब्द का अर्थ क्या है? हमा सम्मति में स्थिति का सीधा अर्थ स्थापना है। मालव-गण की स्थापना व यह अर्थ नहीं है कि उस गण की सत्ता पहले अविदित थी"।······ "शकों की पराजय के बाद मालव-गण ने स्वतंत्रता का अनुभव किया हमारी सम्मति में स्तंत्रता की यह स्थापना ही मालव-गण की स्थिति थ जिसका मालव-कृत संवत् के लेखों में कई बार उल्लेख है"। डॉ० अग्रवा का मत ही उचित है और हमारी समझ में तो इसका अर्थ है 'प्रतिष्ठि होना'।

४. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् २०००, पृष्ठ १३१।

अब अगला प्रश्न है मालवेश के 'कृत' का 'विक्रम' में बदल जाना। इसके लिए विक्रम-संवत् के उल्लेख के प्रकार पर भी ध्यान देना होगा। इसका उल्लेख[1] निम्न प्रकारों से हुआ है :—

१. कालस्य विक्रमाख्यस्य (८९८ धौलपुर)।
२. विक्रमादित्यभूभृत: (१०२८ उदयपुर)।
३. विक्रमादित्यकाले (१०९९ वसंतगढ़, सिरोही)।
४. वत्सरैर्विक्रमादित्यैः (११०३ तिलकवाड़ा, बड़ौदा राज्य)।
५. श्रीविक्रमादित्योत्पादितसंवत्सर (११३१ नवसारी, बड़ौदा)।
६. श्रीविक्रमार्कनृपकालातीतसंवत्सराणां (११६१ ग्वालियर)।
७. श्रीविक्रमादित्योत्पादित संवत्सर (११७६ सेवाड़ी, जोधपुर)।

इससे यह ज्ञात होता है कि विक्रमीय नवीं शताब्दी से ही ऊपर लिखे मालवेश का नाम विक्रमादित्य माना गया था।

ऊपर लिखे दोनों विवेचनों को एक में मिला देने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विक्रमादित्य नामक मालवगण की सेना के नायक ने वह 'कृत'—कर्म किया था जिसका उल्लेख ऊपर है, जिसके कारण मालववंश की कीर्त्ति बढ़ी (परिशिष्ट 'क' का अभिलेख क्रमांक ७), जिसके कारण मालवगण की स्थिति रह सकी (अभिलेख क्रमांक ६ तथा ९) और इस संवत् का प्रवर्त्तन हुआ।

अभिलेखों में प्राप्त संवत्-सम्बन्धी पाठों के साथ मालव-मुद्राओं पर अंकित लेखों पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। मालव-प्रान्त में मालवगण की मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। उनमें कुछ मुद्राएँ ऐसी हैं जिन पर एक ओर सूर्य या सूर्य का चिह्न है तथा दूसरी ओर 'मालवानां जय:' अथवा 'मालवगणस्य जय:' अथवा 'जय मालवानां जय:' लिखा हुआ है। इन मुद्राओं के विषय में श्री जयचन्द्र विद्यालंकार अपनी 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' में लिखते हैं—"पहली शताब्दी ई० पू० के मालवगण के सिक्कों पर मालवानां जय: और मालवगणस्य जय: की छाप रहती है। वे सिक्के स्पष्टत: किसी बड़ी विजय के उपलक्ष में चलाए गये थे और वह विजय ५७ ई० पू० की विजय के सिवाय और कौनसी हो सकती थी?" (पृष्ठ ८७१) परन्तु इतना ही नहीं, सूर्य एवं सूर्य का चिह्न दो बातों की ओर संकेत कर सकता है। या तो यह कि उक्त विजय को प्राप्त करनेवाला सेनापति 'आदित्य' का उपासक था या उसका नाम स्वयं 'आदित्यमय' था और यह नाम विक्रमादित्य होने के कारण वह अपना राजचिह्न सूर्य रखता था।

विक्रम के नवरत्न

यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि संघर्ष के समय राष्ट्र में अत्यन्त पुष्ट और स्वस्थ साहित्य तथा कला का विकास होता है। भारतीय अनुश्रुति विक्रमादित्य की राज-सभा में उसके नवरत्नों की कल्पना करती है, उनके सम्बन्ध में हमने आगे इस युग के साहित्य के प्रसंग में विवेचन किया है।

---

१. देखिए परिशिष्ट 'क'।

विक्रमादित्य-विरुद और विरुधारी

विक्रमादित्य-विरुद भारतीय इतिहास में उसी प्रकार प्रचलित हुआ, जिस प्रकार कि योरोपीय इतिहास में 'सीजर' या 'कैसर' की उपाधि सर्वप्रिय हुई है। 'सीजर' शब्द से जिस प्रकार साम्राज्य एवं विजेता की भावना सम्बद्ध है, उसी प्रकार 'विक्रमादित्य' उपाधि में विदेशी शक्ति को पराजित करने की भावना निहित है। परन्तु साथ ही यह भी भूल जाने की बात नहीं है कि जिस प्रकार 'सीजर' नाम के प्रतापी सम्राट के अस्तित्व के पश्चात् ही सीजर उपाधि का प्रादुर्भाव हुआ था, उसी प्रकार 'विक्रमादित्य' उपाधि चल निकलने के लिए किसी 'विक्रमादित्य' नामक विदेशियों के विनाशक के अस्तित्व का होना भी आवश्यक है[1]।

अब हम आगे विक्रमादित्य विरुदधारी भारतीय नरेशों का विवेचन इस दृष्टि से करेंगे जिससे यह ज्ञात हो सके कि यह संबोधन व्यक्तिवाचक नाम से उपाधि में कब परिवर्तित हुआ और जिन नरेशों ने इसे धारण किया वे कितने प्रतापी थे तथा इसका प्रभाव लोककथा और अनुश्रुति पर क्या पड़ा।

अभी तक सबसे प्रथम विक्रमादित्य उपाधिधारी गुप्तवंशीय सम्राट चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य समझे जाते थे; परन्तु अब यह सिद्ध हो गया है कि समुद्रगुप्त ने भी यह उपाधि धारण की थी[2]। यह उपाधि इस महान विजेता सम्राट के लिए पूर्णरूपेण उपयुक्त है

---

१. इस विरुद के विषय में पंजाब के प्रसिद्ध विद्वान डॉ० लक्ष्मणस्वरूप का मत भी तथ्यपूर्ण है—"ईसवी सन से पूर्व भारतीय महाराज और सम्राट विक्रमादित्य-विरुद को धारण नहीं करते थे; जैसे अजातशत्रु, प्रद्योत, चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, पुष्यमित्र आदि ने विक्रमादित्य की उपाधि को अपने नाम के साथ नहीं जोड़ा। ईसवी सन के पश्चात् भारत के महाराज और सम्राट जैसे चन्द्रगुप्त द्वितीय, स्कन्दगुप्त, शीलादित्य यशोधर्म, हर्षवर्धन इत्यादि शक्तिशाली सम्राट विक्रमादित्य की उपाधि को धारण करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल में जो गौरव और प्रताप अश्वमेध यज्ञ करने से प्राप्त होते थे, ईसवी सन के पश्चात् विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने से वे ही गौरव उपलब्ध होने लगे थे। जिस प्रकार वैदिक काल में अश्वमेध यज्ञ का करना संसार-विजेता होने की घोषणा करना होता था उसी प्रकार विक्रमादित्य की उपाधि धारण करना साम्राज्य तथा प्रभुत्व का सूचक बन गया था। पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया; पर उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण नहीं की। गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अश्वमेध यज्ञ नहीं किया; पर उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की"। विक्रम-स्मृति-ग्रंथ, पृष्ठ २७।

२. जर्नल ऑफ दि न्यूमेस्मेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया, खण्ड ५, भाग २, दिसम्बर १९४३ के अंक में पृष्ठ १३६-३७ पर इन्हीं मुद्राओं का विवेचन करते हुए श्री डिस्कलकर लिखते हैं:—

"On the seventh coin the dress of the king and other items are similar to those in coins No. 1 to 5, and in all respects this coin closely resembles the coins of Samudragupta of the standard type. But it is of an extraordinary importance, in that it bears on the reverse the legend "Shree Vikramah"

इसमें शंका नहीं। शक क्षत्रप रुद्रसेन समुद्रगुप्त के पराक्रम से शंकित हुआ था और उसने उसके दरबार में अपना राजदूत भेजा था। इसके गुणों का वर्णन इसके राजकवि हरिषेण की प्रशस्ति की अपेक्षा अधिक सुन्दर रूप में नहीं किया जा सकता, इसलिए हम उसके आवश्यक अंश के अनुवाद को उद्धृत करते हैं :—

"जिसका मन विद्वानों के सत्संग-सुख का व्यसनी था, जो शास्त्र के तत्त्वार्थ का समर्थन करनेवाला था·······जो सत्कविता और लक्ष्मी के विरोधों को विद्वानों के गुणित गुणों की आज्ञा से दबाकर (अब भी) बहुतेरी स्फुट कविता से (मिले हुए) कीर्त्ति-राज्य को भोग रहा है······जिसका पृथ्वी पर कोई प्रतिद्वंदी नहीं था, जिसने सैकड़ों सच्चरितों से अलंकृत अपने अनेक गुणगणों के उद्रेक से अन्य राजाओं की कीर्त्तियों को अपने चरणतल से मिटा दिया था, जो अचिंत्य पुरुष की भाँति साधु के उदय और असाधु

---

instead of the usual legend "Parakramah". No other coin of Samudragupta has hitherto been found bearing this legend, which is found used only on the coins of Chandragupta II. This novelty may be explained in two ways.

"It may be supposed, therefore, that the coin of Samudragupta in the Bamnala hoard bearing on the reverse the Biruda 'Sri Vikramah' was struck in the early period of Chandragupta's reign, the old die for the obverse of the coin of Samudragupta being used instead of the die of Chandragupta's early coins of the archer type. After only a few coins were struck in this way the mistake was detected and the further minting of the coin was discontinued. It is for this reason that our coin in the Bamnala find is the only specimen of the variety so far found. If this supposition is accepted, it would be better to call this as Chandragupta's coin wrongly bearing on the obverse the die of Samudragupta's coin.

"An alternative suggestion can also be made. It may be supposed that in the later period of his reign Samudragupta introduced the epithet Vikram in place of the usual synonymous epithet Parakrama used on coins of the standard type, and that Chandragupta continued to adopt on his coins the epithet Vikrama which he liked better than the epithet Parakrama. It may be said against this view that the coins of the standard type of Samudragupta, which is a close copy of the later coins of the Kushan type, are the earliest of all his coins and that if he had introduced the new epithet on some coins of his standard type, it could have been used also on other coins struck by him"

श्री डिस्कलकर के ये दोनों अनुमान स्थिति-पालन की दृष्टि से किये गये हैं। अभी तक की मान्य ऐतिहासिक धारणाओं पर आघात न हो यही बात उक्त विद्वान के मस्तिष्क में प्रधान रही है। पहला अनुमान तो वे यह करते हैं कि यह चंद्रगुप्त की ही मुद्रा है और गलती से दूसरी ओर समुद्रगुप्त के साँचे का प्रयोग हो गया है। यह अनुमान अत्यन्त हास्यास्पद है। प्राचीन काल में ऐसी भूलें कम होती थीं, और इसे सिद्ध करने के लिए श्री डिस्कलकर को गुप्त-साम्राज्य के प्रबंध में कुछ भूलें भी ढूँढ़नी होंगी, वह भी विशेषतः एक ऐसे

के प्रलय का कारण था, जिसका कोमल-हृदय भक्ति और प्रणतिमात्र से वश हो जाता था, जिसने लाखों गाएँ दान की थीं, जिसका मन कृपण, दीन, अनाथ, आतुरजनों के उद्धार और दीक्षा आदि में लगा रहता था, जो लोक के अनुग्रह का साक्षात् जाज्वल्यमान स्वरूप था, जिसके सेवक अपने भुजबल से जीते हुए राजाओं के विभव को वापस देने में लगे हुए थे .... जो लोकनियमों के अनुष्ठान और पालन करने भर के लिए ही मनुष्य रूप था; किन्तु लोक में रहनेवाला देवता ही था"[१]।

समुद्रगुप्त का विक्रम उपाधि धारण करना कुछ विद्वान शंकास्पद भले ही मानें[२], परन्तु ईसवी सन ३८० के आसपास राज्यारोहण करनवाले यशस्वी सम्राट चंद्रगुप्त द्वितीय ने 'विक्रमादित्य' उपाधि ग्रहण की, यह उसकी मुद्राएँ पूर्ण रूप से सिद्ध करती हैं। इसने शक क्षत्रपों का उन्मूलन कर शकारित्व स्थापित किया; परन्तु इसकी प्रशस्ति लिखने के लिए इसे अपने पिता के समान हरिषेण जैसा कविराज नहीं मिला था। यह सम्राट महान विजयी, अपार दानी, विद्या एवं कला का आश्रयदाता तथा धर्म-रक्षक था[३]।

गुप्त सम्राटों में अंतिम सम्राट, जिसने अपने पौरुष से विदेशी शकों का मान मर्दन किया 'स्कंदगुप्त' था। इसने भी विक्रमादित्य की उपाधि ग्रहण की थी। इसके सिक्कों पर 'परम-भागवत-श्रीविक्रमादित्य-स्कंदगुप्त." अंकित है। इसके अभिलेख से प्रकट है कि कुललक्ष्मी विचलित थी; म्लेच्छों और हूणों से आर्यावर्त आक्रांत था। अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए जिन्होंने पृथ्वी पर सोकर रातें बिताईं, हूणों के युद्ध में जिसके विकट पराक्रम से धरा विकम्पित हुई, जिन्होंने सौराष्ट्र के शकों का मूलोच्छेद करके परादित्त को वहाँ का शासक नियत किया वे स्कंदगुप्त ही थे।

मामले में, जो सम्राट के सम्मुख अवश्यम्भावी रूप से जाना हो। दूसरा अनुमान तो स्वयं उन्होंने ही लँगड़ा कर दिया है।

हमारे विचार से तो सम्भावना यह है कि समुद्रगुप्त ने जब हरिषेण के शब्दों में "दैवपुत्र शाहीशाहानुशाही शक ... आत्मनिवेदन कन्योपायनदान गरुत्मदंकस्वविषय भुक्तिशासनयाचनाद्युपाय" अर्थात् जब दैवपुत्र शाही-शाहानुशाही शक .... आत्मनिवेदन करने लगे थे तथा अपनी कन्याएँ भेंट में देने लगे थे, अपने विषय-भुक्ति के शासन के लिए गरुड़ की राजमुद्रा में अंकित फरमान माँगने लगे थे, तब सम्राट स्कंदगुप्त ने प्रथम शक-मानमर्दक मूल विक्रमादित्य के नाम को विरुद रूप में धारण किया। और पीछे से जब उसने समस्त भरतखंड को अपने प्रबल पराक्रम से आक्रांत कर दिया तब 'पराक्रम' विरुद धारण किया।

१. प्रयाग के स्तंभ पर समुद्रगुप्त की विजय प्रशस्ति के अनुवाद से उद्धृत (देखिए श्री गंगाप्रसाद मेहता-कृत 'चंद्रगुप्त विक्रमादित्य', पृष्ठ १६६–६८)।

२. देखिए, जर्नल ऑफ दि न्यूमेस्मेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया, दिसम्बर १९४३ में श्री डिस्कलकर का मत।

३. गंगाप्रसाद मेहता : चंद्रगुप्त-विक्रमादित्य, पृष्ठ ५९–६६।

गुप्तों के पश्चात् यशोधर्म्मनदेव ने विक्रमादित्य उपाधि धारण की थी ऐसा कुछ लोगों का मत है। उसने ईसवी सन ५४४ (या ५२८) में करूर के रणक्षेत्र में शकों को परास्त करके दो विजय-स्तंभों का निर्माण कराया। इन पर से फरगुसन ने विक्रम-संवत प्रवर्त्तक-संबंधी अपना विचित्र मत स्थापित किया था। परन्तु यह विदित है कि यशोधर्म्मन ने अपनी किसी प्रशस्ति में विक्रमादित्य उपाधि धारण नहीं की।

इसके पश्चात् फिर छोटे-मोटे अनेक विक्रमादित्य हुए। दक्षिण में भी अनेक राजाओं ने यह उपाधि धारण की। यहाँ तक कि हेमू ने भी, जब उसे यह भ्रम हुआ कि उसे मुगल-राज्य उखाड़ फेंकने में सफलता मिल जाएगी, अपने आपको विक्रमादित्य लिखा।

विदेशों पर विजय की भावना तो विक्रमादित्य उपाधि के साथ है ही, साथ ही पिछले विक्रमादित्य उपाधिधारियों ने साहित्य-कला को आश्रय दिया, अपार दान दिये और राजसभा के वैभव को अत्यधिक बढ़ाया। यही कारण है कि आज से प्रायः एक सहस्र वर्ष पूर्व विक्रमादित्य का जो रूप प्रचलित हुआ, उसमें मालवगण तथा विक्रमादित्य तो छिप गये और उसके स्थान पर विक्रमादित्य उपाधिधारी सम्राटों की समन्वित मूर्त्ति बन गयी। भारतीय संस्कृति एवं एकतंत्रीय शासनप्रणाली में जो कुछ भी सर्वश्रेष्ठ था वह विक्रमादित्य से सम्बन्धित हो गया। महान विजयी, परदुःखभंजन, न्यायपरायण, त्यागी, दानी एवं उदारचरित के रूप में उसकी कल्पना हुई। उसमें ये सब गुण होंगे, इससे इन्कार नहीं; परन्तु उसका यह चित्र अतिरंजित अवश्य हो गया।

उपसंहार

ज्ञात ऐतिहासिक तथ्यों और अनुश्रुति के विवेचन से यह सिद्ध होता है कि उज्जयिनी पर ई० पू० ५७ में शकों का अधिकार हो गया था। इस समय के धार्मिक विद्वेष ने शकों का अधिकार होने में सहायता की थी। विक्रमादित्य नामक 'व्यक्ति' ने मालवगण तथा अन्य जुझाऊ वीरों का संगठन कर उसे अत्यधिक बलशाली बनाया, शकों का मूलोच्छेद किया और संवत्सर का प्रवर्त्तन किया। उसी समय 'मालवानां जयः' लेखसहित मुद्राएँ भी प्रचलित की गयीं। यह विक्रमादित्य अत्यन्त प्रतापशाली और उदात्तगुणसंपन्न था।

यह प्रयास केवल इस हेतु किया गया है कि भारतीय अनुश्रुति के नायक, हमारी प्राचीन संस्कृति एवं गौरव के प्रधान अवशेष विक्रम-संवत् के प्रवर्त्तक, विजयी विक्रमादित्य के अस्तित्व को असिद्ध करने के जो प्रयास किये गये हैं उनका निराकरण हो सके। विक्रमीय प्रथम सहस्राब्दि में महान विजेताओं द्वारा उसके नाम को उपाधि के रूप में ग्रहण करने में अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करना इस बात का सूचक है कि भारतीय सदा से ही विक्रमादित्य के नाम को अत्यन्त मान एवं आदर की दृष्टि से देखते थे। आज राजमहल से दरिद्र की कुटी तक फैली हुई विक्रम की गौरवगाथाएँ उसी भावना की प्रतीक हैं। विक्रमादित्य का चलाया हुआ यह विक्रम-संवत् मध्यदेश की अमूल्यतम एवं महानतम थाती है। यह हमारे विक्रम की स्मृति है, इसीसे हम राष्ट्र की रक्षा के लिए विक्रम की शक्ति संचित करेंगे।

परिशिष्ट 'क'[1]

क्रमांक	संवत्	प्राप्ति-स्थान	शासक या दाता	संवत्-संबंधी पाठ
१	२८२	नान्दसा (उदयपुर-राज्य)	शक्तिगुण गुरु	कृतयोर्द्वयोर्वर्षशतयोर्द्वयशीतयोः २००-८०-२ चैत्र पूर्णमासी (स्या) म्।
	२८४	बर्णाला (जयपुर-राज्य)	(. . .) वर्धन	कृतेहि (कृतैः) २००-८०-४ चैत्र शुक्लपक्षस्य पंचदशी।
	२९५	बड्वा (जयपुर-राज्य)		कृतेहि (कृतैः) २००-८०-४ फाल्गुन शु० ५।
	२९५	"		"
	२९५	"		"
	३३५	बर्णाला (जयपुर-राज्य)	भट्ट	कृतेहि ३००-३०-५ जरा (जेष्ठ) शुद्धस्य पंचदशी।
२	४२८	विजयगढ़ (भरतपुर-राज्य)	विष्णुवर्धन	कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वष्टाविंशेषु ४००-२०-८ फाल्गुण-बहुलस्य पंच-दश्यामेतस्यां पूर्वायाम्।
३	४६१	मन्दसौर (ग्वालियर-राज्य)	नरवर्मन्	श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञितैकषष्ट्यधिके प्राप्ते समाशतच-तुष्टये। दिने आश्वोजशुक्लस्य पंचम्यामथ सत्कृते।
४	४८०	गंगधार (झालावाड़-राज्य)	विश्ववर्मन्	यातेषु चतुर्षु कृतेषु शतेषु सौम्यैष्वाष्टाशीत सोत्तरपदेष्विह वत्सरेषु। शुक्ले त्रयोदशदिने भुवि कार्त्तिकस्य मासस्य।
५	४८१	नगरी (उदयपुर-राज्य)	दो वणिक् बंधु	कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वेकाशीत्युत्तरेष्वस्यां मालवपूर्वायां ४००-८०-१ का-र्तिकशुक्लपंचम्याम्।
६	४९३	मंदसौर (ग्वालियर-राज्य)	कुमारगुप्त (बंधुवर्मन्)	मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृतौ सेव्यधनस्तने, सहस्य मासशुक्लस्य प्रशस्तेऽह्नि त्रयोदशे।
७	५२४	मंदसौर (ग्वालियर-राज्य)	प्रभाकर	शरन्निशानाथकरामलायाः विख्यापके मालववंशकीर्तेः। शरद्गणे पंचशते व्यतीते, त्रिघातिताष्टाभ्यधिके क्रमेण।
९	५८९	मंदसौर (ग्वालियर-राज्य)	राज्याधिराज परमेश्वर यशोधर्मन्-विष्णुवर्धन	पंचसु शतेषु शरदां यातेष्वेकान्नतवतिसहितेषु, मालवगणस्थितिवशा-त्कालज्ञानाय लिखितेषु।

१. इस संबंध में १०३ अंक पड़ा हुआ तख्तेबाही का गोण्डोफारनिस का अभिलेख भी विचारणीय है। अनेक विद्वान इसे विक्रम-संवत् मानते हैं; परन्तु यह मत विवादास्पद है।

क्रमांक	संवत्	प्राप्ति-स्थान	शासक या दाता	संवत्-संबंधी पाठ
१६	७७०	चित्तौड़गढ़	मान	मालवेश-संवत्सर[1] ।
१७	७९४	धीनीकि[2] (काठियावाड़) ..	जैकदेव	विक्रमसंवत्सरशतेशु सप्तषु चतुर्नवत्यधिकेष्वंकतः। कार्त्तिकमासापरपक्षे अमावस्यायां आदित्यवारे ज्येष्ठानक्षत्रे रविग्रहणपर्वणि ।
१८	७९५	कणस्व (कोटा-राज्य) ..	शिवगण	संवत्सरशतैर्यातैः सपंचनवत्यर्गलैः सप्तभिर्मालवेशानाम् ।
२७	८९८	धौलपुर	चण्डमहासेन ..	वसुनवाष्टौवर्षागतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य वैशाखस्य सितायां रविवार-युतद्वितीयायां चन्द्रे रोहिणिसंयुक्ते लग्ने सिंहस्य शोभने योगे।
३७	९३६	ग्यारसपुर (ग्वालियर-राज्य) ..	..	मालवकालाच्छरदां षट्त्रिंशत्संयुतेष्वतीतेषु नवसु शतेषु मघाविह।
४८	९७३	विजापुर	राष्ट्रकूट विदग्धराज ..	रामगिरिनन्दकलिते विक्रमकाले गते तु शुचिमासे।

१. इसका मूल पाठ प्राप्त नहीं है। कर्नल टॉड के 'एनाल्स ऑफ राजस्थान' में उक्त पाठ का अनुवाद इस प्रकार दियागया है :—
"Seventy had elapsed beyond seven hundred years (Semvatisir) when the lord of the men, the king of Malwa, formed this saka.
इस पर डॉ० भाण्डारकर ने यह सम्भावना प्रकट की है कि इसके मूल पाठ में 'मालवेश' के संवत् का उल्लेख होगा।

२. इस ताम्रपत्र को डॉ० अल्टेकर ने जाली सिद्ध कर दिया है। एपीग्राफिया इण्डिका, भाग २६, पृ० १८९।

क्रम क	संवत्	प्राप्ति-स्थान	शासक या दाता	संवत्-संबंधी पाठ
६३	१००५	बोधगया	..	विक्रम-संवत्सर १००५ के मधुमास के शुक्लपक्ष की चतुर्थी शुक्रवार का उल्लेख है।
६७	१००८	आहार (उदयपुर-राज्य) ..	अल्लट	कार्तिक सितपंचम्यां अग्रटनाम्नासुसूत्रधारेण। प्रारब्धं देवगृहं कालेवसुशून्यदिकसंस्थे ।। दशदिग्विक्रमकाले वैशाखे शुद्धसप्तमी दिवसे। हरिरिह निवेशितोऽयं घटितप्रतिमो. वराहेण ।।
७२	१०१३	ओसिया (जोधपुर-राज्य) ..	.. .. ..	विक्रम-संवत्सर ११०३ फाल्गुण शुक्लपक्ष तृतीया।
८०	१०२८	एकलिंगजी (उदयपुर-राज्य) ..	नरवाहन ..	विक्रमादित्यभूभृतः। अष्टाविंशतिसंयुक्ते शते दशगुणे सति।
११७	१०८६	राधनपुर (बम्बई-प्रान्त) ..	भीमदेव	विक्रम-संवत् १०८६ कार्त्तिक शुदि १५।
१२३	१०९९	वसन्तगढ़ (सिरोही-राज्य) ..	पूर्णपाल	नवनवतिरिहासीद् विक्रमादित्यकाले जगति दशशतानामग्रतो यत्र पूर्णा प्रभवति नभमासे स्थानके चित्रभानोः ।।
१२८	११०३	तिलकवाड़ा (बड़ौदा-राज्य) ..	जसोराज-भोजदेव ..	वत्सरैर्विक्रमादित्यैः शतैरेकादशैस्तथा। त्र्युत्तरैर्मार्गमासेऽस्मिन् सोमे सोमस्य पर्वणि।

क्रमांक	संवत्	प्राप्ति-स्थान	शासक या दाता	संवत्-संबंधी पाठ
१३४	१११६	उदयपुर (ग्वालियर-राज्य) ..	उदयादित्य ..	एकादशशतवर्षाअङ्गतदधिकं षोडसंच विक्रमेद्रेसाम्। संवत् १११६ नवसतैकसीति शक गत शालिवाहिन च नृपाधीश शाके ९८१।
१३६	१११८	देवगढ़ (झांसी) ..	सती-प्रस्तर ..	विक्रम-संवत् १११८ ज्येष्ठ सु० मंगलवार।
१४१	११३१	नवसारी (बड़ौदा-राज्य) ..	कर्णराज एवं दुर्लभराज	श्रीविक्रमादित्योत्पादित संवत्सर शतेष्वेकादशसु एकत्रिंशदधिकेषु अत्रांकतोऽपि सं० ११३१ कार्त्तिक शुदि एकादशी पर्वणि।
१५५	११४८	सूनक (बड़ौदा-राज्य) ..	कर्णदेव त्रैलोक्यमल्ल	विक्रम-संवत् ११४८. वैशाख शुदि १५ सोमे। अद्य सोमग्रहणपर्वणि।
१५६	११५०	ग्वालियर	महिपालदेव ..	एकादशस्वतीतेषु संवत्सरशतेषु च। एकोनपंचाशति च गतेष्वब्देषु विक्रमात्॥ पंचाशे चाश्विने मासे कृष्णपक्षे अंकतोऽपि। ११५० आश्विनबहुलपंचम्याम्।
१६५	११५७	अर्थूणा (बाँसवाड़ा-राज्य) ..	चामुण्डराज ..	सप्तपंचाशदधिके सहस्रे च शतोत्तरे। चैत्रकृष्णद्वितीयायाम्।
१६९	११६१	ग्वालियर	महिपालदेव का उत्तराधिकारी	श्रीविक्रमार्कनृपकालातीतसंवत्सरणामेकषष्ट्यधिकायामेकादशशत्यां माघशुक्लषष्ठयाम्।
१७६	११६४	कद्माल (उदयपुर-राज्य) ..	विजयसिंह ..	श्रीविक्रमकालातीत संवत्सरशतेष्वेकादशसु चतुःषष्ट्यधिकेषु आषाढ़ मास अमावस्यां सूर्यग्रहणेऽअंकतोऽपि संवत् ११६४ वर्षे आषाढ़वदि १५।

क्रमांक	संवत्	प्राप्ति-स्थान	शासक या दाता	संवत्-संबंधी पाठ
१७९	११६६	अर्थूणा (बाँसवाड़ा-राज्य) ..	विजयराज ..	वर्षसहस्रे याते षट्षष्ठ्युत्तरशतेन संयुक्ते। विक्रमभानोः काल······· विक्रम-संवत् ११६६ वैशाख सुदि ३ सोमे।
२००	११७६	सेवाड़ी (जोधपुर-राज्य) ..	रत्नपाल ..	श्री विक्रमादित्योत्पादितातीतसंवत्सरशतेष्वेकादशसु षट्सप्तत्यधिकेषु ज्येष्ठमासबहुल-पक्षाष्टमी-गुरुवासरे। अंकतोऽपि संवत् ११७६ ज्येष्ठ वदि ८, गुरौ।
२३२	११९१	.. ..	यशोवर्मदेव ..	श्रीविक्रम-कालातीत-संवत्सरैकनवत्यधिकशतैकादशेषु कार्तिक शुदिअष्टम्याम्।
२४०	११९५	उज्जैन (ग्वालियर-राज्य) ..	जयसिंह	विक्रमनृप-कालातीत-संवत्सरशतैकादशसु पंचनवत्यधिकेशु। अंकतः संवत् ११९५ ज्येष्ठ-वदि १४ गुरौ।
२४१	११९५	भद्रेश्वर (कच्छ-राज्य) ..	जयसिंहदेव ..	विक्रम-संवत् ११९५ वर्षे आषाढ़ शुदि १० रबौ अस्यां संवत्सर-मास-पक्ष-दिवस-पूर्वायां तिथौ।
२४५	११९६	दोहद (जिला पंचमहाल बंबई)	जयसिंहदेव ..	श्रीनृप-विक्रम-संवत् ११९६।
२५०	११९८	किराड़ू (जोधपुर-राज्य) ..	जयसिंह-सिद्धराज तथा सोमेश्वर	अष्टनवतौ वर्षे विक्रम-भूपतेः।
२५२	११९९	झालरापाटन (झालावाड़-राज्य)	नरवर्मदेव तथा यशोवर्मदेव	विक्रमांक-संवत् ११९९ फाल्गुन शुदि····

सातवाहन और शक क्षत्रप

क्षहरात, कार्दमक और सातवाहन

जिस समय उज्जयिनी में गन्धर्व वंश अथवा गर्धभिल वंश राज्य कर रहा था, उसी समय प्रतिष्ठानपुर (पैठन) में सातवाहन वंश पुनः अपने पूर्ण गौरव पर प्रतिष्ठित हो गया था। उसकी भीषण टक्करें दक्षिण के क्षहरात कुल के शकों से हो रही थीं। क्षहरात कुल के शकों ने ई० पू० प्रथम शताब्दी में अवन्ति, दशपुर (मन्दसौर) और पश्चिमी मध्यभारत का अधिकांश भाग तथा उत्तर में बनास और चम्बल के संगम के पास का वर्त्तमान श्योपुर का प्रदेश भी अपने अधीन कर लिया था। इन्हें उखाड़कर गौतमीपुत्र शातकर्णि ने उनसे मध्यदेश का बहुत-सा भाग अपने अधिकार में कर लिया। उज्जयिनी को भी विक्रमादित्य से लेकर अवन्ति पर भी अधिकार जमा लिया। ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में गर्धभिलों के अतिरिक्त इन क्षहरातों का और उनको निरवशेष करनेवाले सातवाहनों का इतिहास इस प्रदेश के राजनैतिक इतिहास को पूरा करता है।

इसके पश्चात् सातवाहनों का भाग्य-नक्षत्र मन्द पड़ने लगा। उज्जयिनी में कार्दमक वंश के शक क्षत्रपों का उदय हुआ। यह वंश पूर्णतः भारतीय परम्पराओं में ढल गया और सातवाहनों से विवाह सम्बन्ध भी स्थापित कर लिये; परन्तु उनके द्वारा सातवाहन वंश का गौरव क्षीण हुआ।

क्षत्रप

प्राचीन ईरानी साम्राज्य के प्रान्तीय शासकों को "क्षत्रपावन" कहा जाता था। जब शकों ने अपने साम्राज्य का विस्तार किया तो वे अपने प्रान्तीय शासकों को क्षत्रप कहते थे। भारत के विभिन्न भागों में जो शक क्षत्रपों के राज्य स्थापित हुए उनका केन्द्रीय पर्थिया अथवा बाख्त्री के शकों से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था। वे उनसे हार कर भारत की ओर आए थे और अपनी कुशल इसी में समझते थे कि उस प्रबल शक्ति के प्रतिनिधि के रूप में ही शासन करें। परन्तु व्यवहार में वे सर्वथा स्वतंत्र शासक थे। भारत के अनेक शक राजा अपने आपको महाक्षत्रप लिखते थे और अपने युवराज को जो भारतीय कुमारामात्य के समान शासनतंत्र में सहायता करता था, उसे क्षत्रप कहते थे।

मथुरा के क्षत्रप

हम पहले उल्लेख कर चुके हैं कि बाख्त्री से यूनानियों के राज्य का उन्मूलन कर शकों के समूह पर्थिया के पह्लवों से टकराए थे, उनसे हारकर फिर भारत की ओर मुड़े थे और सिन्ध में उनकी जड़ें जम गयी थीं। ईसवी प्रथम शताब्दी में मध्यदेश के आस पास हम

इन शक शाहीशाहानुशाहियों के क्षत्रपों अथवा महाक्षत्रपों को सौराष्ट्र और महाराष्ट्र में जमा पाते हैं तथा उनकी एक शाखा द्वारा मथुरा पर आधिपत्य कर लेने का प्रमाण मिलता है। मथुरा के क्षत्रपों ने इस प्रदेश को संभवतः अन्तिम शुंगों में से किसी से ले लिया होगा। युगपुराण में उल्लेख है कि अग्निमित्र के पश्चात्[1] कभी शकों ने आक्रमण किया था। संभव है शकों की यह मथुरा की शाखा हो; परन्तु इस विषय में कुछ निश्चित कह सकना संभव नहीं है। इनके प्रारम्भिक राजा हगान तथा हगमश थे, जिनने कुछ समय तक साथ-साथ राज्य किया था ऐसा उनके संयुक्त सिक्कों से ज्ञात होता है। संभव है वे भाई-भाई या पिता-पुत्र हों। हगमश ने कुछ दिन अकेले भी राज्य किया। इसका उत्तराधिकारी राजुल (रज्जुबुल) हुआ। इसके कुछ अभिलेख भी मिले हैं, जिनमें इसे महाक्षत्रप कहा गया है। उसका पुत्र शोड़ास (सुदास) उसके समय में ही राजकाज देखता था और उसके बाद महाक्षत्रप बना। इनमें से कुछ बौद्ध और कुछ जैन धर्मों को प्रश्रय देते थे। सुदास का राज्यकाल ईसवी सन के पूर्व ही समाप्त हो गया। उसके पश्चात् मथुरा के क्षत्रपों के अस्तित्व का पता नहीं लगता। इनकी मध्यदेश की हलचलों की भी कोई सूचना नहीं मिलती। संभव है ये दक्षिण के क्षहरात कुल को सहायता पहुँचाते रहे हों; क्योंकि क्षहरात कुल के नहपान के जामाता उषवदात को हम बनास नदी और पुष्कर तक धावा मारते देखते हैं।

क्षहरात कुल

यह स्पष्ट नहीं है कि कालकाचार्य जिन शकों को उज्जयिनी पर लाए उनका शाहानुशाह कौन था और उनका शाह या स्थानीय क्षत्रप कौन था। जैन अनुश्रुति यह अवश्य कहती है कि गर्दभिल के पीछे और विक्रमादित्य के पहले उज्जयिनी पर नहवाण, नहवाहण अथवा नरवाह ने राज्य किया। पुराणों में भी शुंगों के पश्चात् एक नखपाण के राज्य का उल्लेख है। श्री काशीप्रसाद जायसवाल इस नहवाण, नखपाण तथा नखवाण को क्षहरात वंश के नहपान से अभिन्न मानते हैं।

नहपान और उषवदात (ऋषभदत्त)

नहपान के पूर्वजों का इतिहास कुछ ज्ञात नहीं है, केवल यह सूचना मिलती है कि महाराष्ट्र के इस क्षहरात (खखरात) कुल का सर्वप्रथम ज्ञात क्षत्रप भूमक था। इसके सिक्के सौराष्ट्र और महाराष्ट्र में मिलते हैं और उनसे ही इसके अधिकार क्षेत्र का अनुमान लगाया जाता है। इसी भूमक के पश्चात् इस क्षहरात कुल में नहपान हुआ था। नहपान के सम्बन्ध में उसके समय के शिलालेखों द्वारा अनेक सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। इसका जामाता उषवदात इसके अधीन शासन-कार्य कर रहा था। नाशिक गुहा अभिलेख में उषवदात की पत्नी का नाम दक्षमित्रा लिखा है।

नहपान की राजधानी भृगुकच्छ में थी, ऐसा एक जैन अनुश्रुति से ज्ञात होता है। उसके अनुसार[2] भरुयच्छ (भृगुकच्छ) नगर का णहवाण नामक राजा कोषसमृद्ध (धनी)

---

१. विक्रमःस्मृति-ग्रंथ, पृष्ठ २१।

२. जयचंद्र विद्यालंकार: भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृष्ठ ८६४।

था और पइठाण (प्रतिष्ठान) का राजा सातवाहन उसी प्रकार बलसमृद्ध (सैन्यबल में प्रबल) था। सातवाहन ने नहवाण की पुरी पर चढ़ाई की; किन्तु दो बरस घेरे रहने के पश्चात् भी उसे निष्फल लौटना पड़ा। सातवाहन ने युक्ति से काम लिया। उसने अपने एक अमात्य को निकाल देने का बहाना किया। यह अमात्य नहवाण का विश्वास-भाजन बन गया और उसका धन अनेक दानकर्मों में व्यय करा दिया। नहवाण का धनबल समाप्त हो गया और सातवाहन ने फिर भृगुकच्छ पर चढ़ाई की। इस बार नहवाण मारा गया। प्राप्त शिलालेख नहवाण के जामाता और कुमारामात्य उषवदात के अनेक दानों का उल्लेख भी करते हैं। इस अनुश्रुति के अनुसार नहपान की राजधानी भृगुकच्छ मानी जा सकती है।

उपवदात के अभिलेखों से नहपान की राज्यसीमा का अनुमान भी लगाया जा सकता है। नाशिक के पास के गुहा भवनों में उपवदात के अभिलेखों[1] में अनेक स्थानों का उल्लेख आया है। एक लेख[2] के अनुसार "राजा क्षहरात क्षत्रप नहपान के जामाता दीनीक के पुत्र उपवदात" (संस्कृत रूप ऋषभदत्त) ने वार्णासा नदी के किनारे सुवर्णदान किया, घाट बनवाए, ब्राह्मणों और देवताओं को सोलह ग्राम दान में दिये, एक वर्ष तक लाखों ब्राह्मणों को भोजन कराया, पुण्यतीर्थ प्रभास में दस ब्राह्मण कन्याओं का विवाह कराया; भरुकच्छ, दशपुर (मन्दसौर), गोवर्द्धन तथा शूर्पारक में चतुःशाल, सराएँ, बाग, तालाब, कुए, बावड़ियाँ बनवाईं; इबा, पारादा, दमण, तापी, करबेणा तथा दाहनुका नामक नदियों पर निःशुल्क नदी उतरने की व्यवस्था की; इन नदियों के दोनों ओर भवन तथा प्याऊ बनवाईं; पोदितकावड़, गोवर्द्धन, सुवर्णमुख, शूर्पारक तथा रामतीर्थ पर चरकों (देशाटन कर ज्ञान अर्जन करनेवाले विद्वानों) की परिषदों को बत्तीसहजार नारियल के पौदे दिये और त्रिरश्मि नामक पर्वत पर नानंगल ग्राम में यह लेण (जिसमें यह अभिलेख खुदा है) बनवाई।

इस अभिलेख की वार्णासा नदी चम्बल की सहायक नदी बनास[3] है, जिसके संगम पर आज भी रामेश्वर तीर्थ उपस्थित है, जो इस अभिलेख का रामतीर्थ है। दशपुर मन्दसौर है।

नासिक गुहा के एक खण्डित लेख में कंकापुर, उज्जैनि, वार्णासा नदी पर किये गये ऋषभदत्त (उपवदात) के दानों का उल्लेख है, जहाँ एक लाख ब्राह्मणों को भोजन दिया जाता था तथा वार्णासा नदी पर तीन लाख गाएँ ब्राह्मणों को देने का उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है उज्जयिनी भी नहपान के अधिकार में थी और उसका राज्य काठियावाड़, गुजरात, कोंकण, पश्चिमी महाराष्ट्र तथा अवन्ति-आकर तथा वर्तमान श्योपुर तक फैला हुआ था।

---

१. डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार : सिलेक्ट इन्सक्रिप्शन, पृष्ठ १५७–१६४।

२. वही, पृष्ठ १६०।

३. दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृष्ठ १८१।

मालवों का पराभव

चम्बल और बनास के आसपास के मालवों के निवास का हम उल्लेख कर चुके हैं। इसकी पुष्टि उपवदात के नाशिक के अभिलेख से भी होती है। वह लिखता है, "भट्टारक (स्वामी नहपान) की आज्ञा से वर्षाऋतु में मैंने मालवों पर आक्रमण किया। उनके अवरोध से उत्तमभाद्र को छुड़ाया। मेरे आक्रमण के प्रनाद (हल्ले) मात्र से मालव भाग गये" और इसके पश्चात् वह पुष्कर गया और वहाँ स्नान कर तीन हजार गौएँ और गाँव दान में दिये[1]।

ज्ञात होता है कि गर्धभिलों को उज्जयिनी में समाप्त कर नहपान ने मालवों को भी प्रताड़ित किया। इस प्रकार उच्छिन्न होकर मालवों ने गर्धभिल के राजकुमार विक्रमादित्य को सहयोग देकर क्षहरातों का राज्य उज्जयिनी से समाप्त कर दिया और इसी अभियान में वे दशपुर, विदिशा और अवन्ति में फैल गये।

क्षहरातों का अन्त

श्री जयचंद्र विद्यालंकार नहपान का राज्यकाल ई० पू० ८२ से ई० पू० ७७ तक मानते हैं[2]। संभवतः ई० पू० ७७ के पहले ही नहपान गर्धभिल से उज्जयिनी जीत चुका होगा। उसकी मालवगण और उज्जयिनी की विजय के कारण गौतमीपुत्र शातकर्णि उससे शंकित हुआ। उसने नहपान पर भृगुकच्छ में आक्रमण कर उसे समाप्त कर दिया।

ऋषभदत्त (उपवदात) ने लाखों ब्राह्मणों को भोजन कराकर उन्हें गाएँ और स्वर्ण देकर नहपान के उन अत्याचारों की स्मृति को जनस्मृति से हटाने का प्रयास किया जिनका उल्लेख युगपुराण में है। परन्तु मालवगण और विक्रमादित्य का स्वातंत्र्य-प्रेम मिट न सका होगा और उनके वंशजों का राजा उज्जयिनी से निर्मूल किया गया। उज्जयिनी के विक्रमादित्य तथा प्रतिष्ठानपुर के शातकर्णि में ठन गयी थी। इस सघर्ष के परिणामस्वरूप आगे अवन्ति प्रदेश सातवाहनों के अधिकार में चला गया। नहपान के विस्तृत साम्राज्य को अपने अधीन करनेवाला सातवाहन गौतमीपुत्र शातकर्णि था।

विन्ध्य का स्वामी गौतमीपुत्र शातकर्णि

सातवाहन राजा शातकर्णि (प्रथम) की रानी महादेवी नागा नयनिका और उसके पुत्र वेदश्री तथा शक्तिश्री[3] के पश्चात् सातवाहन वंश के गौरव की स्थापना महादेवी गौतमी बालश्री के "सूर्य की किरणों से प्रफुल्लित कमल के समान निर्मल मुखमंडलवाले"[4] "पूर्ण चंद्र-मंडल के सदृश श्रीसंपन्न तथा प्रियदर्शन मुखवाले, श्रेष्ठ हाथी के विक्रम-तुल्य विक्रमवाले, नागराज शेष के फणों के समान शक्तिसंपन्न, विशाल, दीर्घ तथा दर्शनीय भुजाओंवाले" श्री गौतमीपुत्र शातकर्णि ने की थी।

---

१. जयचन्द्र विद्यालंकार: भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृष्ठ ८४५।

२. वही, पृष्ठ ८४८।

३. पीछे पृष्ठ ३८४।

४. नाशिक शिलालेख, नागरी प्रचारणी पत्रिका, संवत २०००, पृष्ठ १३४।

गौतमीपुत्र ने अपनी अविपन्नमाता की शुश्रूषा की थी और उसकी प्रेमविह्वल माता गौतमी बालश्री ने त्रिरश्मि पर्वत के शिखर पर कैलाश के समान ही सुन्दर लेण बनवाकर और उसमें अपने इस प्रतापी पुत्र की यशोगाथा अंकित कराकर अमर करदी। इस प्रशस्ति में लिखा है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि ने क्षहरात कुल का मूलोच्छेदन किया और सातवाहन वंश के यश का प्रतिष्ठापन किया। यह उल्लेख गौतमी बालश्री की ओर से मिथ्या प्रशंसा नहीं है। नाशिक जिले के जोगलथेंबी नामक ग्राम में नहपान के १३,२५० सिक्कों का ढेर मिला है, उनमें से लगभग दो तिहाई पर गौतमीपुत्र की छाप दुबारा लगी हुई है। इस युग में किसी नरेश को उध्वस्त करने के पश्चात् उसकी प्रचलित मुद्राओं पर विजेता अपना चिह्न भी अंकित कर देता था। नहपान के खजाने की इन मुद्राओं पर उसका वध करने के पश्चात् ही शातकर्णि ने अपना चिह्न अंकित कराया होगा। गौतमीपुत्र ने भृगुकच्छ में जाकर ही नहपान का वध किया था, इसके संबंध में जैन अनुश्रुति का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। जिस त्रिरश्मिगिरि पर नहपान के जामाता ऋषभदत्त (उपवदात) ने अपनी दानों और विजयों की गाथा उत्कीर्ण कराई थी, उसी त्रिरश्मि पर्वत पर गौतमी बालश्री ने यह प्रशस्ति भी अंकित करादी।

इस प्रशस्ति में गौतमीपुत्र शातकर्णि के अधिकार क्षेत्र का उल्लेख है। इसके अनुसार असिक, अश्मक, मुलक (अवन्ति जनपद के दक्षिण के प्रदेश), सुराष्ट्र (काठियावाड़), कुकुर (गुजरात का पूर्वी या दक्षिणी भाग), अपरांत (उत्तरी कोंकण), अनूप (माहिष्मती का प्रदेश), विदर्भ (बरार), आकर (पूर्वी मालवा)[1] और अवन्ति (उज्जयिनी का प्रदेश) का राजा कहा है। उसके अधिकार में विंध्य, ऋक्षवत, पारियात्र, सह्य, कृष्णगिरि, मच, श्रीस्तन, मलय, महेंद्र, श्रेष्ठगिरि और चकोर पर्वतों का क्षेत्र कहा गया है। इन पर्वतों में विंध्य, ऋक्षवत, पारियात्र, मलय और महेंद्र विंध्य कुल के पर्वत हैं[2]। सह्य भी इसी कुल का सह्याद्रि है। कृष्णगिरि बम्बई के टाना जिले की पहाड़ी है। श्रीस्तन की पहचान कृष्णानदी के ऊपर कर्नल जिले की पहाड़ी से की गयी है। मच, सेतगिरि और चकोर की पहचान अभी तक नहीं हो सकी है।

इस प्रशस्ति में गौतमीपुत्र को एक अद्वितीय ब्राह्मण, पराक्रम में परशुराम, केशव, अर्जुन और भीमसेन के तुल्य लिखा गया है तथा क्षत्रियों के दर्प और अभिमान को चूर करनेवाला और शक, यवन तथा पह्लवों का संहार करनेवाला लिखा गया है। सभी मडलों के द्वारा पूजितचरण, अनेक समरों से शत्रुओं के समूह का विजेता अपराजित पताकावाला, अद्वितीय धनुर्धारी और अद्वितीय शूर कहा गया है। गौतमीपुत्र शातकर्णि के रूप में पुष्यमित्र शुंग के पराक्रम और तेज एक बार पुनः अवतरित हुए थे। पुष्यमित्र ने अपने आपको केवल सेनापति कहा है; परन्तु गौतमीपुत्र ने अपने लिए राज-राज विरुद का प्रयोग किया। शाहीशाहानुशाही महानक्षत्रप जैसे शकों के विरुद की टक्कर का शब्द संभवतः इस समय आवश्यक था। शकपह्लव एक ओर तो भारत में विदेशी सत्ता जमाना चाहते थे और दूसरी ओर वे क्षत्रियों की पंक्ति में बैठ जाना चाहते थे। गौतमीपुत्र

१—२. महेंद्रो, मलयः, सह्यः, शक्तिमान्, ऋक्षवानपि।
विंध्यश्च, पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः॥

ने इसे संभवतः रोकने का प्रयास किया। उसकी प्रशस्ति में लिखा है कि उसने ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चारों वर्णों में वर्णसंकर प्रवृत्ति का प्रतिरोध कर दिया था अर्थात् अपने राज्य में यह निषेध किया था कि शकों के साथ विवाह संबंध न हो सकेंगे; परन्तु यह निषेध संभवतः शातकर्णि के साथ ही समाप्त हो गया; क्योंकि हम देखते हैं कि आगे शक कार्दमक कुल के शकक्षत्रप रुद्रदामन की राजकन्या का विवाह इन्हीं के वंशधर पुलमावि (द्वितीय) के साथ हुआ।

यद्यपि इतिहास इस विषय में मौन है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि ने अवंति किस प्रकार ली; किन्तु अनुश्रुति में इसके संकेत मिलते हैं। विक्रमादित्य और शातकर्णि के विग्रह की स्मृति सिंहासनद्वात्रिंशतिका में सुरक्षित है और उसका परिणाम भी। संभवतः विक्रमादित्य के वंशजों का ही अवंति मंडल का राज्य और उसकी राजसभा का सांस्कृतिक वैभव इसे प्राप्त हुआ।

शातकर्णि ने विक्रमादित्य के दानों की परम्परा को भी अपनाया था। उसने लिखा है कि उसके हाथ निरंतर अभयोदक दान देते रहने के कारण गीले ही रहते थे। अविपन्ना माता गौतमी बालश्री के इस अभिलेख में वर्णित शातकर्णि के गुणों की प्रखर आभा से विमोहित होकर और अनुश्रुति तथा जनश्रुति में उसका साम्य प्रथितयश विक्रमादित्य से पाकर ही संभवतः श्री जायसवाल तथा जयचंद्र विद्यालंकार ने इस एक शूर एक ब्राह्मण गौतमीपुत्र को ही संवत्-प्रवर्त्तक विक्रमादित्य से अभिन्न माना है। परन्तु अनुश्रुति इस दक्षिणपथेश्वर शातकर्णि, अनुश्रुतियों के शालिवाहन को विक्रमादित्य से भिन्न मानने में त्रुटि नहीं करती। इन अनश्रुतियों का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। जनश्रुति भी 'सारवाहन' और 'परदुखभंजन विक्रमादित्य' में स्पष्ट भेद मानती है[1]। यद्यपि जनश्रुति शालिवाहन के हाथ विक्रमादित्य का वध कराना अवाञ्छनीय समझती है और इस प्रतापी शालिवाहन को परमप्रतापी विक्रमादित्य का पुत्र घोषित करती है। उज्जयिनी के विक्रमादित्य और प्रतिष्ठान के शालिवाहन का अनुश्रुति और जनश्रुति में स्पष्ट विभेद माना गया है। शातकर्णि को उसकी माता की इस प्रशस्ति ने पत्थर की लकीर खींचकर अमर किया है; परन्तु विक्रम की इस प्रकार की प्रशस्ति नहीं मिली, उसने अपनी कीर्त्ति-कथा को केवल जनमानस पर अंकित किया और वह अंकन भी अत्यंत स्पष्ट है। दशार्ण में निवास करनेवाली विक्रमादित्य की दुहिता साध्वी वसुन्धरा की स्मृति काशी के महाराजाधिराज गोविन्दचंद्र के महासांधिविग्रहिक लक्ष्मीधर ने कृत्यकल्पतरु में सुरक्षित रखी है, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।

गौतमीपुत्र शातकर्णि के पश्चात् उसका पुत्र पुलमावि राज्यारूढ़ हुआ। वशिष्ठीपुत्र पुलमावि का पुराणों में पटुमानि, पुलुमावि तथा पुलोमा नामों से उल्लेख मिलता है। इसका राज्यकाल छत्तीस वर्ष बतलाया गया है। गौतमी बालश्री का नाशिक का अभिलेख इसी के राज्यकाल में उत्कीर्ण कराया गया। कार्ले, कन्हेरी और अमरावती में भी इसके राज्यकाल के अभिलेख मिले हैं। उज्जयिनी चिह्नयुक्त सिक्के कृष्णा, गोदावरी और चाँदा तथा चोलमंडल तक प्राप्त हुए हैं। ज्ञात होता है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि के राज्य

१. शांतिचंद्र द्विवेदी: लोककथा में विक्रमादित्य, विक्रम-स्मृति-ग्रंथ, पृष्ठ ११९।

का इसके समय में और अधिक विस्तार ही हुआ। इसके समय में बेलारी प्रदेश को सातवाहनिहार तथा आन्ध्रपथ कहा गया।

गौतमी बालश्री के अभिलेख में सातवाहनों के वाहनों का तीन समुद्रों के जल का पान करने का उल्लेख है। दक्षिण भारत के इन तीनों समुद्रों पर वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावि का अधिकार और भी दृढ़ हो गया ऐसा ज्ञात होता है। चोलमण्डल तट से वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावि के जो सिक्के मिले हैं उन पर दो मस्तूलवाले जहाज का चित्र बना है, जो उसकी नौ सेना का प्रतीक है[1]। वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावि ने अपना राज्य मगध तक बढ़ा लिया था, ऐसी कुछ इतिहासज्ञों की स्थापना है।

इसी वंश में आगे श्री जायसवाल के अनुसार पहली शताब्दी ईसवी के प्रारंभ में सुप्रसिद्ध सातवाहन राजा हाल हुआ। हाल ने ही प्राकृत साहित्य के प्रसिद्ध मुक्तकोष गाथा सप्तशती की रचना की। बृहत्कथा के लेखक गुणाढ्य का आश्रयदाता सातवाहन भी ईसवी प्रथम शताब्दी के अन्तिम भाग में हुआ था।

ईसवी दूसरी शताब्दी के प्रारंभ में उज्जयिनी में कार्दमक शक क्षत्रपों का उदय हुआ। रुद्रदामन (ईसवी सन १३०–१५०) ने अपनी राजकुमारी का विवाह सातवाहन वंश के इक्कीसवें राजा गौतमीपुत्र पुलमावि से किया। इस विवाह-सम्बन्ध के होते हुए भी रुद्रदामन ने सातवाहनों का बहुत-सा प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया। गौतमीपुत्र पुलुमावि संभवतः विदिशा पर अधिकार रख सका था; क्योंकि भेलसा में उसकी आकृति-युक्त स्वर्णमुद्रा प्राप्त हुई है[2]। परन्तु वह नदी में प्राप्त हुई है और संभावना यह भी हो सकती है कि बहकर आई हो।

सातवाहन वंश का अन्तिम प्रसिद्ध राजा श्रीयज्ञ शातकर्णि था। यह बहुत प्रबल राजा था और उसने अपने वंश के गौरव को पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। थाना और नाशिक के जिलों में उसके अभिलेख मिलते हैं। उसके सिक्के गुजरात, काठियावाड़, पूर्वी मालवा, अपरान्त, मध्यप्रान्त एवं कृष्णा जिलों में प्राप्त हुए हैं, जिनसे उसके राज्य की विस्तृत सीमा का पता चलता है। उसकी साम्राज्य सीमा में समस्त महाराष्ट्र और आन्ध्र प्रदेश सम्मिलित हैं। उसने गुजरात और सौराष्ट्र को भी शकों से छीन लिया। श्रीयज्ञ के समय तक सातवाहनों की जलशक्ति भी अत्यन्त प्रबल थी, ऐसा उसके सिक्कों से प्रतीत होता है, जिन पर जहाजों के चिह्न अंकित हैं। रेप्सन के अनुसार चोलमंडल में मद्रास और कडुलोर के बीच उसके जहाज-छाप के सिक्के मिलते हैं[3]।

श्रीयज्ञ शातकर्णि के पश्चात् सातवाहनों का प्रभुत्व कम होता गया। पुलुमावि (चतुर्थ) (ई० सन २३१–२३८) के साथ इस परम प्रतापी सातवाहन वंश का अन्त हो गया।

---

१. जयचन्द्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृष्ठ ८७९।

२. डॉ० हरिहर त्रिवेदी : दि जर्नल ऑफ दि न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, १९५३।

३. डॉ० मोतीचन्द्र : सार्थवाह, पृष्ठ ९९।

सातवाहन वंश के राजाओं के अनुक्रम तथा समय के सम्बन्ध में इतिहासज्ञों में बहुत मतभेद है। पुराणों में एक ही नाम के अनेक सातवाहन राजाओं के उल्लेख मिलते हैं। यहाँ हमने श्री काशीप्रसाद जायसवाल द्वारा निर्धारित अनुक्रम तथा तिथिक्रम को ग्रहण किया है। श्री जायसवाल की सूची निम्नप्रकार है:—

क्रमांक	नाम	राज्य वर्ष	समय	
१.	सिमुक सातवाहन	२३	२०५-१८२	(ई० पू०)
२.	कृष्ण	१०	१८२-१७२	"
३.	शातकर्णि (१)	१०	१७२-१६२	"
४.	पूर्णोत्संग	१८	१६२-१४४	"
५.	स्कन्धस्तम्भि	१८	१४४-१२६	"
६.	लम्बोदर	१८	१२६-११८	"
७.	मेघस्वाति	१८	११८-१००	"
८.	गौतमीपुत्र शातकर्णि (२)	५६	१००-४४	"
९.	वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावि (१) ..	३६	४४-८	"
१०.	कृष्ण (२) गौरकृष्ण	२५	८ ई० पू०-१७	ईसवी
११.	हाल	५	१७-२१	"
१२.	पत्तलक	५	२१-२६	"
१३.	पुरिकसेन	२१	२६-४७	"
१४.	स्वाति (साति)	१८	४७-६५	"
१५.	स्कन्दस्वाति	७	६५-७२	"
१६.	महेन्द्र शातकर्णि	३	७२-७५	"
१७.	कुंतल शातकर्णि	८	७५-८३	"
१८.	सुन्दर (शातकर्णि)	१	८३-८४	"
१९.	वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावि (२) ..	४	८४-८८	"
२०.	(भाठ०) शिवस्वामी (१) ..	२८	८८-११६	"
२१.	गौतमीपुत्र पुलुमावि (३) ..	२८	११६-१४४	"
२२.	वाशिष्ठीपुत्र चतरवटु शातकर्णि ..	१३	१४४-१५७	"
२३.	गौतमीपुत्र श्रीयज्ञ शातकर्णि ..	२९	१५७-१८६	"
२४.	शातकर्णि (३)	२९	१८६-२१५	"
२५.	वाशिष्ठीपुत्र शिवश्री (२)	७	२१५-२२२	"
२६.	शिवस्कन्द	०	२२२	"
२७.	विजय	६	२२२-२२८	"
२८.	वाशिष्ठीपुत्र चंद्रश्री शातकर्णि.. ..	३	२२८-२३१	"
२९.	पुलुमावि (४)	७	२३१-२३८	"

अवंति आकर के सातवाहन राजाओं के अधिकार को चुनौती देनेवाले कार्दमक शक क्षत्रपों का उदय और सातवाहनों के साथ ही उनका नागों तथा वाकाटकों के साम्राज्य में विलय का इतिहास हम आगे लिखेंगे।

उज्जयिनी के कार्दमक शक क्षत्रप

सातवाहन वंश के पिछले राजाओं का जिस शक क्षत्रप वंश से संघर्ष चला था वह उज्जयिनी का कार्दमक वंश था। अपनी प्रारम्भिक पराजयों के पश्चात् यह वंश भारत के सभी शक क्षत्रपों में अधिक प्रभावशाली तथा गौरवशाली हुआ। इस वंश के राज्य की स्थापना जामोतिक अथवा यसोमतिक के पुत्र चष्टन महाक्षत्रप ने की थी। संभावना यह बतलाई जाती है कि उज्जयिनी में राज्य स्थापित करने के पूर्व चष्टन कुषाणों के अधीन सिन्धु में कहीं राज्य कर रहा था और उनके द्वारा ही वह दक्षिण-पश्चिम भारत का क्षत्रप नियुक्त किया गया। ई० सन १३० के पूर्व चष्टन उज्जयिनी का महाक्षत्रप बना[1]। उसने अपने पुत्र जयदामन को अपने अधीन क्षत्रप बनाया; परन्तु दिखता यह है कि जयदामन अधिक समय तक जीवित न रहा और उसका पुत्र रुद्रदामन (प्रथम) चष्टन का क्षत्रप बना। अन्धौ के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि ईसवी सन १३०-३१ में राजा चष्टन अपने पौत्र द्रदामन के साथ राज्य कर रहा था।

रुद्रदामन

सन १३०-३१ के आसपास ही रुद्रदामन महाक्षत्रप हुआ। जूनागढ़ प्रशस्ति के अनुसार सब जातियों ने मिलकर उसे अपना स्वामी या रक्षक नियुक्त किया था। उसने संभवतः सबसे पहले सातवाहन राज्य की ओर ध्यान दिया। उसने उनके बहुत से क्षेत्र को जीत लिया।

कान्हेरी लेण के एक खण्डित अभिलेख से ज्ञात होता है कि वाशिष्ठी पुत्र श्री शातकर्णि की देवी (रानी) कार्दमक राजाओं के वंश में उत्पन्न महाक्षत्रप रुद्रदामन की पुत्री थी। संभवतः जायसवालजी की सूची का २२ वाँ राजा वाशिष्ठीपुत्र चतरवटु शातकर्णि रुद्रदामन का जामाता था। इसे खुले युद्ध में दो बार हराकर और उसके राज्य का बहुत-सा भाग छीनकर ही रुद्रदामन ने उसे अपना जामाता बनाया था। गौतमीपुत्र शातकर्णि ने इस प्रकार के विवाहों पर जो प्रतिबन्ध लगाया था, वह तलवार के जोर से तोड़ा जा सका। रुद्रदामन ने लिखा कि दक्षिणापथ के स्वामी शातकर्णि को दो बार खुले युद्ध में हराकर भी 'निकट सम्बन्ध के कारण" उसे उखाड़ा नहीं।

रुद्रदामन ने युगधर्म को पहचाना था। वह समझ गया था कि भारत में विदेशी बनकर शासन कर सकना संभव नहीं है। उसका एक प्रयास तो था सातवाहन से विवाह

---

१. श्री एन० आर० अड़वानी के संग्रह से डॉ० हरिहर त्रिवेदी ने चष्टन का एक चाँदी का सिक्का प्रकाशित किया है, जिसमें ब्राह्मीलिपि में इसका नाम 'राजा महाक्षत्रप घ्सामोतिक पुत्र चष्टन का' (सिक्का) लिखा है। ज्ञात होता है रुद्रदामन के पूर्व चष्टन ने ही इस प्रदेश की संस्कृति को अपना लिया था जैसा कि इस सिक्के पर प्रयुक्त ब्राह्मीलिपि से प्रकट है। अन्य शक राजा खरोष्ठी को अपनाए हुए थे।

सम्बन्ध का और दूसरा प्रयास शुंगों के समय में हुए संस्कृत भाषा के पुनरुत्थान को अपनाने में दिखाई दिया। उसने जूनागढ़ में गिरनार के पास सुदर्शन झील की मरम्मत कराकर अशोक के १४ शिलालेखों के नीचे ही अत्यन्त ओजस्वी संस्कृत में अपनी प्रशस्ति उत्कीर्ण कराई। यह सम्भवतः प्रथम लम्बा शिलालेख है, जो संस्कृत में मिला है। अशोक की अहिंसा और राजधर्म की प्रतिष्ठा का समन्वय भी हमें इस प्रशस्ति में मिलता है। रुद्रदामन लिखता है कि उसने युद्ध के अतिरिक्त मरते दम तक कभी पुरुष का वध न करने की प्रतिज्ञा ली थी और उसे पूरा किया था। यह प्रतिज्ञा अभिषेक के समय ली गयी होगी; क्योंकि उसे सब वर्णों ने रक्षण के लिए वरण किया था। शकों के राजाओं के अभिषेकहीन होने की पुराणों को बहुत शिकायत है। रुद्रदामन ने उसका अपवाद प्रस्तुत किया। जनपदों, नगर निगमों और जानपदजनों की उसने पुनः प्रतिष्ठा की तथा मतिसचिवों और धर्मसचिवों की मंत्रणा के आगे झुकना भी सीख लिया था। रुद्रदामन का यह शिलालेख इस युग के व्यापक सिद्धान्तों के प्रभाव का प्रतीक है।

जूनागढ़ प्रशस्ति में रुद्रदामन के राज्य की सीमाएँ भी दी गयी हैं। उसमें आकर, अवन्ति, अनूप, नीवृत, आनर्त, सुराष्ट्र, श्वभ्र (साबरमती नदी का कांठा) मरु, कच्छ, सिंधु, सौवीर, कुकुर, अपरान्त आदि सम्मिलित थे।

इस प्रशस्ति में रुद्रदामन की दो विजयों का उल्लेख है। एक तो उसके निकट सम्बन्धी शातकर्णि के विरुद्ध और दूसरी यौधेयगण के विरुद्ध। यौधेयों के विषय में इस प्रशस्ति में लिखा है कि सब क्षत्रियों में प्रकट की गयी अपनी वीर पदवी के कारण यौधेय बहुत अभिमानी हो गये थे, अर्थात् उस समय के क्षत्रिय यौधेयों की धाक मानते थे और वे किसी के भी काबू में न आते थे। रुद्रदामन ने उन्हें जबरदस्ती उखाड़ फेंका।

रुद्रदामन का एक बहुत बड़ा काम आनर्त और सुराष्ट्र के पालन के लिए सुदर्शन झील का बनवाना है। इस प्रशस्ति में इस झील का इतिहास दिया हुआ है। इसे मौर्य राजा चन्द्रगुप्त के राष्ट्रिय (प्रान्तिक शासक) वैश्य पुष्यगुप्त ने बनवाया था। अशोक मौर्य के प्रान्तीय शासक यवन तुषास्प ने उसमें नहरें बनवाईं। उस झील में "बादल के बहुत बरसने से पृथ्वी के एक समुद्र की तरह हो जाने पर ऊर्जयत् (नामक) पहाड़ से सुवर्ण-सिकता, पलाशिनी आदि नदियों के बहुत ही बढ़े हुए वेगों से सेतु अनुरूप प्रतिकार किये जाने पर भी, पहाड़ के शिखरों, वृक्षों, अट्टालिकाओं, उपतल्पों (ऊपरी मंजिलों) दरवाजों तथा शरण लेने को बनवाए हुए ऊँचे स्थानों का विध्वंस कर देनेवाले युगनिधन सदृश परम घोर-वेग वायु द्वारा मथे हुए पानी से फेंके गये और जर्जरित किये गये पत्थरों, पेड़ों, झाड़ियों, लताओं के फेंके जाने से ठीक नदी की तलेटी तक उखड़ गया था"। इसमें "बीस ऊपर चार सौ हाथ लम्बी, इतनी ही चौड़ी तथा पचहत्तर हाथ गहरी दरार हो गयी, सब पानी निकल गया, और यह "सुदर्शन" नामा झील पानी निकल जाने से मरु और बाँगर के समान दुर्दर्शन हो गयी"। रुद्रदामन ने इसे पुनः बनवाना चाहा; परन्तु दरार के बड़े आकार को देखते हुए मतिसचिवों और धर्मसचिवों ने उसके बनाने में अधिक व्यय को देखकर उसे निरुत्साह किया। रुद्रदामन ने "पौर जानपदजन से बेगार लिये बिना, धनी प्रजा को 'प्रणय' अर्थात् भेंट से पीड़ित किये बिना, अपने ही कोष से बड़ा धन लगाकर थोड़े ही काल

में पहले से तीनगुनी बड़ी तथा सुदर्शनतर (अधिक सुन्दर) इसे बनवा दी। इसके निर्माण के लिए पह्लव कुलैप का पुत्र अमात्य सुविशाख नियुक्त हुआ था। इसी सुविशाख ने अपने स्वामी महाक्षत्रप रुद्रदामन की यह प्रशस्ति खुदवाई है।

रुद्रदामन के राज्यप्रबन्ध, प्रजावत्सलता तथा भारतीय संस्कृति के अपनाने के इस प्रशस्ति में वर्णित प्रयासों को देखते हुए निश्चय ही वह शक कुल का भूषण प्रतीत होता है। उसके व्यक्तिगत गुणों का कुछ उल्लेख ऊपर आचुका है। वह अत्यन्त परिष्कृत, विद्वान तथा कलामर्मज्ञ भी था। इस प्रशस्ति में लिखा है कि रुद्रदामन शब्द (व्याकरण), अर्थ (अर्थशास्त्र), गान्धर्व (संगीत), न्याय (तर्कशास्त्र) आदि बड़ी-बड़ी विद्याओं में पारंगत था। हाथी, घोड़े, रथ चलाने में, ढाल-तलवार के युद्ध आदि में कुशल था तथा लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई, स्वर, चाल, रंग, सार, बल आदि उत्तम लक्षणों और व्यजनों से युक्त, कान्तमूर्तिवाला था। गौ-ब्राह्मण और प्रजा की उसे चिन्ता थी।

रुद्रदामन के उत्तराधिकारी

रुद्रदामन के पश्चात् उसका पुत्र दामजद उज्जयिनी का महाक्षत्रप हुआ। रुद्रदामन के समय में ही यह क्षत्रप के रूप में शासन-कार्य देख चुका था और जब यह राजसिंहासन पर बैठा तब काफी बूढ़ा हो चुका था। परन्तु सातवाहन राजा विवाह सम्बन्ध से तथा शस्त्रबल से शक्तिहीन कर दिये गये थे तथा अन्य कोई शक्ति उज्जयिनी के कार्दमकों का मुकाबला करने के लिए थी नहीं, अतएव दामजद शान्तिपूर्वक राज्य कर सका।

परन्तु दामजद के पश्चात् ही यह संकट गृह-कलह के रूप में आया। दामजद का पुत्र जीवदामन उसके पश्चात् महाक्षत्रप हुआ। इस समय आभीर ईश्वरभूति इन क्षत्रपों का सेनापति था। जीवदामन के चाचा रुद्रसिंह (प्रथम) ने आभीर सेनापति से सन्धि कर जीवदामन को अपदस्थ कर दिया और स्वयं महाक्षत्रप बन बैठा। परन्तु रुद्रसिंह भी इस पद का उपभोग न कर सका। ईश्वरदत्त नामक एक अन्य आभीर सेनापति ने उसे राज्य-च्युत कर दिया और स्वयं महाक्षत्रप बन बैठा। रुद्रसिंह, ईश्वरदत्त के अधीन प्रान्तीय शासक क्षत्रप बन गया। दो वर्ष पश्चात् रुद्रसिंह ने ईश्वरदत्त को उखाड़ फेंका और वह पुनः महाक्षत्रप बन गया।

इस क्षत्रप राज्य के इन आन्तरिक विग्रहों का लाभ सातवाहन राजाओं ने उठाया। यज्ञश्री शातकर्णि ने क्षत्रपों से उत्तर कोंकण जीत लिया। उत्तर मध्यभारत में मालवों ने भी अपनी हलचलें आरम्भ कर दीं। रुद्रसिंह (प्रथम) से राज्यच्युत जीवदामन ने राज्य ले लिया और वह लगभग १९७ ई० में महाक्षत्रप बन गया। रुद्रसिंह (प्रथम) का पुत्र रुद्रसेन उसके अधीन क्षत्रप के रूप में काम करने लगा।

जीवदामन के पश्चात् रुद्रसेन (प्रथम) उज्जयिनी का महाक्षत्रप हुआ। इसने ई० सन २०० से २२२ तक राज्य किया। इसके राज्य में मालवा, गुजरात, काठियावाड़ तथा पश्चिमी राजपूताना क्षत्रपों के अधीन था। उत्तरी कोंकण सातवाहन ले चुके थे और आभीरों ने भी अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली।

इस समय तक उज्जयिनी के ये कार्दमक शक पूर्णतः हिन्दू संस्कृति और धर्म को अपना चुके थे। वे संस्कृत भाषा के भी प्रबल पोषक हो गये। आन्ध्र के इक्ष्वाकु राजा

वीर पुरुषदत्त ने उज्जयिनी के शकों की राजकुमारी रुद्रधरभट्टारिका से विवाह किया। इन शकों के हिन्दुओं से अन्य विवाह सम्बन्धों का भी उल्लेख मिलता है।

रुद्रसेन (प्रथम) के पश्चात् उसका छोटा भाई संघदामन राजा हुआ। इसके समय में उत्तर मध्यभारत के मालवों ने विद्रोह कर दिया। मालवगणाध्यक्ष श्री सोम ने चम्बल के उत्तरी क्षेत्र के मालवों को स्वतंत्र कर लिया और नान्दसा में यज्ञ किया। मालवों के साथ युद्ध करते समय ही संभवतः संघदामन की लगभग २२३ ई० में मृत्यु हो गयी। सिन्ध भी इनके हाथ से निकल गया और संघदामन के उत्तराधिकारी दामसेन के अधिकार में केवल मालवा, गुजरात तथा काठियावाड़ रह गये।

दामसेन के पश्चात् यशोदामन महाक्षत्रप हुआ। वह दो वर्ष पश्चात् ही मर गया और २४० ई० में उसका छोटा भाई विजयसेन महाक्षत्रप हुआ। विजयसेन के पश्चात् उसका छोटा भाई दामजद (तृतीत) महाक्षत्रप हुआ। उसके पाँच वर्ष के राज्य के पश्चात् ई० सन २५५ में उसका भतीजा रुद्रसेन (द्वितीय) महाक्षत्रप हुआ। लगभग २५५ ई० में वाकाटक राजवंश के संस्थापक विन्ध्यशक्ति ने उन्हें मालवा के बाहर निकाल दिया[१]। चष्टन के वंशजों की राजधानी उज्जयिनी से हटकर गिरिनगर (जूनागढ़) चली गयी। वाकाटकों ने उनकी राज्यसीमा को अत्यन्त सीमित कर दिया और आगे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने उनके राज्य का अन्त कर दिया।

---

१. जयचन्द्र विद्यालंकार: सुराष्ट्र-क्षत्रप इतिहास की पुनः परीक्षा, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् १९९४, पृष्ठ २२।

नाग-कुषाण संघर्ष

षाणों का उदय

जब मध्यदेश के दक्षिण में सातवाहनों और कार्दमकों के बीच संघर्ष चल रहा था उस मय उत्तर मध्यभारत में शक क्षत्रपों का राज्य समाप्त होकर एक नवीन महाशक्ति का दय हो रहा था, जो युद्ध, कूटनीति और क्रूर शासन में बेजोड़ थी, उसका वैभव और प्रताप ो असीम था। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में मध्य एशिया में जो अनिकेत जातियों की लचलें हुई थीं उनमें एक यूची जाति भी थी। लगभग ई० पू० १४० में इस यूची जाति ने ाक्त्री पर अधिकार कर लिया। इनके वहाँ पाँच भाग होगये थे जिनमें से एक कुषाण थे, नका नेता वांग अथवा कुजूल कदफिस था। इसने अपनी जाति के अन्य चारों कबीलों ो जीतकर संगठित किया और वह भारत की ओर चल पड़ा। हिन्दूकुश पार करके सने पर्थियनों के राज्यों को समाप्त किया। काबुल में उस समय तक कुछ यूनानी ाज्य बने हुए थे। उ हें भी कुजूल ने समाप्त कर दिया। उसने अपने सिक्कों पर महाराज, हन्त तथा महाराजाधिराज के विरुद उत्कीर्ण कराए। उसके साम्राज्य में बैक्ट्रिया, र्तमान अफगानिस्तान, ईरान का पूर्वी भाग तथा उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रान्त के कुछ भाग म्मिलित थे। कुजूल का राज्यकाल लगभग ई० पू० २५ से प्रारम्भ हुआ और ईसवी सन प्रथम पाद में समाप्त हो गया[1]।

कुजूल कदफिस के पश्चात् उसका पुत्र विम कदफिस कुषाणों का राजा हुआ। इसके ाक्कों पर खरोष्ठी लिपि में 'महाराजस राजाधिराजस सर्वलोग इश्वरस महिश्वरस विमा दफिसस त्रतरस' लिखा मिलता है, जिसका अर्थ किया गया है महान राजा, राजाओं का ाजा, समस्त संसार का स्वामी, माहेश्वर, धर्मरक्षक। उसके सिक्कों पर शिव और न्दी की आकृति भी मिलती है। इसने अपना राज्य तक्षशिला, पंजाब और संभवतः त्तरप्रदेश तक फैला लिया था।

निष्क

कुषाण वंश का सबसे प्रतापी राजा हुआ कनिष्क। विम कदफिस के पश्चात् कुषाण ाम्राज्य इसके अधिकार में आया। कनिष्क के समय के विषय में इतिहासज्ञों में ोषण मतभेद है। ई० ७८ से जिस शक-संवत् का प्रारम्भ माना जाता है, उसे कुछ विद्वान निष्क की सिंहासन-प्राप्ति से प्रारंभ हुआ मानते हैं। अपने उपयोग के लिए यहाँ हम ानिष्क की इसी तिथि को मान्य समझकर चलेंगे।

---

१. डॉ० मोतीचंद : सार्थवाह, पृष्ठ ९६।

कनिष्क अपने युग का महान विजेता था। अपने पूर्वाधिकारी से प्राप्त राज्य को उसने बहुत अधिक बढ़ा लिया। राजतरंगिणी के अनुसार काश्मीर कनिष्क के अधिकार में आगया था। चीनी और तिब्बती बौद्ध अनुश्रुतियों के अनुसार कनिष्क ने साकेत और पाटलिपुत्र पर भी अपना अधिकार कर लिया था। दक्षिण में विदिशा तक उसका अधिकारक्षेत्र था; क्योंकि साँची में उसके उत्तराधिकारी राजातिराज देवपुत्र शाहि वासिष्क का शिलालेख प्राप्त हुआ है। पद्मावती के नागों को तो वह उखाड़ ही चुका था, संभवतः कनिष्क के समय में ही विदिशा भी उसके अधीन होगयी थी और आगे वासिष्क कुषाण के समय तक इस वंश का अधिकार विदिशा पर था। दक्षिण-पश्चिम के शक क्षत्रप भी उसकी धाक मानते होंगे।

कनिष्क का वास्तविक ध्यान मध्य एशिया की राजनीति की ओर था। कुजूल कदफिस पर्थिया को पराजित कर चुका था। पर्थिया ने उस हार का बदला लेने के लिए कुषाणों के साम्राज्य के पश्चिमी भाग पर आक्रमण कर दिया। कनिष्क ने पर्थिया के पह्लवों को युद्ध में पराजित कर दिया। कनिष्क ने चीन के विरुद्ध भी युद्ध किया था। बौद्ध अनुश्रुतियों से इस युद्ध का विवरण प्राप्त होता है। चीन का सेनानायक पानचाऊ बहुत बड़ा विजेता था। ईसवी प्रथम शताब्दी के अन्तिम भाग में उसने काशगर, यारकन्द और खुतन पर अपनी विजयपताका स्थापित कर दी। पानचाऊ के बढ़ते हुए प्रभाव को कनिष्क ने अपने साम्राज्य के लिए संकट समझा। उसने चीन के सम्राटों के समान देवपुत्र की उपाधि ग्रहण की तथा अपना राजदूत पानचाऊ के पास भेजा और चीन की राजपुत्री से विवाह करने की इच्छा प्रकट की। इस धृष्ट प्रस्ताव को सुनकर पानचाऊ उबल पड़ा और राजदूत को बन्दी बनाकर उसने चीन भेज दिया। कनिष्क ने सत्तर हजार अश्वारोहियों की सेना अपने सेनापति के अधीन पानचाऊ के विरुद्ध भेजी; परन्तु उसे हार खानी पड़ी तथा चीन साम्राज्य को कर देने के लिए बाध्य होना पड़ा। कनिष्क उस समय तो खून का घूँट पीकर रह गया; परन्तु वह अवसर की बाट देखता रहा। इसी बीच पानचाऊ की मृत्यु होगयी। उसका पुत्र यानचांग युवा, अनुभवहीन तथा असंयत था। कनिष्क ने उसे पराजित कर दिया। चीन के एक करद राजा को चीन की नेकचलनी का जामिन बनाया गया और उसका राजकुमार कनिष्क के पास भेज दिया गया। अनुश्रुतियाँ यह भी कहती हैं कि चीन के हान सम्राट का राजकुमार भी कनिष्क के दरबार में आया था। इन राजकुमारों को कपिशा के विहार में ठहराया गया। कहा यह जाता है कि इन राजकुमारों ने ही भारत में पहली बार नाशपाती और आड़ू के वृक्ष लगाए। इस युद्ध के परिणामस्वरूप कनिष्क को यारकन्द, खुतन तथा काशगर के प्रान्त मिल गये। इस प्रकार अफगानिस्तान, बाख्त्री, काशगर, खुतन और यारकन्द से लेकर संभवतः मगध तक एक विशाल शक साम्राज्य स्थापित हो गया। मध्यदेश में यह विदिशा तक फैल गया था, यह संभावना हम पहले प्रकट कर चुके हैं।

कनिष्क के इस साम्राज्य का शासन-प्रबन्ध किस प्रकार होता था, इसकी जानकारी नहीं मिल सकी है। सारनाथ में बुद्ध मूर्ति पर प्राप्त अभिलेख में कनिष्क के दो क्षत्रप वनस्पर तथा खरपल्लान का उल्लेख है। संभावना यही है कि इसका यह विशाल साम्राज्य अनेक क्षत्रपों द्वारा प्रशासित होगा।

कनिष्क की धार्मिक नीति

कनिष्क एक उद्धत और लड़ाका सैनिक था। वह कुछ अन्धविश्वासों के वशीभूत भले ही रहा हो, उसने किसी धर्म को समझा होगा अथवा उसके सिद्धान्तों का पालन किया होगा इसकी संभावना बहुत कम है। उसने धर्म को राजनीति के रूप में अपनाया था। उसके विशाल साम्राज्य में यूनानी, ईरानी, भारतीय सभी थे। उसने अपने सिक्कों पर इन सब के देवताओं का अंकन कराया। इन सिक्कों पर सूर्य, चन्द्र, अग्नि, शिव, हेरेलिन, सेराजिय आदि देवताओं के तथा बुद्ध के चिह्न अंकित मिलते हैं। भारत में प्राचीन काल में विदेशी शासकों को बौद्ध धर्म अपनाना राजनैतिक दृष्टि से अत्यन्त सुविधाजनक रहा है। कनिष्क के समय में मगध से खुतन तक बौद्ध संघों का तांता पुरा हुआ था, अतएव कनिष्क द्वारा बौद्ध धर्म को सर्वाधिक प्रश्रय मिला। बौद्ध अनुश्रुतियों के अनुसार मगधविजय के समय वह उस युग के अत्यन्त प्रतिभाशाली ब्राह्मण बौद्ध अश्वघोष के सम्पर्क में आया। शून्यवाद की प्रतिष्ठा करनेवाला नागार्जुन, अश्वघोष का गुरु वसुमित्र तथा पार्श्व उसको प्रभावित कर सके और चरक सम्प्रदाय के चिकित्सक भी उसकी राजसभा के राजवैद्य बने। अनेक इतिहासज्ञों ने कनिष्क की तुलना अशोक से की है; परन्तु यह प्रयास अत्यन्त अनुचित है। अशोक ने बौद्ध धर्म को अपनी आन्तरिक प्रेरणा के वशीभूत होकर अपनाया था और अपने साम्राज्य की बाजी लगाकर उसने अपने विश्वास पर अपने आपको अटल रखा था। उसके धर्म ने उसके हृदय में अपनी प्रजा के प्रति असीम प्रेम उत्पन्न किया था और इस क्रूर शासक के मन पर गौतम के शान्ति सन्देश का कोई प्रभाव पड़ा हो यह ज्ञात नहीं होता। निश्चय ही कनिष्क का धर्म केवल युद्ध और राजनीति होगा। यह बात ध्यान देने योग्य है कि कनिष्क के राज्यकाल के समस्त शिलालेख पेशावर, मथुरा तथा सारनाथ के पथ पर ही प्राप्त हुए हैं और बौद्ध प्रजा के दान हैं, न कि सम्राट के। कनिष्क के समय में व्यापार की वृद्धि हुई थी और बौद्धों को ये निर्माण करने की छूट थी, इससे अधिक इनका आशय नहीं निकाला जा सकता।

चौथी बौद्ध-संगीति

कनिष्क के समय में बौद्ध धर्म में एक नवीन परिवर्तन आया। अश्वघोष, नागार्जुन, पार्श्व तथा वसुमित्र बौद्ध थे, परन्तु भारत में प्रचलित भागवत धर्म की भक्तिभावना तथा देवमंदिरों के निर्माण से प्रभावित वे अवश्य थे और शाक्यमुनि के धर्म को भी इसी ढर्रे पर लाना चाहते थे। जब मध्यदेश में जन-जागरण के लिए अवतारों की कल्पना का उद्भव किया जा रहा था उस समय सर्वास्तिवादी बौद्धों ने भी गौतम शाक्यमुनि को धर्म-प्रवर्त्तक मात्र से दैवीशक्ति सम्पन्न अवतार होने की भावना की पुष्टि की। काश्मीर या पेशावर में पाँच सौ भिक्षुओं की एक संगीति—सभा बुलाई गयी। उसके अध्यक्ष वसुमित्र हुए और उनके निर्देश पर सभा का संचालन अश्वघोष करते थे। शुद्ध सिद्धान्तपरक मूल बौद्ध धर्म अब हीनयान सँकड़ा मार्ग, माना गया और उसके स्थान पर भक्तिपरक महायान की स्थापना की गयी, जिससे गौतम बुद्ध की आराध्य देव के रूप में स्थापना परिकल्पित की गयी। शुंगों के काल में देवाधिदेव वासुदेव के प्रासादोत्तमों में यूनानियों को इहलोक और परलोक का कल्याण दिखाई दिया था। वहाँ एक प्रत्यक्ष भगवान था, जो अपने भक्त के

सुख-दुख की चिन्ता रखता था। कनिष्ककालीन बौद्ध विचारकों ने लोकहृदय को आकर्षित करनेवाले भागवत धर्म के इस रूप को अपनाया। गौतम बुद्ध ने अपनी प्रतिकृति मूर्त्ति अथवा चित्र के रूप में बनाने का निषेध किया था। अपने शिष्यों को अपने शरण्य आप बनने का तथा अपने दीप आप बनने का उपदेश दिया था। वह उपदेश उस समाज के लिए था जो गंभीर तत्त्वचिन्तन में लीन था और स्वयं प्रकाश की खोज कर सकता था। अब परिस्थिति भी बदल गयी थी। महायान में गौतम बुद्ध अनेक बोधिसत्त्वों तथा शक्र, ब्रह्मा, कुबेर आदि देवताओं में पूजित होकर आराध्य के रूप में अवतरित हुए।

गांधार के यूनानी शिल्पियों ने बुद्ध, बोधिसत्त्व तथा बुद्धजीवन की अगणित मूर्तियों का निर्माण प्रारंभ किया। यह लहर गांधार से चलकर मथुरा, सारनाथ तक आई और बुद्ध-मूर्ति-अंकन का निषेध हटते ही भारतीय मूर्त्तिकला को गौतमबुद्ध, बोधिसत्त्व, बौद्ध-यक्ष, गन्धर्व तथा देवयोनि के नवीन अभिप्राय प्राप्त हुए। कुषाणों के समय में मथुरा इन मूर्तियों के निर्माण का प्रधान केन्द्र बना। मथुरा के शिल्पी ने गांधार से बुद्ध-मूर्ति-निर्माण की अनुमति को ही ग्रहण किया, उसकी शैली अपनी ही रही। मथुरा और गांधार की मूर्तियों में निर्माणशैली का साम्य नहीं है।

अपने नये रूप में बौद्ध धर्म केवल भारत में ही लोकप्रिय नहीं हुआ वरन् विदेशों में भी उसका प्रचार द्रुतगति से हुआ। कनिष्क के शासन काल में बौद्ध धर्म को एक नवीन गति मिली।

कनिष्क के अन्तिम दिन

परन्तु कनिष्क अपनी तलवार अन्तिम दिनों तक दृढ़ता से पकड़े रहा। उसके सेनापति और सामन्त उसके प्रतिदिन के युद्ध अभियानों से ऊब गये थे। अनुश्रुति यह है कि उनके द्वारा एक रात उसकी हत्या करदी गयी। कनिष्क ने २३ वर्ष राज्य किया ऐसा इतिहासज्ञों का मत है और इस गणना से उसकी मृत्यु ई० सन १०१ के लगभग मानी जा सकती है।

व्यापारिक उन्नति

कनिष्क के समय में भारत का एक बहुत बड़ा भाग एक ऐसे साम्राज्य का अंश बन गया जिसके ओर-छोर बहुत दूर तक फैले हुए थे। उसकी राजधानी पेशावर में थी। उत्तर भारत के व्यापारी को मगध से लेकर पेशावर होते हुए बुखारा, समरकन्द और ताशकन्द तक का व्यापार-मार्ग खुला मिल गया। इस समय योरोप में रोमन साम्राज्य अपने उत्कर्ष पर था। एशिया माइनर, शाम और मिश्र तक रोमन साम्राज्य फैल गया था। भारत और रोम के बीच इस युग में व्यापारिक सम्बन्ध बहुत अधिक बढ़ गये थे। कनिष्क ने इस व्यापार को उत्साह देने के लिए रोम के सोने के सिक्के की तौल भारत के सोने के सिक्के के लिए अपना ली, जिससे रोम के साथ व्यापारिक विनिमय में कठिनाई न हो। कनिष्क के समय भारत में धन की वृद्धि हुई। कनिष्क से अधिक और किसी प्राचीन सम्राट के सोने के सिक्के भारत में नहीं मिलते। इसी व्यापार के फलस्वरूप रोम के सोने के सिक्के भी भारत में अधिक मात्रा में पाए जाते हैं।

वासिष्क

कनिष्क के पश्चात् कुषाण साम्राज्य के उसके उत्तराधिकारियों के विषय में इतिहास अधिक विवरण नहीं देता। शक संवत् २४ तथा २८ के वासिष्क के राज्यकाल का उल्लेख करनेवाले दो अभिलेख मथुरा तथा साँची में प्राप्त हुए हैं। साँची में किसी 'खर' की दुहिता मधुकरि ने एक बौद्ध मूर्त्ति का निर्माण महाराज राजातिराज देवपुत्र शाहि वासिष्क के राज्य के २८ वें संवत्सर में कराया था। इतिहासज्ञ इस २८ वें संवत् को शक-संवत् मानते हैं। इसने संभवत: १०५ ई० तक राज्य किया। वासिष्क के कोई सिक्के अब तक प्राप्त नहीं हुए। इससे ज्ञात होता है कि उसका राज्यकाल अत्यन्त अल्प रहा। विदिशा तक कुषाणों का अधिकार संभवतः कनिष्क के समय में ही हो चुका होगा।

हुविष्क

इतिहासज्ञों का मत है कि वासिष्क के पश्चात् कनिष्क द्वितीय राजा हुआ। उसके पश्चात् हुविष्क कुषाण राजा हुआ। हुविष्क के सिक्कों तथा अभिलेखों के विस्तार को देखते हुए उसका राज्य अत्यन्त विस्तृत माना जासकता है। परन्तु इसके राज्यकाल में संभवत: मध्यदेश में पद्मावती और विदिशा में कुषाणों का राज्य डगमगा गया था। हुविष्क के सिक्के अथवा अभिलेख इस प्रदेश में प्राप्त नहीं हुए हैं।

हुविष्क को बौद्ध अनुश्रुति बौद्ध धर्म का पोषक कहती है। मथुरा में उसने बौद्ध विहार और चैत्य बनवाए थे। परन्तु उसके सिक्कों पर बुद्ध की मूर्त्ति प्राप्त नहीं हुई। उसके सिक्कों पर उसके चित्र के अतिरिक्त अनेक यूनानी-ईरानी देवी-देवताओं की तथा भारत के स्कन्द, विष्णु, महासेन, कुमार, विशाख आदि की आकृतियाँ मिलती हैं। कुछ मुद्राओं पर एक हाथ में धनुष लिए एक देवता बनाया गया है, जिसके नीचे ब्राह्मीलिपि में 'गणेश' लिखा गया है। हुविष्क ने लगभग ३० वर्ष सन १५२ ई० के पहले तक राज्य किया।

वासुदेव

वासुदेव कुषाण का राज्य ई० सन १७६ तक रहा। वासुदेव के अभिलेख केवल मथुरा जिले में मिले हैं और उसके सिक्के भी पंजाब और उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भागों में ही प्राप्त होते हैं। इसके समय में कनिष्क का विशाल साम्राज्य केवल इसी प्रदेश तक सीमित रह गया ज्ञात होता है। वासुदेव का नाम उसे भागवत धर्म का अनुयायी प्रकट करता है; परन्तु उसके सिक्कों से ज्ञात होता है कि वह शैव था। उसके सिक्कों पर विभिन्न देवी-देवताओं की आकृतियाँ प्राप्त नहीं होतीं। उन पर केवल शिव और नन्दी की आकृति मिलती हैं।

वासुदेव के पश्चात् कुषाणों का राज्य मथुरा में भी अधिक दिनों तक टिक न सका। पद्मावती और कान्तिपुरी से बढ़कर नव नागों ने मथुरा में भी अपनी सत्ता स्थापित कर ली। इसके पूर्व कि हम इन नव नागों के इतिहास का विवेचन करें, पद्मावती पर कुषाणों के क्षत्रपों के शासन पर एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है।

पद्मावती का वनस्पर

किसी नाग राजा को उध्वस्त कर कुषाणों ने पद्मावती को अपने अधिकार में कर लिया था। श्री जायसवाल के अनुसार[1] ईसवी सन् ९० से १२० तक पद्मावती पर सारनाथ की बुद्धमूर्ति के अभिलेख में उल्लिखित वनस्परों का शासन रहा। पुराणों में इसका उल्लेख विश्वस्फटि (क) विश्वस्फाणि अथवा बिबस्फाटि के नाम से आया है। पुराणों के अनुसार इसका राज्य मगध तक था। भागवत में इसके राज्य का केन्द्र पद्मावती कहा गया है। पुराणों ने उसकी वीरता का बहुत बखान किया है और लिखा है कि युद्ध में वह विष्णु के समान था; परन्तु देखने से हिजड़ा-सा जान पड़ता था। हूणों के रूप का वर्णन करते समय इतिहास लेखक गिब्बन ने लिखा है कि इन लोगों के चेहरों पर प्रायः दाढ़ी नहीं होती थी, इसलिए इन्हें न तो कभी पुरुषोचित शोभा ही प्राप्त होती थी और न वृद्धावस्था का पूज्य तथा आदरणीय रूप। अतः ऐसा ज्ञात होता है कि यह यूची कुषाण वनस्पर हूणों जैसी आकृति का ही था। मथुरा में कुषाणों की मूर्त्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं।

पुराणों ने वनस्पर के शासन का अत्यन्त भीषण वर्णन किया है। पद्मावती और विदिशा इस समय भारत की राष्ट्रीयता के नवोन्मेष के प्रधान केन्द्र थे। वनस्पर इन भावनाओं का उन्मूलन करने पर तुला हुआ था। उसने राष्ट्रीय भावना को प्रोत्साहित करनेवाले ब्राह्मणों का विनाश किया। शकों को नीची दृष्टि से देखनेवाले स्थानीय क्षत्रियों का भी उन्मूलन किया। विदेशी शासन की नीति के अनुरूप उसने विदेशियों को राज्य के उच्च पद दिये। कैवर्त, पंचक, भद्रक आदि जिन्हें तत्कालीन समाज शूद्रों से भी निम्न कोटि का तथा अस्पृश्य मानता था, बड़े-बड़े शासकीय पदों पर नियुक्त किये गये।

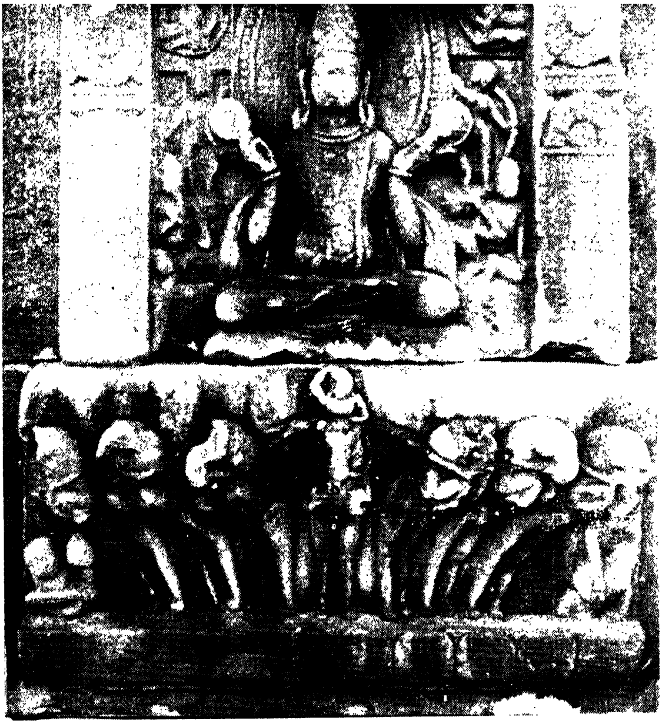
धर्म की आड़ लेकर भी कुषाणों के ये क्षत्रप चले थे। उनने बौद्ध धर्म को अपनाया था। राजतरंगिणी में उल्लेख है कि कुषाणों ने काश्मीर में नागों की उपासना को बन्द करवा दिया था और लोगों को बौद्ध धर्म अपनाने के लिए बाध्य किया था। यही वनस्पर ने पद्मावती में किया होगा। दिखता यह है कि उस समय की स्वातंत्र्य भावना को कुचलने के लिए ही इन कुषाणों ने बौद्ध धर्म को अपनाया। विदिशा और पद्मावती में शुंगों के काल में भागवत धर्म सम्बन्धी अनेक बड़े-बड़े निर्माण हुए थे। हम देखते हैं कि उनके केवल अत्यन्त भग्न दशा में अवशेष मात्र प्राप्त होते हैं। विदिशा और माध्यमिका के वासुदेव के प्रासादोत्तम की केवल नीवें रह गयी हैं और कुछ शिखर तथा स्तंभ मात्र शेष रह गये हैं। इस सम्बन्ध में स्वर्गीय श्री जायसवाल ने यह सुझाया है कि ये निर्माण इसी कुषाण शासन में नष्ट किये गये। वे लिखते हैं, "कुशन शासनकाल में हमें केवल बौद्ध और जैन धर्मों के ही स्मृतिचिह्न आदि मिलते हैं। उस समय का ऐसा कोई स्मृतिचिह्न नहीं मिलता जो हिन्दू ढंग की सनातनी उपासना से सम्बन्ध रखता हो। यद्यपि सब लोग यह बात अच्छी तरह जानते हैं कि जिस समय बौद्धों के सबसे आरम्भिक स्मृतिचिह्न बने थे, उससे बहुत पहले से ही सनातनी और हिन्दू लोग अनेक प्रकार के स्मृतिचिह्न, भवन और मूर्त्तियाँ आदि बनाया करते थे, तो भी हमें बौद्धों से पहले का सनातनी हिन्दुओं का कोई स्मृतिचिह्न या वस्तु अथवा तक्षण कला का कोई नमूना या प्रमाण नहीं मिलता। मत्स्यपुराण में मंदिरों तथा

---

१. अन्धकारयुगीन भारत, पृष्ठ ८८।



शक राजा की मूर्त्ति, मथुरा (पृष्ठ ४६४)



सूर्य. पद्मावती (पृष्ठ ४१४)

नन्दी, पद्मावती (पृष्ठ ४७२)



नन्दी (पष्ठ-भाग) (पृष्ठ ४७२)



देवी-देवताओं की मूर्तियों के निर्माण के सम्बन्ध में हमें बहुत कुछ विस्तृत और वैज्ञानिक विवेचन मिलता है और हिन्दुओं के और भी बहुत से ग्रन्थों में इस विषय के उल्लेख भरे पड़े हैं, जिनसे यह प्रमाणित होता है कि सन ३०० ई० से पहले भी इस देश में हिन्दू देवताओं और देवियों के बहुत से और अनेक आकार-प्रकार के मन्दिर आदि बना करते थे। इन सब प्रमाणों को देखते हुए इस बात में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता कि गुप्तों के समय से पहले भी सनातनी हिन्दुओं की वास्तुविद्या और राष्ट्रीय कला अपनी उन्नति के बहुत ऊँचे शिखर पर पहुँच गयी थी और जब भारशिवों, वाकाटकों तथा गुप्तों के समय में उनका फिर से उद्धार होने लगा, तब वैसे अच्छे भवन आदि फिर से नहीं बने और जो बने भी वे पुराने भवनों आदि के मुकाबिले के नहीं थे। स्वयं बौद्धों और जैनों के स्मृतिचिह्नों की अनेक आन्तरिक बातों से ही यह बात भलीभाँति प्रमाणित हो जाती है। एक उदाहरण ले लीजिए। बौद्धों और जैनों के स्तूपों आदि पर की नक्काशी में अप्सराओं के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता था और उन पर अप्सराओं की मूर्त्तियाँ आदि नहीं बननी चाहिए थीं, परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है और हमें बौद्ध गया के रेलिंगवाले द्वार पर, मथुरा के जैन स्तूपों पर और नागार्जुनी कोंडा स्तूपों तथा इसी प्रकार के और अनेक भवनों आदि पर ऐसी मूर्त्तियाँ मिलती हैं जिनमें अप्सरा अपने प्रेमी गंधर्व के साथ अनेक प्रकार की प्रेमपूर्ण क्रीड़ा करती हुई दिखाई पड़ती है। अप्सराओं की भावना का बौद्ध और जैन धर्मों में कहीं पता नहीं है, पर हाँ हिन्दुओं की धर्मपुस्तकों में, उदाहरणार्थ मत्स्य-पुराण में अवश्य है, जिनका समय कम-से-कम ईसवी तीसरी शताब्दी तक पहुँचता है। मत्स्यपुराण में, इस विषय का जो विवेचन है, उसमें पहले के अठारह आचार्यों के मत उद्धृत किये गये हैं, जिससे सिद्ध होता है कि शताब्दियों पहले से इस देश में इन विषयों की चर्चा होती आई थी। हिन्दू ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में कहा गया है कि मन्दिरों के द्वारों अथवा तोरणों पर गंधर्व-मिथुन या गंधर्व और उसकी पत्नी की मूर्त्तियाँ होनी चाहिए और मन्दिरों पर अप्सराओं, सिद्धों और यक्षों आदि की मूर्त्तियाँ नक्काशी की हुई होनी चाहिए। मथुरा में स्नानादि करती हुई स्त्रियों की मूर्त्तियाँ हैं। उनकी मुख्य-मुख्य बातें अप्सराओं की सी ही हैं और उनके स्नान करने की भाव-भंगियों आदि के कारण ही वे जल-अप्सराएँ कही गयी हैं। अब प्रश्न यह है कि बौद्धों और जैनों को ये अप्सराएँ कहाँ से मिलीं। बौद्धों और जैनों को गजलक्ष्मी कहाँ से मिलीं और गरुड़ध्वज धारण करनेवाली वैष्णवी ही बौद्धों को कहाँ से मिली? मेरा उत्तर यह है कि उन्होंने ये सब चीजें सनातनी हिन्दू इमारतों से ली हैं। उन दिनों वास्तुकला में इन सब बातों का इतना अधिक प्रचार हो गया था कि इमारतें बनानेवाले कारीगर आदि उन्हें किसी प्रकार छोड़ ही नहीं सकते थे। जिस समय बौद्धों ने अपने पवित्र स्मृतिचिह्न आदि बनाने आरम्भ किये थे, उस समय कुछ ऐसी प्रथा-सी चल गयी थी कि जिन भवनों और मंदिरों आदि में इस प्रकार की मूर्त्तियाँ नहीं होती थीं वे पवित्र और धार्मिक नहीं समझे जाते थे और इसलिए बौद्धों तथा जैनों आदि को भी विवश होकर उसी ढंग की इमारतें बनानी पड़ती थीं, जिस ढंग की इमारतें देश में पहले बनती चली आ रही थीं। हिन्दू मन्दिरों पर तो इस प्रकार की मूर्त्तियों का होना योग और परम्परा आदि के विचार से सार्थक ही था; क्योंकि हिन्दुओं में इस प्रकार की भावनाएँ वैदिक युग से चली आ रही थीं और हिन्दुओं के प्राचीन और पौराणिक इतिहास के साथ इनका घनिष्ठ

सम्बन्ध था और हिन्दुओं के अन्तिम दिनों तक उनके मन्दिरों और मूर्त्तियों आदि में ये सब बातें बराबर चली आई थीं। पर बौद्ध तथा जैन भवनों आदि में इस प्रकार की मूर्त्तियों के बनाने का इसके सिवा और कोई अर्थ नहीं हो सकता कि वे केवल भवनों की शोभा और शृंगार के लिए बनाई जाती थीं और सनातनी हिन्दू भवनों से ही वे ली गयी थीं और उन्हीं की नकल पर बनाई गयी थीं। कुशन काल से पहले की जो सनातनी इमारतें थीं, वे पूर्ण रूप से नष्ट हो गयी हैं, पर उन्हें नष्ट किसने किया था ? मेरा उत्तर है कि कुशन शासन ने उन्हें नष्ट कर डाला था। एक स्थान पर इस बात का उल्लेख मिलता है कि पवित्र अग्नि के जितने मन्दिर थे वे सब एक आरम्भिक कुशन ने नष्ट कर डाले थे और उनके स्थान पर बौद्ध मंदिर बनाए थे। एक कुशन क्षत्रप की लिखित नीति से हमें पता चलता है कि "उसने ब्राह्मणों और सनातनी जातियों का दमन किया था और सारी प्रजा को ब्राह्मणों से हीन या रहित कर दिया था[1]"। यह निश्चित है कि भागवत धर्म के संकर्षण, वासुदेव तथा प्रद्युम्न के मंदिर शुंगकाल में ही बनने लगे थे और वे निश्चित ही स्कंदपुराण में वर्णित शैली में बनाए गये होंगे। बेसनगर में प्राप्त विष्णु की मूर्त्ति तथा डॉ० भाण्डारकर द्वारा बेसनगर में किये गये उत्खनन में प्राप्त और अत्यन्त रहस्यपूर्ण ढंग से बोस्टन फाइन आर्ट म्यूझियम में प्रवास कर गयी गंगा की मूर्त्ति इसकी साक्षी है।

कुछ सिक्के पद्मावती में इस प्रकार के मिलते हैं जिनसे इस समय के पद्मावती के कुषाण राज्य पर प्रकाश पड़ता है। डॉ० हरिहर त्रिवेदी ने एक सिक्के की सूचना दी है जिस में किसी पूर्व प्रचलित सिक्के पर दुबारा लाञ्छन तथा नाम ठोका गया है। इस सिक्के पर डॉ० त्रिवेदी ने महत या मपत पढ़ा है[2]। इस पर दूसरी ओर बाड़ के भीतर वृक्ष बना हुआ है। इस सिक्के की तौल तथा उसके व्यास को यदि विभु नाग के सिक्के से मिलान करें तो उनमें अद्भुत समानता है[3]। ज्ञात यह होता है कि महत या मपत वनस्परों की ओर से कोई स्थानीय शासक था। इसके पूर्व भी मसत, गतस तथा अयपुत अक्षरोंयुक्त इस प्रकार के सिक्के पद्मावती में मिल चुके हैं[4]। मतग अक्षरोंयुक्त एक सिक्का बेसनगर की खुदाई में भी मिला था[5]। डॉ० त्रिवेदी महत अथवा मपत के सिक्के को ईसवी पहली या दूसरी शताब्दी का मानते हैं। उसका पुराने सिक्के पर छापा जाना यह प्रकट करता है कि संभवतः विभु नाग से पद्मावती कुषाणों ने ली होगी, इसी क्रम में मतग, मखदत्त, अमितसेन, सबलसेन आदि होंगे, जिनके सिक्के डॉ० त्रिवेदी ने प्रकाशित किये हैं। इनके विषय में वे लिखते हैं, "इनके अक्षर मथुरा और सारनाथ के कुषाण अभिलेखों के पहली दूसरी शताब्दी के अक्षरों से मिलते-जुलते हैं[6]"। डॉ० त्रिवेदी ने अमितसेन के विषय में यह संभावना प्रकट

---

१. अन्धकारयुगीन भारत, पृष्ठ ९३-९७।

२. जर्नल ऑफ दि न्यूमिसमेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया, १९५५, पृष्ठ ५४।

३. वही, पृष्ठ ४९।

४. वार्षिक विवरण पुरातत्व विभाग, ग्वालियर राज्य, संवत् १९८४, पृष्ठ ५५।

५. आरकॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, वार्षिक विवरण १९१४-१५, पृष्ठ ८८।

६. दि जर्नल ऑफ दि न्यूमिसमेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया, १९५५, पृष्ठ ५६।

की है कि अमितसेन समुद्रगुप्त की इलाहाबाद प्रशस्ति के अथवा हर्षचरित में उल्लिखित वीरसेन से सम्बन्धित हो सकता है। यह संभावना कम दिखती है। हर्षचरित वाला नागसेन संभवतः गणपति नाग के पश्चात् गुप्तों के करद के रूप में पद्मावती का राजा बना और भेद खुल जाने के कारण गुप्तों ने उसका तथा साथ ही पद्मावती का विनाश कर दिया। यदि अमितसेन नागवंश का होगा भी तो वह गणपति नाग के बहुत पहले हुआ होगा। यह भी विचारणीय है कि सबलसेन और अमितसेन के सिक्कों के पीछे वृक्ष तथा बाड़ का लाञ्छन है, जो नागों की मुद्रा में प्राप्त नहीं होता। यह लाञ्छन बोधिवृक्ष का प्रतीक है। गणपति नाग की एक मुद्रा में परिक्रमा के चिह्नयुक्त कल्पवृक्ष अवश्य प्राप्त हुआ है; परन्तु वह स्पष्ट ही कल्पवृक्ष है न कि बोधिवृक्ष।

जो हो, वनस्पर, उसके प्रतिनिधियों तथा उसके स्वामी कुषाणों का यह क्रूर शासन मध्यदेश पर अधिक समय तक न चल सका। इस बीच नागों ने अपनी शक्ति का संगठन कर लिया और वे पद्मावती, कान्तिपुरी (मुरैना के पास कुतवार) तथा मथुरा में नव नागों के रूप में उदित हुए और कुषाण शासन को उखाड़ फेंका।

नव नाग

पद्मावती के नाग

शुंगों के पहले विदिशा पर जिन ज्येष्ठ नागों का राज्य था, उनका उल्लेख पहले हो चुका है। शिवनन्दी के पश्चात् विदिशा पर शुंगों का आधिपत्य हो गया। ज्येष्ठ नागों के दौहित्र सिमुक सातवाहन के वंशजों ने विंध्य और विंध्यपाद में अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। विदिशा पर शक, मालव, सातवाहन, कुषाण और क्षहरात बारी-बारी से अधिपत्य जमाते रहे। इस बीच नागों ने स्वतंत्र शासक अथवा मांडलिकों के रूप में पद्मावती को अपना केन्द्र बनाया। उनकी राज्यव्यवस्था का रूप मुख्यतः केन्द्रीय सत्ताप्रधान होने के कारण समस्त विंध्य-अंचल में वे गणों के रूप में शक्तिशाली रहे। संभवतः सबसे पहले विदिशा में ही उनका राज्य जमा।

नव नागों के इतिहास की सामग्री

इस नवोदित नाग वंश के इतिहास का आधार पुराणों के कुछ उलझे हुए उल्लेख तथा हजारों (अथवा लाखों) की संख्या में प्राप्त होनेवाले उनके सिक्के तथा उनकी मूर्तियाँ और निर्माण हैं। गणपति नाग का उल्लेख समुद्रगुप्त की इलाहाबाद के स्तम्भ पर प्राप्त प्रशस्ति में है। वाकाटकों के शिलालेखों से यह भी प्रकट है कि भव नाग की राजकुमारी का विवाह प्रवरसेन के राजकुमार से हुआ था। अतएव गणपति नाग तथा भव नाग का समय ज्ञात हो जाता है। शेष बारह-तेरह नाग राजा, जिनके सिक्के पद्मावती पर मिलते हैं और मूर्त्तियाँ विदिशा एवं पद्मावती में प्राप्त हुई हैं, उनका पूर्वापर संबंध निश्चित करना आज की उपलब्ध सामग्री में सरल नहीं है। इस दृष्टि से डॉ० हरिहर त्रिवेदी की 'महत' या 'मपत' के सिक्कों की खोज महत्त्वपूर्ण है। इनमें से एक सिक्के पर लाञ्छन तथा नाम दुबारा ठोके गये हैं। इस युग की यह प्रणाली रही है कि जब कोई राजा दूसरे को जीतता था तो उसके सिक्कों पर अपना नाम तथा लाञ्छन दुबारा ठोक देता था। यह मपत या महत नाम भारतीय नहीं है और संभावना यही है कि वह कुषाणों का प्रतिनिधि हो। इस सिक्के की तौल और आकार में विभु नाग के सिक्कों से बहुत अधिक समानता है। विभु नाग के सिक्के अन्य नाग राजाओं के विपरीत संख्या में बहुत कम मिले हैं। यदि हमारा अनुमान सही हो तो यह कहा जा सकता है कि विभु ही वह नाग राजा है जिसे कुषाणों ने जीतकर पद्मावती को अपने अधीन किया था। यह घटना ईसवी सन ८० या ९० के बीच में हुई होगी। कनिष्क ईसवी सन ७८ में गद्दी पर बैठा था। मथुरा तथा मगध की विजय करलेने के पश्चात् ही उसने मथुरा के दक्षिण की ओर चम्बल पार अपनी सेना भेजी होगी। इस प्रकार हम विभु नाग के राज्यकाल की समाप्ति ईसवी

सन ८० या ९० के बीच में मान सकते हैं। श्री जायसवाल ने प्रवरसेन वाकाटक का राज्य-काल ईसवी सन २८४ से ३४४ ईसवी तक माना है[1]। डॉ० अल्टेकर प्रवरसेन का समय ईसवी सन २७५ से ३३५ तक मानते हैं[2]। जहाँ तक भवनाग के समयनिर्धारण का संबंध है, इन आठ-नौ वर्ष के अन्तर से कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रवरसेन के पुत्र से भव नाग की राजकुमारी का विवाह हम ईसवी सन २८० के लगभग मान सकते हैं और यह अनुमान कर सकते हैं कि इस समय भव नाग पद्मावती पर राज्य कर रहा होगा। तीसरा नाग राजा जिसका समय ज्ञात है, वह है गणपति नाग। पद्मावती का गणपति नाग, अच्युत, नागसेन आदि समुद्रगुप्त द्वारा कौशाम्बी के रणक्षेत्र में पराभूत किये गये थे। श्री काशीप्रसाद जायसवाल तथा नगेंद्रनाथ घोष कौशाम्बी के युद्ध का समय ईसवी सन ३४४ या ३४५ मानते हैं[3]; परन्तु यह तिथि संदिग्ध है। गुप्त-संवत् का प्रारम्भ चन्द्रगुप्त (प्रथम) अथवा समुद्रगुप्त के राज्यारोहण से मानने पर यह अवलम्बित है। गुप्त-संवत् समुद्रगुप्त के राज्यारोहण से मानने पर कौशाम्बी का युद्ध संभवतः कुछ पहले हुआ होगा। अभी हम यह संभावना मान कर चलते हैं कि ईसवी सन ३४४ या ३४५ में पद्मावती का नागराज्य समुद्रगुप्त द्वारा अपने साम्राज्य में मिला लिया गया। इस प्रकार हम पद्मावती के नागवंश का अंतिम छोर पकड़कर उसके पहले के ज्ञात समय वाले नाग राजाओं के समय को निम्न प्रकार से प्रकट कर सकते हैं:—

(१) गणपति नाग .. ई० सन ३४४–३४५ तक विद्यमान।

(२) भव नाग.. .. ई० सन २९० के लगभग विद्यमान।

(३) विभु नाग .. ई० सन ८०–९०।

पद्मावती में अब तक नागों की लगभग लाखों ही मुद्राएँ प्राप्त हो चुकी होंगी। प्रतिवर्ष वर्षा ऋतु में खेतों में वे ऊपर आ जाती हैं। गाँवों के ग्वाले उन्हें बीन लेते हैं और चाहे जिसके हाथ बेच देते हैं। प्रतिवर्ष सैकड़ों मुद्राएँ इस प्रकार बिकती हैं; और यह क्रम न जाने कितने वर्ष से चल रहा है। व्यवस्थित उत्खनन अब तक पद्मावती में कभी नहीं हुआ। मूल पद्मावती सिंधु और पारा के संगम पर बसी हुई थी। अभी तक इस क्षेत्र के बाहर एक टीले को खोदा गया है और उसमें भी जो सामग्री प्राप्त हुई है वह इतिहास पर अद्भुत प्रकाश डालती है। इसमें हमें कोई सन्देह नहीं है कि यदि व्यवस्थित उत्खनन किया जाए तो पद्मावती के नागवंश का विस्तृत इतिहास सामने आ सकता है। नागों के सोने और चाँदी के सिक्के यदि ग्वालों को मिलते भी होंगे तो दफीने के कानून के डर से वे उन्हें बाहर बेचते भी नहीं होंगे। ये सिक्के केवल व्यवस्थित उत्खनन से ही प्राप्त हो सकते हैं और संभावना यह है कि कोई उपयोगी शिलालेख भी प्राप्त हो जाए। परन्तु इस सबके लिए अभी किसी सुअवसर के लिए ठहरना ही पड़ेगा।

---

१. अन्धकारयुगीन भारत, पृष्ठ १७२।

२. ए न्यू हिस्ट्री ऑफ दी इंडियन पीपल, खण्ड ६, पृष्ठ ९५।

३. अर्ली हिस्ट्री ऑफ कौशाम्बी, पृष्ठ ६८।

मुरैना जिले के कुतवार नामक स्थान से १८,६५९ नागों के सिक्के की ढेरी प्राप्त हुई थी और उनकी लगभग इतनी ही मुद्राएँ झाँसी में प्राप्त हुई थीं। कुतवार को हमने पुराणों में उल्लिखित कान्तिपुरी नामक नागों की राजधानी से अभिन्न माना है[1]।

विभिन्न नाग राजाओं के इन सिक्कों की संख्या, स्थिति और उनके लांछनों को देखते हुए कुछ परिणाम निकाले जा सकते हैं। वृष, व्याघ्र तथा भीम के सिक्के कम मिलते हैं और जो मिलते हैं वे बहुत घिसे हुए हैं। इससे अनुमान यह होता है कि नागों में ये पूर्वतम राजाओं में से हैं। विभु, देव और प्रभाकर के सिक्के तौल तथा आकार में एक से हैं। अतः संभावना यह है कि वे एक क्रम में हुए होंगे। जिन सिक्कों पर कभी 'ख' नाग तथा 'ब' नाग पढ़ा गया था वे वास्तव में वसुनाग के थे। पुंनाग भी गलत पढ़ा गया था और वह सिक्का संभवतः प्रभाकर नाग का था। डॉ० त्रिवेदी ने जिस सिक्के को श्रीप्रभ नामक किसी पृथक् राजा का माना है वह भी प्रभाकर का ही सिक्का हो सकता है। वसु और स्कंद के सिक्कों में एक समान लक्षण मिलता है। दोनों में दो रेखाएँ बनी हुई हैं जो संभवतः वज्र अथवा ऐसे ही किसी शस्त्र के प्रतीक हैं। इन्हीं आधारों पर हमने इन नाग राजाओं का संभावित पूर्वापर क्रम नीचे लिखे अनुसार माना है।

नाम[2]	लाञ्छन	विरुद
(१) वृषनाग	सम्मुखनंदी ..	महाराजश्री वृषनाग
(२) व्याघ्र	चक्र ..	महाराजश्री व्याघ्र
(३) विभु	वाम नंदी ..	..
	अंकुश	
	परशु	
	आठ आरेदार चक्र	महाराजश्री विभुनागस्य
(४) वसु	मयूर ..	श्रीवसुनागस्य
ख नाग	दक्षिण नन्दी ..	वसुनागेंद्र
व नाग	..	महाराज वसुनाग
(५) वीरसेन[3] ..	वा० नन्दी ..	महाराजश्री वीरसेनस्य
	त्रिशूल	
	परशु	

१. ग्वालियर राज्य के अभिलेख, पृष्ठ १४।

२. इस सूची के निर्माण में ग्वालियर राज्य के पुरातत्त्व विभाग के वार्षिक विवरण तथा डॉ० हरिहर त्रिवेदी के लेखों से सहायता ली है। अपने संग्रह के सिक्कों से भी उसे पूर्ण किया गया है।

३. वीरसेन के सिक्के पद्मावती में भी प्राप्त हुए हैं। दि जर्नल ऑफ दि न्यूमिस्मेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया, १९५५, पृष्ठ ४९ तथा वार्षिक विवरण, पुरातत्व विभाग, ग्वालियर राज्य, सन १९४२–४६, पृष्ठ २६।

नाम		लाञ्छन		विरुद
(६) स्कन्द	.. ..	मयूर		
		द० नंदी	..	महाराज
		वा० नंदी	..	....धराज
		अश्व		
(७) भीमनाग	.. ..	मयूर		
		नन्दी	..	महाराजश्री
(८) बृहस्पति	.. ..	द० नंदी	..	
		वा० नन्दी		
		त्रिशूल	..	महाराज बृहस्पति नाग
		परशु		
		मयूर		
		चक्र		
(९) देव	.. ..	चक्र	..	श्री देवनागस्य
देवेन्द्र	.. ..		..	महाराजश्री देवेन्द्र
(१०) प्रभाकर	.. ..	द० नन्दी	..	महाराजश्री प्रभाकर
(पुंनाग)		वा० नन्दी		
	.. ..	द० सिंह	..	महाराजश्री प्रभ
		वा० सिंह		
		परशु		
(११) रविनाग[1]	.. ..	नन्दी	..	अधिराज[1] या महाराज
(१२) भवनाग	.. ..	त्रिशूल	..	..
		वा० नन्दी		
		द० नन्दी		
		वृत्त		
		परिक्रमा में अर्धचंद्र		महाराज
		वृत्त सहित चन्द्र	..	अधिराजश्री
(१३) गणपति, गणेंद्र या गणपेंद्र		वा० नन्दी	..	..
		वा० सिंह	..	..
		परिक्रमा के भीतर वृक्ष.		महाराजश्री

इन नाग राजाओं की मुद्राओं पर प्राप्त विरुद भी कुछ संभावनाएँ प्रस्तुत करते हैं। इनमें केवल भव नाग के नाम के साथ अधिराजश्री शब्द का प्रयोग किया गया है, जो सम्राट का पर्यायवाची है। वृषनाग की जो मुद्राएँ मिली हैं उनपर महाराज शब्द का उपयोग

१. डॉ० त्रिवेदी : दि जर्नल ऑफ दी न्यूमिस्मेटिक सोसायटी ऑफ इंडिया, १९५३।

किया गया है। अन्य सब नाग राजाओं के लिए भी महाराज या महाराजश्री का प्रयोग मिलता है। स्कंद नाग की मुद्रा में एक अन्य विशेषता प्राप्त होती है। नागस्य संस्कृत प्रयोग के स्थान पर उसकी कुछ मुद्राओं पर नागस्स प्राकृत प्रयोग मिलता है। "नव-नागास्तु भोक्ष्यन्ति पुरीम् पद्मावतीम् नृपाः" के आधार पर पद्मावती के नागों की संख्या नौ निर्धारित करना अब व्यर्थ है। निश्चय ही यह 'नव' शब्द विदिशा के 'ज्येष्ठ' नागों से विभेद बताने के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस सम्बन्ध में विष्णुपुराण का उल्लेख इस मत को बिलकुल स्पष्ट कर देता है, जिसमें लिखा गया है :—

"नव-नागाः पद्मावत्यां कांतिपुर्यां मथुरायाम्"।

इससे स्पष्ट है कि इन नव नागों ने पद्मावती, कान्तिपुरी तथा मथुरा में राजधानियाँ बनाकर राज्य किया। इस उल्लेख में नव नागों के राज्य का विकास क्रम भी प्राप्त होता है। पद्मावती में उनके द्वारा सबसे पहले इस राज्य की स्थापना हुई। इसके पश्चात् वे उत्तर में कांतिपुरी की ओर बढ़े और उसे अपनी राजधानी बनाकर उनने मथुरा के कुषाणों से संघर्ष किया। इसमें सफल होने के पश्चात् ही वे मथुरा में राजधानी बना सके होंगे।

हमारा विश्वास है कि मुद्राओं पर अंकित नव नागों के नाम उनके व्यक्ति-वाचक नहीं हैं। ये उनके अभिषेक के नाम हैं, जो अपने आदर्श और व्यक्तिगत आराध्य के आधार पर उनने धारण किये थे। पद्मावती में सबसे पहले राज्यस्थापना किसने की होगी इस प्रश्न का उत्तर भी सिक्कों और पुराणों के उल्लेख के आधार पर दिया जा सकता है। विदिशा के नागों को पुराणों ने 'वृष' कहा है। नाग सिक्कों का वृष नाग विदिशा से पद्मावती आया हो यह सम्भावना अधिक है। उसने ही पद्मावती में अपना राज्य स्थापित किया होगा। उसकी मुद्राओं पर केवल नन्दी का लाञ्छन मिला है। वह अन्य नाग मुद्राओं से विशेषता रखता है। अन्य नाग राजाओं की मुद्राओं पर नन्दी वामाभिमुख अथवा दक्षिणाभिमुख है; परन्तु वृष नाग की मुद्राओं पर सामने की ओर मुख किये नन्दी बना हुआ है। पद्मावती में एक अत्यन्त सुन्दर मानवाकार नन्दी की मूर्त्ति भी प्राप्त हुई है। संभावना यह है कि वैदिश वृष ने ही इसका निर्माण कराया हो। हमारा अनुमान यह है कि ई० सन के प्रारंभ के कुछ पूर्व अथवा उसके पश्चात् वृषनंदी पद्मावती आया होगा।

जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं वृष के पश्चात् व्याघ्र के राजा होने की संभावना है। इसने अपने सिक्कों पर चक्र का चिह्न अंकित किया। हमारे अनुमान के अनुसार व्याघ्र के पश्चात् विभु का राज्य हुआ। विभु ने अपने सिक्कों पर वृष नाग के नन्दी को तथा व्याघ्र के चक्र को ग्रहण किया; परन्तु विभु का नन्दी वामाभिमुख मिलता है। उसके नाम के बीच में परशु का चिह्न भी प्राप्त होता है। यदि डॉ० त्रिवेदी द्वारा प्रकाशित मपत के दुबारा ठुके हुए सिक्के संबंधी हमारा अनुमान सही हो तो इस विभु नाग को कुषाणों द्वारा ई० सन ८० या ९० के लगभग पराजित होना पड़ा और फिर अगले कुछ वर्षों तक पद्मावती पर कुषाणों का राज्य रहा, जिसका विवरण हम पहले दे चुके हैं। यह अधिकार विदिशा तक फैल गया था जैसा कि वासिष्क कुषाण के साँची अभिलेख से ज्ञात होता है[१]।

---

१. पीछे पृष्ठ ४६३।

जिस समय पद्मावती पर कुषाणों का राज्य हो गया था, उसी समय पद्मावती के ये नाग कान्तिपुरी गये होंगे। कान्तिपुरी (कुतवार) पद्मावती और मथुरा के बीच में स्थित है। यहाँ रहकर उन्हें कुषाणों की मथुरा-पद्मावती की गतिविधियों पर दृष्टि रखने में सरलता भी रही होगी और मथुरा तथा पद्मावती के सीधे राज-पथ से एक ओर हट जाने से वे सुरक्षित भी रहे होंगे।

विल्सन तथा कनिंघम[1] से सहमत होते हुए भू० पू० ग्वालियर राज्य के पुरातत्त्व विभाग के भूतपूर्व संचालक श्री मो० बा० गर्दे ने कुतवार को ही प्राचीन कांतिपुरी माना है[2]। श्री जायसवाल मिर्जापुर जिले के कंतित को कांतिपुरी मानते हैं। डॉ० अल्टेकर, श्री जायसवाल की इस स्थापना की आलोचना करते हुए लिखते हैं, "इस बात का कोई आधार नहीं है कि कान्तिपुरी पर किसी नागवंश का कभी राज्य रहा था, अथवा सिक्कों का नव नामक राजा नाग था। उसके सिक्के कांतिपुरी पर नहीं मिले हैं और किसी भी ज्ञात नाग सिक्के से उसकी समानता नहीं होती[3]"। परन्तु कंतित को कान्तिपुरी मानकर और वहाँ नाग मुद्राओं के प्राप्त न होने का तर्क प्रस्तुत करना बात को केवल उलझाने का प्रयास है! कुतवार में अभी तक कोई उत्खनन नहीं किया गया है, फिर भी एक दफीने में ही १८,००० से अधिक नाग मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। कनिंघम ने उस जनश्रुति को भी अंकित किया है जिसके अनुसार कभी पढ़ावली, कुतवार और सुहानिया बारह कोस के विस्तार में फैले हुए एक ही नगर के भाग थे। कुतवार के विषय में कनिंघम ने लिखा है कि वह बहुत प्राचीन स्थान है। पढ़ावली का प्राचीन नाम धारौन है। गुप्तों का गोत्र धारण कहा जाता है। संभावना यह है कि इसी धारोन से ये 'धारण' प्रयाग चले गये होंगे। अतः कांतिपुरी को कंतित में खोजने की आवश्यकता नहीं है, वह वर्त्तमान कुतवार के स्थल पर थी।

हमारा अनुमान है कि कुषाणों की राज्य शक्ति शिथिल हो जाने पर हुविष्क के राज्य-काल के अन्तिम दिनों में, लगभग १५० ई० में वसु ने पद्मावती को अपने अधिकार में ले लिया और वासुदेव कुषाण के राज्यकाल के पश्चात् कभी वीरसेन ने मथुरा को भी कुषाणों से छीनकर पद्मावती के नागों के राज्य में सम्मिलित कर लिया। हुविष्क के सिक्कों पर प्राप्त स्कंद और महासेन की आकृतियों का इन नागों की मुद्राओं पर भी प्रभाव पड़ा। वसु नाग के सिक्कों पर नागों के प्राचीन चिह्न नन्दी के अतिरिक्त मयूर ने भी स्थान पाया। यह मयूर देवसेनापति स्कंद का वाहन है। विष्णुपुराण के ऊपर के उद्धरण के अनुसार नव नागों की पद्मावती, कांतिपुरी और मथुरा का राजवंश एक ही था। उसके तीन राजवंशों की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है। वीरसेन पद्मावती के नव नागों के वंश का ही राजा था। डॉ० अल्टेकर ने अनुमान किया है कि चूँकि वीरसेन की मुद्राएँ

१. आ० स० ई० रिपोर्ट, भाग २, पृष्ठ ३३९ तथा भाग २०, पृष्ठ १०७।

२. वार्षिक विवरण, पुरातत्त्व विभाग, ग्वालियर राज्य, संवत् १९९७, खण्ड ६, पृष्ठ २२।

३. ए न्यू हिस्ट्री ऑफ दी इंडियन पीपल, खण्ड ६, पृष्ठ २६।

मथुरा में प्राप्त होती हैं, अतएव उसने मथुरा में नये नागवंश की स्थापना की थी[1]। परन्तु वीरसेन के सिक्के अब प्रचुर संख्या में पद्मावती और कांतिपुरी (कंतित में नहीं कुतवार) में प्राप्त हो चुके हैं, अतएव इस स्थापना पर विचार करने की आवश्यकता नहीं। वीरसेन के समय में नव नागों के साम्राज्य का विस्तार बहुत अधिक हो गया था। फरुखाबाद जिले में जानखट नामक ग्राम में वीरसेन का शिलालेख मिला था, ऐसा उल्लेख श्री जायसवाल ने किया है[2]। वे लिखते हैं कि उस पर "स्वामिन वीरसेन संवत्सरे १०,३ (१३)" लिखा है। जानखट के अवशेषों के ताड़ और गंगा के अंकन उन्हें नागों से संबद्ध करते हैं।

स्कंद के सिक्कों पर मयूर, नन्दी और अश्व[3] के लाञ्छन मिलते हैं। अश्व लाञ्छन युक्त सिक्के के पीछे "···धराज" शब्द पढ़ा गया है। स्कंद के इस अश्वयुक्त सिक्के से हम अनुमान करते हैं कि वह अश्वमेधयाजी था।

भीम की मुद्राओं पर हम मयूर और नन्दी के ही लाञ्छन देखते हैं। बृहस्पति के सिक्कों पर मयूर भी है और नन्दी, त्रिशूल, परशु तथा चक्र भी। इसके पश्चात् फिर किसी नाग राजा की मुद्रा पर मयूर दिखाई नहीं देता।

श्री जायसवाल ने जिस सिक्के पर 'नवस' पढ़ा था[4], वह वास्तव में विन्सेण्ट स्मिथ के अनुसार 'देवस' ही ठीक था और वह देव या देवेन्द्रनाग का सिक्का ज्ञात होता है। देव नाग के सिक्के उत्तर प्रदेश में कानपुर तक प्राप्त हुए थे। देव के बहुत अधिक सिक्के पद्मावती में भी प्राप्त होते हैं। वीरसेन द्वारा विस्तृत साम्राज्य को आगे के नाग राजाओं ने अक्षुण्ण रखा था। श्री जायसवाल ने (उनके मत में 'नवस' और वास्तव में) देव नाग का राज्यकाल कम से कम २७ वर्ष माना है।

देव नाग का राज्यकाल २४० ई० के लगभग समाप्त हो गया होगा और उसके पश्चात् ही प्रभाकर का राज्यकाल प्रारम्भ हुआ होगा, यह हमारा अनुमान है। प्रभाकर ने अपनी मुद्राओं पर सिंह का लाञ्छन प्रयोग किया है। यह शिव की शक्ति पार्वती का प्रतीक है। इधर आगे हम यह भी देखेंगे कि विन्ध्यशक्ति के नाम से प्रसिद्ध नागों के वाकाटक सेनापति का कार्यकाल सन २४८ के आसपास था। प्रभाकर ही विन्ध्यवासिनी का भक्त ज्ञात होता है, अतएव उसने अपने सेनापति को विन्ध्यशक्ति नाम दिया होगा। यह घटना ई० सन २४८ के पहले की होना चाहिए। इसके समय तक विदिशा से दक्षिण तक बेतवा की समस्त घाटी नागों के राज्य में आ चुकी होगी।

ऊपर की सूची के बारहवें राजा भव नाग का सौभाग्य से शिलालेखों में उल्लेख मिलता है और उसके लिए केवल सिक्कों और उनपर बने हुए लाञ्छनों पर से अनुमान

१. ए न्यू हिस्ट्री ऑफ दी इंडियन पीपल, खंड ६, पृष्ठ २७।
२. अंधकारयुगीन भारत, पृष्ठ ४१।
३. दि जर्नल ऑफ दी न्यूमिसमेटिक सोसायटी ऑफ इंडिया, मार्च १९५३ में डॉ० त्रिवेदी का लेख।
४. अन्धकारयुगीन भारत, पृष्ठ ३५।

नहीं करना है। भव नाग को उसके सिक्कों में अधिराजश्री लिखा गया है। वह अकारण नहीं है। इसके समय तक नाग साम्राज्य दिल्ली से विन्ध्याचल तक, पश्चिम में लाहौर से पूर्व में प्रयाग तथा बस्तर तक फैल गया था। भव नाग के पहले ही वीरसेन ने कुषाणों से मथुरा ले ली थी।

विन्ध्यशक्ति

भव नाग की राज्य सीमा और उसके प्रभाव का विवेचन करने के लिए एक नवीन वंश का उल्लेख आवश्यक है, जो इसी समय कहीं विन्ध्य के अंचल में विकसित हो रहा था। वाकाटक वंश के संस्थापक विन्ध्यशक्ति का समय श्री जायसवाल ई० सन २४८–२८४ मानते हैं[1] और डॉ० अल्टेकर उसका समय २५५–२७५ मानते हैं। इन दोनों विद्वानों में से कोई भी सही हो, एक बात निश्चित है कि विन्ध्यशक्ति का उदय भव नाग के पूर्व हो गया था। पुराणों में विन्ध्यशक्ति को किलकिला के वृषों से संबंधित बतलाया गया है। इस विषय में श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने लिखा है, "पुराणों में जो यह कहा गया है कि किलकिला के राजाओं में से विन्ध्यशक्ति एक राजा हुआ था, उसका अभिप्राय यह है कि वह किलकिला के राजाओं के माने हुए करद राजाओं में था, उनके संघ के एक खास सदस्यों में से था। वाकाटकों के जो राजकीय लेख आदि हैं, उनमें विन्ध्यशक्ति का नाम छोड़ दिया गया है और अपने स्वतंत्र राजाओं के वंश का प्रवरसेन से प्रारम्भ किया गया है; और इसीसे यह बात प्रमाणित होती है कि राष्ट्रीय संगठन की दृष्टि से विन्ध्यशक्ति एक अधीनस्थ राजा था। केवल अजंता की गुफा वाले शिलालेख में (गुफा नं० १६) वंश का जो इतिहास (क्षितिपानुपूर्वी) दिया गया है, उसी में कहा गया है कि वाकाटक वंश का संस्थापक विन्ध्यशक्ति था—वाकाटक-वंश-केतुः। इस वर्णन से यह प्रकट होता है कि विन्ध्यशक्ति, जिसकी शक्ति बड़े-बड़े युद्धों में विजय प्राप्त करने से बढ़ी थी और जिसने अपने बाहुबल से एक नये राज्य की स्थापना की थी, जो वाकाटक वंश का केतु था और जो जन्मभर कट्टर ब्राह्मण बना रहा (चकार पुण्येषु परं प्रयत्नम्), वस्तुतः किलकिला के वृषों का एक सेनापति था। उसने अपने वंश की उपाधि के लिए अपने मूल निवास-स्थान का जो नाम चुना था, उससे सूचित होता है कि वह एक सामान्य नागरिक था और किसी राजवंश में उसका जन्म नहीं हुआ था[2]"।

यह तो निश्चित ही है कि विन्ध्यशक्ति व्यक्तिवाचक नाम न होकर पद का सूचक है और यह पद सेनापति का ही हो सकता है। श्री अल्टेकर का कथन है कि "पुराणों में विन्ध्यशक्ति को विदिशा और पुरिका का शासक कहा गया है। पुरिका बृहत्संहिता के अनुसार दशार्ण से मिली हुई थी और उसके एक ओर कहीं विदर्भ था और दूसरी ओर मूलक"[3]। परन्तु इस कथन से जो परिणाम डॉ० अल्टेकर ने निकाला है वह सही नहीं है। वे लिखते हैं, "अतएव हम यह अनुमान कर सकते हैं कि वाकाटकों का मूल स्थान

---

१. अन्धकारयुगीन भारत, पृष्ठ १७२।

२. वही, पृष्ठ १५१–१५२।

३. ए न्यू हिस्ट्री ऑफ दी इण्डियन पीपल, खण्ड ६, पृष्ठ ९६।

पश्चिमी मध्यप्रदेश या बरार था"[1]। जो प्रदेश बृहत्संहिता के अनुसार दशार्ण प्रदेश से मिला हुआ होगा, वह अनिश्चित 'पश्चिमी मध्यप्रदेश' अथवा बरार न होगा और अधिक संभावना यही है कि वह श्री जायसवाल के अनुसार वाकाट हो जो "ओड़छा राज्य के सबसे उत्तरी भाग में चिरगाँव से छह मील दूर झाँसी के जिले में"[2] है। इस वाकाट का कोई व्यक्ति विदिशा और पुरिका के नाग साम्राज्य का सेनापति बनाया गया और उसने अपना नाम पद्मावती के नागों की विन्ध्याचल की शक्ति अर्थात् विन्ध्यशक्ति प्रसिद्ध किया। इस वाकाट के संबंध में श्री जायसवाल ने लिखा है—"जान पड़ता है कि पुराणों के अनुसार जिस ब्राह्मण का पहले पहल राज्याभिषेक हुआ था, जो इस राजवंश का मूल पुरुष था और जिसने अपना उपयुक्त नाम विन्ध्यशक्ति रखा था, उसने अपने राजवंश की उपाधि के लिए अपने नगर या गाँव का नाम चुना था। अमरावती में एक यात्री का लेख मिला है जिसमें एक सामान्य नागरिक ने ई० पू० सन १५० के लगभग अपने आपको वाकाटक अर्थात् वाकाट का निवासी बताया है और इससे सिद्ध होता है कि वाकाट एक बहुत पुराना कस्बा था। संभव है कि उस समय भी वहाँ के ब्राह्मणों को इस बात का गर्व रहा हो कि हमारा कस्बा द्रोणाचार्य का निवास-स्थान है, और द्रोणाचार्य भी वाकाटकों की तरह भारद्वाज ब्राह्मण ही थे"[3]।

वाकाट के इस ब्राह्मण सेनापति ने विन्ध्य में तथा पश्चिम में नर्मदा के छोर तक नागों की शक्ति को बढ़ाया इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसके द्वारा ही अवन्ति से कार्दमक शकों का उन्मूलन किया गया। उत्तर में पांचाल अर्थात् अहिच्छत्रा, मथुरा और कौशाम्बी तक हम नागों का राज्य पाते हैं। इसी विशाल राज्य को भव नाग ने प्राप्त किया था और अपने पूर्वजों के महाराज के स्थान पर अधिराज का विरुद धारण किया था।

इस विन्ध्यशक्ति के प्रतापी पुत्र प्रवरसेन के पुत्र के साथ महाराजाधिराज भव नाग ने अपनी पुत्री का विवाह कर दिया और वे विन्ध्य के प्रदेश की ओर से निश्चिन्त हो गये। वाकाटकों के शिलालेखों से यह अवश्य ज्ञात होता है कि भव नाग ने उनके वंश के प्रताप की वृद्धि में बहुत अधिक सहयोग दिया था।

ज्ञात यह होता है कि पद्मावती के नागों से संबंधित जितने भी स्थानीय क्षेत्रों के राजा थे वे अपने अधिराज की सार्वभौम सत्ता को स्वीकार करते थे तथा अन्य सब आशयों के लिए वे स्वतंत्र शासक थे।

वाकाटकों के शिलालेखों में पद्मावती के इस नागवंश के विषय में बहुत-सी बातें ज्ञात होती हैं। चम्मक[4] में प्राप्त प्रवरसेन (द्वितीय) के ताम्रपत्र में गुप्तों द्वारा नाग साम्राज्य के उन्मूलन के पश्चात् इन नागों का स्मरण किया गया है। गौतमीपुत्र वाकाटक का उल्लेख करते हुए इस ताम्रपत्र में लिखा है कि वह उन महाराज श्री भव नाग का दौहित्र था जो

---

१. ए न्यू हिस्ट्री ऑफ दी इंडियन पीपल, खंड ६, पृष्ठ ९७।

२. अन्धकारयुगीन भारत, पृष्ठ १४७।

३. वही, पृष्ठ १४८।

४. दिनेशचंद्र सरकार : सिलेक्ट इंसक्रिप्शन्स, पृष्ठ ४१८।

उन भारशिवों के वंश में उत्पन्न हुए थे, जिसका आरम्भ इस प्रकार हुआ था कि उन्होंने शिवलिंग को अपने कंधे पर वहन करके शिव को भलीभाँति परितुष्ट किया था, जिनका राज्याभिषेक उस भागीरथी के पवित्र जल से हुआ था जिसे उन्होंने अपने पराक्रम से प्राप्त किया था और जिनने दस अश्वमेध यज्ञ कर अवभृथ स्नान किया था।

वास्तव में इस उल्लेख में इस प्रतापी नागवंश का बहुत लंबा इतिहास संक्षेप में लिख दिया गया है। ज्येष्ठ नाग परम शैव होने के कारण और शिव-विग्रह को सदा अपने साथ रखने के कारण भारशिव कहलाते थे, उसी वंश में थे ये पद्मावती-कांतिपुरी-मथुरा के नव नाग, जिनमें से अनेक परम शैव थे।

भव नाग ने शिव के रूप की परिकल्पना को पूर्ण किया। शिव का नन्दी, पार्वती का वाहन सिंह, स्कंद का वाहन मयूर, शिव का परमास्त्र त्रिशूल और संभवतः सातवाहनों द्वारा स्मरण किये गये रुद्र ऋषि परशुराम का परशु इसके समय तक नाग मुद्राओं पर आसीन हो चुके थे। भव नाग ने शिव के मस्तक पर स्थान पानेवाले अर्धचंद्र को भी अपनी मुद्राओं पर अंकित किया और महरौली स्तम्भ-लेख में सूचित चंद्र का विरुद धारण किया।

भव नाग के अतिरिक्त जिस नाग राजा के सिक्कों पर अधिराज शब्द मिलता है वह रवि नाग है[1]। यदि यह रवि नाग अधिराज है तो निश्चय ही यह भव नाग के पश्चात् हुआ होगा और इसके समय में उत्तर के अहिच्छत्रा, मथुरा तथा कौशाम्बी के नाग राजा पद्मावती से केवल नाममात्र को संबद्ध रह गये थे।

पद्मावती के नागवंश का अतिम राजा गणपति नाग था। इसके सिक्के लाखों की संख्या में मिलते हैं और उनपर केवल महाराजश्री का विरुद रह गया है। सम्भव है भव नाग ने अधिराज का जो विरुद लिया था उसे गणपति ने अपने विशाल अधिकार क्षेत्र के घटकों में फूट डालनेवाला समझा हो और उत्तर के अहिच्छत्रा, मथुरा और कौशाम्बी के नाग राजा तथा दक्षिण के विन्ध्यशक्ति एवं पल्लवों के वंश को स्वतंत्र घटकों के रूप में स्वीकार कर उन पर केवल अपना नैतिक प्रभुत्व रखा हो और अधिराज विरुद को न अपनाया हो। गणपति नाग के प्रभुत्व में कोई अन्तर नहीं आया था, केवल साम्राज्य स्थापना की प्रवृत्ति को रोका गया था।

नागराजाओं के वृष, वसु, विभु आदि नाम व्यक्तिवाचक नाम ज्ञात नहीं होते। वे अभिषेक के समय आदर्श, उद्देश्य और व्यक्तिगत श्रद्धा के अनुसार रखे गये नाम ज्ञात होते हैं। गणपति नाग के सिक्कों पर उसके नाम गणपति, गणेन्द्र तथा गणपेन्द्र मिलते हैं। इससे प्रकट होता है कि यह उसका नाम नहीं था, केवल उस प्रवृत्ति का सूचक था

---

१. डॉ० हरिहर त्रिवेदी ने पद्मावती में प्राप्त कुछ नाग-मुद्राओं पर स्पष्टतः रवि नाग पढ़ा है और उसके विरुद के संबंध में वे लिखते हैं, "इन दोनों मुद्राओं पर श्री के पहले के अक्षर पूरी तरह स्पष्ट नहीं हैं, तथापि उनमें से एक पर जिन अक्षरों के चिह्न हैं उनके द्वारा या तो महाराज पढ़ा जा सकता है या अधिराज"। (दी जर्नल ऑफ दी न्यूमिस्मेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया, मार्च १९५३)।

जिसके अनुसार वह गणाध्यक्ष नागों के विस्तृत प्रभाव क्षेत्र के घटकों को एक सूत्र में बाँधे रखना चाहता था। वह इन विभिन्न गणराज्यों का गणपति, गणेन्द्र या गणपेन्द्र था।

श्री जायसवाल ने 'भावशतक' नामक एक ग्रन्थ की सूचना दी है, जिसमें गणपति के स्वभाव तथा प्रभाव दोनों का ही उल्लेख है। उसमें गणपति को 'धाराधीश' लिखा है। इस पुस्तक के अनुसार गणपति को देखकर सब नाग भयभीत होते थे और उसका स्वभाव उग्र तथा कठोर था, वह स्वभाव से ही युद्धप्रिय और भारी योद्धा था।

नागों की शासन प्रणाली

समुद्रगुप्त ने जिन आर्यावर्त्त के राजाओं का राज्य उखाड़कर उनके राज्य को अपने साम्राज्य में मिलाया था उनमें मत्तिल, नागदत्त, नागसेन, अच्युत, नन्दी और रुद्रदेव राजाओं के नाम गिनाए गये हैं। इनके अतिरिक्त उन गणतंत्रों में जो समुद्रगुप्त के करद बन गये थे, मालव, आर्जुनायन, यौधेय, आभीर, सनकानिक और खर्परिक गिनाए गये हैं। ये सभी किसी न किसी रूप में पद्मावती के नागों से सम्बद्ध थे, यह विवेचन हम आगे करेंगे। इन सब पर पद्मावती के नागों का शासन किस प्रकार का था, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु इसकी कुंजी गणपति के नाम में और उसके पूर्व भव नाग के विरुद 'अधिराज' में है।

जैसा हम पहले लिख चुके हैं गणपति का यह नाम वास्तविक नहीं है। यदि यही उसका वास्तविक नाम होता तब उसी के सिक्कों पर उसके गणेन्द्र, गणपति और गण-पेन्द्र आदि अनेक रूप न मिलते। प्राचीन इतिहास में इस प्रकार के प्रमाण मिलते हैं और आगे गुप्त काल में भी यह प्रथा दिखाई देती है, जिससे अभिषेक के स य नाम बदला जाना प्रकट होता है।

ज्ञात यह होता है कि भारत से कुषाणों को निकाल भगाने के लिए उत्तर भारत की समस्त शक्तियों का कोई संगठन अवश्य बना होगा। सम्भवतः वीरसेन ने उसका नेतृत्व किया हो। नागों का स्वयं का राज्य अत्यन्त विशाल था। जिन गणतंत्रों के ऊपर नाम दिये गये हैं वे या तो उनके राज्य की सीमाओं के भीतर ही बने हुए थे या उसके पास थे। कुषाणों को निकालने के आशय से बने इस संघ का नेतृत्व करनेवाले नाग राजा अत्यन्त शक्तिशाली हो गये होंगे और भवनाग के समय में हम उन्हें अधिराज विरुद धारण करते देखते हैं। परन्तु नागों का यह प्रभाव साम्राज्य के रूप में नहीं था और न उनके अधीन ये गणराज्य शासित के रूप में रह सकते थे। सम्भवतः इसी प्रवृत्ति का अनुभव कर गणपति ने केवल गणपति, गणेन्द्र अथवा गणपेन्द्र बनना पसन्द किया। परिणामतः गणपति का शासन एक विशाल संघ का रूप बन गया, जिसमें पंजाब, पांचाल (अहिच्छत्रा), मथुरा, कौशाम्बी और वर्त्तमान बुलन्दशहर के प्रदेश में नागों के स्थानीय शासक नागदत्त, अच्युत, नागसेन स्वतन्त्र शासक के रूप में राज्य करने लगे। दक्षिण में वाकाटक और पल्लव आदि भी इसी प्रकार स्वतन्त्र सत्ता के रूप में दिखाई दिये। गणतन्त्र अपने आन्तरिक शासन में स्वतन्त्र थे ही। एक बात विशेष महत्त्व की है। इन राजाओं और गणतन्त्रों में से बहुत थोड़ों ने अपने स्वतन्त्र सिक्के चलाए।

श्री जायसवाल ने सर्वप्रथम अत्यन्त शालीन और सुपुष्ट रूप में यह स्थापना की थी कि पद्मावती के इन भारशिव नागों के नेतृत्व में कुषाणों के विरुद्ध संघबद्ध प्रयास किया गया था[1]। इस स्थापना का सबसे अधिक जमकर विरोध डॉ० अनन्त सदाशिव अल्टेकर ने किया है। वे लिखते हैं. "वीरसेन के वंशजों ने कुषाणों को इतना दबाया कि वे ससानी सम्राट शापुर (प्रथम) की शरण लेने के लिए बाध्य हो गये, इस मत के लिए कोई लेश मात्र भी साक्ष्य नहीं है"····"अतएव कुषाण साम्राज्य की समाप्ति पर विचार करते समय हमें अपने मस्तिष्क से इस धारणा को निकाल देना चाहिए कि कान्तिपुरी के भारशिवों ने कुषाण साम्राज्य को समाप्त किया था[2]"। आगे वे कुषाणों से भारत के उद्धारकर्त्ता की ओर इंगित करते हुए लिखते हैं, "अभी तक प्राप्त साक्ष्य इस मत की पुष्टि नहीं करता कि उक्त सभी शक्तियों का कोई संघ एक नेतृत्व में कुषाण साम्राज्य के उत्पाटन के लिए बना था। यौधेय सबसे प्रबल थे। उनने ही, सम्भवत: अपने निकट पड़ोसी कुबिन्द और अर्जुनायनों के सहयोग से, सम्भवत: सबसे पहला और प्रबल धक्का दिया। उनकी इस सफलता ने पद्मावती के नाग और राजपूताने के मालवों को यह बल दिया कि वे उनके द्वारा प्रस्तुत उदाहरण को अनुसरण करें और अपनी स्वतंत्रता पुनः प्राप्त करें[3]"।

डॉ० अल्टेकर ने भारशिव नागों के इतिहास को सहानुभूतिपूर्वक न देखा और न समझा। वे गणपति नाग के विषय में लिखते हैं कि उसके सिक्के पद्मावती की अपेक्षा मथुरा में अधिक मिलते हैं और इस कारण संभवतः वह मथुरा के नागवंश का होगा[4]। यदि वे सहानुभूतिपूर्वक नागों के इतिहास को देखते तो उन्हें कुषाणों के विरुद्ध बने संघ के कारण और प्रमाण दोनों मिल जाते। इस प्रकार के संघ महमूद गजनवी और मुहम्मद गौरी के आक्रमण के समय भी बने थे और वे किसी भारतीय परम्परा के ही द्योतक थे। आगे औरंगजेब के समय में भी शिवाजी से छत्रसाल तथा अन्य राजपूतों ने राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ा था और १८५७ में भी देशव्यापी संगठन हुआ था। जिन यौधेयों को इस महापराक्रम का सुयश दिया गया उसका भी क्या आधार है? इसे वे स्वयं बतलाते हैं, "यद्यपि यह मत (कि कुषाणों को यौधेयों ने निकाल फेंका) केवल मात्र सिक्कों के साक्ष्य पर आधारित है, तथापि वह निश्चित ही अकाट्य है। यह सही है कि यौधेयों और कुषाणों के बीच हुए किसी सीधे संघर्ष का साक्ष्य नहीं है; परन्तु सिक्कों का साक्ष्य यह अकाट्य रूप से प्रकट करता है कि प्रथमोक्त केवल उपरोक्त को परास्त करने के पश्चात् ही अपनी शक्ति की पुनः स्थापना कर सकते थे"।

यौधेयों को कुछ समय पूर्व ही रुद्रदामन पीट चुका था। यौधेयों ने "यौधेयानां जयः" के सिक्के कब प्रचलित किये थे यह हम पहले लिख चुके हैं। नागों के नेतृत्व में कुषाणों

---

१. अन्धकारयुगीन भारत, पृष्ठ ११७।

२. ए न्यू हिस्ट्री ऑफ दी इण्डियन पीपल, खण्ड ६, पृष्ठ २७।

३. वही, पृष्ठ २८।

४. वही, पृष्ठ ३७।

को उखाड़ फेंकने की दशा में भी यौधेय ऐसे सिक्के और "यौधेयानां जयमंत्रधराणाम्" की मुद्राएँ जारी कर सकते थे। लुधियाने के पास यह मुद्रा मिली है। यदि वहाँ से कुषाण हटा भी दिये जाते तब उनके हाथ से पांचाल, मथुरा, सारनाथ और कुछ मतों के अनुसार मगध, पद्मावती और विदिशा कैसे निकल जाती[1] ? यदि राजपूताने के मालव, मध्य देश के नाग तथा अन्य शक्तियों ने साथ-साथ यह स्वातन्त्र्य यज्ञ किया तब संघ और किसे कहते हैं ? रही भारशिवों के नेतृत्व की बात सो वह इसी से सिद्ध हो जाती है कि डॉ० अल्टेकर के मत से ही उनके आधिपत्य में वह प्रदेश था जो कुषाणों के भारत साम्राज्य का हृदय था। वे लिखते हैं, "नागवंश की दो शाखाएँ मथुरा, धौलपुर, आगरा, ग्वालियर, कानपुर, झाँसी और बाँदा के क्षेत्र में राज्य कर रही थी"। यदि डॉ० अल्टेकर का सिद्धान्त माना जाए तब दिखता यह है कि कुषाणों को भगाया यौधेयों ने; परन्तु राज्य हाथ आगया नागों के। संभवतः वाकाटकों को इन नागों से विवाह सम्बन्ध करने पर अकारण ही गर्व न हुआ था और राजनैतिक कारणों से विवाह करनेवाले गुप्त सम्राटों ने अकारण ही कुबेरनागा से विवाह नहीं किया था। हम डॉ० अल्टेकर की इन स्थापनाओं पर यहाँ इतना न लिखते यदि उनके इस सिद्धान्त को अनेक परवर्ती इतिहास ग्रन्थों में भी प्रतिध्वनित न किया जाता।

इतिहास के प्रकाण्ड पंडित डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार ने कुछ झिझकते हुए डॉ० अल्टेकर की इस स्थापना को अस्वीकार किया है। वे लिखते हैं, "अभी हाल ही में यह सुझाव दिया गया है कि पंजाब से कुषाण राज्य समाप्त करने का एक मात्र श्रेय केवल यौधेयों को है। परन्तु यह सिद्धान्त केवल आंशिक रूप में सही हो सकता है"[2]। परन्तु श्री जायसवाल की इस स्थापना के प्रति कि कुषाणों को नागों ने उखाड़ फेंका था यह विद्वान भी अत्यन्त अनुदार शब्दों का प्रयोग करते हैं, "भारशिव नागों ने भारत से कुषाण प्रभुत्व को उखाड़ फेंका था तथा बनारस के दशाश्वमेध घाट का यह नाम भारशिवों द्वारा उस स्थान पर दस अश्वमेध यज्ञ करने के कारण पड़ा, इस सुझाव को विचित्र कल्पनामय (फेनटास्टिक) माना जा सकता है[3]"। इन विश्वविश्रुत विद्वानों के अभिमतों की आलोचना करना हमें उचित ज्ञात नहीं होता, हम यहाँ केवल प्राप्त सामग्री के आधार पर अपने मतानुसार मध्यदेश के महानतम, श्रेष्ठतम तथा अत्यन्त गौरवशाली वंश का इतिहास देना ही पर्याप्त समझते हैं। काल अनन्त है, पृथ्वी विपुल है और वह नये-नये प्रमाण भी उगल रही है। जितना प्रयास डॉ० जायसवाल की स्थापनाओं के सही अंशों के खण्डन करने में किया गया, उससे दशमांश भी यदि नागों की पद्मावती, विदिशा तथा कान्तिपुरी आदि नगरियों के अवशेषों के अध्ययन में लगाया जाता तो यह सिद्ध हो जाता कि अत्यन्त सीमित और सूक्ष्म सामग्री के होते हुए भी स्वर्गीय श्री जायसवाल ने जो मूल स्थापना की थी वह अत्रुट सत्य है और उनकी वाणी में मंत्रद्रष्टा ऋषि जागरित हुआ था। हम इस अप्रिय प्रसंग के अन्त में श्री जायसवालजी

१. ए न्यू हिस्ट्री ऑफ दी इंडियन पीपल, खंड ६, पृष्ठ २९।

२. दि हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दी इण्डियन पीपल, खंड २, पृष्ठ १६८।

३. वही, पृष्ठ १६९।



फीरोजपुर (विदिशा) में प्राप्त नाग राजा की प्रतिमाएँ (पृष्ठ ४८२)



साँची के पास नाग राजा की मूर्ति (पृष्ठ ४८१)



साँची के पास प्राप्त नाग राजा की मूर्ति (पीछे से)



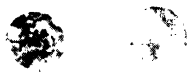
साँची के पास पाषाणाश्व (पृष्ठ ४८१)



अधिराजश्री भव नाग

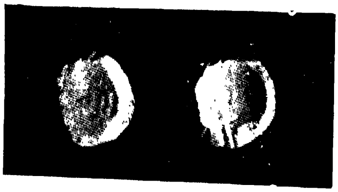


भव नाग



स्कन्द नाग

नाग राजाओं की मुद्राएँ (पृष्ठ ४८१)



ज्येष्ठ (मित्र या नाग?)
पद्मावती पर प्राप्त ज्येष्ठमित्र शुंग का सिक्का
(पृष्ठ ३९८)

माहेश्वर नाग की मुद्रा, लाहौर में प्राप्त (पृष्ठ ४८४)



के अमर शब्द यहाँ उद्धृत कर देना उचित समझते हैं, "प्रत्येक युग और प्रत्येक देश में जब कोई मानव-समाज कोई बड़ा राष्ट्रीय कार्य आरम्भ करता है तब उसके सामने एक ऐसा मुख्य तत्त्व रहता है जिससे उसके समस्त कार्य संचालित होते हैं। हमें यह बात भूल न जानी चाहिए कि उस समय भारत के हिन्दू समाज में भी इसी प्रकार का एक मुख्य तत्त्व काम कर रहा था। यह तत्त्व आध्यात्मिक विचार और विश्वास का है। जो इतिहास लेखक इस तत्त्व पर ध्यान नहीं देता और केवल घटनाओं की सूची तैयार करने का प्रयत्न करता है, वह मानो चिड़ियों को छोड़कर उनके पर ही गिनता है[1]"।

नव नागों का अश्वमेध

साँची की पहाड़ी के दक्षिण में लगभग १२ फुट लम्बे विशालकाय पशु की मूर्त्ति पड़ी हुई है। बहुत ध्यान से देखने पर यह अश्व की मूर्त्ति ज्ञात होती है। इसके पास ही एक नाग राजा की भव्य मूर्त्ति है। इन पर कोई अभिलेख नहीं है। काशी में दो पाषाणाश्व प्राप्त हुए थे, एक नगवा में था[2] तथा दूसरा लखनऊ संग्रहालय में चला गया है[3]। पहले अश्व को बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर ने चन्द्रगुप्त प्रथम अथवा द्वितीय के और दूसरे को समुद्रगुप्त के अश्वमेध-अश्व की प्रतिकृति कहा है। डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार, डॉ० जायसवाल के इस सुझाव को कि सम्भवत: भारशिवों ने काशी में दस अश्वमेध यज्ञ करके उस स्थान का नाम ही दशाश्वमेध घाट रखा, विचित्र कल्पनामात्र मानते हैं। चम्मक के ताम्रलेख से क्या ध्वनि निकलती है यह पहले हम लिख चुके हैं, भारशिवों ने दस अश्वमेघ यज्ञ करके अवभृथ स्नान किया था और गंगा को अपने पराक्रम से प्राप्त किया था। पूरी गंगा को तो हमारे मत में शिशु नाग ने प्राप्त किया था और नव नागों ने भी प्रयाग तक तो उसे प्राप्त कर ही लिया था। परन्तु हमारा आशय यहाँ उनके अश्वमेध यज्ञों से है। विदिशा (साँची) के इस पाषाणाश्व को हम नागों के अश्वमेघ से ही सम्बन्धित मानते हैं।

डॉ० हरिहर त्रिवेदी ने स्कन्द नाग की एक मुद्रा प्रकाशित की है[4]। इस मुद्रा में एक ओर उनके कथनानुसार अश्व बना हुआ है, और दूसरी ओर ····घराज स्क है। यह निश्चय ही स्कन्द नाग के लिए हैं ऐसा उनका मत है। सम्भावना यह है कि पद्मावती के इन नागों में से एकाधिक अश्वमेधयाजी थे, जिनमें से एक ने साँची के आसपास कोई अश्वमेध यज्ञ किया था और उसकी स्मृति में यह पाषाणाश्व बनवाया था। यह स्मरणीय है कि साँची प्राचीन विदिशा नगर का ही भाग था। वर्त्तमान भेलसा, हेलियोदोर स्तम्भ, उदयगिरि, फिरोजपुर और साँची सब प्राचीन विदिशा के अंचल में ही बसे हुए हैं। हेलियोदोर स्तम्भ, उदयगिरि और साँची के अतिरिक्त इस प्रदेश की विस्तृत खोजबीन अभी नहीं हुई है।

---

१. अंधकारयुगीन भारत, पृष्ठ १०३।
२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् १९८४, पृष्ठ २२९।
३. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् १८८५, पृष्ठ १।
४. दि जर्नल ऑफ दि न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, मार्च १९५३।

नाग राजाओं की मूर्त्तियाँ

ज्ञात होता है कि इन नव नागों का सम्बन्ध पद्मावती, कान्तिपुरी और मथुरा के अतिरिक्त विदिशा से भी बहुत घनिष्ट रहा। साँची के पास जो नाग मूर्त्ति पड़ी हुई है उसके हाथ तथा मुख खण्डित हो गये हैं। तथापि उसके निर्माण में मूर्त्तिशिल्प अत्यन्त उच्च श्रेणी का है। नागछत्र के अतिरिक्त उसमें कोई ऐसा चिह्न नहीं है जिसके कारण उसे पूजा के लिए निर्मित साम्प्रदायिक मूर्ति कहा जा सके। हमारे मत में यह उन नागों की मूर्त्ति है जो मानवदेह से यहीं राज्य कर रहे थे। इस स्थान से कुछ मील पर फिरोजपुर नामक एक ग्राम है। यहाँ एक ओर एक राजा तथा एक रानी की मानवाकार से ऊँची दो प्रतिमाएँ पड़ी हुई हैं। वे भी मानवों की प्रतिमाएँ हैं, पूजने के लिए यक्षों अथवा देवताओं की प्रतिमाएँ नहीं, उनके ऊपर भी नागछत्र लगा हुआ है। इनके पास ही एक स्तम्भशीर्ष जैसा मूर्त्ति-समूह है। नीचे टूटा हुआ घण्टाकृति गोला है, उसके ऊपर कमल बेल के अंकन युक्त पट्टी है और इस पट्टी के ऊपर नाग राजा तथा रानी की अत्यन्त सुन्दर प्रतिमाएँ बनी हुई हैं। ये सब प्रतिमाएँ भी अलग-अलग नागछत्र से ढकी हुई हैं। इनमें मानव के पौरुष और स्त्री के शालीन सौन्दर्य के अंकन में जो कुशलता दिखलाई गयी है वह भारतीय कला में अन्यत्र दुर्लभ है। पट्टी पर कमल बेल का अंकन भी अत्यन्त सजीव तथा मनोहर हुआ है। हमारा विश्वास है कि ये नाग मूर्त्तियाँ नागपूजक किसी सम्प्रदाय की न होकर इस प्रदेश के नाग राजाओं की मूर्त्तियाँ हैं। इनका निर्माण सम्भवतः पिछले नाग राजाओं के राज्यकाल में ईसवी तीसरी शताब्दी के अन्तिम भाग में हुआ ज्ञात होता है। पिछली शताब्दियों में भारतीय मूर्त्तिकार ने जिस कौशल को अर्जित किया था उसका चरमोत्कर्ष इन प्रतिमाओं में दिखाई देता है। आन्तरिक शारीरिक शक्ति का ऐसा ऊर्जस्वल प्रदर्शन प्राचीन भारतीय कला में बिलकुल असामान्य बात है और वैसा ही असामान्य है नाग रानी का श्रद्धा-प्रेरक सौन्दर्य अंकन। इनके कलात्मक रूप का विवेचन तो अन्यत्र करेंगे, यहाँ हमारा आशय केवल यह दिखाना है कि नागों में भी प्राचीन देवकुलों के समान अपनी अथवा अपने निकट के पूर्वजों की मूर्त्तियाँ निर्मित करने की प्रथा थी।

पद्मावती में भी एक नागछत्रयुक्त नाग राजा की मूर्त्ति नागों के विष्णु मन्दिर के ध्वंसावशेषों के पास ही मिली है। मथुरा में एक मूर्त्ति का केवल आधा सिर प्राप्त हुआ है[1]। मुकुट में अर्धचन्द्र का आकार बना हुआ है। श्री कुमार स्वामी ने उसे मौर्य या शुंगकालीन बतलाया है। उसका मुकुट मौर्य या शुंगकालीन नहीं है। खंडित होने के कारण उसके विषय में निश्चित मत देना तो कठिन है, परन्तु वह इसी युग की भव नाग की प्रतिमा ज्ञात होती है, इसकी शिरोभूषा कलाभवन, काशी के कार्त्तिकेय से मिलती-जुलती है[2]।

---

१. आनन्द कुमार स्वामी : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, फलक ६, चित्र २१।

२. वही, फलक ४६, चित्र १७५।

नव नागों का धर्म

नागों के सम्प्रदाय के सम्बन्ध में चम्मक में प्राप्त प्रवरसेन द्वितीय के ताम्रपत्र से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। वे भारशिव थे, अर्थात् शिवलिंग को अपने साथ लेकर चलते थे। वे गंगा के भी भक्त थे। यह वर्णन इन नागों के सिक्कों और उनके निर्माणों के अवशेषों से भी प्रमाणित होता है। पद्मावती का मानवाकार नन्दी, इनके सिक्कों के मयूर, त्रिशूल, नन्दी तथा सिंह आदि के लाञ्छन इन्हें शिव का परम भक्त घोषित करते हैं। परन्तु वे नाग राजा, नागपूजक नहीं थे यह हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। अपने प्रतीक के रूप में नाग तथा नागछत्र को वे अपनी मुद्राओं पर तथा अपनी मूर्त्तियों में स्थान देते थे। अपने उत्कर्ष के समय में सम्भवतः इन शिवभक्त नागों ने अपने प्रतीक सर्प को अपने आराध्य शिव के गले का हार बना दिया था। भव नाग ने द्वितीया के चन्द्र को भी अपने लाञ्छन के रूप में ग्रहण कर शिव को वर्त्तमान कल्पना को पूर्ण रूप दे दिया था। पद्मावती पर कभी स्वर्णबिन्दु महादेव का मन्दिर था और आज भी उसी स्थान पर इसी नाम का आधुनिक मन्दिर विद्यमान है। उसकी प्राचीन मूर्त्ति प्राप्त नहीं होती। यदि वह प्राप्त होती तो पद्मावती के नागों के शिव का रूप प्राप्त हो सकता।

परन्तु जैसा महरौली स्तम्भ-लेख के सम्बन्ध में लिखते समय और धर्मसाधना के संदर्भ में हमने आगे दिखाया है, इस युग में त्रिशूलधारी शिव और चक्रपाणि विष्णु की भक्ति एक दूसरे की पूरक थी। अनेक नाग राजा विष्णुभक्त भी थे। अहिच्छत्रा के अच्युत का नाम ही विष्णुपरक है। उसके सिक्कों पर चक्र का चिह्न मिलता है। पद्मावती के भव नाग तथा अन्य राजाओं के सिक्कों पर भी चक्र का चिह्न है, यह विष्णु के चक्र का प्रतीक है। इसके अतिरिक्त अहिच्छत्रा तथा पद्मावती में कुछ विशेष प्रकार के विष्णु-मन्दिरों के अवशेष मिलते हैं। इनके नीचे का भाग ईंटों के बने हुए विशाल चबूतरों के रूप में था। कुछ तोरण सम्भवतः पत्थर के बने हुए थे। ऊपर का शेष भाग प्रधानतः लकड़ी का था। पद्मावती का यह मन्दिर असंदिग्ध रूप से नागकालीन है; क्योंकि विजयी गुप्त सम्राटों ने इस मनोरम मन्दिर को एक भद्दे चबूतरे से ढककर अपनी खीझ पूरी की[1]। पद्मावती के विष्णु-मन्दिर के अवशेषों के पास प्राप्त नाग राजा की मूर्त्ति तथा नागों सम्बन्धी मृण्मूर्त्तियाँ तथा सूर्य-स्तम्भ उनकी विष्णु-भक्ति को स्पष्ट करते हैं।

गंगा की भक्ति के कारण नागों द्वारा भारतीय मूर्त्तिकला को एक अत्यन्त अभिराम अभिप्राय प्राप्त हुआ है। विदिशा तथा जानखट की गंगा की मूर्त्तियाँ नागकालीन हैं। नागों ने ताड़ वृक्ष को अपने राज्यचिह्न के रूप में स्वीकार किया था। विदिशा और पद्मावती पर कुछ अत्यन्त सुन्दर ताड़-स्तम्भ-शीर्ष प्राप्त हुए हैं।

इस सम्बन्ध में एक बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विष्णुपुराण में 'गंगा किनारेवाले प्रयाग पर गुप्तों' का राज्य दिखाकर विष्णुपुराण मौन हो जाता है। उसमें समुद्र-गुप्त की विजय-गाथा का उल्लेख नहीं है। यह पुराण सम्भवतः किसी ऐसे स्थान पर

१. आगे देखिए स्थापत्य का प्रकरण।

और ऐसे व्यक्ति या व्यक्तिसमूह द्वारा लिखा गया था जो समुद्रगुप्त की विजय-गाथा से स्तम्भित और क्षुब्ध होगया था और उसे सहानुभूति इस विजेता से न होकर विजित से थी। वह नागों का प्रदेश ही हो सकता है जहाँ 'विष्णु' नामवाची पुराण लिखा गया, जिसके एक राजा अधिराज ने 'विष्णु में मति स्थापित कर' विष्णुपाद गिरि पर विष्णु-ध्वज स्थापित किया[1]।

पद्मावती के नव नागों द्वारा शिव और विष्णु की यह उपासना भारतव्यापी बनाई गयी।

नव नागों के प्रभावक्षेत्र का विस्तार

लाहौर में महेश्वर नाग की एक ताँबे की मुद्रा प्राप्त हुई है। इसके ऊपर के सिरे पर वामाभिमुख नन्दी बना हुआ है, जिसके सामने एक अर्धचन्द्र है। इसके नीचे "महाराज नागभट्ट पुत्र महेश्वर नाग" शब्द अंकित हैं। इन अक्षरों के नीचे सर्प का लाञ्छन है[2]। महेश्वर नाग की इस मुद्रा के अर्धचन्द्र, नन्दी और नाग उसे पद्मावती के नागों से सम्बद्ध करते हैं। महेश्वर नाग का पिता महाराज नागभट्ट गणपति नाग का समकालीन और उसके प्रभुत्व को माननेवाला नागराजा था। उसी नागभट्ट का उल्लेख समुद्रगुप्त की इलाहाबाद प्रशस्ति में नागदत्त के नाम से किया गया है। लाहौर में प्राप्त इस मुद्रा से यह अनुमान किया जा सकता है कि नागभट्ट का अधिकार उस प्रदेश पर था।

अहिच्छत्रा में अच्युत नामक नाग राजा राज्य कर रहा था। इसने अहिच्छत्रा में अपनी मुद्राएँ भी प्रचलित की थीं। इन मुद्राओं पर नागों का चक्र का चिह्न प्राप्त होता है और वे पद्मावती के नागों के सिक्कों से बहुत अधिक मिलते-जुलते हैं। डॉ० अल्टेकर ने लिखा है कि यह असंभाव्य नहीं है कि वह स्वयं मथुरा के नागवंशों की शाखा का नाग राजा हो[3]। अच्युत, गणपति नाग का समकालीन था और उसका सम्बन्ध मथुरा से न होकर पद्मावती से था; क्योंकि मथुरा स्वयं पद्मावती के नव नागों के अधिकार क्षेत्र में थी।

नाग सेन संभवतः कौशाम्बी में राज्य कर रहा था और समुद्रगुप्त के कौशाम्बी युद्ध में गणपति तथा अच्युत के साथ पराजित हुआ था। बुलन्दशहर जिले में एक मुद्रा प्राप्त हुई है जिस पर मत्तिल लिखा हुआ है और उस पर नाग का लाञ्छन है। इसका भी समुद्रगुप्त द्वारा उन्मूलन किया गया था। यह मत्तिल भी नाग ही था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लाहौर से अहिच्छत्रा, मथुरा, कौशाम्बी और बुलन्दशहर तक वे नाग राजा राज्य कर रहे थे जो पद्मावती की ही शाखा थे और गणपति नाग की अधीनता स्वीकार करते थे। संभावना यह है कि भव नाग के समय में यह समस्त प्रदेश पद्मावती की अधीनता स्वीकार करता था और गणपति के समय उन्हें पर्याप्त स्वतंत्रता मिल गयी थी तथा अन्य गणतंत्रों के समान वे भी स्वतंत्र थे।

---

१. आगे देखिए 'महरौली स्तम्भ-लेख का पुनर्परीक्षण'।

२. फ्लीट : कोरपस इनस्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, खण्ड ३, पृष्ठ २८३।

३. दी न्यू हिस्ट्री ऑफ दि इण्डियन पीपल, खंड ६, पृष्ठ ४६।

पद्मावती से १५० मील पश्चिम में बढ़वा नामक एक स्थान है। ईसवी सन २३९ में यहाँ मौखरी वंश के महासेनापति बल के अस्तित्व का पता चलता है। विक्रम-संवत् २९५ में इस मौखरी बल ने त्रिरात्र यज्ञ किया था और उसकी स्मृति में यूप-स्तम्भ स्थापित किये थे। यूप-स्तम्भ के लेख से ज्ञात होता है कि महासेनापति बल के तीन पुत्र उसे शासन-कार्य में सहायता करते थे। डॉ० अल्टेकर का मत है कि इस युग में महासेनापति से तात्पर्य माण्डलिक शासक से था। यह महासेनापति बल पद्मावती के नागों का माण्डलिक हो सकता है; क्योंकि बढ़वा वर्तमान कोटा के पास है और वहाँ इस समय ऐसी कोई अन्य शक्ति नहीं थी जो उसे अपना माण्डलिक शासक नियुक्त करती।

समुद्रगुप्त की इलाहाबाद प्रशस्ति में काक, सनकानीक, आभीर और मालवगणों का भी उल्लेख है। इनमें काक और सनकानीक विदिशा के पास के ही निवासी थे। हम पहले लिख चुके हैं कि मालव कर्कोट नगर से विदिशा, दशपुर और उज्जयिनी तक फैल गये थे। उनका सम्बन्ध पद्मावती के नागों से था। मालवों के सिक्के नाग सिक्कों से बहुत मिलते-जुलते हैं। आभीर भी इस समय तक बेतवा और पार्वती नदियों के बीच आ बसे थे। इस प्रदेश को आज तक अहीरबाड़ा कहा जाता है। विदिशा से लगभग २० मील दूर काकपुर नामक एक स्थान है। काक लोग यहीं के निवासी थे। सनकानीक भी इनके पड़ोसी थे। यह सब प्रदेश निश्चयात्मक रूप से नागों के अधिकार में था। यहाँ के गणराज्य भी उनके अधीन बसे हुए थे।

वाकाटक

विन्ध्यशक्ति पुराणों के अनुसार वाकाटक राज्य का संस्थापक कहा गया है और शिलालेखों में उसे वाकाटक वंशकेतु कहा है। अजंटा अभिलेख में इसकी तुलना पुरन्दर तथा विष्णु से की गयी है। अपने अश्वारोहियों की सेना से उसने शत्रुओं को परास्त किया था। अपने जीवन काल में ही वह विदिशा और पुरिका में अपना प्रभाव स्थापित कर चुका था। परन्तु जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं, उसने राजा की उपाधि ग्रहण नहीं की और केवल पद्मावती के नागों के सेनापति के रूप में कार्य करता रहा।

पद्मावती में जिस समय भव नाग प्रभावशाली हुआ लगभग उसी समय विन्ध्यशक्ति के पुत्र प्रवरसेन ने राज्य प्रारम्भ किया। श्री जायसवाल का मत है कि संभवतः विन्ध्यशक्ति के समय में ही प्रवरसेन के पुत्र के साथ भव नाग की राजकुमारी का विवाह हो चुका था और भव नाग के जामाता ने अपने श्वसुर से जो राज्य दहेज के रूप में पाया उस पर पुराणों के प्रवीर प्रवरसेन ने अपने पुत्र की ओर से राज्य प्रारम्भ किया। वे लिखते हैं, "विष्णपुराण में यह बात स्पष्ट रूप से कही गयी है कि शिशु और प्रवीर दोनों मिलकर राज्य करते थे (शिशुक प्रवीरौ)। वायुपुराण में इनके लिए बहुवचन क्रिया "भोक्ष्यन्ति" का प्रयोग हुआ है, जो द्विवचन का प्राकृत रूप है। भागवत में शिशु का कहीं नाम ही नहीं है और केवल प्रवीर का उल्लेख है। इस प्रकार यहाँ यह सिद्ध होता है कि पौराणिक इतिहास लेखक यहाँ प्रकट करते हैं कि शिशु ने अपने मातामह या नाना नागराज का राज्य पाया था और उस दौहित्र शिशु के नाम पर विन्ध्यशक्ति का पुत्र

प्रवीर शासन करता था। वायुपुराण और ब्रह्मांड में जो "च-आदि" (विन्ध्यशक्ति सुतश्चापि) शब्द आया है, उससे भी दोनों का मिलकर ही शासन करना सिद्ध होता है। विष्णुपुराण ने तो स्पष्ट रूप से ही शिशु को पहला स्थान दिया है और वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराणों के वर्णनों में इसका पता केवल प्रसंग से चलता है। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में कहा गया है कि प्रवीर ने ६० वर्षों तक पुरिकांचनका में अथवा पुरिका और चणका में राज्य किया था[1]"।

इस पुरिका को श्री जायसवाल ने वर्त्तमान हुशंगाबाद के पास बतलाया है और चणका को पन्ना से दक्षिण-पूर्व २५ मील और नागोद से दक्षिण-पश्चिम १५ मील की दूरी पर नचना नामक ग्राम बतलाया है। संभावना यह दिखती है कि गणपति नाग के समय में जब लगभग सभी नाग राजा स्वतंत्र राजा के रूप में मान लिये गये थे उसी समय प्रवरसेन ने भी अपने आपको स्वतंत्र राजा घोषित किया। लाहौर के क्षेत्र में नागभट्ट, अहिच्छत्रा में अच्युत नन्दी, बुलन्दशहर के क्षेत्र में जिस प्रकार मत्तिल स्वतंत्र राजा माने जाते थे उसी प्रकार चणका तथा पुरिका में प्रवरसेन स्वतंत्र राजा के रूप में मान्य हुआ।

प्रवरसेन ने सम्राट की उपाधि धारण की। पुराणों में उसकी अत्यधिक प्रशंसा की गयी है। प्रवरसेन ने चार अश्वमेध यज्ञ किये थे, ऐसा वाकाटक शिलालेख से स्पष्ट होता है। उसने वाजपेय, अग्निष्टोम, आतिशत्र, अप्तोर्याम, ज्योतिष्टोम, बृहस्पतिसव, साद्यस्क, षोडशिन् आदि अनेक यज्ञ किये थे। चार अश्वमेध यज्ञ यह प्रकट करते हैं कि उसने अपने समय में चार सफल विजय-यात्राएँ की थीं। पुराणों के अनुसार उसके चार पुत्र थे, जो उसकी ओर से विभिन्न क्षेत्रों में राज्य कर रहे थे। प्रवरसेन ने किन-किन प्रदेशों पर विजय प्राप्त की यह जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। पुराण उसका राज्यकाल ६० वर्ष बतलाते हैं। उसके ठीक पश्चात् ही भव नाग के दौहित्र रुद्रसेन का राज्य बुन्देलखण्ड, बघेलखण्ड, मालवा और संभवतः गुजरात तथा काठियावाड़ पर था। प्रवरसेन का एक पुत्र वर्त्तमान दक्षिण बरार तथा हैदराबाद तक के प्रदेश पर शासन कर रहा था। इतना बड़ा साम्राज्य इन्हें संभवतः प्रवरसेन द्वारा ही प्राप्त हुआ था।

रुद्रसेन (प्रथम) का पिता, भव नाग का जामाता गौतमीपुत्र प्रवरसेन के जीवन काल में ही मर गया था, अतः प्रवरसेन के पश्चात् वाकाटकों की प्रधान शाखा का राज्य रुद्रसेन (प्रथम) को मिला। रुद्रसेन प्रथम वही रुद्रदेव है जिसका उल्लेख समुद्रगुप्त की इलाहाबाद प्रशस्ति में किया गया है। समुद्रगुप्त ने इसे पराजित तो किया था, परन्तु इसके राज्य को उसने गुप्त साम्राज्य में नहीं मिलाया। वाकाटकों की इस प्रधान शाखा की राज्यसीमा के दक्षिण में रुद्रसेन के चाचा वीरसेन का राज्य था।

रुद्रसेन (प्रथम) के पश्चात् उसका पुत्र पृथ्वीसेन (प्रथम) सिंहासनारूढ़ हुआ। इसके साथ दक्षिण की वाकाटक शाखा में सर्वसेन का पुत्र विन्ध्यसेन राज्य कर रहा था। विन्ध्यसेन ने कुन्तल अर्थात् दक्षिणी महाराष्ट्र की विजय की और कुन्तलेन्द्र की उपाधि ग्रहण की। परन्तु यह कुन्तलेन्द्र मूल वाकाटक शाखा के पृथ्वीसेन (प्रथम) की अधीनता

---

१. अन्धकारयुगीन भारत, पृष्ठ ३१।

स्वीकार करता था और इस कारण पृथ्वीसेन को भी अनुश्रुतियों में कुन्तलेश लिखा है। पृथ्वीसेन का प्रभाव बघेलखण्ड तक था ऐसा नचना तथा गंज में प्राप्त व्याघ्रराज के शिलालेखों से ज्ञात होता है, जो अपने आपको वाकाटक महाराज पृथ्वीसेन का चरण सेवक कहता है[1]।

पृथ्वीसेन (प्रथम) के पश्चात् उसका पुत्र महाराज रुद्रसेन (द्वितीय) वाकाटक राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। रुद्रसेन (द्वितीय) का विवाह चन्द्रगुप्त (द्वितीय) तथा कुबेरनागा की पुत्री प्रभावती गुप्ता के साथ हुआ था। ज्ञात यह होता है कि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने रुद्रसेन का उत्तर भारत का राज्यक्षेत्र छीन लिया और वाकाटक अब गुप्तों के अधीनस्थ मित्र रह गये। आगे के वाकाटक अभिलेखों में गुप्त सम्राटों के लिए महाराजाधिराज लिखा मिलता है जबकि स्वयं वाकाटकों को केवल महाराज लिखा जाता है।

पल्लव, गंग तथा अन्य राजवंश

इस समय धुर दक्षिण में कुछ ऐसे राजवंशों का उदय हुआ जो यद्यपि मध्यदेश के बाहर राज्य करते थे, परन्तु मध्यदेश तथा इस काल के नाग राजाओं से जिनका घनिष्ट सम्बन्ध था। विन्ध्यशक्ति के वंशज वाकाटकों का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। लगभग २६५ ई० में कांची में वीरकुर्च नामक भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण नाग सम्राट की कन्या से विवाह कर पूर्ण राजचिह्नों से अलंकृत हुआ[2]। यह नाग वंश जिसकी राजकुमारी से वीरकुर्च वर्मन ने विवाह किया था और जिस विवाह के कारण वह राजचिह्नों से अलंकृत हुआ था, भारशिव नाग ही होगा। नागों का अधिकार नागपुर और बस्तर होता हुआ ठेठ आंध्रदेश तक जा पहुँचा था[3]। स्याम देश की बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार सन ३६० ई० में आन्ध्रदेश नाग राजाओं के अधिकार में था और उन्हीं से गौतम बुद्ध के दाँत का कुछ अंश सिंहल ले जाने की आज्ञा प्राप्त की गयी थी, जो आन्ध्रदेश के दन्तपुर नामक स्थान में था[4]। इस समय आन्ध्र में पल्लवों का राज्य था, जो नाग राजा के नाम से प्रसिद्ध थे। पल्लवों का राजचिह्न नागों और वाकाटकों से लिया ज्ञात होता है। उनकी मुद्राओं पर गंगा, यमुना और नन्दी के आकार मिलते हैं। प्रारम्भिक पल्लवों ने अपने कोई सिक्के नहीं चलाए और उनके दूसरे राजा शिवस्कन्ध वर्मन ने अपने लिए धर्ममहाराजाधिराज का विरुद ग्रहण किया था। यह स्मरणीय है कि यह विरुद इसके पूर्व किसी राजवंश ने प्रयोग नहीं किया था। समुद्रगुप्त के पूर्व इस राजवंश की सात पीढ़ियाँ आन्ध्रदेश में राज्य कर चुकी थीं। मूलतः ये पल्लव कौन थे इसके विषय में इतिहासज्ञ अभी तक एकमत नहीं हैं। परन्तु एक बात निश्चित है कि जिन परम्पराओं को उत्तर में नाग चला रहे थे, उन्हीं परम्पराओं को उनके पल्लव

---

१. फ्लीट : कोर्पस इन्सक्रिप्शनम् इण्डिकेरम, पृष्ठ २४४।

२. यः फणीन्द्रसुतया सहाग्रहीद्राजचिह्नमखिलं यशोधनः।
साउथ इंडियन इन्स्क्रिप्शन्स, २, ५०८।

३. अन्धकारयुगीन भारत, पृष्ठ ३९४।

४. कनिंघम : एन्शण्ट जिऑग्रेफी ऑफ इण्डिया, पृष्ठ ६१२।

कांची के इन ब्राह्मण राजाओं ने जिनने "ब्राह्मणों के सर्वोच्च लक्षणों से युक्त (परम ब्रह्मण्य) होते हुए क्षत्रिय का पद प्राप्त किया था"[1], धुर दक्षिण में भी प्रवाहित किया। राजकीय भाषा के रूप में उस समय की राष्ट्रभाषा संस्कृत का प्रयोग और अश्वमेध यज्ञों की परम्पराएँ इनके द्वारा वहाँ प्रचलित की गयीं।

पल्लव वंश के संस्थापक वीर कुर्च का 'कुर्च' उसे उत्तर भारत से सम्बन्धित करता है। उसके आगे इस वंश के सभी राजा अपने नाम के साथ 'वर्मन' शब्द का प्रयोग करते हैं। बुन्देलखण्ड में कुछ भार्गव ब्राह्मण ऐसे हैं जो अपना अवांतर गोत्र 'कुच्छ' बतलाते हैं। कौंच नामक एक कस्बा भी बुन्देलखण्ड में है। यह प्रदेश उस समय भी नागों के राज्य में था। यह सब इस वीर कुर्च को बुंन्देलखण्ड से सम्बन्धित करते हैं।

इन पल्लवों की अधीनता में ब्राह्मण काण्वायणों का एक अधीनस्थ या भृत्यराज्य स्थापित हुआ। ये राजा अपने आपको गंग वंश का कहते थे और उनका अभिषेक पल्लव राजा किया करते थे। संभव है कि गंग वंश काण्वायणों की वह शाखा हो जिनके अन्तिम राजा सुदर्शन को सातवाहनों ने कैद कर लिया था। इनका आरम्भिक राजा कौंकणि वर्मन अपने आपको धर्माधिराज लिखता है। इस वंश का आरम्भ लगभग ३०० ई० में हुआ था। कौंकणि वर्मन भी संभवतः प्रारम्भ में पल्लवों का सेनापति था। इसका पुत्र महाराजाधिराज माधव वर्मन संस्कृत के पवित्र और मधुर साहित्य का बहुत बड़ा पंडित था और हिन्दू नीतिशास्त्र की व्याख्या और प्रयोग करने में बहुत कुशल था।

इनके अतिरिक्त चुटु, कदम्ब आदि अनेक राजवंश दक्षिण भारत में गुप्त साम्राज्य के उदय के पूर्व हुए, जिनने उत्तर और दक्षिण भारत में एक विचारधारा तथा संस्कृति में समानता स्थापित की। पुष्यमित्र शुंग ने उत्तर भारत में जिस नवीन हिन्दू संस्कृति का बीजारोपण किया था उसके प्रवाह को भारशिव नागों, उनके सेनापतियों और सेनापतियों के सेनापतियों ने रामेश्वरम् तक पहुँचा दिया। श्री जायसवाल ने इस सम्बन्ध में लिखा है, "उत्तरी भारत के हिन्दुओं ने दक्षिणी भारत में उत्तरी भारत की भाषा, लिपि, उपासना और संस्कृति का प्रवेश और प्रचार किया था। वहीं से उन लोगों ने द्वीपस्थ भारत में एक नवीन जीवन का संचार किया था और इतिहास का निर्माण किया था। एक सर्वसामान्य संस्कृति से उन लोगों ने एक भारत का निर्माण किया था और उसी समय का बना हुआ एक भारत बराबर आज तक चला आरहा है[2]।

१. एपिग्राफिका इण्डिका, १, ३९८।

२. अन्धकारयुगीन भारत, पृष्ठ ४४७।

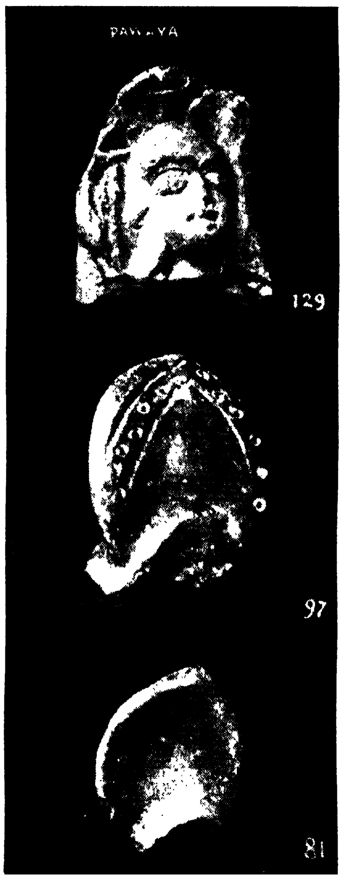


नागों की रुद्र पूजा, मुहें-जो-डेरो (पृष्ठ ४८३)

नागछत्रयुक्त मृण्मूर्त्तियाँ, पद्मावती (पृष्ठ ४८३)

भारशिव नाग, कला-भवन, काशी (पृष्ठ ४८३)







नाड़ स्तंभशीर्ष, पद्मावती (पृष्ठ ६०१)

नाग राजा की मूर्त्ति, पद्मावती (पृष्ठ ४८२)



महरौली स्तंभ-लेख का पुनर्परीक्षण

भवनाग और चन्द्र

भव नाग ने अपने सिक्के के लिए किसी समय अर्धचन्द्र के लाञ्छन को ग्रहण किया था। भव नाग के इस प्रकार के सिक्के में एक ओर अधिराज श्री भव नाग लिखा मिला है और दूसरी ओर बिन्दुओं के बीच में नवोदित चन्द्र का आकार है। भव नाग के एक दूसरे प्रकार के सिक्के में एक वृत्त के भीतर बिन्दु दिखाई देता है। यह बिन्दु हमारे मत में पूर्ण चन्द्र का द्योतक है।

भव नाग के एक अन्य सिक्के पर चक्र का चिह्न भी मिलता है। हमारा अनुमान है कि यह चक्र विष्णु के सुदर्शन चक्र का प्रतीक है।

मथुरा में प्राप्त भव नाग की चन्द्र लाञ्छनयुक्त मूर्ति का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। पद्मावती में अत्यन्त भव्य विष्णु-मन्दिर के अवशेष मिले हैं, जिसके तोरण प्रस्तर पर विष्णु के विक्रम की अनेक पौराणिक कथाएँ उत्कीर्ण हैं। पद्मावती का यह तोरण तथा वहाँ प्राप्त विष्णु प्रतिमा गुप्तकालीन न होकर उनके पहले की है इसका विवेचन हम आगे करेंगे। इस पृष्ठ-भूमि में महरौली के लौहस्तम्भ पर उत्कीर्ण चन्द्र के अभिलेख पर विचार करना आवश्यक है। इतिहासज्ञों ने इस चन्द्र को बहुत खोजा, परन्तु अपने सही रूप में वह उनके हाथ न आया। हम चाहते हैं कि भव नाग की पृष्ठ-भूमि में भी इस पर विचार किया जाए।

स्तंभ-लेख का पाठ

महरौली का स्तम्भ-लेख कहता है, "वह जिसने अपनी भुजा की कीर्त्ति को अपने खड्ग द्वारा अभिलिखित किया, तब जबकि बंग देश के युद्ध में उसने अपनी छाती से उन शत्रुओं को रौंद डाला, जो शत्रु समवेत होकर उसका मुकाबला करने आए थे; वह, जिसके द्वारा सिन्धु के सप्त मुखों को पार करके वाहीकों को विजित किया गया";

"वह, जिसके शौर्य के पवन से दक्षिण का जलनिधि अब भी सुवासित है";

"वह, जिसकी उस शक्ति के अपार उत्साह की कीर्त्ति, जिसने अपने शत्रुओं को पूर्णतः नष्ट कर दिया था, महावन में प्रज्वलित अग्नि के शमन होने के पश्चात् उसके अवशिष्ट ताप के समान, अभी भी क्षिति पर शेष है, यद्यपि वह नरपति मानों थककर, इस संसार को छोड़कर स्वर्ग में चला गया है, जो उसने अपने कर्मों द्वारा जीता है, तथापि वह इस पृथ्वी पर अपनी कीर्त्ति के रूप में स्थित है; उस समग्र चन्द्र जैसे श्रीसम्पन्न मुखवाले, जिसने अपनी भुजाओं द्वारा अर्जित एकमात्र अधिराज के पद को प्राप्त किया

और बहुत समय तक भोगा, उस चन्द्र विरुदधारी भूमिपति भव ने (न कि भाव ने) विष्णु में अपनी मति स्थित कर विष्णुपद नामक गिरि पर विष्णु की यह ध्वजा स्थापित की"।

इस अभिलेख की पाँचवीं पंक्ति में 'विष्णो' के पहले का शब्द स्पष्ट नहीं है। प्रिन्सेप ने इसे 'धावेन' पढ़ा। भाऊदाजी इसे 'भावेन' पढ़ते हैं। फ्लीट[1] उसे 'धावेन' ही मानते हैं; परन्तु कहते हैं कि यहाँ उत्कीर्णक की गलती से 'भावेन' के स्थान पर धावेन हो गया है। डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार लिखते हैं कि इसका पहला अक्षर ध हो सकता है, संभव है कि वह व हो, उनके मत से वह भ नहीं हो सकता। वे यह भी लिखते हैं कि प्रलोभन यह होता है कि इसे देवेन पढ़ा जाए[2]। हमें प्रलोभन यह होता है कि इसे 'भवेन' पढ़ा जाए—भव द्वारा। इस प्रशस्ति में तृतीया विभक्ति सर्वत्र कर्त्ता के लिए (कर्तरि) प्रयुक्त हुई है और भाव में ही उसके सह के अथवा करण के अर्थ में प्रयुक्त होने की कल्पना केवल एक असंगत अपवाद ही उत्पन्न कर सकती है, जिसकी अर्थ की दृष्टि से आवश्यकता भी नहीं है। यहाँ भव का भाव पाठ छन्द के अनुरोध से उसी प्रकार हुआ है जिस प्रकार पद्यरचना करनेवालों की सुविधा के लिए निनद, निस्वन, आरव, क्वण और गिरिश क्रमशः निनाद, निस्वान, आराव, क्वाण और गिरीश बन जाते हैं। किन्तु मात्र प्रलोभन से अथवा शब्द का विपर्यय देखने से काम नहीं चलता। 'विष्णो मति' को 'विष्णौ मति' नहीं लिखा गया; इस व्याकरण की च्युति को महत्त्व देने से भी इतने बड़े ऐतिहासिक महत्त्व के प्रश्न पर निर्णय नहीं दिया जा सकता। ऐसी ही अन्य और अशुद्धियाँ यहाँ केवल इसकी सूचना देती हैं कि इस अभिलेख को उत्कीर्ण करने के समय में गुप्तकाल के पेशेवर प्रशस्तिकारों का उद्भव नहीं हुआ है। यहाँ हमें इस अभिलेख के तथ्यों पर विचार करना होगा। इसके चन्द्र विरुदधारी भव, देव, धाव या भाव ने :—

(१) बंग की ओर उसके विरुद्ध बने किसी शत्रु संघ का उच्छेदन किया था।

(२) सिन्धु पार कर वाहीकों (वाहीक देश अर्थात् पंजाब के व्यास आदि नदियों के तीर के निवासियों) को[3] हराया था।

(३) दक्षिण के जलनिधि तक उसकी कीर्त्ति से सुरभित पवन बहती थी।

दक्षिण जलनिधि और भव नाग

भव नाग वाकाटकों का सम्बन्धी था। परमप्रतापी सम्राट विरुदधारी प्रवरसेन के राजकुमार गौतमीपुत्र से उसकी राजकुमारी का विवाह हुआ था। प्रवरसेन की मृत्यु के पश्चात् अपने दौहित्र रुद्रसेन वाकाटक की सहायता के लिए उसे विन्ध्य-मेखला को पार करना पड़ा होगा, उसकी सहायता के परिणामस्वरूप वाकाटकों का दक्षिण का साम्राज्य सुरक्षित रह सका था, उधर सुदूर कांची में नाग राजकुमारी से विवाह करनेवाले पल्लव भी प्रबल हो गये थे और एक ओर थे पल्लवभृत्य गंग। यह स्पष्ट है कि ये सब भव नाग के करद माण्डलिक न होकर संघीय सूत्रों से उससे संबद्ध थे। इस कारण

---

१. कारपस इंसक्रिप्शनस् इंडिकेरम, खण्ड ३, पृष्ठ २४२।

२. सिलेक्ट इंसक्रिप्शन्स, पृष्ठ २७७।

३. वही, पृष्ठ २७६, टिप्पणी ३।

यदि इस अभिलेख में हरिषेण के शब्दों में दक्षिण भारत के राजाओं को एक क्षण में ही उन्मूलित करने की अथवा उनपर ग्रहण-मोक्ष का अनुग्रह करने की बात न कहकर महरौली के प्रशस्तिकार ने भव नाग के शौर्य के यश से सुवासित कर दक्षिण समुद्र पर पवन बहा दी तो कोई असंगत बात नहीं की। उसका यह कथन गणसंघ के अधिराज के अनुरूप ही है। इस प्रकार महरौली प्रशस्ति की तीसरी बात भव नाग के सम्बन्ध में ठीक उतरती है।

भव नाग और वाहीकविजय

अब इस प्रशस्ति के दूसरे तथ्य पर विचार करलें। इसके लिए हम पंजाब के लाहौर जिले में प्राप्त महेश्वर नाग की मुद्रा की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। यह मुद्रा जनरल कनिंघम को लाहौर के एक दुकानदार से प्राप्त हुई थी। जैसा हम अन्यत्र विवेचन कर चुके हैं यह मुद्रा महाराज नागभट्ट के पुत्र महेश्वर नाग की है। इसपर लिखा है :—

महाराज नागभट्ट पुत्र महेश्वर नाग'

वाहीकों के देश (पंजाब) में ये नागभट्ट, महेश्वर नाग के पिता, महाराज कैसे बने? इसमें कोई सन्देह नहीं कि नागभट्ट नव नागों के उस विशाल क्षेत्र के महाराज थे जिसका अधिराज कभी भव नाग रह चुका था और जिसमें समुद्रगुप्त से पराजित होनेवाले मत्तिल, वीरसेन, अच्युतनंदी आदि अन्य नाग राजा भी राज्य कर रहे थे। इस बात की पूरी संभावना है कि वाहीकों के प्रदेश को किदार कुषाणों से भव नाग ने जीता हो। यह स्मरणीय है कि भारतवर्ष से कुषाणों का राज्य समाप्त कर देने के पश्चात् पेशावर में एक कुषाण शाखा का राज्य स्थापित हो गया था, जो अपने आपको 'किदार कुषाण' कहते थे। ये किदार कुषाण, भव नाग द्वारा पराजित होकर सुसानी सम्राट शापुर (प्रथम) शकानशाह के करद बने थे।

बंग में सम्मिलित शत्रुओं का पराभव

बंग की ओर निर्मित शत्रुओं के संघ के विषय में हमने आगे विस्तार से प्रकाश डाला है, उसे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है। घटोत्कच गुप्त अकारण ही प्रयाग से वैशाली तक नहीं भटका होगा। अकारण ही उसने अपने पुत्र का विवाह लिच्छवि राजकुमारी कुमारदेवी से कर प्रयाग पर मागध और गुप्तों का साझे का राज्य खड़ा नहीं किया होगा और अकारण ही वे बंग की ओर नहीं धकेले गये होंगे। निस्सन्देह यह लिच्छवि-गुप्त गठबंधन उस विशाल नाग गणसंघ के विरुद्ध हुआ था जिसका तत्कालीन अधिराज भव नाग था और जिस भव नाग ने अपने संघीय बल से इनकी सम्मिलित शक्ति को खदेड़ते हुए इन्हें बंग में पराजित किया था।

भव नाग की विष्णु में मति

तीसरा प्रश्न है 'विष्णु में मति' स्थित करने का। पद्मावती के नाग परम शैव कहे जाते हैं। क्या उनपर विदिशा में प्रखर रूप से फूट पड़नेवाले भागवत धर्म की कोई छाप नहीं थी, अश्वमेध याजियों के राज्य को प्राप्त करनेवाले, परम भागवत सात-

वाहनों और वाकाटकों से घनिष्ट सम्बन्ध रखनेवाले पद्मावती के ये नाग क्या भागवत धर्म के प्रति आकर्षित नहीं हुए थे? वे हुए थे।

इस युग के धार्मिक साहित्य में भी शैव एवं वैष्णव उपासनाओं के समन्वय की प्रवृत्ति उच्च स्तर पर वेग से चली थी। देवसेनापति स्कन्द का एक नाम वासुदेवप्रिय इसी युग की समन्वयपूर्ण साधना का संकेत करता है[1] और भगवान शंकर स्वयं विष्णु और वासुदेव का स्तवन करते हैं[2]। यह प्रस्तुत काल की अभेदपूर्ण शिव-वैष्णव धर्म साधना का ही द्योतक है कि वासुदेव कृष्ण महाभारत के अनुशासनपर्व में शंकर की उपासना करते बताए जाते हैं[3], उनसे वरदान प्राप्त करते हैं तथा शान्तिपर्व में शंकर स्वयं विष्णु के साथ अपने अभेद की घोषणा करते हैं[4] और विष्णुसहस्र नाम में शर्व, शिव, स्थाणु, ईशान एवं रुद्र आदि शंकर के नाम विष्णु के वाचक कहे जाते हैं। इससे पहले भी भीष्मपर्व में नारायण कृष्ण अपने सहचर नर के अवतार अर्जुन को दुर्गा की आराधना करने का मंत्र देते हैं और वनपर्व में यह नर पाशुपत अस्त्र के लिए शंकर की आराधना करता है। इस प्रसंग में भी शंकर वासुदेव और उनके सखा की दिव्यता का प्रतिपादन करते हैं। उपर्युक्त प्रसंग में विष्णु का शंकर से यह कहना कि जो आपको जानता है वह मुझे भी जानता है, जो आपकी भक्ति करता है वह मेरी भी भक्ति करता है तथा आज से मेरा श्रीवत्स आपका त्रिशूल हो तथा आप मेरे हाथ पर अंकित श्रीकण्ठ हों, इसी अभेदपूर्ण उपासना का सूचक है। यह प्रवृत्ति केवल धार्मिक साहित्य तक ही सीमित नहीं थी, प्रस्तुत युग की धर्मसाधना का रूप ही ऐसा बना था कि परमशैव शुंग परमभागवत भी थे, जैसा अग्निमित्र के मृच्छकटिक नाटक का प्रारंभ शिव के स्तवन से किये जाने से, उसीके पाँचवें अंक का प्रारंभ केशव-स्मरण से होने से, पुष्यमित्र द्वारा शुंगों को मुद्रा पर नन्दी का लाञ्छन अंकित होने से, अनिहत वासुदेव को पूजा-शिला-प्राकार अर्पित करने से तथा उनकी राजसभा में रहने-वाले हेलियोदोर द्वारा गरुड़ध्वज की स्थापना से सूचित होता है; शिवपूजक सातवाहन विष्णुपूजक भी थे, जैसा हाल सातवाहन की गाथासप्तशती की प्रथम गाथा से और गौतमी बालश्री के नानाघाट अभिलेख से ज्ञात होता है; परमशैव कालिदास परम वैष्णव भी थे, जैसा उनकी समस्त रचनाओं के मंगलाचरण से और रघुवंश एवं मेघदूत की कथावस्तु से प्रकट होता है; परम्परागत शैव वाकाटक विष्णु में स्थित मति थे, जैसा उनके अभिलेखों से और सम्राट प्रवरसेन के सेतुबन्ध एवं रावणवध काव्य से प्रकट होता है तथा अन्य नाग भी एक साथ ही शिव और विष्णु के उपासक थे, जैसा उनके मुद्राओं के लाञ्छनों से और दक्षिण के नाग पल्लवों के गोपान्त नामों से एवं गुण्टूर जिले में प्राप्त हुए उनके प्राकृत अभिलेख में भगवत नारायण के देवकुल के उल्लेख से प्रकट होता है। ये उल्लेख, अवशेष और साहित्य की प्रवृत्तियाँ यही सूचित करती हैं कि ये नाग

१. महाभारत, वनपर्व १३२।९।
२. वही, २७३।३१-७७।
३. म्यूर: ओरिजिनल संस्कृत टैक्स्ट्स, खंड ४, पृष्ठ १९४।
४. वही, पृष्ठ २४१।

यद्यपि भारशिवों की परंपरा में थे, साथ ही चक्रपाणि विष्णु के भक्त भी थे। हमने वैदिक युग के प्रारंभ में ही उस युग में हुए धार्मिक विकास का संकेत किया है कि विष्णु, जो मूलतः सूर्य हैं, किस प्रकार समन्वय और अभेद के विकासक्रम में नाग (शेष नाग) की गोद में निश्चिन्तता से सो गये। इस चन्द्रलाञ्छन भव नाग के उदाहरण में तो यह और भी नैसर्गिक दिखता है, जब हम मयूर नाग-मुद्राओं पर अंकित देखते हैं तथा मयूरवाहन स्कन्द का एक नाग ऊपर उल्लिखित प्रकार से वासुदेवप्रिय तथा एक और नाम चन्द्रानन[1] प्राप्त होता है। व्याघ्र, विभु, बृहस्पति, देव और भव नाग के सिक्कों पर प्राप्त चक्र का चिह्न भी यह सूचित करता है; बृहस्पति, देव (देवेन्द्र) और भव नाम यह सूचित करते हैं, और जैसा ऊपर लिखा गया है, पद्मावती में प्राप्त विष्णु के मन्दिर के अवशेष, विष्णु की प्रतिमा, सूर्यध्वज तथा वहाँ के तोरणों पर विष्णु की पौराणिक कथाओं का अंकन भी यही सूचित करता है। यह बिलकुल संभव है कि भव नाग ने विष्णुपद नामक गिरि पर विष्णु का ध्वज स्थापित किया हो।

अधिराज भव नाग की महरौली प्रशस्ति

महरौली प्रशस्ति में उसमें वर्णित नरपति को एकमात्र 'अधिराज' कहा गया है। भव नाग का अधिराज विरुदयुक्त सिक्का और केवल उसी पर प्राप्त चन्द्र का लाञ्छन महरौली प्रशस्ति की गुत्थी को पूर्णतया, स्पष्ट और असंदिग्ध रूप से सुलझा देता है।

महरौली स्तम्भ-लेख के धावेन, देवेन, भावेन को भवेन मानना होगा और उसका 'चन्द्राह्व' होगा गणपेन्द्र का पूर्वज चन्द्र लाञ्छनधारी अधिराज भारशिव भव नाग। वह एकमात्र ऐसा व्यक्तित्व है जिसके लिए यह भाव, भाषा और लिपि की दृष्टि से स्पष्टतः गुप्तों से पहले की प्रशस्ति लिखी जा सकती है।

---

१. महाभारत, वनपर्व १३२।५।

गुप्तों का विद्रोह और नव नागों का पराभव

गुप्तों का धारण अभिजन

वर्तमान मुरैना के पास कुतवार नामक एक ग्राम है। वह नागों की राजधानी कान्तिपुरी थी, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। पास ही पारौली नामक ग्राम है जिसे पहले पाराशर ग्राम कहा जाता था। वहीं पर है पढ़ावली नामक कस्बा, जिसका प्राचीन नाम धारौन था[1]। शुंगों के विवरण में हम यह संभावना प्रकट कर चुके हैं कि धोपुंडी का सर्वतात पुष्यमित्र शुंग था[2], वह पाराशरी पुत्र था। संभावना यह है कि यह पाराशरीदेवी इसी प्राचीन पाराशर नगर की कन्या हो। अग्निमित्र शुंग की पट्टमहिषी धारिणीदेवी से भी मालविकाग्निमित्र हमें परिचित कराता है, जो धारण नगर की दुहिता ज्ञात होती है। इस धारण नगर में कोई गुप्त परिवार रहता था। जब पुष्यमित्र शुंग ने विदिशा में अश्वमेध यज्ञ किया था तब एक विष्णुगुप्त[3] वहाँ पधारे भी थे और अपनी मुद्रा के रूप में अपनी निशानी छोड़ गये। कनिंघम ने पढ़ावली के गुप्तकालीन कहे जानेवाले अवशेषों को देखकर अनुमान किया था कि गुप्तों के राज्यकाल में इस नगर का नाम धारौन पड़ा होगा। यह संभावना से परे नहीं है कि गुप्त-काल के पहले से ही इसका यह नाम रहा हो। हमारा अनुमान यह है कि पद्मावती के भव नाग का प्रयाग का यह सामन्त श्रीगुप्त इस धारौन (धारण) का निवासी था। जब आगे उसके वंशज समुद्रगुप्त ने अपने पुत्र चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का विवाह नाग राजकुमारी कुबेरनागा से किया, तब इस कुबेरनागा की राजकुमारी वाकाटकललाम प्रभावतीगुप्ता ने अपने आपको बड़े गौरव के साथ 'धारण-सगोत्रा' कहा[4]; वह धारण से आनेवाले श्रीगुप्त के वंश में उत्पन्न हुई थी और अपनी माता कुबेरनागा के पितृपक्ष के नाग-साम्राज्य की एक प्रमुख नगरी की पावन-स्मृति उसके मस्तिष्क में थी, और अपने पति के 'विष्णुवृद्ध' गोत्र के स्थान पर उसके अपने आपको धारणवालों की सगोत्रा कहने में गणप्रमुखों के भृत्यवर्ग से गुप्त सम्राटों के सर्वोच्च वैभव को प्राप्त होनेवाले अपने पितृकुल का गर्व भी कार्य कर रहा था। यह स्मरणीय है कि गुप्त सम्राटों ने अपने किसी अभिलेख में अपने आपको 'धारण' नहीं लिखा। जिस राजवंश के सामन्त के रूप में उनने अपने वंश का वैभव प्रारंभ किया था उसीके

---

१. कनिंघम : आ० स० ई० रि० भाग २०, पृष्ठ ११२।

२. पीछे, पृष्ठ ३९४।

३. आ० स० इ० रि०, भाग २०, पृष्ठ ११२।

४. डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार : सिलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स, पृष्ठ ४११ तथा ४१५।

खण्डहरों पर उनके साम्राज्य का भव्य भवन खड़ा हुआ था, और निश्चय ही वह स्मृति लोक में गौरवप्रद नहीं रही होगी; यही कारण है कि गुप्तों ने अपने अभिलेखों में अन्य बातों पर अत्यधिक विस्तार से लिखाते हुए भी अपने मूल स्थान तथा जाति का कहीं भी उल्लेख नहीं किया और ऐसा ज्ञात होता है "मानो उन्होंने उसे छिपाया हो[1]"।

नागभृत्य गुप्त

प्रभावती गुप्ता के ताम्रपत्रों के अभिलेखों तथा गुप्त सम्राटों के अभिलेखों की तुलना से एक बात और भी स्पष्ट विचित्र दिखाई देती है। प्रभावती गुप्ता अपने पितृवंश का प्रारंभ महाराज श्री घटोत्कच गुप्त से करती है तथा चन्द्रगुप्त (प्रथम) तथा समुद्रगुप्त के साथ भी महाराज के विरुद का प्रयोग करती है, और गुप्त सम्राटों के अभिलेखों में इनका क्रम है—'महाराज' 'श्रीगुप्त', 'महाराज श्री घटोत्कचगुप्त' और 'महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त (प्रथम)'। इसका एक ही अर्थ है। प्रभावती गुप्ता यह निश्चित रूप से बतलाती है कि धारण के श्रीगुप्त केवल मात्र पद्मावती के नागों के सामन्त अथवा सेनापति थे, वास्तव में अपने स्वामी से विद्रोह किया था घटोत्कच गुप्त ने और वह सफल भी हुआ था।

घटोत्कच और लिच्छवि

इस सफलता के कारण थे। उसने अपने पुत्र चन्द्रगुप्त का विवाह वैशाली के लिच्छवियों की राजकुमारी कुमारदेवी से किया और उनके बल पर उसने अपने आपको नागों से स्वतंत्र घोषित कर दिया। घटोत्कच गुप्त का समय ई० सन ३०० से प्रारंभ माना जाता है। यह वह समय था जब 'अधिराज' भव नाग ने प्रवरसेन वाकाटक के राजकुमार गौतमीपुत्र से अपनी राजकुमारी का विवाह किया था। घटोत्कच गुप्त के इस विद्रोह के कारण संभवतः भव नाग को अपने सेनापति विन्ध्यशक्ति के प्रतापी पुत्र प्रवरसेन वाकाटक से निकट सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक हो गया होगा। महरौली लौह-स्तम्भ सम्बन्धी हमारे अनुमान की पुष्टि इससे भी होती है। लिच्छवि और घटोत्कच गुप्त के इस नवीन सम्बन्ध से उसके 'अधिराजत्व' को संकट उत्पन्न हुआ होगा और वाकाटक प्रवरसेन से अपना सम्बन्ध सुदृढ़ करके ही वह घटोत्कच को बंगाल तक खदेड़ सका होगा और अपने आपको 'एकाधिराज' कह सका होगा। इस पृष्ठ-भूमि में देखने से वैशाली में प्राप्त 'घटोत्कच गुप्तस्य' अंकित मुद्रा[2] को वैशाली के लिच्छवियों से साँठ-गाँठ करनेवाले श्रीगुप्त के पुत्र महाराज घटोत्कच गुप्त की ही मुद्रा कहा जा सकता है। उसे तुम्बवन (तुमेन) पर शासन करनेवाले परवर्त्ती घटोत्कच गुप्त की मुद्रा होने की क्लिष्ट कल्पना करने की आवश्यकता फिर नहीं रह जाती। तुम्बवन का घटोत्कच गुप्त मध्यभारत के वर्तमान गुना जिले में गुप्तों की ओर से शासन कर रहा था, वह वैशाली जा सकता था; क्योंकि वैशाली उसके समय में गुप्त साम्राज्य में थी, परन्तु वह स्वयं मालवे का शासक था।

---

१. जायसवाल : अन्धकारयुगीन भारत, पृष्ठ २४९।

२. इण्डियन एण्टिक्वेरी, १९२०, पृष्ठ ११४।

चन्द्रगुप्त और मगध

घटोत्कच गुप्त के इस विद्रोह का लाभ उठाया उनके पुत्र लिच्छवि राजकुमारी के पति चन्द्रगुप्त (प्रथम) ने। जब नव नाग पद्मावती, कान्तिपुरी और मथुरा में राज्य कर रहे थे तब मगध के लोगों के साथ गुप्त गंगा तटवाले प्रयाग में राज्य करने लगे[1]। चन्द्रगुप्त (प्रथम) को समुद्रगुप्त के राजकवि हरिषेण ने इलाहाबाद प्रशस्ति में 'महाराजाधिराज' कहा है, जबकि श्रीगुप्त और घटोत्कच गुप्त को केवल 'महाराज' कहा है। श्रीगुप्त और घटोत्कच गुप्त की जिस स्थिति का ऊपर उल्लेख किया गया है और जिसका ऐसा ही संकेत विष्णुपुराण भी करता है, उसको देखते हुए अपने आश्रयदाता की कीर्त्ति के तिल को ताड़ बना देनेवाले इस प्रशस्तिकार हरिषेण का उन्हें महाराजाधिराज की तुलना में केवल महाराज कहना उसके योग्य ही है और इसने यह महाराजाधिराज का विरुद चन्द्रगुप्त के साथ केवल इसलिए लगाया है कि वह उसके आश्रयदाता का पिता था और उसने भरे दरबार में अन्य राजकुमारों की उपेक्षा कर उसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। असली इतिहास तो, जैसा ऊपर लिखा गया है, प्रभावती गुप्ता के ताम्रपत्रों में प्राप्त होता है।

विष्णुपुराण के 'अनुगंगाप्रयागं मागधा गुप्ताश्च भोक्ष्यन्ति' का आशय श्री जायसवाल ने यह लिया है कि 'मागध गुप्त लोग गंगा तटवाले प्रयाग पर राज्य करते थे[2]'। यह अर्थ ठीक ज्ञात नहीं होता। सही अर्थ वही ज्ञात होता है जो ऊपर दिया गया है अर्थात् 'गंगा तटवाले प्रयाग में मगध के लोगों के साथ गुप्त लोग राज्य करने लगे'। ज्ञात यह होता है कि उस समय मगध पर लिच्छवियों का राज्य हो गया था। मगध की लिच्छवि राजकुमारी के साथ चन्द्रगुप्त (प्रथम) प्रयाग में राज्य करते थे यह उनकी उस स्वर्णमुद्रा से ज्ञात होता है जिसके एक ओर 'चन्द्रगुप्त' तथा 'कुमारदेवी' का नाम अंकित है और दूसरी ओर 'लिच्छवयः' लिखा है। यह साझे का राज्य था।

चन्द्रगुप्त (प्रथम) के संभवतः एक से अधिक पुत्र थे और उसके अन्तिम दिन कुछ सुखपूर्वक भी नहीं बीते थे। इस समय तक पद्मावती के नाग सिंहासन पर गणपति नाग आसीन हो गया था। उसने अधिराज का विरुद तो ग्रहण नहीं किया था, परन्तु वर्तमान बुलन्दशहर के पास मत्तिल, कौशाम्बी में संभवतः नागसेन, अहिच्छत्रा में अच्युत, पंजाब के वर्तमान लाहौर के प्रदेश में नागदत्त (भट्ट) और दक्षिण में 'भारशिव दौहित्र' रुद्रसेन इस साम्राज्य स्थापना की इच्छावाले तथाकथित महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त की महत्वाकांक्षा के मार्ग में सुदृढ़ दीवार बनाए हुए थे। इतिहास को जिस घटना का अभी ज्ञान नहीं है, और जिसका संभाव्य रूप श्री जायसवाल ने यह बताया है कि उसके अत्याचारों से पीड़ित होकर मगध की प्रजा ने वाकाटक प्रदेश के किसी राजकुमार की सहायता से उसे मगध की सीमाओं से खदेड़ कर वर्णाश्रमधर्म की

१. विष्णुपुराण—नवनागाः पद्मावत्यां कान्तिपुर्यां मथुरायामनुगंगाप्रयागं मागधा गुप्ताश्च भोक्ष्यन्ति।

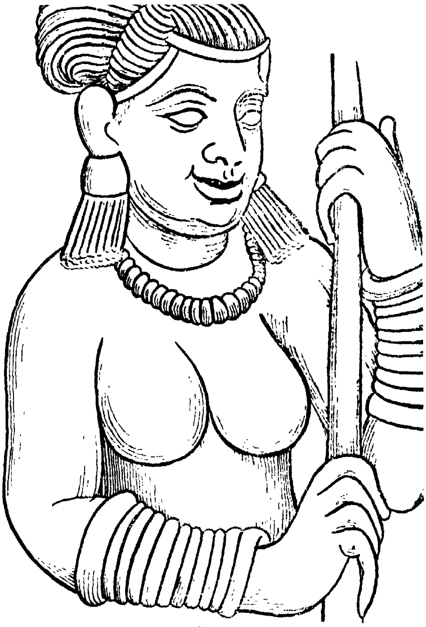
२. अन्धकारयुगीन भारत, पृष्ठ २६९।



पद्मावती के विष्णु-मन्दिर का सूर्य-स्तंभ-शीर्ष (पृष्ठ ६०१)



विष्णु, पद्मावती



छत्रधारिणी, पद्मावती

ताड़ स्तंभशीर्ष, विदिशा (पृष्ठ ६२८)



पुनः स्थापना की और मागधों की नागरिक स्वतंत्रता वापस आई, ऐसा माना था[1]। उसके कारण चन्द्रगुप्त (प्रथम) ने भरी सभा में समुद्रगुप्त को राज्य दे दिया। इस घटना का वर्णन करते हुए समुद्रगुप्त का राजकवि हरिषेण लिखता है, 'जिसको समान कुलवाले (ईर्ष्या से) म्लान मुखों से देखते थे, जिसके सभासद हर्ष से उच्छ्वसित हो रहे थे, जिसके पिता ने उसको रोमांचित होकर यह कहकर गले लगाया कि तुम सचमुच आर्य हो और अपने चित का भाव प्रकट करके स्नेह से चारों ओर घूमती हुई, अश्रुओं से भरी, तत्त्व को पहचाननेवाली दृष्टि से देखकर कहा कि इस अखिल पृथिवी का पालन करो'।

समुद्रगुप्त और गणराज्य

चन्द्रगुप्त (प्रथम) का यह निर्वाचन अत्यन्त उपयुक्त हुआ। लिच्छविदौहित्र को अब मगध भी मिल गया। उसने अपनी सेना सुदृढ़ की और समस्त उत्तर भारत को अपने प्रबल पराक्रम से मथ डाला। गणपति नाग, नाग सेन और अच्युत नन्दी कौशाम्बी के युद्ध में एक दिन में परास्त किये गये। नाग दत्त, मतिल, रुद्रदेव, चन्द्रवर्मा और बलवर्मा का राज्य समाप्त कर दिया गया। नाग राज्य की सीमा में घुसकर मालव, आभीर, काक, खर्परक तथा आर्यावर्त्त के अन्य गणराज्य यौधेय, अर्जुनायन, माद्रक तथा प्रार्जुन को अपने अनुगामी किया और दक्षिणापथ के पहरेदार वाकाटक रुद्रसेन को हराकर वशवर्ती किया। आर्यावर्त्त की यह विजय ई० सन ३५० तक पूर्ण हो चुकी होगी।

गणपति तथा अन्य नाग राजा संभवतः युद्ध में मारे गये। शेष बचा वीरसेन। समुद्रगुप्त ने नागों के समस्त अधिकारक्षेत्र को अपने साम्राज्य में मिलाकर वीरसेन को पद्मावती का करद शासक नियुक्त कर दिया, ऐसा ज्ञात होता है। वीरसेन की स्वातंत्र्य भावना संभवतः मिट न सकी और वह फिर स्वतंत्र होने का स्वप्न देखने लगा। उसका भेद फूट गया और उसे तथा पद्मावती नगरी को गुप्तों द्वारा उध्वस्त किया गया। बाणभट्ट ने इस घटना का संकेत हर्षचरित में किया है। नाग कुल में जन्म लेनेवाला पद्मावती का नाग सेन सारिका द्वारा भेद खोल दिये जाने पर नष्ट हुआ[2]। मथुरा में किसी अन्य नाग राज्य की कल्पना कर लेने से इस वीरसेन को उस वीरसेन से भिन्न माना गया है जिसे समुद्रगुप्त ने हराया था। हमने विष्णुपुराण के उल्लेख को ठीक माना है, जिसके अनुसार मथुरा, कान्तिपुरी और पद्मावती तीनों पर नव नागों—भारशिव नागों का राज्य था। समुद्रगुप्त ने वीरसेन को नागों का नामलेवा छोड़कर उसे पद्मावती में रख दिया हो यही अधिक संभावना है और संभवतः इसी की बहिन या पुत्री थी कुबेरनागा जिसका समुद्रगुप्त ने अपने पुत्र राजकुमार चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के साथ विवाह किया। जिस प्रकार लिच्छविदौहित्र होने के कारण उसे मगध का राज्य मिला था, वह अपने राजकुमार का विवाह नागकुमारी से करके मध्यदेश के नागों को तथा साथ ही नागदौहित्र वाकाटकों को निकट लाना चाहता था। युद्ध-क्षेत्र में हरा देने मात्र से संभवतः विद्रोह की ज्वाला शान्त न होती, जो इस विवाह सम्बन्ध से की गयी और

१. अन्धकारयुगीन भारत, पृष्ठ २५२-२५६।

२. हर्षचरित, षष्ठोच्छ्वास।

जब यह नवार्जित प्रदेश उसके शासन के प्रति विनयी हो गया तो नागसेन को समाप्त कर दिया गया। 'सारिका' तो एक बहाना मात्र थी।

रुद्रसेन (प्रयाग प्रशस्ति का रुद्रदेव) वाकाटक युद्ध में परास्त कर दिया गया, उसके मामा के कुल की कुबेरनागा राजकुमार की पत्नी बनाली गयी, परन्तु फिर भी संभवतः वाकाटक का रोष शमन न हो सका। उसे आगे चलकर शमन किया चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने। चन्द्रगुप्त (द्वितीय) और कुबेरनागा से उत्पन्न प्रभावती गुप्ता का विवाह पृथ्वीसेन वाकाटक के पुत्र रुद्रसेन (द्वितीय) के साथ किया गया। रुद्रसेन (द्वितीय) के पश्चात् प्रभावती गुप्ता ने अपने अवयस्क राजकुमारों की ओर से शासन सँभाला और पद्मावती के भारशिवों की तथा उनके दौहित्रकुल वाघाट के वाकाटकों की श्री गुप्त साम्राज्य में तिरोहित हो गयी।

अनुश्रुति और गुप्त

विष्णुपुराण 'गंगा तटवाले प्रयाग में' गुप्तों द्वारा राज्य भोग करने का उल्लेख करके मौन हो जाता है। वह समुद्रगुप्त की इन महान विजयों का उल्लेख नहीं करता। ढाई-तीन हजार वर्ष की भारत की प्रशस्त परंपराओं को अपनी प्रगल्भ वाणी में अमर बनानेवाले वैशम्पायन और उग्रश्रवाओं के गुप्त युग के प्रशस्तिकारों के गुणकथन का शतांश, सहस्रांश या अयुतांश कहने के लिए भी मानो शब्द-कोश समाप्त हो जाते हैं। वे भारत का महाभारत कर सकते थे, चार सहस्र श्लोकोंवाले पुराण को सौगुना वर्धित कर कंटस्थ रख सकते थे, परन्तु किसी अज्ञात कारण ने उन्हें गुप्त भट्टारकों के प्रति इतना वाणीकृपण बना दिया कि गंगातटवाले प्रयाग के गुप्त कहने के पश्चात् देश की वह दिव्य झाँकी इन में अंकित नहीं हुई जो आज प्रशस्तियों की छापें ले-लेकर पढ़ी जाती है। उसमें स्वरैक्य करने के स्थान पर पुराणकार संभवतः हरिषेण जैसे प्रशस्तिकारों की पल्लवित वाणी को उनके शील और आचरण का बखान करनेवाली,[1] कहता है और उस जैसे 'भट्टारक के चरणों के दास' को, जिसकी 'मति इन (भट्टारक) के चारों ओर घूमने (देने) के अनुग्रह से उन्मीलित,[2] होती थी, लक्ष्य करके इन्हें 'तन्नाथ'[3] कहता है, सम्राट को सर्वेश्वर माननेवाला आज के अर्थों का वास्तविक नास्तिक बताता है। गुप्त सम्राटों के बड़े-बड़े दान भी इन जन-भावना के व्याख्याताओं की, इन भारती के उपासकों की वाणी को तनिक भी स्निग्ध नहीं कर सके और प्रशस्तिकारों के विपरीत गद्यपद्यात्मक काव्यों का विषय बनाने के स्थान पर इन पुराणकारों ने इन के 'सर्व-पृथिवी-विजय-जनितोदय'[4] को ही संभवतः कठोरतापूर्वक राजा द्वारा 'जनपदों का क्षय' किया जाना कहा। सहस्राब्दियों की गण-व्यवस्था की समाप्ति होते देखकर वह मर्माहत हो गया। उसकी दृष्टि में

---

१. तच्छीलाचारवादिनः।

२. हरिषेण प्रशस्ति, पंक्ति ३१।

३. भागवत १२।१।४३।

४. हरिषेण प्रशस्ति, पंक्ति २९।

कलियुग भी समाप्त हो गया। गुप्तों के काल को देने के लिए उसके कोष में कलियुग से नीचा कोई नाम नहीं था।

गणशक्ति का तिरोभाव

नागों के विस्तृत राज्य को 'साम्राज्य' नहीं कहा जा सकता। वह साम्राज्य था भी नहीं। पुष्यमित्र शुंग के समय से उत्कट राष्ट्रीयता का एक प्रवाह आया था, जो समस्त भारत को विदेशी आक्रमणों के विरुद्ध एक सूत्र में बाँधने की उत्कट इच्छा लेकर चला था। विष्णु के चक्र और शिव के त्रिशूल से बल लेकर, गंगा की पावनता की रक्षा का व्रत लेकर यह युग चला था। उसका आदर्श अपने परमोच्च शिखर पर नव नागों के समय में दिखाई दिया। विन्ध्य के अंचल से अनेक ब्राह्मण वंश उठे, वे भागीरथी के अमल जल से अभिषिक्त हुए, आर्यावर्त को विदेशियों के राज्य से मुक्त किया, उनके सेनापति, स्थानीय शासक, गणतन्त्र सब अपने आपको एक बृहत् संघीय गणराज्य का सदस्य अनुभव करते रहे। वे नर्मदा पार कर पल्लवों और पल्लवभृत्यों के रूप में कांची तक बढ़े और समस्त भारतवर्ष को उनके द्वारा एक सांस्कृतिक सूत्र में बाँधा गया, एक देश का रूप दिया गया। उसे एक राजनैतिक और सांस्कृतिक इकाई बनाया गया। वे यूनानियों, शकों, कुषाणों को उखाड़ फेंकने के लिए कटिबद्ध और कृतसंकल्प थे, वे संभवतः इसके लिए तैयार न थे कि यूनानियों, शाही शाहानुशाहियों आदि को साम्राज्य परम्परा से महत्वाकांक्षा प्राप्त कर[1] गंगा-यमुना के पावन संगम से उनके एक सामन्त कुल द्वारा पूर्व दिशा से उनपर आक्रमण होगा। देश की अद्भुत जीवट, समृद्धि और उच्च सांस्कृतिक परम्पराएँ गुप्तों के साम्राज्य-समुद्र में भरकर वृष, विभु, रवि, भव, गणेन्द्र जैसे प्रतीकात्मक नाम धारण करनेवाले नव नाग तिरोहित हो गये। आगे भारत में वास्तविक अर्थों से एकछत्र साम्राज्य, आज के अर्थों में साम्राज्यवाद, स्थापित हुआ, जिसने स्वर्गीय श्री जायसवाल के शब्दों में 'सिकन्दर के समान अपने देश की स्वातन्त्र्य भावना की हत्या कर डाली' और 'उस बीजकोश का अस्तित्व ही मिटा दिया जिससे भारशिव और गुप्त लोग उत्पन्न होते हैं'[2]। गुप्तों के साम्राज्य में राजसभा में एक चमक-दमक आई, प्रशस्तिकारों की भाषा में 'परम भट्टारकों' के कीर्ति-वर्णन में वाचालता आई; परन्तु साथ ही जनता की स्वातंत्र्य भावना की समाप्ति का प्रारम्भ हो गया। देश की रक्षा के लिए वह सम्राट की सेना की मुखापेक्षी रहने लगी। पुराणकार ने इसे भी संभवतः जनपदों का क्षय होना ही गिना[3], जिसके दुष्परिणाम ईसवी प्रथम सहस्राब्दी के अन्त में दिखाई दिये। आगे न सर्वशक्तिसम्पन्न महामंत्री दिखाई देते हैं, न पौर सभाएँ और न ऐसी परिषदें जिनका राजतंत्र पर कुछ प्रभाव होता। भारतीय समाज का जो भी रूप आज पन्द्रह-सोलह सौ वर्ष पार करके आ सका है वह उसकी अपनी आन्तरिक शक्ति के कारण आया है; इस बीच उसे कोई गति मिली हो अथवा उसका कोई परिष्कार हुआ हो ऐसा ज्ञात नहीं होता।

---

१. अन्धकारयुगीन भारत, पृष्ठ ४६५।

२. वही, पृष्ठ ४६५।

३. भागवत १२।१।४३।

भारत के इतिहासों में दो प्रवृत्तियाँ आज स्पष्ट दिखाई देती हैं—पहली है कौशाम्बी-युद्ध के पूर्व नव नागों के विशाल प्रभावक्षेत्र की अस्वीकृति और दूसरी है भारतीय संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ तत्त्वों की गुप्त साम्राज्य में स्थापना। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर ये दोनों प्रवृत्तियाँ ही त्रुटिपूर्ण हैं। हम आगे के पृष्ठों में यह स्थापना करेंगे कि भारतीय संस्कृति में जो कुछ भी सर्वश्रेष्ठ है, उसके अधिकांश का निर्माण कौशाम्बी के युद्ध के पूर्व ही हो चुका था। नागों के गुप्तपूर्व समस्त भारत-व्यापी प्रभाव को सिद्ध करने के लिए हम कुछ तथ्यों को यहाँ दुहरा देना चाहते हैं। युद्ध में नागों को पराजित करके भी गुप्त सम्राट नागों से ही सबसे अधिक भयभीत रहे। उनने अपने ध्वज के लिए 'नाग-भक्षी' गरुड़ अपनाया। वे भारतीय-जन के मन में यह विश्वास जमा देना चाहते थे कि नागों को वे सफलतापूर्वक सदा दबाए रहेंगे। उदयगिरि में चन्द्रगुप्त (द्वितीय) की प्रतीक जो वराह-मूर्ति बनाई गयी उसमें भी पृथ्वी का उद्धारक चन्द्रगुप्त—वराह—अपने पद-तल के नीचे नाग राजा को ही दबाए दिखाया गया, जो अचूक रूप से कहता है कि गुप्तों ने पृथ्वी का साम्राज्य नागों से प्राप्त किया था। राजनैतिक समृद्धि के आशय से विवाह-सम्बन्ध करनेवाले इन गुप्तों ने कुबेरनागा से विवाह भी नागों के विस्तृत प्रभाव के कारण ही किया था। भारतीय इतिहासज्ञों के मस्तिष्क से ये दोनों भ्रमपूर्ण प्रवृत्तियाँ जिस दिन दूर हो जाएँगी, भारतीय इतिहास की अनेक भ्राँतियों का निराकरण अपने आप हो जायगा।

भारत एकतंत्र शासन को सहन कर सकनेवाला देश नहीं है, वह उसकी प्रकृति और प्रवृत्ति के प्रतिकूल है। उसके लिए गणतंत्रात्मक राज्य संघ ही आदर्श शासन प्रणाली रही है, जिसका अन्त हुआ लगभग ३५० ई० में समुद्रगुप्त की विजय-यात्राओं से और फिर लगभग सोलह सौ वर्ष पश्चात अब प्राप्त हो सका सन १९५० में। समुद्रगुप्त की विजय-यात्रा तथा उसके पश्चात् का विवरण इसी कारण अब हम अगले खण्ड में देंगे।

धर्मसाधना

विकास का युग

पिछले अध्याय में हमने जिस धार्मिक पृष्ठभूमि का दिग्दर्शन किया था, प्रस्तुत काल में वह विकासोन्मुखी दिखाई देती है। किसी नये मत या वाद का प्रादुर्भाव प्रस्तुत काल में हुआ हो यह दिखाई नहीं देता। पिछले युग की उपासनाओं में इस काल में निश्चित विकास-क्रम दिखाई दिया। बौद्ध धर्म में जहाँ कुछ त्रुटियाँ थीं वे इस काल में पूरी हुई, जैन धर्म के क्षेत्र में विस्तार हुआ और वैदिक उपासना अपनी विविध धाराओं में जनता में आई। विचार-प्रधान और साधना-प्रधान दोनों प्रकार के आस्तिक एवं नास्तिक दर्शनों की परम्परा प्रस्तुत काल में सजीव रही और जैसा राजनैतिक इतिहास में स्थान-स्थान पर उल्लेख हुआ है, इन सभी धर्मों में मध्यदेश में इस काल में अद्‌भुत समन्वय रहा। ब्राह्मण या वेदों को प्रमाण माननेवाली उपासनापद्धति यद्यपि सर्वाधिक लोकव्यापी थी और इस काल में इस प्रदेश में इन ब्राह्मण धर्मो के अनुयायी ही राज्य कर रहे थे, धार्मिक आधारों पर किसी नास्तिक धर्म के अनुयायियों को हानि उठाना पड़ी हो, इसके उदाहरण प्राप्त नहीं होते। राजनैतिक इतिहास का अध्ययन करते हुए हमने देखा है कि पश्चिमोत्तर भारत के बौद्ध श्रमणों ने यूनानी आक्रान्ताओं को सहयोग दिया था, और साकेत एवं पाटलिपुत्र तक उनके अधिकार में हो गया था, उसके परिणाम उस प्रदेश में दिखाई दिये थे, परन्तु जहाँ इस प्रकार के अवसर नहीं थे, साँची, भारहुत एवं ऋषिपत्तन (सारनाथ) में बौद्ध विहार और श्रमणों को कोई आँच नहीं आई थी। यह सम्भव है कि एक संस्था के भिक्षुओं द्वारा की गयी इस प्रकार की कार्यवाही के कारण लोकमत उसके विरुद्ध निर्मित हुआ हो; परन्तु इस सबसे बौद्ध धर्म के पालन में कोई बाधा नहीं आई। मध्यदेश में बौद्ध और जैन धर्म के प्रसिद्ध पुण्यस्थल विकास कर रहे थे और नागार्जुन, अमरसिंह, सिद्धसेन, दिवाकर जैसे विद्वान अपनी ज्ञानराशि से इस प्रदेश को लाभान्वित कर रहे थे। कुछ विद्वानों का मत यह प्रतीत होता है कि इस युग में वैदिक यज्ञों की विशेष उन्नति हुई अर्थात् श्रौत धर्म का अभ्युदय हुआ। परन्तु उन अश्वमेध आदि यज्ञों का धार्मिक की अपेक्षा राजनैतिक महत्त्व ही विशेष था, और इसी के परिणामस्वरूप इस काल में अनेक प्रचण्डपराक्रम अश्वमेधयाजी हुए।

विष्णु के अवतार

पिछले अध्याय में हमने देखा है कि वासुदेव कृष्ण विष्णु के रूप में पूजित हुए थे। उनने अपने आपको वस्तुतः अपने जीवनकाल में ही ईश्वर घोषित कर दिया था। प्रबल विरोध के बीच कम-से-कम सात्वतों में वे अपनी पूजा मान्य कराने में सफल हुए थे। अधिक

काल तक यह सात्वतधर्म कहलाता रहा और यादवों की वंशपरम्परा के भारत में प्रसार के साथ वासुदेव का अवतारत्व लोक में प्रतिष्ठित हुआ। कृष्णभक्त जब उन्हें विष्णु का सोलह कलायुक्त पूर्णावतार कहते हैं, उनके कथन में यह ऐतिहासिक आधार है कि वासुदेव एकमात्र अवतार हैं जिनने अपने आपको स्वयं ईश्वर घोषित किया। अन्य महापुरुषों को शताब्दियों और सहस्राब्दियों की प्रतीक्षा करनी पड़ी तथा उनके चरित्र पर अवतारत्व पीछे से आरोपित किया गया। वासुदेव कृष्ण को यह श्रेय प्राप्त है कि उनने वह मार्ग खोल दिया जिसमें मनुष्य की ईश्वर के रूप में आराधना की जा सके। अन्य लोकोत्तर चरित्र अनुश्रुति और काव्यों में मौजूद थे, उनपर भी कालक्रम में देवत्व का आरोप हुआ। अशोक ने जिन पशुओं को पूजनेवालों का उल्लेख किया है, उनके वे पशु भी देव ही थे। उन सबको विष्णु का अवतार मान लिया गया। इन अवतारों ने आवश्यकतानुसार सारे देश की सहायता की।

विदेशी आक्रमणों से उत्पन्न राजनैतिक परिस्थितियों ने नयी आवश्यकताओं को जन्म दिया था। यूनानियों, शकों और कुषाणों के आक्रमण ने जनता में अरक्षा की भावना उत्पन्न कर दी थी। यह अन्यत्र बताया जा चुका है कि सम्पूर्ण उत्तर भारत इन पिछले आक्रान्ताओं की विजय-वाहिनियों द्वारा रौंदा गया था। यह उथल-पुथल, संहार और विनाश इस युग के भारतीय की स्मृति में अभूतपूर्व था। यद्यपि इसके बहुमुखी और सक्षम प्रतिकार चल रहे थे; परन्तु इन भौतिक प्रयासों के लिए मानसिक बल की आवश्यकता थी। प्रस्तुत परिस्थितियों में वासुदेव का विष्णुत्व उनके शास्त्र की अपेक्षा बुद्धिकौशल का अधिक प्रयोग करनेवाले ज्ञानप्रधान व्यक्तित्व के कारण और उनके साथ असुर कृष्ण का शृंगारी चरित्र सम्बद्ध हो जाने के कारण सम्भवत: युग की आवश्यकताओं के लिए पूरा नहीं पड़ा था, अत: लोकोत्तर सामरिक शक्ति वाले अवतारों की आराधना अधिक प्रचलित हुई। ब्राह्मण धर्म के अनुयायियों की दृष्टि में जब धर्म के सेतु टूट रहे थे, भारत जैसा पारिवारिक कलह सामने नहीं था, पश्चिम से मृत्यु और विनाश की मर्यादाहीन आँधी आ रही थी, अचूक शस्त्रबल ही सहायक हो सकता था, तब ऋग्वेद में जिन्हें रुद्र ऋषि कहा जा चुका था, जो यूनानी, शक एवं कुषाण रूपी क्षत्रिय राजाओं के विरुद्ध अपेक्षित संहारकारी रुद्र थे, जो मर्यादा की रक्षा में वज्रवत् कठोर थे, उन भार्गव राम के चरित्र का बार-बार घोष किया गया तथा राष्ट्र के सम्मान एवं नैतिक व्यवस्था के बाँध इन बर्बर आक्रमणों में ढहते देखकर वाल्मीकि रामायण के चरित्रनायक राम की विष्णु के मर्यादापुरुषोत्तम अवतार के रूप में पूजा अधिक व्यापक बनी। इन अवतारों की नैतिक मर्यादाओं के रक्षक और दुष्टदलन रूप से मध्यदेश की जनता ने सान्त्वना प्राप्त की और उपस्थित परिस्थितियों से जूझने का मानसिक बल ग्रहण किया। राम के उदात्त चरित्र ने उन्हें अवतार बनाया था और राम के अवतारत्व ने रघुवंश को पवित्र किया। राम-कथा को लेकर प्रस्तुत युग में श्रेष्ठ काव्यों का निर्माण हुआ। रघुवंश, सेतुबंध और रावणवध का उल्लेख हम आगे करेंगे और इसी काल में वाल्मीकिरामायण ने इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप अपना वर्त्तमान रूप ग्रहण किया। इसी समय सम्भवत: प्राग्वैदिक काल से जनता के कुछ भागों में चली आ रही उपर्युक्त मत्स्य, वराह और कच्छप की पूजा को अधिक ऊपर उठा लिया गया तथा

विष्णु के इन मत्स्य, वराह और कच्छप अवतारों ने डूबती पृथिवी एवं वेदों को अपने सींग, दाँत और पीठ पर धारण कर लिया। इस अवतारपूजा की लहर में कृतज्ञ मध्यदेश ने भारत और भारतीयता के रक्षक सेनानियों को भी देवता ही माना। महाभारत के शब्दों में अपार और नावहीन परिस्थितियों में त्राता की चाह थी और प्रस्तुत काल के जूझनेवाले अपराजित घुड़सवारों की सेनावाले ब्राह्मण सम्राट वाकाटक प्रवरसेन (प्रथम) को विष्णु का कल्कि अवतार घोषित कर दिया गया[1]। जनता ने माना कि तीव्र गति-वाले घोड़े पर चढ़ा, अपने खड्ग से दुष्टों का दमन करनेवाला ऐश्वर्य के गुणों से युक्त, अप्रतिम द्युतिवाला तथा (शक) राजाओं के वेश में छिपे असंख्य दस्युओं को मारनेवाला यह ब्राह्मणपुत्र विष्णु है[2]। कुछ विद्वानों के अनुसार कल्कि-अवतार पुष्यमित्र शुंग को माना गया था, जिनने यूनानी राजाओं के दर्प का दलन किया था।

उपासनाओं का समन्वय और हिन्दू-धर्म का उदय

इस युग में सभी ब्राह्मण उपासनाओं में विदेशी आक्रमणों से जूझने के लिए संकटकाल जैसी समीपता अधिक स्पष्ट दिखाई देती है। विष्णु, शिव, वराह, कूर्म, मत्स्य आदि के उपासकों में यदि थोड़ी-बहुत दूरी इस काल तक अवशिष्ट रह गयी थी, तो वह वर्त्तमान-काल में तिरोहित हो गयी। महाभारत के उन प्रसंगों का उल्लेख शैव-उपासना का वर्णन करते हुए किया गया है जिनमें विष्णु और शिव की अभिन्नता प्रतिपादित की गयी है। प्रस्तुत युग के शैव-उपासक विष्णु की आराधना करते हैं और जिन परशुराम को ऋग्वेद रुद्र ऋषि कहता है, उन्हें भी विष्णु का अवतार कह दिया जाता है। शिवभक्त शुंगों के राज्य में देव-देव वासुदेव के प्रासादों का निर्माण होता है, शिव के स्तवन से प्रारंभ हुए मृच्छकटिक में वैष्णव सुरसरी प्रवाहित होती है,[3] परमशैव कालिदास विष्णु के अवतार राम का स्तवन करते हैं और भारशिवों के दौहित्र वाकाटक सम्राट प्रवरसेन सेतुबंध एवं रावणवध की रचना करते हैं। स्वयं भारशिव नव नागों में अधिराज भव नाग विष्णुपद पर विष्णु-ध्वज की स्थापना करते हैं और शैव सातवाहनों के शिलालेख वैष्णवों की वाणी बोलते हैं। वाल्मीकि रामायण के राम ने और भगीरथ ने यदि अपने मूल रूप में शिव की आराधना नहीं की होगी, तो प्रस्तुत काल के वाल्मीकि रामायण के संस्करण में वे रामेश्वरम् की स्थापना करते और गंगाधर के प्रसाद के लिए तपस्या करते दिखाए गये हैं। कभी जो यज्ञों के पश्चात् ब्रह्मज्ञान के शिखर पर चढ़ गये थे, वे ब्राह्मण वराह और कूर्म आदि में विष्णु का दर्शन करते हैं, उनके द्वारा वेदों और पृथिवी के उद्धार की बात स्वीकार करते हैं। इस प्रकार उस हिन्दू-धर्म का उदय प्रस्तुत युग में होता है जो जीवन एवं आशा का अटूट सन्देश देता है, जिसमें सहस्रविधता होते हुए भी मौलिक एकरूपता है, जो सहस्राब्दियों में विकसित हुई है और जिसकी अगणित धाराएँ एक प्रवाह-पथ पर अग्रसर होती हुई भारत के जनमानस की उदात्त प्रवृत्तियों का सिंचन करती रही हैं।

---

१. जायसवाल : अंधकारयुगीन भारत, पृष्ठ ३३५ की पाद-टिप्पणी।

२. महाभारत, वनपर्व १९०।९४-९७ तथा भागवत १२।२।१९-२०।

३. मृच्छकटिक ५।२-३।

दर्शन

भारतीय दर्शनशास्त्र की इस विशेषता पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है कि यह साधनाप्रधान तत्त्वज्ञान है। यह भी पहले कहा जा चुका है कि इन दर्शनों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। मध्यदेश की दृष्टि से दर्शनों की इस परम्परा में गोनर्दीय पतंजलि द्वारा योगदर्शन के सूत्रों की रचना प्रस्तुत काल की महत्त्व की घटना है। उनके जीवन पर साहित्य के प्रकरण में प्रकाश डालेंगे, यहाँ इतना पर्याप्त है कि योगसूत्रों की प्रस्तुत काल में इस प्रदेश में रचना होना यह सूचित करता है कि इस युग में यह दर्शन सजीव था और यहाँ इसकी साधना हो रही थी। यह तथ्य भी यहाँ ध्यान देने योग्य है कि जिसे ब्राह्मण धर्म कहा जाता है, उसके सदा दो पहलू रहते हैं—एक लोकपक्ष और दूसरा साधनापक्ष। साधनापक्ष अपेक्षाकृत कठिन होता है और उसके द्वारा शाश्वत सत्यों को खोजा जाता है जिनका आचरण करते हुए लोकजीवन सुस्थिर होता है, प्रशस्त मार्ग पर अग्रसर रहता है। ये साधनाएँ बहुत हुई हैं, उनसे भारतीय आचरण धर्म के अमूल्य रत्नों का प्रादुर्भाव हुआ है, लोककल्याण से प्रेरित इन उदात्त साधनाओं के परिणाम की अटूट उपकारकता और परिणामतः परस्पर अविरोधिता उस एकरूपता की जननी है जो भारतीय धर्मसाधना में उसकी अनेकरूपता में भी दिखाई देती है।

पतंजलि का योगदर्शन

योगदर्शन उन दर्शनों में से है जो वेद को प्रमाण मानते हैं। इन आस्तिक दर्शनों में भी यह ईश्वरवादी दर्शन है। सांख्यदर्शन ने सृष्टि की उत्पत्ति में २५ तत्त्वों को कारण माना है। योगदर्शन में छब्बीसवाँ तत्त्व ईश्वर या 'पुरुष विशेष' और स्वीकार हुआ है। साधारण जनता में जिस सर्वनियन्ता ईश्वर की आराधना की जाती है वह योगदर्शन की देन है। पतंजलि का ईश्वर नित्यमुक्त, एक, अद्वितीय और तीनों कालों से अतीत है और सम्पूर्ण ज्ञान उसी से प्रवाहित होता है। योगदर्शन के अनुसार मनुष्य अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और मृत्यु के भय से दुखी होता है और इनसे छूटने का मार्ग योग है। योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन आठ अंगों की साधना करते हुए अनेक सिद्धियाँ और विभूतियाँ प्राप्त होती हैं; परन्तु ये आनुषंगिक होती हैं और साधक का लक्ष्य ईश्वर का साक्षात्कार करके कैवल्य-प्राप्ति ही होता है। योग में चित्त की स्थिरता का, जिसे गीता में स्थितप्रज्ञता कहा गया है, महत्त्व है। अभ्यास, वैराग्य, ईश्वर में मन लगाना, प्राणायाम, समाधि और विषयों में लीन न होना चित्त की स्थिरता के उपाय बताए हैं। चित्त की स्थिरता के लिए पहले उसे किसी स्थूल वस्तु में लगाकर एकाग्र होने की आदत डाली जाती है, फिर सूक्ष्म वस्तु पर उसे लगाया जाता है और तदनंतर सम्पूर्ण विषयों का परित्याग कर ईश्वर में स्थिर किया जाता है। चित्त स्थिर होने पर, जिसका मनुष्य ध्यान करता है, उसका रूप प्रत्यक्ष होने की स्थिति को चित्त की संप्रज्ञात अवस्था कहते है। इससे आगे की अवस्था में, जिसे पतंजलि ने असंप्रज्ञात कहा है ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रहता। इस अभेद ज्ञान की स्थिति को ही कैवल्य कहा गया है।

योगदर्शन का साधनावृत्तिवाले मनीषियों में बहुत प्रसार हुआ था। इसी के फल-स्वरूप आगे मध्यदेश में तेजस्वी नाथ सम्प्रदाय का उद्भव हुआ और उत्तर मध्यकाल



चामरग्राहिणी--बाघ

में जाकर संभवतः इन योगियों की एक जाति ही बन गयी थी, जो आज भी जोगी कहलाते हैं। प्रस्तुत काल में यह योगदर्शन समग्र रूप से अधिकारी साधकों के हाथ में रहा। इसमें पीछे के कालों की विकृति नहीं आई थी और आयुर्वेद आदि लोककल्याणकारी शास्त्रों का इसकी परम्परा में विकास हो रहा था। योगसाधना के मार्ग में विकृति तब आई जब पीछे के काल में वज्रयान में इसका प्रवेश हुआ।

वैष्णव उपासना

पिछले अध्याय में वैष्णव उपासना के विकासक्रम पर प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत काल में उसके सम्बन्ध में अधिक सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं और अधिक विस्तृत क्षेत्र में उसके प्रसार के साक्ष्य प्राप्त होते हैं। मौर्यों के पतन के पश्चात् शुंगों ने जब शासनसूत्र सँभाला, उनने यूनानी विजेताओं को पराजित कर उन्हें संधि करने को विवश किया था। इनमें से दिमित्र ने अपने व्यय से इन भागवत शुंगों की प्रसन्नता के लिए विदिशा में वह यज्ञ कराया जिसकी मुद्राएँ, यज्ञकुण्ड आदि यहाँ प्राप्त हुए हैं। एक दूसरे यवन राजा अन्तलिकित के राजदूत हेलिओदोर ने, जो स्वयं भागवत धर्म में दीक्षित हो गया था, शुंग काल में ही देवदेव वासुदेव का आजकल खाम बाबा नाम से प्रसिद्ध विदिशा का गरुड़ध्वज निर्मित कराया[1]। यहीं प्राप्त हुए एक अन्य शिलालेख में भगवत (वासुदेव) के प्रासादोत्तम के एक अन्य गरुड़ध्वज का उल्लेख प्राप्त होता है। इससे प्रतीत होता है कि शुंगों के शासनकाल में वैष्णव देवमन्दिरों का निर्माण हो रहा था और पश्चिमोत्तर सीमाओं के यवन भी भागवत धर्म में दीक्षित होते थे। इसके अतिरिक्त तुमेन में प्रस्तुत काल का एक विष्णु मन्दिर प्राप्त हुआ है, जिसमें आजकल विन्ध्यवासिनीदेवी की मूर्ति पधरा दी गयी है। इसे वासुदेव की बाल-लीलाओं के अर्धचित्रों से अलंकृत किया गया है। चातुर्व्यूह में से हलधर संकर्षण की एक नागछत्रयुक्त मदविवृत्तेक्षण (मदभरी आँखोंवाली) प्रतिमा मथुरा संग्रहालय में प्रस्तुत युग की उपलब्ध है। वहीं ईसवी तीसरी शती का कृष्णजन्माष्टमी का एक अर्धचित्र भी सुरक्षित है।

प्रस्तुत युग में विष्णु की शालग्राम शिला के रूप में भी पूजा प्रचलित हो गयी थी, यह सूचना राजपूताने के चित्तौड़गढ़ जिले के घोसुंडी में प्राप्त ई० पू० पहली दूसरी शताब्दी के शिलालेख से प्राप्त होती है। इसमें पूजा-शिला-प्राकार के निर्माण का उल्लेख है। यह प्राकार या परकोटा, अश्वमेध यज्ञ करनेवाले भागवत पुष्यमित्र शुंग ने वासुदेव और संकर्षण के निमित्त बनवाया था। महरौली का लोह-स्तंभ जिसे अधिराज भव नाग ने स्थापित किया था, दिल्ली के अंचलों में चक्रपाणि विष्णु के गरुड़ध्वज की प्रस्तुत युग में स्थापना की सूचना देता है।

भागवत धर्म का प्रसार इस युग में भारतव्यापी हुआ था। बिलासपुर जिले में पालि लेखयुक्त एक विष्णु परिवार की मूर्ति की आज भी पूजा हो रही है। यह मूर्ति लगभग ई० पू० पहली शताब्दी की है। अनेक वैदिक यज्ञ करनेवाले एक सातवाहन राजा की रानी का एक शिलालेख ईसा पूर्व पहली शताब्दी का नानाघाट (बम्बई) में

---

१. हरिहरनिवास द्विवेदी : भारत की मूर्तिकला, पृष्ठ २६।

प्राप्त हुआ है। इसमें अन्य वैदिक देवताओं के साथ संकर्षण और वासुदेव की वंदना की गयी है। कृष्णा जिले में चिन्न में प्राप्त ईसवी दूसरी शताब्दी का एक शिलालेख वासुदेव के स्तवन से प्रारम्भ होता है। पल्लवों के विष्णुगोप आदि नामों से तथा उनकी गुण्टूर जिले में प्राप्त प्राकृत विज्ञप्ति में भगवत नारायण के देवकुल के उल्लेख से उस क्षेत्र में इस साधना के प्रसार की सूचना प्राप्त होती है। दक्षिण के पाण्डय मथुरा से इस वासुदेव उपासना को अपने साथ ले गये थे और उनने मथुरा की स्मृति बनाए रखने के लिए वहाँ मदुरा बसाई थी। पाण्ड्यों के शूरसेन जनपद से सम्बन्ध की सूचना मेगास्थनीज के वर्णनों से भी प्राप्त होती है।

पश्चिमोत्तर भारत में भागवत धर्म के प्रसार की सूचना पांचालराज विष्णुमित्र की मुद्राओं पर चक्रधर चतुर्भुज विष्णु के अंकन से प्राप्त होती है। एक कुषाण मुद्रा के साँचे पर, जिसे कनिंघम हुविष्क की बताते हैं, कुषाण राजा अंजलिबद्ध बनाया गया है और सामने चतुर्भुज विष्णु की प्रतिमा अंकित हुई है। हुविष्क की कुछ मुद्राओं पर भी चतुर्भुज ऊष्न (विष्णु) अंकित हैं। हुविष्क के उत्तराधिकारी ने भी वासुदेव नाम धारण किया था। इससे सूचित होता है कि इन कुषाणों ने वासुदेव धर्म स्वीकार किया था।

कृष्ण के रूप में विष्णु की उपासना के अतिरिक्त चक्रपाणि विष्णु और उनके रामावतार की आराधना मध्यदेश में इस काल में अधिक लोकप्रिय हुई। वाल्मीकि रामायण का रचनाक्षेत्र होने के कारण और मध्यदेश की पद-पद भूमि राम के जीवन के सर्वोत्तम अंश से संबद्ध होने के कारण राम की उपासना के लिए इस प्रदेश में अनुकूल पृष्ठभूमि भी थी और राम का मर्यादापुरुषोत्तम रूप इस प्रदेश के निवासियों की उच्च नैतिकता से सदा सामञ्जस्यपूर्ण भी रहा। धनुर्धर राम और चक्रायुध विष्णु इस युग के मध्यदेश की आवश्यकता भी थे।

शैव उपासना

प्रस्तुत काल में व्यापक रूप से शैव आराधना की सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। मध्यदेश के नागों और वाकाटकों की परम्परागत शैव आराधना के अतिरिक्त, जिसके अनुसार वे प्राग्वैदिक अहि या नागों के समान ही अपने शरीर पर शिवमूर्त्ति धारण करते थे, अपने आपको शिव का नन्दी कहते थे और भारशिव कहलाते थे, इस काल के कुषाण राजा अपनी मुद्राओं पर शिवमूर्त्ति, त्रिशूल और नन्दी अंकित कराते हैं और दक्षिण का पहला इक्ष्वाकु राजा शान्तमूल स्कन्द की उपासना करता है। मथुरा और अवंति पर आधिपत्य जमानेवाले शक क्षत्रप भी शिव के उपासक थे और इस काल के साहित्य, स्थापत्य एवं मृत्तिकला में शैव अभिप्रायों का बाहुल्य प्राप्त होता है। शिवपरिवार के सभी सदस्यों की आराधना की सूचनाएँ इस काल में प्राप्त होती हैं। शुंगों से लेकर वाकाटकों तक स्थानीय तत्त्वों का जीवन, पश्चिमोत्तर से हो रहे विदेशियों के आक्रमणों का प्रतिकार करते, उन्हें भारत की सीमाओं से पार खदेड़ते व्यतीत हुआ था और स्वाभाविक रूप से इस कारण रुद्र की आराधना इन संग्रामों के वातावरण में लोकमानस के अनुकूल रही होगी। उसीका प्रतिबिम्ब इस काल की कला, साहित्य और धर्मसाधना में दिखाई

देता है; लोकजीवन में और राजचिह्नों में शिव ही शिव दिखाई देते हैं, शुंगों से लेकर सातवाहन, नाग, वाकाटक, पल्लव आदि की मुद्राओं में नन्दी, त्रिशूल, परशु चन्द्र, मयूर, सिंह आदि शिव एवं शिवपरिवार के वाहन एवं आयुध व्याप्त हैं।

शैव उपासना और साहित्य

प्रस्तुत काल के साहित्य में शैवधारा सर्वत्र ओत-प्रोत है। शूद्रक का मृच्छकटिक, कालिदास की कृतियाँ, हाल सातवाहन की गाथासप्तशती आदि का प्रारम्भ शिव की वंदना से होता है और कुमारसंभव की रचना होती है। प्रस्तुत काल में जिसका संस्करण हुआ कहा जाता है, उस महाभारत में वासुदेव कृष्ण से शिव की आराधना कराई जाती है[1]। विष्णु स्वयं ईशान शंकर से तादात्म्य स्थापित करते दिखाए जाते हैं और शंगम युग का दक्षिण भारत का साहित्य शिव का परमेश्वर के रूप में स्तवन करता है। अहनानूरु में शिव का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उनके तीन नेत्र हैं जो सदा खुले रहते हैं, उनकी सहचरी उमा हैं, परशु उनका शस्त्र है, जटाएँ द्वितीया के चन्द्र से अलंकृत हैं, उन्हें ऋषि और देवता भी नहीं जान सकते, वे नीलकंठ हैं और विश्व उनका पादपीठ है। पुरम् ५५ में उन्हें त्रिपुरान्तक कहा गया है और पुरम् ५६ में उन्हें अग्नि की ज्वालाओं के समान दीप्तियुक्त विशाल जटाओंवाला, नीलकंठ और वृषध्वज कहा गया है। पुरम् १६६ में शिव देवाधिदेव हैं और उनकी वाणी से सदा वेद का उच्चारण होता है। प्रस्तुत काल में सिलप्पदिकारम् और मनिमेक्कलइ महाकाव्यों में तमिल प्रदेश की शैव उपासना के प्रचुर उल्लेख हैं। मनिमेक्कलइ में किसी आगामी उत्सव को लक्ष्य करके कहा गया है कि उसके लिए त्रिनयन से लेकर चतुष्पथों के रक्षक शिव तक के मन्दिरों का संस्कार किया जाना चाहिए। इसमें एक शैववादी का उल्लेख किया गया है, जो मनिमेक्कलइ नाम की राजकुमारी को शैव आगम के उस सिद्धान्त का उपदेश करता है जिसके अनुसार शिव अष्टमूर्त्ति में व्यक्त होते हैं[2]। इसकी तुलना कालिदास के मालविकाग्निमित्र और अभिज्ञानशाकुन्तल नाटकों के नान्दी में जिनका स्तवन किया गया है उन अष्टतनु से प्रत्यक्ष होनेवाले शंकर से और रघुवंश के अष्टमूर्त्ति शिव से की जा सकती है, जिनमें संकेत की गयी उपासना का ठोस रूप दशपुर (मन्दसौर) में प्राप्त हुई शिवमूर्त्ति में प्रत्यक्ष होता है[3]।

शैव उपासना और कला

साहित्य की भाँति शैव आराधना के अभिप्राय प्रस्तुत युग में स्थापत्य और मूर्त्ति-कला के भी विषय बने। दशपुर के अष्टमुख शिवलिंग का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। ई० पू० दूसरी शताब्दी का एक शिवलिंग मद्रास में रानीगुंत के समीप गुडिमल्लम में स्थित है। इसके ऊपर द्विभुज शिवमूर्त्ति जटाभारयुक्त बनी है। इसके अतिरिक्त इस प्रदेश की नाग-वाकाटक काल की अनेक शिवमूर्त्तियों और शिवमंदिरों का निर्माण हुआ, जिनका वर्णन मूर्त्ति एवं स्थापत्य कला पर विचार करते हुए किया गया है।

---

१. म्यूर : ओरिजिनल संस्कृत टैक्ट्स, ४, पृष्ठ १९४, २४१।

२. अध्याय २७।

३. हरिहरनिवास द्विवेदी : भारत की मूर्त्तिकला, पृष्ठ ४३।

शैव उपासना का प्रसार

शैव उपासना अत्यन्त प्राचीन काल से भारतव्यापी होने के उल्लेख पहले किये जा चुके हैं। प्रस्तुत काल में भी उससे भिन्न स्थिति नहीं थी। ब्राह्मण धर्मसाधना के जिस लोकपक्ष और साधनापक्ष का दर्शन के शीर्षक में उल्लेख किया गया है, वह शैव उपासना पर भी लागू है। महाभारत में शैव उपासकों की दो श्रेणियाँ बताई गयी हैं, एक गृहस्थ और दूसरे साधक। शैव साधक पीले वस्त्र धारण करते थे और योगसाधना करते थे। इस आगम में जाति का बंधन नहीं था। शैव उपासना का द्वार सैद्धान्तिक रूप से ही सब वर्णों के लिए नहीं खुला था, व्यवहार भी वैसा ही था जिसके अवशेष आज के माहेश्वरी समाज के नख और खापों में प्राप्त होते हैं। महाभारत में सम्पूर्ण भारतवर्ष में फैले शैव तीर्थों का उल्लेख किया गया है, उससे इस आस्था के प्रसार-क्षेत्र की सूचना मिलती है।

शैव साधना और लकुलीश

शैव साधना के क्षेत्र में पाशुपतदर्शन के आचार्य लकुलीश का प्रस्तुत काल में जन्म महत्त्वपूर्ण घटना है। उदयपुर के एकलिंगजी के मन्दिर के समीप नाथमन्दिर में मिले ९७१ ईसवी के एक अभिलेख के अनुसार इन लकुल (दंड) धारी का जन्म भृगुकच्छ में हुआ। तेरहवीं शती के एक अभिलेख में इन्हें लाट देश के कारोहण सिद्धक्षेत्र का निवासी भट्टारक श्रीलकुलीश कहा गया है और वायु[1] एवं लिंग[2] पुराणों के उल्लेख का समर्थन करते हुए इनके कौशिक, गार्ग्य, मैत्रेय और कौरुष चार शिष्य बताए गये हैं। वायु-पुराण में चौथे शिष्य का नाम रुष्ट कहा गया है। उक्त अभिलेख में इन शिष्यों द्वारा पाशुपतसाधना की चार शाखाएं प्रवर्तित होने का उल्लेख है। चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के मथुरा अभिलेख[3] के साक्ष्य पर इनका उद्भव ईसवी दूसरी शती के प्रथम पाद में सिद्ध होता है। उक्त पुराणों में और उदयपुर के अभिलेख में लकुलीश को शिव का अवतार कहा गया है और ज्ञात यह होता है कि पाशुपतदर्शन को, जिसका वर्णन पिछले अध्याय में किया गया है, इनने पल्लवित किया और शैव उपासना की उन विविध योगसाधनाप्रधान धाराओं को पुष्ट किया, जिनमें भारतीय रसशास्त्र एवं धातुशास्त्र में अभूतपूर्व उन्नति करनेवाले सिद्धों की परम्परा उत्पन्न हुई। लकुलीश स्वयं भी रसशास्त्र के पूर्वाचार्य माने जाते हैं। आयुर्वेद के प्रवर्तक वैद्यनाथ शिव माने जाते हैं और उपर्युक्त कारणों से ही संभवत: पीछे के काल में लकुलीश को शिव का अवतार कहा गया।

बौद्ध धर्म का विकास—महायान का उदय

पिछले अध्याय में हमने देखा है कि आचार अथवा विनय के नियमों के आधार पर बौद्ध धर्म में दो मुख्य शाखाएँ हो गयी थीं, एक थेरवाद और दूसरी महासंघिक। इन महासंघिकों

१. वायुपुराण २३।२१०-२१३।
२. लिंगपुराण २४।१२७-१३१।
३. इन समस्त अभिलेखों के लिए देखिए भाण्डारकर : वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलिजस सिस्टम्स, पृष्ठ ११७; जर्नल ऑफ बॉम्बे ब्रांच ऑफ रॉयल एशिऐटिक सोसाइटी, २२, पृष्ठ १५१ तथा एपिग्राफिआ इंडिका २१, १-७।

के केन्द्र दक्षिण में अमरावती और नागार्जुन कोंडा में थे, यह भी कहा जा चुका है। इनने बुद्ध में देवत्व का आरोप किया था, इनके मत से प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य बुद्धत्व प्राप्त करना था और ये चित्त की सहजशुद्धता पर विश्वास करते थे। थेरवाद बौद्ध धर्म के प्रारम्भिक रूप के समीप है और उसका स्वरूप बहुत कुछ ऐसा है, मानों वह भिक्षुओं का धर्म हो। उसके विपरीत महासंघिक उसे जनसाधारण का धर्म बनाने की ओर प्रवृत्त हुए। अशोक के धर्मलेखों से प्रतीत यह होता है कि यद्यपि उसका संरक्षण थेरवाद को प्राप्त हुआ था, परन्तु प्रचार वह बौद्ध धर्म के उसी रूप का चाहता था जिससे जनसाधारण का चरित्रस्तर उच्च हो। प्रतीत यह होता है कि अशोक के प्रयासों का बौद्ध मतावलम्बियों पर प्रभाव हुआ था और उससे महासंघिक रूप का विकास हुआ था। ब्राह्मण धर्मों में मूर्तिपूजा पहले से प्रचलित थी, उनके मनीषी विद्वान गहन साधनाओं द्वारा तत्वज्ञान प्राप्त करते थे और जनसाधारण उनके उपदेशों का पालन-कर स्थूलतर प्रतीकों के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित करते हुए सत्पथ पर अग्रसर होते थे। जैन धर्मसाधना में भी चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियों का पूजन उनके अनुयायी करते थे। धर्म के इस रूप का लोक में प्रभाव था। संभावना यह है कि ब्राह्मण और जैन धर्मसाधना के इस रूप से भी बौद्ध स्थविरों ने दिशानिर्देश प्राप्त किया हो और बौद्ध धर्म के महासंघिक रूप का विकास हुआ हो। इसके अन्तर्गत केवल स्तूप ही नहीं, बुद्ध का जन्मस्थान, उनके बोधि प्राप्त करने का स्थल, धर्मचक्र-प्रवर्त्तन का स्थल और परिनिर्वाण की भूमि बौद्ध उपासकों के लिए पवित्र हो गयीं। बौद्ध धर्म की इस प्रवृत्ति में से महायान शाखा का अभ्युदय हुआ, जिसके अन्तर्गत बौद्ध मूर्त्ति, विहार, स्तूप आदि का निर्माण कराना, उनके दर्शन करना और उनकी पूजा करना सभी धर्म होगया, बहुजनसमाज उसकी ओर आकर्षित हुआ और भारतवर्ष बौद्ध अभिप्रायों में प्रदर्शित लोकोत्तर कला से सज गया।

बौद्ध दर्शन का विकास

अपने बाहरी रूप में इस प्रकार अपने से पूर्व के धर्मों के मार्ग पर चलने के पश्चात् अभी बौद्ध धर्म में एक अभाव और था। यह पहले उल्लेख किया जा चुका है कि गौतम बुद्ध ने जिस धर्म का उपदेश किया था, उसके मूल तत्त्व यद्यपि उपनिषदों की धर्मसाधना से प्राप्त तात्त्विक निरूपणों से ग्रहण किये गये थे, परन्तु उस काल में ब्राह्मण धर्म के अनुयायियों को बहुविदित प्रश्नों को अव्याकृत कहकर टाल दिया गया था। पूर्व की दुनिया की, और विशेषत. भारतवर्ष की प्रवृत्ति ज्ञान के छोर प्राप्त कर लेने की है अथवा दर्शनप्रधान है। आर्यों की प्रबल कर्मप्रधान धर्मसाधना की भी यहाँ वेदान्त में परिणति की जा चुकी थी। तत्त्वदर्शन की इस बाढ़ में बौद्ध धर्म बिना दार्शनिक पृष्ठभूमि के टिक नहीं सकता था। बहुजनसमाज की जिज्ञासा को अव्याकृत कहकर मौन कर सकनेवाले लोकोत्तर पुरुष किसी धर्मपरम्परा में सदा और सर्वत्र प्राप्त नहीं हो सकते और बुद्धिवादियों के दार्शनिक ऊहापोह को सन्तुष्ट किये बिना बौद्ध धर्म उनका सम्मान प्राप्त नहीं कर सकता था। इधर ब्राह्मण दर्शनों के अनेक मर्मज्ञ विद्वान बौद्ध आगम में दीक्षित होकर पहुँचे थे, जो अपनी तात्त्विक छानबीन की प्रवृत्ति को छोड़ नहीं सकते थे। इन आवश्यकताओं और अवसरों ने, अस्तित्व बनाए रखने के लिए अपना दर्शन होने की अपरिहार्यता

और ब्राह्मण दर्शनों के विद्वानों की सुलभता ने बौद्ध दर्शन के निर्माण में सहायता की, पहले से विद्यमान बौद्ध धर्म के स्वरूप पर सूक्ष्म दार्शनिक चिन्तन की पद्धति का प्रयोग किया गया और ब्राह्मण दर्शनों के जवाब में नागार्जुन के शून्यवाद का प्रादुर्भाव हुआ।

नागार्जुन और बौद्ध धर्म

नागार्जुन का जन्म विदर्भ के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके जन्मकाल के सम्बन्ध में बौद्ध साहित्य में यह कहा गया है कि बुद्ध के महापरिनिर्वाण के चार सौ वर्ष पश्चात् नागार्जुन उत्पन्न होगा[1]। बुद्ध का महापरिनिर्वाण अनुश्रुति के अनुसार ५४४–५४३ ई० पू० हुआ माना जाता है। ऐतिहासिक आधारों पर उनने लगभग ४८६ ई० पू० में शरीर त्याग किया[2]। इस प्रकार नागार्जुन के जन्म का समय लगभग ई० पू० १४४ अथवा ८६ प्राप्त होता है। नागार्जुन ब्राह्मण शास्त्रों का प्रकाण्ड पण्डित था और उसने बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर अधिकारपूर्वक शून्यता अथवा तथता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसका प्रारम्भिक कार्यक्षेत्र विदर्भ रहा था, परन्तु फिर यह नालन्दा के बौद्ध संघ का संघत्थेर अथवा संघपरिणायक (प्रधान स्थविर) हुआ। इसके काल में नालन्दा की अभूतपूर्व प्रसिद्धि हुई और बोधगया की कीर्ति उसके सामने फीकी पड़ गयी। यह स्वयं महायान शाखा का अनुयायी था, परन्तु इसने हीनयानों के थेरवाद की भी बड़ी सेवा की। यह अनुशासन का बड़ी कठोरता से पालन करानेवाला था और कहा जाता है कि विनय के नियमों का पालन न करने पर बहुत से बौद्ध भिक्षुओं को उसने संघ से निकाल दिया था। सम्भवतः नागार्जुन के कठोर अनुशासन के कारण इसके जीवनकाल में ही इसके अनुयायियों में मतभेद उत्पन्न हुआ और योगाचारवादी सम्प्रदाय का उद्भव हुआ। योगाचार का प्रवर्त्तक आसंग माना जाता है। यह पेशावर के एक ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ था। पहले यह सर्वास्तिवादी (हीनयानी) था और फिर महायान का अनुयायी हो गया था। इसका भाई प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु था। इस प्रकार इन दार्शनिक पण्डितों के तत्त्वज्ञान को और महायान की लोकप्रिय आराधानापद्धति को लेकर बौद्ध धर्म ने प्रस्तुत काल में प्रगति की।

सर्वास्तिवाद और चौथी संगीति

पिछले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि मथुरा के क्षेत्र में बौद्ध धर्म के थेरवाद की उपशाखा सर्वास्तिवाद का केन्द्र था। इसके पिटक संस्कृत भाषा में थे। इस शाखा का प्रसार उत्तर-पश्चिम भारत में हुआ और कनिष्क के समय में जो चौथी संगीति हुई, वह वस्तुतः सर्वास्तिवाद की संगीति थी। उसके काल में इस शाखा ने मध्यएशिया और चीन में प्रवेश किया और हीनयान शाखा का जो साहित्य आज चीन में प्राप्त होता है, वह वस्तुतः इस शाखा के संस्कृत पिटक का अनुवाद है। मध्यएशिया में इस शाखा के ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। इस शाखा ने भी न्याय-वैशेषिक के आधार पर अपने दर्शन का निर्माण करके भारत के प्रबुद्ध तत्त्व को प्रभावित किया था। थेरवाद की यह

---

१. लंकावतार, पृष्ठ २८६; महामेघसूत्र, पृष्ठ २७४, मंजुश्री मूलकल्प, पृष्ठ ६१६ तथा महामायासूत्र, पृष्ठ १८३।

२. हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दी इण्डियन पीपल, खण्ड २, पृष्ठ ६९८।

शाखा, थेरवाद के विरुद्ध, बुद्ध के उपदेशों के स्थान पर उनके भाष्य या विभाषा का अनुगमन करनेवाली थी। बुद्ध ने तत्त्वों की अनित्यता का प्रतिपादन किया था और ये उन्हें नित्य मानते थे। इनके दर्शन के अनुसार जीव पाँच धर्मों से बना है और ये धर्म ७५ तत्त्वों से बने हैं, जो नित्य हैं। इनका कहना था कि बुद्ध ने जब इन तत्त्वों को अनित्य कहा था तब उनका तात्पर्य यह था कि इनका संयोग अनित्य है, वैसे तत्त्वों को वे नित्य ही मानते थे।

कनिष्क के समय में काश्मीर में जो संगीति हुई थी उसे ज्ञानप्रस्थानसूत्र के रचयिता कात्यायनीपुत्र ने बुलाई थी। कहा यह जाता है कि कनिष्क पहले बौद्ध धर्म का विरोधी था। वह जब इस धर्म में दीक्षित हुआ, बौद्ध वचनों की अलग-अलग आचार्यों द्वारा अलग-अलग व्याख्या होती देखकर उसने यह संगीति बुलाई थी। परन्तु वसुबन्धु के जीवनचरित्र के रचयिता परमार्थ के अनुसार उक्त कात्यायनीपुत्र ने इसे बुलाई थी और सर्वास्तिवादियों के अभिधम्मपिटक पर उक्त ग्रन्थ की रचना की थी। अश्वघोष ने उस ग्रन्थ का साहित्यिक परिष्कार किया था और फिर उसपर विभाषाशास्त्र की रचना हुई थी। संभावना यह है कि इस संगीति को कनिष्क का संरक्षण प्राप्त हुआ हो।

बौद्ध धर्म का प्रसार

पिछले अध्याय में हमने देखा है कि सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म को भारतव्यापी ही नहीं बना दिया था, सुदूर विदेशों में उसने इसका संदेश भेजा था। उसके पश्चात् मौर्य वंश के उसके किसी उत्तराधिकारी का संरक्षण इसे प्राप्त नहीं हुआ। पश्चिमोत्तर सीमाओं में हुए बौद्ध धर्म के प्रसार ने विदेशों से आनेवाले प्रायः सभी आक्रान्ताओं को प्रभावित किया। इन आक्रान्ताओं ने इस संस्था का दुरुपयोग किया और उसके परिणाम-स्वरूप शुंगों के शासन काल में पश्चिमोत्तर भारत के बौद्ध संघों को गम्भीर क्षति उठानी पड़ी। कुछ ऐसे अपवाद हो सकते है, जिनमें ये यूनानी, शक और कुषाण अहिंसा से प्रेरित होकर बौद्ध संघ को संरक्षण देते हों; परन्तु बहुधा उनने तथागत के आगम का वरण प्रस्तुत काल में मार्गदर्शक प्राप्त करने के लिए ही किया। भारत के सांस्कृतिक निर्माणों का इस काल में इन आक्रान्ताओं द्वारा बौद्ध धर्म की आड़ लेकर विस्तृत विनाश किया गया, क्रूर संहार किये गये और सामाजिक व्यवस्था को अस्तव्यस्त करने का प्रयास किया गया[1]। इस राजनैतिक स्थिति में यद्यपि ब्राह्मण धर्म राष्ट्रीयता का प्रतीक बन गये थे और इस काल के भारतीय शासक सर्वत्र निरपवाद रूप से ब्राह्मण थे, जो इस राष्ट्रीय आपत्ति से प्राणपण से जूझ रहे थे, फिर भी देश के आन्तरिक भागों में बौद्ध धर्म के प्रति असाधारण सहिष्णुता थी, इन शासकों का इसे पूर्ण संरक्षण प्राप्त था।

मथुरा, साँची, भारहुत, अमरावती, नागार्जुनकोंडा, अजण्टा, नालन्दा और बोधगया की बौद्ध संस्थाएँ उन्नति कर रही थीं, विशाल चैत्यों और स्तूपों का इन स्थानों पर निर्माण हो रहा था, जिनका वर्णन कला के प्रकरण में करेंगे। सहिष्णुता का बहुत बड़ा उदाहरण गौतमीपुत्र सातवाहन द्वारा निर्मित नासिक के गुहाविहार में प्राप्त होता है और ब्राह्मण

---

१. जायसवाल : अंधकारयुगीन भारत, पृष्ठ ९७–१०२।

वाकाटकों के ब्राह्मण मंत्री देवसेन द्वारा अजन्ता में बौद्ध धर्म के लिए गुहामन्दिर का उत्सर्ग भी प्रस्तुत काल के ब्राह्मण शासकों की इस आगम के प्रति अत्यन्त उदार नीति का द्योतक है ।

जैन धर्म की दिगम्बर और श्वेताम्बर शाखाएँ

यह पहले कहा जा चुका है कि जैन धर्म के सिद्धान्तों में वर्धमान महावीर के पश्चात् कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ । प्रारम्भ में जैन धर्म के अनुयायियों में ऊपरी बातों में जो मतभेद थे, प्रतीत यह होता है कि प्रस्तुत काल में वे अधिक उग्र हो गये और जैन धर्म की श्वेताम्बर और दिगम्बर दो शाखाएँ हो गयीं । स्थावर और जंगम जीवों की संख्या कितनी है, स्त्रियों को कैवल्यप्राप्ति का अधिकार है या नहीं, मुनियों को भोजन में क्या-क्या ग्राह्य है, तीर्थंकर मल्लि स्त्री थे या पुरुष, मुनियों को वस्त्र धारण करना चाहिए अथवा नहीं, इन प्रश्नों पर तथा महावीर के भ्रूण के स्थानान्तर एवं उनके विवाह की कथा के सम्बन्ध में ये मतभेद थे । इनमें से कुछ मतभेदों का सूत्रपात संभवतः वर्धमान महावीर के काल में हो गया था; परन्तु स्पष्टतः दो सम्प्रदायों के रूप में ये लगभग ईसवी पहली शती में अलग-अलग हुए ।

जैन धर्म का प्रसार

पहले यह बताया जा चुका है कि जैन धर्म का प्रसार उस त्वरा के साथ नहीं हुआ, जैसा बौद्ध धर्म का हुआ था । जिस धीमी गति से लम्बी परम्परा में इसके सिद्धान्तों ने वर्धमान महावीर के समय में पूर्णता प्राप्त की, उसी मन्द गति से यह भारतवर्ष में फैला । यह पहले बताया जा चुका है कि यह धर्म पिछले काल में अंग से सिन्धु तक तथा दक्षिण में श्रवण वेलगोला तक फैल गया था । मथुरा में जैन धर्म के अवशेष प्राप्त हुए हैं जिन्हें ईसवी सन से पूर्व का माना जाता है । ईसवी पहली और दूसरी शताब्दियों की भी अनेक जैन मूर्त्तियां तथा अन्य अवशेष यहाँ मिले हैं । इन पर उत्कीर्ण आचार्यों और दाताओं के नाम, गोत्र एवं शाखा आदि पर से प्रस्तुत काल में इस क्षेत्र में जैन धर्म के प्रभाव की सूचना प्राप्त होती है । इन अवशेषों से स्थविरावली के वर्णनों का समर्थन होता है[1] । ईसवी दूसरी शती का जूनागढ़ का जयदामन का अभिलेख केवलिज्ञानप्राप्त और जरामरण से मुक्त पुरुषों का उल्लेख करता है । यह अभिलेख नगर के पास ही गुहासमूह में प्राप्त हुआ है । वहाँ संभवतः जैन श्रमण निवास करते थे, यह स्वस्तिक, भद्रासन, मीनयुगल आदि जैन धर्म के प्रतीकों से सूचित होता है । उपर्युक्त अभिलेख में मुनियों के केवलिज्ञान प्राप्त करने का पूर्वतम उल्लेख प्राप्त होता है । धाँक में प्राप्त गुहाएँ भी लगभग इसी काल की हैं, और ऋषभ, पार्श्व और महावीर आदि जैन तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ उनमें प्राप्त हुई हैं ।

श्रवणवेलगोला तीर्थ तक जैन धर्म के संप्रति के काल में हुए प्रसार का उल्लेख पहले किया जा चुका है । जैन अनुश्रुति में मगध में पड़े एक अकाल का संकेत किया गया है । इसके परिणामस्वरूप बड़ी संख्या में इस आगम के अनुयायी पश्चिमी समुद्र किनारे होते हुए

---

१. आर्कलॉजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न सर्कल, १, ४, १२८ ।

ठेठ दक्षिण भारत में जाकर बसे थे। श्वेताम्बर अनुश्रुति के अनुसार इस अकाल के कारण किये गये प्रवास में जैन धर्मावलम्बी उज्जयिनी भी पहुँचे थे।

उज्जयिनी और जैन धर्म

जैन अनुश्रुति के अनुसार विक्रमादित्य के समय में उज्जयिनी में जैन धर्म का प्रभाव था। कालकाचार्य कथानक से भी यह सूचना प्राप्त होती है। श्वेताम्बर अनुश्रुति से इस तथ्य का समर्थन होता है और विक्रमादित्य की सभा में जैन विद्वानों की उपस्थिति भी यही बताती है।

जैन आगम और ब्राह्मण धर्म

जैन और ब्राह्मण धर्म के आचार्यों द्वारा एक दूसरे के सिद्धान्तों का खण्डन किया गया हो यह बहुत सम्भव है; परन्तु प्रस्तुत काल में लोकजीवन में इन धर्मों के अनुयायियों ने दूरी का अनुभव किया हो यह प्रकट नहीं होता। कालकाचार्य कथानक में शक शाहियों के जिस आक्रमण को कालकाचार्य द्वारा प्रेरित बताया गया है[1] वह बहुधा व्यक्तिगत प्रयास रहा होगा। वह जैन संघ का संगठित प्रयास नहीं था और उसका दोनों धर्मों के अनुयायियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। खारवेल के उदाहरण में हमने देखा है कि इस ब्राह्मण राजर्षि की, जो स्वयं सोने के पत्तों से भरे कल्पवृक्ष ब्राह्मणों को दान करता था, रानी जैन आगम की श्राविका थी और खण्डगिरि में उसने गुहा का निर्माण कराया था, विक्रमादित्य की सभा में प्रमुख जैन विद्वान क्षपणक उपस्थित थे और संभवतः उसका स्वयं का जन्म जैन माता साध्वी सरस्वती से हुआ था।

जैन साहित्य का विकास

पिछले अध्याय में किये गये जैन वाङ्मय के वर्णन से प्रकट होता है कि उस युग में यह साहित्य अपनी प्रारंभिक अवस्था में था। प्रस्तुत युग में केवलिज्ञानप्राप्त मुनियों के उल्लेख अभिलेखों में प्राप्त हुए हैं, यह पहले बताया जा चुका है। संभवतः उत्तर भारत के बौद्ध असहिष्णुता के वातावरण में जैन वाङमय के विकास के अवसर नहीं रहे होंगे और मध्यदेश एवं दक्षिण भारत की सातवाहन-नाग-वाकाटक सीमाओं में सहिष्णुता के उपर्युक्त वातावरण में उसकी पूरी सुविधा थी। केवलिज्ञानप्राप्त मुनियों की आगे की परम्परा में दशपूर्वी आचार्य हुए। इन्हें बारहवें अंग के दस पूर्वों का ज्ञान था। दशपूर्वी आचार्यों में अन्तिम वज्रस्वामी प्रस्तुत काल में हुए। इनके समय तक जैन साहित्य पर्याप्त विकसित हो गया था और इनके शिष्य आर्यरक्षित ने जैन सूत्रों को अंग-उपांग आदि चार भागों में विभक्त किया। प्रस्तुतयुग में जैन साहित्य ने सतत विकास किया और यह कार्य अवन्ति और उससे दक्षिण के प्रदेश में ही हुआ।

अन्य अप्रधान उपासनाएँ

पिछले अध्याय में जिन दूसरी अप्रधान उपासनाओं का उल्लेख किया गया है उनमें से संभवतः अनेक प्रस्तुत काल में भी प्रचलित रहीं। आजीवकों का उल्लेख पतंजलि करते

---

१. डॉ० बनारसीदास जैन : जैन साहित्य में विक्रमादित्य, विक्रम-स्मृति-ग्रंथ, पृष्ठ १५२।

हैं[1]। मध्यभारत के शान्ति पर्व में अनेक साधनाओं का उल्लेख है। वे अधिकांश में इस काल में होती रहीं। सूर्य की उपासना को इस काल में शकों के आगमन से नयी स्फूर्ति मिली। कनिष्क ने अपनी मुद्राओं पर सूर्य की आकृति अंकित कराई थी। मथुरा में इस काल की अनेक सूर्य की मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं जहाँ इन कुषाणों का राज्य था। इसके अतिरिक्त अन्य देवी-देवताओं का उल्लेख पिछले अध्याय में किया गया है, वे विविध धर्मों के देवपरिवारों के अंग बन गये। इस काल में आकर बौद्ध धर्म भी महायान हो गया था। उसमें मूर्तिपूजा होने लगी थी। शिवपरिवार की शैवों में पूजा प्रचलित थी और वैष्णवों का भी अपना देवसमूह था। भारतवर्ष को जीवनरस से सिंचित करनेवाली गंगा की लोकपावन धारा इस युग में प्रमुख रूप से पूजित हुई थी, मध्यदेश के राज्यचिह्नों में उनकी स्थापना हुई थी और उनके मानवाकृति अभिप्रायों में इस युग की मूर्तिकला ने उत्कर्ष प्राप्त किया था। जो भी देवता प्रस्तुत काल में पूजे जा रहे थे, उनमें मनुष्य का उच्च नैतिक स्तर प्रतिबिम्बित था। वे लगभग सभी पुण्यात्माओं और पुण्य कार्यों की सहायता करनेवाले थे और उनके स्वयं के चरित्र भी उदात्त थे। वैदिक युग का प्रमुख देवता इन्द्र, संभवतः ऋग्वेद में अंकित अपने निम्न चरित्र के कारण आराधना का पात्र नहीं रह गया था और बृहत्कथा के संस्कृत संस्करण कथासरित्सागर के अनुसार ब्राह्मण, अर्थात् विद्वान के पूजक, अहिंसक, पतिव्रता स्त्री, पवित्र व्यक्ति, शूर और ज्ञानी के प्रति अनुकूलता का आचरण करनेवाले राक्षस और पिशाच[2] भी लोक में पूजित हुए थे।

इस प्रकार विविध प्रणालियों में प्रवाहित प्रस्तुतयुग की धर्मसाधना मनुष्य की आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति कर रही थी, विदेशी आक्रमणों का वीरतापूर्वक प्रतिरोध करने में उससे भीतरी बल मिल रहा था, निरन्तर युद्ध की स्थिति में भी समाज का ढाँचा अस्तव्यस्त होने से बचा था और इस युग के पराक्रमी मानव द्वारा एकत्र की गयी प्रचुर राष्ट्रीय समृद्धि में भी उसके नैतिक स्तर की उच्चता अकम्पित थी। सर्वोपरि उसका धर्म था विष्णुपुराण की वह राष्ट्रीय भावना जिसका उल्लेख इस अध्याय के प्रारंभ में किया गया है।

---

१. महाभाष्य ६।१।१५४।

२. कथासरित्सागर, कथापीठ लम्बक १, तरंग ७।

साहित्य भाषा और लिपि

उत्थान की नयी लहर

मध्यदेश में प्रस्तुत काल में साहित्य और संस्कृति की एक नयी लहर आई। पिछले युग की संस्कृति का अध्ययन करते हुए हमने देखा था कि भारतवर्ष में शिक्षा और साहित्य की रचना के केन्द्रों के रूप में वैदिक चरणों की शृंखला भारतवर्ष में व्याप्त थी। ये वैदिक चरण वस्तुतः भारतीय संस्कृति के अग्रदूत थे। उत्तर-पश्चिम में विदेशियों के आक्रमण पिछले युग में ही प्रारम्भ हो गये थे। उस काल में इन आक्रमणों का रूप बहुत कुछ राजनैतिक था। अशोक के धर्म-अभियानों के पश्चात् स्थिति में परिवर्तन आया और इन पीछे के आक्रान्ताओं ने अपनी विजययोजनाओं में बौद्ध धर्म का उपयोग किया था। आक्रमणों के इस स्वरूप के साथ पश्चिमोत्तर भारत में बौद्ध धर्म के अनुयायियों के हाथ में तर्कों के साथ-साथ यूनानियों और शकों का शस्त्रबल भी आया था। इससे उत्तर भारत में वह वातावरण बना था, जिसमें इन वैदिक चरणों का इस क्षेत्र में सक्रिय रहना सम्भव नहीं रहा होगा। प्रस्तुत काल का ऐसा अबौद्ध साहित्य प्राप्त नहीं होता, जिसे निःसंशय पश्चिमोत्तर भारत की कृति कहा जा सके। यद्यपि शुंगों से लगाकर वाकाटकों तक इस काल का इतिहास ब्राह्मण शासकों के खड्ग से लिखा जाता रहा, इनका जीवन इन विदेशी आक्रान्ताओं से युद्ध करते व्यतीत हुआ; परन्तु वे भी अधिक से अधिक उन्हें शाकल तक ही खदेड़ पाए थे। ऐसी स्थिति में उस क्षेत्र की अनेक वैदिक संस्थाओं ने मध्यदेश में शरण ली होगी, जहाँ इन्हें कार्य करने के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ सदा विद्यमान रहीं, जहाँ फाहियान के काल तक मथुरा के दक्षिण में वैदिक धर्मप्रधान आचरण जनता में प्रचलित था[1], हुएनत्संग को भी शोण के पश्चिम के जिस क्षेत्र में सभी ब्राह्मण धर्म के अनुयायी मिले थे[2] और मध्यदेश की उन्नत सांस्कृतिक पूर्व परम्पराओं में विद्वानों के इस आगमन से उत्थान की नयी लहर आना स्वाभाविक थी। इस नवोन्मेष का एक और बड़ा कारण विदेशियों से इस युग में हुआ इस प्रदेश का सम्पर्क था। हमने देखा है कि विदिशा में यूनानी शासकों की ओर से वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान प्रस्तुत काल में हुआ था और उनके राजदूतों ने वहाँ देवदेव वासुदेव के गरुड़ध्वजों का निर्माण कराया। फिर मध्यदेश के पश्चिमी भाग पर शक क्षत्रपों ने आधिपत्य स्थापित किया था और उत्तर में मथुरा भी उनके आधिपत्य में आई थी। इन परिस्थितियों ने पश्चिम की कला और ज्योतिष-विज्ञान जैसे विषयों की नयी

---

१. जगन्मोहन वर्मा : फाहियान, पृष्ठ ३१।

२. बील २, पृष्ठ ६३-६५।

सूचनाएँ इस प्रदेश के मनीषियों को दीं और यहाँ साहित्य एवं कला के क्षेत्र में नयी स्फूर्ति दिखाई दी।

उत्तर भारत और साहित्य

भारतवर्ष ने इस युग में निरन्तर विदेशी आक्रमणों का सामना किया। प्रारंभ में यूनानी यहाँ आए थे। उनने माध्यमिका, मथुरा[1], पाटलिपुत्र और साकेत तक का क्षेत्र अपने घुड़सवारों से रौंद डाला था। उत्तरप्रदेश की सामाजिक व्यवस्था इन आक्रमणों से अस्तव्यस्त हुई थी। महाभारत शान्तिपर्व के कथनों में इसकी विभीषिका की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है, जहाँ इस स्थिति को अपार एवं नावहीन कहा है; प्रजा को अनाथ, तप्यमान और दस्युओं से परिपीड़ित बताया है। ऐसी स्थिति में प्रस्तुत काल की मनीषा ने संपूर्ण वर्णों का, सारी प्रजा का शस्त्र ग्रहण करके क्षात्रधर्म पालन के लिए आह्वान किया था[2]। यह ऊपर बताया जा चुका है कि इन आक्रमणों की प्रकृति बौद्ध विहारों के सहयोग से अधिक दूषित बनी थी। अतः इन आक्रान्ताओं के प्रभावक्षेत्र में यूनानी आक्रमण के समय अथवा उनके प्रतिकार में मध्यदेश की प्रतिक्रिया के समय साहित्यसर्जन एवं संगोपन की प्रवृत्ति सुखेन चलती रह सकी हो, यह अनुमानगम्य नहीं है। इसके पश्चात् शकों और कुषाणों के आक्रमणों का भी स्वरूप यही रहा। उनने भारतवर्ष को अवन्ति एवं मथुरा तक अपने अधिकार में किया था[3]। इनमें से विक्रमादित्य द्वारा परास्त किये गये इन विदेशियों के सम्बन्ध में गुणाढ्य कहता है, "ये म्लेच्छ ब्राह्मणों की हत्या करते हैं और उनके यज्ञों तथा धार्मिक कृत्यों में बाधा डालते हैं। ये आश्रमों की कन्याओं को उठा ले जाते हैं। भला ऐसा कौनसा अपराध है जिसे ये लोग नहीं करते[4]"? शकों के संदर्भ में महाभारत कहता है कि इसके उपरान्त आन्ध्र, शक, पुलिंद, यवन (यूनानी), कांभोज और शूर आभीर लोग शासन करेंगे[5]। लोग इहलौकिक बातों में बहुत अधिक अनुरक्त हो जाएँगे, जिससे उनमें माँस और रक्त के सेवन में वृद्धि होती है[6]। उस समय सारा संसार म्लेच्छ हो जाएगा और सब प्रकार के कर्मकाण्डों तथा यज्ञों का अन्त होगा[7]। वे लोग देवताओं की पूजा वर्जित कर देंगे और हड्डियों की पूजा करेंगे। ब्राह्मणों के निवासस्थानों, बड़े-बड़े ऋषियों के आश्रमों, देवताओं के पवित्र स्थानों, तीर्थों और नागों के मंदिरों में एड़ूक बनेंगे, जिनके भीतर हड्डियाँ (बुद्धावशेष) रखी रहेंगी। वे लोग देवताओं के मन्दिर नहीं बनवाएँगे[8]। गर्गसंहिता ने भी शक राज्य का इसी प्रकार का वर्णन

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व १०१।५।
२. वही, ७८।१२, १८, ३६, ३८, ३९।
३. वही, १०१।५।
४. जर्नल ऑफ बिहार ओरिएण्टल रिसर्च सोसाइटी, खण्ड १६, पृष्ठ २९६।
५. महाभारत वनपर्व १८८।३५-३६।
६. वही, अध्याय १८८।४९।
७. वही, अध्याय १९०।२९।
८. वही, अध्याय १९०।६५-६७।

किया है[1]। वायु, मत्स्य एवं भागवत पुराणों ने भी म्लेच्छ, यवन आदि कहकर इन शकों के शासन का ही अंकन किया है। अलबेरूनी के समय में भी भारतवर्ष में इस शक शासन के सम्बन्ध में जो प्रवाद प्रचलित था, उसका उल्लेख करते हुए उसने लिखा है कि यहाँ जिस शक का उल्लेख है, उसने आर्यावर्त में अपने राज्य के मध्य में अपनी राजधानी बनाकर सिन्धु से समुद्र तक के प्रदेश तक अत्याचार किया था। उसने हिन्दुओं को आज्ञा दे दी थी कि अपने आप को शक ही समझें और शक ही कहें, इसके अतिरिक्त अपने आपको और कुछ न समझें या न कहें, और डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल इन वर्णनों के पीछे गोवध आदि ब्राह्मणविरोधी प्रवृत्तियों, भीषण विध्वंस और व्यापक संहारों को देखते हैं[2]। पिछले युग में जिस भारतव्यापी उन्नत संस्कृति-परम्परा का दर्शन किया था, वह उत्तर-पश्चिम भारत में प्रस्तुत काल के उपर्युक्त वातावरण में चलती रही हो, यह सरलता से अनुमान नहीं किया जा सकता। वहाँ साहित्य का निर्माण हुआ अवश्य, अश्वघोष ने लौकिक और धार्मिक साहित्य की रचना की, अन्य बौद्ध आचार्यों ने बौद्ध धर्मग्रंथों की व्याख्याएँ और संस्कृत अनुवाद किये, जिनका वर्णन धर्मसाधना के अंतर्गत दिया गया है, उस प्रदेश के लिए अपरिहार्य कुछ अग्निवेश संहिता जैसे ब्राह्मण ग्रंथ भी जीवित रहे, कनिष्क का समकालीन चरक कहलानेवाला विद्वान इस संहिता में निष्णात था, परन्तु अबौद्ध साहित्य प्रस्तुत काल में उत्तर भारत में निर्मित नहीं हुआ और अधिकांश वैदिक चरणों के विद्वानों ने मध्यदेश में शरण ली।

कुलपति शौनक का वैदिक चरण

भार्गव शौनक का वैदिक चरण या विश्वविद्यालय, जिसका वर्णन पिछले अध्याय में शिक्षाव्यवस्था के अन्तर्गत किया गया है, नैमिषारण्य में स्थित था। उत्तर भारत की उपर्युक्त परिस्थितियों में यह क्षेत्र आक्रमण और प्रत्याक्रमणों की युद्धभूमि बना था। यह प्रदेश बार-बार शुंगों, नागों और वाकाटकों के उत्तरी मोर्चे का स्थल रहा था, अतः अन्य वैदिक चरणों के साथ-साथ यह भी इस स्थान में निष्क्रिय हुआ हो तथा वहाँ के विद्वानों ने भी मध्यदेश में वेत्रवती के तटों पर संभवतः पहले से विद्यमान अपनी शाखा के वैदिक चरणों में आकर ज्ञानज्योति अधिक भास्वरता से दीप्त की हो, यह अधिक संभव है। इनके साथ इनकी शाखा से सम्बद्ध अन्य वैदिक चरणों के साहित्य को भी इस संकट के काल में मध्यदेश में संरक्षण एवं विकास के अवसर प्राप्त होने का अनुमान भी किया जा सकता है, जिनका उल्लेख भगवान भाष्यकार ने गाँव-गाँव में कठ और कलाप के चरणों का अस्तित्व बताते हुए किया है।

ऋग्वेद की शाकल शाखा का शौनक शाखा से घनिष्ट संबंध था, शौनक ऋग्वेद के कई फुटकर ग्रंथों के रचयिता हैं[3] और वैदिक युग के साहित्य के संबंध में लिखते हुए

---

१. जर्नल ऑफ बिहार ओरिएण्टल रिसर्च सोसाइटी, खण्ड १४, पृष्ठ ४०४ तथा ४०८।

२. अंधकारयुगीन भारत, पृष्ठ ९९-१०२।

३. डॉ० वासुदेवशरण : पाणिनिकालीन भारत, पृष्ठ ३१४-१५।

यह बताया जा चुका है कि आज ऋग्वेद का केवल शाकल शाखा का पाठ बच रहा है। अथर्ववेद के उपलब्ध दो पाठों में से भी एक शौनक शाखा का है जो सर्वाधिक प्रचलित है। अथर्ववेद की गणना त्रयी (तीन वेदों) के पश्चात् इतिहास के साथ की जाती है[1]। पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र इतिहास के अन्तर्गत आते हैं[2]। पुराण और इतिहास शौनक के वैदिक चरण को इनके बारहवर्षीय दीर्घसत्र में संभवतः प्राप्त हो गये थे, जहाँ तत्कालीन कुलपति इनके मुख्य श्रोता बने थे। भागवत पुराण के पाठ से वह भी इस परंपरा का ग्रंथ सूचित होता है, महाभारत की भाँति उसके मुख्य श्रोता भी भार्गव शौनक ही हैं और वर्तमान काल में उपलब्ध महाभारत का पाठ भी यही बताता है कि यह शौनक शाखा का ग्रंथ है। इसे आधुनिक इतिहासकारों ने शुंग काल में भार्गवों द्वारा किया गया संस्कार कहा है। यही बात मनुस्मृति या मानवधर्मशास्त्र के संबंध में कही जाती है। कौटिल्य से पूर्व के अर्थशास्त्रों और मानवधर्मशास्त्र से पूर्व के धर्मशास्त्रों के लुप्त हो जाने और इनके बच रहने का कारण भी यही प्रतीत होता है कि इस चरण ने इस प्रदेश में आकर इनकी रक्षा की और वैदिक ज्ञान को जीवित रखा। शौनक को आयुर्वेद के शल्यतंत्र का आचार्य कहा गया है[3], अतः संभावना यह है कि इनकी शाखा में आयुर्वेद का यह अंग भी मध्य देश में सुरक्षित रहा हो जिसकी प्रतिध्वनि विक्रमादित्य की सभा में इस धान्वंतरि संप्रदाय के एक आचार्य की उपस्थिति में सुनाई देती है। इनका ऋषिकुल या वैदिक चरण नैमिषारण्य में बहुत विशाल था, उसमें वैदिक साहित्य की अनेक शाखाओं का अध्ययन, अध्यापन और विकास चलता था। उसकी परम्परा बहुत प्राचीन थी और कनखल में ऋचीक ऋषि के पुत्र जीवक द्वारा आयुर्वेद के अध्ययन का उल्लेख[4] भी संभवतः यही बताता था कि वह ज्ञानपीठ, जहाँ उसने कौमारभृत्य का ज्ञान प्राप्त किया था, नैमिषारण्य में स्थित शौनक के इस वैदिक चरण की पूर्व परम्परा ही थी। ये संदर्भ यह बताते हैं कि इस प्रदेश में शौनक शाखा के वैदिक चरण प्रस्तुत काल के पहले से विद्यमान थे, इस काल की परिस्थितियों ने उनको अधिक गति प्रदान की और यह ज्ञानाग्नि प्रज्वलित रह सके इस हेतु इस प्रदेश के शुंगों, सातवाहनों, नागों और वाकाटकों के अभेद्य वक्षस्थल विनाश के प्रवाह को इधर आने से निरन्तर रोकते रहे।

राजसभाएँ और साहित्य

इन वैदिक चरणों की प्रवृत्तियों के अतिरिक्त जिनमें धार्मिक साहित्य को संगोपन प्राप्त हुआ था, प्रस्तुत काल में मध्यदेश के अनेक शासकों की विद्वत्सभाओं को प्रतिभाशाली विद्वानों ने सुशोभित किया। अनेक शासक स्वयं उद्भट विद्वान और व्युत्पन्नमति थे तथा उनकी विद्वत्परिषदों की परंपरा अत्यन्त शालीन थी। उनमें सभी विश्वासों और संप्रदायों के विद्वानों ने वाणीमंदिर की पावनता का अनुभव करते हुए

---

१. अर्थशास्त्र १।३।

२. वही, १।५।

३. नेपाल राजगुरु हेमराज शर्मा: काश्यपसंहिता का उपोद्घात, पृष्ठ २०।

४. काश्यपसंहिता का पाठभाग, पृष्ठ १९१।

भारती की उपासना की। इस उपासना में जीवन था, स्फूर्त्ति थी और ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यदेश के उत्तर और पश्चिम में हो रहे संस्कृति के विनाश की क्षतिपूर्त्ति प्रस्तुत काल में इस प्रदेश का सरस्वती का उपासक अपनी कृतियों में अपना जीवनरस उँडेलकर कर रहा था। जीवित राष्ट्र जब आक्रमण का दृढ़ नैतिक बल के साथ प्रतिरोध करता है, तब अंतिम जय उसके हाथ रहती है और अवसर की आवश्यकताओं से प्रेरित उसका उच्च चारित्र्य उसकी सभी प्रवृत्तियों में अभिव्यक्त होता है। जिस वीरता से उसके सैनिक युद्धभूमि में अपनी छाती अड़ाते हैं, जिस निःस्वार्थ भाव से सेनापति युद्धों का संचालन करते हैं, अपने जीवन के जिस उच्च आदर्श को उपस्थित कर शासक जनता का निर्व्याज समर्थन प्राप्त करता है और राष्ट्र की जनता जिस प्रबुद्ध भावना के साथ ऐसे अवसरों पर सामूहिक सहकार करती है, वह सभी जीवित राष्ट्र की सांस्कृतिक प्रवृत्तियों में छलक पड़ता है। उसके परिणामस्वरूप विक्रम की सभा के नवरत्न उत्पन्न होते हैं। उनमें से अनेक के नाममात्र शेष रह जाने पर भी उनके किरण-जाल की स्मृति आगे की पीढ़ियों के मानस पर अमिट अंकित हो जाती है। प्रस्तुत काल के साहित्यिक नक्षत्रों ने, विशेषतः विक्रम के नवरत्नों ने सातवाहनों की सांस्कृतिक धारा का परिवर्धन करनेवाले अलौकिक गुणाढ्य एवं रसपरिप्लुत हालों ने तथा सरस्वती के वरदहस्त से कृतार्थ हुए शूद्रक (अग्निमित्र) एवं प्रवरसेनों ने जिस प्रभा से इस प्रदेश को अलंकृत किया, उनकी अप्रतिम प्रतिभा ने निर्बंध उत्तरण कर साहित्यिक स्तर की जिन ऊँचाइयों का अधिरोहण किया, वह आनेवाले युगों में न प्राप्त होनेवाला आदर्श बन कर रह गया। पीछे के कालों के साहित्यकार ने इनके द्वारा प्रवाहित धाराओं का अनुगमन, अलंकरण, सूक्ष्म अध्ययन और संकलन कर अपने आपको कृतार्थ किया। आगे हम इस युग के साहित्य और साहित्यकारों का साहित्य की विविध प्रवृत्तियों के समूहों में वर्णन दे रहे हैं, जिससे स्पष्ट होगा कि इस युग के मध्यदेश की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ भारत के जनजीवन को अमर अभिव्यक्ति देनेवाली बनी थीं, जब शलातुर, शाकल और नैमिषारण्य की वाणी भय से स्तब्ध हो गयी थी, उसकी यदाकदा सुनाई पड़नेवाली ध्वनि जनजीवन से दूर जा पड़ी थी, उससे निरपेक्ष होकर वह केवल एक संप्रदाय की प्रवक्ता बनी थी।

साहित्य की प्रवृत्तियाँ

प्रस्तुत युग के साहित्य का विहंगावलोकन करने से उसका जनजीवन से समीप का संबंध स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, जो इस युग की समाप्ति के साथ शनैः शनैः दूर होना प्रारंभ हो जाता है। यद्यपि संस्कृत भाषा की इस युग में उन्नति होती है, उसे वैदिक धर्म का प्रतीक मानकर उसके व्यवहार में वृद्धि की जाती है, अबतक प्राकृत में प्रज्ञापित होनेवाली राजाज्ञाएँ भी वाकाटकों के काल में संस्कृत में लिखी जाना प्रारंभ होती हैं; परन्तु फिर भी जनमानस को प्रतिबिंबित करनेवाली गुणाढ्य की लोकरंजक बृहत्कथा की जनभाषा पैशाची प्राकृत में रचना होती है। यह पहले बताया जा चुका है कि मध्यदेश की शौरसेनी प्राकृत में नीति और धर्म का साहित्य पालि-गाथाओं के रूप में भगवान बुद्ध के पहले से विद्यमान था और वह इस संप्रदाय के साहित्य में ग्रहण कर लिया गया था।

उस सूक्तिरचना का तारतम्य भी प्रस्तुत युग में टूटा नहीं था। हाल सातवाहन की गाथा-सप्तशती उसी प्रवृत्ति की शृंगाररस की रचनाओं का एक संग्रह है। प्रस्तुत काल का साहित्य राष्ट्र की आवश्यकताओं के अनुरूप मुड़ जाता है। उसमें पीछे के काल की रीति की लीक का पालन करने की जड़ता अभी नहीं आई है। स्मृति आदि साहित्य में तात्कालिक आवश्यकताओं के अनुरूप हुआ परिवर्तन इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। शूद्रक और कालिदास की भाषा की अकृत्रिमता, व्याकरण के नियमों में भी बँधे न रहने की प्रवृत्ति, आगे के काल की अलंकारिता के पीछे पड़ने की प्रवृत्ति का अभाव तथा सर्वत्र एक सद्य:जातता का दर्शन इस काल के साहित्य में होता है। इस युग में यद्यपि शास्त्रीय ग्रंथों के निर्माण का अभाव नहीं है, परन्तु अलंकार ग्रंथों की रचना की प्रवृत्ति अभी उत्पन्न नहीं हुई है।

भारत से महाभारत

आज जो महाभारत हमें उपलब्ध है वह वस्तुतः व्यास द्वारा कौरव-पांडवों की प्रशस्ति में निर्मित मूल काव्य नहीं है। वह केवल २४ हजार श्लोकों का था, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। पाणिनि की अष्टाध्यायी और आश्वलायन गृह्यसूत्र के काल तक वह अपने मूल रूप में महाभारत से अलग भी विद्यमान था[1]। अपनी उत्कृष्ट काव्यात्मकता के कारण वह लोकप्रिय हुआ था।

वर्त्तमान महाभारत भारतीय संस्कृति के विश्वकोष के रूप में १०० हजार श्लोकों के परिमाण का इतिहास ग्रंथ है और उसे पंचम वेद माना जाता है। शौनक के वैदिक चरण या ऋषिकुल में इसका प्रवेश संभवतः उनके दीर्घसत्र के समय हुआ, यह पहले कहा जा चुका है। उग्रश्रवा सूत ने इसे वहाँ सुनाया था, परन्तु वहाँ जो ऋषि एकत्र हुए थे वे भारत सुनने के लिए नहीं, उस दीर्घसत्र के उद्गाता और अध्वर्यु के रूप में आए थे तथा यज्ञ कार्यों से अवकाश का समय शास्त्रचर्चा तथा इतिहासवार्त्ता में व्यतीत करते थे। भारत सुनना उसी का एक अंग था। उग्रश्रवा उन पुराणों को सुरक्षित रखनेवाले विद्वान सूतों की परम्परा में थे, जिनमें यह सृष्टि किस प्रकार उत्पन्न हुई, इसका लय होकर पुनः सृष्टि कैसे होती है, प्राचीन ऋषियों, मुनियों और राजाओं के जीवनचरित्र, उनकी वंशावलियों तथा मन्वन्तरों का वृत्तांत होता है। ऋषियों ने इन विद्वान सूत से उसी संदर्भ में अन्य इतिहास भी सुनने की इच्छा प्रकट की और उनने वह सुनाया। इस प्रकार मूल भारत में, जिसमें संभवतः भारतयुद्ध लड़नेवाले राजाओं की यशोगाथा थी, उस समय का तमाम लोकप्रिय पुराण साहित्य लगभग उससे तिगुना मिल गया और वह महाभारत बन गया। भारत-युद्ध लड़नेवाले राजाओं के वृत्तांत से भिन्न रघुवंश के हरिश्चन्द्र आदि राजाओं का वर्णन, नलोपाख्यान, अनेक दार्शनिक एवं धार्मिक विषयों के ऊहापोह जैसे राष्ट्रीय महत्त्व के प्रकरण उसमें शौनक के वैदिक चरण में जुड़े और यह महाभारत अपने मूल रूप से कहीं अधिक लोकप्रिय एवं दीर्घजीवी बना।

भारतयुद्ध लड़नेवाला हस्तिनापुर का राजवंश जनमेजय के नागयज्ञ के पश्चात् वहाँ से उखड़ गया था, उनके वंशानुगत सूत भी संभवतः अस्तव्यस्त होगये थे, केवल भरत-

१. डॉ० वासुदेवशरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ३३२।

वंशियों के पारिवारिक युद्ध और उनकी प्रशस्तिवाले इस मूल भारत को संभवतः किसी वैदिक चरण जैसी संस्था ने अपनाया नहीं था और महाभारत की लोकप्रियता ने उसका आकर्षण कम कर दिया था, अतः वह लुप्त होगया।

महाभारत की मूल सामग्री

महाभारत का वर्त्तमान संस्करण भार्गव हाथों में हुआ, यह आज माना जाता है[1]। पहले से वर्त्तमान आख्यान सामग्री जिसका वर्णन वैदिक युग में किया जा चुका है[2], अन्य पौराणिक कथाओं के साथ-साथ उसमें समाविष्ट हुई। मूल भारत में अथवा नयी प्रविष्ट सामग्री में किसी दृष्टिकोण से परिवर्तन किया हो यह वर्त्तमान महाभारत से प्रकट नहीं होता। प्रस्तुत युग में वैदिक यजन-साधना के पुनः प्रवर्त्तन की लहर उठी थी और भगवद्गीता में वेदों का उग्र शब्दों में खंडन किया गया है; परन्तु वह ज्यों का त्यों आज भी महाभारत में उपलब्ध है। परशुराम के जिस वंशज ने महाभारत के अनुसार भीष्म से पराजय पाई थी और मंत्रद्रष्टा ऋषि[3] वृत्र भार्गव (त्रिशिरा) इंद्र के हाथ से मारा गया था, उनके प्रति भार्गवों को वंश की दृष्टि से वैसा ही मोह होना चाहिए था जैसा 'भृगुवंश और भारत' के विद्वान लेखक को इन संस्करणकर्त्ताओं में दिखाई दिया है। परन्तु वे आज भी इसमें पराजित और मारे गये ही अंकित हैं, उनके पक्षपात ने उन्हें विजेता या इंद्रघातक नहीं बना दिया। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनसे यह प्रकट है कि इन संस्करण-कर्त्ताओं ने भारत का महाभारत बनाकर उसे राष्ट्रीय साहित्य के रूप में अवश्य जीवित रखा; परन्तु उसकी मूल सामग्री में अथवा उसमें नयी जोड़ी जानेवाली पूर्वतः वर्त्तमान सामग्री में परिवर्तन नहीं किया।

भृगु वंश और भारत

डॉ० सुकथनकर ने अपने उपर्युक्त शीर्षक लेख में यह मत व्यक्त किया है कि महाभारत को भार्गवमय बना दिया गया है और उसमें भृगु वंशियों के वर्णन को बढ़ा-चढ़ा कर दिया गया है[4]। परन्तु विद्वान समीक्षक ने इस संबंध में संस्करणकर्ताओं पर पक्षपात का आरोप करके न्याय नहीं किया है। उनकी गणना के अनुसार ही भार्गवों द्वारा जोड़े गये ७६ हजार श्लोकों में से केवल ढाई हजार श्लोक भार्गव-कथा कहते हैं[5]। इनमें से यदि भार्गव-कथाओं की पुनरुक्तियों को[6] निकाल दिया जाए, तब वे कठिनाई से लगभग डेढ़ हजार बचेंगे। इनमें भी कुछ ययाति के संदर्भ के रहे होंगे, जिनका आख्यान पूर्व-यायात और उत्तर-यायात के रूप में महाभारत में संग्रहीत है और जिसमें बहुत-सा भाग भार्गव-कथा कहता

१. सुकथनकर : भृगुवंश और भारत, (डॉ० वासुदेवशरण का अनुवाद), नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् १९९७, अंक २, पृष्ठ १०५।
२. पीछे पृष्ठ १५५, १५६।
३. ऋग्वेद १०।८ तथा ९।
४. उपर्युक्त लेख, पृष्ठ १५५।
५. वही, पृष्ठ १५३।
६. वही, पृष्ठ १५२।

है। यह पहले बताया जा चुका है कि ययाति का उपाख्यान पाणिनि के काल में अलग से भारत की ही भाँति विद्यमान था और वर्त्तमान महाभारत में उसके लगभग ७३४ श्लोक संगृहीत हैं[1]। परशुराम संबंधी इसी प्रकार के पहले से प्रचलित पूर्वाधिराम और उत्तराधिराम आख्यान-काव्य, जिनका उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी में है, यदि इसी विस्तार के भी रहे होंगे तो इन डेढ़ हजार श्लोकों में से समस्या केवल साढ़े सात सौ श्लोकों की रह जाती है, जिनकी संभावना यही अधिक है कि वे उन अन्य आख्यान ग्रंथों में पहले से विद्यमान रहे हों जो भारत काव्य की ही भाँति जनता में लोकप्रिय थे और जिनके आधार पर ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शतपथब्राह्मण, ताण्ड्यब्राह्मण, बौधायन श्रौतसूत्र, चरकसंहिता, भागवत, वायुपुराण तथा ब्रह्माण्डपुराण आदि वैदिक और पौराणिक साहित्य ने इस संदर्भ के संकेत ग्रहण किये थे। यह मानना तो सीमा से बहुत आगे जाना होगा कि ये सभी ग्रन्थ भार्गव प्रभाव में निर्मित हुए। जहाँ तक भार्गव राम जैसे चरित्रों को कुरु वंश की दिव्य-विभूतियों से अधिक उज्ज्वल चित्रित करने का प्रश्न है, वे वैसे थे। कुरु वंश की अनेक दिव्य-विभूतियों का उल्लेख वैदिक संहिताओं में ढूँढने पर भी उपलब्ध नहीं होता। प्रातःस्मरणीय सूतपुत्र कर्ण का चरित्र अर्जुन के पितामह भगवान व्यास को किसी भी कुरु वंशी से उतना अधिक उज्ज्वल चित्रित करना अभिप्रेत नहीं रहा होगा जितना वह आज उपलब्ध है। संभव है कि भारत में उसका मात्र योद्धा के रूप में अंकन हुआ हो और किसी वस्तुस्थिति पर आधारित अनुश्रुति पर से वह चित्र पीछे इन शौनकादि द्वारा उभारा गया हो, केवल इस कारण कि वह वैसा था। अतः यदि कोई चरित्र भारत में देवपुत्र पाण्डवों से अधिक उज्ज्वल चित्रित है, तो उसमें आपत्ति नहीं होनी चाहिये। उसमें उस काल के लोकविश्रुत सभी लोकोत्तर चरित्रों के अनपायि सौरभयुक्त पारिजातों को अनुस्यूत कर दिव्य-हार के रूप में राष्ट्रदेवता की अर्चना की गयी है और इसी कारण आज उसका राष्ट्रीय साहित्य की भाँति समादर है।

महाभारत और हिन्दू-संस्कृति-निर्माण युग

इस विद्वान लेखक की खीझ का कारण मूल भारत को खोजने के प्रयास की उलझन प्रतीत होती है, जो स्वाभाविक है। यह स्पष्ट है कि वह भारत नहीं है। कुलपति शौनक के ऋषिकुल का महाभारत है, २४ हजार श्लोकों का ग्रन्थ नहीं है, शतसाहस्री-संहिता है, उक्त विद्वान के अनुसार ही जिसका संग्रह और विस्तार शुंग, नाग, सातवाहन एवं वाकाटक कालों में युग की आवश्यकताओं को अपेक्षा से वेत्रवती के तटों पर भार्गवों के प्रबल और साक्षात प्रभाव के अन्तर्गत किया गया है[2]। इस प्रभाव और प्रतिसंस्कार के तारतम्य में यह भी कहा जाता है कि इसके परिणामस्वरूप महाभारत में भार्गव राम की कथा एकाधिक बार कही गयी है और उनके २१ बार क्षत्रिय विनाश को बहुत बार दुहराया गया है। इस एक ही तथ्य को बारबार दुहराना निरुद्देश्य नहीं था और न उसमें भृगु वंश को वैसा कोई गौरव देने का अभिप्राय ही सिद्ध होता था जो उसे प्राप्त नहीं था। जिनका परशुराम ने संहार किया था उन राजाओं के इस काल के वंशजों का तिरस्कार

---

१. महाभारत, आदिपर्व, अध्याय ७५ से ९३ तक।

२. उपर्युक्त लेख, पृष्ठ १६०।

भी उसका लक्ष्य नहीं था। अधिक संभावना यही है कि उनका वंशानुगत क्षात्रतेज भी प्रस्तुत काल के ऋषिवंशी सेनापतियों के इंगित पर देश की रक्षा के यज्ञ में अपनी पवित्र आहुतियाँ दे रहा था।

उस काल में छोटे-बड़े यज्ञों के और धार्मिक मेलों के अवसर पर इस राष्ट्रीय साहित्य महाभारत का पारायण होता रहा होगा। जिस राजनैतिक स्थिति का दिग्दर्शन पहले किया जा चुका है और जिसमें यूनानी, शक एवं कुषाणों ने देश के अंचलों को योद्धा एवं अयोद्धा भारतीयों के रक्त से रंजित किया था, उसका प्रतिकार भृगुकच्छ गोदावरी, नर्मदा, वेत्रवती और शोण नदी की धाराओं के प्रदेश में निवसित अनेक ऋषि-वंश कर रहे थे, जो निरंकुश राजा नहीं थे और जिनकी राज्यव्यवस्था गणतन्त्रात्मक थी। इन पाँच शताब्दियों के काल में उनने एक संयुक्त मोर्चा राष्ट्रीय आपत्ति के विरुद्ध खोल दिया था। उनके इस राष्ट्रीय प्रयास में गोत्रों, शाखाओं और गणों के भेदों का अस्तित्व बाधक नहीं था, जिसके अवशेष आज के भार्गवों में विश्वामित्र, काश्यप, विष्णु-वृद्ध, भारद्वाज, औपमन्यव आदि गोत्रों के रूप में प्राप्त होते हैं। निस्सन्देह इसी युग की परिस्थितियों में इन ऋषिवंशों के तेजस्वी व्यक्तित्वों ने कुभा (काबुल) और सुवास्तु (स्वात) के तटों तक से आकर इस प्रदेश में बसकर भारत एवं भारतीय संस्कृति की रक्षा में अपने प्राणों की आहुतियाँ अविरल गति से और समन्वित रूप में अर्पित की थीं। उनका तपःपूत रक्त गुजरात में, मालवा में, शाकल में, मथुरा में और साकेत में देश की स्वाधीनता की वेदी का प्रक्षालन कर रहा था तथा महाभाष्य, मनुस्मृति, महाभारत, पुराण और शिलालेख जिस मध्यदेश की प्रस्तुत काल की वाणी बोलते हैं, यह प्रदेश इन आक्रान्ताओं को, वे राजा और योद्धा बनकर आते थे, अतः क्षत्रिय कह रहा था[1]। इस स्थिति में इन पारायणों में यदि राष्ट्र की आत्मा, बिना इसकी परवाह किये कि आगे जब इतिहास के विद्यार्थी महाभारत में से मूल भारत खोजने का प्रयास करेंगे तब उन्हें कितनी खीझ होगी, मुखर हुई हो यह अस्वाभाविक नहीं है। इन पारायणों में महाभारत का समग्र भारतीय संस्कृति का सन्देश तत्कालीन पीढ़ियों को देते हुए व्यासपीठ पर से उस समय की परिस्थितियों में देश और समाज के लिए लड़ने और मरनेवाली विविध गणों की जनता के साहस और उत्साह में वृद्धि करने के लिए भार्गव राम की कथा बारबार दुहराई जाती होगी और उन्हें विश्वास दिलाया जाता होगा कि ये आज के नये लोकतापन क्षत्रिय 'राजा' और 'राजाओं के राजा' तुम्हारे सामने खर्व हैं। महर्षि विश्वामित्र द्वारा संहारकारी रुद्रऋषि कहे गये[2] सर्वक्षत्रान्तक भार्गव राम कभी अकेले ही २१ बार इनका विनाश कर चुके हैं। उनका यह उद्देश्य पूरा भी हुआ था और भारत के हृदयस्थल इस प्रदेश के अंचल-अंचल से वह शक्ति उद्भूत हुई थी जिसने इस युग का उज्ज्वल इतिहास गुणाढच की ही भाँति अपने रक्त से लिखकर अमर कर दिया। आज के इतिहास का विद्यार्थी भी केवल अपना कुतूहल शान्त करने के लिए अतीत के गौरव की खोज नहीं करता। इतिहास वर्त्तमान

---

१. महाभाष्य २।४।१०, मनुस्मृति १०।४४ तथा भागवत १२।२।२०।
२. ऋग्वेद ८।४५।४६।

पीढ़ी को प्रेरणा प्रदान करता है, जिन सीमाओं को पहले ही स्पर्श किया जा चुका है उनसे आगे बढ़ने का उत्साह देता है और अतीत की विषम परिस्थितियों में तत्कालीन महापुरुषों द्वारा राष्ट्र की तेजस्विता अक्षुण्ण रखने के उसके उदाहरण वैसी ही परिस्थितियों में नैतिक बल प्रदान करते हैं। महाभारत ने प्रस्तुत काल में वह सब किया। शस्त्र धारण करनेवालों में श्रेष्ठ भार्गव राम की कथा महाभारत के पारायणों का ध्रुव-पद बन गयी और पीछे की पीढ़ियों को इस काल के इन पारायणों की झलक देने के लिए महाभारत के पाठ में संभवतः केवल चार स्थलों पर अवशिष्ट रह गयी, जब कि संभावना यह है कि प्रस्तुत काल के इन गणतंत्री ऋषिवंशजों के अनुरूप उस आदर्श चरित्र का पाठ और भी अधिक बार इन पारायणों में किया जाता होगा जिसने सम्पूर्ण पृथिवी जीतकर भी राजा का विरुद धारण नहीं किया था और जिसकी परंपरा में राम के समान ही राजा के वध का कठोर कर्त्तव्य पालन करने के पश्चात् भी शुंग सेनापति कहलाते रहे तथा काण्व शासक शुंगभृत्य ही कहलाए। महाभारत के पारायणों के विश्राम-स्थलों पर लगाया गया भार्गव राम के चरित्र का यह संपुट ही माता गौतमी बालश्री की लिखाई शक-यवन-पह्लवों का निषूदन करनेवाले सातवाहन शातकर्णि की प्रशस्ति में 'खतियदप मान मदनस, एक धनुधरस, एक सूरस, एक बह्मणस, राम' ' तुलपरकस' —'क्षत्रियों के दर्प और अभिमान का मर्दन करनेवाले, धनुर्धारियों में अद्वितीय, शूरों में अद्वितीय, ब्राह्मणों में अद्वितीय और भार्गव राम के सदृश तेजस्वी' शब्दों में प्रतिध्वनित हुआ था। राजनैतिक इतिहास में हमने देखा है कि सातवाहनों ने शक क्षत्रपों के शाहानुशाही के जवाब में राजाओं के राजा का विरुद धारण किया था जो अब तक की गणों की परम्परा का अपवाद था, तथा प्रस्तुत काल के छोर पर इसी तारतम्य में प्रवरसेन वाकाटक द्वारा सम्राट विरुद धारण किया गया था। महाभारत के प्रसंग में जब भार्गव राम का उल्लेख राजाओं के साथ कर दिया गया है, तब संभवतः उसका अधिक से अधिक यही अभिप्राय हो सकता है कि गणमुख्यों के इन 'राजाओं के राजा' तथा 'सम्राट' के विरुदों को परम्परासम्मत कह दिया जाए।

नीति और धर्मग्रन्थ महाभारत

आज जिस रूप में महाभारत उपलब्ध है, कौरव-पाण्डवों के पारिवारिक युद्ध का इतिहास नहीं है, समस्त भारतवर्ष की श्रेष्ठ परम्पराओं का अनन्त पीढ़ियों के लिए ऐसा कोष है जिसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि अन्य ग्रन्थों में वही है जो इसमें है और जो इसमें नहीं है वह कहीं नहीं है[1]। प्रस्तुत काल के अन्य साहित्य की भाँति यह ग्रन्थ आगे आनेवाली पीढ़ियों के लिए साहित्यिक प्रेरणा का अक्षय कोष बन गया और इसमें संग्रहीत धर्म और नीति भारत के प्राणों में समाविष्ट हो गयी। डॉ० सुकथनकर के शब्दों में "संयोग से धर्म और नीति इन्हीं दो विषयों में भृगुओं ने विशेष अधिकार प्राप्त किया था," अतः "महाभारत का विशाल प्रासाद धर्म पर रचा गया है, महाभारत धर्मग्रन्थ है" और उसकी रचना में अन्तःप्रवाहित धारा को इस प्रकार व्यक्त किया गया है, "यह मैं बाहु उठाकर पुकारता हूँ कि धर्म से अर्थ और काम प्राप्त होते हैं,

१. यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।

उसी का किस कारण सेवन नहीं करते ? किन्तु कोई सुनता नहीं है। न काम से, न भय से, न लोभ से और न प्राणों के हेतु से भी धर्म का त्याग करना चाहिए। धर्म नित्य है और सुख-दु.ख तो अनित्य हैं। जीव नित्य है और उसका हेतु केवल अनित्य है"[1]। यह कथन जहाँ प्रतिसंस्कारकर्त्ताओं की नैतिक आचरण के प्रति आस्था का प्रतिपादन करता है, धर्म की अचूक स्वस्थ परिभाषा भी इसमें प्राप्त हो जाती है। वह ऐसे किसी धर्म की कल्पना नहीं करता जिसमें समाज की भौतिक आवश्यकताओं और आकांक्षाओं की उपेक्षा हो। उसके धर्म या नैतिकता से प्रेरित प्रयासों की अचूक परिणति विश्व से अविरोधी व्यापक सुख और समृद्धि में होती है।

'वैदिक शाखाएँ और ब्राह्मण जिस प्रकार विशेष-विशेष वैदिक चरणों में और ऋषिकुलों में सुरक्षित रहे, उसी प्रकार पंचम वेद भारत भी अवश्य ही कुछ काल पर्यन्त भार्गवों की सम्पत्ति बना रहा'। 'भृगुओं के द्वारा होनेवाले इस संस्कार में स्वभावतः ही उस ग्रन्थ पर भृगुसंस्कृति, अर्थात् उनके उदीर्ण इतिहास, प्रवृत्ति और दृष्टिकोण की गहरी छाप पड़ी, जिसका फल यह हुआ कि महाभारत काव्य ने एक साथ ही युद्धग्रन्थ और धर्म-ग्रन्थ दोनों का रूप धारण कर लिया। यह कल्पना की जा सकती है कि भारत का यह परिष्कृत रूप दीर्घकाल तक भार्गवों की सुरक्षा में बना रहा और उन्होंने अपने ढंग से उसे प्रचारित किया। इस नये भार्गव संस्करण को इतनी अधिक सफलता प्राप्त हुई, जो उचित ही थी, कि मूल ग्रन्थ, जिसका नाम भारत था, भूल में पड़ गया और आगे चलकर बिलकुल ही लुप्त होगया'। 'भृगुओं के हाथ से निकलकर जिस काल में भी महाभारत ग्रन्थ समस्त देश की साहित्यिक सम्पत्ति बन गया, उस काल के बाद भी इसमें थोड़े-बहुत परिवर्तन का द्वार खुला ही रहा; किन्तु लोक में यह महर्षि व्यास द्वारा रचित प्राचीन ग्रन्थ की भाँति ही पूजित होता रहा'[2]।

वाल्मीकि रामायण

वैदिक युग का अध्ययन करते हुए आदि कवि भार्गव वाल्मीकि द्वारा रामायण के निर्माण का उल्लेख किया गया है। मूलतः यह ग्रन्थ आज जितना विशाल नहीं था। उसमें प्रस्तुत युग से पहले भी परिवर्धन होते रहे और उसका वर्त्तमान रूप शुंग शासन में निर्मित हुआ माना जाता है[3]। इसमें संभवतः पहले और सातवें काण्ड की कथा मूलतः नहीं थी और बीच के काण्डों में भी अनेक बातें पीछे जोड़ी गयी हैं। रामायण का रूप महाभारत से भिन्न है। वैदिक साहित्य पर आए संकटकाल में महाभारत में भारतीय परम्पराओं की बहुमूल्य सामग्री को सुरक्षित किया गया है। उसमें रामायण की कथा भी अत्यन्त संक्षिप्त रूप में समाविष्ट करदी गयी है। उसके पात्र यथार्थता के समीप हैं। वे वही बोलते हैं जो वस्तुतः अनुभव करते हैं। उसकी प्रकृति इतिहास की है। इसके विपरीत रामायण काव्य है, उसमें प्रकृति का लोकरंजक रूप अंकित है, भाव-

---

१. महाभारत १८।५।६२ आदि।

२. पूर्वनिर्देशित लेख, पृष्ठ १६१, ६२।

३. जयचन्द्र विद्यालंकार: भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृष्ठ १००६।

नाओं की अभिव्यक्ति है, रस का परिपाक है, परिष्कृत छंदों का प्रयोग है, अलंकार-पूर्ण उक्तियाँ हैं और उसके पात्रों के चरित्रों का विकास वास्तविकता से ऊपर उठकर कवि की भावनाओं के अनुरूप होता है। उसके पात्रों की आंतरिक पवित्रता, राम की पितृभक्ति, भरत और लक्ष्मण की भ्रातृभक्ति, हनुमान की रामभक्ति, राम का व्यापक निश्छल प्रेम, उनकी धर्मपरायणता और सीता का पावन चरित्र किसी धर्मोपदेश की अपेक्षा किये बिना रामायण की और उसके पात्रों की पुनीतता की धारा भारत-भूमि पर प्रवाहित कर देते हैं।

जहाँ भी सदाचरण पर दुष्प्रवृत्तियाँ आँख टेढ़ी करती हैं, उसका लक्ष्य सीता हो, सुग्रीव हो या किसी ऋषि का आश्रम हो, राम के कठोर कोदण्ड पर चढ़ी प्रत्यंचा की टंकार दिशाओं के छोरों को प्रतिध्वनित कर उठती है। रामायण आदि काव्य है, वस्तुतः काव्य है। उसके सभी पात्रों और उसकी सभी घटनाओं की वास्तविकता इतिहास के निकष पर खरी उतरने की आवश्यकता नहीं है। यह जरूरी नहीं है कि रावण राक्षस हो, उसमें वह अर्हता हो कि आज भी उसका पुतला जलाया जाए, राम ने शंबूक को मारने का नैतिक दृष्टि से विवादास्पद कार्य किया हो या राम द्वारा बालि का वध किया जाना वाल्मीकि द्वारा चित्रित किये गये राम के उच्च चारित्र्यस्तर से अपने वास्तविक रूप में भी संगत हो। उसमें सत्य कवि का वह आदर्श है जिसे वह राम को अपने काव्य का नायक बनाकर साकार कर देना चाहता है, जो इस काल की परिस्थितियों में भारतवर्ष की माँग थी।

इससे पहले कृष्ण विष्णु के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे, परन्तु युद्ध में शस्त्र ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा करनेवाले और शस्त्रकौशल के स्थान पर बुद्धिकौशल दिखानेवाले अवतार से प्रस्तुत काल की माँग पूरी नहीं होती थी। कूटनीतिक चातुर्य से और रसालता से इस युग की राजनैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती थी। मूल रामायण में राम अवतार नहीं थे, पीछे वे अवतार माने गये और प्रस्तुत युग की परिस्थितियों में संकट की अवस्था का अनुभव करनेवाली मध्यदेश की जनता जहाँ सभी मोर्चों पर प्राणों की आहुति दे रही थी, वहाँ दैवीशक्ति से युक्त इस मर्यादापुरुषोत्तम अवतार की भी उसे बड़ी माँग हुई जिसकी अलौकिक शक्तियाँ भी इस राष्ट्रीय प्रयास में विनियोजित हों। प्रस्तुत अवतारों में से उसे दाशरथि राम में वे आवश्यक गुण मिले और लोकभावना का आदर करते हुए प्रतिसंस्कारकर्त्ता ने वाल्मीकि के मानव राम की कथा को पल्लवित किया, जो विष्णु का दो भुजाओंवाला अवतार मान लिया गया था, जो संयम का आदर्श है, राजधर्म का प्रतीक है, ऋषियों की भाँति चौदह वर्ष वन में व्यतीत करता है, सद्वृत्तियों की रक्षा एवं दुष्टों के दमन में जिसकी अशिथिल प्रत्यंचा सदा चढ़ी रहती है, जिसका तूणीर बाणों का अक्षय भंडार है और जो मर्यादा-पुरुषोत्तम है। यह रामकथाओं के विकास का युग था। रामायण के प्रतिसंस्कार के अतिरिक्त रघुवंश, सेतुबंध, रावणवध आदि काव्य भी मध्यदेश की भावनाओं के अनुरूप प्रस्तुत युग में निर्मित हुए और वाल्मीकि रामायण का प्रतिसंस्कार उसी परम्परा में से एक था।

वस्तुतः प्रस्तुत काल में वाल्मीकि की रामायण ने वह रूप धारण किया जिसकी राष्ट्र को आवश्यकता थी और जिसमें राष्ट्र के राम का रूप निखर उठा था। इस युग में किये गये इसके संस्कार के परिणामस्वरूप इसका वह रूप बना जिससे प्रेरणा ग्रहण करनेवाले आगे अनेक कवि हुए और वाल्मीकि का अवतार कहकर राष्ट्रकवि सम्मानित किये गये। इसके प्रकृतिवर्णनों की स्वाभाविकता और अकृत्रिम काव्यसौष्ठव तो अनतिक्रमणीय ही रह गये।

मनुस्मृति और मध्यदेश

महाभारत की भाँति मनुस्मृति भी अपने वर्त्तमान रूप में मध्यदेश की देन है। यह निर्विवाद रूप से प्राचीनतम धर्मशास्त्र है। महाभारत से इसका गहरा सम्बन्ध विद्वानों ने स्थापित किया है। मनुस्मृति का आरम्भिक भाग महाभारत के प्रथम अध्याय के ढंग का है। कुछ श्लोकों के तो शब्द भी एकसे हैं और अनेक जगह महाभारत में मनुस्मृति प्रमाण रूप से उद्धृत की गयी है। मनुस्मृति के २६० श्लोक, अर्थात् समस्त शास्त्र का लगभग दशमांश महाभारत के तीसरे, बारहवें और तेरहवें पर्व में पाए जाते हैं। मनुस्मृति के आन्तरिक प्रमाण से ही यह सिद्ध है कि मनु द्वारा प्रणीत धर्मशास्त्र को सुनाने का कार्य भृगु ने ही किया था[1]। नारदस्मृति में उसे क्रमशः नारद, मार्कण्डेय और सुमति भार्गव द्वारा विविध कालों में संस्कारित कहा गया है। इन संदर्भों का यह अर्थ निर्विवाद है कि इस स्मृति का सम्बन्ध कुलपति शौनक के ऋषिकुल से था, जो प्रस्तुत काल में मध्यदेश में कार्य कर रहा था। मनुस्मृति के वर्त्तमान रूप को शुंग काल का लगभग ई० पू० १५० का माना जाता है और यह उपलब्ध धर्मशास्त्रों में प्राचीनतम है[2]। इसका एक नाम मानवधर्मशास्त्र भी है। चाणक्य मानवधर्मशास्त्र का उल्लेख करता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि मानव चरण का मानव गृह्यसूत्र अलग ग्रंथ है। धर्मसूत्रों से भी यह अलग प्रकार का ग्रंथ है, जिनमें विशेष वैदिक शाखाओं की शिष्यपरम्परा के पालन के लिए नियम सन्निवेशित रहते थे। स्मृतियों की मान्यता भारतव्यापी रही है और समाज इनमें स्थापित आदर्शों के समीपतम आचरण करने का प्रयास करता रहा है। मनुस्मृति का अर्थशास्त्र से अधिक समीप का सम्बन्ध है, यद्यपि उसमें आधार धर्म को मानकर चला गया है कारण कि वह उसी परम्परा का शास्त्र है। स्मृति साहित्य में सबसे पहले उसमें राजधर्म का और उसके अन्तर्गत सम्पूर्ण व्यवहार का विस्तार से निर्देशन किया गया है। मनु के समाजव्यवस्थापक रूप की झलक अनेक प्राचीन सभ्यताओं के इतिहास में प्राप्त होती है और यह माना जा सकता है कि समाजव्यवस्था की कल्पना के साथ यह नाम भी भारत से उन देशों को प्रवसित हुआ होगा[3]।

---

१. सुकथनकर: भृगुवंश और भारत, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, १९९७, अंक २, पृष्ठ १५९।

२. जयचन्द्र विद्यालंकार: भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृष्ठ ९९६।

३. निर्देश, पृष्ठ ९९, क्रमांक ६।

यह स्मृति वस्तुतः उस सम्प्रदाय का ग्रन्थ रही है जो धर्म अर्थात् नैतिक आचरण की स्थापना को, जैसा कि इसका अर्थ इन ग्रन्थों में लिया गया है, राज्य के कर्त्तव्यों से अभिन्न मानता है। इसकी लोकप्रियता और उपयोगिता देखकर पीछे इसकी नकल में अन्य स्मृतियाँ बनीं और धर्मसूत्रों ने भी अपने कलेवरों में इसके अनुकरण में परिवर्तन किया[1]। इस रूप में यह प्रस्तुत काल के साहित्य का, जिसमें अपनी विशिष्ट मौलिकता है और पीछे के काल का साहित्य जिसकी सीमाओं से बाहर नहीं जा पाता, प्रतिनिधि ग्रन्थ है तथा जर्मन दार्शनिक नित्शे का यह कथन कि मनुस्मृति की शिक्षा बाइबिल की शिक्षा से अनेक अंशों में ऊँची है[2], उस युग और समाज की नैतिक शक्ति का अभिवादन है जिसकी कृति यह अमर ग्रन्थ है।

विष्णुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति

मनुस्मृति के पश्चात् इस युग में विष्णुस्मृति एवं याज्ञवल्क्यस्मृति का निर्माण हुआ। विष्णुस्मृति मूलतः काठक शाखा का धर्मसूत्र है और उसका वर्तमान रूप ईसवी पहली और तीसरी शती के बीच मनुस्मृति के आधार पर बनाया गया है। याज्ञवल्क्य-स्मृति के निर्माण में चाणक्य के अर्थशास्त्र और इन दोनों स्मृतियों की सामग्री का उपयोग किया गया है। मनुस्मृति में जिन विषयों को प्रतिपादित किया गया था, याज्ञवल्क्य-स्मृति में उन्हें अधिक स्पष्ट किया गया है और व्यवस्थित रूप दिया गया है। आज जिस रूप में ये स्मृतियाँ प्राप्त होती हैं, यह नहीं माना जा सकता कि वे प्रस्तुत युग में ज्यों की त्यों किसी राज्य का कानून थीं। शिष्ट समाज उनसे जीवन में उच्चस्तर की नैतिकता धारण में दिशानिर्देश प्राप्त करता था। वस्तुतः वे समाज और शासन पर प्रबल प्रभाव रखनेवाले आचार्यों के आदेश हैं, जिनसे राज्य उचित परिवर्तन के साथ मार्गदर्शन प्राप्त करता होगा। उनमें एक प्रतिक्रिया दिखाई देती है, जो वस्तुतः साधारण स्थिति या मनोवृत्ति की परिचायक न होकर प्रतिक्रिया की ही सूचक है। प्रस्तुत युग की राजनीति से प्रभावित सामाजिक पृष्ठभूमि इस प्रतिक्रिया के रूप को स्पष्ट कर देती है। शूद्र का जो रूप भारतीय इतिहास में कभी दिखाई नहीं दिया वह इन स्मृतियों में अंकित है। शान्तिप्रिय प्रजा का संहार करनेवाले यूनानी, शक और कुषाणों ने भारत पर आक्रमण किया था और वे उनकी आन्तरिक सामाजिक व्यवस्था एवं धार्मिक विश्वासों में भी हस्तक्षेप करते थे। प्रस्तुत युग से पहले भारतवासी ने प्रजानाशक राजा या क्षत्रिय देखा नहीं था और समाजविरोधी शूद्र की उन्हें कल्पना नहीं थी। चातुर्वर्ण्य की नाप उनके पास थी। केवल म्लेच्छ कह देने से उस साँचे में ये बैठते नहीं थे। अभूतपूर्व परिस्थिति में लड़खड़ाती जीभ से पुराणों और ब्राह्मण विद्वानों ने आक्रान्ताओं को कभी शूद्र और कभी क्षत्रिय कहा है[3]। इन स्मृतियों में इनके प्रति दिखाई गयी कठोरता का लक्ष्य असंदिग्ध रूप से आक्रांता शूद्र हैं और वे

---

१. जयचन्द्र विद्यालंकार: पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ ९९९।

२. वही, पृष्ठ ८१३।

३. महाभाष्य २।४।१०; मनुस्मृति १०।४४ तथा भागवत १२।२।१९-२०।

निषाद आदि नहीं हैं जिनके श्रमबिन्दु राष्ट्र के जीवन का पोषण कर रहे थे। इन स्मृतियों में ब्राह्मण को अत्यधिक प्रतिष्ठा दी गयी है, उसके विरुद्ध किये जानेवाले अपराधों पर अनुचित रूप से कठोर दण्ड की व्यवस्था की गयी है और उन्हें अपेक्षाकृत कम दण्डार्ह व्यवस्थापित किया है। राजनैतिक इतिहास पर दृष्टि डालने से इस युग में सामरिक स्थिति सर्वत्र व्याप्त दिखती है। अतः इन स्मृतियों में वैदिक धर्मावलंबियों की आत्मरक्षा की प्रवृत्ति प्रतिबिम्बित है और राष्ट्र के आह्वान पर युद्ध के मोर्चों पर सेनापति से लेकर सैनिक तक की स्थिति में युद्ध करनेवाले ब्राह्मण के हितों और सम्मान को उसी प्रकार सुरक्षित करने की व्यवस्था की गयी है जिस प्रकार आधुनिक युग में भी फौजी व्यवस्था के प्रति की गयी अपराधी प्रवृत्तियों को साधारण की अपेक्षा अधिक गम्भीर समझा जाता है। जब तक इन विदेशी शक्तियों को भारतीय समाज में आत्मसात नहीं कर लिया गया था, इन तीन-चार शताब्दियों के समय में सामरिक स्थिति रही थी और ये स्मृतियाँ उसी का संकेत करती हैं। यह स्पष्ट है कि आगे के युगों में गण-व्यवस्था भंग होने पर राष्ट्र में क्रमशः जीवनीशक्ति का ह्रास हुआ है और प्रस्तुत युग की परिस्थितियों को लक्ष्य करके कहे गये अत्यन्त उचित वाक्यों की उस काल में सूक्ष्म शाब्दिक व्याख्याएँ मात्र की गयीं, उनको बिना तेजस्विता का विनियोग किये सार्वकालिक मान लिया गया।

पतंजलि

भर्तृहरि के शब्दों में भागवत ऋषि पतंजलि मध्यदेश की बहुमुखी प्रतिभा के प्रतीक हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी और कात्यायन के वार्तिकों पर अपने महाभाष्य के कारण तथा योगसूत्रों के रचयिता के रूप में पतंजलि प्रसिद्ध हैं। इनके योगसूत्रों पर धर्मसाधना के प्रकरण में प्रकाश डाला गया है। आयुर्वेद के क्षेत्र में ये संभवतः अग्निवेशसंहिता (चरकसंहिता) के भाष्यकार अथवा प्रतिसंस्कारकर्ता हैं[1]। कुछ विद्वान चरक और पतंजलि को अभिन्न मानते हैं तथा कुछ इनकी आयुर्वेद की सेवा लोहशास्त्र के रचयिता के रूप में स्वीकार करते हैं[3]। भावमिश्र के अनुसार चरक शेष के अवतार हैं और रामचन्द्र अपने पतंजलिचरित में इन्हें शेष का अवतार कहते हैं। इसी कारण महाभाष्य फणिभाष्य[4] कहलाता है। इन्हें शेष का अवतार मानने के पीछे वह कथा है जिसके अनुसार पतंजलि गोनर्दवासिनी गोणिका नामक ब्राह्मण तापसी की अंजलि से पूजा करते समय नाग के रूप में गिरे और ब्राह्मण बालक बन गये। यह कथा अलंकारिक रूप से यही बताती है कि ये उस ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे जो अपने आपको नाग कहते थे। इन्हें शेषनाग का अवतार कहने में भी अभिप्राय वही है जो अष्टाध्यायीकार के पाणिनि और आहिक नामों में है। किसी वैदिक चरण के, संभवतः शौनक के ऋषिकुल के स्नातक होने के पश्चात् ये चरक हुए, स्थान-स्थान का भ्रमण कर इनने पाणिनि और

---

१. महाभारत, वनपर्व १९९।९७।
२. चरकसंहिता की चक्रदत्तकृत आयुर्वेददीपिका का मंगलाचरण श्लोक ४।
३. जयचन्द्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृष्ठ १०१३।
४. कोण्ड भट्ट : वैयाकरणभूषण, कारिका १।

कात्यायन के पश्चात् संस्कृत भाषा के शब्दप्रयोगों में आए परिवर्तनों का अध्ययन किया। इनकी धार्मिक आस्था को व्यक्त करने के लिए कहा यह गया कि इनने शिव के प्रसाद से ग्रन्थरचना की। नागोजी भट्ट के अनुसार इनकी पुत्रवती माता का नाम गोणिका[1] था और कैयट के अनुसार इनका जन्मस्थान विदिशा और अवंति के बीच में स्थित[2] गोनर्द। इनका समय ईसा पूर्व दूसरी शती माना जाता है[3]। इनने अपने भाष्य में पुष्यमित्र के लिए वर्त्तमान काल की क्रिया का 'याजयाम:' प्रयोग किया है[4], जिसमें इनका पुष्यमित्र शुंग का समकालीन होना ठहरता है। महाभाष्य में चन्द्रगुप्त मौर्य[5] तथा साकेत पर हुए यवनआक्रमण[6] से इनके परिचित होने के निर्देश भी प्राप्त होते हैं। योगसूत्र के आधार पर इस तर्क के साथ कि योगदर्शन भगवान बुद्ध से पूर्व का है, इन्हें प्राचीनतर नहीं कहा जा सकता, कारण कि योगदर्शन का साहित्य पहले से विद्यमान था, पतंजलि ने केवल उसे सूत्र रूप में बद्ध किया।

पतंजलि का अष्टाध्यायी पर महाभाष्य शब्दशास्त्र के इनके अगाध पाण्डित्य का और भगवान पाणिनि के प्रति इनकी भक्ति का द्योतक है।

पाणिनि का अष्टाध्यायी व्याकरण वस्तुत: प्रस्तुत काल से पहले बोली जानेवाली संस्कृत भाषा की प्रवृत्तियों के अध्ययन के आधार पर निर्मित हुआ था, जिसका स्वरूप ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त होता है। वह अपनी संक्षिप्त शैली के कारण दुरूह भी था। उस पर कात्यायन ने वार्त्तिकों की रचना की थी। पतंजलि ने इन पर अपने भाष्य की रचना की, पाणिनि के सूत्रों के दुरूह स्थलों को स्पष्ट किया और पाणिनि के युग से अब तक संस्कृत भाषा के स्वरूप में हुए परिवर्तनों को निरूपित करने के लिए इष्टि नाम के कुछ नये नियम जोड़े। प्रस्तुत युग की रचनाओं की मौलिकता की प्रवृत्ति, इनका पीछे के कालों की रचनाओं का मुख्य आधार बनकर रह जाना और आनेवाली पीढ़ियों की अनुकरण की वृत्ति इनके महाभाष्य में भी सूचित है। इनने संस्कृत भाषा में हुए अपने काल तक के परिवर्तनों का अध्ययन करके नये नियम स्थिर किये थे और आगे आनेवाले वैयाकरणों ने फिर पिष्टपेषण ही किया। भाषा का विकास रुक गया, पाणिनि और पतंजलि के अध्ययनों को अभेद्य घेरा मान लिया गया तथा संस्कृत भाषा जनसाधारण से दूर जा पड़ी। भाषा की स्वाभाविक प्रवृत्ति में आनेवाले परिवर्तन जड़तावश व्याकरणच्युति माने जाने लगे और वैयाकरणों का काम पाणिनि के सूत्रों एवं पतंजलि की इष्टियों के बाल की खाल निकालना मात्र रह गया।

---

१. १।४।५१।

२. देखिए पीछे पृष्ठ २७।

३. गोल्ड स्टूकर : पाणिनि, पृष्ठ २३४ तथा भाण्डारकर : इण्डियन एण्टीक्वेरी, १८७२, पृष्ठ २९९–३०२।

४. महाभाष्य ३।२।१२३।

५. वही, ५।३।९९।

६. गोल्ड स्टूकर : पाणिनि, पृष्ठ २३४।

भगवान भाष्यकार अपने काल के अद्वितीय विद्वानों में थे और इनका बड़ा सम्मान था। ये विदिशा में पुष्यमित्र शुंग द्वारा किये गये अश्वमेध यज्ञ में सम्मिलित हुए थे, जैसा इनके "पुष्यमित्रं याजयमः' उदाहरण से प्रकट होता है। यह मनीषी भारत पर हुए विदेशी आक्रमणों के प्रति संवेदनशील था, यह इसके द्वारा अनद्यतनभूत के क्रियारूपों के उदाहरण में सांकेत और माध्यमिका पर हुए यूनानियों के आक्रमण का अपने अन्ते-वासियों को स्मरण दिलाने से सूचित होता है। इस देशभक्त विद्वान के हृदय की आकुलता 'अरुणद्यवनः साकेतम्', 'अरुणद्यवनो माध्यमिकाम्' में फट पड़ी है।

पतंजलि की बहुमुखी प्रतिभा का स्तवन वैयाकरण भोज के शब्दों में साहित्य में बहुधा सुनाई देता है। अनुश्रुति के अनुसार उसने इनके कृतीत्व से प्रेरणा प्राप्त करके योग पर राजमार्तण्ड, व्याकरण पर शब्दप्रकाशिका और आयुर्वेद पर राजनिघण्टु की रचना की थी तथा दो हजार वर्ष से फणिभाष्य का पारायण प्रारंभ करते समय शब्दशास्त्र का प्रत्येक विद्यार्थी पहले भगवान भाष्यकार का नमन करते हुए भोज के ही शब्दों में कहता है, "योग के द्वारा चित्त का, पदों के द्वारा वाणी का और वैद्यक के द्वारा शरीर का विकार जिसने नष्ट किया, मुनियों में प्रवर उन पतंजलि को मैं अंजलि बाँध कर नमित हूँ[1]"।

कातंत्र व्याकरणकार शर्ववर्मा

पतंजलि के पश्चात् हाल सातवाहन के समय में शर्ववर्मा नामक वैयाकरण हुए। इनने कातंत्र अथवा कालापक नाम के व्याकरण की रचना की। पाणिनि का व्याकरण यद्यपि अधिक शास्त्रीय और पूर्ण था, परन्तु मन्दबुद्धि विद्यार्थियों के लिए वह कठिन था। अतः ऐसे विद्यार्थियों के लिए इस सरल पद्धति के व्याकरण का निर्माण इस भृगुकच्छ निवासी ब्राह्मण ने किया था। डॉ० पीटर्सन द्वारा बूँदी के राजकीय पुस्तकालय से प्राप्त की गयी हाल सातवाहन रचित गाथासप्तशती की पुष्पिका में हाल ने अपने आपको कालापक के प्रवर्त्तक शर्ववर्मा का 'धीसखा', अर्थात् विद्वत्ता के कारण बना मित्र कहा है और कथासरित्सागर में 'सिद्धोवर्णसमाम्नाय' सूत्र से प्रारंभ होनेवाले इस व्याकरण की रचना का रोचक वृत्तान्त दिया गया है[2]। इसके अनुसार हाल सातवाहन पहले संस्कृत भाषा नहीं जानता था और उसकी रानी संस्कृतज्ञ थी। जलक्रीड़ा के बीच रानी ने संस्कृत में कहा "मोदकैः परिताडय'। राजा ने उसका अर्थ समझा 'लड्डुओं से प्रहार करो' और यह जानकर कि रानी वास्तव में पानी के छींटे न मारने को कह रही थी, वह लज्जित हुआ। उसने संस्कृत भाषा पढ़ने की इच्छा प्रकट की और उसकी राजसभा में उपस्थित शर्ववर्मा ने गुणाढ्य की प्रतिस्पर्द्धा में उसे छह मास में व्याकरण पढ़ा देने का वचन दिया। उसने कार्तिकेय की आराधना कर उनसे यह सरल पद्धति का व्याकरण प्राप्त किया। कार्तिकेय के वाहन कलापक (मोर) के नाम से उस व्याकरण का एक

---

१. योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पत्तञ्जलिं प्राञ्जलिमानतोऽस्मि ।।

२. कथासरित्सागर, कथापीठ लंबक १, तरंग ६ तथा ७।

नाम कालापक पड़ा और कार्त्तिकेय जब शर्ववर्मा को इस व्याकरण का उपदेश कर रहे थे, तब वह बीच में बोल पड़ा, अतः उसमें कुछ कमी रह गयी, इस कारण यह व्याकरण कातन्त्र कहलाया। शर्ववर्मा ने यह व्याकरण राजा को पढ़ाया और हाल ने उसे गुरु-दक्षिणा में भृगुकच्छ का राज्य दिया। कहानी के कल्पनाप्रसूत भाग को छोड़कर अन्य तथ्यों का समर्थन हाल की उपर्युक्त गाथासप्तशती की पुष्पिका से होता है। आगे के काल में इस कातन्त्र का भारतव्यापी प्रचार हुआ और इसी के आधार पर कच्चायन ने पालिभाषा के व्याकरण का निर्माण किया।

वररुचि

वररुचि की गणना विक्रमादित्य के नवरत्नों में की गयी है[1]। एक नन्दकालीन वररुचि का उल्लेख पहले किया जा चुका है। प्रस्तुत युग के वररुचि उससे नितांत भिन्न व्यक्तित्व हैं। ये प्राकृतप्रकाश व्याकरण की तथा नाममाला कोष की रचना करनेवाले वररुचि हैं। प्राकृत व्याकरण के रचनाकार के रूप में कॉवेल ने इनका काल ईसा पूर्व पहली शती निर्धारित किया है[2]। इस प्रकार ये विक्रमादित्य के समसामयिक हैं। मेरुतुंगाचार्य की प्रबंधचिन्तामणि के अनुसार ये विक्रमादित्य की पुत्री प्रियंगुमंजरी के गुरु थे और इन्हीं ने उसका विवाह कालिदास के साथ स्थिर किया था।

अमरसिंह ने अपने कोष में यह संकेत किया है कि उसने अन्य तंत्रों का समाहार, संक्षेप और प्रतिसंस्कार कर अपने ग्रन्थ की रचना की है[3]। उस पर टीकासर्वस्वकार ने लिखा है कि ये अन्य तंत्र व्याडि, वररुचि आदि के थे। संभव है यह संकेत वररुचि की नाममाला की ओर हो। धोयी (श्रुतिधर) ने भी विक्रम की सभा में वररुचि के सम्मान का उल्लेख किया है[4]। सिद्धसेन दिवाकर यद्यपि वंश से कात्यायन गोत्रीय ब्राह्मण थे और उनके सम्बन्ध में यह उल्लेख है कि वे विक्रमादित्य के पुरोहित के पुत्र थे, परन्तु इस कारण वे वररुचि से अभिन्न नहीं माने जा सकते, कारण कि उनका नाम वररुचि प्रसिद्ध नहीं है और श्री भगवद्दत्त की सूचना के अनुसार वररुचि अपने आर्या छन्दों में निबद्ध एक ग्रन्थ की पुष्पिका में अपने को विक्रम का आचार्य कहते हैं[5]। जैन आचार्य द्वारा पुरोहिती का कार्य करने की कल्पना कठिन है।

अमरसिंह

आज संस्कृत भाषा के शब्दकोषों में अमरकोष नाम से विख्यात नामलिंगानुशासन नाम का कोष प्राचीनतम है। इसके रचयिता अमरसिंह के बारे में सूचनाएँ बहुत थोड़ी हैं। ज्योतिर्विदाभरण संवत्-प्रवर्तक विक्रमादित्य के नवरत्नों का परिगणन करनेवाले

---

१. ज्योतिर्विदाभरण २२।१०।

२. वासुदेव गोपाल परांजपे : मृच्छकटिक (निर्णयसागर संस्करण) की भूमिका, पृष्ठ ६।

३. अमरकोष १।२।

४. सदुक्तिकर्णामृत, २९७।

५. भगवद्दत्त : भारतवर्ष का इतिहास, पृष्ठ ३४३।

श्लोक में इन्हें उनकी सभा का रत्न बतलाता है[1]। काव्यमीमांसाकार राजशेखर के अनुसार इनने अवंति की काव्यकारपरीक्षा उत्तीर्ण की थी[2]। विक्रमादित्य ने उस समय की परिपाटी के अनुसार इन्हें ब्रह्मरथयान तथा पट्टबन्ध से सम्मानित किया था। प्रो० रामावतार शर्मा की सूचनाओं के अनुसार ईसवी छठी शती में इनके कोष का अनुवाद चीनी भाषा में हुआ था। इससे इस रचना की प्राचीनता सूचित होती है[3]। देवप्रकरण में इस कोषकार ने पहले सुगत बुद्ध के नाम दिये हैं, इससे ज्ञात होता है कि यह बौद्ध था। अमरकोष में विष्णु के जो नाम दिये गये हैं, उनमें कृष्ण के नाम हैं; परन्तु राम नहीं हैं। राम के पर्याय भी बलराम के लिए प्रयुक्त संकर्षण आदि नाम हैं। इससे सूचना मिलती है कि ये विद्वान उस समय में हुए जब राम का अवतारत्व कट्टर राष्ट्रीयतावादियों तक सीमित था। वह लोक में इतना सुस्थापित नहीं हुआ था कि राम को विष्णु का पर्याय मान लिया जाता। इन आधारों पर श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने इनका समय ई० पू० पहली शताब्दी माना है। इन सब उल्लेखों को एक तारतम्य में रख देने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये कोषकार विक्रमादित्य की राजसभा में विद्यमान थे। एक अन्य उल्लेख इन्हें व्याकरण का विद्वान बताता है[4], जो नामलिंगानुशासन के रचयिता का होना आवश्यक है। इस कोष की सर्वांगीणता, शास्त्रीय पद्धति और पीछे बने अनेक कोषों से इसका सर्वाधिक प्रचार इसके रचना कौशल में प्रस्तुत युग की छाप लिए है। इससे पीछे के कोष आज वस्तुतः पुरातत्त्व की सामग्री हो गये हैं; परन्तु अमरकोष संस्कृत का आज भी प्रचलित कोष है। आज भी जब काशी के पंडित अमरकोष को कंठस्थ करते हैं, तब उनकी अच्युत वाणी में प्रस्तुत युग के मध्यदेश की साम्प्रदायिक सहिष्णुता ही नहीं, सामीप्य भी बोल उठता है, जिसके मुक्त वातावरण में नामलिंगानुशासन की अमरवाणी मुखरित हुई।

भरत का नाट्यशास्त्र

पिछले युग का अध्ययन करते हुए वैदिक चरणों के अन्तर्गत विकसित हुए साहित्य में नटसूत्रों का उल्लेख किया गया है और नाट्यशास्त्र के पूर्वाचार्यों का संकेत भी किया है। उसी परम्परा का ग्रन्थ भरत का नाट्यशास्त्र है। इसके काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है और श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने इन मतों का विवेचन करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि वैदिक काल के बाद और पौराणिक काल से पहले इस नाट्यशास्त्र की रचना हुई[5]। वस्तुतः यह इतना लम्बा समय है कि इससे कुछ तात्पर्य नहीं निकलता। इनसे पूर्व के विद्वानों में महामहोपाध्याय श्री हरिप्रसाद शास्त्री ने[6] तथा मॅकडॉनल ने[7] इनका

१. श्लोक ८।

२. काव्यमीमांसा, दसवाँ अध्याय (गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज), पृष्ठ ५५।२०।

३. कल्पद्रुकोष (गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज), भूमिका, पृष्ठ १०-११।

४. अमरकोष (निर्णयसागर संस्करण), भूमिका, पृष्ठ १।

५. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३०-५४।

६. जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियॅटिक सोसाइटी, १९१३, पृष्ठ ३०७।

७. मॅकडॉनल: इण्डियाज पास्ट, पृष्ठ ९७।

समय ई० पू० दूसरी शती स्थापित किया है, जो सबसे अधिक समीचीन प्रतीत होता है। सबसे पीछे का काल ८ वीं शती का निर्धारण श्री एस० के० दे ने किया है[1]। साहित्य में नाटयशास्त्र से सम्बद्ध भरत का पूर्वतम उल्लेख कालिदास ने किया है[2]। नाट्यशास्त्र में यवन शब्द का उल्लेख है, अतः नाटयशास्त्र का समय यूनानियों से भारत का सम्पर्क होने के और कालिदास के बीच कहीं होना चाहिए। कालिदास के समय पर हम आगे विचार कर रहे हैं और भास से पहले वर्तमान नाटयशास्त्र को रखने का कोई कारण नहीं है। साहित्य में रचनाएँ पहले होती हैं और उनके सूक्ष्म अध्ययन पर से उनकी प्रवृत्तियों का निरूपण करनेवाले शास्त्र सदा पीछे बनते हैं। नाटयशास्त्र में प्राकृत के जिन रूपों के नाटक में प्रयोग को मान्यता दी गयी है वे भास के नाटकों में प्राप्त होते हैं। पीछे के नाटककार उनके अतिरिक्त महाराष्ट्री, अर्धमागधी आदि रूपों का व्यवहार करते हैं। नाटयशास्त्र में नाटक को पंचम वेद कहा गया है। कथावस्तु, पात्र, भाव, नाटकों के भेद, नाटय मुद्राएँ, कथोपकथन, वेषभूषा, रंगमंच की रचना, नाटक देखनेवाले, काव्यशास्त्र, छंद तथा संगीत एवं नृत्य आदि नाटक के आवश्यक अंगों का इसमें निरूपण किया गया है। नाटक का अभिनय प्रारम्भ करने से पहले पूर्वरंग का इसमें विधान है, काव्य की रसात्मकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है और अलंकार एवं गुण को अप्रधान माना गया है। नाटयशास्त्र में शब्द और अर्थ के अलंकारों के भेदों का विवेचन प्राप्त नहीं होता तथा केवल उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक का नाटकालंकार के रूप में वर्णन किया गया है, जिनके प्रयोग की प्रवृत्ति प्रस्तुत काल के स्वाभाविकता से अधिक समीप रचना करनेवाले साहित्यकारों में पाई जाती है। नाटयशास्त्र के मूल रचयिता भरतमुनि का काल निर्धारण संभव नहीं है और उसकी आवश्यकता भी नहीं है। भरत का नाटयशास्त्र कहने से यह तात्पर्य मानना चाहिए कि प्रारम्भ में इस शास्त्र का उपदेश भरतमुनि ने किया था और उनकी परम्परा में आगे हुए विद्वानों द्वारा उसका विकास होता रहा। जिन नन्दी का भरत ने नाटयशास्त्र में उल्लेख किया है, वे नाटयशास्त्र के पूर्वाचार्य हैं। शिव से नन्दी का उपदेश ग्रहण करना वैसा ही है जैसा पाणिनि को शिव से तथा शर्ववर्मा को कार्त्तिकेय से व्याकरण का ज्ञान प्राप्त होना। वह उस तंत्रकार के धार्मिक विश्वास का सूचक है।

जयदेव

छन्दःशास्त्र के रचयिता जयदेव का इस युग में उद्भव हुआ। इनसे पहले अष्टाध्यायीकार पाणिनि के अनुज पिंगल छन्दःशास्त्र के सूत्रों का निर्माण कर चुके थे, यह पिछले अध्याय में कहा जा चुका है। उनने तीन-तीन वर्णों के आठ गण निर्धारित किये थे। प्रातिशाख्यों के युग में २६ वैदिक छन्द प्रचलित थे और पीछे उनमें से प्रत्येक के अनेक भेद होकर गुरु एवं लघु वर्णों की रचना से नये छन्दों के प्रयोग हुए थे। इससे वैदिक छन्दों के स्वर-संगीत के अतिरिक्त वर्णसंगीत का विकास हुआ था। लौकिक संस्कृत के अनुष्टुप आदि छन्द इसी वर्णसंगीत पर आधारित हैं। आचार्य पिंगल ने सबसे पहले इन वर्णिक वृत्तों का

---

१. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन पोइटी, पृष्ठ २७।

२. विक्रमोर्वशीयम् २।१८।

अपने छन्दःसूत्रों में निरूपण किया था, अतः आज छन्दों का विज्ञान ही पिंगलशास्त्र कहलाता है। इसी परम्परा में प्रस्तुत काल में जयदेव हुए। इनने अपने जयदेवछन्दस् की रचना करके आचार्य पिंगल से एक डग इस रूप में आगे रखा कि पिंगल का शास्त्र सूत्र शैली में था और इनने ऐसे छन्दों में अपने ग्रन्थ की रचना की जो छन्द का लक्षण देते थे और स्वयं उस छन्द के उदाहरण भी थे[1]।

शूद्रक

प्रस्तुत युग का इस प्रदेश का पहला नाटककार सिंह जैसे विक्रम वाला, चकोर जैसे नेत्र, पूर्णेन्दु-सा मुख, सुन्दर विग्रह (शरीर) और अगाधसत्त्व (बल) वाला द्विजों में मुख्यतम शूद्रक हुआ। इसने शर्व (शिव) के प्रसाद से ऋग्वेद, सामवेद, गणित और हस्तिशिक्षा का ज्ञान प्राप्त किया तथा इस प्रकार अंधकार नष्ट हो जाने पर उसे (नवीन) दृष्टि प्राप्त हुई। उसने अश्वमेध यज्ञ किया और सौ वर्ष दस दिन की आयु प्राप्त की। यह शूद्रक राजा युद्ध का व्यसनी, अप्रमाद, वेदज्ञानियों में श्रेष्ठ, तपोधन तथा शत्रुओं को पराङ्मुख करनेवाले बाहुयुद्धों का लोभी था। इस राजा की कहानी पीछे के काल में बाणभट्ट की कादम्बरी में भी ग्रथित हुई।

शूद्रक का व्यक्तित्व इतिहासज्ञों में विवाद का विषय रहा है। राजनैतिक इतिहास का अध्ययन करते हुए हमने ब्राह्मण वंश के अश्वमेध पराक्रम शुंगों से परिचय किया है। मृच्छकटिक के कवि का परिचय भी अश्वमेधी द्विजश्रेष्ठ के रूप में दिया गया है। अमरकोष के टीकाकार क्षीरस्वामी अग्निमित्र को शूद्रक का पर्याय बताते हैं। शुंग गोत्रीय ब्राह्मणों का वेद साम था और शूद्रक द्वारा सामवेद का अध्ययन किया जाना कहा गया है। इधर कालिदास ने अपने परवर्ती कवियों में सोमिल का उल्लेख किया है जिन्हें सूक्तिमुक्तावली में राजशेखर ने रामिल के साथ शूद्रककथा का रचयिता कहा है। कालिदास ने अत्यन्त आदरपूर्वक सोमिल का स्मरण किया है और क्षीरस्वामी के अनुसार अग्निमित्र शूद्रक है, तब कालिदास ने मालविकाग्निमित्र की रचना में वही आदर भाव सोमिल की कथा के नायक के प्रति भी प्रकट किया है। मालविकाग्निमित्र के प्रारंभ में सोमिल की रचना की विद्यमानता में अपनी रचना का आदर होने के संबंध में कालिदास द्वारा जो शंका प्रकट की गयी है, उससे भी यह संकेत प्राप्त होता है कि सोमिल की शूद्रककथा की तथा मालविकाग्निमित्र की कथावस्तु एक ही थी और एक ही ऐतिहासिक पुरुष अग्निमित्र नायक था। यह अभिन्नता इस तथ्य से भी प्रकट होती है कि शूद्रक रचित मृच्छकटिक नाटक के रचयिता का संगीत के प्रति अनुराग पद-पद पद लक्षित होता है और मालविकाग्निमित्र का नायक भी संगीत का परम अनुरागी अंकित किया गया है। अतः यह कहा जा सकता है कि मृच्छकटिक नाटक का रचयिता अश्वमेधी और सामवेद का उद्गाता द्विजश्रेष्ठ शूद्रक अग्निमित्र शुंग से अभिन्न था।

मृच्छकटिक नाटक के प्रारंभ में ही यह बता दिया गया है कि इस का नायक अवन्ति-पुरी का चारुदत्त नाम का सर्थवाह ब्राह्मण है। यह उदार हृदय युवक था और दरिद्र होगया था। परन्तु वसन्त की शोभा के समान गणिका वसन्तसेना उसके गुणों पर मोहित

---

१. वेलंकर : जयदामन् की भूमिका, पृष्ठ १-४०।

थी। उनकी रसकथा इस नाटक में चित्रित की गयी है। यह कथा इस प्रदेश में इस काल में बहुत लोकप्रिय रही है और भास के चारुदत्त के पश्चात् इस कथा पर यह दूसरा नाटक प्राप्त होता है। भास का चारुदत्त इस कथानक को नाटक में ग्रथित करने का पहला प्रयास था और उनके अनेक नाटकों में से एक था। शूद्रक का मृच्छकटिक उनका एकमात्र नाटक है और चरित्रचित्रण, कथा का विकास, कथोपकथन तथा रसनिष्पत्ति की दृष्टि से अत्यन्त उच्च कोटि का है।

शूद्रक ने अपने नाटक में चारुदत्त की प्रेमकथा के साथ एक राज्यक्रान्ति की घटना भी जोड़ दी है जिसमें नायक के मित्र आर्यक ने पालक का राज्य समाप्त कर दिया था। इसके द्वारा नाटककार ने प्रस्तुत युग की राजनैतिक स्थिति का चित्र ही प्रस्तुत किया है। नाटक का नाम मृच्छकटिक इस नाटक की कथावस्तु की उस मिट्टी की गाड़ी पर से रखा गया है, जिससे निर्धन सार्थवाह का पुत्र सुवर्ण की गाड़ी के अभाव में खेलना नहीं चाहता था। इनके मार्ग में अनेक बाधाएँ आती हैं, परन्तु सबके अंत में चारुदत्त और वसन्तसेना का विधिपूर्वक विवाह हो जाता है।

इस नाटक में प्राकृतों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। शौरसेनी, आवंतिका, प्राच्या, मागधी, शकारी, चाण्डाली और टक्की प्राकृतें, जो बहुधा स्वल्पभेद के साथ शौरसेनी और मागधी प्राकृतें हैं, इस नाटक में उपलब्ध होती हैं। इस नाटक के प्राकृत भाषी २५ पात्रों में से १५ शौरसेनी प्राकृत बोलते हैं, ३ शौरसेनी और मागधी मिश्रित बोलते हैं और ७ मागधी बोलते हैं। यह सूचित करता है कि इस नाटक का रचयिता शूद्रक इस प्रदेश का निवासी था जहाँ की शौरसेनी प्राकृत से और उसकी सूक्ष्म विविधताओं से परिचित था। उसकी प्राकृत की ओर प्रवृत्ति, राजमहलों के बाहर से अपनी रचना के पात्रों का चयन तथा उसका लोक-जीवन का समीप का अध्ययन, जिनके कारण उसने जनसाधारण की समस्याओं और प्रवृत्तियों को अपने नाटक का विषय बनाया, इस युग के साहित्य की सजीवता का ही उदाहरण हैं।

शंकु

विक्रमादित्य की विद्वत्परिषद की अनुश्रुति में शंकु का नाम भी उनके नवरत्नों में गिनाया जाता है। परन्तु ज्योतिर्विदाभरण के अतिरिक्त इनका कहीं उल्लेख प्राप्त नहीं होता। ज्योतिष का शंकु यन्त्र इन अनुश्रुत विद्वान के नाम पर है अथवा उसकी आकृति पर से उसका यह नाम पड़ा है, कहा नहीं जा सकता। इस स्थिति में उनके सम्बन्ध में अधिक कुछ कहा नहीं जा सकता। ये विक्रम के समकालीन हों, यह मानने के मार्ग में कुछ बाधा नहीं है[1]।

वेतालभट्ट

वेतालभट्ट का नाम लोककथा के विक्रमादित्य के साथ बहुत लिया जाता है। अनुश्रुति में अग्निवेताल और विक्रम का साथ बहुत प्रसिद्ध है। उज्जैन में अगियावेताल

१. हरिहरनिवास द्विवेदी : भारतीय इतिहास में विक्रम-समस्या, विक्रम स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ ४६।

का स्थान 'अग्निवेताल' का साक्षी रूप है। भट्ट उपाधि यह सूचित करती है कि ये कोई विद्वान थे और विक्रम से इनके घनिष्ट सम्बन्धों की पृष्ठभूमि पर आगे कभी वेतालपच्चीसी के रचयिता ने इन्हें दिव्ययोनि के रूप में लोकरंजन के लिए प्रस्तुत कर दिया। यह खोजना आज सरल नहीं है कि ये विद्वान तांत्रिक थे अथवा यक्षों की परम्परा के आचार्य। इनका अस्तित्व ऐतिहासिक आधार पर सिद्ध होने पर इनके विक्रम से सम्बद्ध होने की अधिक सम्भावना है[1]।

घटखर्पर

घटखर्पर के विषय में इसके अतिरिक्त कि इन्हें विक्रम की सभा का रत्न कहा गया है, अधिक ज्ञात नहीं है। एक विद्वान का अनुमान है कि 'खर्पर' का अर्थ है जस्ता और घटखर्पर विक्रमादित्य के वे वैज्ञानिक थे जो इस धातु के प्रयोग में दक्ष थे[2]। कुछ विद्वानों के मत से घटखर्पर एक जाति थी जो संभवत: मिट्टी के घड़े बनाती थी। आज की 'खापर्डे' जाति को इन घटखर्पर की उत्तरपरम्परा माना गया है। जो हो, हरिषेण की प्रशस्ति में एक खरपरिक जाति का उल्लेख हुआ है[3] और घटखर्पर नाम का एक काव्य भी कालिदास द्वारा विरचित कहा जाता है। परन्तु ये कालिदास कालिदासत्रयी में से कौन थे, यह निश्चित आधार पर नहीं कहा जा सकता और आधार के अभाव में इनका कालनिर्णय नहीं किया जा सकता। सम्भव है ये कालिदास की विद्वत्परिषद में उपस्थित रहे हों[4]।

वराहमिहिर

वराहमिहिर के सम्बन्ध में विद्वान निश्चित तिथियाँ बतलाते हैं। इनका समय ५५० ई० निर्धारित किया गया है, परन्तु यह कालनिर्णय भी अन्तिम नहीं है। ये उज्जयिनी के निवासी थे, इसमें सन्देह नहीं है। जब तक यह प्रमाणित करने के लिए दृढ़ आधार प्राप्त नहीं होता कि ये विद्वान विक्रमादित्य के समसामयिक थे, तब तक वराहमिहिर के सम्बन्ध में प्रस्तुत अध्याय में कुछ नहीं कहा जा सकता[5]।

क्षपणक

विक्रम के नवरत्नों में एक नाम क्षपणक बताया जाता है। वस्तुत: किसी आचार्य या विद्वान का नाम क्षपणक नहीं हो सकता। प्रतीत यह होता है कि यह नाम विक्रम की सभा के किसी जैन विद्वान को ज्योतिर्विदाभरण के काल में साम्प्रदायिक वृत्ति से दिया गया है। जैन अनुश्रुति में सिद्धसेन दिवाकर की उपस्थिति विक्रम की राजसभा में कही जाती है। ये इस धर्म के सुप्रसिद्ध अर्हत हैं। वररुचि पर विचार करते हुए जैसा बताया जा चुका है, ये कात्यायन गोत्रीय थे और संभवत: विक्रम के पुरोहित के पुत्र थे। जिनप्रभ सूरि विर-

---

१. वही।

२. बृजकिशोर चतुर्वेदी : विक्रम के नवरत्न, विक्रम-स्मृति-ग्रन्थ, पृष्ठ २५९।

३. पंक्ति २२।

४. हरिहरनिवास द्विवेदी : भारतीय इतिहास में विक्रम-समस्या, विक्रम-स्मृति-ग्रन्थ, पृष्ठ ४६।

५. वही।

चित विविधतीर्थकल्पतरु में इनके पिता का नाम कात्यायन गोत्रीय गौतम बता गया है और इनकी सम्मति से विक्रमादित्य की शासनपट्टिका लिखे जाने का उल्ले है। इससे प्रतीत होता है कि इन विद्वान का विक्रम की सभा में बहुत सम्मान था। जि क्षपणक कहा जाता है, वे वस्तुतः सिद्धसेन दिवाकर हों, यही संभावना अधिक है।

धन्वन्तरि

अनुश्रुति विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों का उल्लेख करते हुए धन्वन्तरि का न भी उसमें समाविष्ट करती है। चीर-फाड़ तथा दाहकर्म द्वारा चिकित्सा करनेवाले वै का सम्प्रदाय प्राचीन काल में धान्वन्तरीय कहलाता था। इस सम्प्रदाय के मूलप्रवर्त काशीराज दिवोदास थे, जिनका उल्लेख वैदिक युग में किया जा चुका है। कौषीत ब्राह्मण में इनके नैमिषारण्य के सत्र में सम्मिलित होने का उल्लेख है। वहाँ इनने चिकि शास्त्र की चर्चा की थी और यह चर्चा उस युग के चोटी के विद्वानों के बीच हुआ शास्त्र विमर्श था। यहीं शौनकीय शाखा का वैदिक चरण था। शौनक शल्यतंत्र के आच थे, यह पहले उल्लेख किया गया है। यही वैदिक चरण संभवतः जनमेजय के समय में र ऋषिकुल में विकसित हुआ था जिसमें दस हजार अन्तेवासी अध्ययन करते थे। इस ऋषिप में शल्यतंत्र के आचार्य धन्वन्तरि कहलाते रहे होंगे। प्रस्तुत काल की शाकल और नै षारण्य की युद्धग्रस्त स्थिति में इस ऋषिकुल के वेत्रवती के तटों पर हुए स्थानान्तर में धन्वन्तरियों की परम्परा भी मध्यदेश में आई होगी और इन्हीं में से एक शल्यतंत्र आचार्य विक्रमादित्य साहसांक की विद्वत्परिषद को सुशोभित करता होगा। संवत्-प्रवत विक्रमादित्य का अस्तित्व इतिहासज्ञों द्वारा स्वीकृत हुए अभी थोड़ा समय ही व्यत हुआ है और पुरानी विचारधारा के विद्वान अपनी गहरी सीमारेखाओं में से निकलने अधिक हिचकिचाहट का अनुभव करते हैं, अतः इस सम्बन्ध में अन्वेषण भी अ अधिक नहीं हुआ है, परन्तु फिर भी वैक्रम धन्वन्तरि का अस्तित्व केवल काल्पनिक न रह गया है। आज कोषकार अमरसिंह ई० पू० पहली शती में स्थापित हो गया है अ धन्वन्तरिनिर्मित धन्वन्तरिनिघण्टु अमरकोष के रचयिता द्वारा देखे जाने के उल्ले प्राप्त हुए हैं[1]। धन्वन्तरिनिघण्टु की रचना, उस युग में इस प्रकार की प्रवृत्ति के उल्ले न मिलने से, वैदिक धन्वन्तरि द्वारा हुई नहीं मानी जा सकती और प्रो० पी० के० गोडे अनुसार ईसवी ग्यारहवीं शताब्दी के टीकाकार क्षीरस्वामी का यह कथन अमरसिंह ने धन्वन्तरिनिघण्टु देखा था सरलता से अविश्वसनीय नहीं कहा जा सकता ई० पू० पहली शताब्दी में धन्वन्तरि का अस्तित्व इस प्रकार इतिहाससम्मत होने अवस्था में विक्रमादित्य साहसांक के साथ अनुश्रुति का इन्हें सम्बद्ध करने का कथन अधिक दृढ़ हो जाता है और यह उस भारतीय परम्परा के भी विरुद्ध नहीं है जिसमें राज संस्था से वैदिक युग से लेकर मध्यकाल तक सर्वत्र वैद्य सम्बद्ध बताया गया है। इन्द्र साथ अश्विनीकुमार तथा रावण के साथ सुषेण भी प्रसिद्ध हैं। वैद्य राज्य की सात प्रकृति में से एक है और मुद्राराक्षस के अभयदत्त से भी हम परिचित हैं। धन्वन्तरि द्वारा रा

१. अमरकोष, के० जी० ओक का संस्करण, पृष्ठ ६२।

२. धन्वन्तरि, विक्रम वॉल्यूम, पृष्ठ १४१।

उपर्युक्त धन्वन्तरिनिघण्टु, रोगनिदान, वैद्यचिन्तामणि, विद्याप्रकाशचिकित्सा, वैद्यक भास्करोदय, चिकित्सा सार संग्रह[1], औषधप्रयोग, कालज्ञान, चिकित्सा तत्त्वविज्ञान योगदीपिका, धन्वन्तरिपंचक आदि अनेक ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियाँ संग्रहालयों में संचित हैं[2], परन्तु इनमें धन्वन्तरिनिघण्टु के अतिरिक्त सभी पीछे के काल की हैं। ग्रन्थरचना भारतवर्ष में आचार्य परम्परा में होती रही है यह हम वैदिक चरणों के सन्दर्भ में देख चुके हैं और संभवतः इसी कारण पीछे के ग्रन्थ भी धन्वन्तरिकृत कहे गये हैं। इसमें एक लक्ष्य लोकविश्रुत पूर्वाचार्य से अपने ग्रन्थ का संबंध जोड़कर उसका महत्त्व बढ़ाना भी हो सकता है, जिसका अभाव नहीं रहा है। अनेक कालों के अनेक कालिदास सर्वविदित हैं।

मध्यदेश का कालिदास

प्रस्तुत युग के मध्यदेश की अमूल्यनिधि कविकुलगुरु कालिदास हैं। इस देश के विविध स्थानों के प्रति उनकी कृतियों में प्रकट हुए इस कवि के अनुराग के कारण अब यह साधारणतया स्वीकार कर लिया गया है कि यह महाकवि मध्यदेश का था[3]। इसने मेघदूत नाम से एक अद्वितीय काव्य की रचना की है। इसमें एक यक्ष शापग्रस्त होकर रामगिरि (नागपुर के समीप रामटेक) से अपनी प्रियतमा से दूर रहता है और आषाढ़ मास के पहले दिन बादल उठने पर विरह से दुखी हो उस बादल के हाथ अपना प्रेमसंदेश कैलाश पर रहनेवाली अपनी यक्षिणी के पास भेजता है। उसकी सम्पूर्ण श्रद्धा पूर्वमेघ के रूप में रामटेक से प्रारम्भ होती है, वेत्रवती के स्वादुजल से सिंचित दशार्ण प्रदेश की विदिशा नगरी के उपवनों में एवं नीचगिरि (उदयगिरि) की केलिगुहाओं में थकावट मिटाती है, कैलाशपर्वत की यात्रा में मार्ग पर न पड़ते हुए भी महाकाल की उज्जयिनी की ओर मुड़ जाती है, वहाँ मचल जाती है, जिसके विरहार्त प्राण कंठगत हो रहे हैं उस मेघदूत के काव्यनायक यक्ष का विस्मरण-सा कर भूतभावन की सांध्य आरती में दुंदुभियाँ बजाते हुए किसी छत पर रात बिता देती है। इस प्रकार उसके इस अमर काव्य के कुल १३० श्लोकों में से, जिनमें उसे आगे अपने आराध्यदेव शंकर के सुविश्रुत निवास कैलाश-पर्वत पर पहुँचकर अलका की शोभाश्री और अपने काव्य की नायिका की मनोगति का भी वर्णन अभीष्ट है, उसकी मध्यदेश की भूमि के प्रति भक्ति और इसके निवासियों के प्रति उसका स्नेह चम्बल पार करते-करते महामूल्य छन्दों के ५१ रत्न इस पर न्यौछावर कर देने को बाध्य कर देता है। इस कवि की रचनाओं में पौराणिक कथाओं के अतिरिक्त जिनका महत्त्व सार्वदेशिक है, सर्वत्र मध्यदेश दिखाई देता है। इसका मालविकाग्निमित्र विदिशा और दशार्ण की ही कथा कहता है तथा रघुवंश में महाकाल की अवन्ति और अवन्तिनाथ का वर्णन करते हुए उसकी वाणी अत्यन्त प्रगल्भ हो जाती है। कालिदास की रचनाओं में मध्यदेश इतना अधिक व्याप्त है कि अब इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हैं कि

१. विजयगोविंद द्विवेदी : भारतीय इतिहास में धन्वन्तरि, विक्रम-स्मृति-ग्रन्थ, पृष्ठ ३६३ से ७४।

२. गोडे : धन्वन्तरि, विक्रम वॉल्यूम, पृष्ठ १४४-४६।

३. हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि इण्डियन पीपल, खंड ३, पृष्ठ ३०३।

इस देश के निवासियों ने उनकी अमर्त्य रचना उन्हीं की वाणी से निःसृत होती हुई सब पहले सुनी। मध्यदेश का यह कवि ई० पू० पहली शताब्दी में विदिशा के शुंगों और संव प्रवर्त्तक विक्रमादित्य की विद्वत्सभा में विद्यमान था, अनेक शास्त्रों का वह प्रकाण्ड पण्डि था, पाशुपत दर्शन पर उसका अच्युत अधिकार था, वह परम शैव था और शास्त्रों ‍ अध्ययन करने के पश्चात् उसने भारतव्यापी भ्रमण किया था, वह स्नातक ही नहीं थ पतंजलि की भाँति चरक भी था, जो उसके अचूक भौगोलिक ज्ञान से सूचित होता है अं उसके इस शास्त्रज्ञान से एवं पर्यटन के फलस्वरूप उस ज्ञान के परिष्कार से उसकी सह प्रतिभा ने लोकोत्तरता प्राप्त की थी। इसके पश्चात् इस महाकवि ने मालविकाग्निमि विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशाकुन्तल तीन नाटकों की और ऋतुसंहार, मेघदूत, कुमा सम्भव एवं रघुवंश चार काव्यों की रचना की। इस महाकवि के कालिदास नाम के सम्ब में साहित्य में अनेक किंवदंतियां प्रचलित हैं, जिनमें विक्रम की सभा के नवरत्नों से लेव भोज की कनकसभाओं तक में कालिदास नाम के कवि को उपस्थित बताया गया है। इ शंकास्पद सामग्री को छोड़कर इनकी रचनाओं के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर इनके व्यक्तित्व और काल पर अचूक प्रकाश पड़ता है।

कालिदास और विदिशा के शुंग

कालिदास के नाटकों में यह साधारणतया माना जाता है कि मालविकाग्निमि इनकी पहली रचना है। अपने कविजीवन के प्रारम्भिक भाग में इस महाकवि ने इ नाटक की रचना विदिशा के अंतिम शुंग संभवतः देवभूति की विद्वत्सभा में की थी यह इ नाटक के भरतवाक्य से स्पष्ट है, जिसमें कहा गया है कि 'जब तक अग्निमित्र राज्य व तब तक उनकी प्रजा में किसी प्रकार के उपद्रवादि न हों'। इस वाक्य का वर्त्तमानका का क्रियाप्रयोग 'संपत्स्यते' असंदिग्ध सूचना देता है कि मालविकाग्निमित्र नाटक के प्रथ अभिनय के समय सेनापति पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र का वंशज विदिशा में राज्य व रहा है। पुष्यमित्र के वंशज आगे जाकर पुष्यमित्र ही कहलाए थे अर्थात् इस कुल में गो नामों के स्थान पर राज्यपीठ स्थापित करनेवाले पूर्वज के नाम पर अपने को अभिहित कर की प्रथा थी। इस प्रकार प्रतीत यह होता है कि विदिशा की राज्यपीठ पर आसीन कालि दासकालीन शुंग राजा के वंश को अग्निमित्र का सीधा वंशज होने के कारण, और जै राजनैतिक इतिहास का वर्णन करते हुए बताया जा चुका है कि पुष्यमित्र के पुत्रों समानान्तर राज्य उनकी प्रान्तीय राजधानियों में एक साथ स्थापित हुए थे, उनसे अल पहचाने जाने के लिए पुष्यमित्र के स्थान पर अग्निमित्र कहा जाता होगा। अतः य अनिवार्य नहीं है कि मालविकाग्निमित्र पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र के राज्यकाल में अभि नीत हुआ। कालिदास के नाटकों की भरतवाक्य की परम्परा से यह तथ्य अधिक स्प होगा। कालक्रम से उलटे चलकर हम देखते हैं कि अभिज्ञानशाकुन्तल के भरतवाक्य व्यक्त की गयी अभिलाषाओं की पूर्त्ति दुष्यन्त स्वाभाविक रूप से पूजा के पात्र मह मारीच से चाहते हैं, विक्रमोर्वशीयम् का पुरूरवा सहजपूज्य देवर्षि नारद से अपनी मंग कामना की पूर्त्ति चाहता है और मालविकाग्निमित्र का अग्निमित्र धारिणीदेवी से भरत वाक्य में व्यक्त किये गये आशीर्वाद की पूर्त्ति चाहता है। निश्चय ही यह नाटक उस

सामने अभिनीत हुआ जिसके लिए धारिणीदेवी उस वंशपरंपरा की प्रसवित्री होने के कारण देवर्षि नारद और काश्यप मारीच के समान ही पूज्य थी, नकि अग्निमित्र के सामने। इतिहास के कालक्रम को देखते हुए यह शुंग वंश का देवभूति होना चाहिए जो ई० पू० ७३ में वर्त्तमान था। विक्रमोर्वशीयम् के पाँचवें अंक में भरतवाक्य के समीप आते हुए पुरूरवा को किसी युद्ध की आशंका के कारण वैराग्य लेने से रोका गया है और संभवतः यह अग्निमित्र की उत्तरवय की भावनाओं की ओर संकेत है, जिन्हें पश्चिम की ओर से किसी आक्रमण की आशंका ने पूरा नहीं होने दिया। इसके पश्चात् २३ वें श्लोक में राजकुमार आयु के युवराजपद पर अभिषेक की कहानी है और उसके सिलसिले में कवि संकेत करता है अग्निमित्र के पुत्र वसुमित्र के सैनापत्य पर अभिषेक की। शुंग वंश का संस्थापक पुष्यमित्र अपने विस्तृत साम्राज्य के होते हुए भी सेनापति ही कहलाते थे, यह पहले राजनैतिक इतिहास का वर्णन करते हुए बताया जा चुका है और मालविकाग्निमित्र में यह उल्लेख आया है कि वसुमित्र अपने पितामह सेनापति पुष्यमित्र के राज्यकाल में ही माध्यमिका (चितौड़ के पास वर्त्तमान नगरी) में होनेवाले अश्वमेध के अश्व की रक्षा पर नियुक्त था। उसकी कमान में यूनानियों को पराभव देने में समर्थ महान सेना थी और यदि उन विद्वानों की परम्परा को ग्रहण किया जाए, जो इस परम शिवभागवत के स्कन्द एवं कुमार आदि के उल्लेखों में से गुप्त सम्राटों के परिवार के नामों की जबरदस्ती प्रसूति कराते हैं, तो निश्चय ही यह महासेन संकेत वसुमित्र शुंग के लिए है। इन उदीर्णधन्वा सेनापति के भावी सेनापति पुत्रों का यौवराज्यश्री से भिन्न सैनापत्य पर अभिषिक्त होना ही प्रकृत है, कारण कि ये संभवतः सेना को अपने सीधे नियन्त्रण में रखते थे तथा इसी अनुक्रम में सेनापति पुष्यमित्र के राज्यकाल में अग्निमित्र सैनापत्य पर अभिषिक्त रहा होगा और पुष्यमित्र के स्वर्गारोहण के पश्चात् महान सेना के साथ आततायी यूनानियों के दर्प का दलन करनेवाले वसुमित्र के सैनापत्य पर अभिषिक्त होने का उपर्युक्त श्लोक में संकेत किया गया है। प्रतीत यह होता है कि इस नाटक का प्रथमाभिनय विदिशा में न हो सका। उज्जयिनी में विक्रमादित्य की सभा में यह पहली बार अभिनीत हुआ और वहीं इसका नामकरण किया गया जहाँ यह आधार लेकर कि इस नाटक में पुरूरवा ने अपने विक्रम के द्वारा उर्वशी को प्राप्त किया है, इस नाटक से किंचित् प्रयासपूर्वक विक्रम का नाम सबद्ध कर दिया गया। वर्णित विषय की अगुरुता को देखते हुए अनुमान यह भी किया जा सकता है कि शुंग विद्वत्परिषद में ही इस राजकवि ने ऋतुसंहार की भी रचना की और यहीं वह महाभाष्यकार एवं योगसूत्रों के रचयिता पतंजलि की तथा शुंग काल के अन्य विद्वानों और साहित्यकारों की परंपरा के संपर्क में आया। सांस्कृतिक दृष्टि से विदिशा में शुंगों की राजसभा अद्वितीय थी। उससे महाभारत, वाल्मीकि रामायण एवं मनुस्मृति के प्रतिसंस्कारकर्त्ताओं का घनिष्ट संबंध था। शुंगों के अश्वमेधों में भगवान भाष्यकार जैसे मनीषी यजन कराते थे, यूनानी शासक टिमित्र होता बनते थे और मेगास्थनीज की उच्च बौद्धिक परम्परा में यूनानी राजदूत दियस का पुत्र भागवत हेलियोदोर भी अपने राष्ट्र की उन्नत संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता था। इन तथ्यों का उल्लेख राजनैतिक इतिहास का निरूपण करते हुए किया गया है। मालविकाग्निमित्र के वर्णन से यह भी

प्रकट होता है कि गीत-वाद्य-नृत्य से सांगोपांग संगीत तथा सूक्ष्मसमीक्षित चित्रांकन आ
ललितकलाओं के पारग कलावंत इन शुंग शासकों के काल में विदिशा के वातावरण व
सांस्कृतिक समृद्धि प्रदान कर रहे थे। अपनी सहजात प्रतिभा और तत्कालीन संपूर्ण शास्त्र
के अगाध पांडित्य की पृष्ठभूमि पर इस महाकवि के काव्यकौशल ने यहाँ वह पूर्णता ए
लोकोत्तरता प्राप्त की जिससे आगे चलकर राजशेखर[1] के अनुसार उसने उज्जयिन
की काव्यकार परीक्षा उत्तीर्ण की।

कालिदास और विक्रमादित्य साहसांक

विदिशा के शुंगों के पश्चात् उज्जयिनी में शकारि विक्रमादित्य का उद्भव हुआ
इस काल के देश के अद्वितीय विद्वानों और कलाकारों ने उसकी सभा को अलंकृत किय
था और इस प्रौढ़ कवि ने वहाँ पहुँचकर अपने अभिज्ञानशाकुंतल की रचना कर
राजशेखर की उल्लिखित काव्यकार परीक्षा में यश प्राप्त किया। स्व० श्री जयशंक
प्रसाद ने कम से कम नाटककार कालिदास को संवत्-प्रवर्त्तक गणमुख्य विक्रमादित्य व
काल में वर्त्तमान माना है। उनने इस समस्या का अत्यन्त सूक्ष्म अन्वीक्षण किया है औ
इतिहास के विद्वानों की खींचतान के बीच उनकी स्थापनाएँ सबसे अधिक पुष्ट हैं। इ
मनीषी ने लिखा है कि अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक की एक प्रति अगहन सुदी ५
संवत् १६९९ वि० की लिखी काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पं
केशवप्रसाद मिश्र के पास सुरक्षित है जिसमें नांदी के पश्चात् सूत्रधार नटी से कहता
'आर्ये, रसभावविशेषदीक्षागुरोः विक्रमादित्यस्य साहसांकस्याभिरूपभूयिष्ठेयं परिषत्'[2]
अर्थात् जिस परिषद में इस नाटक का प्रथमाभिनय हुआ, वह साहसांक विरुद धारण
करनेवाले विक्रमादित्य की परिषद थी। यहाँ यह स्मरणीय है कि शकारि विक्रमादित
का व्यक्तिनाम विक्रमादित्य था और साहसांक उसकी उपाधि थी। उसी प्रकार इ
प्रति में उल्लेख है। प्रसादजी के इस मत की पुष्टि करते हुए डॉ० राजबली पाण्डेय
काव्यकार और नाटककार कालिदास को इसी विक्रमादित्य का समकालीन माना है[3]
प्रचलित मुद्रित प्रतियों में भी उपर्युक्त पाठ से मुख्य अंतर यही है कि उनमें केवर
साहसांक विरुद नहीं है। परन्तु इससे भी इस नाटक का रचयिता विक्रम-संवत् व
प्रवर्त्तक विक्रमादित्य नामक गणप्रमुख से भिन्न पीछे से इस विरुद को धारण करनेवा
गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त से संबद्ध नहीं माना जा सकता। उनका विक्रमादित्य विरुद थ
और उनका उल्लेख, जहाँ छन्द आदि की बाधा नहीं थी, ऐसे गद्य के वाक्य में इस प्रका
बिना सम्राट या किसी भारीभरकम उपाधि के उनके राजकवि द्वार नहीं किया ज
सकता था। उन्हें अपनी लम्बी-लम्बी प्रशस्तियाँ लिखाने का बड़ा शौक था, जो आ

---

१. काव्यमीमांसा (गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज), पृष्ठ ५५।२०।

२. जयशंकर प्रसाद: स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य की भूमिका, पृष्ठ १४ से २८ तथा हरिहरनिवास द्विवेदी: भारतीय इतिहास में विक्रम समस्या, विक्रम स्मृति-ग्रंथ, पृष्ठ ४३-४४।

३. डॉ० राजबली पाण्डेय: विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता, विक्रम-स्मृति-ग्रंथ पृष्ठ ५८।

के अध्याय में प्रकट होगा। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि विक्रमादित्य नाम का स्पष्ट निर्देश यहाँ है और चन्द्रगुप्त नाम का बिलकुल नहीं है। निश्चय ही यह साहसांक विरुद और सीधासादा साहित्यिक प्रवृत्तियों का सम्मान करने के लिए उपयुक्त 'रस-भावविशेषदीक्षागुरु' विशेषण गणमुख्य संवत्-प्रवर्तक विक्रमादित्य के अनुरूप है और प्रबल साम्राज्यवादी गुप्तों की दम्भी प्रवृत्तियों के प्रतिकूल। अभिज्ञानशाकुन्तल का भरतवाक्य भी इसी मत की असंदिग्ध पुष्टि करता है। वहाँ कहा गया है—

भवतु तव बिडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं भावयेथाः।
'गणशतपरिवर्तै'' रेवमन्योन्यकृत्यै र्नियतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः॥

इसके चिह्नित शब्द उस विक्रमादित्य का संकेत करते हैं जो अनेक गणों के संघ का गणमुख्य है। श्री राहुल सांकृत्यायन ने जिन्हें दृढ़ आधारों पर गणतंत्रव्यवस्था का अन्त करनेवाला कहा है तथा जिन्हें इन विद्वान के मतानुसार शकारि से बढ़कर गणारि की उपाधि दी जा सकती है[1], उन गुप्त सम्राटों का निर्देश इन शब्दों से ग्रहण करना निश्चय ही असम्भव है। प्रकृति के मृदुल चितेरे कालिदास का अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटक मध्यदेश की ही नहीं, केवल भारत की भी नहीं, सम्पूर्ण विश्व की अद्वितीय कलाकृति है, यह सारे संसार के विद्वानों ने मुक्तकंठ से स्वीकार किया है। इसकी निसर्गकन्या शकुन्तला भारतीय कुमारी की कोमल और पुनीत मूर्ति है, भारत की नारी की दुर्व्यवहार सहन करके भी सहज स्नेह का परित्याग न करनेवाली प्रतिनिधि है और वात्सल्य से छलछलाती वीरप्रसू माता है। इस नाटक के सौन्दर्य का, अद्भुत शिल्पकौशल का और अकृत्रिम शैली का निरूपण करना इस ग्रन्थ की सीमा से परे है। बिना अलंकारों से सजी शकुन्तला जिस प्रकार वनौकस चराचरों की आत्मीयता प्राप्त करती है और हस्तिनापुर के सम्राट को आत्मसमर्पण के लिए बाध्य करती है, उसी प्रकार शाकुन्तल के रूप में अनलंकृत नैसर्गिक भाषा में प्रस्फुटित हुई इस कवि की वाणी ने विश्व के काव्यमर्मज्ञों का निर्व्याज स्तवन प्राप्त किया है।

मेघदूत, नीचैर्गिरि और विक्रमादित्य

इस कवि ने मेघदूत की रचना भी संवत्-प्रवर्तक विक्रमादित्य के राज्यकाल में की। उस समय यह विदिशा में नहीं रह रहा था, विशाला उज्जयिनी में उक्त विक्रम की विद्वत्सभा को अपनी सुधावर्षिणी वाणी से संसिक्त कर रहा था और उसके हृदय में वेत्रवती के तटों की रागात्मक स्मृति हरी थी, जहाँ उसका मेघ नीचगिरि की पहाड़ी का परिरंभण करने के लिए उतर पड़ा था और उसका आलिंगन करके यह पहाड़ी प्रौढ़पुष्प कदम्बों के व्याज से पुलकित हो गयी थी। महामहोपाध्याय श्री वासुदेव विष्णु मिराशी ने भेलसा के समीप उदयगिरि की पहाड़ी की इस नीचगिरि से अभिन्नता स्थापित की है, जो वास्तव में सही भी है[2]। श्री भगवतशरण उपाध्याय ने मेघदूत की विदिशा का तथा भेलसा से चार मील पर स्थित पुरातत्त्व के अवशेषों से भरी एक

१. राहुल सांकृत्यायन : यौधेयगण और विक्रम, विक्रम-स्मृति-ग्रन्थ, पृष्ठ २२१।
२. मेघदूत में रामगिरि, विक्रम-स्मृति-ग्रन्थ, पृष्ठ ३५०।

भग्न पहाड़ी का उल्लेख इस सन्दर्भ में किया है[1]। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी नीचगिरि इस उदयगिरि को ही माना है। निश्चय ही यह उदयगिरि मेघदूतकालीन नीचगिरि है, परन्तु गुप्त सम्राटों के निर्माणों से पहले का, ई० पूर्व पहली शती का है, जब उसका नाम नीचगिरि ही प्रसिद्ध था और गुप्तकाल का उदयगिरि नहीं है जब उसकी गुहाएँ कालिदास जैसे शिवभागवत के लिए तीर्थस्थल बन चुकी थीं। उनमें गुप्त काल में गुप्तों के इष्टदेवता विष्णु की शेषशायी एवं खड़ी मूर्तियों का निर्माण हुआ था, उनके आराध्यदेव एवं उनके पराक्रम की अभिव्यक्ति करनेवाले वराह की लोकोत्तर मूर्त्ति उनमें स्थापित हुई थी और नागों के राज्यकाल में तथा गुप्त काल में अनेक शिवविग्रहों की इस पहाड़ी की गुहाओं में प्रतिष्ठा हुई थी[2]। यह असंभव है कि मेघदूत का रचयिता कालिदास यदि गुप्तकाल में वर्त्तमान होता तो इन गुहा-मंदिरों में से विदिशा के नागरों के उद्दाम-यौवन की घोषणा करनेवाले उस परिमल का उद्गार कराता जो वार-वनिताओं के साथ इन नागरों के इन गुहाओं में किये गये रतिकेलि के समय प्रयुक्त हुए गंध-द्रव्यों से उत्पन्न हुआ था[3]। इन गुहाओं का कालिदास के काल में, संवत्-प्रवर्त्तक विक्रमादित्य साहसांक के समय में, उनमें देवताओं की स्थापना होने से पहले, उसने जैसा उल्लेख किया है वैसा ही उपयोग होता था, यह उनमें से एक गुहा का नाम पीछे के काल में भी वीणागुहा प्रसिद्ध रहने से प्रकट है। कालिदास के समय में इन गुहाओं से उपर्युक्त नागरों (छैलों) और पण्यस्त्रियों द्वारा झंकृत वीणाओं के स्वर सौरभ-समीरण के साथ ही उद्दाम-यौवन की प्रवृत्तियों की घोषणा करते रहे थे। वीणा-गुहा नाम में, इन गुहाओं के आराधनास्थल बन जाने के पश्चात्, उसकी केवल स्मृति ही शेष रह गयी है। डॉ० जायसवाल के भगीरथ प्रयास से पूर्व, जब गुप्त सम्राटों से पहले की चार-पाँच शताब्दियों के इतिहास-ज्ञान की गंगा की धारा प्रवाहित नहीं हुई थी, इतिहास के विद्वान गुप्त सम्राटों की लच्छेदार प्रशस्तियों से आकर्षित हुए थे और यह प्रवृत्ति चल पड़ी थी कि मौर्यों के पश्चात् भारतीय संस्कृति में जो भी सर्वश्रेष्ठ है, उसे प्रारंभिक गुप्त काल, गुप्त काल या उत्तर गुप्त काल में स्थापित कर दिया जाए। श्री जायस-वाल द्वारा उपर्युक्त युग को प्रकाश का युग बना देने के पश्चात् भी पूर्वाग्रहों के कारण इस प्रवृत्ति का कुछ विद्वानों ने परित्याग नहीं किया है। परन्तु कालिदास के उपर्युक्त वर्णन के प्रकाश में मेघदूत के रचयिता कालिदास के गुप्तकालीन होने की स्थापना असंभव से भी कुछ आगे है और दृढ़ आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह महाकवि ई० पू० प्रथम शती में वर्तमान विक्रमादित्य साहसांक का समसामयिक था, उसकी विद्वत्परिषद का पारिषद था।

मेघदूत और कालिदास का जीवनक्रम

मेघदूत काव्य का डॉ० वासुदेवशरण ने दार्शनिक दृष्टिकोण से सूक्ष्म अध्ययन

---

१. कालिदास का भारत, भाग १, पृष्ठ १११।

२. हरिहरनिवास द्विवेदी : भारत की मूर्तिकला, पृष्ठ ५१-५७।

३. मेघदूत १।२७।

प्रस्तुत किया है। जहाँ इस द्रष्टा की पशुपति के प्रति आस्था का इस अध्ययन में निरूपण मिलता है, वहाँ उस प्रकाश में कुछ भौतिक संकेत भी प्राप्त होते हैं। मेघदूत की कथा रामगिरि या वर्त्तमान रामटेक से प्रारम्भ होती है। इन विद्वान ने मेघ को कामरूप पुरुष माना है, यक्ष को काम की मूर्त्ति कहा है और मेघ से की गयी कैलाश की यात्रा की या संदेश-वहन करने की प्रार्थना को शिव की आराधना करने का आदेश कहा है। इसे थोड़ा अधिक ठोस रूप में कहा जाए तो यक्ष कालिदास का व्यक्तित्व है, एक वर्ष कैलाशपर्वत से दूर रहने का शाप उनकी शतायु है, जिसके भोग का प्रारम्भ अर्थात् कालिदास का जन्म रामगिरि या रामटेक पर होता है। यहाँ व्यतीत किये गये कुछ मास कालिदास की प्रारम्भिक वय है, जिसमें इस मनीषी के पूर्व वय में किये शास्त्राध्ययन से तथा कैलाशवासी शिव के प्रति भक्तिरूपी गुरुतर विरह से उसके अज्ञान का क्षय होता है, यक्ष दुबला हो जाता है। फिर यह कामरूप पुरुष कालिदास विदिशा आता है। यहाँ यौवन का काल व्यतीत होता है। यदि कालिदास का जीवन उसके मेघदूत में कुछ भी प्रतिबिम्बित हो तो यह उसके पूर्वमेघ के वर्णन से संकेत मिलता है। वहाँ से वह उज्जयिनी के समृद्ध प्रासादों में जाता है। इसे उसने स्वर्ग कहा है और इसके वैभव की, सौन्दर्य की और सरसता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यहाँ विक्रम की परिषद में इस कर्मयोगी मनीषी की संभवतः उत्तर वय आ जाती है, जिसका संकेत संध्या हो जाने में प्राप्त होता है और उसका कामरूप मेघ महाकाल की आराधना में लग जाता है, जब तक उसके नेत्र खुले रहते हैं, लगा रहता है, विश्व में जो कुछ शिव है, सुन्दर है, उसके प्रति उसके निर्निमेष नेत्र सतत जागरूक रहते हैं। उसकी कल्पना यह है कि रात्रि आएगी और अपनी विद्युत्-रूपी ज्योति को लिये यह कामरूप मेघ किसी छत पर कूटस्थ की भाँति सो जाएगा, जहाँ अन्य गगनविहारी पारावत रैनबसेरा करते हैं। और इसके पश्चात् आठ श्लोकों में ही वह हिमालय पर पहुँच जाता है, जहाँ पहुँचने की साध उसके जीवन के क्षण-क्षण में और उसकी रचनाओं के पर्व-पर्व में व्याप्त है। वस्तुतः मेघदूत और अभिज्ञानशाकुंतल कवि की प्रौढ़तम रचनाएँ हैं जिनमें एक में मुख्यतः कवि का जीवनदर्शन और दूसरे में काव्यकौशल अपने चरम रूप में प्रकट हुआ है। विस्तार से कवि के जीवनदर्शन का वर्णन यहाँ अभीष्ट नहीं है। इनके काव्यों और नाटकों में विशेषतः मेघदूत में वह ओतप्रोत है और उनसे अशिव से शिव होने के प्रयास का प्रचुर मार्गदर्शन कविता के कांत संकेतों में प्राप्त होता है।

कुमारसंभव और रघुवंश

कालिदास ने कुमारसंभव और रघुवंश काव्यों की रचना की है। कुमारसंभव के पहले सात सर्ग ही इनके लिखे माने जाते हैं, जिनपर मल्लिनाथ की टीका प्राप्त होती है और रघुवंश का अंतिम छोर भी इस रूप में प्राप्त है कि वह भी अधूरा प्रतीत होता है। कुमारसंभव में तो पार्वती परिणय के पश्चात् देवसेनानी कार्तिकेय के जन्म की कथा

---

१ डॉ० वासुदेवशरण : मेघदूत का अध्ययन—शिव का स्वरूप, कालिदास ग्रंथावली, समीक्षा निबंध, पृष्ठ ७३ तथा मेघदूत—कामरूप पुरुष, विक्रम-स्मृति-ग्रंथ, पृष्ठ २८७।

कहना कवि को अभीष्ट था, जिसमें सात सर्गों में केवल उमापरिणय तक ही कथा आ पाई है। रघुवंश में, जैसा इसके नाम से ही प्रकट है, सूर्यवंश के रघु, अज, रामचंद्र आदि राजाओं के चरित्र का वर्णन कवि को अभीष्ट था। उन्नीसवें सर्ग में अग्निवर्ण नामक सूर्यवंशी राजा का वर्णन है, जो अपनी कामुकता के अतिरेक से राजयक्ष्मा से पीड़ित होकर गर्भवती रानी को छोड़कर मर गया और उसकी रानी बूढ़े मंत्रियों की सहायता से राजकाज चलाती रही। भारतीय काव्यों की और विशेषत: कालिदास की रचनाओं की सर्वत्र मंगलपरिणति ही हुई है। अत: प्रतीत यह होता है कि ये दोनों ही काव्य किसी अज्ञात कारण या दुर्घटना से अधूरे रह गये। यह स्पष्ट है कि जितने ये उपलब्ध हैं उतने पर से ही इनमें प्रस्तुत युग की छाया स्पष्ट उपलब्ध है। राम का अवतार प्रस्तुत काल की दुष्टदलन चरित्रों की माँग की पूर्ति करता है और कुमार अथवा देवसेनापति कार्तिकेय का जन्म भी उसी लोक-कामना की प्रशस्त पूर्ति है।

कालिदास के शब्द, भाषा और शैली

इस महाकवि की भाषा अत्यन्त सरल है और शब्दालंकारों से मुक्त है। इनकी भाषा की अकृत्रिमता और इनके काल में संस्कृत भाषा बोलचाल की भाषा होने की सूचनाएँ इन्हें दृढ़ रूप से प्रस्तुत काल का कवि घोषित करती हैं। पतंजलि के प्रकरण में हमने देखा है कि प्रस्तुत काल में भाषा वैयाकरणों की अनुगामिनी नहीं है, वैयाकरण भाषा का अध्ययन करके उसकी प्रकृति को व्याकरण के नियमों में निरूपित करते हैं। इसी कारण भगवान भाष्यकार को पाणिनि के सूत्रों की व्याख्या करने और साधुता प्रतिपादित करने के अतिरिक्त कुछ नये नियम इष्टियों के नाम से देना पड़े थे। भाषा की यह प्रवृत्ति कालिदास की भाषा में स्पष्ट प्रकट है, जहाँ इनके पाणिनिबाह्य शब्द-प्रयोगों से यह सूचना मिलती है कि अभी शिष्ट समाज में आर्ष प्रयोग प्रचलित थे। जब कालिदास पाणिनि के लौकिक संस्कृत के संबंध में निरूपित नियमों का उल्लंघन करते हैं, तब उपमाओं में इनके द्वारा व्याकरण के नियमों के प्रचुर प्रयोग के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि व्याकरण शास्त्र से ये अनभिज्ञ थे। उनके 'त्रियम्बक', 'प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार', 'संयोजयां विधिवदास' प्रयोग, जो पाणिनि के अनुसार केवल छान्दस् भाषा में ग्राह्य थे, सूचित करते हैं कि अश्वघोष से वे पहले हुए जब शिष्टजन भाषा की शुद्धता में अन्तिम प्रमाण थे और वैयाकरण उनके अनुगामी थे। अश्वघोष की कृतियों में, उनके समय में भाषा वैयाकरण के पीछे चलनेवाली बन जाने से इस प्रकार के प्रयोग उपलब्ध नहीं होते। साधारणतया यह माना जाता है कि जैसा-जैसा समय व्यतीत होता गया, संस्कृत भाषा में कृत्रिमता आती गयी। इस मान्यता के अनुसार अपेक्षाकृत अधिक बनावटी भाषा के प्रबन्ध कम बनावटवाले प्रबन्धों से पीछे के माने जाते हैं। इस क्रम में हरिषेण प्रशस्ति से गिरनार एवं नासिक के ईसवी दूसरी शती के अभिलेख प्राचीनतर हैं और उनमें कम बनावटी भाषा का प्रयोग हुआ है। इन दोनों अभिलेखों की भाषा से भी कम बनावट कालिदास की भाषा में है। अत: इस मान्यता से कालिदास के ई० पू० प्रथम शती में वर्तमान होने का विरोध नहीं है। शब्द प्रयोगों के तारतम्य में उन मतों की भी समीक्षा करली जाए जो विशिष्ट प्रकार के शब्द इस महाकवि के

द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इन्हें गुप्त सम्राटों के काल में रखते हैं। भगवान पतंजलि के योगसूत्रों के शब्द इनकी रचनाओं में मिलते हैं, अतः इन्हें गुप्तकाल का होना चाहिए, यह एक तर्क है। एक तो सूत्रकार योगदर्शन के आविष्कारक नहीं है; उनने पूर्वतः वर्त्तमान योगदर्शन के साहित्य पर से, जो पीछे इन सुरचित एवं सुग्राह्य सूत्रों की लोकप्रियता के कारण लुप्त हो गया, इन सूत्रों की रचना की थी और दूसरे वे अपने काल के महान आचार्य थे, कालिदास के पूर्ववर्त्ती थे और वेत्रवती के तटों पर कालिदास को इस दर्शन का सूक्ष्म ज्ञान कराने के लिए उनकी शिष्यपरंपरा उसके समय में विद्यमान थी। कालिदास ने ये शब्द भगवान पतंजलि के परवर्त्ती अपने समकालीन किसी आचार्य के मुख से ग्रहण किये होंगे। कालिदास की रचनाओं की छाया, श्लोकांश और शब्द अश्वघोष के बुद्धचरित में कुछ निम्न साहित्यिक स्तर पर मिलते हैं, अतः कालिदास को उनसे पीछे होना आवश्यक नहीं है। डॉ० राजबली पाण्डेय ने वह अश्वघोष का अर्थहरण सिद्ध कर दिया है[1]। कालिदास की रचनाओं में यूनानी और हूणों के उल्लेख से और यूनानी ज्योतिष के शब्दों से भी इन्हें गुप्त काल में घसीटा जाता है। कालिदास के काव्यों में हूण आक्रान्ता नहीं हैं, वंक्षु नदी के तटों पर रघु अपनी दिग्विजय में उन्हें वहीं पराजित करते हैं और ई० पू० पहली या दूसरी शती में वे उस प्रदेश के आसपास मौजूद थे[2]। यूनानी ज्योतिष के शब्द उन विद्वानों के साथ, जो सिकंदर के साथ आए थे, सेल्यूकस के समय में संभवतः पाटलिपुत्र में रहे थे, पुष्यमित्र के यज्ञों के होता दिमित्र के साथ विदिशा में आए थे तथा संभवतः भागवत हेलियोदोर के साथ वहीं बस गये थे, भारत में कालिदास से पहले आ चुके थे। उनके प्रचार के लिए इतिहासज्ञ कुछ समय व्यतीत होने की अपेक्षा करते हैं। यहाँ लगभग दो शताब्दियाँ प्राप्त हो जाती हैं। ज्योतिष शास्त्र है, विद्वानों का विषय है, अध्ययन का विषय है और शास्त्रीय विषयों के संचरण के लिए, जहाँ व्यवस्थित अध्ययन एवं शिक्षाव्यवस्था का विकास हो गया हो, शताब्दियाँ अपेक्षित नहीं होतीं। कालिदास ने शास्त्रों का व्यवस्थित अध्ययन किया था और उसे विदिशा में उन्हें सीधे यूनान के विद्वानों से भी अध्ययन का अवसर था। फिर भारत के बेबीलोनिया और चाल्डिया से, जहाँ से यूनान ने ज्योतिष सीखा था, सीधे संबंध पहले से वर्तमान थे[3] और वाल्मीकि रामायण में भी, जिसे गुप्त काल में स्थापित करना संभव नहीं है, लग्न, नक्षत्र आदि का वर्णन है[4]। यह कहा जाता है कि कालिदास की रचनाओं में शकों का उल्लेख नहीं है, इस कारण इन्हें शकारि विक्रमादित्य का समसामयिक न मानकर गुप्त काल का माना जाना चाहिए। यह तर्क इसलिए अग्राह्य है कि अनुल्लेख को प्रमाण मानना ऐतिहासिक तथ्यों के शोध की रीति के विरुद्ध

१. राजबली पाण्डेय : विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता, विक्रम-स्मृति-ग्रन्थ, पृष्ठ ५९-६०।

२. चन्द्रबली पाण्डेय : मुद्राराक्षस का कालनिर्णय, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् २००५, पृष्ठ ८६।

३. प्रो० एस० पी० दीक्षित : भारतीय ज्योतिष का प्राचीन इतिहास, पृष्ठ १५७।

४. वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड १८।९, १५ तथा अयोध्याकाण्ड १५।१।

है तथा यह भी नहीं कहा जा सकता कि विक्रमोर्वशीयम् के पाँचवें अंक में उल्लिखित असुरों का संकेत इन शकों की ओर नहीं है अथवा अभिज्ञानशाकुन्तल के सातवें अंक के असुरों से कवि का तात्पर्य क्रूर शकों से नहीं है। कालिदास की शैली अत्यन्त प्रांजल है; परन्तु वैदिक छन्द का भी उसने प्रयोग किया है और उसकी रचनाओं में गुप्त काल की शब्दालंकारों की प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव है। इस सम्बन्ध में उनके किसी भी गद्य अथवा पद्य की तुलना गुप्त काल के विशाखदत्त अथवा विशाखदेव के मुद्राराक्षस के नान्दी से और भरतवाक्य से की जा सकती है, जहाँ गुप्त काल की कृत्रिम शैली में श्लेष जैसे शब्दालंकार का प्रयोग हुआ है और जिन्हें श्री चन्द्रबली पाण्डेय ने शंका से परे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का राजकवि सिद्ध कर दिया है[1]।

कालिदास और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य

कालिदास को चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन और उनका राजकवि बनाने के लिए कुछ विचित्र तर्कों का आश्रय लिया जाता है। उज्जयिनी का वर्णन इस कवि ने प्रत्यक्षदर्शी की भाँति किया है। उसकी रचनाओं में जैसा स्नेहपूर्ण उज्जयिनी का वर्णन है वैसा पाटलिपुत्र का कहीं प्राप्त नहीं होता। इन कारणों से यह सभी मानते हैं कि इस महाकवि की रचनाओं के अन्तःसाक्ष्य से इसका उज्जयिनी में रहना प्रकट है और यह मानने में हमें अड़चन है कि गुप्तकाल का कालिदास जैसा कवि पाटलिपुत्र में न रहकर प्रान्तीय नगर में रहता हो और इसे अपने प्रश्रयदाता गुप्त सम्राटों की राजधानी से प्रेम न हो। इस परम शैव ने अपने काव्यों में जो स्कन्द एवं कुमार आदि कार्त्तिकेय के नामों का यथास्थल उल्लेख किया है, उनसे स्कन्दगुप्त संकेत प्राप्त करना अत्यन्त विचित्र है। हम इस तोड़-मरोड़ की पद्धति के समर्थक नहीं हैं और इसे कवि की धार्मिक आस्था पर निम्न स्तर का आक्षेप मानते हैं; परन्तु फिर भी इनकी रचनाओं में से अनेक उल्लेखों का संकेत किया जा सकता है जिनसे ये स्कन्दवाची शब्द अग्निमित्र के पुत्र वसुमित्र पर अधिक सार्थकता से लागू हो सकते हैं। एक संकेत हम पहले विक्रमोर्वशीयम् का कर चुके हैं और मेघदूत में (१।६१) जो 'भृगुपतियशोवर्त्म' है, वह ब्राह्मण-श्रेष्ठ पुष्यमित्र के शिवलोक तक पहुँचनेवाले यश के मार्ग का निर्देश है। मेघदूत में ही कुमार स्कन्द को अग्नि से उत्पन्न कहा गया है (१।४१) और इस प्रकार अग्निमित्र से उत्पन्न वसुमित्र शुंग का स्मरण किया गया है, जिसे मालविकाग्निमित्र में बड़ी वत्सलता से कुमार कहा गया है। अग्नि के उत्पादक ऋग्वेद में भृगुओं को कहा गया है, पुष्यमित्र स्पष्ट यहाँ ब्राह्मणश्रेष्ठ भृगु हैं, अतः इस रूप में अपने प्रश्रयदाताओं के दिवंगत पूर्वजों का स्मरण किया गया है, जिनने वैदिक यज्ञों की परंपरा का पुनरुत्थान किया था और कालिदास ने जिसका संभवतः समर्थन किया है[2]। कुछ विद्वानों का मत है कि पुराणों में जो ब्राह्मण वंश में विष्णु के कल्कि अवतार का उल्लेख किया गया है उसका संकेत इन पुष्यमित्र की ओर है। ऐसी स्थिति में यह स्मरण अनुमान से परे नहीं है। इस

१. चन्द्रबली पाण्डेय : मुद्राराक्षस का कालनिर्णय, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् २००५, पृष्ठ ६८।

२. अभिज्ञानशाकुंतल ६।१।

तर्कपरंपरा को यदि आगे बढ़ाया जाए तो कालिदास पुनः उसी कुमार वसुमित्र को, मेघदूत में (१।४७) आदित्य से भी अधिक दीप्तिमान अग्नि अर्थात् अग्निमित्र से उत्पन्न स्कन्द कहते हैं। ऐसी न जाने कितनी ऊहाएं की जा सकती हैं, पर वे स्पष्टतः भ्रष्ट हैं। आश्रयदाता का नामोल्लेख करने की प्रणाली नाटकों में अभिधा की रही है और विशाखदत्त ने चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के लिए उसका प्रयोग भी किया है। कालिदास भी विक्रमादित्य साहसांक का तथा अग्निमित्र का अभिधा से उल्लेख कर चुका था। चन्द्रगुप्त नाम का उच्चारण करने में उसपर कोई रोक नहीं लगी थी। गुप्त सम्राट भी व्यंजना और लक्षणा से सन्तुष्ट होनेवाले नहीं थे। हरिषेण के उदाहरण में उनके राजकवि को भारत की वाणीसाधना के प्रथम कलंक के रूप में स्वयं को एक जीवित 'भट्टारक के चरणों का दास' कहना पड़ता था और उनके प्रश्रय में ग्रथित रचनाओं में अभिधा से नामोल्लेख करना पड़ता था, जैसा विशाखदत्त ने किया है, और रचयिता विशाखदत्त की भाँति शिवोपासक होने की दशा में, नान्दी में यदि शिव का स्तवन किया गया हो तो भरतवाक्य में न केवल वराह का स्तवन किया जाता था, ध्रुवस्वामिनी के उद्धार की कथा भी कहनी होती थी। कहा जाता है कि रघुदिग्विजय गुप्तकालीन भूगोल का वर्णन है, परन्तु उसमें गुप्तकालीन चोल और पल्लव महाशक्तियों का उल्लेख न मिलने से कालिदास को गुप्त काल में नहीं रखा जा सकता। इन्दुमती स्वयंवर का जहाँ तक सम्बन्ध है, हमारा मत है कि उसमें एक पौराणिक घटना को काव्य के रूप में कहा गया है; परन्तु उसमें से भी आश्रयदाता चन्द्रगुप्त ढूंढ़े जाते हैं। कहा जाता है कि इन मगधराज को वहाँ चक्रवर्ती कहा गया है, जो शब्द तत्सम्बन्धी श्लोकों में ढूंढ़े नहीं मिलता और यह कि वे चन्द्रगुप्त होने के कारण उन्हें सबसे पहले मंच पर बिठाया गया है। गुप्त सम्राट यदि कालिदास के सचमुच संरक्षक होते और उनका सम्मान रघुवंश का सक्षम कवि करना चाहता, तो आवश्यक नहीं था कि उसे सबसे पहले स्वयंवर द्वारा प्रत्यादेशित होने के लिए बिठाता। मगध सम्राट का सम्मान कराने की यह अनोखी विधि निकाली गयी है। जो अभिज्ञानशाकुन्तल की कथा को महाभारत की मूल कथा से भिन्न रूप में उससे कई गुनी आकर्षक बना सकती थी, वह प्रतिभा इन मगधप्रतिष्ठ के सम्मान की रक्षा के लिए भी कुछ मार्ग ढूंढ़ सकती थी। यह ऊहा केवल निरर्थक है कि इस प्रकार चन्द्रगुप्त का सम्मान किया गया है। चन्द्रगुप्त के सम्मान में ये श्लोक कहे जाने के तर्क उतनी ही दृढ़ता से पुष्यमित्र पर लागू किये जा सकते हैं, जिसके प्रति उस समय यथार्थतः सम्मान की भावना रही होगी। परन्तु उसकी आवश्यकता नहीं है। यहाँ मगधप्रतिष्ठ के लिए ५ श्लोक कवि ने खर्च किये हैं। उसके पश्चात् सर्वत्र उनका अनुल्लेख है। अवन्ति के नाम का वर्णन स्वयंवर में ६ श्लोक में किया गया है और मेघदूत का उत्तराभिमुख मेघ विदिशा से पश्चिमाभिमुख होकर मार्ग छोड़कर विक्रमादित्य साहसांक की विशाला नगरी की ओर जाता है। उसे अपने इस असम्भव प्रश्रयदाता चन्द्रगुप्त की, पाटलिपुत्र पुरवराधीश्वर की राजनगरी की ओर जाने का मार्ग नहीं सूझता। यह स्पष्ट है कि रघुवंश का यह सब वर्णन गुप्त काल का वर्णन नहीं है, कारण कि इसमें गुप्त काल की पाण्ड्यों की राजधानी मदुरा न लिखकर संवत्-प्रवर्तक विक्रमादित्य के समय की उरग-पुर लिखी गयी है। इधर यावनियों के इनकी रचनाओं में उल्लेख भी इन्हें गुप्त काल से उठाकर उत्तर शुंग काल में ही स्थापित करते हैं।

कुछ प्रतीप अनुमान

यह कहा जाना कि कालिदास ने विष्णु के विविध अवतारों का वर्णन गुप्तकाल मूर्त्तियों को देखकर किया, कलाओं के सुस्थापित अनुक्रम की विडम्बना ही है । न यह कहा जा सकता है कि गुप्तों से पहले उस प्रकार की मूर्त्तियों का निर्माण नहीं हो था और न यह कि कालिदास से पहले जब भी पौराणिक देवताओं के विविध रूपों कल्पना की गयी तब शिल्पी ने उस कल्पना को उत्पन्न करने के लिए पहले से मूर्त्तियाँ तैय रखी थीं । यह अनुमान वैसा ही है जैसा यह कहना कि सूर्य की मूर्त्तियाँ देखकर ऋग् आदि साहित्य में आदित्यों का वर्णन किया गया । यहाँ यह विश्लेषण करने का प्र नहीं है कि मनुष्य की अनुभूति और कल्पना सबसे पहले वाणी में अभिव्यक्ति प्राप्त कर है और स्थूलतर अभिप्रायों में वह उससे पीछे ही व्यक्त होती है । मानव-कल्पना मूर्त्तिकला में अनुवाद काव्य से बहुत पीछे का ठहरता है । कुमारसंभव के शिव-समा के वर्णन की प्रेरणा ध्यानी बुद्ध की मूर्त्ति से ग्रहण की गयी, यह अनुमान किया जाता है परन्तु इससे पहले इस प्रकार की मूर्त्तियाँ सिन्धु के उत्खननों में देख ली जाना चाहि और यह जान लेना भी उपयोगी होगा कि पहले समाधि लगाई गयी होगी तब वे प्राग मूर्त्तिकला के अभिप्राय निर्मित हुए होंगे । एक तर्क यह दिया जाता है कि अश्वघोष रचनाओं में मूर्त्तियों के संकेत कालिदास की रचनाओं से कम मिलते हैं, अतः कालि दास अश्वघोष के पश्चात् गुप्त काल का कवि होना चाहिए । अश्वघोष के सम्प्रदाय अश्वघोष के काल में मूर्त्तिपूजा का प्रवेश हुए एक-दो शताब्दी ही हुई थीं, अतः उन काव्यों में मूर्त्तियों का संकेत कालिदास से कम होना ही चाहिए । प्राग्वैदिक काल ब्राह्मण धर्मों में मूर्त्तियाँ पुजती चली आती थीं । अतः शिवपूजक कालिदास की रचना में उनका प्रचुर संकेत प्राप्त होना स्वाभाविक ही था । गुप्त अभिलेखों और मुद्राओं यदि कालिदास के वाक्य मिलते हैं तो गुप्तों के राजकवियों की नकल की वृत्ति के कार कालिदास को गुप्त काल में घसीटने का कोई प्रसंग नहीं है और मयूरवाहन के उल्लेख कारण भी उसे गुप्त काल में रखना आवश्यक नहीं है । मयूर का लाञ्छन गुप्तों से पह के नाग सिक्कों में ग्रहण कर चुके थे और स्कन्द भारत के लिए ई० पू० प्रथम शती त नया देवता नहीं था ।

क्या कालिदास विलासी जीवन की उपज हैं ?

"कवि की रचनाओं से विदित होता है कि चारों ओर शान्ति और समुन्नति क साम्राज्य था । विलासी जीवन, कला तथा साहित्य की प्रवृत्ति और किसी जाति क सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति की महानता केवल सुरक्षित राज्य में ही सम्भव है औ कालिदास का काल उन्नतिशील और परोपकारी शासन का है"[1] । इसके संदर्भ में यह क देना उचित है कि अमर-साहित्य के निर्माण के लिए राष्ट्र में विलासी जीवन की सुवि धाएँ नहीं, तेजस्वी जीवन अपेक्षित होता है और कालिदास का शृंगार वह शृंगार नहीं जिसकी रचना निस्तेज समाज में हो सके । विलासिता के वातावरण में विरचित ऐसी रचना

१. कालिदास को गुप्त काल में स्थापित करने के पक्ष में दिये गये तर्कों के लि देखिए, श्री भगवतशरण उपाध्याय : कालिदास का भारत, भाग २, पृष्ठ २१२

गिनाना कठिन ही पड़ेगा जिन्होंने कालिदास की रचनाओं की कोटि प्राप्त की हो। फिर प्रस्तुत काल में कालिदास के अतिरिक्त भी शृंगार-रस की प्रचुर रचनाएँ हुई हैं और बहुधा उन राजाओं की विद्वत्परिषदों में हुई हैं, जिनके खड्ग कोषों में कितना विराम ले पाते होंगे यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु उपर्युक्त प्रकार के उल्लेख, जो केवल अनुमान पर आधारित हैं, पूर्वगामी पाश्चात्य विद्वानों द्वारा कालिदास को छठी शती के पीछे के काल में रखने के प्रयास की प्रतिक्रिया में गुप्त सम्राटों की सपरिश्रम लिखाई गयी लच्छेदार प्रशस्तियों से एक पूर्वाग्रह निर्मित होने के पश्चात् किये गये हैं और वस्तुतः कालिदास गणमुख्य विक्रमादित्य साहसांक के समय में वर्त्तमान थे, जिनका उल्लेख उनने अभिज्ञानशाकुन्तल के नान्दी के अन्त में तथा भरतवाक्य में किया है, उससे पहले वे वैदिश शुंगों की सभा में थे और वे विदिशा की नीचगिरि की पहाड़ी पर नागों और गुप्तों द्वारा देवालयों के निर्माण से पहले ई० पू० पहली शती में वर्त्तमान थे; अन्यथा वे इन गुहाओं में मेघदूत में वर्णित वेश्याओं की रतिकेलि न कराते।

विक्रमादित्य साहसांक और कालिदास

ऊपर का विवेचन यह स्पष्ट करता है कि कालिदास को विक्रमादित्य की विद्वत्-परिषद का रत्न घोषित करनेवाली अनुश्रुति लोक-मस्तिष्क की अटूट स्मृति की सूचना देती है, रसभावदीक्षागुरु विक्रमादित्य साहसांक और कविकुलगुरु कालिदास समसामयिक थे। ईसा पूर्व पहली शती में उनकी अमर रचनाओं का मध्यदेश के काव्यरसिकों ने सर्वप्रथम आस्वादन किया था और वे प्रस्तुत युग के समुद्रमन्थन से उद्भूत उन अमर्त्य साहित्यकारों की ही परम्परा में थे, जिनकी कृतियाँ विश्व के साहित्य में अद्वितीय हुई। उनकी अकथनीय प्रतिभा का अनुकरण न हो सका, केवल उनका नाम विविध कालों के महत्त्वाकांक्षी कवियों द्वारा धारण किया गया और पीछे शृंगार तिलक जैसी निम्न कोटि की रचनाओं के कर्त्ता कालिदास भी उत्पन्न हुए; जिससे "कालिदासत्रयी किम्" कहकर तीन तक कालिदास गिने गये। कालिदासों के उल्लेख बहुत प्राप्त होते हैं; परन्तु साहित्य में दूसरा मेघदूत अथवा अनेक गणों के संघराज्य के प्रमुख विक्रमादित्य साहसांक की विद्वत्परिषद में अभिनीत अभिज्ञानशाकुन्तल जैसा दूसरा नाटक आज तक नहीं लिखा जा सका।

सम्राट कवि प्रवरसेन तथा सर्वसेन वाकाटक का कवित्व

वाकाटक सम्राट प्रवरसेन ने मध्यदेश की गणशक्तियों का संगठन कर तथा अपार सैन्य-शक्ति एकत्र कर कुषाणों की विध्वंसक शक्ति को अपने सक्षम खड्ग पर रोकने में ही प्रस्तुत काल में लोकोत्तरता का प्रमाण नहीं दिया, यह आज सर्वमान्य बात है कि सेतुबन्ध और रावणवहो (रावणवध) नामक प्राकृत काव्यों के रचयिता ये ही थे। इससे पूर्व संस्कृत भाषा में विशाल साहित्य निर्मित हुआ था, अनेक महाकाव्य और खण्डकाव्य लिखे गये थे; परन्तु प्राकृत के क्षेत्र में सर्वप्रथम इनके ही प्रबंधकाव्य प्राप्त होते हैं। यह पहले संकेत किया जाचुका है कि मध्यदेश की राष्ट्रीय भावना विष्णु के रामावतार के चरित्र में साकार होती थी और इस प्रदेश के इस सदेह शौर्य ने उपर्युक्त काव्यों की रचना करके

१. मिराशी : कालिदास, पृष्ठ ४२।

प्रस्तुत युग की और इस प्रदेश की भावनाओं को ही व्यक्त किया, जिसकी संपूर्ण प्रवृत्तियाँ संस्कृति के तत्कालीन विध्वंसकों के प्रतिरोध एवं विनाश में संलग्न थीं। कालिदास की काव्यप्रतिभा का विद्वानों की बुद्धि पर पीछे के काल में इतना आतंक छा गया था कि सेतुबंध का टीकाकार कालक्रम भूलकर यह संकेत करता है कि विक्रमादित्य की आज्ञा से इस उत्तम काव्य की रचना कालिदास ने प्रवरसेन के लिए की। इनकी काव्यप्रतिभा गाथा-सप्तशती में संग्रहीत इनकी प्राकृत गाथाओं में भी परिलक्षित होती है। अनेक टीकाकारों ने उस गाथाकोष में सत्रह गाथाएँ इनके द्वारा रचित बताई हैं। वाकाटक सर्वसेन भी, जिसने इस वंश की वत्सगुल्म शाखा की स्थापना की थी, काव्यरसिक और कलाप्रेमी था। अजण्टा के गुहामन्दिर जहाँ इसके चित्रकला प्रेम के कारण ललित अभिप्रायों से अंकित हुए, इसने हरिविजय नामक प्राकृत काव्य की रचना की और इसकी भी चार गाथाएँ गाथासप्तशती में समाविष्ट हुई हैं।

हाल सातवाहन का गाथाकोष

सातवाहन वंश में हाल उपनामवाला और कवियों के प्रति वात्सल्य भाव रखनेवाला राजा ईसवी प्रथम शती में हुआ है। गाथासप्तशती के मंगलाचरण के अनुसार यह शिव का उपासक था। कथासरित्सागर में इस राजा का जितना उल्लेख मिलता है[१], उससे कथा को रोचक बनानेवाले विस्तार को छोड़कर यह ज्ञात होता है कि इसकी राजधानी गोदावरी नदी के तट पर प्रतिष्ठान थी। भृगुकच्छ इसके राज्य के अन्तर्गत था। इसकी राज-सभा में गुणाढ्य और शर्ववर्मा जैसे विद्वान थे। यह राजा साहित्यप्रेमी था और पहले इसका अनुराग प्राकृत के प्रति था तथा पीछे इसने शर्ववर्मा की सहायता से संस्कृत का भी अध्ययन किया। इसकी सभा के पंडित गुणाढ्य ने पैशाची प्राकृत में मध्यदेश में पहले से प्रचलित लोककथाओं को पल्लवित किया। यह विद्वानों का संरक्षण करने में अत्यन्त उदार था।

राजशेखर ने इसके सम्बन्ध में लिखा है कि इसने अपने अन्तःपुर में प्राकृत भाषा का प्रचार करा दिया था[३]। इसकी गणना वह वासुदेव, शूद्रक और साहसांक के साथ करता है जो अपनी सभाओं में विद्वानों को द्रव्यदान करते थे और उनका सम्मान करते थे[४]। अपनी काव्यमीमांसा में इसने अर्थहरण के नटनेपथ्य भेद का निरूपण करते हुए, जिसका अर्थ-हरण किया गया है उस रचना के उदाहरणस्वरूप इसकी एक गाथा उद्धृत की है[५]। वात्स्यायन बाणभट्ट ने हर्षचरित में इस महाकवि द्वारा विरचित गाथासप्तशती को अविनाशी, अग्राम्य तथा विशुद्ध जाति के रत्नों का कोष कहा है[६]। उद्योतन सूरि ने अपनी

१. कथासरित्सागर, कथापीठ लंबक, १, तरंग ६, ७ तथा ८।

२. इस उल्लेख का समर्थन पीटर्सन को बूँदी के पुस्तकालय से प्राप्त हुई गाथा सप्तशती की पुष्पिका से भी होता है।

३. काव्यमीमांसा (गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज), पृष्ठ, ५०।१७।

४. वही, पृष्ठ ५५।७।

५, वही, पृष्ठ ६६।२५ तथा गाथासप्तशती ३।५।

६. डॉ० वासुदेवशरण : हर्षचरित, पृष्ठ ६।

कुवलयमाला में इन्हें पालित्रय (तीन प्राकृतों) अर्थात् शौरसैनी, महाराष्ट्री तथा मागधी का प्रेमी, प्राकृत कवियों का आश्रयदाता, कवि-गोष्ठियों को सुशोभित करनेवाला और ऐसे गाथाकोष का रचयिता कहा है जो कमलाकर के समान रसपिपासु कवि-भ्रमरों के द्वारा निरन्तर पान करने पर भी क्षीण नहीं हुआ। प्रसिद्ध कोषकार हेमचन्द्र इनकी गणना विक्रमादित्य, मुंज और भोज के साथ करते हैं।

डॉ० भाण्डारकर आज उपलब्ध गाथासप्तशती को सातवाहनकृत गाथाकोष नहीं मानते, परन्तु श्री मिराशी ने प्रबल प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है[1] कि गाथा-सप्तशती की अंतिम गाथा में एवं उसके टीकाकार पीताम्बर की संस्कृत छाया में उस ग्रन्थ को कोष ही कहा गया है। इनके मतानुसार मूलतः उसका संकलन हाल सातवाहन द्वारा ही हुआ था; परन्तु प्रबन्धकाव्य न होने के कारण उसके मुक्तक बिखरते रहे और उनके स्थान पर प्रक्षिप्त गाथाएँ जुड़ती रहीं। यही कारण है कि उसमें परवर्त्ती काल के वाकाटक सम्राट प्रवरसेन तथा सर्वसेन द्वारा निर्मित अनेक गाथाएँ भी समाविष्ट हुई। मूलतः भी सातवाहन का गाथाकोष केवल इसकी ही गाथाओं का संग्रह नहीं था, उसमें उसके समसामयिक गुणाढ्य आदि की भी गाथाएँ थीं, जो आज भी उपलब्ध हैं और पूर्वकालिक श्रृंगार-रस की पालियाँ भी संग्रहीत रही होंगी। विद्वानों ने इसमें ४३२ गाथाओं के अतिरिक्त, जो सभी प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों में समान हैं, अन्य को पीछे के काल की और प्रक्षिप्त माना है। जब इस परम्परा में आज अमरुशतक, आर्यासप्तशती आदि ग्रन्थों का निर्माण हुआ, पूर्व सामग्री को ही अधिक व्यवस्थित करने की प्रवृत्ति चली और कोष शब्द अभिधान ग्रन्थों के लिए अधिक प्रयुक्त होने लगा, तब हाल सातवाहन के गाथाकोष का नाम भी सप्तशती पड़ गया। गाथासप्तशती श्रृंगार-रस के मौलिक मुक्तकों का संग्रह है, उसमें सद्यःजानना है और तत्कालीन साधारण समाज का चित्र शूद्रक के मृच्छकटिक के समान ही अधिक स्पष्ट है। प्रस्तुत काल के साहित्य की गौरवशाली परंपरा इस गाथाकोष में भी दिखाई देती है और हम देखते हैं कि केवल संस्कृत में ही पीछे के काल में इसके छन्दों का भाषान्तर करके कविगणों ने अपने आप को कृतार्थ नहीं माना, मुक्तक श्रृंगार के रचयिता बिहारी जैसे हिन्दी के कवि भी इसकी रसपेशल सामग्री का नटनेपथ्य के प्रकार का अर्थहरण करके महाकवियों में गिने गये।

गुणाढ्य

पैशाची भाषा में रचित "वड्ढो कहा" नाम से अद्भुत कथाकोष के रचयिता के रूप में गुणाढ्य की प्रसिद्धि है और सोमदेव शर्मा ने कथासरित्सागर के तथा क्षेमेन्द्र ने बृहत्कथामंजरी के रूप में उसका कुछ रूप सुरक्षित किया है। बृहत्कथाश्लोकसंग्रह नाम से इसका एक और संस्कृत संस्करण भी प्राप्त होता है। उसकी मूल कथा संभवतः संस्कृत की ओर बढ़ी प्रवृत्ति में पीछे के काल में अपने विशाल कलेवर के कारण डूब गयी। इसकी कथाएँ संभवतः उन लोककथाओं की उत्तराधिकारिणी थीं जो जातकों में संग्रहीत मिलती हैं, जिनमें जनजीवन की धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सभी प्रवृत्तियाँ प्रतिबिम्बित हैं और जिनमें मानव कुतूहल की तृप्ति करनेवाली परीकथाओं से लेकर तत्त्वज्ञान के

१. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, दिसंबर १९४७, खण्ड २३, पृष्ठ ३००-१०।

दृष्टान्त तक प्राप्त होते हैं। कथासरित्सागर से जो वृतान्त उपलब्ध होता है, उससे भी यही प्रकट है कि गुणाढ्य ने इन कथाओं को विन्ध्य की अटवियों में एक काणभूति से सुना था और फिर अपनी सरस शैली में उनका ग्रथन किया था, जिसके कारण जब वह निराशा में इसके एक-एक पत्र का वन में पाठ करते हुए उसे आग में जला रहा था तब वनचर जीवजन्तु भी ऐसी रसनिलय कथा के नाश से आँसू बहा रहे थे, जन-जन में करुणा व्याप्त हो गयी थी। बाणभट्ट ने जिस प्रकार अपने जीवन के सम्बन्ध में सूचनाएँ हर्षचरित के प्रारम्भ में दी हैं, उसी प्रकार वाणी के इस वरदपुत्र ने भी संभवतः अपनी बृहत्कथा के प्रारम्भ में लोककुतूहल की तृप्ति करनेवाली अपनी चमत्कारिक शैली में अपना सूक्ष्म जीवनवृत्त दिया है। उसके अनुसार शंकर का उपासक गुणाढ्य प्रतिष्ठान के सुप्रतिष्ठ नगर में उत्पन्न हुआ था। यह मालवगण में से एक था और नाग अर्थात् ब्राह्मण था। इसके मातामह का नाम सोमशर्मा था और उनके वत्स एवं गुल्मक नाम के दो पुत्र तथा श्रुतार्था नाम की एक कन्या थी। सोमशर्मा और इन बालकों की माता का स्वर्गवास होने के पश्चात् अनाथ भाइयों ने बहिन का पालन किया। श्रुतार्था ने वयस्क होकर कीर्त्तिसेन नामक नाग से गांधर्व विवाह किया। श्रुतार्था गर्भवती हुई और विवाह का भेद न जानने के कारण भाई चिंतित हुए। श्रुतार्था ने अपने गांधर्व विवाह की बात बताई और कहा कि यह गर्भ नाग का है, अतः ब्राह्मण का है, इसलिए तुम्हें चिंता करने का कारण नहीं है। कीर्त्तिसेन नाग ने आकर श्रुतार्था की बात का समर्थन किया और बताया कि उन दोनों का गांधर्व-विवाह हुआ है। गुणाढ्य ने जन्म लिया और इसके बाल्यकाल में ही माता-पिता और दोनों मामाओं की मृत्यु से यह अनाथ हो गया। बचपन में ही यह विद्या-प्राप्ति के लिए दक्षिण देश गया। विद्याध्ययन करके जब यह शिव का गण अपने सुप्रतिष्ठ नगर में लौटा तब उसने देखा कि उसके नगर के उद्गाता सामगान कर रहे हैं, वैदिक विषयों पर शास्त्रार्थ हो रहे हैं, अक्ष-क्रीड़ा हो रही है तथा ब्राह्मण और वैश्य वाणिज्य में लगे हैं। यह सब देखता हुआ वह प्रतिष्ठान नगर में पहुँचा तब शर्ववर्मा आदि विद्वान मंत्रियों के बीच बैठा सातवाहन उसे ऐसा दिखा मानो देवताओं के बीच इन्द्र बैठा हो। गुणाढ्य के स्वस्ति-वाचन के पश्चात् राजा ने इसे सादर बैठाया और शर्ववर्मा आदि मंत्रियों ने राजा को इस सर्वविद्याविशारद विद्वान का परिचय दिया। राजा ने इसे मंत्रिपद पर नियुक्त कर दिया। राजकाज देखते हुए तथा शिष्यों को पढ़ाते हुए यह वहीं रहने लगा और इसने विवाह कर लिया।

सातवाहन राजा संस्कृत नहीं जानता था और उसकी एक रानी संस्कृतज्ञ थी। जलक्रीड़ा करते हुए एक प्रसंग पर राजा के संस्कृत भाषा के अज्ञान पर उसने राजा का तिरस्कार किया और राजा ने संस्कृत पढ़ने की इच्छा प्रकट की। शर्ववर्मा ने गुणाढ्य की प्रतिस्पर्धा में उसे छह मास में संस्कृत व्याकरण पढ़ा देने की प्रतिज्ञा की और गुणाढ्य ने उसकी योजना को असम्भव बताकर उसकी पूर्त्ति पर संस्कृत, प्राकृत और देशभाषा तीनों का परित्याग करने की प्रतिज्ञा की। शर्ववर्मा ने कातंत्र व्याकरण की रचना कर सातवाहन को छह मास में ही संस्कृत पढ़ा दी और गुणाढ्य तीनों भाषाओं का परित्याग कर, अर्थात् मौन धारण कर विन्ध्याचल के अंचलों में चले आए। यहाँ विन्ध्यवासिनी के स्थान से

पश्चिम अवन्ति के आसपास पैशाची बोली बोली जाती थी। गुणाढ्य ने पैशाचीभाषियों के बीच रहकर पैशाची सीखली और अपने अद्वितीय ग्रंथ बृहत्कथा की रचना मध्यदेश के प्रांगण में की। उसे इस ग्रंथ की रचना में सात वर्ष लगे थे और उसे इसके ग्रथन में इतना परिश्रम पड़ा था कि वह कहता है कि उसने यह कथा अपने रक्त से लिखी थी। लोककथाओं के संग्रह एवं अध्ययन के लिए उसे गाँव-गाँव भटकना पड़ा होगा, दुरूह मार्गो पर चलना पड़ा होगा, सभी स्तरों के लोगों से अनचाहा संपर्क करना पड़ा होगा और बिखरी हुई इतिहास की सामग्री की भाँति फिर उसने उन कथाओं को एक सूत्र में अनुस्यूत किया होगा। उस कथा को सुन-सुन कर इस प्रदेश के निवासी ऐसे आनन्दमग्न हो जाते थे, मानों उन्हें परम-पद प्राप्त हो गया हो। प्रारम्भ में इस कथा का, प्रस्तुत काल की साहित्यक भाषाओं में रचित न होने के कारण आदर न हुआ; परन्तु पीछे सातवाहन ने गुणाढ्य का सम्मान किया। ज्ञात यह होता है कि इस महान कथारत्नाकर की रचना के पश्चात् गुणाढ्य अधिक दिनों तक जीवित नहीं रहे[1]।

प्रस्तुत युग के अधिकांश साहित्य की संपूर्ण विशेषताएँ गुणाढ्य की बृहत्कथा में भी विद्यमान रही थीं। पीछे के कालों का आख्यायिकाओं से संवद्ध संपूर्ण साहित्य इस नागवंशी मनीषी का ऋणी है। जिन आख्यायिकाकारों ने विश्व के वाङमय में अमर-कीर्ति प्राप्त की, वे विष्णुशर्मा हों, सुबन्धु हों या बल्लाल हों, वे चमत्कारिक कथाओं के रचयिता हों, रसकथाओं को पल्लवित करनेवाले हों अथवा साम्प्रदायिक आख्यानों के रचयिता संत हों, उनकी मंजूषा में इस अनवरत दान करनेवाले के ऊँचा हाथ करके दिये गये कथारत्न प्रथम दृष्टि में ही चमकने लगते हैं। मध्यदेश के इस अमर रचनाकार की कृति ने विविध माध्यमों में प्रवाहित हो-होकर विश्व के सभ्य संसार के आख्यायिका साहित्य को सुदूर अतीत में परिपुष्ट किया है।

संस्कृत भाषा का विकास

संस्कृत प्रस्तुत काल में शिष्टों की बोलचाल की भाषा थी और उसमें विकास हो रहा था। यह पहले उल्लेख किया जा चुका है कि भाषा की इस विकासशीलता के कारण महाभाष्यकार पतंजलि को केवल पाणिनि के सूत्रों का भाष्य करना ही पर्याप्त नहीं हुआ था। अष्टाध्यायीकार के पश्चात् भाषा में हुए विकास का अध्ययन भी भगवान भाष्यकार को प्रस्तुत करना पड़ा था। इस काल में संस्कृत शिष्टसमाज की भाषा थी; परन्तु जन-साधारण भी उसे इसी प्रकार समझ लेता था जिस प्रकार आज खड़ी बोली ग्रामीण क्षेत्रों में समझी जाती है। उसका परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा का रूप प्रस्तुत काल में पश्चिमोत्तर भारत में और मध्यदेश में बोला जानेवाला माना जाता था। संस्कृत के उदीच्य और मध्यदेशीय इन रूपों में कितना अन्तर था, यह पाणिनि के व्याकरण का कातन्त्र व्याकरण से तुलनात्मक अध्ययन करने से जाना जा सकता है, जो क्रमशः पश्चिमोत्तर भारत और मध्यदेश में बोली जानेवाली संस्कृत का रूप प्रस्तुत करते हैं। इससे पहले के काल में संस्कृत के उदीच्य, मध्यदेशीय और प्राच्य तीन रूप थे। प्राच्य देशों में इस युग में संस्कृत का कौन-सा रूप बोला जाता था, इसकी सूचना देने के साधन अवशिष्ट नहीं हैं।

संस्कृत भाषा और उसके साहित्य की इस युग में बहुत उन्नति हुई। वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों आदि की भाषा होने के कारण ब्राह्मण धर्मों के अनुयायी इसे अपनी धर्मभाषा मानते थे, सम्पूर्ण शास्त्रीय ज्ञान के आदान-प्रदान का माध्यम भी यही भाषा थी और धर्मसाधना के प्रकरण में हमने देखा है कि बौद्ध धर्म की महासंघिक शाखा के पिटक भी संस्कृत भाषा में ही थे। ब्राह्मण धर्मों का प्रस्तुत युग में प्रचुर साहित्य निर्मित हुआ था, पहले से चले आरहे उनके गौरव-ग्रन्थों का विस्तार तिगुना-चौगुना तक हो गया था और इस युग में ब्राह्मण शासकों ने आक्रान्ताओं की प्रतिक्रिया में, यह कहा जाए कि उनके रूप में बौद्ध धर्म की प्रतिक्रिया में, जिसकी भाषा इनने प्राकृत मानी होगी, संस्कृत भाषा को राजभाषा बनाया था। उनके शिलालेख संस्कृत भाषा में लिखाए गये और उनसे यह अनुमान किया जाता है कि उनका राजकाज संस्कृत भाषा के माध्यम से चलता होगा। उज्जयिनी का विक्रमादित्य साहसांक इस दिशा में एक डग और आगे बढ़ गया था। राजशेखर के अनुसार उसने अपने अन्तःपुर को ही संस्कृत भाषामय बना दिया था। नागों और वाकाटकों को ब्राह्मणत्व का और ब्राह्मण संस्कृति का अभिमान था, जिसे उनने हिन्दू संस्कृति के रूप में विकसित किया था तथा सम्भवतः वे अपने आपको उसका संरक्षक मानते थे, अतः स्वाभाविक है कि उनने भारतीय संस्कृति की अन्य प्रवृत्तियों की भाँति संस्कृत भाषा को भी प्रोत्साहन दिया। इस प्रकार के धार्मिक और शासकीय स्तर पर चल रहे प्रयास के साथ-साथ प्रस्तुत युग में जिस विशाल साहित्य की रचना की कहानी हम पढ़ चुके हैं उसकी आवश्यकताओं ने भी संस्कृत के मध्यदेशीय स्वरूप को परिष्कृत किया और उसे प्रांजलता एवं अभिव्यक्तिक्षमता प्रदान की।

बौद्धों की महासंघिक शाखा के प्रयास से संस्कृत के इस मध्यदेशीय रूप का उत्तर-पश्चिम भारत में प्रवास हुआ। हमने पहले देखा है कि महासंघिक शाखा का केन्द्र मध्य-देश में ही था और प्रस्तुत युग में उसका साहित्य शक-कुषाण शासन में भारत के पश्चि-मोत्तर में विकसित हुआ। वहाँ पहुँचकर यद्यपि भाषा ने मध्यदेश की शब्दशास्त्रीय विशेष-ताओं का परित्याग किया, परन्तु भाषा की जिस अभिव्यक्तिक्षमता का दर्शन मध्यदेश की रचनाओं में प्राप्त होता है, वह इस प्रवास से उस प्रदेश में अश्वघोषों को उत्पन्न करने में सहायक हुई। इन बौद्ध विद्वानों के साथ काव्यभाषा के मुहाविरे भी वहाँ पहुँचे जिन्हें प्राचीन काल में 'कविसमय' कहा जाता था और आर्यों, यूनानियों एवं शकों के पदनिक्षेप की उस प्रथम सीढ़ी के प्रदेश में अश्वघोष की वाणी मुखर हुई। उसने सौन्दरानन्द और बुद्धचरित नामक महाकाव्यों की रचना की। इन अमर-कृतियों में संस्कृत भाषा के पाणिनिसम्मत सधे हुए रूप के साथ मध्यदेश में विकसित काव्यपरम्परा बिम्बप्रतिबिम्ब प्राप्त होती है। इसी महापंडित ने बौद्ध दर्शन पर कात्यायनीपुत्र के ज्ञानप्रस्थानसूत्र पर विभाषा की रचना की थी। प्रस्तुत काल में बौद्ध धर्म के संस्कृत भाषा में विरचित साहित्य के सम्बन्ध में धर्म-साधना के प्रकरण में कहा जा चुका है। बौद्ध धर्म के अनुयायियों के प्रयास से संस्कृत भाषा ने प्रस्तुत युग में सुदूर चीन और तिब्बत में भी प्रवेश किया। यूनानी और शक शासकों ने भी संस्कृत भाषा को अपनाया। यूनानी शासकों की मुद्राओं पर यूनानी के साथ संस्कृत भाषा के लेख भी रहते थे और शकशासकों की तो राजभाषा ही संस्कृत बनी थी। रुद्रदामन् की जूनागढ़ प्रशस्ति में इन शासकों की संस्कृतपरायणता प्रकट होती है।

प्राकृतों का रूप और विकास

पिछले अध्याय में हमने देखा है कि उस युग में प्रमुख रूप से दो प्राकृतों का लोक में व्यवहार था। मगध के क्षेत्र में अथवा पूर्वोत्तर भारत में मागधी बोली जाती थी और मध्यदेश की भाषा शौरसेनी थी। उस युग की इस शौरसेनी भाषा को ही आज पालि कहा जाता है। प्रस्तुत युग में इन दो मुख्य प्राकृतों से अनेक प्राकृतें विकसित हुईं। ये प्राकृतें विशिष्ट जनपद अथवा जनपदसमूहों में वसनेवालों की उच्चारण आदि की विविधता से अस्तित्व में आई थीं। उनके गठन में सार्वदेशिक संस्कृत भाषा से अन्तर था। बहुधा जो प्राकृतें उपलब्ध साहित्य में पाई जाती हैं, उनमें संस्कृत से यह अंतर उच्चारण का ही अधिक है। फिर भी कुछ शब्द इनमें ऐसे प्राप्त होते हैं जिनका मूल संस्कृत में नहीं है, छायाओं में उनके लिए दूसरे ही शब्दों का प्रयोग हुआ है और जो सीधे प्राकृतों से पीछे की मध्यदेशीया हिन्दी में भी आए हैं। छिविअ से छूकर, छिणालिया से छिनाल, ढक्केहि से ढको, बिसुर से बिसूरना, पोत्थओ से पोथी, गोड़ से गोड़ा (पैर), मग्ग से माँगना, बोल्ल से बोलो, फेल से फेको, बप्प से बाप, पिट्ठ से पीटो, बुडक से बड़ा तथा डुब्ब से डूबना का इस संबंध में उदाहरण दिया जासकता है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि साहित्य में प्राप्त उदाहरण बहुधा प्राकृतों के उस रूप के हैं जो संस्कृत के अधिक समीप था अथवा इन उदाहरणों में संस्कृत को प्राकृतों के रूप में ढाला गया है। साधारण बोलचाल की भाषा में प्रागार्य भाषाओं के अधिक तत्त्व रहे होंगे, उनकी इस प्रकृति के कारण संस्कृत के जहाँ सम्पूर्ण देश में तीन रूपों का ही उल्लेख प्राप्त होता है, प्राकृत के अनेक रूप दिखाई देते हैं और उसका कारण यही है कि ये प्राकृतें जनसाधारण की बोलियाँ थीं और उनमें निर्बाध विकास हुआ था। उनमें विविध नृवंशों की मूल भाषाओं की प्रकृति के भेद रहे होंगे और एक विशेष प्रदेश में इन मूल भाषाओं को बोलनेवालों की न्यूनाधिक संख्या से वह प्रकृति अधिक प्रभावशाली बनती रही होगी। एक प्रदेश में या जनपद में साथ-साथ बसे इन वंशों का अनुपात दूसरे जनपदों से भिन्न होने के कारण उस जनपद की प्राकृत या प्रकृत भाषा में दूसरी प्राकृतों से अन्तर उत्पन्न होना स्वाभाविक था। इन्हीं प्रत्यक्ष अन्तरों के आधार पर शब्दशास्त्र की दृष्टि से अध्ययन करनेवालों ने अलग-अलग प्राकृतों में विभेद किया और पहचान के लिए उन्हें विविध नाम दिये। प्रस्तुत काल के वैयाकरण वररुचि ने चार प्राकृतों का उल्लेख किया है। उसके समय में महाराष्ट्री, मागधी, शौरसेनी और पैशाची प्राकृतें प्रचलित थीं अथवा उसने इनकी प्रकृति का सूक्ष्म अध्ययन किया था। नाटक के क्षेत्र में भरत का नाट्यशास्त्र नैसर्गिकता के प्रवेश का पक्षपाती है और उसमें सभी प्रकार के पात्रों का समावेश होता है, अतः उक्त अध्ययन में प्राकृत के मागधी, आवन्ति, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाह्लीका तथा दाक्षिणात्या ये सात भेद निरूपित हुए हैं[1]। इनमें प्राच्या वस्तुतः अवधी और भोजपुरी जैसा उच्चारणशैली के अन्तर से शूरसेनी का ही रूपान्तर है। यही कारण है कि वररुचि ने उसे अलग से नहीं गिना है। यह प्रादेशिक उच्चारणशैली (लटक या लहजा) साहित्यिक रचनाओं के अनुकूल न होने के कारण नाट्यशास्त्र ने उसका अलग से उल्लेख कर दिया है। आवन्ति का समावेश शौरसेनी में अर्थात्

१. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज) १७।४९।

उसके पैशाची रूप में होता है और बाह्लीका पश्चिमोत्तोर भारत के औदीच्य एवं खसों की बोली थी।

पैशाची अपभ्रंश

इस पैशाची के सम्बन्ध में वररुचि का मत था कि इसकी प्रकृति शौरसेनी है[1], अर्थात् यह शौरसेनी प्राकृत की ही एक अपभ्रंश थी। गुणाढ्य ने इस प्राकृत में अपनी बृहत्कथा की रचना की थी और कथासरित्सागर में यह उल्लेख मिलता है कि इनने यह पैशाची विन्ध्यवासिनी के स्थान के पश्चिम में अवंति के आसपास कहीं भूत-पिशाचों की बातें सुन-सुन कर सीखी थी। दण्डी ने बृहत्कथा की भाषा को भूत-भाषा कहा है[2]। रुद्रट ने इस के पश्चात् इसका उल्लेख काव्यभाषा के रूप में पैशाची नाम से किया है[3]। राजशेखर का वर्णन कथासरित्सागर के कथन का समर्थन करता है और उसका क्षेत्र भी वह निरूपित करता है। वह लिखता है कि अवंति, पारियात्र और दशपुर के लोग भूत-भाषा का प्रयोग करते हैं।

इस पैशाची को कौन लोग बोलते थे? गुणाढ्य के कथन से यह स्पष्ट होता है कि प्रस्तुत युग में यह साहित्यिक भाषा के रूप में मान्य नहीं थी और इसी कारण उसकी बृहत्कथा ने तत्काल सम्मान प्राप्त नहीं किया था, यद्यपि उसमें उस मनीषी की लोकोत्तर प्रतिभा नियोजित हुई थी। गुणाढ्य ने जिन्हें भूत-पिशाच कहा है और जिनसे उसने पैशाची सीखी थी, वे आटव्य वनवासी थे और इस अनुमान की पुष्टि नीलमतपुराण के उस कथन से होती है जिसमें नागों के परंपरागत पुरोहित कश्यप द्वारा नागों को पिशाचों के साथ रहने का शाप दिये जाने का उल्लेख है[4]। समस्त भारत में फैले संस्कारवान नागों को देवों और देवियों के साथ बसना अस्वीकार करने के अपराध में इन आदिम वन्य जातियों के साथ बसना पड़ा था, जो स्वभावत: पिशाच या कच्चा माँस खानेवाले और असंस्कृत थे। इसकी तुलना कश्यप द्वारा भार्गव राम को पृथिवी से निर्वासित करने के उल्लेख से की जा सकती है, जिसके कारण उन्हें दक्षिण भारत को आबाद करना पड़ा था, यद्यपि उनके साथ काश्यप भी वहाँ जाकर बसे थे। इस वर्णन का सारांश यह है कि पैशाची प्राकृत उन लोगों की बोली थी जिनके बीच नागों को जहाँ-तहाँ बसना पड़ा और जिनकी बोली में संस्कृत तत्त्व उन नागों की बोली की अपेक्षा कम थे, जिन्हें देवताओं अथवा आर्यों का संपर्क अपेक्षाकृत अधिक प्राप्त हुआ था। संभवत: मध्यदेश के भीलवाड़े की बोलियाँ प्रस्तुत युग की पैशाची की प्रकृति के ही अवशेष हैं। वररुचि के इस कथन के साथ कि पैशाची की प्रकृति शौरसेनी है, राजशेखर के इस कथन को कि अवंति, पारियात्र एवं दशपुर के लोग भूतभाषा बोलते हैं तथा मार्कण्डेय के इस कथन को कि नागर या सुधरी हुई पैशाची के तीन भेद हैं—कैकेय, शौरसेन और पांचाल—मिलाकर देखने से ज्ञात होता है

१. प्राकृतप्रकाश १०।१-२।

२. काव्यादर्श १।३८।

३. काव्यालंकार २।१२।

४. ग्रियर्सन: पिसाका आदि, पृष्ठ ७१ पर उद्धृत नीलमतपुराण २३।२६२-२७६।

कि पैशाची मध्यदेश की शौरसेनी प्राकृत का वह अपभ्रंश रूप था जो अवंति और मन्द-सौर से लेकर पांचाल तक बोला जाता था। आज यह प्रदेश मालवी और पछाईं हिन्दी का है। नाग गुणाढ्य ने अपनी अकुंठित प्रतिभा द्वारा इस भाषा में बृहत्कथा की रचना की थी और उसके पश्चात् इस भाषा को अपनी सरस्वती का माध्यम बनाने की जीवट वाला व्यक्तित्व इतिहास में बहुत काल तक दुर्लभ रहा।

शौरसेनी प्राकृत

पिछले अध्याय में हमने देखा था कि पालि प्राकृत का विकास कौशाम्बी से अवन्ति के बीच के प्रदेश में हुआ था और इस भाषा में समृद्ध साहित्य का निर्माण उस युग में हुआ था। वररुचि इसे मुख्य प्राकृतों में से मानते हैं। चार प्राकृतों में से मध्यदेश के दक्षिण के प्रदेश में महाराष्ट्री, मगध में मागधी और पश्चिमोत्तर मध्यदेश में पैशाची मानने से भी यही प्रदेश शौरसेनी प्राकृत को प्राप्त होता है। नाटचशास्त्र[1] की प्राच्या, अर्धमागधी, मागधी, वाह्लीकी, अवन्तिजा और दाक्षिणात्या भाषाओं के बीच के वर्तमान बुन्देली के प्रदेश को शूरसेनी प्राकृत का प्रदेश कहा जा सकता है। इस प्राकृत के प्रदेश की और अधिक व्याख्या की जाए तो आज जहाँ मराठी भाषी प्रदेश प्रारंभ होता है वहाँ इस भाषा की दक्षिण सीमा थी, अवंति इसकी पश्चिम सीमा थी, शोण नदी इस परिष्कृत प्राकृत की पूर्व सीमा थी और मृच्छकटिक की साक्षी के अनुसार, जिसमें माथुर से शौरसेनी-मागधी मिश्रित प्राकृत बुलवाई गयी है, साहित्यिक शूरसेनी की उत्तर सीमा मथुरा के प्रदेश के दक्षिण में थी।

इसके पैशाची आदि अपभ्रंश भेदों के साथ, पैशाची को अत्यन्त प्राचीन काल से ही इसका अपभ्रंश माना गया था, वह प्रदेश जिसमें शौरसेनी बोली जाती थी, अत्यन्त विशाल था, लगभग वही जो मध्यदेशीया संस्कृत का था। पीछे के काल में भी जब इस प्रदेश की भाषा को मध्यदेशीया कहा गया, तब संस्कृत के प्राच्य, उदीच्य एवं मध्यदेशीय भेद में से इस मध्यदेशीया संस्कृत के परिष्कृत रूप की ही स्मृति लोकमानस में थी।

विशुद्ध शौरसेनी का साहित्यरचना में प्रस्तुत काल में भी प्रचुर प्रयोग हुआ। हमने देखा है कि शूद्रक के मृच्छकटिक में मुख्यतया इसी प्राकृत का प्रयोग हुआ है। इसकी प्रकृति ही ऐसी थी कि इसमें सरस साहित्य का निर्माण हो सके। प्रस्तुत युग के व्याकरणकार वररुचि ने मागधी और पैशाची दोनों की प्रवृत्ति शौरसेनी मानी है, जिसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि मागधी एवं पैशाची की शब्दरचना में शौरसेनी से अधिक अंतर नहीं था; परन्तु वे इसकी (यदि पीछे के काल के शब्द का प्रयोग करें) अपभ्रंश थीं तथा शौरसेनी की प्रकृति वह संस्कृत मानता है। इससे सूचित होता है कि शौरसेनी एक समृद्ध प्राकृत थी, जो अन्य प्राकृतों की अपेक्षा संस्कृत के अधिक निकट थी और इस कारण अधिक अभिव्यक्तिक्षम थी। पीछे के काल में भी शौरसेनी में तत्सम शब्दों का जो बाहुल्य प्राप्त होता है और वह संस्कृत के अधिक समीप दिखाई देती है, उसका कारण उसकी यह मौलिक प्रकृति ही है। दण्डी के अनुसार प्राकृतों के तद्भव, तत्सम और देशी आदि अनेक भेद हैं। वररुचि

---

१. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज) १७।४९।

के शौरसेनी की प्रकृति संस्कृत मानने से प्रतीत होता है कि दण्डी की तत्सम प्राकृत यह शौरसेनी ही है। भरत के नाट्यशास्त्र में नाटक की (पाठ भेद से काव्य की) रचना शौरसेनी में करने को कहा गया है[1] और विकल्प में कवि को किसी भी 'देशभाषा' का प्रयोग करने की छूट है। ये देशभाषाएँ अपभ्रंश या अन्य अप्रधान प्राकृतें हैं।

महाराष्ट्री

वररुचि की महाराष्ट्री नाट्यशास्त्र की दाक्षिणात्या से अभिन्न है। नाट्यशास्त्र के इस कथन से कि नाटक के यौधेय और नागरक (छैल) पात्रों से दाक्षिणात्या बुलवाना चाहिए यह पता लगता है कि यह शिष्टजनों की प्राकृत थी[2] तथा विद्वानों का यह मत है कि यह शौरसेनी प्राकृत का ही काव्योचित रूप थी। शौरसेनी और महाराष्ट्री के रूप में उस काल में अंतर नगण्य था। इतिहासकारों की मान्यता है कि महाराष्ट्री का उद्भवस्थल अवंति नगरी है।

मागधी और अर्धमागधी

अनेक बार मध्यदेश के शासकों की राजधानी पाटलिपुत्र रही है और पाटलिपुत्र में बैठकर बहुत काल तक भारत पर राज्य किया गया है। इस कारण मध्यदेश ही नहीं, भारतवर्ष की भी मागधी बहुत काल तक राजभाषा रही है। वहाँ के राजमहलों में यह बोली जाती होगी और राजा भी इसी भाषा में अपने भाव व्यक्त करता होगा। राजा के आसपास रहनेवाले लोग, राजपुत्र और राजा के परिचारक अथवा अमात्य जिस भाषा का उपयोग करते होंगे वह शौरसेनी से कुछ दूर और मागधी के कुछ समीप अर्धमागधी प्राकृत रही होगी। यह अनुमान भरत के नाट्यशास्त्र के इस आदेश से भी होता है कि नाटक में इनसे क्रमशः मागधी और अर्धमागधी का प्रयोग कराया जाए[3]। अर्धमागधी संभवतः मथुरामंडल की प्रादेशिक बोली थी जिसका प्रारंभिक रूप मृच्छकटिक के माथुर के कथनों में दिखाई देता है। धनंजय नाटक में मागधी का प्रयोग नीच पात्रों से कराने का संभवतः उस युग में नियम बनाता है जब भारत पर मगध का दबदबा नहीं रहा था और जब इस भाषा की वास्तविक अभिव्यक्तिशक्ति का मूल्यांकन किया गया था[4]। भरत का नाट्यशास्त्र भी मागधी की साहित्यिक भाषा की दृष्टि से इसी अक्षमता का संकेत करता है जब वह साधारणतया नायिका और सखियों के लिए शूरसेनी को अविरोधिनी बताता है[5] तथा सुरंग खोदनेवालों को, सन्धिकारों को, घोड़ों के सईसों को और विपत्ति में पड़ी हुई आत्मरक्षार्थिनी नायिकाओं को मागधी बुलवाने को कहता है[6]। वररुचि के यह कहने में कि पैशाची और मगधी की प्रकृति शौरसेनी है, यह सूचना मिलती है कि

---

१. नाट्यशास्त्र १७।४७।

२. वही, १७।५३।

३. वही, १७।५१।

४. दशरूपक २।९९।

५. नाट्यशास्त्र १७।५२।

६. वही, १७।५७।

मागधी पैशाची की ही भाँति शौरसेन की अपभ्रंश बोली थी। मगध की भाषा वैदिक युग में भी शिष्टसम्मत नहीं मानी जाती थी।

अन्य प्राकृतें और अपभ्रंश

पिछले युग से ही यहाँ नये विदेशियों का आगमन प्रारम्भ हो गया था और यूनानी एवं शक यहाँ आकर बसे थे। ये विजेता अपने से पहले आनेवाले आर्यों के समान ही फिर पराजित भी हुए थे और अपना निजत्व भारत के संस्कृतिसिन्धु में उनने खो दिया था; परन्तु उनने निश्चय ही यहाँ की संस्कृति को प्रभावित किया था और भाषा पर भी उसका प्रभाव पड़ा होगा। अंग्रेजों को हमने हिन्दी बोलते सुना है और उनके बर्वाचियों की हिन्दी के उच्चारण में अन्तर देखा है। यही अन्तर इन यूनानी और शकों ने भारतीय भाषाएँ सीखीं, तब उनमें भी परिलक्षित हुआ होगा। अनुमान यह किया जाता है कि प्रस्तुत युग के यूनानी भागवत हेलियोदोर के गरुड़स्तंभ पर उत्कीर्ण लेख के पाठ की रचना हेलियोदोर ने स्वयं की थी। यही कारण है कि उसकी प्राकृत में शब्दानुक्रम भारतीय वाक्यरचना से बिलकुल भिन्न यूनानी ढंग का है[1]।

स्वर्गीय श्री गुलेरीजी को हेलियोदोर के स्तम्भ-लेख के भाषा की दृष्टि से अध्ययन ने आकर्षित किया था। उनके असामयिक निधन से वह कार्य आगे नहीं बढ़ा। उपलब्ध अभिलेखों का और विशेषतः प्राकृत अभिलेखों का इस दृष्टि से किया गया अध्ययन भाषा के इतिहास की अनेक गुत्थियाँ सुलझाने में सहायक हो सकता है। आज तक इन अभिलेखों का जो अध्ययन हुआ है उसमे अधिक से अधिक राजवंशों का इतिहास प्राप्त हुआ है। उनका भाषा की दृष्टि से किया गया अध्ययन कम मनोरंजक न होगा और सांस्कृतिक इतिहास के अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों को सामने लाएगा। इसी प्रकार का कोई भाषासंकर वह रहा होगा जो वनस्पर के काल में मध्यदेश में उत्पन्न हुआ, जिसे स्व० श्री जायसवाल ने बनाफरी बोली का पूर्व रूप कहा है[2]। नाटचशास्त्र में सम्भवतः इन विदेशियों द्वारा बोली जानेवाली भारतीय बोलियों को, यह बताकर कि इनमें म्लेच्छ शब्दों का भी व्यवहार होता है, म्लेच्छ भाषा कहा गया है[3]। यहाँ नाटच-शास्त्र के एक पाठभेद पर यदि ध्यान दिया जाए, जहाँ 'शबराणां शकादीनां' पढ़ा गया है और जो संभवतः शकों के आगमन के पश्चात् मूल के 'शकारघोषकादीनां' के स्थान पर बदला गया है[4], तो यह अनुमान होता है कि शकों की यह भाषागत विशेषता थी कि वे 'श' का उच्चारण अधिक करते थे। इसी कारण वैसा ही उच्चारण करनेवाले शबरों और काष्ठ-यंत्रोपजीवियों के साथ उनसे नाटक में शकारी बुलवाने का विधान किया गया है[5]। शकार के साथ नाटचशास्त्र आभीर, चण्डाल, द्रमिल, आन्ध्र तथा अन्य वनेचर जातियों की बोलियों

१. स्व० श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी: यूनानी प्राकृत, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् १९७७, पृष्ठ १०९-११३।

२. अन्धकारयुगीन भारत, पृष्ठ ८८।

३. नाटचशास्त्र (गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज) १७।२८।

४. वही, १७।५४।

५. वही, १७।५५।

को विभाषा और हीना कहता है[1]। इससे यह जाना जासकता है कि ये इस काल की साहित्यिक भाषाएँ नहीं थीं। पशुपाल और वनचारी पात्रों के लिए वे आभीरी, शाबरी अथवा द्रामिडी भाषा के प्रयोग का उपदेश करते हैं[2]। ये भी अपभ्रंश बोलियों में से थीं। मृच्छकटिक नाटक में उपर्युक्त प्राकृतों के अतिरिक्त टक्की प्राकृत का भी प्रयोग हुआ है, जो शूरसेनी का ही एक अपभ्रंश रूप थी।

प्राकृतों का युग

भाषा की दृष्टि से यह युग वस्तुतः प्राकृतों का ही युग है। प्राकृतें पिछले युग से ही राजभाषा थीं और उनमें विशाल लोकसाहित्य की रचना हुई थी। शिशुनाग ने मगध में अपना राज्य स्थापित करके राजशेखर के अनुसार अपने अन्तःपुर में ट, ठ, ड, ढ, ष, और क्ष के उच्चारण का निषेध कर दिया था, जो व्यवहार को न रोकते हुए प्राकृत में ही संभव था। इससे प्रतीत होता है कि उन ज्येष्ठ नागों की परिवार की भाषा प्राकृत ही थी और इसके माधुर्य का विकास करने का उनने सायास प्रयत्न किया था। प्रस्तुत युग में भी सातवाहनों ने, यद्यपि उनकी रानियों में संस्कृतभाषिणी भी थीं, अपने अन्तःपुर में प्राकृत का प्रसार किया था और मथुरा के कुविन्द ने भी इसी प्रकार प्राकृत की श्रीवृद्धि की थी[3]। अग्निमित्र शुंग ने अपने मृच्छकटिक में प्राकृतों का और विशेषतः शौरसेनी प्राकृत का अधिकांश पात्रों से भाषण कराया था। हाल सातवाहन ने अपने अमर गाथाकोष की प्राकृत में रचना की थी और गुणाढ्य की अद्वितीय बृहत्कथा ने एक डग और आगे बढ़ाकर पैशाची द्वारा लोकपरक साहित्य की रचना की थी। सम्राट प्रवरसेन वाकाटक ने सेतुबन्ध और रावणवध नाटक की प्राकृत में रचना करके लोकभावनाओं को लोकभाषा में व्यक्त किया था और सर्वसेन ने हरिविजय काव्य प्राकृत में बनाया था, यह भी साहित्य का पर्यवेक्षण करते हुए देखा जाचुका है। इस प्रकार प्रस्तुत युग में लोकभाषाओं में प्रचुर साहित्य का निर्माण हुआ और उनकी अभिव्यक्तिक्षमता में वृद्धि हुई।

नागरी लिपि

शौरसेनी का यह प्रदेश जहाँ संस्कृत की उत्तराधिकारिणी भाषा के निर्माण में अशिथिल पग बढा रहा था, वहाँ लिपि के क्षेत्र में भी हमने देखा है कि उसकी प्रवृत्ति सतत विकास की रही है। पिछले युग में बौद्ध धर्म के साथ ब्राह्मी लिपि एशिया के सुदूर अंचलों में इस प्रदेश से गयी थी। वहाँ उसका उन प्रदेशों में विकास हुआ। मध्यदेश में प्रस्तुत युग में जो सर्वतोमुखी सांस्कृतिक उत्तरण हो रहा था, कला और साहित्य की जो उन्नति हो रही थी, उसमें नागों के यश को चिरजीवी बनानेवाली नागर चित्रशैली, नागर मूर्त्तिशैली तथा नागर स्थापत्यशैली के समान ही नागरी लिपि के पूर्वरूप ने भी भारतीय इतिहास में पदार्पण किया। ब्राह्मी लिपि की विशेषतः 'इ' आदि की मात्राओं के रूप में इस काल में विकास हुआ, हलन्त के चिह्न का प्रयोग हुआ, 'उ' की मात्रा पहले से अधिक स्पष्ट हुई, रेफा भी नागरी के समान पंक्ति से ऊपर रखा गया, 'म' के रूप ने नागरी का सामीप्य

---

१. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज) १७।५०।

२. वही, १७।५६।

३. काव्यमीमांसा (गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज) पृष्ठ ५०।१२-१८।

ग्रहण किया, मात्राओं में तिरछापन आने लगा और 'ढ'की बनावट लगभग देवनागरी के समान बनी। इन सब परिवर्तनों से अधिक इस काल की लिपि को नागरी का प्रारंभिक रूप बतानेवाली विशेषता उसके ऊपर लगी शीर्षरेखा है जो इस काल में प्रारम्भ हुई और जो नागरी लिपि की अपनी विशेषता है। तिब्बतियों के इस कथन का अभिप्राय कि बौद्ध स्थविर पैशाची में अपने ग्रथों को लिखते हैं, यह अर्थ नहीं है कि उनने पैशाची भाषा में बौद्धसाहित्य लिखा[1]। उसका यह अभिप्राय समझने की भूल करने का कारण यह मान्यता है कि क्योंकि काश्मीर निवासी सोमदेव ने बृहत्कथा का अनुवाद किया, अतः गुणाढ्य का पैशाची क्षेत्र भी कहीं आसपास हिमालय में ही होना चाहिए। उपर्युक्त उल्लेख का तात्पर्य यह है कि नागरी के रूप में विकसित हो रही ब्राह्मी लिपि को छोड़कर खरोष्टी लिपि में, जिसे असंस्कारद्योतक होने के कारण पैशाची कहा गया है, बौद्ध ग्रन्थ लिखे गये। इस काल के खरोष्ठी लिपि में लिखे गये प्राचीन ग्रंथ मध्य एशिया में प्राप्त भी हुए हैं। नागरी लिपि से भेद दिखाने के लिए अन्यत्र पीछे के काल में भी मोड़ी लिपि को पैशाची कहा गया है[2]। इस प्रकार प्रस्तुत युग में जहाँ अन्य सांस्कृतिक प्रवृत्तियों में उन्नत परंपराएँ स्थापित हुईं, वहाँ परिष्कृत नागरी लिपि का प्रारंभिक रूप भी इस प्रदेश के नागर हाथों में उभर आया।

१. लाकोते : एसे ऑन बृहत्कथा, पृष्ठ ३७।

२. हरिहरनिवास द्विवेदी, मध्यदेशीय भाषा (ग्वालियरी), पृष्ठ ३६।

राजनैतिक स्थिति और न्यायव्यवस्था

संघबद्ध गणराज्य

प्रस्तुत युग के राजतन्त्र का रूप संघबद्ध गणराज्यों का था। वैदिक युग के अन्त में भारतवर्ष के स्थानीय राजनैतिक एवं सामाजिक संगठनों ने जो शक्ति पुनः प्राप्त की थी और जिसकी रूपरेखा पिछले अध्याय में देखी गयी है, उसका इस युग की परिस्थितियों में चरम उत्कर्ष हुआ। जनपदों के रूप में राजनैतिक इकाइयाँ राष्ट्र पर आए संकट में एक संगठन में बँधीं और उनने यूनानी, शक एवं कुषाण आक्रान्ताओं का सफल प्रतिकार किया। इस काल की जो भी सूचनाएँ प्राप्त होती हैं, उनमें नागों, सातवाहनों, यौधेयों अथवा वाकाटकों का परस्पर संघर्ष हुआ हो, यह ज्ञात नहीं होता और इस युग के मध्यदेश के इन राज्यों के शासन का स्वरूप समझने के लिए राजतन्त्र की पूर्व-परम्परा और इस काल के पश्चात् आनेवाले राज्य के अवशेषों पर एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है।

पूर्वपरम्परा

प्राग्वैदिक युग में हमने "प्रथमजतंत्र" के रूप में गणतन्त्र की पूर्वावस्था का अवलोकन किया था[1]। उसकी पृष्ठभूमि पर वैदिक युग के सार्वभौमों ने अपने साम्राज्यों की स्थापना का प्रयास किया अवश्य था, परन्तु उनका एकतंत्र भारतवर्ष की भूमि पर पनप नहीं सका था। पहले वे इन्द्र के रूप में सदेह देवता बनकर आए थे, फिर उनने अपने आप में वरुण, इन्द्र और असुरों की शक्ति का अनुभव किया था[2]; परन्तु जनशक्ति उससे अधिक प्रबल सिद्ध हुई थी। उसी के परिणामस्वरूप पिछले युग की राज्य-व्यवस्था का निर्माण हुआ था जिसके अधीन आन्तरिक मामलों में स्वायत्त शासन का उपभोग करनेवाले विविध जनसंगठन और जनपद सतेज थे। उस युग के शासक की वरुण, इन्द्र और असुरों की शक्ति का तिरोभाव हुआ था, परन्तु पश्चिम में राजा में दैवी-शक्ति देखनेवाले यूनानियों का प्रादुर्भाव हुआ था, जिनका विजेता सम्राट सिकन्दर अपने आपको दियस का पुत्र कहता था। पराये देशों पर आक्रमण करके साम्राज्य स्थापित करने के लिए राजा में देवत्व की स्थापना आवश्यक थी। उसका प्रभाव भारत की जलवायु में नरम होकर सम्राट अशोक पर पड़ा था और वह केवल 'देवताओं का प्रिय' रह गया था।

---

१. पीछे पृष्ठ ६८।

२. पीछे पृष्ठ १३१।

समकालीन आक्रान्ता और आगामी सम्राट

प्रस्तुत युग के एकतन्त्री साम्राज्यवादी आक्रान्ताओं में भी यह राजा का देवत्व ज्यों का त्यों प्राप्त होता है। शक और कुषाणों के अभिलेख जहाँ मोग, अय तथा अयिलिष को महाराज और राजराज लिखते हैं[1], वहाँ एक अज्ञात कुषाण राजा[2], कनिष्क[3], वाशिष्क[4] और कनिष्क द्वितीय[5] अपने आपको महाराज राजातिराज के साथ ही देवपुत्र भी घोषित करते हैं। जिन्हें स्थानीय जनपदों की गणतान्त्रिक व्यवस्था का विनाश कर उन्हें अपना करद बनाना हो, अपने साम्राज्य स्थापित करने के लिए एकमात्र सैनिक बल का आश्रय हो, उन्हें अपने व्यक्तित्व में यह देवत्व स्थापित करना आवश्यक था। नहपान ने इनसे आगे बढ़कर भट्टारक का नया विरुद आविष्कृत किया था[6] और इतिहास में गणान्तक के रूप में प्रसिद्ध गुप्त सम्राटों ने मानों इन आक्रान्ताओं से ही भट्टारक विरुद के साथ सब राजाओं के उच्छेता की उपाधि धारण की थी[7], और बड़े दम्भ से जनपदों और गणमुख्यों की लम्बी सूची देकर उन्हें समाप्त करने की अथवा करद बनाने की एवं आटविक राजाओं को परिचारक बनाने की बात कही थी, सिंहल आदि द्वीपवासी राजाओं से उपायन में उनकी कन्याएँ ग्रहण करने की दर्पोक्ति की गयी थी[8], जो संभवतः शकों की स्त्रीहरण की परम्परा का अवशेष थी तथा संभवतः उस परम्परा में ही शकों ने गुप्तों से ध्रुवस्वामिनी की माँग की थी। इसके साथ ही एकतन्त्री साम्राज्यवाद का सूचक यह सम्राट का देवत्व उनमें स्थापित हुआ था। वैदिक सार्वभौमों के समान ही उनकी प्रांजल प्रशस्तियों में उन्हें धनद, वरुण, इन्द्र और यम देवता के तुल्य कहा गया है[9]। स्कन्दगुप्त की प्रशस्ति भी उसे कम से कम इन्द्र के समान कहती ही है[10]। कला के अभिप्रायों में और साहित्य में भी इन सम्राटों पर दैवीशक्ति का आरोप हुआ था, यह कहा जाता है कि विशाखदत्त के भरतवाक्य के वराह ये गुप्त सम्राट ही हैं और उदयगिरि गुहामंडप के महावराह में भी प्रतीक रूप से इन्हीं का अंकन हुआ है[11]। इस महावराह ने पृथ्वी अपने लिए उन नागों को अपने पैरोंतले रौंद कर ही प्राप्त की है जिनके गणतन्त्री जनपद प्रस्तुत युग में सम्पूर्ण मध्यदेश में किसी भी आक्रमण का प्रतिरोध तेजस्विता से कर रहे थे। मुद्राराक्षस नाटक, इलाहाबाद के स्तम्भ अभिलेख

---

१. दिनेशचन्द्र सरकार : सिलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, पृष्ठ ११०-१२०।
२. वही, पृष्ठ १३०।
३. वही, पृष्ठ १३६।
४. वही, पृष्ठ १४५।
५. वही, पष्ठ १५०।
६. वही, पृष्ठ १६३।
७. वही, पष्ठ २७८।
८. वही, पृष्ठ २५९।
९. वही, पृष्ठ २५९ तथा २७८।
१०. वही, पृष्ठ ३०९।
११. हरिहरनिवास द्विवेदी : भारत की मूर्त्तिकला, पृष्ठ ६१।

में परिगणित गणप्रमुख नागों के नाम और उदयगिरि के महावराह के पैर के नीचे अंकित गणमुख्य नाग एक ही कहानी कहते हैं। एकतन्त्री शासनपद्धति में होनेवाला मनुष्यता का अपमान इन गुप्त अभिलेखों की लेख्यवस्तुओं के रचयिताओं और उन्हें उत्कीर्ण करानेवाले अधिकारियों के नामोल्लेखों में भी प्रकट है। वे बिना अपवाद के सबके सब इन अपने देवताओं के चरणदास लिखे गये हैं। गुप्त अभिलेखों से यासाहित्य से पहले मनुष्य की दृष्टि किसी मर्त्य की प्रभुता के चरणों में कहीं लुण्ठित नहीं हुई है।

गणमुख्य और गणसंघ

इसके विपरीत जनपदों के गणसंघ के इन गणमुख्यों की प्रशस्तियाँ मनुष्य की वाणी बोलती हैं। न उनमें इन्द्र का देवत्व है, न उनमें सार्वभौमों की वरुण, इन्द्र और असुरों की शक्ति है, न ये देवपुत्र हैं और न अपने उत्तराधिकारी गुप्त सम्राटों के समान धनद, वरुण, इन्द्र एवं अन्तक के ही तुल्य हैं। इनने विरुद धारण न किये हों, ऐसी बात नहीं है; परन्तु इन प्रशस्तियों में सर्वत्र इनकी तुलना उन मर्त्यों से ही की गयी है जो इतिहास के विविध कालों में देश की मर्यादाओं की रक्षा के लिए शस्त्र धारण करने के लिए प्रसिद्ध हुए थे। वे सब मनुष्य हैं। उनमें मानवोचित गुण बखाने गये हैं और उनके अधिकारियों के मनुजत्व का गौरव कहीं भी शासक के चरणों पर नहीं लौटने लगा है। अब तक प्राप्त हुए समस्त अभिलेखों का एक-एक अक्षर खोजने पर भी इसके विपरीत साक्ष्य प्राप्त नहीं होता। यह युग जनशक्ति के उत्कर्ष का था, अतः उसमें इससे विपरीत प्रवृत्ति सम्भव नहीं थी। जिनकी ये प्रशस्तियाँ लिखी गयी हैं वे उस जनता में से ही उठे थे, उसे साथ लेकर चले थे और वाशिष्ठीपुत्र पुलमावि सातवाहन की प्रशस्ति हमें बताती है कि वह पौर एवं जानपदजनों के सुख और दुःख में पूर्ण रूप से समान भागीदार था[1] तथा यौधेयगण का महाराज महासेनापति अपनी ब्राह्मणप्रधान बस्तियों की कुशलता की चिंता करता था[2]। इन समसुखदुःख पौर एवं जानपदजनों के गणमुख्य इस युग के राष्ट्रीय धर्म का निर्वाह करने के लिए, पौर एवं जानपदजन की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए संघबद्ध हुए थे, इसे उनने धर्म कहा था और विन्ध्यशक्ति (द्वितीय) की प्रशस्ति उसे धर्ममहाराज कहती है[3], वाकाटक कुल से प्रस्फुटित पल्लव वंश के सिंहवर्मन् की प्रशस्ति भी इस विरुद को स्मरण रखती है[4] तथा आगे जब गंग वंश स्थापित हुआ तब उस वंश का माधव भी धर्ममहाराजाधिराज ही कहलाया[5]। भागवत के शब्दों में जनपदों का क्षय न हो[6], परिषदों और संघों की व्यवस्थावाले सांस्कृतिक एवं राजनैतिक संगठन सजीव बने रहें, इस हेतु इन शक्तियों ने निरन्तर प्रयास किया था और साहित्य में भी इसकी अत्रुट छाया उपलब्ध होती है। मृच्छकटिक के रचयिता के मत से उज्जयिनी का राजा पालक बलमन्त्रहीन हुआ था, अर्थात् पौरजन की प्रतिनिधि मन्त्रि-

---

१. दिनेशचंद्र सरकार : सिलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, पृष्ठ १९९।
२. फ्लीट : कॉ० इ० इ०, खंड ३, पाठभाग, पृष्ठ २५२।
३. दिनेशचंद्र सरकार : सिलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, पृष्ठ ४०९।
४. वही, पृष्ठ ४४७।
५. वही, पृष्ठ ४५६।
६. भागवत १२।१।४३।

परिषद एवं सेनापति उसके विरुद्ध हो गये थे, अथवा उसने उनकी मर्यादाओं का उल्लंघन किया था तथा उसे उच्छेदित कर उसका स्थान ग्रहण करनेवाले शासक ने असन्तुष्ट हुए पौरजन को सन्तुष्ट किया था[1]। पुष्यमित्र शुंग के प्रकरण में पीछे बताया जा चुका है कि साहित्य का यही उल्लेख वहाँ क्रियात्मक राजनीति में अनूदित हुआ था, वह अपने आपको विदेशी आक्रान्ताओं के विरुद्ध चले युद्ध का आजीवन सेनापति ही कहता रहा था और उसका पुत्र अग्निमित्र कालिदास के शब्दों में इस जनशक्ति की प्रतीक परिषद का पद-पद पर आदर करता ही दिखाई देता है[2]। उसका विक्रमादित्य भी बहुसंख्यक गणों से घिरा हुआ साहसांक विरुद धारण करता है, यह हम साहित्य के प्रकरण में प्रकट कर चुके हैं और भारत के इस राजनैतिक वातावरण में आकर शक क्षत्रप भी बड़ी उखाड़-पछाड़ के पश्चात् कम से कम एक पीढ़ी के लिए इस जनशक्ति से परिचित हुए थे। अपने पिता के उच्छेदन के पश्चात् रुद्रदामन् जनपदवासी समस्त वर्णों द्वारा निर्वाचित हुआ था और उसने अपने अभिषेक के समय शरीर में प्राणों का संचार रहते, अर्थात् आजीवन पुरुष-वध नहीं करूँगा, यह सत्य प्रतिज्ञा की थी[3]। उस समय तक पौर-जानपद-जन इतने सशक्त थे कि इसने इन्हें बलपूर्वक वसूल किये गये कर से अथवा स्वेच्छा से दिये गये कर से पीड़ित करना उचित नहीं समझा था और मौर्यकालीन सुदर्शन झील का पुनर्निर्माण स्वकीय कोष से ही कराया था[4]। जैसा ऊपर बताया गया है, इस काल के मध्यदेश के शासक उस समाज की, उसके जानपदीय आचरणों की और रूढ़ शब्दों में लोक एवं राजधर्म की रक्षा के लिए ही धर्ममहाराज, धर्ममहाराजाधिराज, एकतन्त्री आक्रान्ता क्षत्रियों के दर्प एवं मान का मर्दन करनेवाले, और इन 'शक, यवन एवं पह्लवों का विनाश करनेवाले'[5] विरुद धारण करके उठे थे और उनके शस्त्रों के लक्ष्य निरपवाद रूप से आक्रान्ता ही बने थे।

असाम्प्रदायिक राजधर्म

इन धर्ममहाराजाधिराजों के विरुद का लक्ष्य उस अधर्म वृत्ति का प्रतिकार था, जो रुद्रदामन् के अभिलेख की उस प्रतिज्ञा के भीतर छिपी है, जहाँ उसने शकों की कत्लेआम की पूर्वपरम्परा का यह कहकर रहस्योद्घाटन किया था कि आजीवन पुरुष-वध नहीं करूँगा और जिसका वर्णन पुराण यह कहकर देते हैं कि आक्रान्ता स्त्रियों, बालकों, द्विजों और गायों का वध करते थे, विजितों की स्त्रियाँ एवं धन छीन लेते थे, और प्रजा का ही भक्षण करते थे[6], और इन धर्ममहाराजाधिराजों के तंत्र का रूप साम्प्रदायिक

---

१. मृच्छकटिक १०।४८।

२. मालविकाग्निमित्र १।८ तथा ५।१४ आदि।

३. दिनेशचन्द्र सरकार : सिलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स, रुद्रदामन का जूनागढ़ अभिलेख, पंक्ति ९-१०।

४. वही, पंक्ति १५-१६।

५. वाशिष्ठीपुत्र पुलमावि का कार्ले अभिलेख, पंक्ति ५।

६. भागवत १२।१।४१-४२।

निश्चय ही नहीं था, जो विदेशी आक्रान्ताओं द्वारा वैष्णव या शैव उपासना ग्रहण करने के पश्चात् भी इनके द्वारा उनका सदा प्रतिकार किये जाने से और इनके स्वयं के वैदिक धर्मावलम्बी होते हुए भी बौद्ध एवं जैन सम्प्रदायों को इनके द्वारा दिये गये उन दानों से सूचित होता है जिनका योग किसी भी जैन या बौद्ध सम्राट के इन सम्प्रदायों को दिये गये दानों से कई गुना था।

निर्विवाद संघशासन

इन साहित्यिक एवं अभिलेखों के उल्लेखों को देखते हुए यह तो नहीं कहा जा सकता कि आज जिस राजनीतिशास्त्र का विकास हुआ है, गणतन्त्र एवं गणसंघ की जो सूक्ष्म परिभाषाएँ निर्मित हुई हैं उनकी कसौटी पर इन तपोधन, पौरजानपदजनों के निर्विशेष समसुखदुःख धर्ममहाराजाधिराजों का तन्त्र खरा उतरेगा, परन्तु यह निर्विवाद है कि यह तन्त्र राजवंशों के स्थान पर जानपद एवं पौरजन से उत्पन्न हुआ था, उनके हित एवं मंगल को लेकर इनके प्रयास चले थे, इनकी सत्ता उनकी अनुकूलता पर निर्भर थी और एक विशाल उद्देश्य को लेकर इनने निरपवाद सहयोग किया था। इनके अभिलेख हमारे सामने हैं और जहाँ अनुश्रुतियों के एवं इतिहास के एकतन्त्री सार्वभौम सहोदर बन्धुओं ने राजपद के लिए अक्षोहिणियाँ कटवा दीं, राजमुकुट के लिए अग्रज एवं अनुजों के रक्त से अपने हाथ रँग डाले, इनके उदाहरण में अभिलेखों में ऐसे उल्लेख प्राप्त नहीं होते कि इनके अमोघ अस्त्र एक दूसरे पर उठे हों। एक राज्य की सीमाएँ दूसरे से मिली रहीं और उसका परिणाम यही हुआ कि ये परस्पर स्नेहसंबंधों में दृढ़तर बँधते रहे, एक राज्य से दूसरे राज्य में जानेवाली कन्या उनकी अभिवृद्धि करनेवाली कही गयी, बड़े आदर से एक वंश ने दूसरे का अपने आपको दौहित्र कहा, इन मातामहों, मातुलों, दौहित्रों और भागिनेयों की दुर्धर्ष शक्तियाँ समवेत रूप से देश के शत्रुओं के दाँत गिन-गिनकर तोड़ने में लगीं तथा मध्यदेश के जानपद और पौरजनों की तेजस्विता इन गणपति, चन्द्रांश, अच्युत, मतिल, रुद्रदेव, नागसेन, नन्दी आदि के रक्त की अंतिम बूँद तक शेष रहते आक्रान्ताओं से जूझती रही। इन्हीं प्रवृत्तियों का सूक्ष्म अध्ययन करने के पश्चात् स्व० श्री जायसवाल जी ने नागराज्य को प्रजातंत्री राज्य कहा था[1]। निश्चय ही प्रस्तुत युग में भारत भूमि की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुकूल जनपदों के गणराज्यों का पूर्ण उत्कर्ष हुआ था, समान उद्देश्य के लिए वे एक सूत्र में संघबद्ध हुए थे, उनने पाँच शताब्दियों से अधिक के लम्बे काल तक, जितने समय तक भारतवर्ष में इतने विशाल प्रदेश पर कोई एकतन्त्री राजवंश राज्य नहीं कर सका, इस पावन उद्देश्य की रक्षा की थी और इस व्यवस्था में मध्यदेश ने सर्वतोमुखी उन्नति की थी जैसी सदा उस देश एवं काल में होती है जहाँ आत्मगौरव का अनुभव करनेवाली व्यष्टियाँ सशक्त समष्टि का निर्माण करती हैं और जहाँ संयोजक केन्द्रीय शक्ति अपने घटकों के विकास में ही अपने अस्तित्व की सार्थकता का अनुभव करती है।

गणराज्यों का अन्त–नाग और गरुड़ध्वज

नागवंशियों का बंग से पंजाब तक और मगध से दक्षिण समुद्र तक फैला यह

---

१. अंधकारयुगीन भारत पृष्ठ ११७।

गणसंघ, जिसने यूनानी, शक और कुषाणों की जयेच्छा समाप्त कर दी थी, कैसे समाप्त हुआ और इतनी प्रबल शक्तियों का दमन कर सकनेवाले नागों को गुप्तों का गरुड़-ध्वज कैसे चबा गया, इस प्रश्न का उत्तर इन गण-प्रमुखों की संघशक्ति के सम्भाव्य-क्षय से प्राप्त होता है। भव नाग के पश्चात्, जिसने विद्रोही गुप्तों की लिच्छवियों सहित शक्ति को बंग के अंचलों में जाकर पीटा था, क्रमशः नागों के संघ की केन्द्रीय शक्ति शिथिल हो गयी थी, राज्य के दूरस्थ छोरों के जानपदीय शासक एक दूसरे से सम्भवतः राजनैतिक रूप में भी दूर जा पड़े थे, उन एक-एक की गणशक्ति की अपेक्षा महत्त्वाकांक्षी गुप्तों की उनके भीतर से ही आक्रामक बनकर उठी शक्ति प्रबलतर सिद्ध हुई होगी और उन्हें एक सूत्र में बाँधनेवाली केन्द्रीय शक्ति की शिथिलता से, उसके अवश्यम्भावी परिणाम के रूप में, ये जनपद एक के पश्चात् एक गुप्त साम्राज्य की भेंट हुए होंगे। गणसघ की चिरजीविता के लिए सशक्त गणराज्यों को संघबद्ध रखनेवाली केन्द्रीय सत्ता का सशक्त होना अपरिहार्य आवश्यकता है।

न्यायदान

गणराज्यों की संघीय व्यवस्था के इस युग में मध्यदेश में न्यायदान की अत्यंत विकसित व्यवस्था की सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति इसकी पूर्ण रूपरेखा प्रस्तुत करती हैं तथा मृच्छकटिक न्यायालय की कार्यविधि का नाटकीय वर्णन देता है।

मामलों के पद

आज जिस प्रकार न्यायालय अपराध अथवा सम्पत्ति दो विभागों में बँटे हुए हैं, उस प्रकार प्राचीन काल में नहीं थे। एक ही न्यायालय दोनों प्रकार के मामलों में निर्णय दे देता था। मनु ने सम्पूर्ण मामलों को अठारह भागों में बाँट दिया है:—(१) ऋण, (२) धरोहर, (३) बिना स्वामित्व के कोई माल बेच देना, (४) साझेदारी, (५) दी हुई वस्तु वापस ले लेना, (६) वेतन न देना, (७) ठहरावों का पालन न करना, (८) क्रय-विक्रय में बदल जाना, (९) पशुओं के स्वामी तथा पालकों के बीच विवाद, (१०) सीमा विवाद, (११) मारपीट, (१२) गाली, (१३) चोरी, (१४) साहस, (१५) व्यभिचार, (१६) पति-पत्नी के कर्त्तव्य, (१७) बँटवारा, और (१८) जुआ[1]।

नारद ने इनको एक सौ तीस प्रकारों में विभाजित कर दिया है। इस प्रकार प्रायः सभी साम्पत्तिक एवं अपराध सम्बन्धी झगड़े इन 'पदों' पर चल सकते थे।

राजा का कर्त्तव्य

न्यायदान करना राजा का प्रधान कर्त्तव्य था। राज्य में जो पाप अथवा अनाचार किये जाते थे उनका उत्तरदायित्व राजा पर होता था। यदि राजा द्वारा किसी निरपराध को दण्ड मिल जाए अथवा अपराधी को दण्ड न मिले तो उसे अपयश के अतिरिक्त नरकवास का भय था[2]। राजा से तात्पर्य उस व्यक्ति से है जिसको प्रजा के शासन का

---

१. मनुस्मृति ८।४-७।

२. वही, ८।१२९।

अधिकार हो, इससे यह ज्ञात होता है कि स्मृतिकार की दृष्टि में पुराने एकतंत्र के अतिरिक्त तत्कालीन गणतंत्र भी थे। न्याय करते समय नृप को क्रोध और लोभ से रहित होना चाहिए। न्यायदान में व्यक्तिगत द्वेष अथवा अन्य कारणों से उत्पन्न हुए क्रोध को भी स्थान नहीं था और न आर्थिक लाभ को स्थान था। इसकी उस समय के बहुत बाद की योरोप में प्रचलित न्यायप्रणाली से तुलना करने से इसका महत्त्व प्रकट होता है। नारमन काल की न्यायपद्धति पर लिखते हुए कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के राजनियम के अध्यापक श्री जैक्सन लिखते हैं कि न्यायालय की व्यवस्था करना वहाँ लोकसेवा के रूप में नहीं माना जाता था। न्यायालय की व्यवस्था करने के अधिकार और उससे होनेवाला लाभ प्राप्त करने का स्वरूप व्यक्तिगत सम्पत्ति जैसा अधिक था। भाड़े पर नाव चलाने का एकाधिकार प्राप्त करने और किसी दूसरे को स्पर्द्धा में नाव चलाने देने जैसा ही इसका रूप था[1]।

न्यायालय के सदस्य

इतने प्रतिबन्धों के साथ भी राजा अकेला न्यायदान करने के लिए नहीं बैठता था। याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि न्याय करते समय राजा के पास सम्मति देनेवाले ब्राह्मण भी होने चाहिए और उसे ऐसे सभासद भी (जिनकी संख्या सात, पाँच या तीन होना चाहिए) अपने साथ के लिए चुन लेने चाहिए[2] जो मीमांसा, व्याकरण आदि जानते हों, जिन्होंने वेदादि का अध्ययन किया हो, जो धर्मशास्त्र जानते हों, जो सत्यवक्ता हों और जो शत्रु तथा मित्र को समान समझते हों। इनके अतिरिक्त कात्यायन ने यह भी लिखा है कि सभा में ऐसे वैश्यों को भी बैठाया जाए जो धर्मशास्त्र के नियम समझते हों।

अन्य अधिकारी

राजा को चाहिए कि ऐसे दो व्यक्तियों को क्रमशः गणक (Accountant)[3] तथा लेखक (Scribe) नियुक्त करे[4] जो व्याकरण जानते हों, जो अभिधान (कोष) के जानकार हों, जो पवित्र हों, और जो विभिन्न लिपियों के ज्ञाता हों। इनके अतिरिक्त एक सत्यनिष्ठ, विश्वसनीय एवं बलिष्ठ शूद्र साध्यपाल के रूप में नियुक्त किया जाता था, जो साक्षियों और वादी-प्रतिवादियों को लाता था तथा उनकी रक्षा करता था एवं मामलों के अन्य साधन उपलब्ध करता था।

प्राड्विवाक

इस अधिकारी की स्थिति राजा की उपस्थिति में अनिश्चित-सी है। याज्ञवल्क्यस्मृति में ऊपर उल्लिखित अधिकारियों के अतिरिक्त, राजा के उपस्थित रहते और किसी

---

१. दी मॅशिनरी ऑफ जस्टिस इन इंग्लैण्ड, पृष्ठ २।

२. श्रुताध्ययनसम्पन्ना धर्मज्ञाः सत्यवादिनः।
राज्ञा सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः॥ —याज्ञवल्क्य।

३. शब्दाभिधानतत्त्वज्ञो गणनाकुशलौ शुची।
नानालिपिज्ञौ कर्त्तव्यौ राज्ञा गणकलेखकौ॥

४. इन गणक और लेखक को मृच्छकटिक में क्रमशः 'श्रेष्ठि' और 'कायस्थ' कहा है।

अधिकारी की आवश्यकता नहीं बतलाई है। परन्तु नारद[1] और व्यास की यह सम्मति ज्ञात होती है कि राजा की मौजूदगी में भी प्राड्विवाक (मुख्य न्यायाधीश) होना चाहिए। इनके मतानुसार इसका कार्य राजा की उपस्थिति में अर्थी और प्रत्यर्थी से प्रश्न करना और उनके कथनों की जाँच करना है।

सभामण्डप

राजा, ब्राह्मण और सभासद आदि की यह सभा न्यायदान करती थी। जिस भवन में यह सभा बैठती थी वह 'व्यवहार-मण्डप' या 'अधिकरण-मण्डप' कहलाता था[2]। कात्यायन उसे 'धर्माधिकरण' नाम देते हैं और लिखते हैं कि 'धर्माधिकरण' वह स्थान है जहाँ धर्मशास्त्र के अनुसार सत्य और असत्य में भेद किया जाता है और जो वास्तव में न्याय का स्थान है[3]। इसके निर्माण के विषय में बृहस्पति लिखते हैं कि राजा को गढ़ के भीतर एक ऐसा भवन बनवाना चाहिए जिसके चारों ओर जल एवं वृक्ष हों और उसमें पूर्व की ओर उचित रूप से निर्मित पूर्वाभिमुख 'धर्माधिकरण' होना चाहिए[4]।

समय और छुट्टियां

कात्यायन और बृहस्पति यह निश्चय करते हैं कि मामलों को दोपहर के पूर्व सुनना चाहिए। सूर्योदय के पश्चात् डेढ़ घण्टे से लेकर दोपहर तक न्यायसभा का कार्य चलता था। संवर्त के अनुसार प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, त्रयोदशी, चतुर्दशी और अमावस्या तथा पूर्णिमा को न्यायालय का कार्य नहीं करना चाहिए[5]।

निर्णय

ऊपर लिखे विवेचन से यह तो स्पष्ट ही है कि राजा का न्यायदान में सबसे प्रधान स्थान था। परन्तु वह निरंकुश नहीं था। राजा का कर्त्तव्य था कि धर्मशास्त्र के नियमों का पालन करते हुए और प्राड्विवाक की सम्मति पर स्थिर रहते हुए एकचित्त होकर क्रमानुसार मामलों का निपटारा करे[6]। राजा को स्वर्ग तभी प्राप्त हो सकेगा जब वह प्राड्विवाक, अमात्य, ब्राह्मण, पुरोहित और सभ्यों की सहायता से धर्मशास्त्र के अनुसार मामलों पर विचार करे।

---

१. धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य प्राड्विवाकमते स्थितः।
समाहितमतिः पश्येद्व्यवहाराननुक्रमात् ॥

२. अरेशोधनक ! व्यहारमंडपं गत्वाऽऽसनानि सज्जी कुर्विति ······
विविक्तः कारितो मयाऽधिकरणमंडपः ॥ मृच्छकटिक, नवम अंक।

३. धर्मशास्त्रविचारेण सारासार विवेचनम्।
यत्राधिक्रियते स्थाने धर्माधिकरणं हि तत् ॥

४. दुर्गमध्ये गृहं कुर्याज्जलवृक्षाश्रितं पृथक्।
प्राग्दिशि प्राङ्मुखीं तस्य लक्षण्यां कल्पयेत्सभाम् ॥

५. चतुर्दशी ह्यमावास्या पौर्णमासी तथाऽष्टमी।
तिथिष्वासु न पश्येत व्यवहारान्विचक्षणः ॥

६. धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य प्राड्विवाकमते स्थितः।
समाहितमतिः पश्येद्व्यवहाराननुक्रमात् ॥ नारद १। ३५।

राजा अपने अधिकार का दुरुपयोग नहीं करे इसके लिए ऊपर लिखे स्वर्ग और नरक के प्रलोभन तथा भय तो थे ही, साथ ही राजा को अभिषेक के समय प्रतिज्ञा भी लेनी होती थी। मनु ने राजा के लिए दण्ड की भी व्यवस्था की है[१] और कौटिल्य ने राजा को यह चेतावनी दी है कि स्वेच्छाचारी राजा का नाश हो जाता है[२]। इस प्रकार प्राचीन भारत में इस बात के पर्याप्त बन्धन थे जिनके कारण राजा अन्याय नहीं कर सकते थे।

राजा के पश्चात् न्याय में प्रधान हाथ प्राड्विवाक का था। राजा की उपस्थिति में वह राजा को न्याय करने में सम्मति देता था और राजा की अनुपस्थिति में वह प्रधान न्यायाधीश होता था। परन्तु उस दशा में भी संभवतः प्राड्विवाक का निर्णय राजा के पास अन्तिम स्वीकृति को जाता था और उस निर्णय पर दण्ड की व्यवस्था स्वयं राजा करता था[३]। यह उसी प्रकार की व्यवस्था थी जैसे कि प्रिवी कौन्सिल अपने निर्णय सम्राट की ओर से लिखती थी।

ऊपर लिखा जा चुका है कि राजा के साथ कुछ ब्राह्मण भी आवश्यक रूप से बैठते थे। उनका कर्त्तव्य था कि यदि धर्मशास्त्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध कोई बात हो रही हो अथवा अन्याय हो रहा हो तो वे चुप न रहें। इसके लिए मनु ने कहा है कि या तो न्यायसभा में जाए ही नहीं, यदि जाए तो सत्य अवश्य कह दे। ऐसा व्यक्ति यदि चुप रहता है या असत्य बोलता है तो पाप का भागी होता है[४]। परन्तु इन ब्राह्मणों का कर्त्तव्य यहीं समाप्त हो जाता है। यदि राजा फिर भी दुराग्रह करे तो उसके निवारण करने का कर्त्तव्य इनका नहीं है[५]। परन्तु, इसके विपरीत नियुक्त किये हुए सभ्यों का यह भी कर्त्तव्य है कि वे मामले पर अपनी सम्मति देने के अतिरिक्त, यदि राजा अन्यायपूर्ण आचरण करे तो उसका निवारण करें[६]। राजा के अन्याय करने पर जो उसका समर्थन करते हैं वे राजा के साथ ही उस पाप के भागी होते हैं, अतः उन्हें राजा को समझाना चाहिए[७]। इतना ही नहीं, यदि ये सभ्य राग, लोभ अथवा भय के कारण धर्मशास्त्र के प्रतिकूल कार्य करें तो

---

१. कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः।
तत्र राजा भवेद्दण्डयः सहस्रमिति धारणा॥ ८। ३३६।

२. इसके विपरीत केम्बिसेस के समय में फारस के न्यायाधीशों द्वारा बनाया गया वह विधान देखना उपयोगी होगा जिसके अनुसार "राजा या बादशाह जो कुछ चाहता था कर सकता था"-जायसवाल द्वारा उल्लिखित रालिसनकृत हिरोडोटस।

३. अधिकरणिक :—आर्य चारुदत्त! निर्णये वयं प्रमाणम्, शेषे तु राजा। मृच्छकटिक ९।३८-३९।

४. मनुस्मृति ७।१३।

५. अनियुक्तानां पुनरन्यथाभिधानेऽनभिधाने वा दोषो, न तु राज्ञोऽनिवारणे॥ मिताक्षरा।

६. नियुक्तानां यथावस्थितार्थकथनेऽपि यदि राजाऽन्यथा करोति।
तदाऽसौ निवारणीयोऽन्यथाऽदोषः॥

७. अन्यायेनापि तं यान्तं येऽनुयान्ति सभासदः।
तेऽपि तद्भागिनस्तस्माद्बोधनीयः सतैर्नृपः॥ कात्यायन।

न्हें विवाद के धन से दूना अर्थदण्ड दिया जाना चाहिए। यह दण्ड प्रत्येक सभ्य से लग-अलग इसी परिमाण से वसूल किया जाता था। अन्य वैश्य, शूद्र आदि जो सभ्य पस्थित होते थे उनका कार्य विशेष मामलों में रूढ़ियों और श्रेणीगत रीति-नीति का रिचय देना था[1]। इस प्रसंग में न्यायसभा में बैठनेवाले धर्मशास्त्रज्ञ ब्राह्मणों तथा सभ्यों साथ वर्त्तमान जूरियों तथा असेसरों की तुलना करना उपयोगी होगा। असेसर केवल म्मति दे सकते हैं, उसे मानना या न मानना न्यायाधीश के मन की बात है। यही दशा म्मति देनेवाले ब्राह्मणों की थी। भेद यह है कि आज असेसर कोई बिना पढ़ा-लिखा क्ति भी हो सकता है, पहले केवल धर्मशास्त्रज्ञाता ही हो सकते थे। आज जूरी का ायः वही कर्त्तव्य है जो पहले 'सभ्यों' का था। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि ाजकल तो असेसर और जूरी केवल कुछ मामलों में ही नियुक्त होते हैं; परन्तु प्राचीन ाल में प्रत्येक मामले में उनका रहना निश्चित था।

न्य न्यायालय और अपील

ऊपर वर्णन किया हुआ न्यायालय राज्य का सर्वोच्च न्यायालय होता था। यद्यपि ़ न्यायालय में भी मौलिक मामले प्रस्तुत हो सकते थे; परन्तु वह वास्तव में अपील ा न्यायालय था। इसके अतिरिक्त कुल, श्रेणी, पूग या गण और व्यक्तियों को भी राजा रा न्याय करने के अधिकार दिये जाते थे[2]। इन न्यायालयों को विशेष प्रकार के मामले ाने का अधिकार था; क्योंकि प्राचीन न्यायपद्धति का यह मान्य सिद्धान्त था कि जिस ार का मामला हो उसे सुनने के लिए उसी प्रकार की न्यायसभा होना चाहिए।

कुल द्वारा किये हुए निर्णय पर श्रेणी, और श्रेणी के निर्णय पर पूग, एवं पूग पर राजा रा अधिकृत पदाधिकारी विचार कर सकते थे। इस नृप द्वारा अधिकृत व्यक्ति के र्णय के विरुद्ध राजा स्वयं अपील सुनता था। वास्तव में प्राचीन भारत की यह विशे-ता थी कि राजा तक बहुत कम मामले जाते थे। कुल, श्रेणी एवं गणों की न्यायसभाएँ उन्हें निपटा देती थीं। कुछ प्रकरण ऐसे अवश्य थे जिन्हें केवल उच्च न्यायालय ही न सकते थे। उदाहरणार्थ 'साहस' (गम्भीर अपराध) के प्रकरण पूग या गण के ायालय नहीं सुन सकते थे।

र्यवाही लिखी जाती थी

ऊपर लिखा जा चुका है कि न्यायसभा में एक लेखक अथवा कायस्थ भी होता था। सका कार्य कार्यवाही के आवश्यक विवरण लिखना था। न्याय के लिए प्रार्थना-पत्र ाखित प्रस्तुत नहीं होते थे। प्रत्यर्थी (प्रतिवादी अथवा अभियुक्त) के उपस्थित हो ाने पर अर्थी (वादी अथवा अभियोगी) का कथन लिख लिया जाता था और उसके चे उसका नाम, जाति आदि लिखी जाती थी तथा साल, मास और दिन भी लिखा जाता

---

१. रागाल्लोभाद्भयाद्वापि स्मृत्यपेतादिकारिणः।
सभ्याः पृथक् पृथग्दण्ड्या विवादाद्द्विगुणं द्रमम्॥ याज्ञवल्क्य।

२. नृपेणाधिकृताः पूगाः श्रेणयोऽथ कुलानि च।
पूर्वं पूर्वं गुरु ज्ञेयं व्यवहारविधौ नृणाम्॥ याज्ञवल्क्य।

था[1]। कात्यायन ने इसके लिखने की विधि विस्तारपूर्वक बताई है। वे कहते हैं कि अर्थी का यह कथन खड़िया से काष्ठ-फलक पर लिखा जाए और फिर शोधन करके पत्र (कागद या अन्य भोजपत्र आदि) पर लिखा जाए। इसी प्रकार अर्थी की उपस्थिति में प्रत्यर्थी का उत्तर लिखा जाता था। ऐसा प्रत्युत्तर लिखा जाने के पश्चात् ही अर्थी को वे साधन (साक्ष्य) लिखा देने पड़ते थे जिनसे वह अपने कथन की पुष्टि करता था। साक्षियों के कथन भी लिखे जाते थे[2] और अन्त में जय-पत्र (डिक्री) लिखा जाता था। इस जय-पत्र में अर्थी-प्रत्यर्थी के कथन, दोनों पक्षों का साक्ष्य और सभा का निर्णय तथा उससे लागू होनेवाला न्याय का सिद्धान्त लिखा जाता था। उस पर अध्यक्ष के हस्ताक्षर तथा राजकीय मुद्रा लगाई जाती थी।

वकील

यहाँ इस बात पर भी विचार प्रकट कर देना समीचीन होगा कि प्राचीन राज-सभाओं में वकीलों द्वारा पैरवी होती थी अथवा नहीं। यह तो निश्चित है कि जिस रूप में आज वकील कार्य करते हैं उस रूप में न तो प्राचीन भारत में कोई वर्ग था और न योरोप में ही। आज वकीलों के प्रधानतः दो कार्य हैं। एक तो वे मामले को राजनियम के अनुसार अग्रसर करने में न्यायालय के सहायक होते हैं और दूसरे वे अर्थी अथवा प्रत्यर्थी के स्थान पर उपस्थित होते हैं। प्राचीन भारत में न्यायसभा की जो बनावट थी उसके कारण पहले कार्य के लिए किसी माध्यम की आवश्यकता न हो सकती थी। न्यायसभा में उपस्थित ब्राह्मणों एवं नियुक्त सभ्यों का यही कार्य था। वे धर्मशास्त्र के नियमों में पारंगत होते थे। उनकी उपस्थिति में प्राड्विवाक या राजा राजनियम सम्बन्धी भूल न कर सकता था।

दूसरे कार्य के लिए, अर्थात् स्वयं उपस्थित न होकर दूसरे को नियुक्त करने का आदेश स्मृतियों में है। अप्रगल्भ, जड़, वृद्ध, स्त्री, बालक और रोगियों को यह अधिकार था कि वे अपनी ओर से कथन करने के लिए या उत्तर देने के लिए उचित रूप से नियुक्त व्यक्ति भेजें[3]। इनके कथनों पर जय या पराजय अवलम्बित होती थी[4]। ऐसे व्यक्तियों को, जो पक्षकारों के न तो निकट सम्बन्धी होते थे और न विधिवत् नियुक्त होते थे, यदि वे किसी पक्षकार की ओर से बोलते थे, दण्ड मिलता था[5]।

---

१. प्रत्यार्थिनोऽग्रतो लेख्यं यथावेदितमर्थिना।
समा-मासतदर्धाहनामजात्यादिचिह्नितम् ॥ याज्ञवल्क्य।

२. मृच्छकटिक, नवम अंक।

३. अप्रगल्भजडोन्मत्तवृद्धस्त्रीबालरोगिणाम्।
पूर्वोत्तरं वदेद्बंधुर्नियोक्तोऽन्योऽथवा नरः ॥ बृहस्पति।

४. अर्थिना संनियुक्तो वा प्रत्यर्थिप्रेरितोऽपि वा।
यो यस्यार्थे विवदते तयोर्जयपराजयौ ॥ नारद।

५. यो न भ्राता न च पिता न पुत्रो न नियोगकृत्।
परार्थवादी दंड्यः स्याद्व्यवहारेषु विब्रुवन्॥ कात्यायन।

जिस प्रकार आज कुछ गम्भीर अपराधों की दशा में न्यायालय में व्यक्तिगत उपस्थिति अनिवार्य होती है या अनिवार्य की जा सकती है, उसी प्रकार प्राचीन भारत में भी नियम था। कुछ अपराध ऐसे थे जिनके विचार में स्वयं उपस्थित होना पड़ता था[1]।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यद्यपि वकीलों का वर्ग वर्त्तमान रूप में प्राचीन भारत में नहीं था, फिर भी उनके कारण जो भी सुविधा आजकल मिलती है, वह इस काल में भी प्राप्त थी।

न्यायालय की कार्यविधि

मृच्छकटिक के व्यवहार नामक नवम अंक में सबसे आरम्भ में 'शोधनक' आता है। इस कर्मचारी का कार्य आसनों को सजाना, कार्यार्थियों को बुलाना आदि था। यही सम्भवतः स्मृतियों का 'साध्यपाल' है। आजकल के चपरासी और खल्लासी दोनों का कार्य इसने किया है। न्यायसभा को 'व्यवहार-मण्डप' कहा गया है और न्यायाधीश को 'अधिकरणिक'। यही स्मृतियों का प्राड्विवाक है। इसके साथ ही श्रेष्ठि तथा कायस्थ आते हैं। अधिकरणिक, श्रेष्ठि एवं कायस्थ आदि के यथास्थान बैठ जाने पर शोधनक 'व्यवहार-मण्डप' के बाहर जाकर आवाज लगाता है कि जो कार्यार्थी हों वे अपने मामले प्रस्तुत करें। आगे प्रकट होता है कि अभियोग मौखिक ही निवेदन किया जाता था और 'कायस्थ' उसे लिखता था। यह लिखना प्रारम्भ में खरिया द्वारा ही होता है। आगे मामले के पक्षकार एवं न्यायाधीश का कर्त्तव्य भी बतलाया गया है। अर्थी और प्रत्यर्थी के ऊपर घटनाओं को सिद्ध करने का भार था तथा न्यायाधीश का कर्त्तव्य उनका अर्थ निर्धारित करना था। न्याय का कार्यक्रम प्रारम्भ होते ही सब सम्बन्धित व्यक्ति बुलाए जाते हैं।

यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। मृच्छकटिक में अभियुक्त को उस समय तक निर्दोष समझकर उसका पूर्ण सम्मान किया गया है जब तक कि उसपर अभियोग सिद्ध नहीं हो गया। कथन लेने की प्रणाली भी आजकल के न्यायालयों के समान बताई गयी है। न्यायाधीश, श्रेष्ठि एवं कायस्थ अभियुक्त से प्रश्न करते हैं। अभियोग के प्रमाणित होते ही अभियुक्त को आसन पर से उठाकर भूमि पर बैठा दिया जाता है। न्यायाधीश (अधिकरणिक) केवल निर्णय देता है, दण्ड का विधान राजा के हाथ में ही है। राजा के पास निर्णय तुरन्त ही भेज दिया जाता है और वह दण्ड की व्यवस्था भी उसी समय कर देता है। वध-दण्ड की व्यवस्था होने के कारण अपराधी 'चाण्डाल' को सौंप दिया जाता है।

इस दृश्य में दो-तीन बातें बहुत स्पष्ट की गयी हैं। अभियोगी राजा का साला है, परन्तु फिर भी अभियुक्त को प्रारम्भ में निरपराध समझकर ही आदर मिलता है। दूसरी बात

---

१. ब्रह्महत्यासुरापाने स्तेयेषु गुर्वंगनागमे।
मनुष्यमारणे स्तेये परदाराभिमर्शने॥
अभक्ष्यभक्षणे चैव कन्याहरणदूषणे।
पारुष्ये कूटकरणे नृपद्रोहे तथैव च॥ कात्यायन।

यह है कि यद्यपि न्यायाधीश चारुदत्त को निरपराध समझता है, परन्तु फिर भी प्रत्यक्ष प्रमाण के सामने उसे झुकना पड़ता है; भले ही उसकी सहानुभूति अन्त तक चारुदत्त के साथ रहती है। तीसरी बात न्याय की शीघ्रता है।

यद्यपि नाटकीय वातावरण लाने के लिए नाटककार को थोड़ी-सी स्वतन्त्रता ग्रहण करनी पड़ी होगी, फिर भी यह दृश्य तत्कालीन न्याय का वास्तविक उदाहरण माना जा सकता है।

न्यायालय का सम्मान

मृच्छकटिक के विवरण से न्यायपीठ को प्रस्तुत युग के मध्यदेश में प्राप्त सम्मान का पता लगता है। यहाँ न्यायालय द्वारा दण्डित चारुदत्त उज्जयिनी की जनता का अत्यन्त स्नेह-पात्र है और जैसा नाटक में दिखाया गया है उसे मृत्युदण्ड मिलने से सब नगर बेचैन है। चाण्डालों द्वारा उसके दण्ड की निर्धारित स्थानों पर घोषणा किये जाने पर लोग स्तम्भित रह जाते हैं और कवि कहता है कि कुलांगनाओं के नेत्रों से बहते आँसुओं के कारण राजपथ गीले होने से धूल उड़ना भी बन्द हो गयी है। यह सब होते हुए यह न्यायाधिकरण का सम्मान ही है जिसके कारण लोकविश्रुत परोपकारी एवं धार्मिक व्यक्ति को उसके लिए असंभव अपराध में दण्डित किये जाने पर भी दण्डकार्य में बाधा देने के लिए उन बहुसंख्यक व्यक्तियों में से भी कोई अवैध मार्ग का अनुसरण नहीं करता जो चारुदत्त की उदार वृत्ति के कारण हृदय से उसके कृतज्ञ हैं या जो उसकी उच्च नैतिकता के निर्व्याज प्रशंसक हैं।

सामाजिक और आर्थिक अवस्था

वर्णव्यवस्था

प्रस्तुत युग में भी वर्णव्यवस्था ने ठोस जाति-पाँति का रूप ग्रहण किया हो, यह दिखाई नहीं देता। समाज अभी जीवित है और व्यक्ति यथावसर कार्य करते दिखाई देते हैं। क्षात्रधर्म इस समय राष्ट्रीय धर्म होगया था और विपरीत प्रमाण मिलने तक अनुमान यही किया जाएगा कि पश्चिम से हुए आक्रमणों का प्रतिकार करने के लिए किये गये आह्वान में ब्राह्मण कुलों के समान क्षत्रियों एवं अन्य वंशों ने भी शस्त्र ग्रहण किया था। इस राष्ट्रीय आवश्यकता के अतिरिक्त आर्थिक कारणों से भी यथेच्छ कार्य किये जाते थे। मृच्छकटिक का संवाहक (मालिश करनेवाला) अपनी जन्मभूमि पाटलिपुत्र के कुलीन ग्रामाध्यक्ष का पुत्र था और उज्जयिनी में चारुदत्त के यहाँ संवाहक बना था। जन्म से आभीर आर्यक इसी नाटक में राज्यपद पर आरूढ़ होता है और कुनृप पालक का पशु के समान वध कर दिया जाता है। समाज की तरल अवस्था के प्रमाण तत्कालीन साहित्य में प्रचुरता से मिलते हैं और विभिन्न वर्णों की निर्बंध स्थिति में सजीव राष्ट्र के दर्शन होते हैं।

ब्राह्मण

राजनैतिक इतिहास का अध्ययन करते हुए देखा जाचुका है कि युग की माँग के अनुसार मृच्छकटिक के रचयिता के समान वेदवेदांगविद ब्राह्मण खड्गहस्त हुआ था और उसने साहित्य के प्रकरण में वर्णित ज्ञानयज्ञ का उद्गाता बनने के साथ-साथ नावहीन स्थिति में देश की रक्षा करने के निमित्त शस्त्र ग्रहण से अपने आपको दूषित नहीं माना था तथा इस कर्त्तव्य को उसने सुहस्त अध्वर्यु के याज्ञिक कर्त्तव्य के समान ही पवित्र माना था। जिनने अपनी मुद्रा में अपने गण के देवता कार्त्तिकेय (कुमार) को ब्राह्मणहितकारी (ब्रह्मण्य) कहा है[1] तथा विजयगढ़ के शिलालेख के अनुसार जिनकी बस्तियाँ (अधिष्ठान) ब्राह्मणप्रधान (ब्राह्मणपुरोगम्) थीं,[2] वे ब्राह्मण यौधेय हों, नाग हों, शुंग हों, सातवापन हों या वाकाटक हों, इस युगधर्म का उनने सर्वत्र निर्वाह किया था। समाज का अग्रणी यह वर्ण कंचुकी, विदूषक आदि के धंधे भी बिना वंशाभिमान पर चोट अनुभव किये कर रहा था और शूद्र अर्यक को भी राजपद पर वही आसीन कर रहा था[3]।

---

१. भगवतः स्वामिनो ब्रह्मण्यदेवस्य कुमारस्य : यौधेयानाम्।

२. फ्लीट : कॉ० इ० इ० खण्ड ३, पाठ भाग, पृष्ठ २५२।

३. मृच्छकटिक १०।४७।

क्षत्रिय

क्षत्रिय की सामाजिक स्थिति में पिछले युग से कुछ विशेष परिवर्तन आया हो, यह सूचित नहीं होता, इसके अतिरिक्त कि इस युग में पिछले क्षत्रिय पृष्ठभूमि में गये, उनमें से कुछ ने दक्षिण भारत में जाकर पाण्ड्यप्रदेश में शरण ली और नवीन क्षत्रिय वर्ण का, यूनानी और शकों के भारतीय समाज में समाहार से, प्रादुर्भाव हुआ। यह पहले संकेत किया जाचुका है कि उन्हें पतंजलि आदि ने इस उपाधि के साथ कि ये प्रारंभ में क्षत्रिय ही थे और अब म्लेच्छ होगये थे, क्षत्रिय ही स्वीकार किया है। रुद्रदामन् ने क्षत्रिय के कर्त्तव्यों का स्मरण किया था और वनस्पर भी ऐसा ही क्षत्रिय था। क्षत्रिय वर्ण का दोनों प्रकार का अस्तित्व था। पहले के क्षत्रिय वंशों में जन्म लेने के कारण भी क्षत्रिय थे और ये नये आगन्तुक भी शस्त्र धारण एवं राज्यस्थापना करने के कारण क्षत्रिय बने थे। कालान्तर में इनने भी अपनी उत्पत्ति चन्द्र और सूर्य से जोड़ी होगी और आज भारतीय समाज में से उन्हें पहचान लेना देश की समन्वय की प्रवृत्ति के कारण संभव नहीं है। राष्ट्र सजीव था, उसने इनके दुर्दान्त आक्रमणों को सहन किया और फिर इन्हें आत्मसात कर इनके हाथों में आगामी शक हूणों से लड़ने के लिए राजदण्ड और गरुड़ध्वज सौंप दिया। सैनिक वर्ग के रूप में इनकी स्थिति उसी दिशा में विकसित होरही थी, जैसी मेगास्थनीज ने देखी थी[1] और यह मृच्छकटिक के संस्थानक एवं अभिज्ञानशाकुन्तल के श्यालक के चित्रण से प्रकट होता है, जो दोनों ही क्षत्रिय राजा के साले हैं और उसी वर्ग के हैं।

वैश्य

वाणिज्य का कार्य करनेवालों के उल्लेख साहित्य में प्रचुरता से मिलते हैं और उसमें वर्ण या जाति की सीमा नहीं है। वैश्य का जाति के रूप में उल्लेख गुणाढ्य स्पष्ट रूप से करता है। इसकी एक कथा के एक पात्र की माता अपने पुत्र से कहती है कि "वत्स, तू वणिक् पुत्र है, अतः वाणिज्य कर"[2]। यहाँ यह दिखाया गया है कि यह बालक उपाध्याय से अक्षरज्ञान एवं अंक सीखकर वाणिज्य में प्रवृत्त हुआ। यह वैश्य वर्ण के जाति के रूप में खड़े होने का मूल बताता है जहाँ जीवन के अन्य परिष्कार को गौण मानकर अर्थोपार्जन में प्रवृत्ति होती है और भारतीयता के उच्च संस्कार व्यावहारिक जीवन में अग्रसर होते हुए प्राप्त किये जाते हैं।

शूद्र

चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में शूद्र की स्थिति प्रस्तुत युग में भी हीन नहीं होती है। वाल्मीकि रामायण में शूद्र के तपस्या करने के अधिकार का निषेध हुआ था और कालिदास ने रघुवंश की कथा में राम के मर्यादा पुरुषोत्तम चरित्र को उभारने के लिए यद्यपि उसे दुहराया था, परन्तु राष्ट्र की सर्जनात्मक प्रवृत्ति के इस मेरुदण्ड को मृच्छकटिक के वीरक और चंदनक की भाँति, जो स्वयं ही अपना जन्म नीचे कुल में बताते हैं, उच्च सामाजिक स्तर प्राप्त करने के मार्ग खुले थे। सीमा यही नहीं थी। जैसा पहले कहा गया है श्रुति-स्मृति के न्यास

---

१. देखिए पीछे पृष्ठ २०१।

२. कथासरित्सागर, कथापीठलम्बक १, तरंग ६।

को धारण करनेवाला ब्राह्मण, आर्यक जैसे उत्तमशील शस्त्रधारी शूद्र आर्यक को राज्य-सिंहासन पर आसीन करता था और कुनृप पालक का राजतंत्र जिसे निगड़ (बेड़ी) से विभूषित करता था, वह शूद्र शीघ्र ही राजचिह्नों से विभूषित होता था। इनके वेदाध्ययन के अधिकार पर शिक्षा के प्रकरण में प्रकाश डाला गया है और देश की रक्षा के लिए सभी वर्णों को महाभारत द्वारा दिये गये निमंत्रण में इनमें से कितनों ने क्षत्रियत्व का गौरव प्राप्त नहीं किया होगा। अपना निज का कार्य करते हुए भी इसके प्रति इनके हृदय में गौरव की भावना थी, जो किसी उच्च वर्ण के व्यक्ति के वंशगौरव से कम नहीं थी। इस युग का मछुआ राजा के साले को डाँटकर कहता है कि मैं अपना सहज कार्य करता हूँ जो श्रोत्रिय के पशुमारण कर्म के समान ही पवित्र है[1]।

चाण्डाल और छुआछूत

पंचम वर्ण के रूप में चाण्डाल का अस्तित्व प्रस्तुत युग में भी दिखाई देता है। मृच्छकटिक में चाण्डाल के अपने समग्र रूप में दर्शन होते हैं। वहाँ दो चाण्डाल समाज की आवश्यकता के अनुरूप वधिक का कार्य करते दिखाए गये हैं; परन्तु उनमें मानवोचित उदारता के दर्शन होते हैं। इस युग में उनसे छुआछूत न मानने की स्थिति का ज्ञान ऐसे ही प्रसंग के मुद्राराक्षस नाटक के चाण्डालों से तुलना करने से प्राप्त होता है। मुद्राराक्षस का गुप्त युग का प्रतिनिधि ब्राह्मण, राक्षस चाण्डाल के स्पर्श से अपने आपको दूषित हुआ मानता है[2]। उसे लगी इस छूत से वह नाटक के वात्स्यायन चाणक्य के लिए वैसा ही अस्पर्श्य हो जाता है, जैसा आज से दस-पाँच साल पहले का मध्यदेश का कोई सवर्ण, और शूद्रक का प्रस्तुत युग का प्रतिनिधि ब्राह्मण चारुदत्त, जिसके कुलशील के कारण उसके वध के दृश्य से उज्जयिनी के पथों की धूल जनता के आँसुओं से गीली होगयी है[3], इनके स्पर्श से दूषित नहीं होता, वह वैसी स्थिति में अपने पुत्र दारक को वह यज्ञोपवीत पहनाता है जो उसके शब्दों में मोती और सोने का न होते हुए भी ब्राह्मण का भूषण है तथा जिसका उपयोग देवता एवं पितरों का भाग देने में होता है[4]। चाण्डाल के प्रति इस छुआछूत के अभाव के अतिरिक्त इन्हें अपने वंश का उतना ही गौरव है जितना सवर्ण को[5]। इस काल की धर्मसाधना में इस वर्ण का यह गौरव स्वाभाविक भी था। पिछले पृष्ठों में हमने देखा है कि समाज में, विविध गणों की समानता जिसमें उपलक्षित है, भूतभावन के आँगन में जहाँ भूतमात्र समान हैं, उस शैव उपासना ने व्यापकता प्राप्त की थी, सर्वत्र शिव ही शिव दिखाई देते थे और इस शैव उपासना में जाति-पाँति का उतना अधिक अभेद व्यवहार में था जितना किसी अन्य उपासना में नहीं था[6] और हम यह पहले

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तल ६।१।
२. मुद्राराक्षस ७।९-१०।
३. मृच्छकटिक १०।१०, ११।
४. वही, १०।१८।
५. वही, १०।२२।
६. टी० एम० पी० माधवन : हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दी इण्डियन पीपल, खण्ड २, पष्ठ ४५८।

संकेत कर चुके हैं कि इसके मुर्द्धाभिषिक्त अवशेष आज के माहेश्वरी समाज के नख और खापों में विद्यमान हैं। जिस वातावरण में श्री लकुलीश ने जन्म लिया था उसमें महाकाल के मन्दिर से लगाकर चतुष्पथों तक स्थापित भूतभावन शिव के चरणों में रुद्री की व्याहृति करनेवाले द्विजों की और इन तथाकथित अन्त्यजों की पुष्पांजलियाँ निर्भेद समर्पित होती हों, यही स्वाभाविक है।

आश्रमधर्म

आश्रमधर्म के प्रति शिष्ट समाज में पूर्ववत् आस्था वर्त्तमान दिखाई देती है जिसके अनुसार ब्रह्मचर्य का पालन करने से उन मनीषियों का निर्माण हुआ था जिन ने साहित्य के प्रकरण में वर्णित अमर-कृतियों का सर्जन किया था तथा इस युग के उस समाज की रचना की थी जिसके नवनीत ये साहित्यकार और दूर-दूर के जनपदों को गणसंघ में ग्रथित करनेवाले विविध गणाध्यक्ष थे। इस आश्रम के प्रति इस काल के मध्यदेश की आस्था ने उन रणबाँकुरों को युद्धकौशल दिया था जिन ने भारतीय समुद्रों से भी आक्रांताओं को निकाल भगाया था और उन नागरिकों को जन्म दिया था जिनकी रचनात्मक प्रवृत्तियों से देश की समृद्धि स्थिर हुई थी। गृहस्थाश्रम ने इस युग में ऊँची प्रतिष्ठा प्राप्त की थी और कालिदास उसे सबका उपकार करनेवाला मुख्य आश्रम कहते हैं[1]। इसी आश्रम की प्रवृत्तियों से शिक्षाव्यवस्था में वर्णित वैदिक चरण और ऋषिकुल चल रहे थे और इसी के कल्याण के निमित्त वानप्रस्थों एवं परिव्राजकों की अध्यात्म-साधना प्रवर्तित थी। वृद्धावस्था में मुनि की वृत्ति धारण करना ही वानप्रस्थ था और आयु के अंतिम पाद में संन्यास ग्रहण कर योगसाधना द्वारा परंज्योति का साक्षात्कार करके शरीर का त्याग करना इस काल के मध्यदेशवासी के जीवन की सफल परिणति थी[2]। परन्तु इसमें विश्रंखलता भी प्रचुरता से दिखाई देती है और मृच्छकटिक के जुआरी संवाहक के उदाहरण में हम देखते हैं कि उसे बौद्ध भिक्षु बनने के लिए आयु की परिपक्वता की प्रतीक्षा नहीं करना पड़ती तथा गुणाढ्य का ऊपर उल्लिखित वणिकपुत्र केवल माणव कक्षा का प्रारंभिक ज्ञान प्राप्त करके ही व्यापार में लग जाता है।

पारिवारिक जीवन और विवाह

स्मृतियों में विवाहों का जो वर्गीकरण किया गया है और उनकी विविध वर्णों के लिए ग्राह्यता एवं अग्राह्यता का जो विवेचन किया गया है वह सामान्य परिस्थितियों में शिष्ट समाज में मान्य रहा होगा। गुणाढ्य की माता का गांधर्व विवाह हुआ था और अग्निमित्र का मालविका से विवाह यद्यपि पूर्व निर्धारित था, उसका प्रत्यक्ष रूप गांधर्व विवाह का ही था। अन्तर्जातीय विवाह भी समाज में अभी मान्य थे जिसके उदाहरण वाकाटकललाम प्रभावती गुप्ता और कुबेरनागा के संबंधों में देखे जा सकते हैं। बहुविवाह वर्जित नहीं था, परन्तु प्रतीत यह होता है कि इसका संबंध बहुधा राजपद से था जहाँ दुष्यन्त, अग्निमित्र, गुणाढ्य के सातवाहन आदि की अनेक रानियों का साहित्य में उल्लेख है। चारुदत्त जैसे

१. रघुवंश, ५।१०।

२. वही, १।१०।

सार्थवाह भी घर में एक पत्नी के रहते हुए दूसरा विवाह कर लेते थे। बहुविवाह के प्रसंगों में चारुदत्त की धूता जैसी पत्नियाँ भी होती थीं, जिनसे भावी सौत को उदार व्यवहार मिलता था और अग्निमित्र की चण्ड स्वभाववाली इरावती जैसी पत्नियाँ भी थीं, जो प्रणय-परिधि में आगंतुक का पदनिक्षेप सहन करने को तैयार नहीं थीं और शंकामात्र से ही पति को रशना से ताड़ित करने को उद्यत हो जाती थीं। यहां एक सम्भावना यह भी थी कि यह रोष तथाकथित दासी के प्रति पति के हृदय में उत्पन्न हुए अनुचित विकार के प्रति रहा हो। परन्तु प्रस्तुत युग के मध्यदेशवासी का पारिवारिक जीवन सर्वत्र स्नेह और वात्सल्य से परिप्लुत ही दिखाई देता है। मृच्छकटिक की नारी आगामी जन्म में भी इस नाटक के सूत्रधार को ही पति प्राप्त करने के लिए उपवास करती है तथा हम देखते हैं धूता चारुदत्त के मृत्युदण्ड के समाचार से प्राणोत्सर्ग को तैयार होती है और चारुदत्त उसके अग्निप्रवेश का समाचार सुनकर आकुल हो जाता है। उनके पुत्र रोहसेन का अपने माता-पिता के प्रति और मालविकाग्निमित्र की धारिणीदेवी का वयस्क पुत्र वसुमित्र के प्रति वात्सल्य आज के मध्यदेश के परिवार की स्नेहसिक्त झाँकी ही प्रस्तुत करता है।

स्त्री और समाज

पिछले युग में स्त्री का समाज में जो आदर देखा था वह इस युग में भी वर्तमान रहा, यह शिक्षा के प्रकरण में देखा गया है। राजनैतिक इतिहास का अध्ययन करते हुए हमने बालश्री गौतमी और प्रभावती गुप्ता को शासन सूत्र संचालित करते देखा है और अपने राज्यकाल में अपने पुत्रों के नाम से किये अश्वमेधों के युद्धों का संचालन भी इन वीरांगनाओं ने किया होगा। प्रस्तुत युग में जिन वंशों ने शासनसूत्र सँभाले थे, उनमें माता के प्रति विशेष आदरभाव था, जैसा इनके शिलालेखों से और ग्रंथों के रचयिताओं के रूप में किये गये नामोल्लेखों से प्रकट होता है। इनमें बहुधा गोत्रनाम और माता का नाम बखाना गया है। पतंजलि की माता गोणिका, पाणिनि की माता दाक्षी और गुणाढ्य की माता श्रुतार्था के नाम आज भी सुविश्रुत हैं। शिलालेखों में तो इस काल के शासकवंशों के मातृकुल का अचूक बखान किया गया है और पाराशरी, बालश्री, गौतमी, हारीती एवं प्रभावती नाम अलग चमकते हैं। समाज के शीर्षस्थानीय इन चरित्रों के अतिरिक्त भी स्त्री-समाज की उत्तम भावनाओं की धात्री थी। मध्यदेश की कुमारी की वात्सल्यसिक्त मूर्त्ति शकुंतला इसी युग में जन्मी थी और माता एवं पत्नी के रूप में धूता, धारिणी, वसन्तसेना, शकुंतला आदि बालक एवं प्रौढ़ों की कोमलताओं और दुर्बलताओं की विश्वसनीय संरक्षिका थीं। पूर्व काल से ही इस समाज में स्त्री का अत्यन्त आदर था और प्रस्तुत युग में इन जानपदीय शक्तियों के उत्कर्ष में स्त्री के सम्मान में वृद्धि हुई हो यह स्वाभाविक है।

वेश्याएँ

वेश्याएँ भी पिछले युगों के समान अस्तित्व में थीं और संभवत: संगीतकला को इनका प्रश्रय प्राप्त होने के कारण समाज में इन्हें बुरी दृष्टि से नहीं देखा जाता था। इनका संबंध इस युग के प्रासादों से दिखाई नहीं देता और ऋषिवंशों के शासन में यह आश्चर्यजनक नहीं है। उनका स्थान समाज था, जहाँ वे विविध प्रसन्नता के अवसरों पर संगीत समारोहित

करती थीं। कालिदास के अनुसार महाकाल के मंदिर में इनकी मेखलाओं का क्वणन सुनाई देता था[१] और पुत्रजन्म के अवसरों की प्रसन्नता इनके संगीत में मुखर होती थी[२]। ये वेश्याएँ आजीवन वार-वनिताएँ ही नहीं थीं, गार्हस्थ्य इन्हें पसन्द होने पर ये वसन्तसेना के समान विवाह करके वधू शब्द भी प्राप्त करती थीं।

दास

दास समाज में थे, परन्तु उनका नाम दास था, वस्तुतः वे आज के पारिवारिक नौकरों के समान ही थे, जो संभवतः अग्रिम-धन वेतन के रूप में ले लेते थे और मृच्छकटिक की मदनिका के समान उसे वापस करके मुक्त हो जाते थे अथवा चारुदत्त जैसे मालिक के पास देने को वेतन न होने पर पाटलिपुत्रनिवासी संवाहक की भाँति नौकरी छोड़ जाते थे।

उत्सव और आमोद-प्रमोद

प्रस्तुत काल के बड़े उत्सवों में मृच्छकटिक इंद्रमह और कामदेवोत्सव का उल्लेख करता है और कालिदास भी आम्रमंजरियों से[३] मदन की आराधना के अवसर पर मोदक वितरण के रूप में होली का वर्णन करते हैं। आज की होली के समान पिचकारियों में भरकर रंग छोड़ना उस काल का साधारण मनोरंजन था[४]।

आमोद-प्रमोद में वैदिक युग से चली आ रही मदिरा और अक्षक्रीड़ा समाज में विद्यमान थी, एक मथुरावासी द्वारा संचालित द्यूतगृह का उल्लेख प्राप्त होता है; परन्तु संस्कारी समाज इन्हें अच्छा नहीं समझता था। प्रस्तुत युग के साहित्य के किसी सम्भ्रान्त पात्र को इनमें रस लेता चित्रित नहीं किया गया है और जब चारुदत्त चोरी में गये आभूषणों को जुए में हारने का बहाना बनाता है, तब वसन्तसेना और उसकी चेटी भी उपालम्भसहित कहती है कि 'आर्य, द्यूतकर हो गये'। संगीत राष्ट्रीय मनोरंजन था और नाटकों के अभिनय का उसमें प्रमुख स्थान था, जल-क्रीड़ाओं की व्यापकता थी[५], और स्त्रियाँ जलविहार करती हुई कार्तिक स्नान करती आधुनिक ग्रामबालाओं के समान गान करती थीं, तथा जल के तल पर करतलों से मृदंग की ध्वनि करती थीं[६]। गेंद खेली जाती थी[७], और अग्निमित्र की पुत्री एवं स्त्रियाँ आज की ही भाँति झूले का आनन्द लेती थीं[८]। सुन्दरी बालाओं द्वारा कदम्ब के वृक्ष को फूलने की ऋतु में पैर से छूना और फिर यह मानना कि उनके स्पर्श से यह फूला है, एक मनोरंजन था[९]। मालविका के चरण का स्पर्श करके विदिशा के प्रासादो-

१. मेघदूत १।३५।
२. रघुवंश ३।१९।
३. वही, ९।४६।
४. वही, १६।७०।
५. कथासरित्सागर, कथापीठलम्बक १, तरंग ६।
६. मेघदूत १।३३।
७. रघुवंश १६।८३।
८. मालविकाग्निमित्र (निर्णयसागर), पृष्ठ ५, ४९।
९. वही, ३।१८।

द्यान का अशोक पाँच रात के भीतर ही कलियों से लद गया था। बन्दर[1], कबूतर, मैना, शुक, कोयल, लवा, चातक, मयूर, राजहंस, सारस[2], और मृग आदि पशु-पक्षी मनोरंजन के लिए पाले जाते थे, मेषयुद्ध भी मनबहलाव का साधन था[3], नागर और नागरियाँ उद्यान-भ्रमण एवं पुष्पचयन करती थीं और विदिशा एवं अवन्ति में ऐसे उद्यानों की बहुलता थी। कहानी और आख्यान सुनना तथा काव्यों का पठन-श्रवण भी प्रस्तुत युग का मनोरंजन था। अग्निमित्र की पुत्री वसुमित्रा जैसे छोटे-छोटे बच्चे गेंद खेलते दिखाई देते थे और चारुदत्त के पुत्र राहसेन के समान बालक, गरीब होने की हालत में मिट्टी की और संपन्नता में सोने की गाड़ी से खेलते थे। इस युग की अनेक मृण्मूर्त्तियाँ इन युगनिर्माण करनेवाले शिशुओं के प्रकृत मनोरंजन थे।

वेशभूषा और अलंकार

पिछले युग में मध्यदेश की जिस वेशभूषा का अवलोकन हमने किया है, उससे कुषाण युग के मथुरा में प्राप्त अवशेषों में पुरुषों के भारी-भारी जूते, सारे शरीर को ढकनेवाले वस्त्र और सिर पर के लम्बे टोप इन विदेशियों के साथ आए होंगे और कुछ दिन तक इनके अधिकारक्षेत्र में दिखाई दिये होंगे। इसके विपरीत स्थानीय समाज अत्यन्त शिष्ट वेश-भूषा में दिखाई देता है। मध्यदेश की बालाएं अपने चरणों को लाक्षारस से रंजित करती थीं, उसकी कला में विकास हुआ था और उनके ललाट कपोल आदि अंगों पर कुंकुम और कस्तूरी से लता-पुष्प अंकित होते थे। पुष्पों के प्रति उनका अनुराग सर्वत्र लक्षित है। इनके कोमल सौंदर्य और सुवास से उनकी तृप्ति होती है और इनसे उनके सुगठित शरीर वसन्त के सहकार, कर्णिकार और माधवी के समान सुसज्जित होते हैं। अलंकारों का इस युग के साहित्य, चित्र और मूर्त्तियों में सुरुचिपूर्ण संकेत मिलता है। इस युग के अजण्टा और बाघ के चित्रों में हार, कंकण, केयूर, नीवीबन्ध, कटक, कुण्डल आदि प्रदर्शित हैं और इस काल की मूर्त्तियाँ भी तत्कालीन सरल और सुन्दर वेशभूषा की सूचना देती हैं। इस वेशभूषा में प्रस्तुत युग के मध्यदेश की सौंदर्यकल्पना प्रतिविम्बित है और इन अभिप्रायों में विविधता और सुरुचिपूर्ण अगुरुधूम से सुवासित केशों का विन्यास; पुरुषों के परिधान, उत्तरीय, कायबन्धन, उष्णीष एवं मुकुट; स्त्रियों के अन्तरीय, रत्नांशुक और नीवीबंध तथा उनके उपर्युक्त आढ्यकरण दिखाई देते हैं। इन वेशभूषाओं में इस काल की नाग-बालाओं का लोकोत्तर रूप और नागकुमारों का दुर्दम्य पौरुष छलका पड़ता है। अँगूठी या मुद्रिका का महत्त्व इस समाज में अत्यधिक है। प्रणयचिह्न अथवा पारितोषिक के रूप में इसका प्रयोग होता है और नामांकित मुद्रिकाओं के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। इन मुद्राओं पर राजवंशों के लांछन या राजचिह्न अंकित होते थे, जिसका एक उल्लेख मालविकाग्नि-मित्र में प्राप्त होता है। अग्निमित्र की महिषी धारिणीदेवी की मुद्रा पर संभवतः इनका राज्य या वंश का चिह्न नाग अंकित था और वह मुद्रा प्रासाद में महिषी की आज्ञा का प्रति-निधित्व करती थी। इनके वस्त्र पारदर्शी झीने होते थे, नयनग्राही रंगों में उन्हें रँगे जाते

१. मृच्छकटिक (निर्णयसागर), पृष्ठ १३८।
२. वही, पृष्ठ १४४।
३. वही, पृष्ठ १३८।

थे और चारुदत्त जैसे नागरिकों के उत्तरीय चमेली के फूलों में बसाकर सुवासित किये जाते थे। इस युग का आत्मा और हृदय से उदार समाज प्रसाधित, सुवेश और सदलंकृत था, इससे सुगन्ध की लपटें उठती थीं।

सामाजिक धर्म

संप्रदायों के जिस रूप का वर्णन धर्मसाधना के प्रकरण में किया गया है, उसके अतिरिक्त इस काल में हुए बर्बर जातियों के आक्रमणों ने भारत के गोधन का भी नरसंहारों के साथ-साथ विनाश किया था और उसकी प्रतिक्रिया में मध्यदेश ने गोरक्षा का घोष उठाया था। इस काल के शासकीय अभिलेखों में राजाओं ने अपने आपको बड़े गौरव से भारत के लिए इस अत्यन्त उपयोगी पशु का रक्षक बताया है। अनेक प्रकार के व्रत-उपवास भी इस प्रदेश की जनता इस युग में करती थी, वैदिक परम्परा के बलिवैश्वदेव आदि के उल्लेख मिलते हैं तथा आतिथ्यसत्कार एवं आश्रय में आए हुए की संकट झेलकर भी सहायता करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। इनका आचरण करते हुए मृच्छकटिक के नायक चारुदत्त ने पुरस्थापन, विहार, आराम, देवालय, तड़ाग, कूप और यूपों के निर्माण किये थे और नाशिक के उषवदात के अभिलेखों में भी इस प्रकार के कार्यों के उल्लेख के अतिरिक्त चरण ओर परिषदों को दान करने के उल्लेख हैं। वस्तुतः यह जानपदजनों की शक्ति के चरमोत्कर्ष का युग था और चारुदत्त जैसे नागरिकों द्वारा लोकसंग्रह के कार्यों में राजाओं से प्रतिस्पर्द्धा करना युगधर्म के अनुकूल था। समाज में यह प्रवृत्ति निरन्तर बनी रही और भारतीय समाज की इस लोकसंग्रह की प्रवृत्ति की छाया में देश की वरिष्ठ परम्पराएँ अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में जीवन एवं विकास प्राप्त करती रहीं। व्यक्ति की नैतिक उच्चता का समाज में अचूक सम्मान था और उसके लिए उसका धनिक होना आवश्यक नहीं था। चारुदत्त इस युग का ऐसा ही दयालु और उदार नागरिक है जिसकी अकिंचनता में भी सर्वत्र देवताओं जैसी स्तुति सुनाई देती है। वस्तुतः समाज में देवता की कल्पना उदारचरित व्यक्तियों को और प्राणिमात्र के प्रति विकल्पहीन उपकारी तत्त्वों को लेकर हुई है।

नगर

विदिशा और अवन्ति का वर्णन करते हुए साहित्य ने इस युग के नगरों का चित्र सजीव कर दिया है। नगर के अलग-अलग भागों में विभिन्न व्यवसाय करनेवाले लोग बसते थे। श्रेष्ठिचत्वर व्यापारियों के रहने का भाग था और नगर के पुरवों में घोष होते थे जहाँ आर्यक जैसे गोपाल रहते थे। श्रेष्ठिचत्वर वैभव के प्रकाश से आलोकित होते थे और उन्हें देखकर यह प्रतीत होता था कि समुद्रों के सारे रत्न इन नगरों में एकत्र हो गये हैं तथा समुद्रों में केवल खारी पानी ही रह गया है। वेश्याओं के घर भी जहाँ काव्यगत अतिशयोक्ति को बाद देने के पश्चात् भी अत्यन्त भव्य थे, वहाँ उन समृद्ध नगरों के सार्थवाहों के भवनों की विशालता का सहज अनुमान किया जा सकता है। इन नगरों के राजमार्गों पर राजपुरुषों के और नागरिकों के प्रवहणों (रथों) के अतिरिक्त बसन्तसेना और उससे ऊपर के स्तर के नागरिकों के हाथी भी आते-जाते रहे थे। ये रथ चारों ओर से बन्द भी होते थे और इनके भीतर बैठे व्यक्ति को बाहर से देखा नहीं जा सकता था। हाथी का

चालक महामात्र कहलाता था। रात्रि के समय राजमार्ग पर प्रकाश का प्रबंध था, नगर की रक्षा के लिए सिपाही घूमते थे[1] और फिर भी शर्विलक जैसे चौर्यकलाप्रवीण संध लगाकर चोरी कर ले जाते थे। नगर के मार्ग जनसंकुल रहते थे और नगर से लगे हुए उपवन होते थे, जिनमें केवड़ा, जुही, आदि फूले होते थे। वापियों में तथा नगर के समीप बहनेवाली वेत्रवती और क्षिप्रा में कमलवन मुकुलित होते थे तथा इन उपवनों और नदी पुलिनों पर इस काल के मध्यदेश का यह जीवंत समाज मुक्त विहार करता दिखाई देता था।

आर्थिक समृद्धि

पिछले युग में मध्यदेश की जिस आर्थिक समृद्धि के दर्शन किये थे और उसके कारण-भूत जिन व्यावसायिक एवं आर्थिक संगठनों पर प्रकाश डाला गया था, वे इस काल में ज्यों के त्यों वर्तमान रहे। अनेक व्यवसायों का इस काल के साहित्य में उल्लेख प्राप्त होता है और स्थलपथों पर इस काल में भी सार्थ चल रहे थे। ऐसे ही एक विदिशा को आनेवाले सार्थ के साथ मालविका को लेकर उसका भाई चला था। इन सार्थों के साथ इस काल में भी रक्षा के लिए योद्धा रहते थे[2]। ये सार्थ विविध व्यावसायिक श्रेणियों द्वारा निर्मित माल का व्यापार करते थे। इनका उल्लेख साहित्य और अभिलेखों में समान रूप से प्राप्त होता है। व्यापारियों के निगम विद्यमान थे[3]। अवन्ति में श्रेष्ठिचत्वर नाम का एक मुहल्ला ही इन समृद्ध व्यापारियों का बसा था। मध्यदेश का व्यापार इतना समृद्ध था कि यहाँ पोतों के स्वामी रहते थे[4] और व्यापारियों के बालक सोने के शकटों से खेलते थे[5]। विदेशी व्यापार अत्यन्त उन्नत अवस्था में था, जिसका अनुमान इस काल के विदेशों से सम्बन्ध के प्रकरण से किया जा सकता है। जानपदजन की समृद्धि इस काल के लोकसापेक्ष्य शासन में कालिदास के रघुवंश से प्रकट होती है जहाँ अन्न से भरे खेत रखाते हुए कृषकबालाएँ गाती हुई दिखाई देती हैं[6] और करोड़ों गायों के ये जानपदजन धनी हैं[7]। मध्यदेश के नगरों की समृद्धि का रूप मृच्छकटिक के उज्जयिनी के वर्णन से प्राप्त होता है और कालिदास उसे देखकर फूले नहीं समाते। उनके अनुसार तो मोती, नीलम आदि रत्नराशि के रूप में पृथिवी की सारी समृद्धि इस काल के मध्यदेश के नगरों में एकत्र को गयी है, और उसके कारण समुद्र में खारी पानी ही रह गया है,[8] अथवा समुद्र पार के देशों के अर्थशास्त्रियों की दृष्टि से भारतीय चन्दन, बारीक वस्त्रों के रूप में तोले दो तोले रुई अथवा मोर आदि वनपक्षी ही रह गये हैं। इसी समृद्धि के सहारे चारुदत्त की पत्नी धूतादेवी रत्नषष्ठी के दिन बड़े उत्साह से कभी रत्नदान करती थी[9]।

---

१. मृच्छकटिक १।५७–५८।
२. मालविकाग्निमित्र ५।९-११।
३. मृच्छकटिक २।
४. वही, ४।२९-३०।
५. वही, ६।
६. रघुवंश ४।२०।
७. वही, २।४९।
८. मेघदूत १।३४।
९. मृच्छकटिक ३।२७-२८।

शिक्षाव्यवस्था

शिक्षण संस्थाएँ

इस युग का प्रारम्भ उस राष्ट्रीय संकट में हुआ था, जिसकी विभीषिका का आज अनुमान ही किया जा सकता है। फिर भी जिस शिक्षाव्यवस्था का दर्शन पिछले अध्याय में किया था, इस युग के विद्वानों ने उसकी भास्वर ज्योति को अपने जीवनस्नेह का निरन्तर अर्पण किया। राजनैतिक परिस्थितियों ने इन ज्ञानसत्रों की अग्नि को पश्चिमोत्तर भारत में मन्द किया था। उनकी व्यवस्था संघीयपद्धति पर और विकेन्द्रीकृत होने के कारण वह बुझाई नहीं जा सकी, परन्तु विपरीत परिस्थितियों में वह वहाँ केवल जीवित ही रह सकी, उस भूमि ने पाणिनि और पिंगलों की फिर बहुत दिन तक प्रसूति नहीं की। तक्षशिला का दीपक मिलिन्दपह्न के संकेतों के अनुसार जलता रहा था और उसीसे यूनानी शासक मिनेन्द्र (मीनाण्डर) ने उन विषयों की ज्योति प्राप्त की थी जिनका उल्लेख यह ग्रन्थ करता है। पश्चिमोत्तर भारत में प्रस्तुत युग में हुए अश्वघोष जैसे उद्भट बौद्ध विद्वानों की रचनाओं से भी यही सूचित होता है कि आधारभूत शिक्षण के रूप में उनने वैदिक वाङ्मय का सूक्ष्म अध्ययन किया था। वस्तुतः नियमित ज्ञानदान करनेवाली संस्थाएँ इस युग में भी ये वैदिक चरण ही थे और अन्तेवासी किसी सम्प्रदाय का हो, उसे विद्यादान इनसे ही प्राप्त होता था।

साहित्य के प्रकरण में जिन परिस्थितियों का उल्लेख किया है, उनमें मध्यदेश में इस शिक्षणपरम्परा ने संरक्षण प्राप्त किया और अनुकूल परिस्थितियों में यहाँ ज्ञानराशि का विकास भी हुआ। मध्यदेश में इन वैदिक चरणों की गति बढ़ी थी, यह महाभाष्यकार पतंजलि की उस उक्ति से सूचित होता है जिसमें ग्राम-ग्राम में कठ और कालापक चरणों का अस्तित्व बताया गया है। मध्यदेश की सांस्कृतिक और साहित्यिक प्रगति की तुलना पश्चिमोत्तर भारत की तत्सम्बन्धी प्रवृत्तियों से करने से तथा विशेषतया वैदिक साहित्य की रक्षा और विकास पर ध्यान देने से यही ज्ञात होता है कि मध्यदेश में इन वैदिक चरणों की संकुलता हुई थी। पतंजलि के क्रौड और कांकत[1] चरणों का ज्ञानसत्र मध्यदेश के अंचलों में चल रहा हो, यही सम्भव है। महाभारत आदि इतिहास साहित्य जिसकी विशेष निधि थी और शबरस्वामी के अनुसार कृष्णयजुर्वेद की समस्त शाखाओं के अध्ययन का श्रेय जिन वैशम्पायन को है[2], उनके वैदिक चरण इस काल में

१. महाभाष्य ४।२।६६।

२. न्यायभाष्य १।१।३०।

उस मध्यदेश में सक्रिय रहे हों, यह स्वाभाविक है, जिसमें महाभारत का प्रतिसंस्कार हुआ और जहाँ आज भी कृष्णयजुर्वेदीय परिवारों की बहुलता है। भगवान भाष्यकार इनके तीन वैदिक चरणों का अस्तित्व मध्यदेश में बतलाते हैं[1] और काशिका उनके संस्थापक आचार्यों के नाम ऋचाभ, आरुणि तथा ताण्डच निर्देशित करती है[2]। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि सामवेद के दो अवशिष्ट ब्राह्मणों में एक ताण्डच ब्राह्मण है और इसका प्रचारक्षेत्र विद्वानों ने नर्मदा के उत्तर तट का मध्यदेश माना है। भिक्षु-सूत्रों (वेदान्त सूत्र) का उपदेश करनेवाले पाराशर्य चरण[3] ने इस प्रदेश के पाराशर ग्राम में इस काल में संभवतः अध्यात्म की ज्योति जगाई थी। पहले उन संभावनाओं पर भी प्रकाश डाला गया है जिनमें सतत युद्धभूमि बने नैमिषारण्य के प्रदेश में शौनक के विशाल ऋषिकुल को निष्क्रिय होना पड़ा था तथा मध्यदेश की जीवनदायिनी वेत्रवती के पावन तटों से उसने राष्ट्रीय जागरण का सतत शंखनाद किया था[4]। प्रस्तुत युग के अप्रतिम लोकोत्तर साहित्य का मध्यदेश में सर्जन इस ज्ञानसाधना की संकुलता की निष्पत्ति भी है और सूचना भी। यह निर्विवाद है कि अन्य सांस्कृतिक प्रवृत्तियों की भाँति वैदिक चरणों ने भी इस युग में अपनी समस्त शक्ति लगाकर उस अप्रतिम ज्योति को प्रज्वलित किया जिसकी अनपायि किरणें विस्मृति के अन्धकार को चीरती हुई आज भी प्रकाश दे रही हैं। पिछले अध्याय में वैदिक चरणों के शिक्षणक्रम पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। यहाँ प्रस्तुत युग के केवल महत्त्वपूर्ण उल्लेखों का तथा युगप्रभाव से परिलक्षित हुए परिवर्तनों का संकेत किया गया है। शेष व्यवस्था लगभग ज्यों की त्यों वर्तमान रही और व्यावसायिक शिल्पों का शिक्षण भी व्यावसायिक संगठनों में तथा तत्सम्बन्धी राजकीय शिल्पशालाओं में चलता रहा।

अध्ययन के विषय

अध्ययन के विषयों की, विशेषतः इन वैदिक चरणों के अन्तर्गत जिनका अध्यापन होता था, व्यापकता में प्रस्तुत युग में कमी नहीं आई थी। मनुस्मृति में पाठच विषयों में वैदिक साहित्य के अतिरिक्त धर्मशास्त्र अथवा स्मृति[5], इतिहास एवं पुराण[6], संन्यासियों के लिए वैखानस सूत्र[7], लोकायत दर्शन[8], अर्थशास्त्र तथा उससे सम्बद्ध अन्य विषय[9], आन्वीक्षिकी और दण्डनीति[10] बताए गये हैं। छह वेदाङ्ग, चार वेद, मीमांसा, न्याय, पुराण और

---

१. अष्टाध्यायी ४।२।१३८ वा० २ पर महाभाष्य।
२. अष्टाध्यायी ४।३।१०४ पर काशिका।
३. महाभाष्य ४।३।११०-१११।
४. पीछे पृष्ठ ५१७-१८।
५. मनुस्मृति २।१० तथा ३।२३२।
६. वही, ३।२३२।
७. वही, ५।२१।
८. वही, १२।९५।
९. वही, ९।३२९ आदि।
१०. वही, ७।४३।

धर्मशास्त्र की एकत्र चौदह विद्याओं के रूप में यहाँ गणना की गयी है[1]। प्रस्तुत काल के साहित्य में भी इसकी प्रतिध्वनि मिलती है। कालिदास के कौत्स ने वरतन्तु ऋषि से इन चौदह विद्याओं का ही अध्ययन किया था[2]। ब्राह्मण आचार्य केवल वेदांग, ज्योतिष, दण्डनीति आदि शास्त्रीय विषयों का ही अध्यापन नहीं करते थे, क्रियात्मक शस्त्रविद्या और युद्धविद्या का ज्ञान भी वे अपने अन्तेवासियों को देते थे। इन क्रियात्मक विषयों में आयुर्वेद, कृषि, हस्तिविद्या, अश्वविद्या, रथ चलाना, स्थापत्य आदि की शिक्षा भी ये आचार्य प्रदान करते थे। मिलिन्दपह्न ब्राह्मण के अध्येतव्य विषयों की गणना करते हुए चारों वेद, इतिहास, पुराण, कोष, छन्दःशास्त्र, शिक्षा, व्याकरण, व्युत्पत्तिशास्त्र, गणित, ज्योतिष, फलित ज्योतिष, छह वेदांग, अंगविद्या, निमित्त, स्वप्न और शकुन की व्याख्या; धूमकेतु, वज्रपात, ग्रहों के योग, उल्कापात, भूकम्प, आदि से भविष्य कथन; चन्द्र एवं सूर्यग्रहण, गणित और अध्यात्म का अध्ययन; कुत्ता, हरिण और चूहों के शुभाशुभ का विचार; तरलों का मिश्रण, ध्वनि और पक्षियों की बोली के ज्ञान का उल्लेख करता है। क्षत्रिय को इस ग्रंथ के अनुसार हाथी, घोड़ा, रथ, धनुष, खड्ग, युद्ध, अभिलेख और मुद्रा विषयक ज्ञान प्राप्त करना होता था। वैश्य और शूद्र खेती, पशुपालन और व्यापार का शिक्षण प्राप्त करते थे[3]। स्वयं मिनेन्द्र ने १९ कलाओं तथा श्रुति, स्मृति, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, गणित, संगीत, आयुर्वेद, धनुर्वेद, इतिहास, ज्योतिष, जादू, मंत्रविद्या, युद्धविद्या, काव्य और मुद्रा का अध्ययन किया था[4]। इसके अतिरिक्त पतंजलि अंगविद्या, वायसविद्या या पक्षिशास्त्र, गोलक्षण, अश्वलक्षण, क्षत्रविद्या तथा कथाग्रंथों का उल्लेख करते हैं। इनके समय तक विद्याओं और शिक्षा का इतना अधिक विस्तार हो गया था और एक-एक विषय एवं ग्रंथ में जनता की इतनी अधिक रुचि जागृत हो गयी थी कि इन विषयों का और विशिष्ट आख्यान-आख्यायिकाओं का विशेष अध्ययन करके लोग तद्वेद विद्वान बनते थे[5]। विद्यार्थी यवक्रीत, ययाति, वासवदत्ता, प्रियंगुसुंदरी, सुमनोतरा आदि का विशेष अध्ययन कर लोक में सम्मान प्राप्त करते थे[6]।

वेदपाठियों की परम्परा

जनता में वेदपाठियों का प्रस्तुत युग में सम्मान था और अत्यन्त छोटी आय के बालक उदात्त तथा अनुदात्त का विवेक रखते हुए कंडिकापारायण करते थे। उनके अशुद्धि करने पर सुमति के सिद्धहस्त अध्यापक[7] उनको सही उच्चरण बताते थे और भाष्यकार

१. अंगानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्याय विस्तराः।
पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येता चतुर्दश ।। मनुस्मृति।

२. रघुवंश ५।२१ ।

३. मिलिन्दपह्न ४।३-२६ ।

४. सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, ३५ पृष्ठ ५ ।

५. महाभाष्य ४।२।६० तथा ६।२।१३० ।

६. डॉ० वासुदेवशरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ २९९-३०० ।

७. मनुस्मृति ४।१०२ ।

कहते हैं कि वे उनके चनकट भी लगा देते थे[1]। पतंजलि से पहले व्यापक नियम यह था कि विद्यार्थी उपनयन के पश्चात् पहले व्याकरण का अध्ययन करते थे और उसके बाद वैदिक शब्दों को पढ़ते थे। भगवान भाष्यकार यह देखकर खेद प्रकट करते हैं कि उनके समय में विद्यार्थी पहले वैदिक शब्द याद करके त्वरित वक्ता बन जाते हैं[2]।

नाट्यशास्त्र और चित्रकला का अध्ययन

पिछले अध्याय में यह कहा गया है कि वैदिक चरणों के अंतर्गत नटसूत्रों का अध्ययन-अध्यापन चलता था। प्रस्तुत युग में भाष्यकार पतंजलि की सूचनाओं के अनुसार ये सूत्र नियमित अध्ययन के क्षेत्र से बाहर हो गये थे[3]। वैदिक चरणों से निकलकर इस लोक-रंजक कला की शिक्षणपरम्परा समाप्त नहीं हो गयी थी। इसने राजकीय आश्रय प्राप्त किया था। नृत्य, गीत, वाद्य आदि की शिक्षण की व्यवस्था का वर्णन संगीत के प्रकरण में किया गया है। चित्रकला का शिक्षण सम्भवतः संगीत का सहगामी था। ये दोनों कलाएँ स्त्रियों द्वारा विशेष रूप से अनुशीलित थीं। चित्रकला की शिक्षा की व्यवस्था का वर्णन कलाओं के तारतम्य में किया गया है।

शूद्र और वेदाध्ययन

पिछले अध्याय में हमने देखा है कि अष्टाध्यायीकार पाणिनि ने विद्यार्थी को वर्णी कहा था। इससे यह अनुमान लगाया गया था कि शास्त्रकार का तात्पर्य वर्णी से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों से है। प्रस्तुत युग के साहित्य से उस अनुमान की पुष्टि होती है। साहित्य के प्रकरण में यह कहा गया है कि महाभारत ने वर्त्तमान रूप इस युग में ग्रहण किया और महाभारत कहता है "श्रावयेत् चतुरो वर्णान्" चारों वर्णों के अंतेवासियों को श्रुति का अध्ययन कराना चाहिए[4]। यहाँ यह शंका करने की आवश्यकता नहीं है कि यह प्राचीन भारत का अंश का होगा और प्रस्तुत युग में शूद्रों को श्रुति के अध्ययन का अथवा श्रुति के श्रवण का निषेध हुआ होगा। इस युग के मध्य में जिसकी रचना हुई थी और कथासरित्सागर के संस्कृत रूप में जो बहुत पीछे की कृति है, उस बृहत्कथा के रचयिता गुणाढ्य के कथन से इसकी पुष्टि होती है। अध्ययन करके गुणाढ्य जब अपने गाँव में लौटा तब उद्गाता विधिपूर्वक समगान कर रहे थे[5]। निश्चय ही यह सामगान गुणाढ्य की भाँति शूद्रों को भी सुन पड़ता था। किन्तु साक्ष्य केवल अप्रत्यक्ष सुनाई पड़ जाने का ही नहीं है, आगे वह कहता है कि लोकयात्रा (चातुर्य) सीखने का इच्छुक एक सामवेदी ब्राह्मण उसी के गाँव की चतुरिका वेश्या के पास गया। उस समय वहाँ अन्य लोग भी बैठे थ। उसने उच्च स्वर से उन्हें सामगान सुनाया[6]। इन उल्लेखों

---

१. महाभाष्य १।१।१ वा० १३।
२. डॉ० वासुदेवशरण : पाणिनीकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ २८४।
३. महाभाष्य १।४।२९।
४. महाभारत ४।३।२६।
५. कथासरित्सागर, कथापीठलंबक १, तरंग ६।
६. वही।

से यह प्रकट है कि पाणिनि के वर्णी शब्द की व्याख्या महाभारत का उपर्युक्त कथन चार वर्णों के अन्तेवासी के रूप में करता है और शूद्र को वेदाध्ययन का प्रस्तुत युग में तथा उस बहुत पीछे के काल तक निषेध नहीं था। इसी प्रकार वेदांग और वैदिक चरणों में पढ़ा जानेवाले अन्य विषयों का अध्ययन भी ज्ञानपिपासु शूद्र उक्त संस्थाओं में स्वतन्त्रता पूर्वक करते थे।

विद्यामंदिर के मुक्त द्वार

चारों वर्णों के लिए ही ये विद्यामन्दिर के द्वार इस प्रकार उन्मुक्त नहीं थे, उन प्रवेश के लिए अर्थहीनता भी बाधक नहीं थी इसका उल्लेख पिछले अध्याय में किय गया है। मनुस्मृति उपनयन को ब्रह्मजन्म या आध्यात्मिक प्रसूति कहती है, जिसमें सावित्र माता है और आचार्य पिता है[1]। इस ब्रह्मजन्म में अर्थ बाधक न हो इसके लिए यह धर्म शास्त्र अन्तेवासी को निदेश देता है कि वह स्नातक होने से पहले आचार्य को कोई शुल्क न दे। शुल्क के लिए अध्यापनकार्य करनेवाले शिक्षक की भार्गव उशना की परम्परा क अनुसरण करते हुए, जिनने ऐसे शिक्षक को वृत्तिक कहा है[2], यह स्मृति उपपातकी कह कर गर्हणा करती है[3]। सुमति भार्गव अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् अपनी सामर्थ्य के अनुसार भूमि, स्वर्ण, गौ, घोड़ा, छत्र, उपानह, अन्न, शाक अथवा वस्त्र शुल्क के रूप में नहीं, भेंट में देने का ब्रह्मचारी को निदेश देते हैं[4]। शिक्षणशुल्क लेकर अध्यापन करने वाले आचार्य और शुल्क देकर अध्ययन करनेवाले अन्तेवासी स्मृति ने गर्हित माने हैं तथ श्राद्ध जैसे महत्त्वपूर्ण सामाजिक अवसरों पर उन्हें निमंत्रण देने का निषेध किया है[5] स्मृति के ये विधिनिषेध राष्ट्रीय ज्ञान को जीवित रखने की स्मृतिकारों की प्रज्वलित इच्छा की सूचना देते हैं और यह भी बताते हैं कि समाज में ज्ञान की बढ़ती हुई मांग को देखकर वेद अथवा वेदांग के किसी अंश का अध्यापन अपनी आजीविका बनानेवाले उपाध्याय भी इस युग में उत्पन्न हो गये थे[6]।

आचार्य

सुमति भार्गव का यह आह्वान अरण्यरोदन सिद्ध नहीं हुआ था और पतंजलि प्रस्तुत युग के उन योजनशतिक आचार्यों का उल्लेख करते हैं, जिनकी विद्वत्ता की कीर्त्ति सौ-सौ योजन तक बखानी जाती थी[7] तथा जो बिना कोई शिक्षणशुल्क लिये कल्पसूत्र एवं उपनिषदों के साथ वेदों का अध्यापन करते थे[8]। जिनका ऊपर उल्लेख किया है उन

---

१. मनुस्मृति २।१४६, १४८।
२. ४।२४।
३. मनुस्मृति २।२४५।
४. वही, २।२४६।
५. वही, ३।१५६।
६. वही, २।१४१।
७. महाभाष्य ५।१।७४ (२)।
८. मनस्मृति २।१४०।

कौत्स के गुरु वरतन्तु को भी इस युगधर्म का ज्ञान था। कौत्स ने अध्ययन समाप्त किया और समावर्तन के पश्चात् गुरु से गुरुदक्षिणा पूछी। वरतन्तु ने शिष्य की भक्ति को ही, जिसके कारण उसने चिरकाल तक उनकी अस्खलित सेवा की थी, गुरुदक्षिणा से अधिक माना था[1]।

स्त्रियों का वेदाध्ययन का अधिकार ही प्रस्तुत युग में सुरक्षित नहीं रहा, पतंजलि उनके वैदिक चरणों में अध्ययन[2] का ही उल्लेख नहीं करते, वे केवल यही नहीं बताते कि मध्यदेश की ब्राह्मणी भी मीमांसा जैसे क्लिष्ट विषय का अध्ययन करती थी[3], वे यह भी बताते हैं कि ये ब्राह्मणी आचार्या होती थीं और ज्ञानार्थी पुरुष समित्पाणि होकर इन विदुषियों के अन्तेवासी होते थे[4]। पतंजलि की इन औदमेध्या आदि आचार्याओं की परम्परा ने मध्यदेश के उन नारीरत्नों को उत्पन्न किया था, जिनमें से कुछ की कीर्त्ति प्रियंगुमंजरी, गौतमी बालश्री, पाराशरी और वाकाटकललाम प्रभावती के नामों में सुन पड़ती है।

आत्मनिर्भर समृद्ध आश्रम

इन वैदिक चरणों अथवा ऋषिकुलों को राज्य का आश्रय प्रस्तुत युग में लेना पड़ा हो, यह प्रकट नहीं होता। पिछले युग की उनकी आत्मनिर्भरता अभी भी ज्यों की त्यों विद्यमान मिलती है। वरतन्तु ऋषि के जिस आश्रम का रघुवंश में उल्लेख है, वह भी विश्वजित यज्ञ करनेवाले रघ से अर्थसम्बन्धों से बँधा नहीं है और मालिनीतट का कण्व ऋषि का आश्रम भी दुष्यन्त से केवल दूर से ही रक्षा की अपेक्षा करता है। इन आश्रमों का व्यय-भार इस काल में भी वन में उत्पन्न होनेवाले अन्न, फल, मूल आदि पर तथा सम्पन्न स्नातकों पर दिखाई देता है। शाकुन्तल के वनदेवता आटव्यों को ये आश्रम प्रिय हैं और आवश्यकता पड़ने पर महर्घतम वस्तुओं का भी इन सावित्री की उपासना करनेवालों को अभाव नहीं रहता। ये आटव्य भी केवल लाक्षणिक हैं, वस्तुतः जिन वैदिक चरणों से ज्ञानामृत की धाराएँ प्रवाहित थीं, उनकी भौतिक आवश्यकताए ज्ञानसाधना के मार्ग में बाधक नहीं थीं। आज जैसे चटोरे बालक, जो पैसा मिलेगा इस लालच में पाठशाला जाते हैं, रौढ़ि के गुरुकुल में घी पीने के लिए, भात के शौकीन पाणिनि की अष्टाध्यायी पढ़ने के बहाने से और बढ़िया कम्बल ओढ़ने के शौकीन चारायण के गुरुकुल में[5] इन संस्थाओं की अभाव की स्थिति के कारण नहीं पहुँचते थे और ये संकेत कहीं प्राप्त नहीं होते कि राजकोष से अनुदान या वेतन के रूप में इन्हें कुछ पहुँचता था। ये आश्रम जनता के श्रद्धासागर थे, उनकी यह श्रद्धाभाजनता स्वार्जित थी और समृद्ध जनता के ज्ञानपीठ राज्यसापेक्ष्य नहीं, जनसापेक्ष्य थे, आत्मनिर्भर थे और समृद्ध थे।

---

१. रघुवंश ५।२०।

२. महाभाष्य ४।१।६३।

३. वही, ४।१।१४।

४. वही, ४।१।७८ वा० १।

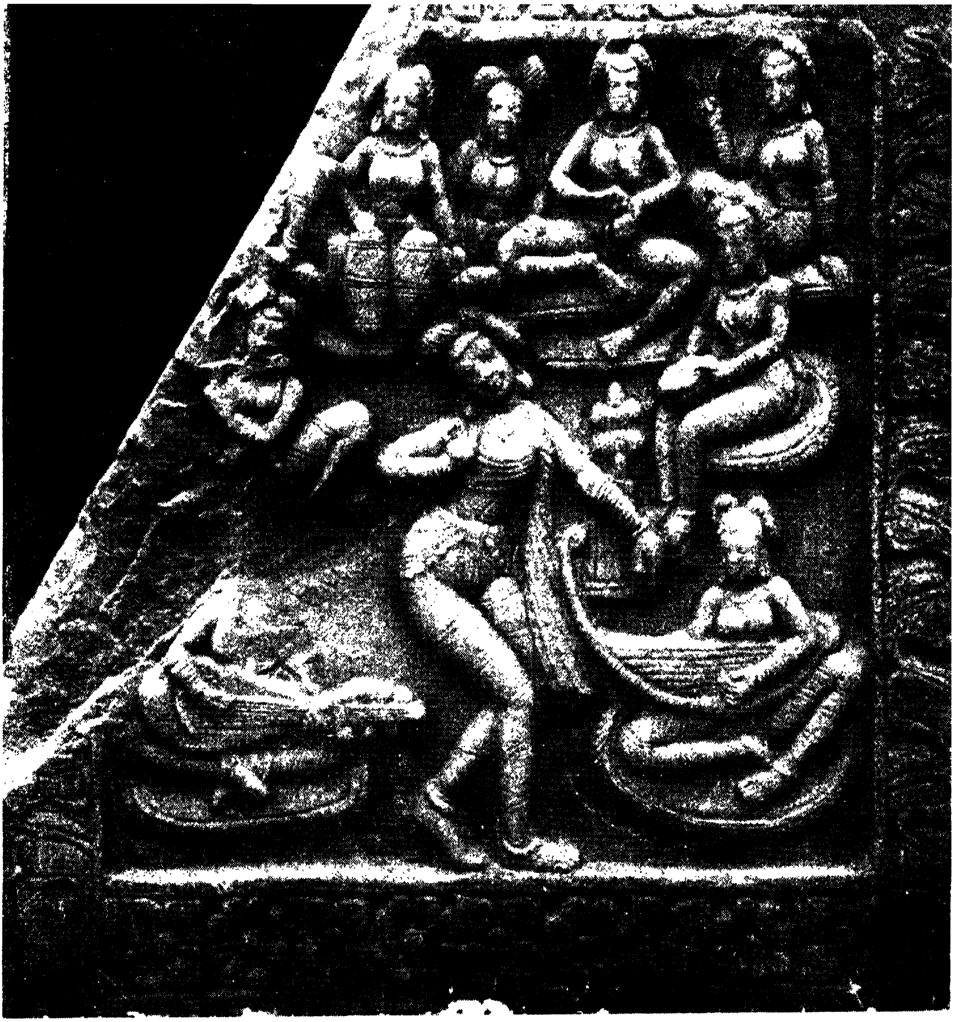
५. वही, १।१।७३ तथा ४।१।८९।

ज्ञानज्योति का परिप्लाव

मध्यदेश के वैदिक चरणों का उत्कर्ष प्रस्तुत युग के इस प्रदेश के निवासी के उदात्त चरित्र में और अपरिमेय पराक्रम में प्रकट हुआ था। निसर्ग के अंक में उसे प्राप्त हुआ उन्मुक्त ज्ञानदान महाभारत, रामायण और मनुस्मृति के प्रतिसंस्कार के रूप में उद्भावित हुआ था और इस काल के अमर्त्य साहित्य के सर्जकों के मानस में इन वैदिक चरणों की ज्योति ही भास्वर थी। भगवान भाष्यकार का अगाध पाण्डित्य और सूक्ष्मेक्षणा इन संस्थाओं से ही उत्पन्न हुई थी और इन्हीं से शुंग, नाग, यौधेय, सातवाहन और वाकाटकों ने उद्दश्य की पावनता तथा पराक्रम की अमोघता प्राप्त की थी। संघीय पद्धति पर ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करनेवाली इन संस्थाओं से ही ज्योति प्राप्त करने के कारण इन अश्वमेधपराक्रमों का शासन एकतंत्री नहीं बनता था और समाज एवं राज्य में सर्वमान्य संघपद्धति परिषदों-वाली इन संघबद्ध शिक्षासंस्थाओं का ही प्रतिबिम्ब थी। जहाँ इस काल के मध्यदेश का एक-एक पौरुष देश के सम्मान की रक्षा के लिए, उसकी सांस्कृतिक परम्पराओं के उत्कर्ष के लिए अर्पित हो रहा था, वहाँ इन वैदिक चरणों में ज्ञान का एक-एक स्फुलिंग राष्ट्रीयज्ञान के ज्योतिष्कूटों को भास्वर रखने के निमित्त प्रज्वलित रखा जाता था और संचित किया जा रहा था। "संगच्छध्वं संवदध्वं सहवीर्यं करवावहै" मंत्र इन वैदिक चरणों में उच्चारित हुआ था, इनकी परिषदों ने खुले विचारविमर्ष से भारतीय ज्ञान-विज्ञान के अभ्रान्त सत्यों का साक्षात्कार किया था, इस समवेत महाप्रयास ने ही प्रस्तुत युग के शूद्रक, कालिदास, अमरसिंह, गुणाढ्य, वररुचि, हाल और प्रवरसेन का निर्माण किया था तथा इन संस्थाओं की ही वह गौवरशाली परम्परा थी कि इस साहित्य में कहीं दैन्य, कुंठा और अवगुंठन दिखाई नहीं देता। इन रचनाओं का कोना-कोना ढूँढने पर भी मनुष्य की वरिष्ठता का तिरस्कार प्राप्त नहीं होता और इन वाणीसाधकों ने इनको ब्रह्मजन्म देनेवाली इन संस्थाओं का ऋषि-ऋण—बौद्धिक पितृ-ऋण पाई-पाई चुका दिया। इन मनीषियों का व्यक्तित्व इन संस्थाओं के समान ही स्वतन्त्र है, गौरवशाली है, आस्तिक है और किसी प्रश्रयदाता के सामने कहीं भी झुकता दिखाई नहीं देता। यह इन संस्थाओं की ही तेजस्विता ह, जो इन व्यक्तिगत हितोंवाले स्रष्टाओं की रचनाओं में वही निरपेक्षता एवं प्रगल्भता दिखाती है जो पिछले युग में दण्डामिस में देखी गयी थी। इसी के परिणामस्वरूप अभी साहित्यजगत् में उन "शिवशूला:" वाणी बेचनेवालों का[1] उद्भव नहीं हुआ, जो हरिषेण के शब्दों में अपने आपको कवि के साथ-साथ "भट्टारक का चरण-दास" भी कह उठें[2]। इस युग के मध्यदेशवासी ने "तमसो मा ज्योतिर्गमय" मंत्र के साथ अपनी संपूर्ण कर्मठता का योग किया था और ज्ञानसाधना के क्षेत्र में उसकी अन्य प्रवृत्तियों के समान ही वह तत्परता दिखाई दी थी, जिसमें अन्धकार से लड़ते हुए दीपक की बाती एक बार सारी की सारी जल उठती है और घर में तथा आँगन में ज्योति का परिप्लाव होता है।

१. भागवत माहात्म्य १।३६।

२. इलाहाबाद स्तम्भलेख, पंक्ति ३१।



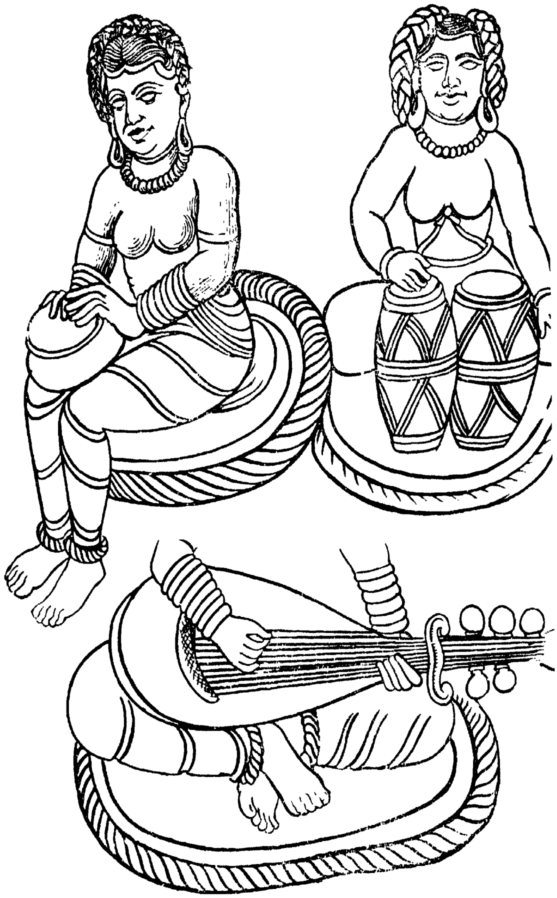
गीत-नृत्य-दृश्य, विष्णु-मन्दिर, पद्मावती (पृष्ठ ५१८ तथा ६३२)

पद्मावती के गीत-नृत्य-दृश्य की वादिकाएँ तथा वाद्ययंत्र





पद्मावती के गीत-नृत्य की नर्तकी



वाद्य तथा वादिकाएँ

संगीत और नृत्य

संगीतसाधना

जीवित जाति के उत्साहपूर्ण चरण संगीत की ध्वनियों के साथ बढ़ते चलते हैं और जब उनके देश की रक्षा में किये अभियान जय में परिणत हो रहे हों, सार्थवाहों के प्रयास देश को समृद्धि से पूरित करते हों, विन्ध्यपाद की खनियों से रत्नों की प्रसूति होती हो तथा खेतों की उपज से देश में खाद्य की प्रचुरता हो, उस युग में मध्यदेश के वन, खेत, ग्राम, नगर और प्रासादों में भरत की जातियों के स्वर फूट पड़ते हों, कालिदास के छलिक नृत्यों की झंकार आकर्षित करती हो, महाकाल के प्रासाद का पटहनाद अमरत्व का सन्देश देता हो, यही स्वाभाविक है।

सामगान

वैदिक युग के संगीत का वर्णन करते हुए जिस सामगान की रूपरेखा दी गयी है और जिसके संकेत ऋक् प्रातिशाख्य में प्राप्त होते हैं, नागों, शुंगों, सातवाहनों और वाकाटकों के यज्ञस्थलों में महाभारत एवं मनुस्मृति के प्रतिसंस्कर्त्ताओं के कण्ठों से उठे उस सामगान के कंबुगम्भीर नाद ने मध्यदेश के अंतरिक्ष को इस युग में आपूरित किया था और गुणाढ्य कहता है कि जब वह अध्ययन समाप्त करके अपने गांव में आया, उसे सबसे पहले सामवेद के स्वर सुनाई दिये थे। सामगान मध्यदेश की विशेष सम्पत्ति थी, इसका पता भगवान भाष्यकार की सूचनाओं से लगता है। वे वैशम्पायन के तीन वैदिक चरणों का अस्तित्व मध्यदेश में[1] बताते हैं और काशिका उनके संस्थापक आचार्यों के नाम ऋचाभ, आरुणि और ताण्ड्य निर्देशित करती है[2]। ताण्ड्य ब्राह्मण सम्भवतः उपर्युक्त ताण्ड्य आचार्य के वैदिक चरण से सम्बद्ध रहा है और यह सामवेद का ब्राह्मण है। विद्वानों ने इसका प्रचारक्षेत्र नर्मदा के उत्तर तट का मध्यदेश माना है और आज नर्मदा के दक्षिण में अवशिष्ट सामवेद की परम्परा निश्चित रूप से प्रस्तुत युग के मध्यदेश में वर्त्तमान थी। शुंगवंशी सामवेदी ब्राह्मण थे, जिनसे मध्यदेश के इस युग का राजनैतिक इतिहास प्रारम्भ होता है और गुणाढ्य ने सामगान का स्वरवैभव मध्यदेश में सुना था। इस अव्याहत परम्परायुक्त सामगान के चिरपरिचित स्वर प्रस्तुत युग में एक नवीन सन्देश लेकर मध्यदेश में साधित हुए थे, जिसकी लय पर न केवल अध्वर्युगण ने यज्ञाग्नि को तृप्त किया था, ये उद्गाता बर्बरता और विनाश का प्रतिकार करने के

---

१. अष्टाध्यायी ४।२।१३८ वा० २ पर महाभाष्य।

२. अष्टाध्यायी ४।२।१०४ पर काशिका।

राष्ट्रीय यज्ञ में होता एवं हवि भी स्वयं ही बने थे तथा बहुत दिन तक इतिहास में अन्धकार युग कहलानेवाले काल में इनने भारतीयता की ज्योति अपने जीवन के स्नेह से प्रज्वलित रखी थी। विक्रम-संवत् के प्रवर्त्तन से पहले का जो साहित्य अवशिष्ट है, लोकजीवन में उन युगों की जो प्राचीन परम्पराएँ सजीव हैं, समग्रत: जो उस काल की भारतीय संस्कृति की अटूट परम्परा आगे की पीढ़ियों को दाय में मिली, उसके संरक्षण और संवर्धन का श्रेय इस युग की सामगान की इस नूतन स्वरसाधना को दिया जा सकता है जो साम्प्रदायिक घेरे से निकलकर राष्ट्रीय गान बन गयी थी, जिसमें आथर्वणों द्वारा पृथिवीसूक्त के अच्युत मन्त्रों की अमोघ व्याहृति की गयी थी।

लौकिक संगीत का रूप

उपर्युक्त सामगान के अतिरिक्त, जो वस्तुत: इस समग्र युग का युद्धगान अधिक था, लौकिक संगीत का स्वरप्लाव अद्‌भुत था। इस युग के संगीत का शास्त्रीय रूप देनेवाला कोई ग्रन्थ आज मिलता नहीं है, परन्तु तत्कालीन साहित्य से यह निश्चित सूचना मिलती है कि संगीत पद्धतिबद्ध कला थी, मालविकाग्निमित्र के अनुसार देवी शर्मिष्ठा से चली आ रही उसकी एक पूर्व परम्परा थी, जिसमें गीत, नृत्य और वाद्यों के प्रयोग का सूक्ष्म निरूपण था, उसका विधिवत् शिक्षण होता था, उसके आचार्य उसके लालित्य में निरन्तर वृद्धि कर रहे थे और उसके शिल्प का उत्तरोत्तर परिमार्जन हो रहा था। महाभारत में संगीत के सात स्वरों और गान्धार ग्राम का उल्लेख मिलता है तथा वाल्मीकि रामायण में जातियों का उल्लेख है। भरत का नाटचशास्त्र मुख्यत: नाटच का विवेचन करता है और उसमें संगीत का जो निरूपण किया गया है वह केवल नाटच के अभिनय की अपेक्षाओं के लिए है। भरत ने तिरेसठ स्वर, उनकी श्रुतियों, ग्राम और मूर्छना पर प्रकाश डाला है तथा षड्‌ज ग्राम और मध्य ग्राम का इस ग्रन्थ में वर्णन किया गया है। उनने १८ जातियों का विस्तार से निरूपण किया है, जिनमें उपर्युक्त तिरेसठ स्वरों में से किन्हीं का भी उपयोग अंश के रूप में किया जा सकता है। उनकी जातियों का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि उसमें संसार के सभी राग आ जाते थे[1]। इनने रागों का निरूपण नहीं किया है; परन्तु तत्कालीन साहित्य से पता लगता है कि उस काल में भी संगीत में रागों का अस्तित्व था। कौन-सा राग नाटच के प्रयोग के समय गाया जाए, यह भरत मुनि ने सूत्रधार पर छोड़ दिया था। मृच्छकटिक के तीसरे अंक में (श्लोक ६) राग का स्पष्ट उल्लेख है। जनश्रुति दीपक राग का आविष्कारक विक्रमादित्य को मानती है, अभिज्ञानशाकुन्तल के पहले अंक में सूत्रधार रागबद्ध चित्तवृत्ति' के कारण चित्रलिखित से प्रेक्षकों का उल्लेख करते हुए रागों की विद्यमानता का संभवत: संकेत करता है और आगे एक श्लोक में वहीं 'सारंग' राग का नामोल्लेख भी हुआ है। 'तिवारकम्' नामक एक जैन कोष में बाईस श्रुतियों के अतिरिक्त सम्पूर्ण, षाडव और ओडव रागों का उल्लेख प्राप्त होता है। दक्षिण के 'पारिपादल' ग्रन्थ में भी स्वरों का और 'पालई' नाम से सात जातियों का उल्लेख मिलता है।

---

१. यत्किंचिद्‌गीयते लोके तत्सर्वं जातिषु स्थितम्।

गीतवस्तु

वैदिक युग के संगीत का वर्णन करते हुए गाथा का उल्लेख किया गया है, जो विवाह के अवसर पर वर द्वारा गाई जाती थी। प्रस्तुत युग की रचनाओं में लौकिक संगीत की चतुष्पदी का उल्लेख मालविकाग्निमित्र में प्राप्त होता है। सौभाग्य से इसका एक उदाहरण भी उक्त नाटक में मिलता है। यह चतुष्पदी शृंगार रस की है, इसमें नाम और उदाहरण दोनों में चार चरण हैं तथा कालिदास इसे चतुष्पदवस्तु कहते हैं। यह चतुष्पदी आगामी युग के मतंग मुनि के उस ध्रुवपद की गीतवस्तु की पूर्वज है जो मध्यदेश के इतिहास से ध्रुवपद शैली के नाम से अच्छेद्य हो गयी है। गाथाओं के तो इस युग के कोष ही प्राप्त होते हैं। गाथासप्तशती ऐसा ही कोष है। अभिज्ञानशाकुन्तल की नटी जिस गाथा को रागबद्ध कर विक्रमादित्य साहसांक की विद्वत्परिषद को चित्रलिखित बना देती है, वह भी शिष्ट और कोमल शृंगाररस की गेय रचना है।

वाद्य

पिछले अध्याय में जिन वाद्यों का उल्लेख किया जा चुका है, वस्तुतः वे प्रस्तुत काल में भी संगीत के समाजों में स्वरदान करते रहे। मृच्छकटिक के चौथे अंक में जलधर-गंभीर नाद करनेवाले मृदंग का, आकाश के तारों के समान चमकदार कांस्य तालों (झांझ) का, भौंरे की गुंजार के समान मधुर बजनेवाली बाँसुरी का तथा अंगुलियों के आघात से बजनेवाली वीणा का वर्णन किया गया है। पाँचवें अंक में सुशब्द सप्तछिद्र वंश (बाँसुरी) और नदन्ती सप्ततंत्री वीणा के स्वर सुनाई देते हैं और इस नाटक के नायक के घर में चोर को भी मृदंग, दर्दुर, पणव और वंश प्राप्त होते हैं। कालिदास की रचनाओं में भी वीणा, वंशकृत्य (वेणु), पुष्कर (मृदंग), शंख, दुंदुभी, घंट, पटह, तूर्य आदि के उल्लेख मिलते हैं। मृदंग इस युग का सर्वाधिक लोकप्रिय वाद्य है, यह सांची के तोरण पर मारविजय के अर्धचित्र में इसकी बहुलता से सूचित होता है। प्रस्तुत युग के द्राविड बौद्ध ग्रंथ 'सीलप्पदिमारम्' में 'याल' नाम के एक वाद्य का वर्णन मिलता है, जिसमें एक हजार तंत्र लगते थे। इन वाद्यों में से अनेक का निनाद युद्ध-भूमि में वीरों का उत्साहवर्धन करता था, युद्ध में विजयी होनेवाला दल इन वाद्यों के घोष में अपने हर्षोद्गार व्यक्त करता था, जैसा साँची के मारविजय के अर्धचित्र में देवताओं द्वारा किया गया है और संगीत-समारोहों के ये अपरिहार्य उपादान थे।

नृत्य

नाटचशास्त्र यद्यपि नृत्यों का नामतः उल्लेख नहीं करता, परन्तु उसमें नृत्य का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन किया गया है। विविध रसों की निष्पत्ति के लिए विविध अंगों का, नेत्रों का तथा उपांगों का स्वाभाविक संचालन इसमें निरूपित हुआ है। पैर, जंघा, ऊरु और कटि का अनेक प्रकार से संचालन करके चित्तगत भावों को प्रकट करने की विधि भी इस शास्त्र में बताई गयी है। भावों की अभिव्यक्ति करनेवाली इन स्वाभाविक मुद्राओं का और करण एवं उनके आश्रित अंगहारों का निरूपण करके शास्त्रकार ने इनके समवाय से विविध नृत्यों का संपादन करने का काम विज्ञ शिक्षक और नृत्य करनेवाले के लिए छोड़ दिया है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि भरत का नाटचशास्त्र

संगीत का ग्रन्थ नहीं है। उसमें ये मुद्राएँ और अंगहार इस कारण निरूपित हुए हैं कि इनका नाट्याभिनय में उपयोग है। विविध नामों के नृत्यों का नर्त्तकों द्वारा प्रयोग प्रस्तुत युग में होता था इसके संकेत साहित्य, चित्रकला और मूर्त्तिकला में मिलते हैं। नृत्य के ताण्डव और लास्य भेदों का उल्लेख साहित्य में मिलता है और कालिदास छलिक नृत्य का उल्लेख करते हैं, जिसका प्रयोग मालविका ने चतुष्पदी के गान के अनन्तर उसमें निहित भावों को व्यक्त करने के लिए किया था। वहीं वह पंचांगाभिनय का भी उल्लेख करता है। बाघ के एक भित्तिचित्र में हल्लीसक नृत्य का दृश्य अंकित है, जिसे मण्डलनृत्य भी कहा जा सकता है। इसमें एक नर्त्तक बीच में नृत्य करता है और उसके सामाजिक उसे चारों ओर से घेरकर वाद्यवादन करते हुए नृत्य करते हैं। यह रास नामक लोकनृत्य की पूर्वपरम्परा है।

संगीत का शिक्षण

सगीत की शालीनता का जो चित्र प्रस्तुत युग की साहित्यिक रचनाओं में और कलाकृतियों में प्राप्त होता है वह यद्यपि उल्लासपूर्ण लोकमानस की उपज है, लोक-संगीत के शिक्षण का क्रम उत्सवों और पर्वों पर अनुकृति के आधार पर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी पर संचरित होता होगा, उसके व्यवस्थापूर्ण परिष्कार एवं विकास की परम्परा भी प्राप्त होती है। समग्र संगीत की शिक्षण-व्यवस्था का प्रारम्भ वैदिक चरणों से हुआ था और प्राचीन काल में इसे ऋग्वेद का अंग माना जाता था; परन्तु कालप्रभाव से इसे वैदिक चरणों के शिक्षणक्रम से हटा दिया गया था[1]। यद्यपि भरत का नाटचशास्त्र नाटच की वैसी ही श्रेष्ठता प्रतिपादित करता है; परन्तु ज्ञात यह होता है कि संगीत का व्यावसायिक पहलू देखकर प्रस्तुत युग में उसे श्रुति जैसा सम्मान प्राप्त नहीं रहा। वैदिक चरणों से च्युत हुए इस लोकरंजनकारी शास्त्र को गुणग्राहक एवं जीवनस्फुरित समाज ने लुप्त नहीं होने दिया। मालविकाग्निमित्र नाटक से इस शिक्षण की राज्याश्रित आभिजात्य व्यवस्था का पता लगता है और मृच्छकटिक उसकी व्यावसायिक परिपाटी की सूचना देता है। चारुदत्त का सखा मैत्रेय वसन्तसेना के भवन के चौथे प्रकोष्ठ में ऐसे ही शिक्षणक्रम को देखता है। इस विद्यालय में युवतियों के कर से ताड़ित मृदंग जलधर के समान गम्भीर नाद कर रहे थे, गगन से पतित होते क्षीणपुण्य नक्षत्रों की भाँति एक झांझ दूसरी झांझ पर गिर रही थी, मधुकर की गुंजार-सी मधुर बाँसुरी बज रही थी, अंगुलियों के आघातों से वीणा के स्वर झनझना रहे थे, सुमनों के रस में मत्त मधुकरी-सी गणिकापुत्रियाँ गीत गाकर नृत्य कर रही थीं और लास्य की शिक्षा ग्रहण कर रही थीं। शर्विलक चारुदत्त के घर में चोरी करने को घुसा था। वहाँ वाद्ययंत्र और संगीत शास्त्र के ग्रन्थ देखकर उसे नाटचाचार्य के गृह की शंका हुई थी। इस प्रकार के नाटचाचार्य उज्जयिनी जैसे नगरों में नृत्यसंगीत का शास्त्रीय ज्ञान उन नागरिकों को देते थे जो न तो राजपरिवार के थे और न संगीतनाटच के व्यवसायी थे। मालविकाग्निमित्र नाटक में जिस संगीतशाला का वर्णन आया है उसमें आगमविद और प्रयोगनिपुण आचार्यों से शिष्य सांग संगीत की नियमित

---

१. महाभाष्य १।४।२९।

शिक्षा ग्रहण करते थे, राजा उनकी शास्त्रज्ञता का आदर करता था, उन्हें निश्चित वेतन मिलता था, इनकी कलापरम्परा वंशानुगत होती थी, उनकी विशिष्टताओं का इन्हें अभिमान होता था और इनके आचार्यत्व की श्रेष्ठता का प्रमाण इनके शिष्यों में प्रकट हुए कला के उत्कर्ष में प्राप्त होता था। इन आचार्यों की यद्यपि आजीविका शिक्षण से चलती थी; परन्तु इनका कला के उन्नयन का लक्ष्य इस तथ्य को गौण बना देता था और ये अनुभव करते थे कि यदि किसी आचार्य द्वारा अपनी शिक्षणक्षमता की श्रेष्ठता सिद्ध न की गयी तो वह केवल ज्ञान बेचनेवाला बनियाँ है जिसे केवल खरीदा हुआ सौदा बेचना है और उसकी उत्कृष्टता में जिसका कोई हाथ नहीं है।

संगीत का समादर

नाटचरचनाएँ इस युग का यथार्थ चित्र उपस्थित करती हैं और नाटकों में वेश्याओं के कथोपकथन भी संस्कृत भाषा में किये जाने की छूट[1], जैसी मृच्छकटिक में स्थान-स्थान पर दिखाई भी देती है, संगीत के प्रति आदर की ही सूचना देती है। मृच्छकटिक की वसन्तसेना राज्याश्रित नहीं है, अवन्ति की साधारण नगरवधू है, तथा उसके वैभव-शाली भवन का वर्णन और उसके मतवाले हाथी का उल्लेख यह सूचना देते हैं कि उसकी सम्पन्नता नागरिकों की संगीतपरायणता का ही परिणाम थी। चारुदत्त संगीत का पंडित है और वसन्तसेना का सामाजिक स्तर इस योग्य माना गया है कि वह चारुदत्त की परिणीता पत्नी हो सकती है। संगीत के प्रति इस युग का बहुमान इससे भी सूचित होता है कि राजा लोग राजकीय भेटों में अन्य उपायनों के साथ संगीतज्ञों का भी आदान-प्रदान करते थे[2]। अग्निमित्र धारिणीदेवी के व्यंग्य का पात्र बनने की सीमा तक संगीतपरायण है, कालिदास का अज सम्भवतः इन्दुमती को संगीत का स्वयं शिक्षण देता है और उसका अग्निवर्ण संगीत का मान्य आचार्य है। जनसाधारण भी संगीत में इतना रस लेते हैं कि वे विधिवत् शिक्षित कलाविदों की चूक का निराकरण करते हैं। महाकाल के मन्दिर से लगाकर साधारण उत्सवों तक संगीतसाधना की व्यापकता दिखाई देती है।

संगीत की व्यापकता

प्रस्तुत युग के साहित्य, चित्रकला और शिल्प में संगीत की व्यापकता का बोध होता है। मध्यदेश का जीवंत समाज युद्ध-भूमि में जितना कठोर था, उसके हृदय में उतना ही माधुर्य का पारावार भी उमड़ रहा था। नटराज शंकर की आराधना करने-वाले नागों के उत्कर्षयुग में ताण्डव और लास्य की व्यापकता आश्चर्य नहीं है। भरत का नाटचशास्त्र यद्यपि उत्तम अथवा महान सात्त्विक पात्रों द्वारा आंगिक अभिनय का निषेध करता है, जिससे सूचित होता है कि गणप्रमुख और सेनापति नृत्य नहीं करते होंगे, परन्तु वह मध्यम पात्रों में इसे सहन करता है और अधम पात्रों को इसकी छूट देता है, जिससे पता लगता है कि जनसाधारण में नृत्य व्यापकता से प्रचलित था और

१. नाटचशास्त्र १७।३९ तथा ४२।

२. मालविकाग्निमित्र, पाँचवाँ अंक।

समाज का आधारभूत निम्न स्तर जीवन की विषमताओं को अपने उल्लसित नृत्यों में अंगहारों के आघात से मध्यदेश की भूमि से दूर झटकारता रहता था। भरत का नाट्य-शास्त्र रूढ़िबद्धता का विरोधी है और नाटक में समाज के नैसर्गिक व्यापारों की प्रस्तुति ही उसे ग्राह्य है, अतः हम इससे भिन्न परिणाम नहीं निकाल सकते। भरत द्वारा किया गया समाज का यह सूक्ष्म अध्ययन साहित्य में भी झलकता है। मृच्छकटिक का शर्वलिक चारुदत्त के घर में सेंध लगाकर जब घुसता है, उसे पहलेपहल मृदंग, दर्दुर, पणव, वंश और ग्रन्थ ही प्राप्त होते हैं तथा उस नाटक की वसन्त की सेना-सी नायिका वसन्तसेना मानों निसर्ग को भी संगीतमय बनाती है। इस नाटक के अनुसार अवन्ति की स्त्रियाँ ही काकली का निनाद नहीं करती थीं, संगीत का मार्मिक आलोचक चारुदत्त रेभिल की काकली पर मुग्ध हुआ बार-बार उसकी सराहना करता है। स्त्रियों का तो यह प्रमुख संस्कार ही था। कालिदास जघन पर वीणा रखकर विरहव्यथिता यक्षी की संगीतपरायणता से लेकर खेत रखानेवाली ललनाओं द्वारा अज की यशोगाथा के गान तक का उल्लेख करते हैं। उनकी वाणी में स्नान करती प्रमदाओं के गीत सुनाई देते हैं जिनके ताल पर वे पानी पर थपकियाँ देती हैं। मेघदूत महाकाल के मन्दिर के संगीत-समारोहों में पादन्यास में लीलावधूत मेखला की रुनझुन और पटह वादन की ध्वनि सुनाता है, पशुपति के ताण्डव नृत्य में चालित भुजतरुवन की झाँकी उपस्थित करता है तथा बाघ गुहाओं के भित्तिचित्र इस प्रदेश की धर्मसाधना में प्रमदाओं के स्वरों की सीढ़ियों पर चरणनिक्षेप करते अर्हतों के परिनिर्वाणप्राप्ति के मार्ग का निर्देश करते हैं। केवल नृत्य, गीत और वाद्य के प्रयोग से ही इस युग के मध्यदेशवासी के मानस में कल्लोलित स्वरवैभव मुखर नहीं हुआ, उसकी यह लालित्य साधना की प्रवृत्ति मात्र तूली के मृदु माध्यम से ही नहीं व्यक्त हुई, परुष पाषाण पर छैनी के आघातों से भी वह लिखी गयी। पद्मावती में प्राप्त तोरण के प्रस्तरखण्ड में भी उसने उसपर खचिव संगीतपरायणा बाला के अमर्त्य स्वरसंधान से अपनी तृप्ति की, जिसकी नृत्यमुद्राएँ भावकों की घनीभूत अनुरक्ति के कारण पाषाण की हो गयीं। उस काल के मध्यदेश की स्वरसाधना इस शिलाखण्ड में अंकित वाद्यपुंज से तिरंगित हो रही है और आज भी उस संगीतयुग की वेणु, वीणा, धनुर्वीणा, कांस्यताल आदि की समन्वित स्वरमूर्छना पार्थिवता का प्रणिधान अनिर्वचनीय आनन्दानुभूति में कर रही है। इन वाद्यों के लयताल पर किसी चतुष्पदी के "मं पराहीणं तुई परिगणअ सतिण्हम्"—मुझ पराधीन को अपने में सतृष्ण समझो—बोलों से हृदयगुहाओं को अनुनादित करती और इसके मृदु भावों को व्यक्त करती इस मालविका की मुद्राएँ और अंगहार उस युग के स्वरसंघात की अमर्त्य वाणी बोलते हैं, आज भी सुने जा सकते हैं। साँची के तोरण पर मारविजय का दृश्य अंकित है। प्रस्तुत युग के मध्यदेश के निवासी ने युद्ध-भूमियों में अत्रुट सफलता प्राप्त करने के पश्चात् जिन वाद्यों से अपना विजयनाद किया था, उसका हर्षोल्लास आज भी इस शिलाखण्ड से सुनाई देता है। उस समाज की नादब्रह्म की आराधना की सीधी अभिव्यक्ति करनेवाले अन्य कलाओं के इन अभिप्रायों के अतिरिक्त इनसे इतर अभिप्राय भी उस स्वरसंघात की ही उपज हैं, जो इस प्रदेश के निवासी के हृदय में गूँज रहा था, जिससे उसने इन निर्माणों की प्रेरणा ग्रहण की और जिनकी ललित मुद्राएँ इस युग की सांग-संगीतसाधना की मूर्त्तिमती मूर्छनाएँ हैं।

स्थापत्य शिल्प तथा अन्य कलाएँ

स्थापत्य

धर्मपरक स्थापत्य के अतिरिक्त इस युग के अन्य भवनों के अवशेष प्राप्त नहीं हुए, कम से कम वे अभी तक कहीं मिल नहीं सके। शूद्रक ने मृच्छकटिक में वसंतसेना के जिस आठ आँगनवाले भवन का वर्णन किया है वह नितान्त काल्पनिक नहीं हो सकता और मालविकाग्निमित्र में विदिशा के जिन प्रासादों का वर्णन किया गया है वे भी नितान्त काल्पनिक नहीं हैं। परन्तु वे केवल साहित्य में रह गये अथवा यदाकदा अर्धचित्रों में दिखाई दे जाते हैं। साहित्य और प्रस्तरशिल्प के निर्माताओं के आराध्य और वर्ण्यविषय बहुधा वरिष्ठ व्यक्ति होते हैं, अतएव जन-साधारण के आवासों का अंकन उनकी कृतियों में कम ही मिलता है। एक कुतूहलमात्र शेष रह जाता है कि इस युग के लोग अपने रहने के आवास किस प्रकार से तथा कैसे बनाते थे। अनुमान यह है कि नगरों और ग्रामों में उसी प्रकार के आवास बनाए जाते होंगे जैसे पिछले काल में बनाए जाते थे। प्रस्तुत युग का अन्त होते-होते इस देश में सैनिक और विजेता के रूप में आनेवाले यूनानियों, शकों और कुषाणों के दल भी कालान्तर में नागरिकों के रूप में बस गये होंगे और उनके द्वारा अपनी रुचि के अनुसार स्थापत्य में भी अपने आवासों की शैली में परिवर्तन भी किया गया होगा; परन्तु यह अनुमानमात्र है।

लगभग यही दशा इस युग के प्रारम्भ के हिन्दू धर्म सम्बन्धी स्थापत्य की है। विदिशा में कोई वासुदेव का प्रासादोत्तम था, यह असंदिग्ध है। माध्यमिका में संकर्षण वासुदेव का प्रासाद था, यह भी स्पष्ट है। परन्तु इनके केवल छिन्नभिन्न और उध्वस्त अवशेषमात्र प्राप्त हुए हैं, जिनके आधार पर इनकी निर्माणशैली और रूप का अनुमान कर सकना कठिन है। विदिशा के इस वासुदेव मन्दिर में हेलियोदोर ने जो गरुड़ध्वज स्थापित किया था उससे इस मन्दिर की भव्यता का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। यह गरुड़ध्वज लगभग ३० फुट ऊँचा है और इसके भी ऊपर लगभग ६-७ फुट का स्तम्भशीर्ष होगा। इसका निर्माण मन्दिर के अनुपात को दृष्टि में रखकर ही किया गया होगा; क्योंकि मुख्य निर्माण मन्दिर था, न कि यह ध्वज। इस स्थान के उत्खनन से जो कुछ प्राप्त हुआ है वह एक पत्थर का हाता है तथा कुछ नीवों के चिह्न हैं। इनसे ऊपर के निर्माण का कोई अनुमान नहीं लग सकता। इसकी बाड़ देखकर यह कहा जा सकता है कि उसका निर्माण बौद्ध स्तूपों की बाड़ों से भिन्न प्रकार का होता था। बौद्ध स्तूपों के निर्माता, स्तूपों के तोरणों और बाड़ों पर पूरी कारीगरी उड़ेल देते थे, जब कि इन मन्दिरों की सजावट का केन्द्र होता होगा मूर्त्ति का प्रधान मन्दिर। विदिशा के इस वासुदेव मन्दिर की जो बाड़ प्राप्त हुई है

वह सादा पत्थर की बनी हुई है । बीच में एक चौकोर पत्थर के खम्भे में दोनों ओर ख बनाकर पटिये फँसा दिये गये हैं जिनमें न कोई जाली है न कोई कारीगरी ।

सौभाग्य से इस युग के पिछले भाग के एक मन्दिर के अवशेष कुछ अधिक मात्रा सुरक्षित मिल गये हैं। यह है पद्मावती का नाग राजा द्वारा बनाया हुआ विष्णु मन्दि वह सुरक्षित बचा भी बड़े विचित्र प्रकार से । पद्मावती पर विजय प्राप्त कर लेने के पश्च न जाने किस भावना से उसके विजेता ने इसे एक नये निर्माण के भीतर दबा दिय मूलतः यह दो विशाल चबूतरों के रूप में था जो एक के ऊपर एक थे । नीचे का चबू लगभग ९३ फुट वर्गाकार का और ऊपर का चबूतरा ५३ फुट वर्गाकार का है । इनकी ऊँच लगभग ३२ फुट है । इसके विषय में ग्वालियर राज्य के पुरातत्त्व विभाग के भूतपूर्व सं लक श्री मो० वा० गर्दे ने लिखा है, "इस निर्माण विषयक विचार अभी अन्तिम नहीं क्योंकि अभी उत्खनन नहीं हुआ; परन्तु अब तक प्राप्त साक्ष्य के आधार पर इतिहास ज्ञात होता है कि दो चबूतरोंयुक्त एक पूर्वकालीन निर्माण पहले था और कुछ बाद को चबूतरा (१४० × १४३ फुट) जोड़ दिया गया। इस नये चबूतरे का उद्देश्य संदिग्ध सम्भव है यह विस्तार बढ़ाने के लिए किया गया हो; परन्तु भीतर के अलंकृत निर्माण एक सादा निर्माण द्वारा पूरी तरह ढक देना बुद्धिगम्य नहीं है । इस नये घेरे को निम की आवश्यकताओं के कारण बनाया गया हो, यह भी ज्ञात नहीं होता । बीच के चबूतरे कोई भाग टूटा हुआ अथवा उभरा हुआ नहीं था और उसे मजबूत करने के लिए किसी निर्माण की आवश्यकता नहीं थी । दूसरा अनुमान जो अधिक युक्तिसंगत ज्ञात होता वह यह है कि यह नया चबूतरा धार्मिक या वंशगत विद्वेष के कारण पहले निर्माण को पू तया छिपा देने के लिए बनाया गया था । इस अनुमान के अनुसार संभावना यह थी पहले का निर्माण बौद्ध स्तूप हो और यह पीछे का निर्माण उसे 'ब्राह्मण मन्दिर" में बद के लिए बना दिया गया हो; परन्तु अब तक के उत्खनन में यहाँ बौद्ध अवशेष नहीं मि हैं । अतएव अधिक सम्भाव्य विकल्प यह दिखता है कि पहले के राजवंश (अर्थात् नाग द्वारा बनाए गये मन्दिर को उनके विजेता (अर्थात् गुप्तों) ने अपने मन्दिर द्वारा पू तरह ढक दिया हो । इन दोनों निर्माणों के धरातलों में भी कोई विशेष अन्तर नहीं अतएव इन दोनों के निर्माण के समय में कोई अधिक अन्तर नहीं था । एक ईंट के टु पर कुछ अक्षर खुदे हुए मिले थे, जो अपने आकार तथा बनावट से नये चबूतरे की ज्ञ होती है । उसके अक्षर लिपिविज्ञान के आधार पर पाँचवीं शताब्दी के ज्ञात होते यह इस धारणा की पुष्टि करती है कि इस मन्दिर का रूप परिवर्तन गुप्त में हुआ है"[1] ।

इस मन्दिर के पास एक विष्णुप्रतिमा प्राप्त हुई है और उसी के पास एक नाग रा की मूर्ति भी मिली है । इनसे यह परिणाम निकाला गया है कि यह पद्मावती के न राजाओं का विष्णु मन्दिर था । इस विष्णु मन्दिर का ऊपरी भाग किस प्रकार का बना हु था यह जानने के हमारे पास कोई साधन नहीं हैं; परन्तु इसी मन्दिर के पास लगभग फुट लम्बा तोरण प्रस्तर प्राप्त हुआ है । इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि

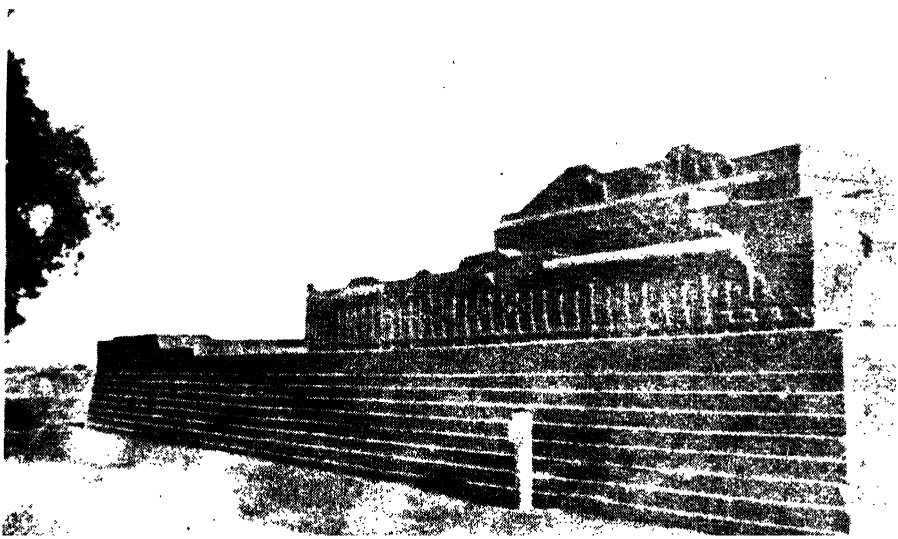
१. वार्षिक विवरण, पुरातत्त्व विभाग, ग्वालियर राज्य, संवत् १९८४, पृष्ठ १९ ।



विष्णु मूर्ति पद्मावती (पृष्ठ ६०० तथा ६२३)

★

विष्णु मन्दिर, पद्मावती (पृष्ठ ६००)









पद्मावती के नाग राजाओं के विष्णु मन्दिर पर प्राप्त स्त्रियों के सिरों की मृण्मूर्तियां (पृष्ठ ६०१ तथा ६३३)







दोनों चबूतरों के ऊपर कोई अत्यन्त मनोरम निर्माण था, जिसमें प्रस्तर और ईंटों से गर्भ-गृह, प्रदक्षिणापथ आदि बने हुए थे।

इस मन्दिर के पास अधिक संख्या में मृण्मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इनसे यह अनुमान लगाया जाता है कि इनका उपयोग मन्दिर की दीवारों को सजाने में किया जाता होगा। पास ही एक स्तम्भशीर्ष मिला है, जिसमें दोनों ओर सूर्य की आकृति बनी हुई हैं। यह स्तम्भ-शीर्ष संभवत: इसी मन्दिर के प्रांगण में स्थित होगा। इसका स्तम्भ संभवत: वहाँ पर ही कहीं दबा होगा। इसी मन्दिर के पास एक अत्यन्त कुतूहलपूर्ण ताड़-स्तम्भशीर्ष प्राप्त हुआ है। इसमें ताड़वृक्ष की आकृति के साथ एक छोटा-सा नन्दी भी बना हुआ है। सम्भव है यह नागों के राजचिह्नयुक्त स्तम्भ इसी मन्दिर में स्थापित किया गया हो अथवा पास ही कहीं नागों की राजसभा हो, जिसे यह स्तम्भ अलंकृत करता हो।

पद्मावती के इस नाग राजाओं के बनवाए हुए मन्दिर के मूल रूप की कल्पना प्रस्तुत कर सकना सम्भव नहीं है; परन्तु भूमरा में प्राप्त शिव मन्दिर उनके द्वारा निर्मित मन्दिरों की कुछ विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं।

भूमरा ग्राम जिसे भूभरा भी कहते हैं, भूतपूर्व नागौद राज्य के उँचहरा ग्राम से बारह मील पश्चिम की ओर है। इस स्थान पर एक चीरा प्राप्त हुआ था जो महादेव पादानुध्यात महाराज हस्ति तथा महाराज सर्वनाथ के राज्य की सीमाओं का निर्धारण करने के लिए सन ५०८-९ में गाढ़ा गया था। इसके पास ही अत्यन्त टूटी-फूटी अवस्था में भाकुल (भारकुल, अर्थात् भारशिव नागों के कुल देवता) शिव का मन्दिर सन १९२० में प्राप्त हुआ था।

वास्तव में यह प्रदेश कभी भारशिव नागों की समृद्धि का क्षेत्र रहा है। भारहुत नामक स्थान, जहाँ प्रसिद्ध अर्धचित्रों से युक्त बौद्ध स्तूप के अवशेष प्राप्त हुए हैं, वास्तव में भारभुक्ति (भारशिव नागों का प्रदेश) था। दुरेहा नामक स्थान पर एक स्तम्भ प्राप्त हुआ है, जिस पर श्री जायसवाल ने "वाकाटकानाम्" पढ़ा है और इसके ऊपर चक्र बना हुआ है। भूमरा से दक्षिण की ओर खोह नामक ग्राम है जहाँ इसी युग का अत्यन्त सुन्दर एकमुख शिवलिंग प्राप्त हुआ है। भूमरा से १३ मील दूरी पर गंज नचना अथवा नचना प्राचीन चणक नामक स्थान है। इस स्थान पर इस युग का शिव मन्दिर प्राप्त हुआ है और वाकाटकों के शिलालेख भी प्राप्त हुए हैं। यह प्रदेश प्रारम्भ में भार-शिव नागों का क्षेत्र था जिनके द्वारा आगे चलकर वह वाकाटकों को दिया गया और फिर गुप्तों तथा वाकाटकों के बीच की राज्यसीमा बना।

भूमरा के मन्दिर की चारों ओर की ईंटों में से कुछ का परीक्षण स्वर्गीय श्री जायसवाल ने किया था और वे इस परिणाम पर पहुँचे थे कि उन पर लगभग २०० ई० के ब्राह्मी अक्षर लिखे हुए थे[1]। उनका मत है कि यह मन्दिर सन २०० ई० के बाद का किसी तरह नहीं हो सकता और वह सन १५०-२०० ई० का होना चाहिए[2]।

---

१. अंधकारयुगीन भारत, पृष्ठ ४७२।

२. वही, पृष्ठ ४७४।

भूमरा के इस मन्दिर में बारह फुट लम्बा-चौड़ा गर्भगृह था, जिसमें छह फुट ऊँचा तथा तीन फुट व्यास का एकमु खलिंग स्थापित था। इस पर जो शिव का मुख बना हुआ है उसके मस्तक का तीसरा नेत्र तथा अन्य अलंकरण उसी प्रकार के हैं जिस प्रकार के उदयगिरि के वीणागुहा के एकमुख लिंग पर प्राप्त होते हैं। गर्भगृह के चारों ओर प्रदक्षिणा-पथ था और इस प्रकार यह ३५ फुट लम्बे-चौड़े दूसरे भवन से घिरा हुआ था। इसके सामने आठ फुट दो इंच लम्बा, पाँच फुट आठ इंच चौड़ा सभामण्डप था। सभामण्डप के दोनों ओर दो छोटे-छोटे मन्दिर और बने हुए थे। श्री राखालदास बनर्जी ने इस मन्दिर का निर्माण काल ई० ५ वीं शताब्दी माना है[1]। परन्तु यह कालनिर्धारण निश्चय ही सही नहीं है। इस मन्दिर में पूरे ताड़वृक्ष के तने के द्वारस्तम्भ प्राप्त हुए हैं और स्थान-स्थान पर ताड़पत्रों के अंलकरण बने हुए हैं। ताड़ को राजचिह्न के रूप में नागों ने ग्रहण किया था। अन्यत्र कहीं भी इस प्रकार के ताड़वृक्षों के अलंकरण प्राप्त नहीं हुए हैं। ये ताड़वृक्ष मन्दिर को असंदिग्ध रूप में पद्मावती के भारशिव नागों से सम्बद्ध करते हैं। इन अवशेषों में प्राप्त मूर्त्तियों की तुलना यदि विदिशा में प्राप्त नाग राजाओं की मूर्त्तियों से की जाए तब स्पष्ट ही उनकी निर्माण कला में समानता प्रकट होगी।

नचना में प्राप्त मन्दिर जिसे पार्वती मन्दिर कहा गया है, निर्माण शैली में भूमरा के शिव मन्दिर से बिलकुल मिलता हुआ है। बीच में चौकोर गर्भगृह, फिर प्रदक्षिणा-पथ तथा आगे सभामण्डप बने हुए हैं। गर्भगृह के द्वार के प्रस्तरों पर अत्यंत सुन्दर मूर्त्तियाँ बनाई गयी हैं तथा द्वार के दोनों ओर गंगा तथा यमुना की मूर्त्तियाँ बनाई गयी हैं। खोह के मन्दिर का एकमुख शिवलिंग ही प्राप्त हो सका है। जानखट का नागकालीन मन्दिर अत्यन्त नष्ट-भ्रष्ट रूप में प्राप्त हो सका है और यहाँ कुछ मूर्त्तियाँ और स्तम्भों के अवशेष ही प्राप्त हो सके हैं।

राजगृह के पास मणियारमठ में जिस मन्दिर के अवशेष प्राप्त हुए हैं वह इस युग के नाग राजाओं की कृति ज्ञात होता है। यहाँ शिवलिंग, विष्णु मूर्त्ति तथा एक गणेश मूर्त्ति के अतिरिक्त नाग-फनों से आच्छादित पुरुष तथा स्त्रियों की मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इसे कुछ विद्वानों ने मणिनाग का मन्दिर कहा है[2]। वास्तव में यह नाग राजाओं द्वारा बनवाया विष्णु या शिव का मन्दिर था।

इस युग के मन्दिरों के ऊपर कोई शिखर होता था अथवा नहीं, इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। नचना के पार्वती मन्दिर के गर्भगृह पर दूसरी मंजिल बनी हुई है। भूमरा के शिव मन्दिर के पास आमलक प्राप्त हुआ है, जो मन्दिर के शिखर के ऊपर स्थापित किया जाता है। पद्मावती के नाग राजाओं के मन्दिर के पास कोई आमलक प्राप्त नहीं हुआ। आगे गुप्त युग में जो मन्दिर बने वे सपाट छत के शिखररहित मन्दिर थे। ई० ७ वीं शताब्दी से गोल सुन्दर शिखरयुक्त मन्दिर प्राप्त होने लगते हैं। श्री जायसवाल का कथन है कि नागों की नागरशैली में चौकोर शिखर रहा करते थे।

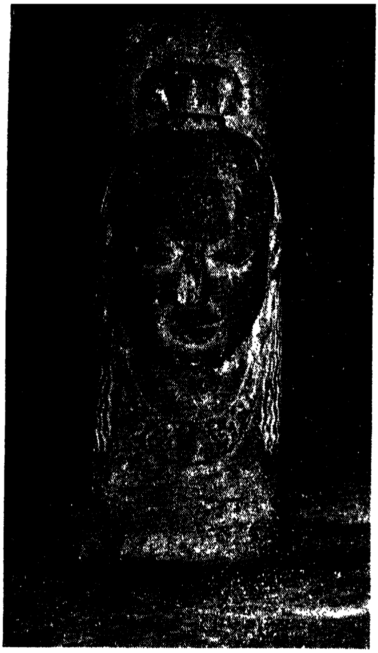
---

१. मेमोइर्स ऑफ दी आर्कालॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, नं. १६, पृष्ठ ३।

२. ए न्यू हिस्ट्री ऑफ दी इण्डियन पीपल, खंड ६, पृष्ठ ४२६।



एकमुख शिव खोह (पृष्ठ ६०१ तथा ६२९)



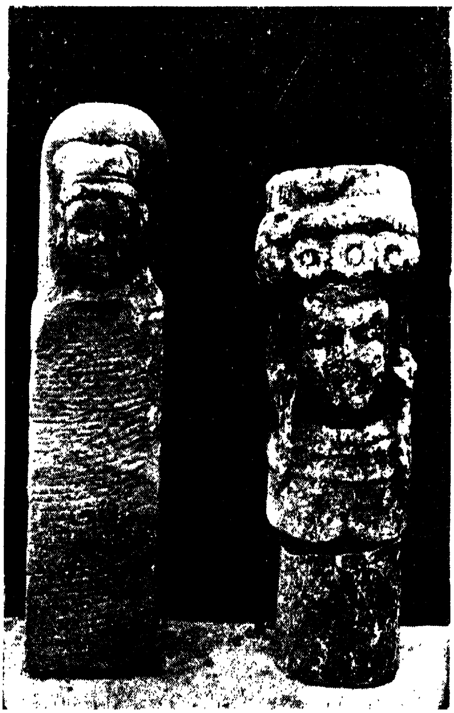
एकमुख शिव, वीणा गुहा, उदयगिरि
(पृष्ठ ६२९)



अष्टमुख शिव, मन्दसौर
(पृष्ठ ६३०)

★

एकमुख शिव, विदिशा (पृष्ठ ६२९)



गुप्तों के समय में इस चौकोर शिखर को नहीं अपनाया गया, परन्तु उनके पश्चात् ही जो मन्दिर बने, उनमें ये चौकोर शिखर गोल आकृति ग्रहण कर सामने आए।

उदयगिरि का गुहामंडप

कालिदास का मेघ चलते-चलते दशार्ण देश में पहुँचा। यक्ष के मिस कालिदास कह उठा "हे मेघ, जब तुम दशार्ण के पास पहुँचोगे तब वहाँ के फूले हुए उपवनों के बाड़, फूले हुए केवड़े के कारण उजले दिखाई देंगे, गाँवों के मन्दिर कौवों आदि पक्षियों के घोंसलों से भरे मिलेंगे, वहाँ के जंगल पकी हुई काली जामुनों से लदे मिलेंगे और हंस भी वहाँ बहुत दिनों के लिए आ बसे होंगे। दशार्ण देश की विदिशा नाम की प्रसिद्ध राजधानी में पहुँचते ही तुम्हें विलास की सब सामग्री मिल जाएगी, क्योंकि जब तुम वहाँ की सुहावनी, मन-भावनी और नाचती हुई लहरोंवाली वेगवती नदी के तीर पर गर्जन करके उसका मीठा जल पियोगे तब तुम्हें ऐसा लगेगा मानों तुम किसी कटीली भौहोंवाली कामिनी के ओठों का रस पी रहे हो। वहाँ पहुँचकर तुम नीच नाम की पहाड़ी पर थकावट उतारने के लिए उतर जाना। वहाँ के फूले हुए कदम्ब के वृक्षों को देखकर ऐसा जान पड़ेगा मानों तुमसे भेंट करने के कारण उनके रोम-रोम फहरा उठे हों[1]। दशार्ण निःसंदेह सुन्दर था; परन्तु हमें यहाँ कालिदास के केवल नीचगिरि का विवेचन करना है। उसके समय में इस नीच-गिरि पर विहार करनेवाली पण्यस्त्रियों के साथी-संगी, विदिशा के नागरिकों से भी हमारा यहाँ सम्बंध नहीं है। हम यहाँ केवल यह कहना चाहते हैं कि कालिदास के समय में इस नीच-गिरि अर्थात् उदयगिरि पर उद्दाम विलास का केन्द्र था, विविध देवी-देवताओं के आराधना का स्थल वह कभी बाद में ही बना है। हमारा अनुमान है कि पिछले शुंगों के समय में राजसभा में विलास की जो एक लहर बही थी उसने विदिशा के नागरिकों को भी आप्लावित कर दिया था। इस प्रवाह में शुंग साम्राज्य बह गया तथा फिर आया नव नागों का संयम और ओजस्वितापूर्ण युग। उनके समय में इस नीचगिरि-उदयगिरि पर शिव मन्दिर की स्थापना हुई। उदयगिरि की कुछ गुहाएँ निश्चय ही नागों के समय में बन गयीं थीं। क्रमांक चार की वीणा गुहा के द्वारप्रस्तरों की तुलना यदि भूमरा के शिव मन्दिर के द्वार पर प्राप्त अलंकरणों से की जाए तो यह कथन अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है। इसके एक ओर वीणा बजाते हुए मानवाकृति बनी हुई है तथा दूसरी ओर का मानव भी कोई तंतुवाद्य बजा रहा है। द्वार के दोनों ओर दो द्वारपाल बने हुए हैं। उनके मुख यद्यपि टूट गये हैं फिर भी एक पर नागछत्र स्पष्ट दिखाई देता है। इस गुहा को नागकालीन सिद्ध करने के लिए सबसे बड़ा प्रमाण इसके गर्भगृह में स्थापित एकमुख शिवलिंग है। इसकी तुलना यदि खोह तथा भूमरा में प्राप्त शिवलिंग से की जाए तो उनमें अद्भुत समानता दिखाई देगी। शिव के मुख पर गम्भीर प्रशान्त भाव का अंकन कर नागकालीन कलाकार ने आगे की ध्यानमुद्रा की बौद्ध मूर्तियों की कल्पना का बीजारोपण किया था।

उदयगिरि की इस गुहा का निर्माण नागों के समय में हुआ था, इसका अटूट प्रमाण उदयगिरि की क्रमांक पाँच की गुहा में मिलता है। इस गुहा में प्रसिद्ध महावराह की मूर्ति बनी हुई है। इस वराह प्रतिमा को विद्वानों ने चन्द्रगुप्त द्वितीय का प्रतीक माना है।

१. मेघदूत १।२५-२७।

अपनी दंतकोटि पर यह महावराह पृथिवी को धारण किये हुए हैं और उसके वाम पाद के नीचे दबा हुआ है नागराज। इस वराह प्रतिमा का विस्तृत विवेचन हम अन्यत्र करेंगे; क्योंकि यह स्पष्ट ही गुप्त सम्राटों की कृति है। यहाँ हम इस नाग और पृथिवी के अंकन का अर्थमात्र स्पष्ट कर देना चाहते हैं। गुप्त सम्राटों ने पृथिवी के जिस साम्राज्य का वरण किया था वह उनको नागों से प्राप्त हुई थी। इस विजय का अत्यन्त भव्य और विस्तृत चित्रण, कभी नाग राजाओं के वशवर्त्ती और अब परम भट्टारक महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के पानुध्यायक किसी सनकानिक महाराज ने नागों की वीणा गुहा के पास ही इस प्रकार किया। वीणा गुहा को नागकालीन गुहास्थापत्य का उदाहरण माना जा सकता है।

बौद्ध स्थापत्य

इस युग के जैन और बौद्ध स्थापत्य लगभग समस्त देश में फैले हुए हैं। शुंग, सातवाहन, नाग तथा वाकाटक राजाओं के समय में बौद्ध तथा जैन निर्माणों का निषेध नहीं हुआ। वे स्वयं शैव अथवा वैष्णव थे; परन्तु उनकी प्रजा को अपने विश्वास के अनुसार धर्म के पालन करने तथा तत्सम्बन्धी निर्माण करने की पर्याप्त छूट थी। शुंगों के राज्य में सातवाहनों के शिल्पियों के एक अध्यक्ष ने साँची के बौद्ध स्तूप पर तोरण द्वार का निर्माण किया था। अशोककालीन साँची के बौद्ध स्तूप को शुंगों के समय में विस्तृत किया गया और उसके चारों ओर पत्थर के विशाल तोरण-द्वार एवं बाढ़ बनाई गयी। भारहुत का बौद्ध स्तूप भी शुंगों के समय में ही बना था। दक्षिण में अजण्टा की बौद्ध गुहाओं का निर्माण भी सम्भवतः शुंगों के ही समय में हो गया था और वाकाटकों के समय में तो इन गुहाओं में अत्यन्त उत्कृष्ट भित्तिचित्रों का निर्माण शुरू हो गया था। बाघ गुहाओं का निर्माण भी ईसवी दूसरी तीसरी शताब्दी में प्रारम्भ हो गया होगा। भारहुत और साँची के बौद्ध अवशेषों का सम्बन्ध स्थापत्य की अपेक्षा मूर्तिकला से अधिक है। समस्त भारत के इस युग के सब स्थापत्यों का विवेचन यहाँ न सम्भव है न उपयुक्त ही है। अतएव यहाँ हम बाघ गुहाओं के विषय में ही संक्षेप में लिखेंगे। बाघ गुहाओं का विवरण स्थापत्य, मूर्तिकला और चित्रकला के स्पष्ट तीन भागों में हो सकता है। इस विवरण को तीन स्थानों में बाँट देने से मध्यभारत की इस युग की इस महानतम कृति का सम्यक् रूप प्रस्तुत न हो सकेगा। अतएव आगे हम बाघ गुहाओं के सम्बन्ध में इसके निर्माण काल, स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्रकला आदि का विवरण एक ही क्रम में दे रहे हैं।

बाघ गुहामंडप

वर्त्तमान मध्यभारत के धार जिले में स्थित बाघ गुहाएँ भारतीय कला के इतिहास में विशेष महत्त्व रखती हैं। विन्ध्य श्रेणी के रेतीले पत्थर के एक पर्वत पर नर्मदा की एक सहायक नदी बाघ या बाग के किनारे ये गुहाएँ स्थित हैं। आसपास का क्षेत्र पहाड़ियों और सुहावने वनों से घिरा हुआ है, पास ही में बाघ नामक एक कसबा है। इस नदी और कसबे के नाम के आधार पर ही इन गुहाओं को बाघ गुहा के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इस बाघ कसबे के दक्षिण-पश्चिम की ओर किसी प्राचीन नगरी के अवशेषों की नीवें हैं, जिनका सम्बन्ध जनश्रुति मोरध्वज राजा से स्थापित करती है। बाघ के पास ऐतिहासिक

महत्त्व की सप्तमातृकाओं की वे मूर्त्तियाँ हैं जो पाँचवीं या छठी शताब्दी की कही जाती हैं। इस बाघ कसबे के पूर्व की ओर आधा मील पर कुछ गुहाओं के अवशेष हैं जिन्हें गिरिश्रृंगों से काटकर बनाने का प्रयास अधूरा ही छोड़ दिया गया और फिर वे प्रख्यात गुहाएँ बनाई गयीं जो आज इस स्थल को महत्त्व प्रदान करती हैं।

विन्ध्य के दक्षिण ढाल पर बाघ नदी से १५० फुट की ऊँचाई पर ये गुहाएँ बनी हुई हैं। संख्या में ये नौ हैं और सामने से इनकी चौड़ाई ७५० गज है। प्रथम गुहा गृह गुहा कहलाती है। यह २३ फुट लम्बी तथा २४ फुट चौड़ी एक कमरे की थी। यह कमरा चार खम्भों पर बना हुआ था, इसमें प्रवेश करने का मण्डप तथा खम्भे अब पूरी तरह नष्ट हो गये हैं और इनमें कुछ दर्शनीय शेष नहीं बचा है।

दूसरी गुहा को लोग पाण्डवों की गुफा कहने लगे हैं। यह समस्त गुहाओं से अधिक विस्तृत तथा सबसे अधिक सुरक्षित है, परन्तु धुआँ और चमगीदड़ों ने इसके चित्रों को नष्ट कर दिया है। इ.के बीच में एक बहुत बड़ा मण्डप है, जिसके तीनों ओर कोठरियाँ बनी हुई हैं। मण्डप के सामने खम्भों पर सधी एक दालान है और पीछे की ओर स्तूपमंदिर है। सामने से पीछे की ओर तक इसकी लम्बाई १५० फुट से अधिक है। दालान के खम्भे गिर गये हैं और उनके केवल ठूँठ शेष रह गये हैं। इस दालान के जो अवशेष पड़े मिले हैं उनसे ज्ञात होता है कि उसे सिंहमुख तथा कमल के अलंकरणों से युक्त चैत्य मुद्राओं द्वारा सजाया गया है। दालान के दोनों ओर शिलाओं में दो मूर्त्तियों के आले बने हुए थे, इनमें से एक अब तक सुरक्षित है। उसमें नाग की मूर्त्ति बनी हुई है और आजकल किसी ने गणेश की मूर्त्ति बना दी है। दालान में से भीतर के सभामण्डप में जाने के लिए तीन द्वार बने हुए हैं और उन द्वारों के बीच में दो खिड़कियाँ भी हैं। इनमें केवल मध्य के द्वार के ऊपर के पत्थर पर अलंकरण उत्कीर्ण किये गये हैं। इन द्वारों के अतिरिक्त उत्तर-पश्चिम की ओर द्वार तथा खिड़कियाँ हैं।

मण्डप की छत बीस खम्भों पर सधी हुई है। ये खम्भे विविध आकृतियों के बने हुए हैं। प्रत्येक खम्भे के नीचे एक चौकोर चौकी है; परन्तु ऊपर उनकी बनावट विभिन्न प्रकार की है। इनमें से कुछ अठपहलू से सोलह पहलू तक हैं और कुछ में चौबीस पहलें भी हैं। कुछ पर गोल धारियाँ दौड़ाई गयी हैं, कुछ पर चपटी पट्टियाँ बनी हुई हैं और कुछ पर विभिन्न अभिप्राय बने हुए हैं। सभामण्डप के मध्य में गोल धारियोंयुक्त चार खम्भे खड़े हुए हैं। बाघ की रेतीली चट्टानों के धसकने के डर से इतने अधिक खम्भे खड़े करने पड़े थे।

इस मण्डप के तीन ओर भिक्षुओं के रहने की बीस कोठरियाँ बनी हुई हैं। ये बहुत छोटी-छोटी आठ फुट ऊँची लगभग इतनी ही लम्बी-चौड़ी हैं, जिनमें प्रत्येक में दिया रखने के लिए एक छोटा आला बना हुआ है। पूर्व के कोने की कोठरी से मिली हुई दो अधूरी कोठरियाँ हैं और उत्तर के कोने की कोठरी के पास कुछ ऊँचाई पर कुछ और कोठरियाँ बनी हुई थीं; परन्तु यहाँ चट्टान गिर पड़ी है तथा उनका आकार-प्रकार ज्ञात नहीं होता।

सभामण्डप के पीछे का जो स्तूपमन्दिर है, उसमें अन्तरालमण्डप में से प्रवेश-मार्ग है, जिसके दोनों ओर दो खम्भे बने हुए हैं। स्तूपमन्दिर के द्वार पर दोनों ओर बोधिसत्त्व की दो मूर्त्तियाँ बनी हुई हैं। अन्तरालमण्डप की दाहिनी और बायीं ओर तीन-तीन

मूर्त्तियों के दो समूह बने हुए हैं। इन सब मूर्त्तियों का वर्णन हम आगे करेंगे। स्तूपमन्दिर के गर्भगृह में चट्टान में से कटा हुआ फर्श से छत तक एक स्तूप बना हुआ है।

इसी क्रमांक दो की गुहा में महाराज सुबन्धु का ताम्रपत्र प्राप्त हुआ था। इसके सम्बन्ध में विस्तार से हम आगे लिखेंगे।

तीसरी गुहा को आजकल लोग हाथीखाना कहते हैं। इसमें भी बौद्ध भिक्षुओं के रहने के लिए कोठरियाँ बनी हुई हैं, परन्तु वे अधिक सुसज्जित हैं तथा उन पर भित्तिचित्र बने हुए हैं। अतएव अनुमान यह किया जाता है कि बौद्ध संघ के अधिक सम्माननीय सदस्यों के लिए उनका निर्माण हुआ होगा। इसका आगे का बहुत-सा भाग गिर गया है। आज यह गुहा अत्यन्त ध्वस्त अवस्था में है; परन्तु अपने मूल रूप में जब उसके खम्भों और दीवारों पर अत्यन्त सुन्दर चित्र बने होंगे तब वह बहुत मनोहारी रही होगी। इन चित्रों के जो अवशेष अभी दिखाई देते हैं वे बहुत सुन्दर हैं। सामने की मुहार पर जो अलंकृत पट्टी चित्रित है, उसमें नीचे हाथी और सिंहों की पंक्ति है और ऊपर सिंहमुख तथा चैत्य मुद्रा के अभिप्राय अंकित हैं। आगे के सभामण्डप के पीछे एक सभामण्डप और बनाया जारहा था, जो संभवतः अधूरा छोड़ दिया गया था।

इस अधूरी गुहा के निरीक्षण से गुहामण्डपों के निर्माण की तथा उन्हें अलंकृत करने की विधि पर प्रकाश पड़ता है। इस गुहा का कुछ अंश अधूरा है। कुछ अंश में भित्तिचित्र बनाने के लिए पलस्तर का पहला कोट कर दिया गया है; किन्तु उसके ऊपर का पलस्तर का कोट तथा चित्र नहीं बनाए गये हैं। भीतर गुहा का जो भाग अधूरा खुदा पड़ा है उससे यह प्रकट होता है कि चट्टान को छत की ओर से काटना प्रारंभ करते थे और उसे कोरते-कोरते फर्श तक ले आते थे। भूमि पर जो भवन बनाए जाते हैं उनका निर्माण नीचे की ओर से ऊपर की ओर होता है; परन्तु चट्टानों में काटी गयी ये गुहाएँ इसके विपरीत ऊपर से नीचे की ओर बनाई जाती थीं।

चौथी गुहा आजकल रंगमहल कहलाती है। तीसरी गुहा से यह ढाई सौ फुट की दूरी पर है; परन्तु दूसरी ओर क्रमांक पाँच की गुहा से मिली हुई है। चौथी और पाँचवीं गुहाओं के सामने दो सौ बीस फुट लम्बी बीस खम्भों पर आधारित एक दालान थी। आज ये खम्भे और दालान की अधिकांश छत गिर गयी है; परन्तु दोनों ओर के बगली सतून अभी बने हुए हैं; और पीछे की दीवार तथा छत पर उन चित्रों के अवशेष दिखाई देते हैं जो मूल रूप में उन पर बनाए गये थे। बनावट के विधान में यह गुहा क्रमांक दो की गुहा के समान ही है। उसी प्रकार सभामण्डप में प्रवेश के लिए तीन द्वार तथा दो खिड़कियाँ हैं, बीच में चौकोर सभामण्डप है, तीन और कोठरियाँ बनी हुई हैं तथा पीछे की ओर स्तूपमन्दिर; तथापि यह चौथी गुहा दूसरे क्रमांक की गुहा की अपेक्षा अधिक विस्तृत तथा अधिक सुसज्जित है। इसका सभामण्डप ९४ फुट लम्बा है और इसकी छत ३८ खम्भों पर आधारित है। कोठरियाँ भी दूसरे क्रमांक की गुहा की अपेक्षा आठ अधिक हैं; परन्तु इसका स्तूपमंदिर दूसरे क्रमांक की गुहा की अपेक्षा बेडौल है। इसके सामने न अन्तरालमन्दिर है, न मूर्त्तियाँ हैं। इसके विपरीत बीच के सभामण्डप, द्वार, खिड़कियों आदि का अलंकरण बहुत विस्तार से किया गया है। इसके एक द्वार पर दोनों ओर

मकरवाहिनी देवी के दर्शन होते हैं। पद्मासनासीन बुद्ध और चैत्याकार खिड़की तथा विचित्र आकृति के पशुओं के अलंकरण अनेक स्थानों पर बने हुए हैं।

पाँचवें क्रमांक की गुहा ९५ फुट लम्बी तथा ४४ फुट चौड़ी है। इसका उपयोग संभवतः भिक्षुओं के एक स्थान पर बैठकर प्रवचन सुनने के लिए होता था; क्योंकि इसमें बौद्ध भिक्षुओं के रहने की कोठरियाँ नहीं हैं। संभवतः चौथे और पाँचवें क्रमांक की गहाएँ साथ-साथ बनाई गयी थीं। इसकी दीवारों पर सम्भवतः चित्र बने हुए थे और वही इसके मात्र अलंकरण थे।

पाँचवीं गुहा से मिली हुई छठे क्रमांक की गुहा है। इन दोनों को जोड़नेवाला एक चौड़ा मार्ग बना हुआ है। इसका बीच का सभामण्डप ४६ फुट वर्गाकार है। इसके पीछे की ओर तीन कोठरियाँ बनी हुई हैं और दो कोठरियाँ दक्षिण-पश्चिम की ओर हैं। सामने की ओर एक द्वार तथा दो खिड़कियाँ हैं।

इसके आगे सात, आठ और नौ क्रमांक की गुहाएँ हैं। ये तीनों गुहाएँ गिर गयी हैं तथा मलवे और चट्टानों से भरी हुई हैं, इनमें कोई उल्लेखनीय बात दिखाई नहीं देती।

बाघ गुहाओं के स्थापत्य से निकट सम्बन्ध उस प्रक्रिया का भी है जिसके द्वारा इनके चित्रों के धरातल को तैयार किया जाता था। सबसे पहले कंकड़-चूना तथा पटसन एवं फुलसन के रेशों के साथ मिलाकर कूटी हुई लाल मिट्टी से नीचे का स्तर बनाया जाता था। बाघ का यह स्तर मजबूत न बन सका और इसी कारण वहाँ के बहुत से चित्र नष्ट होगये। अजंटा में इसी प्रक्रिया का प्रयोग किया गया है; परन्तु वहाँ का स्तर अधिक मजबूत बन सका। अजंटा के चित्र भिन्न-भिन्न समयों पर बनाए गये हैं; परन्तु बाघ के सभी चित्र एक साथ बने थे ऐसा ज्ञात होता है।

बाघ गुहा का नाम

लोकमस्तिष्क अत्यन्त कल्पनाशील है। जब वह किसी निर्माण का मूल नाम भूल जाता है तो उसके लिए अपनी रुचि और अनुमान के अनुसार नये नाम रख लेता है। पाण्डवों की गुफा, हाथीखाना, रंगमहल आदि बाघ गुहासमूहों को दिये गये नाम इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं। बौद्ध भिक्षुओं के आवास के लिए तथा गौतम बुद्ध के वैराग्यप्रधान धर्म का उपदेश देने के लिए निर्मित ये गुहाएँ न हाथीखाना थीं, न उनका कोई पाण्डवों से सम्बन्ध था और न वे प्रचलित अर्थों में रंगमहल ही थीं। बाघ गुहा नाम भी अत्यन्त आधुनिक और बाघ नदी के कारण दिया गया है। यहाँ पर स्थित एक आधुनिक देवीमन्दिर का नाम बाघेश्वरी देवी का मन्दिर है। परन्तु यह मन्दिर आधुनिक है और इस बाघेश्वरी से बाघ ग्राम, नदी एवं गुहाओं ने नाम ग्रहण नहीं किया, उलटे बाघ ग्राम के देवीभक्तों की अधिष्ठात्री तथा उनके द्वारा प्रतिष्ठापित होने के कारण इस देवी को बाघेश्वरी नाम प्राप्त हुआ है।

फिर बाघ नदी के किनारे स्थित इस बौद्ध विहार का मूल नाम क्या था, यह जिज्ञासा बहुत प्राकृतिक है। यह प्रश्न यद्यपि अत्यन्त कौतूहलवर्धक एवं मनोरंजक है, परन्तु इसका उत्तर सरल नहीं है, और वह साध्य भी न होता यदि इन गुहाओं के जीर्णोद्धार तथा सफाई

के समय सन १९२९ में पुरातत्त्व विभाग के मिस्त्री की दृष्टि उस ताम्रपत्र पर न पड़ती जो अब गूजरी महल में स्थित पुरातत्त्व विभाग के संग्रहालय में सुरक्षित है। इसका संक्षिप्त विवरण सन १९२९ की तुरातत्त्व-विभाग की वार्षिक रिपोर्ट में दिया गया है; परन्तु उसका सम्पूर्ण पाठ गत सोलह वर्षों में भी सामने न आने से इस महत्त्वपूर्ण बौद्ध विहार विषयक बहुत-सी जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी।

इस ताम्रपत्र का सम्पूर्ण पाठ जो श्री मो० बा० गर्दे ने पढ़ा है, नीचे दिया जाता है:—

पाठ

(पंक्ति १) ॐ(स्वस्ति) माहिष्मतीनग (रान्म) हा (रा) जसुबन्धुः कुशली दासिल-कपल्लीप-

(पंक्ति २)..... (न) लक दित्योद्ग्राहकायुक्तकविनियुक्तक-

(पंक्ति ३) चाटभटकाष्ठिकगमागमकदूतप्रेषणिकादीन्ग्रामप्रतिवा-

(पंक्ति ४) सिनश्च समाज्ञापयति विदितमस्तु वः(वो) यथैष ग्रामो मया दत्तट-

(पंक्ति ५) ककारितकलयनविहारे मातापित्रोरात्मनश्च पुण्याप्यायनार्त्थमाचन्द्रा-

(पंक्ति ६) र्क्कार्ण्णवग्रहनक्षत्रक्षितिस्थितिसमकालीनः (नो) भगवतो बुद्धाय (बुद्धस्य) गन्धधूप-

(पंक्ति ७) माल्यबलिसत्रोपयोज्यः (ज्यो) भग्नष्फु (स्फु) टितसंस्कारणार्त्थमार्य्य-भिक्षुसङ्घस्य

(पंक्ति ८) चातुर्द्दिशाभ्यागतकस्य चीवरपिण्डपातग्लानप्रत्ययशे (श) य्यासनभै-

(पंक्ति ९) षज्यहेतोराग्रहारस्सोद्रङ्गस्सोपरिकरः (रो) भूमिच्छिद्रन्यायेनाग्रहारो-

(पंक्ति १०) तिसृष्टः (ष्टो) विदित्वाद्यदिवसादारभ्यास्मदीयैरेष्य (रन्य) विषयपति-मिश्च-

(पंक्ति ११) प्रि (प्री) त्यास्मत्प्रीत्या च भिक्षवो भुञ्जन्तो न व्यासेद्धव्याः षष्टिवर्षं (सहस्राणि)

इस ताम्रपत्र में माहिष्मती के महाराज सुबन्धु द्वारा भगवान बुद्ध के 'गन्धधूप माल्या-बलि सत्र' की योजना के लिए, 'भग्न स्फुटित' के संस्करण के लिए एवं 'आर्य भिक्षु संघ' के चारों दिशा से आकर ठहरने पर उनके 'चीवर पिण्ड पातग्लान प्रत्यय शय्यासन भैषज्य' के हेतु 'दासिलक पल्ली' नामक ग्राम का दान दिया गया है। इस ताम्रपत्र की चौथी और पाँचवीं पंक्ति से यह ज्ञात होता है कि यह दान 'कलयन' नामक विहार को दिया गया है।

इस कलयन का सम्बन्ध किस वस्तु से है यह भी नहीं कहा जा सकता। संभव है इसकी 'कला' से विमुग्ध होकर इसके निर्माता ने इसका नाम 'कलायन (कला + अयन) विहार' रख दिया हो तथा ताम्रपत्र के उत्कीर्णक ने उसे गलती से 'कलयन' लिख दिया हो। एक दो अशुद्धियाँ इसमें हैं भी। परन्तु 'कलयन विहार' नाम लिखने में उत्कीर्णक की गलती मानकर चलना पूर्ण समीचीन भी नहीं है।

यह ताम्रपत्र क्रमांक दो की गुहा के पास की एक कोठरी में मिला है। इससे एक शंका हो सकती है कि 'कलयन विहार' केवल दूसरे क्रमांक की गुहा का ही नाम हो। इस गुहा की प्रधान कोठरी में स्तूप भी है और उसके अलिन्द में बुद्ध एवं बोधिसत्त्वों की विशाल



बाघ गुहा चित्र (पृष्ठ ६१५)



बुद्ध बाघ (पृष्ठ ६१६)



नाग राजा और नाग रानी की मूर्त्तियाँ
बाघ (पृष्ठ ६१४)



हाथी पर जलूस, बाघ (पृष्ठ ६१६)

प्रतिमाएँ भी हैं। यदि शुद्ध रूप 'कलायन' माना जाए, तब तो यह नाम सम्पूर्ण गुहाओं के लिए ही होगा; क्योंकि वास्तविक कलायुक्त ३,४ और ५ क्रमांक की गुहाएँ भी इसी क्रम में बनी हैं। अतएव 'कलयन' नाम सम्पूर्ण गुहाओंयुक्त विहार के लिए ही मानना पड़ेगा। एक बात निश्चित हो गयी है कि इस विहार का कोई नाम था अवश्य। इसी प्रकार के नाम अजण्टा आदि स्थानों पर स्थित विहारों के भी होंगे जिनके प्रमाण संभव है भविष्य में प्राप्त हो सकें और यह भी संभव है कि वे कभी भी जाने ही न जा सकें। ऐसी दशा में 'कल (ा) यन-विहार' के नाम की जानकारी विशेष महत्त्व रखती है।

इस विहार को दिया गया ग्राम 'दासिलकपल्ली' भी इस विहार के आसपास ही कहीं स्थित होगा। परन्तु आज पन्द्रह-सोलह-सौ वर्ष पश्चात् भी उक्त ग्राम की प्राचीन स्थिति पर कोई बस्ती शेष होगी और आज उसका नाम क्या होगा इसकी कल्पना कर सकना भी असंभव है।

बाघ गुहासमूह का निर्माणकाल

बाघ गुहाओं के निर्माणकाल के विषय में विद्वानों में बहुत ऊहापोह हुआ है। अधिकांश विद्वानों ने इसे ईसा की सातवीं या आठवीं शताब्दी का बतलाने का प्रयास किया है। इसके मूल में एक प्रवृत्ति रही है। अजण्टा की चित्रकला का प्रचार भारत में तथा यूरोप में बहुत अधिक हुआ और उसे अधिक श्रेष्ठ भी माना गया है। बाघ की चित्रकला की जानकारी आज भी समुचित रूप से लोगों में नहीं है, यहाँ तक कि बाघ के कुछ सुन्दरतम चित्र तो अब तक प्रकाशित भी नहीं हुए। यही कारण है कि विद्वानों में उसे अजण्टा के बाद की तिथि देने की मनोवृत्ति जड़ पकड़ गयी।

परन्तु वास्तविक बात तो यह है कि न तो बाघ की कलाकृतियाँ अजण्टा के बाद की ही हैं और न श्रेष्ठता में किसी प्रकार कम हैं; परिमाण में कम अवश्य हैं। यहाँ हम केवल उनके निर्माणकाल पर ही प्रकाश डालेंगे।

इनके निर्माणकाल के विषय में विंसेण्ट स्मिथ ने लिखा है, "अनेक पुरुष आकृतियों के केश-विन्यास तथा पारदर्शी चुस्त वस्त्र मूर्त्तियों को मध्यकाल की अपेक्षा पिछले गुप्त-काल से सम्बद्ध करती हैं। चित्रों की व्यापक विशेषताओं को देखते हुए यह निश्चित है कि वे अजण्टा के पिछले चित्रों के पूर्वकालीन नहीं हैं।[1]" इस प्रकार इस विद्वान ने बाघ के चित्रों और मूर्त्तियों की कला का परीक्षण करके दो स्थापनाएँ करदीं। पहली यह कि बाघ गुहा के चित्र और मूर्त्तियों का निर्माण पिछले गुप्त काल में हुआ था तथा वे अजण्टा की कलाकृतियों के बाद की हैं।

भारत कलाभवन, काशी के अध्यक्ष राय कृष्णदास ने इसकी तिथि पर स्पष्ट प्रकाश तो नहीं डाला है, परन्तु बाघ के चित्रों को पूर्व मध्यकाल (६००–९०० या १००० ई०) में बना माना है।[2] आनन्दकुमार स्वामी ने अवश्य इन गुहाओं को ५०० ई० के लगभग का माना है।

---

१. ए हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट्स इन इण्डिया एण्ड सीलोन, पृष्ठ १०९।

२. भारत की चित्रकला, पृष्ठ ३८।

काल के उपरोक्त अनुमान चित्रों और मूर्तियों की शैली को देखकर हुए हैं। परन्तु शैलियों के आधार पर किये गये अनुमान वास्तविक तिथि के सौ-दो-सौ वर्ष पश्चात् तक भी जा सकते हैं और पूर्व भी। ऊपर लिखी मनोवृत्ति के कारण यह काल बाद का अनुमान करने की ही प्रवृत्ति रही है।

बाघ के चित्रों पर अंकित (संभवतः किसी दृश्य का वर्णन करने के लिए) एक लेख के चिह्न भी मिले हैं। परन्तु वह पूर्णतः नष्ट होगया है, केवल एक अक्षर 'क' शेष रह गया है। यह अक्षर गुप्त लिपि में है और लिपि विज्ञान के सहारे ग्वालियर पुरातत्त्व विभाग के भूतपूर्व डायरेक्टर श्री गर्दे महोदय ने इस अक्षर को लगभग छठी या सातवीं शताब्दी ईसवी का माना है। निश्चय ही गर्दे महोदय पर उपरोक्त विद्वानों की सम्मति का प्रभाव पड़ा है। साथ ही चित्र और मूत्तियों की शैली के समान अक्षर की आकृति भी वास्तविक तिथि में सौ-दो-सौ वर्ष आगे-पीछे का अनुमान करा सकती है।

गौतम बुद्ध के जीवनकाल में ही महाकश्यप ने अवन्ति और दक्षिण अवन्ति अर्थात् माहिष्मती के प्रदेश में, बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। दक्षिण में वह अपेक्षाकृत बाद को सम्भवतः अशोक के समय में गया। विन्ध्य का यह प्रदेश, जिसमें बाघ गुहाएँ निर्मित हैं, सातवाहन, शक क्षत्रप तथा मालवों के अधिकार में आता-जाता रहा है। ये सभी बौद्ध धर्म के प्रति असहिष्णु नहीं रहे। वाकाटकों के समय में तो अजण्टा की गुहाएँ पूर्णरूप से विकसित होगयी थीं। ऐसी दशा में बाघ गुहाओं का निर्माण या तो अजण्टा की गुहाओं के पहले ही प्रारम्भ हो गया होगा अथवा उनका निर्माण उनके साथ ही हुआ होगा। अजण्टा की कुछ गुहाओं का निर्माण ईसापूर्व दूसरी शताब्दी बतलाते हैं।[1] बाघ गुहाओं के निर्माण के प्रारम्भ की स्थिति ईसवी पहली-दूसरी शताब्दी होनी चाहिए।

जो हो, परन्तु अनेक विद्वानों द्वारा प्रतिपादित होने के कारण ऊपर लिखी धारणा को मिटाना असम्भव होता यदि सौभाग्य से बाघ गुहा में महाराज सुबन्धु के ताम्रपत्र की प्राप्ति न हो जाती। इस ताम्रपत्र द्वारा माहिष्मती नगर के महाराज सुबन्धु ने दासिलकपल्ली नामक एक ग्राम इस 'कलयन-विहार' में बुद्ध भगवान की पूजा-अर्चा आदि के लिए दान दिया है। दुर्भाग्य से ताम्रपत्र का एक कोना टूट गया है और संवत्-अंक नष्ट हो गये हैं, केवल श्रावण मास शेष रह गया है। परन्तु माहिष्मती के इन महाराज सुबन्धु की तिथि बड़वानी में प्राप्त एक दूसरे ताम्रपत्र से ज्ञात होती है। बड़वानी बाघ से १५-१६ मील पर ही स्थित है, अतः इन दोनों ताम्रपत्रों के 'माहिष्मती नगर के महाराज सुबन्धु' एक ही होंगे, ऐसा निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। इन दोनों ताम्रपत्रों की लिपि भी समान है। बड़वानी के ताम्रपत्र पर संवत् १६७ भाद्रपद तिथि दी हुई है।

सुबन्धु को 'महाराज' कहा गया है, जिससे ज्ञात होता है कि वह माण्डलिक नरेश था। यदि १६७ गुप्त सवत् माना जाए तो सुबन्धु बुधगुप्त के अधीन रहा होगा। गुप्त साम्राज्य का प्रसार नर्मदा तक उस समय भी था। इस प्रकार इस ताम्रपत्र से यह सिद्ध है कि यह कलयन विहार गुप्त संवत् १६७ अर्थात् ईसवी सन ४८६ के लगभग, विद्यमान था और

1. हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट्स इन इण्डिया एण्ड सीलोन, पृष्ठ ९३।

तब तक इस दशा को प्राप्त हो चुका था कि महाराज सुबन्धु को उसमें चारों दिशाओं से एकत्रित होनेवाले भिक्षुओं के "चीवर पिण्ड" आदि के लिए व्यवस्था करने की आवश्यकता पड़ी।

इस ताम्रपत्र के आधार पर श्री गर्दे ने यह माना है कि "अब तक स्थापत्य एवं मूर्त्तियों की शैली के आधार पर इन गुहाओं (बाघ) को लगभग सातवीं शताब्दी ईसवी का माना जाता था परन्तु अब एक ताम्रपत्र (सुबन्धु का उक्त ताम्रपत्र) की प्राप्ति इसमें से कम-से-कम कुछ की तिथि को पाँचवीं शताब्दी तक ले जाती है[1]। आगे सुबन्धु के इस ताम्रपत्र का सम्पादन करते हुए श्री गर्दे ने लिखा है, "प्रस्तुत अभिलेख से यह सिद्ध हो जाता है कि यहाँ की कुछ गुहाएँ तो ईसवी सन की पाँचवीं शताब्दी के बाद की नहीं हो सकतीं[2]।

महामहोपाध्याय श्री वासुदेव विष्णु मिराशी ने सुबन्धु के ताम्रपत्रों पर कलचुरि संवत् माना है।

जिस विहार को गुप्त अथवा कलचुरि संवत् १६७ (ई० स० ४१६) के लगभग इतना बड़ा दान दिया गया हो वह कम-से-कम एक-दो शताब्दी पूर्व तो बना होगा। इस प्रकार इस विहार की कुछ गुहाओं का निर्माणकाल इस सामग्री द्वारा तीसरी-चौथी शताब्दी के प्रारम्भ तक पहुँचता है।

इसके अतिरिक्त बौद्ध मूर्त्तिविज्ञान का विकास क्रम भी इनके कालनिर्णय में सहायता करता है। ईसवी सन के प्रारम्भ के पूर्व बुद्ध का अंकन प्रतीकों द्वारा किया जाता था। स्तूप बोधिवृक्ष, त्रिरत्न, सिंहासन यही बुद्ध के विभिन्न रूपों के प्रतीक थे और इनका ही पूजन होता था। आगे चलकर ई० स० की प्रथम शताब्दी के लगभग बुद्धमूर्त्तियों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। गुप्तकाल तक बौद्ध विहारों एवं मन्दिरों में बुद्ध एवं बोधिसत्वों की प्रतिमाओं का पूजन प्रारम्भ हो गया और स्तूप आदि के स्थान पर उनकी स्थापना होने लगी। यह परिवर्तन केवल चैत्यों में ही नहीं हुआ, जो कि स्तूप की पूजा के लिए ही बनाए जाते थे, वरन् बौद्ध भिक्षुओं के आवासगृह 'विहारों' में भी हुआ। चैत्य गुहाओं में स्तूप के स्थान पर बुद्धमूर्त्ति की स्थापना हुई और विहारों में जहाँ गन्धकुटी नामक प्रधान स्थल में स्तूप रहा करता था वहाँ भी बुद्ध की प्रतिमा रखी जाने लगी।

बाघ की गुहा क्रमांक १ बौद्धभिक्षुओं का आवास-स्थल विहार है। इसकी 'गन्ध-कुटी' में मध्य में बौद्ध स्तूप है और उसके दोनों ओर बुद्ध एवं बोधिसत्वों की मूर्त्तियाँ हैं। इसकी तुलना नासिक की गुहाओं से करने पर ज्ञात होता है कि नासिक गुहाओं में केवल स्तूप को पूजनीय स्थान पर स्थापित किया गया है और बाघ गुहा में स्तूप के साथ-साथ बुद्ध प्रतिमाएँ भी आ गयी हैं, परन्तु उनको स्तूप के समान प्रधानता प्राप्त नहीं हो सकी है। दूसरी ओर यदि उनकी तुलना अजण्टा के गुप्तकालीन विहारों से की जाए तो प्रकट होगा कि अजण्टा में स्तूप का स्थान बुद्धमूर्ति पूर्णतः ले चुकी है। इस प्रकार बाघ की यह गुहा

१. आर्कोलॉजी इन ग्वालियर, पृष्ठ ६२-६३।

२. मो० ब० गर्दे: महाराज सुबन्धु का एक ताम्रपत्र शासन, विक्रम-स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ ६४९।

नासिक और अजण्टा के बीच की कड़ी है और इस प्रकार इसका निर्माणकाल नासिक की गुहा के पश्चात् तथा अजण्टा की गुप्तकालीन गुहा के पूर्व का सिद्ध होता है और वे ईसवी तीसरी-चौथी शताब्दी के बाद की नहीं हो सकतीं।

इस सम्बन्ध में भारतीय मूर्तिकला के दो अभिप्राय गंगा और यमुना का विकास-क्रम बाघ गुहा के गुप्तपूर्व होने की स्थापना की पुष्टि करता है। वैदिक युग से ही यज्ञ-शालाओं के द्वार की चौखट पर ऊपर की ओर द्वारदेवियों के अभिप्राय निर्मित होते थे[1]। ई० पू० में निर्मित हुए साँची के तोरण की शालभंजिकाएँ इन्हीं से विकसित हुई थीं। इनका उपयोग नीचे की बड़ेरी के तोड़े के रूप में सहारा देने का तो है ही साथ ही ये भारहुत की यक्षियों के ही एक रूप हैं। टाँडों के रूप में स्थापत्य-सम्बन्धी-द्वारदेवियों के समान द्वार की पवित्रता की रक्षिका के रूप में धार्मिक और अत्यन्त सौन्दर्यमयी होने के कारण कलासम्बन्धी इन तोरण शालभंजिकाओं का उपयोग है। बाघ के गुहा-द्वार पर निर्मित इन द्वारदेवियों का निर्माण द्वार के दोनों ओर वृक्ष के नीचे बंकिम भंगिमा में खड़ी मकरवाहिनी देवियों के रूप में हुआ है, जो इस बात का सूचक है कि यह शिल्प उन कलाकारों की कृति है, जिनकी छैनी हिन्दू स्थापत्यों की द्वारदेवियों को उभारने की अभ्यस्त थी। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि इनमें यद्यपि गंगा को पवित्र माननेवाले मध्यदेश के जानपद एवं पौरजन के अभिप्राय बने हैं, इनका स्थान द्वारपार्श्वों पर ऊपर की ओर ही है जैसा वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है और जैसा साँची के बौद्ध स्थापत्य में भी मिलता है। इससे आगे का विकास नागों के स्थापत्य में दिखाई देता है। मन्दिर की पावनता की संरक्षिका के रूप में गंगा और यमुना के अभिप्राय विदिशा, जानखट, भूमरा, नचना तथा खोह के मन्दिरों में निर्मित हुए।

इन निर्माणों में यह विकास इस रूप में दिखाई दिया कि गंगा और यमुना के अभिप्राय द्वारपार्श्वों पर नीचे की ओर निर्मित हुए, उनका यह स्थान रूढ़ हो गया और आगे चलकर चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के समय में जब उदयगिरि में कुछ गुहाओं का निर्माण उसके द्वारा हुआ, तब तथा उसके पीछे के काल में भी ये द्वारदेवियाँ उसी स्थान पर एक निश्चित रूढ़ि का अनुसरण करते हुए निर्मित हुईं। इस प्रकार यह स्पष्ट है की बाघ गुहाद्वार की ये द्वारदेवियाँ साँची की ऊर्ध्वस्थ शालभंजिकाओं के तथा उपर्युक्त नागस्थापत्यों की नीचे की ओर स्थित गंगा के बीच की कड़ी हैं, जिनका निर्माण देर से देर ईसवी तीसरी शताब्दी में प्रारम्भ हुआ होगा और बाघ गुहामण्डपों का निर्माण ईसवी दूसरी शताब्दी में या उससे कुछ पहले प्रारम्भ हो गया होगा।

अब चित्रकला पर भी संक्षेप में दृष्टिपात कर लिया जाए। अजण्टा के चित्रों का आधार जातक कथाएँ हैं। बाघ के चित्रों में अंकित दृश्य किसी जातक कथा का अंकन नहीं करते। उनमें राजा-रानियों के चित्रों की भी न्यूनता ही है। गौतम बुद्ध अथवा बौद्ध तत्त्वों के अंकन भी बहुत थोड़े हुए हैं। उनमें प्रकृति तथा प्रकृति की गोद में पलनेवाले आदिवासी मानव ही प्रधान रूप से अंकित हुए हैं। यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि रूढ़ि एवं रीतियों से बँधी कला के पूर्व स्वतंत्र एवं यथार्थ अंकन-प्रधान कला का निर्माण होता है।

---

१. देखिए पीछे पृष्ठ १५८।

इस प्रकार अभिलेख, स्थापत्य, मूर्तिकला एवं चित्रकला सम्बन्धी सामग्री पर विचार करने से यह पूर्णरूप से सिद्ध होता है कि बाघ गुहाओं में से अधिकांश का निर्माण ईसवी दूसरी-तीसरी शताब्दी में हुआ था।

बाघ गुहा का मूर्तिशिल्प

भारतवर्ष विशाल और प्रशस्त कल्पना का देश है। गौतम बुद्ध ने अपनी मूर्ति अथवा चित्र के अंकन का निषेध किया था। सम्भवतः वे बौद्ध विहारों में नारीचित्रों के अंकन के भी पक्ष में नहीं थे। परन्तु कलाप्रेमी और मानव एवं प्रकृति के सौंदर्यासक्त भारतीय कलाकार ने बौद्ध स्तूपों और बौद्ध संघ के विहारों को मानव तथा प्रकृति के विभिन्न अभिप्रायों से निखार दिया। यक्षी, शालभंजिका, वृक्षिका आदि नाना रूपों में मानव की रूप-रानी साकार होकर पत्थरों पर, दीवारों पर और पटों पर थिरक उठी। मूल में विहारों के मुख्य स्थल पर गौतम बुद्ध का प्रतीक स्तूप बनता रहा। जिस प्रकार जेवतन की मूल-गंधकुटी में अपने जीवनकाल में गौतम बुद्ध निवास करते थे उसी प्रकार बौद्ध विहारों में बीच के विशाल सभामण्डप के सामने ही उनका प्रतीक स्तूप खड़ा किया गया। स्तूप के अतिरिक्त भी सर्वत्र बुद्ध उस समय में प्रतीक रूप में अंकित किये गये हैं। धीरे-धीरे महायान का उदय हुआ। महायान, जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, भागवत धर्म की भक्ति का बौद्ध रूप था। विदिशा और माध्यमिका में भगवान वासुदेव, संकर्षण और प्रद्युम्न की मूर्तियों की सानुराग उपासना हो रही थी। बौद्ध भक्त ने भी गौतम बुद्ध में ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा की और उसके प्राण भी बुद्धमूर्ति की पूजा-अर्चा के लिए छटपटा उठे। सुदूर गान्धार में महायान के प्रबल समर्थक कनिष्क कुषाण ने बुद्धविग्रह के अंकन के निषेध को तोड़ दिया और गान्धार में सम्भवतः उसके राज्य के यूनानी तक्षकों ने हजारों की संख्या में गौतम बुद्ध की मानवाकार मूर्तियों का निर्माण किया। गौतम-विग्रह के निर्माण का निषेध एक बार जो टूटा तो उसकी लहर समस्त भारत में फैल गयी। मथुरा के मूर्ति-कार ने गौतम बुद्ध की अनेक विशाल प्रतिमाओं की सृष्टि की और विन्ध्याचल के अंचल में स्थित बाघ गुहा के बौद्ध विहारों में भी उसका प्रभाव दिखाई दिया।

हम बाघ की गुहाओं में हीनयान और महायान के बीच की कड़ी देखते हैं। जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं, इन गुहाओं के सभामण्डपों के ठीक सामने जो गर्भगृह बने हुए हैं उनमें पूजा की प्रधान प्रतिमा स्तूप है और बाहर दोनों ओर बोधिसत्त्वों से घिरे हुए गौतम बुद्ध के विग्रह का अंकन किया गया है। जिस समय बाघ गुहा की बुद्ध और बोधिसत्त्वों की ये मूर्तियाँ बनीं, उस समय विभिन्न बोधिसत्त्वों के विभेदक लांछनों का पूरी तरह आविर्भाव नहीं हुआ था। दूसरे क्रमांक की गुहा के दाहिनी ओर दस फुट चार इंच ऊँची मध्य की बुद्धप्रतिमा के दोनों ओर नौ फुट ऊँचे बोधिसत्त्व बने हुए हैं। आगे के युगों में बुद्धप्रतिमा के दोनों ओर पद्मपाणि अवलोकितेश्वर तथा नागपुष्पधारी मैत्रेय बनाए जाते हैं। अवलोकितेश्वर की आगे की प्रतिमाओं में मुकुट में अमिताभ बुद्ध की छोटी-सी प्रतिमा बनी रहती है। इसके विपरीत मैत्रेय के मुकुट में छोटे-से स्तूप का आकार रहता है। बाघ की इन प्रतिमाओं में यह विभेद नहीं दिखाई देता।

दूसरे क्रमांक की गुहा के स्तूपमंदिर के बायीं ओर भी बुद्ध तथा उनके दोनों ओर दो बोधिसत्त्व बने हुए हैं। यह समूह भी दाहिनी ओर के मूर्तिसमूह के समान ही है। अंतर

केवल यह है कि इसकी बुद्ध मूर्ति कुछ छोटी, नौ फुट छह इंच ऊँची है और बोधिसत्त्वों की मूर्तियाँ सात फुट ऊँची हैं ।

इस स्तूपमंदिर के द्वार के दोनों ओर दो मानवाकार से भी अधिक, लगभग आठ फुट नौ इंच ऊँची, द्वाररक्षकों की विशाल प्रतिमाएँ बनी हुई हैं । ये प्रतिमाएँ भी अवलोकितेश्वर तथा मैत्रेय की प्रतिमाओं की अविकसित पूर्वरूप हैं ।

बौद्ध धर्म ने जनता में बहुत प्रचलित नाग और यक्ष पूजा को भी अपना लिया था। इसके उदाहरण बाघ गुहाओं में भी मिलते हैं । दूसरे क्रमांक की गुहा के दालान में यक्ष अथवा नाग की मूर्त्ति बनी हुई थी । वह बहुत अधिक खण्डित हो गयी है । उसके ऊपर जो नागछत्र के अस्पष्ट अवशेष दिखाई देते हैं, उससे सम्भवतः नागमूर्त्ति ही ज्ञात होती है। ललितासन में बैठी हुई इस मूर्ति के दोनों ओर सम्भवतः दो चामरग्राहिणी मूर्त्तियाँ बनी हुई थीं । दालान के दूसरी ओर भी सम्भवतः ऐसी ही कोई प्रतिमाएँ बनी हुई थीं, परन्तु वहाँ आजकल मिट्टी के एक गणेश की प्रतिमा बनाली गयी है, जिस पर भक्त लोग सिन्दूर चढ़ाते रहते हैं ।

चार क्रमांक की गुहा के उत्तर-पूर्व की ओर यक्षराज कुबेर की विशाल प्रतिमा बनी हुई थी, परन्तु इसके अब केवल अवशेषमात्र रह गये हैं । इस मूर्ति के ऊपर एक छोटा-सा स्तूप खोदा गया है, जिसके दोनों ओर दो आकाशचारी यक्ष बने हुए हैं । इसके पास ही दो बौद्धमंदिर खुदे हुए थे, परन्तु वे अत्यन्त अस्पष्ट होगये हैं ।

चार क्रमांक की गुहा के दालान के दक्षिण-पूर्वी सिरे पर एक छोटा-सा नागराज का मन्दिर खुदा हुआ है । इसके पास ही एक पुरुष तथा स्त्री की मूर्त्तियाँ बनी हैं, पुरुष मूर्त्ति के ऊपर सात फनों का नागछत्र बना हुआ है । साथ की स्त्री प्रतिमा निश्चय ही नागरानी की है । इन मूर्त्तियों के ऊपर छोटी-छोटी बुद्धमूर्त्तियाँ चित्रित की गयी हैं । और भी ऊपर सम्भवतः धर्मचक्र प्रवर्त्तन में प्रवृत्त बुद्ध की प्रतिमा बनी हुई थी । इसके नीचे धर्मचक्र तथा दो मृग स्पष्ट दिखाई देते हैं और ऊपर माला लिये हुए गंधर्व भी पहचाना जाता है ।

चार क्रमांक की गुहा के द्वार के ऊपर की ओर दोनों तरफ मकरवाहिनी स्त्री-मूर्त्तियाँ बनी हुई हैं । ये मूर्तियाँ वृक्षों के नीचे खड़ी हुई दिखाई गयी हैं, दाहिने हाथ से वे वृक्ष की शाखा पकड़े हुए हैं और बायाँ हाथ बालक अथवा बौने के सिर पर रखा हुआ है । उनके विषय में हम पहले लिख चुके हैं ।

पाँच क्रमांक की दालान में भी कुछ मूर्त्तियाँ बनी हुई थीं, परन्तु वे अब इतनी अस्पष्ट तथा खंडित हैं कि उन्हें पहचान सकना सम्भव नहीं हैं ।

बाघ गुहा के चित्र

बाघ गुहामण्डप के अधिकांश चित्र नष्ट हो गये हैं । जो शेष बचे हैं उनके रंग धुँधले पड़ गये हैं तथा कहीं-कहीं वे अत्यन्त अस्पष्ट हैं । बड़े परिश्रम से कभी इन चित्रों की प्रतिलिपियाँ भारत के प्रसिद्ध कलाकारों से कराई गयी थीं । सर्वश्री एस० एन० कार, बी०ए० आपटे, एम०एस० भाण्ड, नन्दलाल बसु, ए०बी० भोंसले, असितकुमार हालदार तथा



बुद्ध, बाघ (पृष्ठ ६१६)



नृत्य दृश्य, बाघ (पृष्ठ ६२६)

वी० बी० जगताप ने इन चित्रों की प्रतिकृति चार क्रमांक की गुहा से सन १९२५ ई० में तयार की थी। आरमीनियन चित्रकार सारकिस कचडोरियन ने भी तीन क्रमांक की गुहा से कुछ प्रतिलिपियाँ तैयार की थीं। ये प्रतिलिपियाँ गूजरी महल संग्रहालय में सुरक्षित हैं और उनकी एक प्रति ब्रिटिश म्यूजियम लन्दन में भेज दी गयी थी।

तीन क्रमांक की गुहा में बुद्ध और बोधिसत्त्वों के अनेक चित्र प्राप्त हुए हैं। बोधिसत्वों की मूत्तियों के समान ही इन चित्रों में उनके विभेद दिखानेवाले लांछनों का अभाव-सा ही है। इनकी विशेषता इनके आसपास प्राप्त पुष्पराजि की प्रचुरता है। इसी गुहा में एक चामरग्राहिणी का चित्र भी दिखाई देता है। एक ओर दो स्त्रियों के चित्र बने हुए हैं, जिनमें से एक गंभीर मुद्रा में चिन्तामग्न बैठी है और दूसरी उसके पीछे।

गुहा क्रमांक चार और पांच के सामने जो २२० फुट लम्बी दालान है उसकी सामने की भीत पर लगातार छह दृश्यों की चित्रावली बनी हुई है। क्रमांक चार की गुहा की ओर दाहिने किनारे पर पहला दृश्य है जो कुछ अस्पष्ट है। एक झरोखे में दो स्त्रियाँ बैठी हुई हैं, जिनमें से एक शोकातुर है और वस्त्र से अपना मुँह ढके हुए है। दूसरी स्त्री उसे सान्त्वना दे रही है अथवा उसकी दु खकथा सुन रही है। झरोखे के ऊपर एक वृक्ष की डाल पर कपोतों की दो जोड़ियाँ बैठी हुई दिखाई गयी हैं। समवेदना दिखानेवाली स्त्री के आभरण उसे किसी अभिजात कुल की महिला प्रकट करते हैं। करुणा का भाव अत्यंत सजीव रूप से उसके मुख पर अंकित दिखाई देता है।

दूसरे दृश्य में चार पुरुष आपस में किसी गंभीर वार्त्तालाप में निरत दिखाए गये हैं। एक ओर जो दो व्यक्ति बैठे हैं वे मुकुट पहने हुए राजपुरुष ज्ञात होते हैं। उनके सामने बैठे हुए दो व्यक्ति मुकुट पहने हुए नहीं हैं। इनकी मुखमुद्राएँ तथा हाथों की भंगिमा यह प्रकट करती है कि वे किसी गंभीर चर्चा में निरत हैं। प्रथम दृश्य की दोनों स्त्रियों के समान ही इन चारों पुरुषों का वर्ण श्याम से भी आगे काला ही है। दिखता यह है कि गुहाओं में जिन पुरुषों का अंकन है वे सभी गौरवर्ण के नहीं हैं। बायीं ओर से दूसरे स्थान पर बैठा हुआ व्यक्ति इस समूह का प्रमुख व्यक्ति ज्ञात होता है। बायीं ओर के दोनों व्यक्ति मणियों के दो-दो हार, भुजबन्द तथा कंकण पहने हुए हैं। दूसरे अनुक्रम का व्यक्ति कानों में कुण्डल भी पहने हुए ज्ञात होता है। बायीं ओर के पहले व्यक्ति के घुटने के पास कोई बालक अथवा कोई बौना बैठाया गया है।

तीसरे दृश्य के स्पष्टतः दो भाग हैं, जो एक-दूसरे के नीचे-ऊपर बने हुए हैं। ऊपर के दृश्य में पाँच पुरुष हैं जो किसी वाद-विवाद में निरत दिखाए गये हैं। इनमें से एक व्यक्ति सामने पद्मासन में बैठा है और शेष चार उसके सामने कुछ कहते हुए दिखाए गये हैं। इन सभी के सिर घुटे हुए हैं। इसके नीचे के दृश्य में पाँच नर्त्तकियाँ अंकित हैं, जिनमें से एक सम्भवतः वीणा लिये हुए है। ये स्त्रियाँ कसी हुई चोलियाँ पहने हुए हैं, जो छींट की जान पड़ती हैं।

चौथा दृश्य स्त्री गायक और वादकों के दो वृन्दों का दृश्य है। बायीं ओर के वृन्द में सात स्त्रियाँ आठवीं के चारों ओर खड़ी हैं, जो सम्भवतः नर्त्तकी है। इनके दृश्य भी देखने योग्य हैं और वाद्य भी लगभग वही हैं, जो उदयगिरि तथा पद्मावती के नृत्य के

अर्धचित्रों पर दिखाई देते हैं। इसी प्रकार का दूसरा नर्त्तकियों का वृन्द है। इसके नीचे दो पंक्तियों में कोई लेख लिखा हुआ था, जिसमें से अब पहली पंक्ति का अन्तिम अक्षर 'क' तथा दूसरी पंक्ति की एक 'इ' की मात्रा दिखाई देती है। इन दोनों वर्गों की स्त्रियों के चित्रों की एक विशेषता यह है कि दोनों नर्तकियों को छोड़कर शेष सभी कमर के ऊपर कोई वस्त्र पहने हुए नहीं हैं। सम्भवतः केवल दो या तीन चोली जैसा कोई वस्त्र पहने हुए हैं।

इस दृश्य के आगे सम्भवतः एक दीवार अंकित की गयी है, जिससे आगे के दृश्य का पार्थक्य स्पष्ट हो जाए। इसके आगे के पाँचवें दृश्य में सत्रह घुड़सवारों को पाँच या छह पंक्तियों में अंकित किया गया है। बीच के एक घुड़सवार के ऊपर छत्र लगा हुआ है, जो सम्भवतः राजा हो सकता है। ये घुड़सवार घुटनों तक जानेवाले अंगे पहने हुए हैं। घोड़ों का अंकन भी अत्यन्त उत्कृष्ट हुआ है।

इस दृश्य के बाद फिर एक दीवार दिखाई गयी है। इस दीवार के आगे छह हाथी और एक घोड़े का जलूस अंकित किया गया है। इस जलूस के सबसे आगे जो व्यक्ति है वह अत्यन्त विशालकाय तथा लम्बे-लम्बे घुँघराले बालोंवाला है। उसके हाथी पर झूल पड़ी हुई है। इसके पीछे छत्र और चँवर लिये हुए एक व्यक्ति बैठा हुआ है। इससे यह प्रकट होता है कि यह व्यक्ति कोई राजा है। इसके पीछे एक घुड़सवार है, जो सम्भवतः साफा बाँधे था, परन्तु अब कुछ शेष नहीं रह गया है, केवल उसकी नाक और दाहिनी आँख दिखाई देती है। इस दृश्य के बीच में चार हाथी हैं, जिनमें से दो बहुत बड़े हैं और दो छोटे। पीछे के दो हाथियों पर एक-एक महावत तथा तीन-तीन स्त्रियाँ बैठी हुई हैं।

इस दृश्य के आगे सम्भवतः कोई द्वार बना हुआ है। इस द्वार के दाहिनी ओर कभी एक सातवाँ दृश्य और बना हुआ था, जो अब नष्ट हो गया है। इसे अनेक वर्ष पूर्व डॉ० ई० इम्पे ने देखा था। उनने इस दृश्य का वर्णन करते हुए लिखा है, "अगला दृश्य विशिष्ट और मनोरंजक है। यह पिछले दृश्यों से ठीक दूसरी दिशा में जाते हुए चार हाथियों और तीन घोड़ों का जलूस है, जो ऐसा मालूम होता है कि अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच गया है। हाथी रुक गये हैं और महावत भी चुपचाप आराम कर रहे हैं। वे अपने सिरों को हाथों के ऊपर रखकर हाथियों के मस्तकों पर झुके हुए हैं"।

"आगे एक कदली वृक्ष के नीचे बुद्ध का अंकन है, जो वस्त्र पहने हुए हैं तथा पद्मासन में बैठे हुए हैं और दाहिने हाथ के अंगूठे को बायें हाथ से पकड़े हुए हैं। उनके पास ही एक शिष्य बैठा हुआ है जो उनके प्रवचन को सुन रहा है। इस चित्र की विशेषता यह है कि इसके बाल घुँघराले नहीं हैं, जैसे कि बुद्ध के अन्य अंकनों में पाए जाते हैं। इस चित्र में आगे एक द्वार बना हुआ है और उसके आगे दीवार बिलकुल टूट गयी है"।

डॉ० इम्पे द्वारा वर्णित इस बुद्ध के चित्र की प्रतिकृति सम्भवतः बाद में तैयार कराई गयी थी, जो सन १९३८-३९ के ग्वालियर राज्य के पुरातत्त्व विभाग के वार्षिक विवरण के चित्र फलक ३२ पर प्रकाशित हुई है।

डॉ० इम्पे ने कुछ अन्य चित्रों के होने की भी सूचना दी थी, जो अब बिलकुल नष्ट हो चुके हैं। इस चौथी गुहा में स्तम्भों तथा दीवारों पर बनी कुछ अत्यन्त सुन्दर अलंकृत



रंगमहल की भित्तियों पर प्राप्त विविध कलापूर्ण पट्टियाँ (पृष्ठ ६१८)



रंगमहल की भित्तियों पर प्राप्त विविध कलापूर्ण चित्रकारी (पृष्ठ ६१८)





बुद्ध तथा बोधिसत्त्व, बाघ
(पृष्ठ ६१६)





पट्टियाँ भी दिखाई देती हैं। अनेक प्रकार के फूलों और पत्तों के बीच सजे हुए घंटी पहने दो बैल, कमल बेल के अत्यन्त उत्कृष्ट अंकन, हंस और सारस यत्र-तत्र बने हुए हैं। कुछ ज्यामितिक आकार भी दिखाई देते हैं।

बाघ की गुहाओं की ये चित्रावलियाँ परिमाण में अत्यन्त अल्प शेष रह गयी हैं, तथापि उनकी कला की उत्कृष्टता में कोई न्यूनता नहीं है। मध्यभारत की सीमाओं में प्राप्त, आदिमानव के कुछ गेरू के चित्रों को छोड़कर ये प्राचीनतम चित्रावलियाँ हैं और इस कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

बाघ गुहाचित्रों में प्रकृति

भारतीय संस्कृति का विकास प्रकृति की गोद में हुआ है। भारत का दर्शन अरण्यों की देन है. जहाँ ऋषि-मुनियों ने वनों में आश्रम बनाए। वहाँ राजा, राजकुमार एवं राज-कन्याओं ने प्रकृति की गोद में क्रीड़ा की, वहाँ के आश्रमवासियों का शिष्यत्व किया और अन्त में चौथेपन में उन्हें मोक्ष का साधन बनाया। हमारी कला भी प्रकृति के उपकरणों से अलंकारिक अभिप्राय लेती रही है।

राजकुमार सिद्धार्थ के प्राण संसार के पाप-संताप की पीड़ा से व्यथित हुए। वे उनको दूर करने के लिए मार्ग ढूँढने के लिए कटिबद्ध हुए। प्रासादों की चहारदीवारी के भीतर जो कुछ भी सुख-सामग्री एकत्रित की जा सकती थी वह उनके पिता ने एकत्रित की थी, परन्तु पर-दुःख-कातर गौतम को तपोवन की पुकार बड़े वेग से सुनाई दी। उन्होंने प्रकृति की प्रशान्त गोद में बैठकर संसार के उद्धार का साधन खोजने का यत्न किया। परिणाम यह हुआ कि बोधिवृक्ष की छाया ने बौद्ध कला को प्रकृति की शीतलता से आवृत कर लिया।

वाघ और अजण्टा दो ऐसे नाम हैं जो बौद्ध धर्म के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान तो रखते ही हैं साथ ही प्राचीन चित्रकला के इतिहास में भारतीय कला को बहुत श्रेष्ठ स्थान प्रदान करते हैं। अभी तक विद्वान लोग बाघ के चित्रों को अजण्टा का पश्चातवर्ती मानते रहे, परन्तु अब यह पूर्णतः सिद्ध हो चुका है कि बाघ गुहा के चित्र अजण्टा के प्रसिद्ध चित्रों के पूर्व के हैं।

बाघ गुहामण्डप के निर्माता प्राकृतिक सौन्दर्य के कितने अधिक प्रेमी थे, यह बाघ की एक बार की यात्रा से ही स्पष्ट हो जाता है। इन गुहाओं को बनाने के लिए जो चट्टान चुनी गयी है वह गुहामण्डप बनाने के लिए आदर्श न थी, परन्तु वह अत्यन्त सुरम्य प्राकृतिक वातावरण के मध्य में स्थित है। इनके निर्माता को इस रमणीक वातावरण ने ही मोह लिया दिखता है। बाघ नदी की प्रवहमान मुखरित धारा की मर्मर ध्वनि उसे साधना के मंत्रपाठ से स्वर मिलाती हुई ज्ञात हुई और चारों ओर की प्रकृति का सौन्दर्य-वैभव मानव को साधारण से असाधारण की ओर, लौकिक से अलौकिक की ओर तथा मर्त्य से अमर्त्य की ओर आकर्षित करता हुआ ज्ञात हुआ।

निर्माणकाल के पूर्ववर्ती होने के कारण ही नहीं, वरन् अन्य बातों में भी बाघ-कला अजण्टा से विशिष्ट है। अजण्टा के चित्रकार ने अपने-आपको जातक कथाओं के अंकन मे बाँध लिया था, परन्तु बाघ गुहाओं का कलाकार किसी कथा में सीमित नहीं था। अपनी

रुचि के अनुसार उसने बुद्ध, बोधिसत्त्व, भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक आदि का अंकन किया। धार्मिक विवाद की गंभीरता, शोकजन्य करुणा, आनन्दातिरेक के कारण उन्मादकारी नृत्य, गीत, भक्ति आदि मनोभावों के अंकन के साथ जिस वस्तु की विशेषता है वह है इन सब दृश्यों में प्रकृति का उपयोग। अजण्टा अथवा अन्य गुहाचित्रों में प्रकृति अन्य दृश्यों के सौंदर्यवर्धन के लिए ही आई है। बाघ गुहा के चित्रों में प्रकृति एवं मानव-जगत एक दूसरे का गाढ़ आलिंगन किये ज्ञात होते हैं। इतना ही नहीं, अन्य स्थलों पर प्रकृति के उपकरण मानव के वातावरण में सौन्दर्य-वृद्धि के लिए लाए जाते हैं, परन्तु बाघ गुहाओं के चित्रों में यह ज्ञात होता है कि मानव स्वयं प्रकृति के प्रांगण में पहुँचा है। दो भिक्षु किसी गंभीर चिन्तन में व्यस्त हैं, उनके हाथों और मुखमुद्रा से यह भाव प्रकट करने में चित्रकार पूर्णतः सफल हुआ है। परन्तु इस दृश्य की वास्तविक विशेषता प्रकृतिचित्रण में है। इसको देखने से यह ज्ञात नहीं होता कि प्रकृति के उपकरण मानव के बीच में सजा दिये गये हैं, वरन् ज्ञात यही होता है कि मानव स्वयं प्रकृति के वातावरण में जा बैठा है जिसने उसे अपने शीतल अंक में आश्रय दिया है।

अभी हाल ही में आरमेनियन चित्रकार ने कुछ बोधिसत्त्वों के चित्रों की प्रतिलिपि बाघ गुहाओं की भित्तियों पर से की है। मुखमण्डल की करुण एवं शान्त भावना, सम्पूर्ण शरीर की सरल, ललित एवं सुकोमल भंगिमा में ये चित्र अजण्टा के प्रख्यात पद्मपाणि अवलोकितेश्वर से तुलना में इक्कीस ही उतरते हैं, इनके चारों ओर पुष्पराजि की क्रीड़ा अत्यंत चमत्कारिक है तथा बाघ की कला की निजी विशेषता है। प्रभामंडल, मुकुट, किरीट तथा अन्य अलंकरण सभी सुकोमल पुष्पराजि से आवृत से दिखते हैं। बुद्ध एवं बोधिसत्वों की प्रमुखता पर आघात किये बिना इन चित्रों में पुष्प एवं किसलयों की बहुलता दिखाई गयी है।

चामरग्राहिणी की कुसुमकोमल देह-लता के ऊपर एक ओर चामरगुच्छ दिखाया है तो दूसरी ओर उसका सन्तुलन किया गया है उत्फुल्ल कुमुदपुष्प द्वारा। शोक के करुणामय दृश्य में भी एक कोने में कपोतयुग्म बैठाकर चित्रकार ने मानव एवं पशु-पक्षी जगत के सहानुभूतिपूर्ण सहयोग को मूर्त रूप दिया है। कहाँ तक गिनाया जाए, मानव के अंकन के साथ बाघ के चित्रकार ने उसके चिर सहचर पशु, पक्षी, पुष्प, पल्लव अनायास सजा दिये हैं। मानव के उपयोगी एवं प्राचीन साथी अश्व एवं हाथी अत्यन्त सजीव एवं सुन्दर अंकित किये गये हैं।

बाघ गुहाओं में प्रकृति केवल मानव के साथ ही नहीं दिखाई गयी, उसका स्वतंत्र रूप से भी अंकन किया गया है। 'रंगमहल' नामक गुहा में तो यह संश्लिष्ट एवं स्वतंत्र प्रकृति-चित्रण अपनी चरमसीमा को पहुँच गया है। कहीं शीतल वनराजि के पल्लवों के बीच गाय और वृषभ की जोड़ी खड़ी कर दी है, कहीं कमल एवं कुमुदनी के खेतों के बीच हंस बैठा दिये हैं और उमड़ते-घुमड़ते बादलों के दृश्य हैं और ये सब दृश्य बड़े आत्म-विश्वास, दृढ़ता एवं मनोहरता के साथ बनाए गये हैं।

अनेक स्थानों पर फूल-पत्तियों के बीच कुछ अत्यन्त सुन्दर दृश्य बने हुए हैं, जल-पादपों के पुष्प एवं पल्लवों तथा बुद्बुदों से संश्लिष्ट एक अंकन को ध्यान से देखने पर वह एक

चंचल शिशु का अंकन-सा ज्ञात होता है। बाघ का महान कलाकार सौन्दर्यमय कौतूहल के आकर्षण को समझता था और उसने उसका पूर्ण उपयोग किया है एवं पुष्करिणी में उत्फुल्ल कमलवन के सुरम्य वातावरण में कमलपत्र जैसे सुकोमल आसन पर अत्यन्त प्रेमपूर्वक पक्षियुगल का चंचुमिलन भूलोक पर स्वर्ग का अवतरण करनेवाले अमर आकर्षण का प्रतीक है।

बाघ गुहाओं के चित्रकार ने जहाँ बुद्ध अथवा बोधिसत्त्व के अंकन में कथाओं का सहारा नहीं लिया, वहाँ प्रकृति-चित्रण में भी अप्राकृतिक अथवा अलौकिक कल्पना से वह दूर ही रहा है। बाघ गुहाओं की भित्तियों पर अजण्टा के समान आधे मानव और आधे पक्षी के शरीरवाले जीव कहीं नहीं दिखाए गये हैं। इस प्रकार एक कल्पनामय बालक का चित्रण करते समय भी उसे सम्पूर्ण मानवरूप में ही रखा गया है।

बाघ गुहाओं के भित्तिचित्रों में प्रकृति का सजीव स्पर्श प्रत्येक स्थान पर दिखाई देता है। प्रकृति जड़, अचेतन रूप में न होकर पूर्ण संवेदनशील है। कलाकार ने उसमें शिव एवं सुन्दर का समन्वय किया है। पंचभूत से निर्मित उपकरणों के ये मनोरम चित्र अत्यन्त अलौकिक एवं चिरन्तन आनन्द की सृष्टि कर रहे हैं। सृष्टि के सुन्दरतम एवं सजीवतम चित्रण में कलाप्रेमी बौद्ध भिक्षुओं ने निर्वाण का मार्ग देखा। उसने अनुभव किया कि मरण से पीड़ित इस संसार में प्रकृति का सौन्दर्य ही चिर यौवन, अमर उत्फुल्लता एवं नित्य नवीनता से भरा हुआ है।

प्रकृति का यह मनोरम सहृदयतापूर्ण एवं प्रचुर अंकन बाघ गुहामण्डप की निजी विशेषता है। इसमें भारतीय संस्कृति का तपोवन का आदर्श पूर्ण प्रतिष्ठा पा सका है।

चित्रकला का शिक्षण

चित्रकला का इस युग में व्यापक प्रचार था। लोककला के रूप में अंगरागों के अतिरिक्त, लीपने के पश्चात् भूमि पर रांगोली जैसे चित्रण के उल्लेख मिलते हैं[1]। परन्तु ऊपर के अवशेषों में प्राप्त आभिजात्य चित्रकला के लिए विशेष अभ्यास और शिक्षण अपेक्षित होता है और उसकी प्रस्तुत युग में व्यवस्था थी। संगीत और चित्रकला समाज की लालित्यसाधना के अपरिहार्य उपादान थे, तथा प्रतीत यह होता है कि इनके शिक्षण एवं अभ्यास की व्यवस्था एक ही स्थान पर होती थी। मृच्छकटिक के चौथे अंक में वसन्तसेना के भवन में विविध रंगों से विलिप्त चित्रफलक हाथों में लिये गणिकाएँ इधर-उधर आती-जाती दिखाई गयी हैं और मालविकाग्निमित्र के प्रथम अंक की चित्रशाला भी संगीतशाला का ही एक अंग थी। वसन्तसेना के भवन में गणिकाएँ ही इसका अभ्यास नहीं करती थीं, चित्रकला जानना शिष्ट महिलाओं के संस्कार का अंग था और तपोवनों में इसकी पहुँच थी जिसका संकेत हमें कालिदास की शकुन्तला का शृंगार करनेवाली सखियों के इस कथन में मिलता है कि किस आभूषण को कहाँ पहनाना चाहिए, यह उनने अपने चित्रकर्म से परिचय के कारण जाना है। इस चित्रकला का विधिवत् शिक्षण होता था और इस कला के आचार्य होते थे, यह मालविकाग्निमित्र के 'चित्तलेहं आयारिअस्स' चित्रकला के आचार्य

---

१. मृच्छकटिक (निर्णयसागर) पृष्ठ १३५।

के उल्लेख से सूचित होता है । चित्रकला के सिद्धांतों का इस काल के नागरों को ज्ञान था, उनका इनने विधिवत् अध्ययन किया था और वे मानव की आनन्दानुभूति को मूर्त्ति एवं चित्र में प्रत्यभिव्यक्त करनेवाली मूर्त्तिकला एवं चित्रकला में समान रूप से पालनीय थे । शुक्रनीति में मूर्त्तिनिर्माण करनेवाले शिल्पी के लिए उसके शिल्प में सजीवता का सन्निवेश हो और चित्रवस्तु का आन्तरिक सौंदर्य अंकन में व्यक्त हो, इसके लिए ध्यान या समाधि की आवश्यकता बताई है[१] और कालिदास के अग्निमित्र को इस सिद्धांत का ज्ञान प्रकट होता है जब वह मालविका के चित्र के संबंध में यह अभिमत प्रकट करता है कि चित्रकार ने उसका चित्र शिथिल समाधि से बनाया है, इसी कारण उसका वास्तविक सौन्दर्य उसकी रेखाओं में व्यक्त नहीं हुआ[२] । कला के चरम उत्कर्ष ने इस सूक्ष्म परख की भूमिका तैयार की थी और कला के पारखी भावकों ने बाघ एवं अजण्टा के चित्रकारों की वर्त्तिका एवं तूलिका के मार्ग से उनकी रूपनिर्भर आँखों में लहराते अनंत लालित्यसिन्धु का इन अनुत्तर कलाकृतियों के रूप में अनायास दोहन कर लिया था ।

नागर शिल्प

प्रसंगवश यहाँ यह उल्लेख कर देना समीचीन प्रतीत होता है कि नाग वंशों के उत्कर्ष के इस युग में तेजस्वी मध्यदेशवासी की आनन्दानुभूति ने, उसकी परिष्कृत कलाभिरुचि ने, उसकी लालित्यपारखी आँखों ने, अपनी साधना द्वारा कलाओं का परिष्कार करनेवाले आचार्यों ने और युगयुग में अभिनन्दनीय कलाकारों की अशिथिल समाधि ने ललितकलाओं को निखार प्रदान किया था, कलाओं के क्षेत्र में रुचिर अभिप्रायों को उसने हाथ में लिया था और सृष्टि के सुन्दर को व्यक्त करने की वह कुशलता उसे मिली थी कि न केवल नागलोक एवं नागबालाओं के साथ लोकोत्तर कोमल रूप-गरिमा की कल्पना अविच्छेद्य बन गयी, कला के विविध क्षेत्रों में अपने युग की रसानुभूति को साकार करने की उसकी शैली उसी क्रम में नागर चित्र-शैली, नागर मूर्त्ति-शैली तथा नागर स्थापत्य-शैली अभिहित हुई जिस प्रकार लिपि के क्षेत्र में किये गये उस समाज के प्रयासों के फलस्वरूप विकसित हुई लिपि को नागरी कहा गया। आगे के कालों में उसमें अधिक सूक्ष्मता आई, कुछ अलंकरणों में वृद्धि हुई, परन्तु उसका मूल कलेवर तब तक विक्षत नहीं हुआ और वह नागर शिल्प कही जाती रही जब तक उसमें तेजस्विता के क्रमागत ह्रास के परिणामस्वरूप अपभ्रंश की प्रवृत्ति दिखाई नहीं दी ।

चित्रकला और साहित्य

साहित्य में अंकित इस युग के चित्रकला के वैभव को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस अस्थायी माध्यमवाली कला के जो अवशेष हमें आज प्राप्त होते हैं वे उस काल के लोकव्यापी चित्रकलावैभव की केवल बानगी देने के लिए बच रहे हैं। इस युग की कलासाधना में चित्रफलकों के, भित्तिचित्रों के, प्रतिकृतियों के, यथार्थ चित्रण के, कल्पनाचित्रों के, वृंदचित्रों के तथा वन एवं उद्यान के चित्रों के उल्लेख साहित्य में मिलते हैं। चित्रफलकों का और प्रतिकृति का उल्लेख ऊपर किया गया है। ऐसे अनेक वर्णन मिलते हैं। काव्यों

१. शुक्रनीति ४।४।१४७–५० ।

२. मालविकाग्निमित्र २।२ ।

और नाटकों की रसकथा का प्रवाह इनके बिना आगे नहीं बढ़ता। कालिदास की प्रतिभा इस कला के लालित्य से परिप्लुत है। उसकी मालविका, उर्वशी और शकुन्तला के एकाकी एवं वृंद-अंकन स्थान-स्थान पर पाठक को रोक लेते हैं। उनमें उनकी विविध अवस्थाएँ, अनेक मनोहारी मुद्राएँ, नतिपूर्ण भावभंगिमाएँ इस युग की चित्रकल्पना को आँखों के सामने साकार कर देती हैं। भित्तिचित्र के एक सुन्दर अभिप्राय का वर्णन करते हुए कालिदास कहते हैं कि उसमें हाथी पद्मवन में उतर गये हैं और हथिनियाँ उन्हें सूँड से कमलनाल के टुकड़े दे रही हैं।[1] उनका दुष्यन्त एक चित्र बना रहा है जिसमें उसे अभी मालिनी नदी बनाना है जिसके पुलिनों की बालू पर हंसों के जोड़े बैठे हों; हिमालय की वह पावन तलहटी उसे अंकित करना है जहाँ हरिण बैठे हों; उसे एक वृक्ष वहाँ बनाना है जिसकी शाखा से वल्कलवस्त्र टँगे हों और उसके नीचे काले मृग के सींगों से अपनी बायीं आँख खुजलाती मृगी उसे अंकित करना है[2]। यह सब यही बताता है कि जो हमें आज अवशेषों में प्राप्त होता है उससे बहुत अधिक चित्रकला में ही नहीं संपूर्ण सांस्कृतिक वैभव में इस युग में था और हम देखते हैं कि चारुदत्त का भवन जीर्ण होगया है, पानी जोर से बरस रहा है, खम्भों की वेदिकाओं की ईंटें खिसक रही हैं, वे मण्डप को धारण करने में अक्षम हो रहे हैं, छत चू रही है, दीवारों पर बनाई गयी चूने की आधारभूमि फूल गयी है और यह लालित्य का उपासक उस पर अंकित भित्तिचित्रों को गीला होते देखकर वसन्तसेना के सान्निध्य में भी दुखी हो उठता है[3]। इस युग के मध्यदेश के निवासी के जीवन में सौंदर्य था, उसे देख सकनेवाली आँखें थीं, उसका नैसर्गिक अंकन करनेवाली मुघर सधी हुई अकुंठित अंगुलियाँ थीं, उस सौंदर्य का अनिर्वचनीय अंकन हुआ और चारुदत्त के भवन के भित्तिचित्रों के समान ही नैसर्गिक क्रम में वर्षा से आधारभूमि फूल-फूलकर उनके अप्रतिम अभिप्राय, उनकी लचकदार रेखाएँ, उनके मनोज्ञ रंग और उनका अमर्त्य अंतः एवं बाह्य लालित्य मध्यदेश की धरती में यह आशा लिये मिल गया कि डेढ़ हजार वर्ष की अनवरत निस्तेज अनुकरण, अलंकरण एवं अपभ्रंश की प्रवृत्ति के पश्चात दुबारा उनका ललिततर संयोजन नूतन प्राणोन्मेष के साथ होगा।

धमनार की गुहाएँ

पश्चिमी मध्यभारत में मंदसौर जिले में धमनार नामक स्थान के पास कुछ गुहामन्दिर प्राप्त हुए हैं। यह स्मरणीय है कि यह वह प्रदेश है जो इस युग में उन शक राजाओं के अधीन था जो बौद्ध धर्म के प्रबल पोषक थे। सभव है ये गुहाएँ भी इस युग में बनी हों, परन्तु उनमें ऐसी कोई वस्तु नहीं मिल सकी जिससे उनकी तिथि का निश्चित रूप से अनुमान किया जा सके। पास ही जो विष्णु मंदिर के अवशेष हैं वे अगले युग के प्रतीक हैं। अतः इनका विवेचन आगे की शताब्दियों के इतिहास के साथ देना अधिक उपयुक्त होगा।

---

१. रघुवंश १६।१६।

२. अभिज्ञानशाकुन्तल ६।१७।

३. मृच्छकटिक ५।५०।

मूर्त्तिकला

ध्वंसावशेषों की खोज

ऊपर विभिन्न प्रसंगों में हम इस युग की मूर्त्तियों का उल्लेख कर चुके हैं। शुंगकालीन अवशेषों का जिस निर्ममता से विध्वंस हुआ है, उसका उल्लेख भी हम कर चुके हैं। नागों के निर्माणों की भी लगभग यही दशा हुई है। पद्मावती, विदिशा, जानखट, भूमरा, नचना तथा खोह, सभी स्थानों पर नागों के निर्माणों की पूर्ण दुर्दशा की गयी है। उन स्थानों पर जो कुछ मिल सका है उसका संक्षिप्त उल्लेख यहाँ करते हुए यह बता देना आवश्यक है कि ये अवशेष उन प्रस्तर मूर्तियों के ही हैं जिनके अंश विध्वंस के पश्चात् भी बच सकते थे। इस युग में मृच्छकटिक में जिनका उल्लेख है वे 'कट्ठमयी पडिमा'—काठ की बनी हुई मूर्त्तियाँ भी 'शैलपडिमा'—शिला की बनी हुई मूर्त्तियों के समान ही प्रचुर संख्या में बन रही थीं, जिनके अभिप्राय निसर्ग के अथवा मनुष्य के विनाश-प्रयासों को सहन नहीं कर सकते थे और जिनके अवशेष आज प्राप्त नहीं होते। फिर भी जो कुछ बचा है वह बानगी के रूप में इस युग की प्रसिद्ध नागर शैली की कलासाधना की प्रशस्तता का संकेत करता है।

शुंगकालीन मूर्त्तिकला

शुंगकाल की मूर्त्तिकला के उदाहरण में कुछ स्तम्भ-शीर्ष ही प्रस्तुत किये जा सकते हैं और सम्भवतः बेसनगर की विष्णु मूर्त्ति इस काल की मानी जा सकती है। साथ ही नागों की कला और शुंगों की कला के बीच कोई विभाजक रेखा खींचना भी कठिन है[२]। परन्तु खामबाबा के निर्माण की तिथि निश्चित होने के कारण उसे केन्द्र मानकर इस काल की मूर्त्तिकला पर प्रकाश डाला जासकता है।

---

१. मृच्छकटिक २।४-५।

२. शुंग और नागकालीन अर्धचित्रों का अन्तर डॉ० मोतीचंद्र, प्रिन्स ऑफ वेल्स म्यूजियम, बंबई ने इस प्रकार लिखकर भेजने की कृपा की है—"शुंगकाल की मूर्त्तियाँ या चित्र अपनी कारीगरी से पहचाने जा सकते हैं। इसमें आकृतियाँ चिपटी होती हैं। दूर और निकट दिखलाने की प्रथा नहीं है और एक ही पृष्ठभूमि पर सब काम दिखलाए जाते हैं, जिसका फल यह होता है कि पीछे या आगे की सभी आकृतियाँ प्रायः समान होती हैं। आकृतियों के अंकन में भी कुछ कमजोरी दीख पड़ती है। इसके विपरीत नागयुग की कला भारहुत या साँची से बहुत आगे बढ़ गयी है। दूर-निकट दिखलाने की प्रथा इस कला में रूढ़ बन गयी है। इस कला में एक ऐसी गति है जो भारहुत में तो नहीं पाई जाती पर जिसका प्रारंभ साँची में हुआ और जो अपने पूर्ण रूप को अमरावती में प्राप्त हुई"।

विदिशा का विष्णुमंदिर

खामबाबा (हेलियोदोर का गरुड़स्तंभ) के पास कोई विष्णुमंदिर था, यह वहाँ के अवशेषों के उत्खनन से सिद्ध हुआ है[1]। एक अन्य स्तंभ के अभिलेख से भी सिद्ध होता है कि यहाँ भगवत (वासुदेव) का कोई 'प्रासादोत्तम' था, जिसमें भागवत गौतमीपुत्र ने गरुड़ध्वज बनवाया[2]।

बेसनगर में एक विष्णुप्रतिमा मिली है। वह अत्यन्त भग्नावस्था में है। उसके चार हाथों में से तीन टूट गये हैं। नाभि के नीचे का भाग नष्ट हो गया है। पैरों का भाग पृथक् प्राप्त हुआ है। इस पर अलंकार अत्यन्त थोड़े हैं। मुकुट के अतिरिक्त गले में कौस्तुभमणियुक्त कण्ठा है। कानों में भारहुत की मूर्त्तियों जैसे बड़े-बड़े बाले हैं। बचे हुए बायें हाथ में सिंहमुखी गदा है। सिर के पीछे प्रभामण्डल है। यदि इस मूर्त्ति की तुलना उदयगिरि की गुहा क्र० ६ के द्वार पर बनी हुई विष्णुमूर्त्तियों से अथवा पवाया में प्राप्त विष्णु मूर्त्ति से की जाए तो यह उनसे बहुत पूर्व का प्रयास स्पष्ट ज्ञात होती है। यह प्राप्त भी हेलियोदोर के स्तंभ के पास हुई है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह प्रतिमा ई० पू० १४० में अस्तित्व रखनेवाले प्रासादोत्तम में स्थापित विष्णुप्रतिमा है।

इस प्रतिमा के विषय में डॉ० देवदत्त भाण्डारकर ने यह अनुमान किया है कि यह गरुड़ की प्रतिमा है और हेलियोदोर के स्तम्भ पर स्थापित थी। उनका प्रधान तर्क यह है कि उन्हें चारों ओर कुरेद कर बनाई हुई इतनी प्राचीन विष्णुप्रतिमा नहीं मिली है। परन्तु आगे वे इस प्रतिमा को चन्द्रगुप्तकालीन लिखकर यह लिखते हैं कि 'इससे अधिक प्राकृतिक और क्या होगा कि विष्णु का परम उपासक यह गुप्त सम्राट जिसका विदिशा आना अभिलेखों से सिद्ध है, इस स्तम्भ (हेलियोदोर स्तम्भ) पर गरुड़ की यह प्रतिमा स्थापित करे[3]. अर्थात् वे इस तर्क को प्रस्तुत करते समय यह भूल गये कि वे 'हेलियोदोरेण भागवतेन' कारित 'गरुड़ध्वज' के विषय में लिख रहे हैं। उस पर गरुड़ चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने नहीं, उससे अनेक शताब्दी पूर्व के हेलियोदोर ने बैठाया था।

इसकी निर्माणशैली तथा शास्त्रों में वर्णित विष्णुमूर्त्ति की कल्पना का अधूरा चित्रण इसे चन्द्रगुप्त विक्रमादिय के काल में बनी विष्णुप्रतिमाओं से बहुत पूर्व की घोषित करते

---

१. आ० स० इ०, वार्षिक रिपोर्ट सन १९१४–१५, पृष्ठ ६६।

२. आ० स० इ०, वार्षिक रिपोर्ट सन १९१३–१४, पृष्ठ १५०। इस स्तंभ का लेखयुक्त खंड इस समय गूजरीमहल संग्रहालय में रखा है। वह अठपहलू है और हरएक पहलू पर नीचे लिखा लेख ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण है :—

(पंक्ति १) गोतम (ी) पुतेन (पंक्ति २) भागवतेन (पंक्ति ३).......... (पंक्ति ४) (भ) गवतो प्रासादोत (पंक्ति ५) मस गरुडध्वज (।) कारि (त) (पंक्ति ६) (द्वा) दस-बस-अभिसिते (पंक्ति ७)....भागवते महाराजे, अर्थात् 'गौतमी के पुत्र भागवत ने विष्णु के प्रासादोत्तम में गरुड़ध्वज बनवाया जब कि महाराज भागवत के अभिषेक को बारह वर्ष हो गये थे'। संभवतः यह 'भागवत' और खामबाबा का 'भागभद्र' एक ही व्यक्ति होंगे।

३. आ० स० इ, वार्षिक रिपोर्ट, सन १९१५–१६, पृष्ठ १९५–१९६।

हैं। जिस गुप्तकालीन कलाकार ने उदयगिरि की वराह मूर्त्ति एवं बेसनगर की नृसिंह-मूर्त्ति बनाई है, उसी की बनाई हुई यह प्रतिमा नहीं हो सकती।

कुरेदकर बनाई जाने के कारण मूर्त्ति का समय निर्धारित करने के तर्क में कोई तथ्य नहीं है।

इस मूर्त्ति में हमें मौर्य अथवा प्राङमौर्य कला के यथातथ्य चित्रण की प्रवृत्ति से हटने का प्रयास स्पष्ट दिखाई देता है। मूर्त्तिकार ने विष्णु की कल्पना साधारण मानव जैसी नहीं की। उनका चतुर्भुज अलौकिक रूप उसके नेत्रों में घूमने लगा और वही मूर्त्त करने का प्रयास उसने किया। धार्मिक मूर्त्ति केवल मानव अंगों का प्रत्यक्षीकरण न होकर साधक अथवा भक्त के इष्टदेव के अंकन का प्रयास होने लगी। यूनानियों के देवी-देवताओं की मूर्त्तियाँ मानवों के लौकिक सौन्दर्य एवं स्वास्थ्य की प्रतिमाएँ हैं, परन्तु भारतीयों के आराध्य देवों की मूर्त्तियाँ अलौकिक चित्रण होती हैं। इस भावना ने पूर्ण विकास आगे पाया, परन्तु यह बेसनगर की विष्णुमूर्त्ति इस अलौकिक रूपकल्पना का प्राचीनतम अवशेष है। इससे यह भी स्पष्ट है कि भारतीय कलाकार की आत्मा को यूनानी कलाकार प्रभावित न कर सका, बाह्य उपकरणों में कहीं किया हो तो किया हो।

स्तम्भशीर्ष

इस मूर्त्ति के अतिरिक्त इस काल के केवल कुछ स्तम्भशीर्ष ही मूर्त्तिकला के उदाहरण के रूप में हमें प्राप्त हैं। विदिशा (बेसनगर) में प्राप्त खामबाबा, मकर तथा गरुड़शीर्ष इस काल की कृतियाँ हैं।

पूरा स्तम्भ मूर्त्तिकला के अन्तर्गत नहीं आता। वह एक प्रकार का स्थापत्य है परन्तु उसके ऊपर का अलंकरण मूर्त्तिकला की सीमा में अवश्य आता है।

खामबाबा (हेलियोदोर स्तम्भ) का गरुड़ अभी मिला नहीं है। इस स्तम्भ पर अशोककालीन ओप नहीं है, उसका धरातल खुरदरा है। स्तम्भशीर्ष के नीचे भी इसमें दो अलंकृत पट्टियाँ खुदी हुई हैं। नीचे की पट्टी में आधे-आधे विकसित कमलों का अलंकरण है। इनके ही नीचे ऊपर दिया गया प्रसिद्ध अभिलेख है तथा उसके नीचे दो पंक्तियाँ और खुदी हुई हैं। कमल के अलंकरण के ऊपर बटी हुई रस्सी, घंटी तथा फूलों का अत्यन्त सुन्दर अलंकरण बनाया गया है। शीर्ष में कमलाकृति अथवा घण्टाकृति भाग के ऊपर बटी हुई रस्सी का अलंकरण है। इनके ऊपर चौकोर चौकी है। इस पर भी सुन्दर अलंकरण बने हुए हैं। यूनानी हेलियोदोर द्वारा बनवाए इस स्तम्भ में प्रत्यक्ष यूनानी प्रभाव कुछ भी नहीं है।

बेसनगर में ही किसी अन्य स्तम्भशीर्ष के दो खण्ड मिले थे, जिनमें एक मकर था। यह मकर दूसरे खण्ड के ऊपर रखा हुआ था और इस प्रकार यह मकरशीर्ष किसी स्तम्भ पर सुशोभित था। वासुदेव, अनिरुद्ध और प्रद्युम्न की साथ-साथ पूजा की जाती है। इनमें प्रद्युम्न कामदेव के अवतार 'मकर-केतन' हैं। नगरी में वासुदेव, अनिरुद्ध और प्रद्युम्न के मन्दिर साथ-साथ मिले हैं। यह 'मकरध्वज' भी विदिशा के किसी ऐसे मन्दिर की स्मृति है। इसका मकर कुछ भद्दा बना है और इसके कान के पास के छेद यह बतलाते हैं कि इसके



रंगमहल, भित्तिचित्र (पृष्ठ ६१८)

रंगमहल, भित्तिचित्र (पृष्ठ ६१८)





बोधिसत्त्व, बाघ



बाघ गुहा का एक भावपूर्ण दृश्य
(पृष्ठ ६१५)



बोधिसत्त्व, बाघ
(पृष्ठ ६१८)

ऊपर भी कोई मूर्त्ति रही होगी। दूसरा खण्ड अधिक कलापूर्ण है। घण्टाकृति के ऊपर बटी हुई रस्सी का अलंकरण है। फिर गुरियों और फूलों के अलंकरणों से युक्त दो पट्टियों के ऊपर बाड़ जैसी चौकी है। चौकी पर आमलक की आकृति का अनेक पहलू का गोल, चपटा शीर्ष है, जिसमें एक मुठिया-सी निकली है। इसी पर मकर रखा गया होगा।

गरुड़ की मूर्तियुक्त एक स्तम्भ की चौकी भी प्राप्त हुई है। इसका गरुड़ टूट गया है, केवल पैरों के चिह्न शेष हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि इसका गरुड़ पक्षी के रूप में था। यह भी इसी काल के किसी स्तम्भ का अवशेष है, ऐसा अनुमान है।

साँची

इस काल का दूसरा प्रधान कलाकेन्द्र विदिशा से ही सम्बन्धित साँची है। साँची का प्राचीन नाम काकनाद बोट है और आगे सातवीं शताब्दी में इसे बोटश्री पर्वत कहा गया है। महावंश में इसका चेतियगिरि के नाम से उल्लेख किया गया है। अशोक मौर्य ने साँची पर स्तूप का निर्माण किया था। इस स्तूप के चारों ओर के तोरणद्वार तथा परिक्रमा की दोहरी वेष्टनी शुंग काल में अथवा उसके कुछ पूर्व दक्षिण के सातवाहन सम्राटों में से किसी ने बनवाई।

साँची के ये तोरणद्वार निर्माणकौशल के अत्यन्त सुन्दर उदाहरण हैं। इन तोरणों की कुल ऊँचाई चौंतीस फुट है। नीचे चौदह-चौदह फुट के दो चौकोर खम्भे हैं, जिनके ऊपर भारवहन के लिए चौमुहे हाथी अथवा बौने बनाए गये हैं। इनके पास ही द्वाररक्षक यक्ष-यक्षिणियों की मूर्त्तियाँ हैं। ऊपर तिहरी बड़ेरियाँ कमानीदार बनी हुई हैं। बड़ेरियों पर हाथी, सिंह, धर्मचक्र, त्रिरत्न आदि बौद्ध सम्प्रदाय के चिह्न हैं। तोरणों के स्तम्भों तथा बड़ेरियों की पट्टियों पर बुद्ध की जीवनी के दृश्य अर्धचित्रों में बने हुए हैं। इनमें बुद्धजन्म, महाभिनिष्क्रमण, सम्बोधि, धर्मचक्र-प्रवर्त्तन तथा महापरिनिर्वाण के दृश्य अंकित हैं और जातकों की कथाएँ भी हैं। अनेक कथाएँ दुहराई भी गयी हैं।

साँची के इन तोरणों के सम्पूर्ण चित्रों का वर्णन यहाँ सम्भव नहीं है। यहाँ केवल उदाहरण के लिए दो दृश्यों का वर्णन पर्याप्त होगा। 'बुद्ध चिह्न के लिए लड़ाई' के अंकन में साँची की कला अपने उच्चतम शिखर पर दिखाई देती है। इसमें बायीं ओर एक नगर है। इस नगर के द्वार की ओर नागरिक, सिपाही, राजे-महाराजे, गजारोही, अश्वारोही, रथी सभी घंटा, शंख तथा बेणु के तुमुल नाद से आपूरित भीड़भाड़ के साथ आगे बढ़ रहे हैं। डॉ० मोतीचन्द्र के शब्दों में "संसार में शायद कोई भी ऐसा अर्धचित्र नहीं, जहाँ भीड़भाड़ का, जिसमें राजे-महाराजे गरीबों से कन्धा सटाकर चल रहे हों, जिसमें प्राचीन सभ्यता के बाह्य आवरण रूप, शान-शौकत तथा आगे बढ़ते हुए जन समूह की गति का ऐसा सुन्दर चित्रण हो"[1]।

'मारविजय' का अंकन भी साँची की कला का उत्कृष्ट उदाहरण है। मध्य में बुद्ध का प्रतीक उनका सिंहासन है। यह स्मरणीय है कि इस युग तक, जैसा ऊपर लिखा

---

१. विक्रम-स्मृति-ग्रंथ, पृष्ठ ८४।

जा चुका है, बुद्ध की प्रतिमा का अंकन नहीं हुआ था और उनका केवल प्रतीकों के रूप में अंकन हुआ है। 'मारविजय' का यह सिंहासन पीपल के वृक्ष के नीचे लगा हुआ है। दाहिनी ओर मार की पराजित सेना अस्तव्यस्त होकर भाग रही है तथा बाँयीं ओर देवगण विभिन्न वाद्य बजाते हुए तथा ध्वजाएँ फहराते हुए सिंहासन (बुद्ध) की वन्दना करते हुए आगे बढ़ रहे हैं। देव-मूर्तियों के अंकन में एकरूपता दिखाई देती है; परन्तु इस दृश्य के केन्द्रबिन्दु मार की सेना का अंकन अत्यन्त स्वाभाविक है। भागते हुए दानवों में एक गति दिखाई देती है। इस दृश्य में शान्त तथा रौद्र रसों के अपूर्व अंकन के साथ-साथ हास्य का भी पुट है। भागता हुआ एक दानव अपने ही एक साथी को त्रिशूल से गोद रहा है।

भारहुत

मध्यदेश का इस काल की कला का प्रधान केन्द्र भारहुत में प्राप्त हुआ है। यहाँ का स्तूप तो नष्टभ्रष्ट हो गया; परन्तु वेष्टिनी के कुछ अंश कलकत्ता तथा इलाहाबाद के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। इन अर्धचित्रों के विषय भी बुद्धजीवनी से सम्बन्धित हैं। जातकों की कथाएँ भी इन पर अंकित मिलती हैं। कुछ ऐतिहासिक दृश्य भी अंकित हैं, जिनमें बुद्धदर्शन के लिए जाते हुए महाराज प्रसेनजित और अजातशत्रु के अंकन मुख्य हैं।

भारहुत के अतिरिक्त मथुरा, भीटा, बोध गया, काशी, कौशाम्बी आदि अनेक स्थलों पर इस युग की मूर्तिकला के अवशेष प्राप्त हुए हैं। यहाँ केवल एक मृण्मूर्ति का उल्लेख और करके इस प्रकरण को समाप्त करेंगे; क्योंकि इस पर अंकित दृश्य का सम्बन्ध उज्जयिनी से है। यह मिट्टी का ठीकरा कौशाम्बी में मिला था और भारत कलाभवन, काशी में सुरक्षित है। इसमें वासवदत्ता को उज्जयिनी से भद्रावती हथिनी पर बैठकर उदयन के साथ कौशाम्बी को भागती हुई दिखाई गयी है। आगे वासवदत्ता हथिनी चला रही है, पीछे सुरमण्डल बाजा लिये उदयन है और उसके पीछे सम्भवतः उसका विदूषक वसन्तक थैली में से मुहरें फेंक रहा है, जिन्हें बीनने में ही उज्जयिनी के सैनिक लग गये और वासवदत्ता कौशाम्बी की पटरानी बन सकी।

नागकालीन मूर्तिकला

नागकालीन मूर्तिकला के उदाहरणों का वर्णन करने के पूर्व हम उन विशेष अभिप्रायों[1] अथवा अलंकरणों का परिगणन करके उनपर विचार करलें जो नागों के कारण भारतीय मूर्तिकला को मिले और आगे की मूर्तिकला के अन्यतम अंग बन गये। इनमें से प्रधान निम्नलिखित हैं:—

(१) गंगा (केवल मकरवाहिनी गंगा, गंगा-यमुना की जोड़ी नहीं, जैसी कि उदयगिरि की वराह मूर्ति के दोनों ओर गुप्तकाल में बनी)।

---

१. अंग्रेजी शब्द 'मोटिफ' के अर्थ में रायकृष्णदास ने अपनी पुस्तक भारतीय मूर्तिकला में इस शब्द का प्रयोग किया है। उसी अर्थ में हमने इस शब्द का प्रयोग किया है।

(२) ताड़ वृक्ष।

(३) नाग-छत्र।

गंगा—गंगा को नाग राजाओं ने अपना राजचिह्न बनाया था। उनके सिक्कों तक पर कलश लिये हुए गंगा की आकृति होती है[1]। राजचिह्न के रूप में गंगा केवल सिक्कों तक ही सीमित नहीं रही। इन परम शिवभक्त नागों ने उसकी मूर्त्ति का उपयोग अपने शिव मन्दिरों को सजाने में भी किया। इस रूप में इसका उपयोग गुप्तों ने भी किया है। जानखट में वीरसेन नाग के अभिलेखयुक्त एक मन्दिर के अवशेषों को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें द्वार के ऊपर की ओर लगाने की मकर-वाहिनी गंगा की मूर्त्ति भी है। इस गंगा की मूर्त्ति का द्वार के अलंकरण के रूप में उपयोग भी तत्कालीन हिन्दू धर्म के पुनर्विकास का प्रमाण है। इसके लिए यह आवश्यक है कि गंगा के इस अलंकरण का मूल रूप खोजा जाए। इस हेतु नागकालीन मन्दिरों से लेकर मध्यकालीन मन्दिरों तक में गंगा मूर्त्ति के उपयोग की विशेषताओं को नीचे दिया जाता है :—

(१) आरम्भ में द्वार के दोनों ओर मकरवाहिनी गंगा की ही मूर्त्ति एक ही रूप की बनाई जाती थी[2] (देखिए उदयगिरि-गुहाद्वार तथा बाघ-गुहाद्वार)।

(२) गंगा की यह मकरवाहिनी मूर्त्ति प्रारम्भ में द्वार की चौखट के दोनों बाजुओं के ऊपर की ओर बनाई जाती थी।

(३) गंगा की मूर्त्ति की बनावट में विशेषता यह रहती है कि गंगा किसी वृक्ष (सफल आम्र) की डाली पकड़े दिखाई गयी है।

(४) आगे चलकर ये दोनों ओर की मूर्त्तियाँ बाजुओं के नीचे की ओर आ गयीं और एक ओर मकरवाहिनी गंगा और दूसरी ओर कूर्मवाहिनी यमुना बन गयीं। यह पिछले गुप्त काल में दिखाई दिया है (देखिए मन्दसौर के शिव मन्दिर के द्वार का प्रस्तर—'श्रवण की कावड़')।

(५) प्रारम्भ में यह केवल शिव मंदिरों में ही प्राप्त है।

ऐतिहासिक क्रम में गंगा के समान मूर्त्तियों की खोज करते समय भारहुत एवं मथुरा की वृक्षकाएँ तथा यक्षिणियों की ओर दृष्टि आकृष्ट होती है; परन्तु मन्दिर के द्वार के बाजुओं के रूप में इसकी स्थिति एवं आकृति की ठीक समानता साँची स्तूप के उत्तरी एवं पूर्वी तोरणद्वारों के दोनों ओर के स्तम्भों के और नीचे की बड़ेरी के मिलने के कोने में बाहरी ओर स्थित स्त्री-मूर्त्तियों से है। ठीक उदयगिरि अथवा बाघ की

---

१. जायसवाल : अंधकारयुगीन भारत, पृष्ठ ४०।

२. स्मिथ ने अपने 'हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट्स इन इण्डिया एण्ड सीलोन' के पृष्ठ ७९ पर लिखा है— 'At Udayagiri, on the doorway of the Chandragupta Cave excavated in A. D. 401-2, the goddesses are represented without thier vehicles' यह कथन सत्य नहीं है। उदयगिरि में जहाँ भी द्वार के दोनों ओर इन देवियों की मूर्त्तियाँ हैं, वहाँ उनका वाहन मकर है।

मकरवाहिनी मूर्त्तियों के समान इनकी स्थिति है। इनके विकासक्रम पर पीछे बाघ गुहाओं के वर्णन में तथा वैदिक युग की मूर्तिकला के अंतर्गत प्रकाश डाला गया है।

समय पाकर आगे जब ये देवियाँ द्वार स्तम्भ के ऊपर की ओर से नीचे आईं तो इन्होंने गंगा और यमुना के पौराणिक रूप धारण किये और शिव मन्दिर के द्वार की पवित्रता की रक्षिकाएँ बनीं। यह स्मरणीय है कि गंगा और यमुना की पृथक्-पृथक् वाहनों पर की कल्पना के सर्वप्रथम दर्शन उदयगिरि की वराह मूर्त्ति के दोनों ओर होते हैं, जहाँ वे अपने-अपने वाहन मकर और कूर्म पर दिखलाई गयी हैं। यहीं से स्फूर्ति लेकर द्वार की मकरवाहिनी देवियाँ गंगा और यमुना बन गयीं और इसका प्राचीन रूप मन्दसौर की यमुना की मूर्त्ति है।

ताड़---नागों को महाभारत में 'ताड़ध्वज' कहा है। इनका यह राजचिह्न इनकी मुद्राओं पर भी मिलता है[1]। जानखट में प्राप्त मन्दिरों के अवशेष नागकालीन हैं जैसा कि वहाँ प्राप्त वीरसेन नाग के अभिलेख से सिद्ध है। इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। वहाँ ताड़ की आकृति का अलंकरण भी मिला है। नागों की पहली राजधानी विदिशा एवं पश्चात् की राजधानी पद्मावती में ताड़-स्तम्भशीर्ष प्राप्त हुए हैं। ये स्तम्भ नागों ने या तो शिव मन्दिरों के सामने स्थापित किये होंगे या इन 'ताड़ध्वजों' के आवास के सामने बने होंगे। विदिशा और पद्मावती के ताड़-स्तम्भशीर्षों की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि विदिशा के ताड़शीर्षों की बनावट अधिक सरल है, अतएव ये पूर्वकालीन होंगे और पद्मावती का ताड़-स्तम्भशीर्ष अधिक संश्लिष्ट है, इसलिए यह बाद का है। यह बात इतिहास के भी अनुकूल है; क्योंकि विदिशा पहली राजधानी है और पद्मावती बाद की।

नाग-छत्र---नागों की मुद्राओं में नाग-छत्र का चिह्न बहुत आया है[2]। वीरसेन नाग के सिक्कों पर नाग की आकृति मिलती है। नागों ने सर्प को अपने राजकीय चिह्नों में सम्मिलित किया। नाग राजाओं की मूर्त्तियों में भी इस नाग-छत्र ने स्थान पाया। फीरोजपुर (विदिशा) में प्राप्त नाग राजाओं की नाग-छत्रयुक्त मूर्त्तियों का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। वे मूर्त्तिकला के चरम उत्कर्ष की उदाहरण हैं।

पद्मावती में प्राप्त मानवाकार नन्दी की मूर्त्ति का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इसका सब शरीर मनुष्य का है, केवल सिर बैल का-सा है तथा यह चारों ओर कोरकर बनी हुई है। यह नन्दी निश्चित ही नागकालीन है। वायुपुराण में नागों को वृष, अर्थात् शिव का साँड अथवा नन्दी कहा है[3]। नागों के सिक्कों पर भी वृष को स्थान मिला है। अतएव इस मूर्त्ति को देखकर यही कल्पना होती है कि अपने इष्टदेव शिव के सामने यह नागराज के वृषत्व के प्रतीक रूप से खड़ी की गयी थी। इस मध्यम आकार की मूर्त्ति की गढ़न और अलंकरण अत्यन्त सुन्दर हैं।

---

१. जायसवाल : अंधकारयुगीन भारत, पृष्ठ ४०।

१. वही, पृष्ठ ४९।

२. वही, पृष्ठ १८।

विदिशा का शिव मन्दिर

विदिशा में शिव मन्दिर के अस्तित्व के विषय में यहाँ कुछ विस्तार से लिखना पड़ेगा। बेसनगर में प्राप्त और अब बोस्टन के संग्रहालय में स्थित गंगा की मूर्त्ति किसी शिव मन्दिर के द्वार के खम्भे के ऊपर सुशोभित होगी। यह शिव मन्दिर बेसनगर की बस्ती में न होकर उदयगिरि में था, जहाँ उस मन्दिर के द्वार में से यह मूर्त्ति बेसनगर के एक साधु के कब्जे में आई[1]। परन्तु हमारी स्थापना यह नहीं है कि यह मूर्त्ति उदयगिरि के किसी नागकालीन शिव मन्दिर की है, यह तो प्रारम्भिक गुप्तकालीन मूर्त्ति है। यहाँ यही कहना है कि उदयगिरि पर एक या एकाधिक गुहाएँ नागकालीन हैं।

विदिशा का अध्ययन जैसा चाहिए वैसा नहीं हुआ। वास्तव में इस की सीमाओं में मौर्य, शुंग, नाग, प्रारम्भिक गुप्त तथा पिछले गुप्तकालीन स्थापत्य तथा मूर्त्तिकला के उदाहरण मौजूद हैं। उदयगिरि की ओर पहले तो विद्वानों ने दृष्टि डाली ही नहीं और चन्दगुप्त विक्रमादित्य तथा कुछ अन्य गुप्तकालीन अभिलेखों के कारण ध्यान दिया भी तो इसे गुप्तकालीन कहकर छोड़ दिया।

हमारा मत यह है कि कम से कम वीणागुहा (कनिंघम गुहा क्र० ३) गुप्तों के पहले की है। इसके भीतर एक शिवलिंग स्थापित है। गान्धार एवं मथुरा में ध्यानस्थ बुद्ध की जो मूर्त्तियाँ बनीं उनमें तथा तत्कालीन शिव मूर्त्तियों में बहुत अधिक समानता है, यह स्पष्ट है। यह प्रभाव भी धीरे-धीरे मिटकर शिव का पौराणिक रूप धीरे-धीरे बढ़ा है। इस दृष्टि से इस शिवलिंग पर बनी मुखाकृति को देखा जाए तो शिव की पौराणिक कल्पना का इसमें केवल एक लक्षण माथे पर तीसरे नेत्र का-सा चिह्न है। जटाओं में चन्द्रमा का चिह्न तक नहीं है। यदि इसकी नागकालीन तथा गुप्तकालीन एकमुख लिंगों से तुलना की जाए तो इस मूर्त्ति की उन सबसे प्राचीनता स्वतः सिद्ध होती है। भूमरा तथा खोह के एकमुख शिवलिंगों से इसकी तुलना करने पर ज्ञात होता है कि बनावट की समानता होते हुए भी वीणागुहा का शिवलिंग उन सबसे कम रूढ़िगत है। श्री जायसवाल ने भूमरा तथा खोह की इन मूर्त्तियों को भारशिव नागकालीन माना है। उदयगिरि की अन्य गुहाओं में स्थित शिवलिंगों से तुलना करने पर भी यह सबसे प्राचीन ज्ञात होता है। इस एकमुखलिंग के मुख की सौम्य-शान्त मुद्रा अत्यन्त आकर्षक है। जटा सिर के ऊपर जूड़े के रूप में बँधी हैं, कुछ बाल गले पर सामने की ओर लटक रहे हैं। गले में एक मणियों का कण्ठा पड़ा है।

---

१. कनिं० आ० स० रि० भाग १०, पृष्ठ ४१ पर कनिंघम ने लिखा है—
"Close by, in the house of a sadhu, were found a small lion of the Gupta period and a large figure of Ganges standing on her Crocodile, which must certainly have belonged to the Gupta age". ये दोनों मूर्त्तियाँ श्री भाण्डारकर महोदय बेसनगर के उत्खनन के समय अपने साथ लेते गये। गँगा की मूर्त्ति तो बोस्टन संग्रहालय में पहुँची और सिंह की मूर्त्ति का पता नहीं कहाँ है।

बेसनगर में मिले, और अब गूजरीमहल संग्रहालय में स्थित, दो शिवलिंग भी प्रारम्भिक नागकालीन ज्ञात होते हैं। इनके कानों के भारी आभरण तथा जटाओं के बाँधने का प्रकार इन्हें भारहुत आदि की शुंग-कुषाणकालीन मूर्त्तियों की परम्परा में रखते हैं। इनमें भी शिव के कोई पौराणिक अलंकार अथवा चिह्न नहीं हैं।

इन एकमुखलिंगों के अतिरिक्त मन्दसौर में प्राप्त हुआ अष्टमुख शिवलिंग भी पूर्व गुप्तकालीन है। यह अष्टमुख शिवलिंग शिव मूर्त्तिनिर्माण के इतिहास में अद्वितीय है। प्राचीन अथवा अर्वाचीन शिवलिंगों में एकमुख, त्रिमुख, चतुर्मुख, पंचमुख शिवलिंग बहुत पाए जाते हैं; परन्तु अष्टमुख शिवलिंग अब तक कहीं नहीं मिला है। ग्वालियर पुरातत्त्व विभाग के अधिकारियों ने मन्दसौर (प्राचीन दशपुर) के पास एक नदी के किनारे पानी में धोबियों को इस विशाल प्रस्तर मूर्त्ति पर कपड़े धोते पाया और इसे अपने अधिकार में लिया। इसका व्यास ४ फुट से अधिक ही है और जब यह पूरी होगी तो प्रायः ७ या ८ फुट ऊँची होगी। इसको मन्दसौर के कुछ शिव भक्तों (?) ने विभाग से छीन लिया और उसके प्राचीन मुखों को छीलकर नवीन मुख बना डाले। यदि पुरातत्त्व विभाग में इसका चित्र सुरक्षित न होता तो प्राचीन मूर्त्तिकला के विद्यार्थी के लिए यह एक दुःखद कहानी ही रह जाती। इस शिवलिंग पर अत्यन्त भव्य शिव के त्रिनेत्रयुक्त अष्टमुख बने हुए हैं। जो मुख चित्र में दिखाई देते हैं वे अत्यन्त सौम्य एवं सुन्दर हैं। जटाओं की बनावट तथा कानों के आभरण पूर्व गुप्तकालीन हैं।

यद्यपि अष्टमुख शिव की कोई अन्य मूर्ति नहीं मिली है, फिर भी वह है शास्त्र-सम्मत ही। शिव के आठ नाम होने का उल्लेख शतपथ एवं कौशीतकी ब्राह्मणों में है। वहाँ शिव को उषा का पुत्र बतलाया गया है और उनको प्रजापति द्वारा आठ नाम देने का उल्लेख है। इनमें आठ नाम रुद्र, शर्व, उग्र, अशनि, भव, पशुपति, महादेव और ईषाण दिये हुए हैं। पहले चार नाम शिव की संहार शक्ति के प्रतीक हैं और पिछले चार कल्याणकारी वृत्ति के। वायुपुराण में भी शिव के आठ नामों का उल्लेख है।

दशपुर (मन्दसौर) का उल्लेख उषवदात के नाशिक के शिलालेख[१] में है। वहाँ उषवदात ने चतुःशाल वसथ (सराय) बनवाई थी। उषवदात उज्जैन पर अधिकार करनेवाले महाक्षत्रप नहपान का दामाद था। तात्पर्य यह है कि उस प्राचीन काल में भी दशपुर (मन्दसौर) प्रख्यात था। नागों के आराध्यदेव शिव की यह अद्वितीय मूर्त्ति दशपुर में बनी हो, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं।

यह भी अनुमान किया जा सकता है कि दशपुर का यह अष्टमूर्त्ति शिव मन्दिर इस प्राचीन काल में अत्यधिक प्रसिद्ध था। द्राविड प्रदेश के साहित्य में इन अष्टमूर्त्ति शिव के वर्णन का उल्लेख पीछे इस युग की धर्मसाधना के प्रकरण में किया गया है और कालिदास ने भी इस अष्टमूर्त्ति शिव से अत्यधिक परिचय होने का प्रमाण अपने ग्रन्थों में दिया है। अपने पूर्वतम नाटक मालविकाग्निमित्र के मंगलाचरण में वे लिखते हैं :—

"अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः"

---

१. ए० इ०, भाग ८, पृष्ठ ७८।

आगे अभिज्ञानशाकुन्तल के मंगलाचरण में तो महाकवि ने शिव की इस अष्टमूर्त्ति का अर्थ और भी स्पष्ट कर दिया है:—

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम् ।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ।।

काव्य में हमें रघुवंश में इन अष्टमूर्त्ति शिव का उल्लेख मिलता है। रघुवंश के दूसरे सर्ग के ३५वें श्लोक में राजा दिलीप से सिंह कहता है:—

कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम् ।
अवेहि मां किंकरमष्टमूर्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम् ।।

कालिदास ई० पू० ५७ के मालवगणाधिपति विक्रमादित्य का समकालीन था यह पीछे साहित्य के प्रकरण में बताया गया है और मालवगण की सभा में अभिनय किये जानेवाले अभिज्ञानशाकुन्तल में अष्टमूर्त्ति के उल्लेख का कारण यह प्रसिद्ध अष्टमूर्त्ति शिव का मन्दिर होगा। यदि नाटककार और काव्यकार कालिदास दो माने जाएँ तब भी इस स्थापना की पुष्टि ही होती है। ई० पू० का यह शिव मन्दिर फिर अनेक शताब्दियों तक प्रसिद्ध रहा, यह मानना पड़ेगा। जिन्होंने काव्यकार एवं नाटककार कालिदास को गुप्तकालीन सिद्ध माना है उन विद्वानों के समक्ष भी इस स्थापना पर कोई आघात नहीं पहुँचता कि यह शिवलिंग पूर्व गुप्तकालीन है। वह गुप्त काल में भी प्रसिद्ध रहा, और अपने मेघ को दशपुर होकर ले जानेवाले कालिदास को इन अष्टमूर्ति के प्रति उतनी ही श्रद्धा थी जितनी महाकाल पर।

उदयगिरि में एक नीम के नीचे एक नन्दी की मूर्ति मिली है, जो अब भेलसा संग्रहालय में रखी हुई है। इसकी बनावट पूर्व गुप्तकालीन है। यह भी उदयगिरि के किसी नागकालीन शिव मन्दिर का प्रमाण है।

उदयगिरि में नागकालीन अन्य कौन-कौनसी मूर्त्तियाँ हैं, यह अभी पूर्ण रूप से निश्चित होना है।

कुषाणकला तथा इस स्थान पर प्राप्त कुछ मूर्त्तियों में समानता हो, यह बहुत सम्भव है। उदाहरण के लिए मथुरा संग्रहालय में स्थित छारगाँव में प्राप्त नाग की मूर्त्ति की तुलना पवाया में प्राप्त नागराज की मूर्त्ति से की जा सकती है। दुर्भाग्य से पवाया की नागराज की मूर्त्ति बहुत अधिक टूटी हुई है, फिर भी खड़े होने की रीति, कमर पर बँधे हुए वस्त्र की गाँठ लगाने की रीति तथा सिर के ऊपर जानेवाले अहि-छत्र में बहुत अधिक समानता है। मथुरा की इस मूर्त्ति पर हुविष्क के राज्यकाल के चालीसवें वर्ष के उल्लेखयुक्त अभिलेख हैं। वह ईसवी सन ११८ की बनी हुई है।

पवाया का तोरण

पवाया के मन्दिर तोरण पर अन्य पौराणिक आख्यानों के साथ एक कोने पर प्रायः दो फुट लम्बे तथा दो फुट चौड़े प्रस्तरखण्ड पर एक गीतनृत्य का अनुपम दृश्य अंकित है। दुर्भाग्य से इसका ऊपर का बायाँ कोना टूट गया है। इस दृश्य में एक स्त्री

मध्य में खड़ी अत्यन्त सुन्दर भावभंगी में नृत्य कर रही है। स्तनों पर एक लम्बा वस्त्र बँधा हुआ है, जिसका किनारा एक ओर लटक रहा है। बाएँ हाथ में पोंहचे से कुहनी तक चूड़ियाँ भरी हुई हैं। दाहिने हाथ में सम्भवतः एक-दो ही चूड़ियाँ हैं। कमर के नीचे अत्यन्त चुस्त धोती (या पजामा) पहने हुई है, जिस पर दोनों ओर किंकणियों की झालरें लटक रही हैं। पैरों में सादा चूड़े हैं। कानों में झूमरदार कर्णाभरण हैं। यद्यपि इस स्त्री के चारों ओर नौ स्त्रियाँ विविध वाद्य बजाती हुई दिखाई गयी हैं; परन्तु उनका प्रसाधन इतनी बारीकी एवं विस्तार से नहीं बतलाया गया है। ये वाद्य बजाने-वाली स्त्रियाँ गद्दियों पर बैठी हैं। टूटे हुए कोने में एक स्त्री-मूर्ति का केवल एक हाथ बच रहा है, शेष सब शरीर टूट गया है। वाद्यों में दो तारों के वाद्य हैं। दाहिनी ओर का वाद्य समुद्रगुप्त की मुद्रा पर अंकित वीणा के समान है। बायीं ओर का वाद्य आज के वायोलिन की बनावट का है। एक स्त्री ढपली जैसा वाद्य बजा रही है। उसके पश्चात् एक स्त्री सम्भवतः पंखा अथवा चमरी लिये है। फिर एक स्त्री मंजीर बजा रही है। पुनः एक स्त्री बिना वाद्य के है। इसके पश्चात् मृदंगवादिनी है। कोने की टूटी मूर्ति के बाद की स्त्री वेणु बजा रही है। बीच में दीपक जल रहा है। इन सबके केशविन्यास पृथक्-पृथक् प्रकार के हैं।

इसी नाग काल में भारत के उत्तर-पश्चिम सिंहद्वार पर जिन कुषाण एवं शकों ने धक्के देने आरम्भ किये और भारत की राजनैतिक स्वतंत्रता को रौंदा, उनके द्वारा भी भारत की प्राचीन मूर्तिकला के इतिहास में एक बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर विशेष अध्याय जोड़ा गया है।

बौद्ध धर्म में बुद्धमूर्त्ति निर्माण का निषेध था। अतएव जितनी भी मूर्त्तियाँ बौद्ध धर्म से सम्बन्धित ईसवी सन के पूर्व की मिलती हैं, उनमें बुद्ध का अंकन प्रतीक रूप से सिंहासन, बोधिवृक्ष अथवा त्रिरत्न के रूप में किया जाता था। ईसवी सन के प्रारम्भ के आसपास सुदूर गांधार में यह बुद्ध-विग्रह अंकन के निषेध का बन्धन टूटा। शताब्दियों के अवरोध के टूटने के परिणामस्वरूप वहाँ हजारों की संख्या में बुद्धमूर्त्तियों का निर्माण हुआ। इस कार्य में यूनानी मूर्त्तिकारों का उपयोग किया गया और इस प्रकार यूनानी मूर्त्तिशैली और बौद्ध सिद्धान्तों के सम्मिश्रण को लेकर यह मूर्त्तिकला चली। कुषाणों के आगे बढ़ने के साथ-साथ इसका प्रसार मथुरा तक हुआ; परन्तु मथुरा आते-आते वह अपना यूनानी रूप पूर्णतः छोड़ चुकी थी। गांधार मूर्तिशैली भारतीय मूर्त्तिकला की परम्परा में नहीं आती; परन्तु मथुरा में जो कुषाणकालीन मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं वे पूर्णतः भारतीय मूर्त्ति-परम्परा का अंग हैं।

ध्यानी योगी की कल्पना भारतीय मस्तिष्क में सदा ही रही है। ध्यानी शिव का अंकन नाग काल में हो चुका था। इस कल्पना को बुद्ध में अवतरित कर मथुरा की कुषाणकालीन ध्यानी बुद्ध की मूर्त्तियों का निर्माण उस ओर अग्रसर हो चला था जिसका चरम विकसित रूप सारनाथ की लोकोत्तर गुप्तकालीन ध्यानी बुद्ध की मूर्त्ति में प्राप्त हुआ। कुषाणकालीन बुद्धमूर्त्तियाँ अधिकांश में खड़ी हुई मानवाकार आकृतियाँ हैं। मथुरा में इस काल में अनेक सुन्दर जैन प्रतिमाओं का भी निर्माण हुआ है।



बाघ की गुहा क्र. २ के अलिन्द में बुद्ध और बोधिसत्त्व प्रतिमाएँ (पृष्ठ ६१३)

गुहा क्र. २ का स्तूप और स्तूपद्वार पर बोधिसत्त्व (पृष्ठ ६१४)

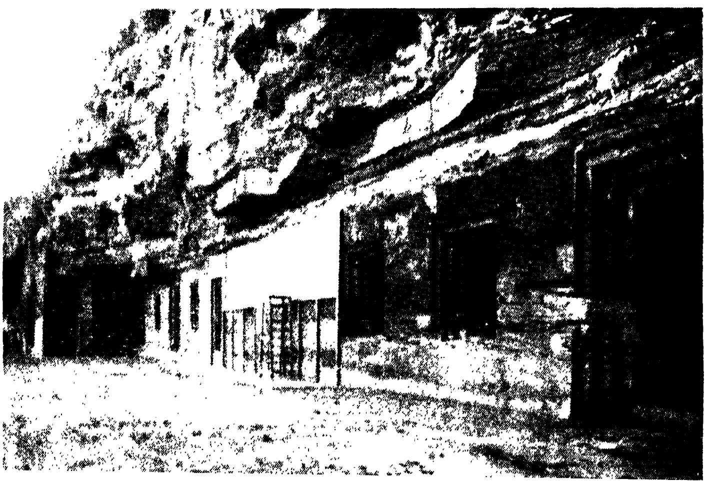




बाघ गुहा क्र. २
(पृष्ठ ६०५)



बाघ गुहा क्र. २ के
स्तूपमंदिर का अलिन्द
(पृष्ठ ६०५)



बाघ गुहा क्र. ४
(पृष्ठ ६०६)

मथुरा में इस काल में लौकिक सौन्दर्य का भी अंकन सुन्दर रूप में मिलता है, जिसकी परम्परा में मध्यकाल की नायिका का अत्यन्त मादक एवं सुन्दर रूप मिला। कुषाण काल की मथुरा की यक्षिणियाँ, वृक्षकाएँ, प्रसाधिकाएँ रमणी-सौन्दर्य को अपने मादक एवं मोहक रूप में अंकित करती हैं।

सातवाहनों की इस काल की कृति अमरावती का बौद्ध स्तूप है। यह मूल स्तूप ई० पू० २०० में बना था। इस प्राचीन स्तूप का नवीन संस्कार ईसवी दूसरी से तीसरी शताब्दी के बीच किया गया। इसके लिए संगमरमर का उपयोग किया गया है। अमरावती का यह स्तूप अब निःशेष है। इसके कुछ अंश ही ब्रिटिश म्यूजियम तथा मद्रास संग्रहालय में सुरक्षित हैं। अमरावती के स्तूप के रूप की कल्पना उसमें प्राप्त स्तूप के एक अर्धचित्र से की जा सकती है। इस स्तूप से प्राप्त मूर्त्तियाँ एवं अर्धचित्र बौद्ध धर्म से सम्बन्धित हैं; परन्तु उनपर कुछ लौकिक दृश्य भी अत्यन्त सुन्दर अंकित हुए हैं। राजसभा का संगीतमय दृश्य तथा कुछ अन्य दृश्य अत्यन्त आकर्षक हैं।

इसी काल का मद्रास के पास ही नागार्जुन कोंडा का स्तूप है।

मृण्मूर्त्तियाँ

इस युग में मृण्यमूर्त्तियों के साँचे बनने लगे थे। नागों के पूर्व की मध्यभारत में प्राप्त मृण्यमूर्त्तियों का सम्यक् अध्ययन संभव नहीं है; परन्तु पद्मावती के नाग राजाओं के विष्णु मंदिर में प्राप्त मृण्यमूर्त्तियाँ मिट्टी की मूर्त्तियाँ बनाने की कला की अत्यन्त श्रेष्ठ उदाहरण हैं।

ये मृण्मूर्त्तियाँ विभिन्न प्रकार के केशविन्यासवाली स्त्रियों की हैं, पुरुषों की हैं, देवियों की हैं तथा पशु-पक्षियों की हैं। उन सबका अंकन अत्यन्त मनोहर हुआ है। मानवमूर्त्तियों की विशेषता यह है कि कुछ मूर्त्तियाँ हँसती हुई बनाई गयी हैं, कुछ शोक-विह्वल रोती हुई। इस प्रकार मिट्टी के ठीकरों द्वारा मानवहृदय के विभिन्न भावों के प्रदर्शन का प्रयास अत्यन्त सफल भी हुआ है और आश्चर्यजनक भी। स्त्रियों की कुछ मूर्त्तियाँ तो अत्यन्त मनोहारी हैं।

स्त्रियों के केशविन्यास के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है कि वह विविध प्रकार का अत्यन्त सुरुचिपूर्ण होता था। गुप्त काल में प्रसाधनकला पर अत्यधिक ध्यान दिया जाता था, ऐसा ज्ञात होता है। राजघाट (काशी) तथा अफगानिस्तान में प्राचीन 'कपिशा' के स्थान पर इसी प्रकार की विविध केशकलाप की मृण्मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं। राजघाट की मृण्मूर्त्तियों के केशकलाप का वर्णन डॉ० वासुदेवशरण ने किया है[1] और कपिशा की मृण्मूर्त्तियों के केशकलाप के विषय में श्री राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है—"एक जगह (काबुल के संग्रहालय में) पचासों स्त्री-मूर्त्तियों के सिर रखे थे। उनमें पचासों प्रकार के केशों को सजाया गया था, और कुछ सजाने के ढंग तो इतने आकर्षक और बारीक थे कि मोशियें मोनिए (फ्रेंच राजदूत) कह रहे थे कि इनके चरणों में बैठकर पेरिस की सुन्दरियाँ भी बाल का फैशन सीखने के लिए बड़े उल्लास से तैयार

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४५, पृष्ठ २१५–२२६।

होंगी[1]"। पवाया की ये मृण्मूर्त्तियाँ इन दोनों स्थानों की मूर्त्तियों से श्रेष्ठ एवं सुन्दरतर हैं, इसमें सन्देह नहीं। इसका कारण यह है कि प्राचीन पद्मावती उस समय का मुख्य सांस्कृतिक केन्द्र थी।

इन मृण्मूर्त्तियों में देवताओं में एक चतुर्भुज ब्रह्मा की मूर्त्ति सुन्दर है तथा किसी सिंहवाहिनी देवी (पार्वती) का भी नीचे का भाग मिला है, जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

सवारयुक्त तथा बिना सवार के घोड़े भी सुन्दर हैं। बहुधा भारतीय कलाकार के प्रति यह आक्षेप रहा है कि वह हाथी का अंकन करने में अत्यन्त पटु है; परन्तु वह घोड़े का अंकन नहीं कर सकता। पवाया के ये मिट्टी के घोड़े इस स्थापना को मिथ्या सिद्ध करते हैं। इनका निर्माण अत्यन्त कुशलतापूर्वक हुआ है।

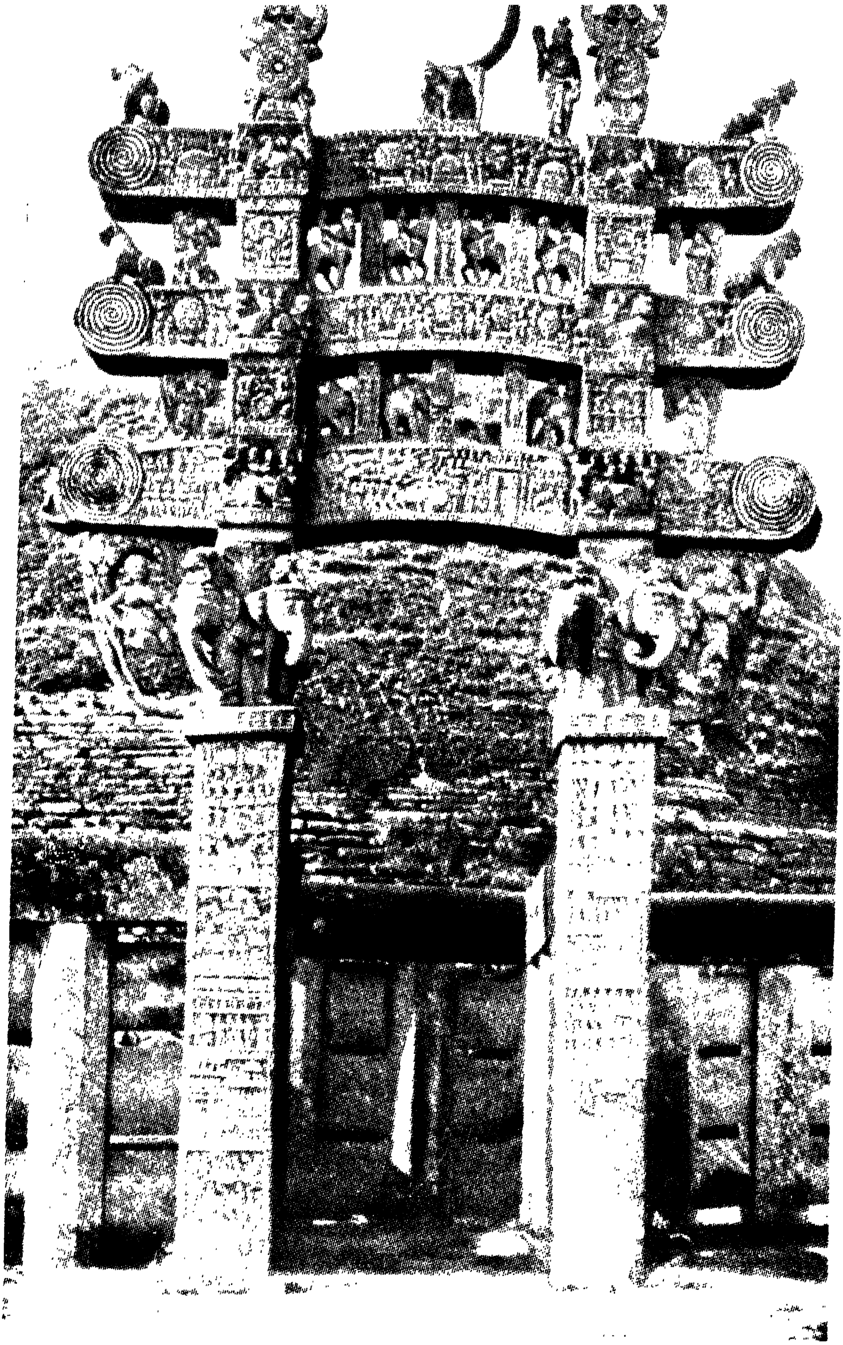
तोता, कपोत, मोर, मछली, वराह, वानर आदि पशु-पक्षियों की बहुत मृण्मूर्त्तियाँ मिली हैं। गले में माला डाले हुए वानर की मूर्त्ति अत्यन्त विनोदपूर्ण है।

राष्ट्रशिल्पी का स्मारक

साँची के बड़े स्तूप के दक्षिणी तोरण पर एक अभिलेख खुदा हुआ है। उसमें इस तोरण के निर्माण का इतिहास इन शब्दों में बताया गया है—'राजा श्री शातकर्णि के आवेशनि (शिल्पी) वाशिष्ठीपुत्र आनंद का दान'। मध्यदेश के शिल्पी की सम्पूर्ण प्रतिभा वैदिक चरण संस्थाओं के भारती-उपासकों की ही भाँति राष्ट्रदेवता के चरणों में उत्सर्ग हुई है और उसने अपने व्यक्तित्व को समष्टिगत कलासाधना में विनिमज्जित कर दिया है। रॅप्सन के अनुसार इस अभिलेख का समय ई० पू० दूसरी शताब्दी है और इससे सैकड़ों सहस्राब्दी पहले के तथा एक सहस्राब्दी पीछे के शिल्प के अवशेषों के इतिहास में किसी शिल्पी का नामोल्लेख प्राप्त नहीं होता। वाशिष्ठीपुत्र आनन्द एक शिल्पी का पहला नाम है जो ऐतिहासिक नामों में रत्न-सा चमकता है और जो अत्यन्त अनौपचारिक ढंग से उसकी श्रद्धा से प्रेरित दान के प्रसंग में इस तोरण पर लिख गया है। वाशिष्ठी देवी कौन थीं; इन आनन्द को उनने मध्यदेश में कहाँ जन्म दिया था, मनुष्य-जीवन में अपरिहार्य दुःख-सुख इनने किस प्रकार उठाए थे, यह सब आज जाना नहीं जा सकता। साँची का यह तोरण उन सहस्राब्दियों के भारत के राष्ट्रीय निर्माताओं का अभिलेखयुक्त स्मारक बना है और आनन्द नाम उन लक्ष-लक्ष कलाकारों का प्रतीकात्मक अभिधान बन गया है जिनकी रूपरचना में प्रवीण छेनी ने देश के जीवन की प्रभा को शिल्प के अभिप्रायों में अनपायि बना दी है।

---

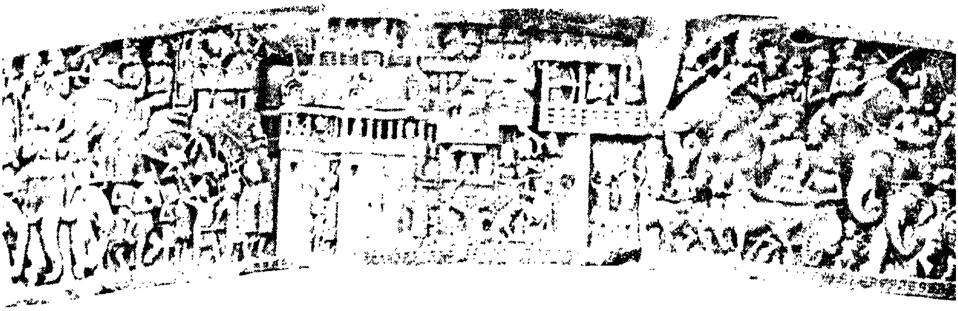
१. सोवियत भूमि, पृष्ठ ७४७।



तोरण द्वार, साँची (पृष्ठ ६२५)

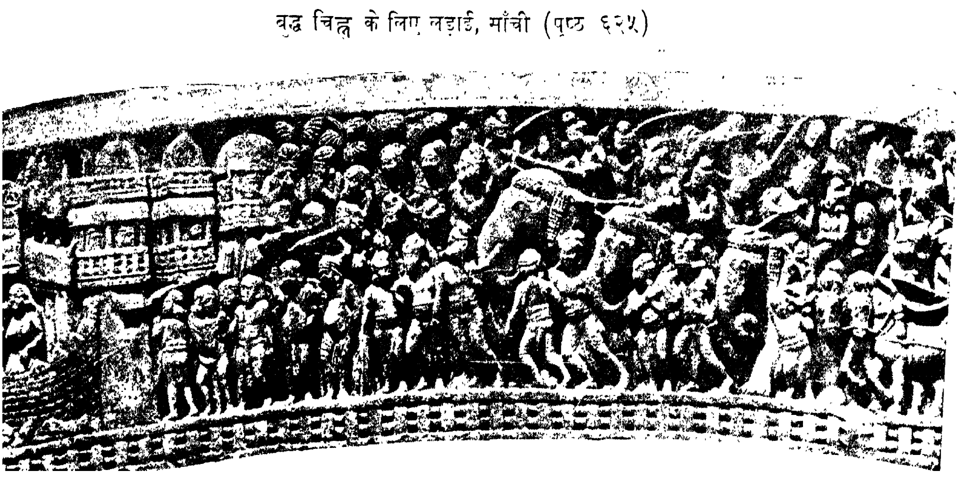


साँची के पश्चिमी तोरण पर नगर का दृश्य (पृष्ठ ६२५)



साँची के पश्चिमी तोरण पर नगर का दृश्य (पृष्ठ ६२५)

बुद्ध चिह्न के लिए लड़ाई, साँची (पृष्ठ ६२५)



विदेशों से सम्बन्ध

मिस्र

ई० पूर्व २०६ में जब बाख्त्री और पार्थिया के स्वतंत्र राज्यों की स्थापना हो गयी तो भारत के उत्तर-पश्चिमी मार्ग से यूनान और भारत के बीच सम्पर्क में बहुत बड़ी बाधा आगयी। सीथियनों तथा यूचियों ने बाख्त्री पर आक्रमण किया और सीरिया में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हुई, इससे उत्तर-पश्चिम का स्थल-मार्ग भारत तथा पश्चिमी देशों के बीच चलनेवाले व्यापार के लिए निरापद नहीं रहा। परिणाम यह हुआ कि भारत और पश्चिमी संसार के बीच समुद्री-मार्ग अधिक लोकप्रिय होगया। इस समुद्री-मार्ग के व्यापार का अधिकांश लाभ मध्यदेश के व्यापारिक नगरों को मिलता था। पश्चिमी तट के पोत-पत्तनों के द्वारा यह व्यापार होता था और उत्तर भारत का समस्त व्यापारिक मार्ग मथुरा और कौशाम्बी से पद्मावती, विदिशा, उज्जयिनी, नागदा, धार तथा माहिष्मती होता हुआ भृगुकच्छ, सोपारा आदि पोत-पत्तनों को जाता था।

संभावना यह है कि पश्चिमी संसार से यह व्यापार सीधा न होकर अरब लोगों की मध्यस्थता से होता था। इस मध्यस्थता के कारण अरब का पोत-पत्तन अदन बहुत समृद्ध हो गया था। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में लिखे गये आगाथरसीडिस के विवरण से तथा 'पेरीप्लस ऑफ दी एरीथ्रियन सी" के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि भारत के व्यापारियों के सम्पर्क के कारण अदन के वैभव में अत्यधिक वृद्धि हुई थी। फिर भी भारत और पश्चिमी संसार के बीच सीधा व्यापारिक सम्बन्ध था। स्त्राबो ने लिखा है कि टालेमी सम्राटों के समय में भारतवर्ष के बीच समुद्र-यात्रा तथा व्यापार करना बहुत कठिन था। स्त्राबो ने यूडोक्सस की दो भारत-यात्राओं का उल्लेख किया है, जो उसने ई० पू० दूसरी शताब्दी में की थीं। एक भारतीय पोत-यात्री का जहाज समुद्र में टूट गया था और एक-एक करके यात्री नष्ट होगये थे, केवल वही अकेला बचा था और लालसागर के किनारे पर उसे किनारे के पहरेदारों ने अधमरा पाया था। यहाँ से उसे सिकन्दरिया ले जाया गया। इसके विवरण से ही यूडोक्सस ने भारत-यात्रा की स्फूर्ति प्राप्त की थी।

टालेमी सम्राटों के समय में भारत के साथ सम्पर्क बढ़ चला था। ई० पू० ७८ में थेबायड का सेनापति लालसागर तथा भारतीय सागर का सेनापति भी नियुक्त किया गया था। इस नये पद से यह स्पष्ट है कि भारत के साथ उनका नियमित सम्बन्ध स्थापित होगया था। भारतीय व्यापारी भी सुमाली के पोत-पत्तनों तक पहुँचने लगे थे। मिस्र में भी भारतीय पहुँचे थे और एक भारतीय, जिसका नाम सोफन लिखा है, उसका उल्लेख एडफू तथा बर्निस के बीच नील नदी के किनारे के एक मन्दिर के शिलालेख में

आया है। मेमफिस में एक भारतीय बस्ती ही बसी हुई थी। सम्राट ऑगस्टस के राज्य काल में वर्तमान स्त्राबो ने लिखा है कि मेओस तथा हर्मोस नामक पोत-पत्तनों से लगभग १२० जहाज भारतवर्ष को रवाना हुए थे।

रोमन साम्राज्य

रोमन साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् भारत और रोम के बीच व्यापार बहुत अधिक विकसित हुआ था। रोम भारत के वस्त्रों तथा प्रसाधन सामग्री की बहुत बड़ी मण्डी थी। भारत के मणिरत्न, मोती, सुगन्धित द्रव्य, मसाले, रेशम और मलमल की वहाँ बहुत अधिक माँग थी। रोमन स्त्रियाँ भारतीय मलमल को धारण कर सड़कों पर घूमा करती थीं और यह दृश्य नगर की नैतिकता के लिए इतना घातक समझा गया कि रोम की सीनेट को एक कानून द्वारा भारत की मलमल मँगाने पर रोक लगानी पड़ी। प्लिनी ने लिखा है कि भारतवर्ष प्रतिवर्ष ५० लाख रोमन स्वर्ण-मुद्राएँ साम्राज्य से अपने व्यापार के बदले में लाता था। इसके प्रमाण में भारत के अनेक भागों में रोम की उस समय की सोने की मुद्राएँ बहुत अधिक संख्या में प्राप्त होती हैं। ई० प्रथम शताब्दी में कोई रोमन व्यापारी भारत आया था, उसने अपनी भारत-यात्रा के विषय में "पेरीप्लस ऑफ दी एरीथ्रियन सी" नामक ग्रंथ लिखा है। इस व्यक्ति का नाम ज्ञात नहीं हो सका। उसने अनेक स्थानों और पोत-पत्तनों के भी नाम दिये हैं। वह लिखता है कि सबसे बड़ा पोत-पत्तन नर्मदा के मुहाने पर स्थित बरीगा (भृगुकच्छ) था। उज्जयिनी तथा अन्य नगरों से व्यापार का माल विदेशों को भेजने के लिए यहाँ आता था। उसने सातवाहनों के समुद्री बेड़े के विषय में जो कुछ लिखा है उसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।

रोमन साम्राज्य की नीति भारत से व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाने की थी। ई० पू० २५ में ऑगस्टस ने एक बेड़ा जल-मार्ग के अन्वेषण के लिए भारतवर्ष भेजा था। ई० सन ४५ में हिप्पालस नामक एक नाविक ने भारतीय समुद्र में बहनेवाली मौसमी हवाओं का पता लगा लिया था। इस नये आविष्कार के कारण तीन महीने के कम समय में भारतीय माल सिकन्दरिया पहुँच जाता था। परिणाम यह हुआ कि यह व्यापार अधिक बढ़ गया। रोमन सम्राट नीरो (ई० ६३) के समय में यह व्यापार बहुत अधिक बढ़ गया था और यह ई० तीसरी शताब्दी तक अत्यन्त समृद्ध रूप में विद्यमान था।

इस बढ़ते हुए व्यापार के कारण रोम और भारत के बीच राजनैतिक सम्बन्ध भी बढ़े थे। जब ऑगस्टस गृहयुद्ध में विजयी हुआ तो भारत के अनेक राज्यों ने अपने राजदूत रोम भेजे थे। संभावना यह है कि रोमन राजदूत भी भारतीय राज्यों में आते रहे होंगे। भारतीय राजदूतों का स्पष्ट उल्लेख ट्राजन (ई० ९८-११७), हाड्रियन (ई० ११७-१३८), एण्टोनीनस पायस (ई० १३८-१६१), हीलियोगेबेलस (ई० २१८-२२२), ओरेलियन (ई० २७०-२७५), कौन्सण्टायन (ई० ३२३-३५३) तथा जूलियन (ई० ३६१-३६३) की राज-सभाओं में पहुँचने का मिलता है।

हिन्दू और बौद्ध धर्म भी रोम साम्राज्य में पहुँच गये थे। सिकन्दरिया के क्लीमेण्ट (ई० २२०) ने ब्राह्मण और बौद्ध भिक्षुओं का बहुत मनोरंजक विवरण लिखा है। सिकन्दरिया में एक स्मारक स्तम्भ मिला है, जिस पर चक्र तथा त्रिशूल बना हुआ

हैं। सीरिया का एक लेखक जेनेब प्रारंभिक ईसाई पादरियों के मूर्त्तिभंजक रूप का एक मनोरंजक वृत्तान्त प्रस्तुत करता है। केण्टौन के टरोन में दो हिन्दू मन्दिर थे। ये मन्दिर ई० पू० दूसरी शताब्दी में वहाँ बसे हुए भारतीय व्यापारियों ने बनवाए थे। उनमें बारह तथा पन्द्रह हाथ ऊँची मूर्त्तियाँ स्थापित थीं। सेण्ट ग्रीगोरी ने इन मन्दिरों पर आक्रमण किया और भारतीयों के वीरतापूर्ण प्रतिरोध करने पर भी उन मूर्त्तियों को तोड़ डाला। इस सम्बन्ध में डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार ने लिखा है कि "सेण्ट ग्रीगोरी इस दिशा में महमूद गजनी के कृत्यों के प्राचीनतम रूप थे और उनने तथा उनके परवर्त्तीय ईसाई सन्तों ने पश्चिमी संसार में विद्यमान भारतीय धर्मों के चिह्नों को बहुत बड़े अंश तक नष्ट किया होगा[1]"। इससे एक बात स्पष्ट अवश्य होती है कि ईसामसीह के उपदेशों में तथा गीता में बहुत अधिक साम्य है, यह अकारण नहीं है। ई० पू० दूसरी शताब्दी में पश्चिम के इन देशों में पहुँचनेवाले ब्राह्मण अपने साथ गीता के अमर उपदेश भी लेते गये और उनने ईसामसीह की वाणी को प्रभावित किया।

चीन

चीनी अनुश्रुतियों से यह प्रकट है कि ई० सन ६५ में हाँन वंशीय राजा मिङती ने अठारह व्यक्तियों का एक दूत-मण्डल भारत भेजा, जो लौटते समय अपने साथ बहुत से बौद्ध ग्रंथ तथा काश्यप मातंग और धर्मरक्षक नामक दो बौद्ध भिक्षुओं को चीन लेगया। मातंग ने राजा मिङती को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया और धर्मरक्षक के साथ अनेक भारतीय ग्रंथों को चीनी भाषा में अनुवादित किया। चीन के संगीत पर भी भारतीय प्रभाव परिलक्षित होता है. वह भी काश्यप मातंग के द्वारा वहाँ गया था ऐसी अनुश्रुति है।

मध्यभारत के निवासी धर्मकाल नामक बौद्ध भिक्षु ई० सन २५० में चीन गये और वहाँ प्रसिद्ध बौद्ध ग्रंथ "पातिमोक्ख" का चीनी में अनुवाद किया। ई० सन २६६ में ३६ भाषाओं के ज्ञाता 'धर्मरक्ष' नामक दूसरे विद्वान चीन में गये। इनके द्वारा २१० बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद चीनी भाषा में हुआ था। श्री एडकिन्स ने चायनीज बुद्धिज्म नामक पुस्तक में १९ भारतवासियों का उल्लेख किया है, जो बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए चीन गये थे। इनमें वे काश्यप मातंग, चुफालान, धर्मरक्ष और गुणभद्र को मध्यभारत का निवासी बतलाते हैं। इनकी तिथियाँ ई० सन ६० से ई० सन ४३५ तक हैं।

अन्य देश

जापान और तिब्बत से भी भारतवासियों के सम्बन्ध हुए थे, परन्तु उनका प्रारंभ प्रस्तुत युग के पश्चात् हुआ ज्ञात होता है। जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बाली, बर्मा, श्याम, चम्पा और कम्बुज में उपनिवेश बसानेवाले भारतवासियों का इतिहास संभवतः मध्यभारत के निवासियों का इतिहास नहीं है, अतएव उसके विषय में यहाँ लिखना

---

१. ए न्यू हिस्ट्री ऑफ दी इण्डियन पीपल, खंड ६, पृष्ठ ३४०।

समीचीन नहीं होगा। कुषाणों के राज्य में पश्चिमी एशिया से उत्तर-पश्चिम के स्थल मार्गों से भी सम्पर्क बढ़ा था। कनिष्क के समय में व्यापार की वृद्धि भी पर्याप्त हुई थी; परन्तु मध्यदेश के निवासियों ने उससे लाभ उठाया होगा इसकी संभावना कम है; क्योंकि प्रारंभ से ही यहाँ कुषाण साम्राज्य का विरोध होता रहा। यह उल्लेखनीय है कि कनिष्क तथा अन्य कुषाण राजाओं की सुवर्ण-मुद्राएँ मध्यभारत की सीमा में अधिक प्राप्त नहीं होतीं।

विदेशी संपर्क का प्रभाव

भारत ने इस विदेशी सम्पर्क से बहुत सीखा और बहुत सिखाया। अरबी में अंकों के लिए 'हिन्द-सा' शब्द है जो यह प्रकट करता है कि उन्हें अंकों की प्राप्ति हिन्द से हुई। भारतीय ज्योतिष का रोमक सिद्धान्त रोम से आया और पौलिश सिद्धान्त सिकन्दरिया के पौल (ई० ३७८) से प्राप्त हुआ। स्पष्ट है कि इन सिद्धान्तों का ग्रहण ज्योतिष की प्राचीन पीठ उज्जयिनी में किया गया होगा। भारतीय कला तथा सिक्कों पर भी कुछ न कुछ विदेशी प्रभाव पड़ा ही है; परन्तु एक बात स्पष्ट है कि मध्यदेश ने इस कला को तथा विदेशियों की सिक्के बनाने की प्रथा को लगभग बहिष्कृत ही रखा। नागों की कलाकृतियों पर अथवा उनके सिक्कों पर विदेशी प्रभाव रंचमात्र भी नहीं है।

दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No